राजकीय अर्थशास्त्र

(PUBLIC ECONOMICS)

(भारतीय आर्थिक व्यवस्था की विस्तृत विवेचना सहित)

लेखक

तिलक नारायण हजेला, एम ए,

लेक्चरार, अर्थशास्त्र विभाग,

बरेली कालेज, बरेली।

प्राक्कथन लेखक

मुरलीधर जोशी, एम. ए, पी-एच डी डी लिट्,

प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग,

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

प्रकाशक

सरस्वती सदन, मसूरी

[मूल्य १३ रुपये ५० नये पैसे

के आधार पर लिखा है। पुस्तक के अन्तर्गत जो कुछ लिखा गया है वह सारगर्भित है। भारत के राजकीय अर्थशास्त्र को सम्मिलित करके उन्होंने पुस्तक की उपादेयता मे वृद्धि करदी है। एक ही स्थान में इतनी प्रचुर सामग्री को व्यवस्थित रूप में रखकर लेखक ने अपनी कार्य कुशलता का परिचय दिया है।

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। इस भाषा में विविध विषयों पर उच्चकोटि के साहित्य का सृजन ही इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं में अनेक विद्यार्थी हिन्दी के माध्यम द्वारा पढ़ते हैं और प्रश्नपत्रों का उत्तर देते हैं। श्री हजेला ने प्रस्तुत पाठ्य पुस्तक द्वारा विशेषत इन विद्यार्थियों का और सामान्यतया इस विषय के प्रेमियों का उपकार किया है। इस दृष्टिकोण से मैं इस पुस्तक का स्वागत करता हूँ और लेखक को बधाई देता हूँ।

लखनऊ विश्व-विद्यालय
लखनऊ
अक्तूबर २२, १९५९

मुरलीधर जोशी

भूमिका

गत ५० वर्षों में 'राज्य' के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक, दोनों ही रूपो मे कान्तिकारी परिवर्तन हुये हैं। परिणामस्वरूप राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक सभी क्षेत्रो म राज्य का स्थान प्रमुख हो गया है। आज राज्य मनुष्य के जीवन के प्रत्येक पहलू पर छाया सा दीखता है। पिछली शताब्दी तक मनुष्य राज्य के केवल राजनैतिक महत्व की ओर ही ध्यान देता था। किन्तु वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही विचारो मे कुछ ऐसे परिवर्तन हुये, परिस्थितियों ने कुछ ऐसी करवट ली कि आज मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन राज्य के हाथ मे है। राजनैतिक क्षेत्र मे यह परिवर्तन उतने महत्वपूर्ण नही है, जितने आर्थिक क्षेत्र मे हैं। पिछली शताब्दी तक विचारकों तथा नीतिकारो का बहुमत इसी बात के पक्ष मे था कि आर्थिक क्षेत्र मे मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये और राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिये। किन्तु आज सभी की यह भावना है कि मनुष्य की व्यक्तिगत आर्थिक क्रियाओ का नियमन राज्य द्वारा होना चाहिये। इसीलिये तो राज्य की आर्थिक क्रियाओ का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है। आज मनुष्य की आर्थिक क्रियाओ के अध्ययन का इतना महत्व नही है, जितना कि राज्य की आर्थिक क्रियाओ के अध्ययन का।

प्रस्तुत पुस्तक 'राजकीय अर्थशास्त्र' राज्य की विभिन्न आर्थिक क्रियाओ तथा उनसे उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं का एक अध्ययन है। भारतीय विश्वविद्यालयो म अर्थशास्त्र म एम ए. तथा एम काम व आनर्स कक्षाओ के पाठ्यक्रम म 'राजकीय अर्थशास्त्र' के अध्ययन को एक पृथक परीक्षापत्र के रूप मे सम्मिलित किया गया है। कहीं-कहीं पर इसको अनिवार्य भी कर दिया गया है। 'राजकीय अर्थशास्त्र' एक व्यापक विषय है। इसके अन्तर्गत राज्य की लगभग सभी आर्थिक क्रियाओं को सम्मिलित किया जा सकता है। किन्तु एक पाठ्यपुस्तक मे सभी छोटी बडी क्रियाओं के अध्ययन को सम्मिलित करना न तो सम्भव ही है और न रुचिकर ही। इसीलिये इस पुस्तक मे राज्य की केवल महत्वपूर्ण आर्थिक क्रियाओ से सम्बन्धित समस्याओं की विवेचना की गई है। वैसे तो अंग्रेजी भाषा में पाश्चात्य तथा भारतीय लेखकों ने राज्य की पृथक-पृथक क्रियाओं पर अनेकों पुस्तकें लिखी हैं और आर्थिक नियोजन, आर्थिक व्यवस्था, पूर्ण रोजगार, राजस्व नीति आदि विषयों पर साहित्य की कोई कमी नहीं है, किन्तु हिन्दी भाषा मे अभी तक कोई ऐसी पुस्तक नहीं लिखी गई जो इन सभी विषयों के एक साथ अध्ययन के लिये उपयुक्त हो। अंग्रेजी भाषा में इस विषय पर सबसे पहली पाठ्य-पुस्तक मेरठ कालिज के डाक्टर सक्सैना तथा प्रो० माथुर ने प्रस्तुत की थी। हिन्दी

के राष्ट्रभाषा घोषित होने के बाद से हिन्दी का महत्व दिन प्रति दिन बढ़ता ही जा रहा है। विभिन्न विश्वविद्यालयों ने भी विद्यार्थियों को हिन्दी में उत्तर लिखने की सुविधा प्रदान की है, किन्तु इस विषय पर हिन्दी भाषा में कोई 'स्टेन्डर्ड' पुस्तक न होने से विद्यार्थियों को बहुत कठिनाई हो रही थी। अंग्रेजी भाषा में रचित इस परीक्षापत्र से सम्बन्धित सब पुस्तकों को पढ़ने की एक तो विद्यार्थियों में रुचि ही नहीं है, दूसरे निर्धनता के कारण न वे सब पुस्तकें उन्हें उपलब्ध ही हो पाती हैं और यदि कुछ पुस्तकें मिल भी जायें तो अंग्रेजी को समझने तथा लिखने का स्तर इतना गिर गया है कि उन पुस्तकों को पढ़ कर विद्यार्थी अपने विचारों को स्पष्ट ही नहीं कर पाते। यदि अंग्रेजी भाषा में लिखित 'स्टेन्डर्ड' पुस्तकों का अनुवाद हो गया होता तो यह कमी बहुत कुछ दूर हो होती। किन्तु अभी तक यह सम्भव न हो सका है। जो कुछ पुस्तकों के अनुवाद हुये भी हैं वे पूर्णतया अर्थहीन हैं और केवल शब्दार्थ ही हैं अनुवाद नहीं। खेद का विषय यह भी है कि हमारे विद्यार्थियों को अभी तक हिन्दी भाषा का पूरा ज्ञान नहीं है। हमारे शब्दकोष के रचियताओं ने जो अंग्रेजी शब्दों के जो अर्थ लिखे हैं वे इतने गूढ़ तथा क्लिष्ट हैं कि न तो उनका उच्चारण ही सरल होता है और न वे सरलता से याद हो रखे जा सकते हैं। मैंने विद्यार्थियों की इन कठिनाइयों की ओर पूरा ध्यान दिया है। वास्तव में इसी से मुझे हिन्दी में इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा भी मिली। हिन्दी में होते हुये भी इसकी भाषा क्लिष्ट नहीं है। मैंने इस ओर विशेष ध्यान दिया है कि भाषा जहाँ तक सम्भव हो ऐसी रहे कि हर विद्यार्थी समझ सके। हिन्दी भाषा में पढ़ाने से मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ तथा जो कठिनाइयाँ मेरे मार्ग में आईं और जो कठिनाइयाँ मुझे अपने विद्यार्थियों में मालूम होती रहीं, उन सभी को दूर करने का मैंने प्रयत्न किया है। कई स्थानों पर मुझे अपने शब्द भी बनाने पड़े हैं। हो सकता है भाषा विज्ञान की दृष्टि में वे गलत हों। उनके लिये मैं हिन्दी भाषा के विद्वानों से क्षमा चाहता हूँ। यदि मेरे विद्यार्थी विषय को समझने में सफल हो जाते हैं और यदि उनकी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

अध्ययन की सुविधा मैंने पुस्तक को चार भागों में विभाजित किया है—(१) मनुष्य के आर्थिक जीवन में राज्य का स्थान, (२) राजस्व, (३) पूर्ण रोजगार तथा राजस्व नीति, और (४) आर्थिक नियोजन। इस प्रकार यह पुस्तक एम० ए० तथा एम० काम० के विद्यार्थियों के लिये राजकीय अर्थशास्त्र का एक विस्तृत अध्ययन है। यह पुस्तक मेरे अपने नाम में अवश्य प्रकाशित हो रही है, किन्तु मेरे निकट इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। जो कुछ है वह मेरे गुरुजनों, मेरे मित्रों, मेरे विद्यार्थियों तथा विषय के उन प्रवीण लेखकों का है जिनके विचारों का मैंने प्रयोग किया है तथा जिन्हें मैंने स्थान स्थान पर स्वीकार किया है, किन्तु यदि कहीं छूट गया हो तो मेरी भूल वश ही है।

इस पुस्तक को लिखने में मुझे सबसे अधिक प्रेरणा, सदैव की भांति, अपने

गुरु श्री कालका प्रसाद भटनागर, वाइस चान्सलर, आगरा यूनिवर्सिटी आगरा से प्राप्त हुई है। मैं उनकी कृतज्ञता को अभिव्यक्त करने के लिये अपने कोष मे शब्दो का अभाव पा रहा हूँ। सचमुच जितना कहा जाय उतना ही कम होगा। सक्षेप में, जो कुछ है सब उन्हीं का है।

मै अपने गुरुजनो मे डा० महेन्द्र प्रसाद माथुर, प्रिंसिपल, महाराना कालेज उदयपुर, और प्रो० अनन्तराम निगम, अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, डी ए वी. कालेज, कानपुर का विशेष रूप से आभारी हूँ। अपने मित्र गणो में, प्रो० त्रिभुवन नाथ भगोलीवाल, डाक्टर सुरेशचन्द्र गुप्त, और डाक्टर सुरेन्द्र प्रसाद सक्सेना, प्राध्यापक अर्थशास्त्र विभाग, डी ए. वी कालेज, कानपुर और डाक्टर गिरधारीलाल हजेला, वाणिज्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ से मुझे समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव प्राप्त होते रहने से, मैं पुस्तक की रचना करने मे समर्थ हो सका हूँ। बरेली कालेज के अपने सहयोगी अध्यापक मित्रो को भी विस्मरण नही कर सकता, जिन्होने इस ग्रन्थ की रचना करने के लिए मुझे समय समय पर प्रोत्साहन दिया है। मेरा उनके लिये हृदय से धन्यवाद। पुस्तक की रूप रेखा तथा सूची तैयार करने म मुझे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती उर्मिला हजेला तथा प्रो० कृष्ण मोहन सहाय, महाराज कुमार कालेज, जोधपुर से अपूर्व सहायता प्राप्त हुई, मैं इनका भी कृतज्ञ हूँ।

मैं डा० मुरलीधर जोशी, एम ए, पी एच-डी डी लिट. रीडर, अर्थशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्व विद्यालय, लखनऊ का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को पढने तथा प्राक्कथन लिखने का कष्ट किया।

पुस्तक मे, सुधारो के निमित्त जो सुझाव मुझे प्राप्त होगे, उनका मैं हृदय से स्वागत करूँगा और शीघ्र ही क्रियान्वित करने का प्रयत्न करूँगा।

तिलक नारायण हजेला

बरेली कालेज,
बरेली।

विषय-सूची

—.०:—

पुस्तक-पहली

मनुष्य के आर्थिक जीवन में राज्य का स्थान
(Role of the State in Man's Economic Life)

पुस्तक–दूसरी

'राजस्व'

(Public Finance)

भाग—१

राजकीय व्यय

भाग—४
सघीय वित्त-व्यवस्था

भाग ५

भारतीय कर प्रणाली और उसके मुख्य अंग

भाग—६

राजकीय ऋण

भाग—७

वित्तीय शासन (Financial Administration)

पुस्तक—तीसरी

बेकारी, पूर्ण-रोजगार तथा राजस्व नीति
(Unemployment, Full-Employment and Fiscal Policy)

पुस्तक—चौथी

आर्थिक नियोजन (Economic Planning)

प्रात: स्मरणीय

पूज्य माँ

की

पवित्र स्मृति में

जिन के ऋण से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता !

पुस्तक-पहली



मनुष्य के आर्थिक जीवन में राज्य का स्थान

अध्याय 1

राजकीय अर्थ-शास्त्र का परिचय
(Introduction to Public Economics)

राजकीय शास्त्र की परिभाषा एवं क्षेत्र—

राजकीय अर्थशास्त्र जो अपेक्षाकृत एक नया विषय है, दो शब्दों का योग है— राजकीय और अर्थशास्त्र। प्रथम शब्द 'राजकीय', राज्य, उसकी सरकार (Government) एवं अनेकों संस्थाएँ, जो राज्य की ओर से कार्य करती हैं, उन सभी को सम्बोधित करता है। 'अर्थशास्त्र' शब्द से हमारा अभिप्राय राज्य की क्रियाओं सम्बन्धी आर्थिक समस्याओं से है। इस प्रकार राजकीय अर्थशास्त्र में हम राज्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करते हैं।[1] कुछ लेखकों को इस परिभाषा में आपत्ति है।[2] वे उसे उचित नहीं मानते, हाँलाकि यह ही सबसे सरल, एवं न्यायसंगत है। उनके अनुसार इस परिभाषा के उचित न होने का मुख्य कारण यह है कि आर्थिक और अनार्थिक क्रियाओं में भेद ही नहीं किया जा सकता है। यह पूर्णतया सही है परन्तु प्रश्न यह है कि क्या प्रो० रॉबिन्स द्वारा प्रस्तुत किये गये वाद-विवाद के बाद भी आर्थिक क्रियाओं को जानने व या समझने में कोई कठिनाई रह जाती है? आर्थिक क्रियाओं से हमारा अभिप्राय राज्य की उन क्रियाओं से है जो कि वह अपने न्यूनतम साधनों का उपयोग अधिकाधिक कार्यों की पूर्ति के हेतु करने के सम्बन्ध में करता है।

इसलिए इस आधार पर उपर्युक्त परिभाषा पर आपत्ति करना आधार रहित ही नहीं बल्कि अन्यायपूर्ण भी है। हाँ! इतना अवश्य है कि यह परिभाषा बहुत ही संक्षिप्त है और सरलता से साधारण मनुष्य के समझ में नहीं आ सकती है। इसलिए अधिक स्पष्ट करने के लिये हम इसकी परिभाषा यूँ कर सकते हैं कि यह विषय जिसमे हम राज्य की उन क्रियाओं का अध्ययन करते हैं जो कि वह, अपने अधिकाधिक कार्यों की पूर्ति के लिए, साधनों के एकत्रीकरण एवं वितरण के सम्बन्ध में करता है।

यह याद रहे कि राजकीय अर्थशास्त्र में केवल उन्हीं क्रियाओं का अध्ययन

---

1 R. C. Saxena, *Public Economics*, Page 1

2 Tandon and Others, *Public Economics*, P 384

नहीं होगा जिनका सम्बन्ध साधनों के एकत्रीकरण एवं वितरण से है, बल्कि इनके अतिरिक्त राज्य की वे क्रियाएँ भी सम्मिलित होंगी जिनको पूरा करने के लिये राज्य अपने साधनों को एकत्रित करता है। यदि हम केवल प्रथम प्रकार की क्रियाओं को ही लेते हैं तो फिर राजकीय अर्थशास्त्र, राजकीय वित्त का ही दूसरा नाम हो जायेगा, अर्थात् राजकीय अर्थशास्त्र और राजकीय वित्त में कोई भेद ही नहीं रहेगा, क्योंकि इन क्रियाओं का अध्ययन तो राजकीय वित्त या राजस्व (Public Finance) की विषय सामग्री है और राजकीय वित्त केवल राजकीय अर्थशास्त्र का एक भाग ही है। राजकीय अर्थशास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र में दूसरे प्रकार की क्रियाओं का भी अध्ययन किया जाता है।

बात कुछ ऐसे है। पिछले, लगभग पचास वर्षों से राज्य का कार्य क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि लगभग सब प्रकार के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक कार्य उसी के द्वारा किये जाते हैं। यह ही नहीं आज का समाज भी उससे बहुत से ऐसे कार्यों की आशा करने लगा है, जो पहले कोई सोचता भी न था, जैसे सामाजिक सुरक्षा, मूल्य नियन्त्रण, धन का समान वितरण आदि। इस प्रकार राज्य का कार्य केवल राजनैतिक सुरक्षा एवं शान्ति स्थापित करना ही नहीं है बल्कि इसके अतिरिक्त समाज में सन्तुलन व्यवस्था उत्पन्न करना भी है। प्रो० लास्की ने ठीक ही कहा कि राज्य 'समाज की महराब की आधारशिला है, जो उन अनेकों मानव जीवनों के रूप और प्रकृति को साँचे में ढालता है, जिनके भाग्यों की सरक्षता का दायित्व उस पर है'[3] राज्य इन कार्यों को सरकार (Government) द्वारा करता है। सरकार के अनेकों कार्यालय होते हैं और वह अनेकों संस्थाओं द्वारा अपने कार्यों को सम्पन्न करती है। देश का प्रत्येक नागरिक राज्य का एक अंग है परन्तु वह सरकार का अंग नहीं होता। व्यवहारिक जीवन में राज्य और सरकार में भेद करना कठिन है। हमें यहाँ पर इस वाद विवाद में उलझना नहीं है केवल इतना जानना है कि राज्य एक सार्वजनिक संस्था है और प्रत्येक नागरिक के हित में कार्य करना उसका परम कर्त्तव्य है। सामाजिक हित में कार्य करने के लिए इसे व्यक्तिगत क्रियाओं में यदि वे सामाजिक हित अग्रसर नहीं करती, हस्तक्षेप भी करना होता है। पिछली शताब्दी तक राज्य का सम्बन्ध मनुष्य के केवल राजनैतिक जीवन से ही था, परन्तु अब मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर ही राज्य का आधिपत्य है। सच तो यह है कि अब राज्य, गर्भ से श्मशान भूमि तक मनुष्य की देखभाल करता है। 'प्रत्येक मनुष्य के जन्म की सूचना राज्य द्वारा नियुक्त संस्था को देनी होती है। शिशु अवस्था में राज्य के नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति का टीका लगवाना होता है। राज्य के नियमानुसार ही हमारे माता पिता हमें शिक्षा प्रदान करते हैं। शिक्षा प्राप्त करके हम जीविका के साधन ढूंढते हैं जिनकी प्राप्ति में भी राज्य सहायता करता है। हमारे काम के घंटे, दूकान या फैक्टरियों में हम प्राप्त होने वाली हवा की मात्रा आदि सभी के लिए

3 "The keystone of the social arch, moulding the form and substance of the myriad human lives whose destinies it is charged"

राज्य के नियम हैं। सामाजिक दुर्घटनाओं के विरुद्ध हमारी सुरक्षा करने के लिए हमारे वेतन में से अनिवार्य रूप से बीमे की राशि ले ली जाती है, चाहे हमें बीमा योजना पसन्द हो या नहीं। विशेष प्रकार के व्यवसायों के लिये हम राज्य से लाइसेन्स लेना होता है। वस्तुओं में मिलावट करने पर राज्य दण्ड देता है। हमारे कुछ विदेशी वस्तुओं के क्रय पर भी राज्य नियन्त्रण रखता है। यह हमारी आय और व्यय पर कर लगाकर उनको नियन्त्रित करता है और यहाँ तक कि हमारी मृत्यु की सूचना भी राज्य द्वारा निश्चित संस्था को दी जाती है और जिस स्थान पर हमारी अन्तिम क्रिया की जाती है उसकी देख-भाल भी राज्य की एक संस्था ही करती है।"[4] इस प्रकार राज्य अब केवल उस देश की सुरक्षा का ही प्रबन्ध नहीं करता बल्कि समाज के आर्थिक जीवन का प्रबन्ध और नियन्त्रण भी करता है। इसीलिए आज राज्य का कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है। इन्हीं सब बातों से सम्बन्धित समस्याओं की विवेचना राजकीय अर्थशास्त्र में की जाती है। इसका क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत है, क्योंकि इसमें राज्य की लगभग सब ही क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। साधारणतया राज्य की सभी क्रियाओं का आधार और परिणाम, आर्थिक ही है और इसलिए राज्य की किसी भी क्रिया को इसके अध्ययन क्षेत्र से बाहर रखना कठिन ही है। विशेष समस्याओं की विवेचना करने से पहले हम राज्य और मनुष्य के आर्थिक जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रारम्भिक बातों की विवेचना करेंगे।

आर्थिक जीवन में राज्य का स्थान—

राज्य मनुष्य के आर्थिक जीवन में क्यों हस्तक्षेप करता है? यह एक स्वाभाविक प्रश्न अवश्य है परन्तु महत्वपूर्ण भी है। राज्य के हस्तक्षेप का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। या तो वह इसलिए हस्तक्षेप करता है कि उसके ऐसा न करने से किसी ऐसे सामान्य हित को आघात पहुँचेगा, जिसकी सुरक्षा का दायित्व उस पर है या उसके हस्तक्षेप न करने से कुछ ऐसे कार्य अपूर्ण रह जायेंगे, जो सामान्य कल्याण के लिये आवश्यक हैं। परन्तु इन सभी का कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य होता है जिसको कुछ शब्दों से सम्बोधित किया जाता है जैसे, सामान्य हित, कल्याण, आवश्यक कामों या अनिवार्य कार्यों की पूर्ति इत्यादि।

प्रारम्भिक काल से ही, जब से राज्य को एक स्थायी रूप प्राप्त हुआ है, राज्य मनुष्य के आर्थिक जीवन में भाग लेता रहा है। राज्य के कुछ कार्य तो शताब्दियों पुराने हैं, जिनका जन्म राज्य के साथ ही साथ हुआ है, क्योंकि इनको राज्य के अतिरिक्त कोई और संस्था कर भी नहीं सकती थी जैसे, देश की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा का प्रबन्ध करना। इस कार्य के लिये राज्य केवल उतना ही कर लगाता था, जितना फौज और पुलिस की व्यवस्था में खर्च होता था। धीरे-धीरे क्रियाओं का क्षेत्र बढ़ा। सुरक्षा के लिए न्याय की एक विस्तृत प्रणाली, और सड़कों आदि के बनवाने की आवश्यकता हुई। व्यापार पर नियन्त्रण लगाने पड़े। आन्तरिक एकता के

4 R H SOLTAU *The Economic Functions of the State* 1931, pp 1 2

लिए धार्मिक एकरूपता भी स्थापित करनी पड़ी। निर्धन, अपाहिजों और भिखारियों की उपस्थिति आन्तरिक एकता और शान्ति को भंग कर सकती थी, इसलिए, उनके लिये सुरक्षित स्थानों और आर्थिक सहायता का प्रबन्ध भी राज्य ने करना आरम्भ किया। इस प्रकार केवल देश की सुरक्षा के हेतु राज्य इतने सारे काम करता था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्तराधिकारी और प्रसंविदा (Contracts) सम्बन्धी नियमों और नहरों को बनवाना, सड़कों पर पेड़ लगाना, स्कूल और अस्पताल खोलना, पुल और बाँध बाँधना आदि कार्य भी राज्य आरम्भ से ही कर रहा था।

राज्य, इस प्रकार, अनादि काल से ही मनुष्य के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करता आ रहा था, परन्तु यह हस्तक्षेप अप्रत्यक्ष था। पन्द्रहवीं शताब्दी में मर्केन्टिलिस्ट (Mercantilist) लेखकों ने, राज्य हस्तक्षेप को राज्य की नीति का एक मुख्य अंग बनाया। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य का कार्य क्षेत्र और अधिक बढ़ा और यूरोप के अधिकांश देशों में राज्य ने राष्ट्रीय नीति के स्तर पर आर्थिक जीवन को नियमित करना आरम्भ कर दिया, और उपभोग उत्पादन, मजदूरी, सूद की दर, मूल्य, आयात, निर्यात पर कड़े नियन्त्रण लगाना आरम्भ कर दिए। परन्तु कुछ समय बाद फ्रांस और इङ्गलैण्ड में इस नीति का बड़ा कड़ा विरोध हुआ। फ्रांस में फिज्योक्रैटस (Physiocrats) ने और इङ्गलैण्ड में एडम स्मिथ (Adam Smith) ने आर्थिक स्वतन्त्रता का डंका बजाना शुरू कर दिया। फिज्योक्रैटस प्राकृतिक व्यवस्था (Natural Order) में विश्वास करते थे। इसी प्रकार एडम स्मिथ और उसके अनुयायियों ने कहा कि निजी स्वयं हित की 'अदृश्य शक्ति' से साधनों का ऐसा अधिकतम प्रयोग होता है, जो किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। जब कोई व्यक्ति अपने स्वयं हित में कोई काम करता है तो उसमें केवल उसी का नहीं बल्कि सारे समाज का हित अग्रसर होता है। स्वतंत्र प्रतियोगिता के वातावरण में एक दूसरे के हित आपस में कभी नहीं टकराते। हाँ, यदि राज्य हस्तक्षेप करेगा तो साधनों को सर्वोत्तम उपयोग में लगाना कठिन हो जाएगा। एडम स्मिथ ने कहा था कि "राजा पूर्ण रूप से इस कर्त्तव्य से मुक्त है कि वह निजी व्यक्तियों के उद्योग की व्यवस्था करे, और ऐसे उपयोगों में लगाए जिससे समाज के हितों की वृद्धि हो, क्योंकि इसमें उससे सदैव ही अनेकों त्रुटियाँ होनी चाहियें और जिनको पूरा करने के लिये किसी प्रकार की भी मानवीय बुद्धिमानी और ज्ञान पर्याप्त नहीं होते।" उसका विश्वास था कि राज्य हस्तक्षेप क्रूरता और अन्यायपूर्ण व्यवहार को ही जन्म नहीं देता, बल्कि इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी समाप्त हो जाती है। वास्तव में बात यह थी कि स्मिथ जानता था कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अलग रुचि होती है और अपने २ भ्रम होते हैं, इसलिए यदि राजा व्यक्तिगत विनियोगों का पथ प्रदर्शन करेगा तो सम्भव है कि व्यक्तियों के दृष्टिकोण से, उनका हित अग्रसर न हो। इसलिये उसने राज्य के लिये केवल वे कार्य सौंपे थे, जिनके सम्पन्न होने से अदृश्य शक्ति अपना काम सुचारु रूप से करती रहे, अर्थात् जिनसे

स्वतन्त्र प्रतियोगिता का वातावरण बना रहे। यह कार्य तीन प्रकार के हैं :—विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना, आन्तरिक शान्ति की स्थापना करना और कुछ उन सार्वजनिक निर्माण कार्यों की व्यवस्था करना जिनको व्यक्ति न तो कर ही सकते हैं और न उनके हित में होता है। इस प्रकार इन विचारों से आर्थिक स्वतन्त्रता की एक लहर सी उत्पन्न हो गई और व्यक्तिवाद (Individualism) का काल आरम्भ हुआ। एडम स्मिथ की भाँति अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने भी आर्थिक स्वतन्त्रता के नारे लगाने आरम्भ कर दिए और चारों ओर 'स्वतन्त्र व्यापार' या 'करने दो' (laissez-faire) की नीति के भण्डे लहराने लगे। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के दुष्ट परिणामों से ऊब कर लोगों ने इस नीति की निन्दा करनी आरम्भ कर दी। इङ्गलैण्ड में रोबर्ट ओविन (Robert Owen) और फ्रांस में सिसमोण्डी (Sismondi) ने इस नीति के विरुद्ध कड़े शब्दों में आलोचना की। यहाँ तक कि मिल (J. S Mill) जो आरम्भ से प्राचीन विचारों के समर्थक थे बाद में उन्होंने भी इस नीति को ठुकराया और स्पष्ट रूप से कहा कि अधिकतम सामाजिक लाभ के लिये राज्य के कार्यों में वृद्धि होनी चाहिए। St Simonians ने भी कहना आरम्भ किया कि जो कुछ बुराइयाँ थी वे केवल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के कारण थीं। इस प्रकार इस नीति पर चारों ओर से आक्रमण होने लगे। सबसे भीषण आक्रमण कार्ल मार्क्स (Karl Marx) और रोडबर्टस (Rodbertus) ने किये और तत्पश्चात् सब ही लोगों जैसे Webbs, Prof Laski, G B. Shaw, Keynes आदि ने एक आवाज में राज्य हस्तक्षेप के पक्ष में अपने मत प्रगट किए।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जैसे जैसे पूँजीवादी देशों में स्वतन्त्र प्रतियोगिता भीषण रूप धारण करती गई और बाज़ार सकुचित होते गए जैसे जैसे देश का अधिकाधिक औद्योगीकरण होने लगा और जैसे जैसे ससार में आर्थिक राष्ट्रीयवाद (nationalism) की भावना जोर पकड़ती गई वैसे ही वैसे आर्थिक क्षेत्र में पुरानी नीति का अन्त होता गया। आर्थिक स्वतन्त्रता के कारण व्यापार चक्रों, निरन्तर बढ़ती हुई बेकारी और धन की असमानताओं, जैसी विषम समस्याओं का जन्म हुआ था, इनको सुलझाने का एकमात्र उपाय आर्थिक नियोजन (Economic Planning) ही था। आर्थिक नियोजन, योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था (Planned Economy) का प्रतीक था, जिसमें राज्य केवल आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप ही नहीं करता बल्कि निजी उद्योगों की व्यवस्था स्वय आरम्भ कर देता है या उनका पथ-प्रदर्शन करता है। बीसवीं शताब्दी में मुख्यतया चार ऐसी घटनायें और हुई, जिनके कारण ससार भर को 'आर्थिक स्वतन्त्रता' की नीति का परित्याग करना ही पड़ा। यह घटनायें थीं—प्रथम विश्व युद्ध, रूस का १६१७ की क्रान्ति, महामंदी काल और दूसरा विश्व युद्ध। सौभाग्यवश रूस ने आर्थिक नियोजन की नीति अपनाकर ससार को एक नया मार्ग दिखाया। परन्तु पूँजीवादी देश इस नीति को अपनाना नहीं चाहते थे। रूस एक साम्यवादी देश था और पूँजीवादी देश डरते थे कि आर्थिक नियोजन केवल साम्यवाद का ही प्रतीक था और इस देश की सामान्य नीति का अग नहीं बनाया

जा सकता था इसलिये वे लम्बे काल तक इसकी आलोचना करते रहे, परन्तु प्रथम महायुद्ध की घोर आपत्तियों ने उनकी रुचि को इस ओर बढ़ाया। महा मंदी काल ने तो अग्नि में घी का काम किया और इनकी आँखें खोल दी। इन देशों को आर्थिक नियोजन की नीति को अपनाने के लिए मज्बूर होना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र में 'न्यू डील' (New Deal) और फ्रांस में 'ब्लम प्रयोग' (Blum Experiment) की सफलता ने अन्य पूंजीवादी देशों का भ्रम दूर कर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि राज्य का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप अवश्यक ही नहीं वरन अनिवार्य है और जनहित केवल राज्य द्वारा ही अग्रसर हो सकता है। और आजकल आर्थिक नियोजन प्रत्येक देश में ही राष्ट्रीय नीति का एक मुख्य अंग है चाहे वह देश पूंजीवादी है या समाजवादी।

आधुनिक राज्यों की आर्थिक क्रियाएं—

उपर्युक्त में हमने आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप के सम्बन्ध में बदलती हुई विचारधाराओं के इतिहास पर दृष्टि डाली और देखा कि आज सामान्य विचार यह है कि राज्य का कार्य केवल देश की रक्षा करना ही नहीं बल्कि मनुष्यों की आर्थिक क्रियाओं को निर्धारित करना भी है। हर समय में हर राज्य की नीति पर देश विदेशों में प्रचलित विचारधारा का प्रभाव पड़ता रहा है और विचारधाराओं के परिवर्तन के साथ-साथ राज्य नीति भी बदलती रही है। इसीलिये राज्य अब अनेकों प्रकार के कार्य करता है। कुछ लेखकों ने इनको निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया है —

(१) रक्षात्मक कार्य (Protective Functions) —इस वर्ग में राज्य के वे कार्य सम्मिलित किये गए हैं जिनका सम्बन्ध देश की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा से है, अर्थात सैनिकों, युद्ध यन्त्र, गोला बारूद आदि की व्यवस्था, पुलिस, जेलों, न्यायालयों आदि की व्यवस्था एवं प्रबन्ध करना आदि। यह तो राज्य को प्रत्येक अवस्था में करने ही होते हैं इसीलिए इनको राज्य के अनिवार्य कार्य भी कहा जाता है।

(२) वाणिज्यिक कार्य (Commercial Functions)—राज्य आजकल देश के उत्पादन पर भी नियन्त्रण रखता है ताकि देश में उपभोक्ताओं का शोषण न होने पाए। जैसे राजकीय उद्योग जंगल खानों आदि की व्यवस्था एवं नियन्त्रण। परन्तु सब ही देशों में ये कार्य सामान्य रूप से राज्य द्वारा नहीं किये जाते हैं। कहीं पर राज्य केवल नियन्त्रण करता है और कहीं पर स्वयं उत्पादन कार्य सम्पन्न करता है।

(३) राष्ट्रीय निर्माण कार्य (Nation Building Functions)—आजकल राज्य के कार्यों में इन कार्यों की संख्या सबसे अधिक है क्योंकि राज्य का मुख्य उद्देश्य सामाजिक लाभ को अधिकतम करना तथा राष्ट्र की सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति को अग्रसर करना होता है। राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों की सूची में जितनी अधिक संख्या इन कार्यों की होती है उतनी ही अधिक राज्य की प्रगतिशीलता का परिचय मिलता है। इसीलिए लगभग प्रत्येक प्रगतिशील देश में राज्य आज बेकारी को

रोकता है और स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा आदि की व्यवस्था करता है।

परन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण से राज्य की आर्थिक क्रियाओं का पूर्ण और स्पष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। इसीलिए इनका विस्तृत अध्ययन नितान्त आवश्यक है। वास्तव में राज्य की आर्थिक क्रियाओं के इतने विविध रूप हैं और इनका क्षेत्र इतना व्यापक है कि उपर्युक्त वर्गीकरण से इनका स्पष्टीकरण सम्भव नहीं होता। इन क्रियाओं की गणना निम्न प्रकार की गई है।

(१) **राष्ट्र के आर्थिक ढांचे की रक्षा करना** (Maintenance of the Economic Framework of the Nation)—राज्य देश के आर्थिक जीवन का रूप और प्रकृति निश्चित करता है। राष्ट्र के आर्थिक जीवन का ढांचा कैसा हो और उसको स्थायी किस तरह बनाया जाय? इन प्रश्नों का उत्तर राज्य देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर निश्चित करता है। इस प्रकार प्रत्येक देश में आर्थिक जीवन का रूप और प्रकृति अलग अलग होते हैं क्योंकि प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ, साधन, सभ्यता और इतिहास भी तो अलग अलग होते हैं। इस आर्थिक ढांचे को सुरक्षित रखने के लिए राज्य कानूनों की एक विस्तृत प्रणाली स्थापित करता है। सरकार और अन्य संस्थाएँ इन कानूनों को बनाती हैं और कार्य रूप देती हैं। यह कानून, सम्पत्ति के उत्तराधिकारियों, मालिकों और श्रमिकों के आपसी सम्बन्धों, प्रसंविदा आदि के सम्बन्ध में होते हैं और इनका मुख्य उद्देश्य देश के आर्थिक जीवन की अड़चनों को दूर करना होता है। हमारे जीवन को, देश की चलन प्रणाली की प्रकृति, विदेशों से हमारे आर्थिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध भी प्रभावित करते हैं। इसलिए राज्य इनका भी निर्धारण करता है और समय समय पर परिस्थितियों के बदलने के साथ साथ राज्य इनमें उचित परिवर्तन करता रहता है। यह राज्य की आर्थिक क्षेत्र में प्राथमिक क्रिया है।

(२) **नियमन एवं नियन्त्रण** (Regulation and Control)—राज्य आर्थिक जीवन को नियमित और नियन्त्रित भी करता है। इसके कई उद्देश्य हो सकते हैं, जैसे, श्रमिकों और मालिकों के सम्बन्धों को नियमित करना ताकि चालाक मालिकों द्वारा श्रमिकों का शोषण न हो। उपभोक्ताओं के हित में एकाधिकारियों की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखना, मूल्यों की स्थिरता प्राप्त करने के लिए बैंकों और व्यापारियों की क्रियाओं को नियन्त्रित करना, राष्ट्र के हित में देश के साधनों के उपयोगों पर प्रतिबन्ध लगाना और कुछ आधार भूत उद्योगों को स्वयं चलाना, हानिकारक वस्तुओं के उपभोग पर नियन्त्रण लगाना वस्तुओं की पूर्ति एवं गुणों को नियन्त्रित करना आदि। इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए राज्य कानून बनाता है और कानून तोड़ने वाले को उचित दण्ड भी देता है।

(३) **आर्थिक सहायता** (Economic Assistance)—व्यक्तियों को उनकी आर्थिक क्रियाओं के सम्पन्न करने के लिए राज्य अनेक प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इस दृष्टि से राज्य व्यक्तियों के आर्थिक हितों का संरक्षक है। वह कृषकों और उद्योगपतियों को धन की सहायता देता है, उन्हें ऋण प्रदान करता है और

जर्मन अर्थशास्त्री Wagner ने १९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग म अपना प्रसिद्ध "राज्य की क्रियाओ की वृद्धि का नियम" (Law of the Increase of State Activities) प्रतिपादित किया था। उसके अनुसार "प्रगतिशील जातियो के भिन्न-भिन्न देशो और समयो की विस्तृत तुलना से यह स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय और स्थानीय सरकारो, दोनो ही की क्रियाओ म नियमित रूप स वृद्धि हुई है। यह वृद्धि गहन (Intensive) और विस्तृत (Extensive) दोना ही प्रकार की है, केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें निरन्तर नये काय करती हैं और वे पुराने और नये कार्यो म से दोनो ही को पूर्णतया और अधिक कुशलता से करती हैं। इस प्रकार से केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें व्यक्तियो की आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति, बढती हुई सख्या म और अधिक सन्तोषजनक ढग से करती हैं।"[5]

यदि हम आधुनिक सरकारो के खर्चो के आंकडो का अध्ययन करे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि Wagner ने जिस प्रवृत्ति को एक नियम का रूप दिया है वह पूर्णरूप से सही है। सयुक्तराज्य म सन् १९१३ म केन्द्रीय सरकार का कुल व्यय ७२ ५ करोड डालर था जो सन १९४५ मे १००४०·५ करोड डालर हो गया था, राज्य सरकारो का व्यय ३८ ३ करोड डालर स ६०२ ६ करोड डालर हो गया था और नगर सम्बन्धी सरकारो का ९८ ४ करोड डालर से २९६ ५ करोड डालर हो गया था।[6] यद्यपि यह सच है कि बीसवी शताब्दी के आधुनिक सरकारो के खर्चो म जो वृद्धि हुई है वह मुख्यत दो महायुद्धो के कारण मूल्यो म वृद्धि होने का परिणाम है, परन्तु इसम भी कोई सन्देह नही कि 'सरकार के क्षेत्र का विस्तार आधुनिक समयो की मुख्य प्रवृत्तियो म से एक है।"[7] निम्न म हम उन मुख्य बातो का वर्णन करेंगे जिनके कारण सरकार के कायक्षेत्र का विस्तार हुआ है —

(१) प्रथम कुछ काय तो इतने आवश्यक हैं कि उनको राज्य के अतिरिक्त कोई दूसरी सस्था कर ही नही सकती जैसे, सुरक्षा और शान्ति स्थापित करना न्याय करना और नियम बनाना और इन कार्यो की पूर्ति के लिए सरकार को एक लम्बे काल से सडको आदि और शिक्षा का प्रबन्ध भी करना पड रहा है। आधुनिक समय में इन आवश्यक कार्यो म वृद्धि हो गई है और आज सामाजिक सुरक्षा और विदेशी विनिमय नियन्त्रण को भी आवश्यक कार्यो म सम्मिलित किया जाता है।

(२) गत वर्षो म मानवीय आवश्यकताओ म भी बहुत अधिक वृद्धि हो गई है और उत्पादन एव वितरण की प्रणालियाँ पहले की अपेक्षा अधिक जटिल हो गई हैं। इसलिए इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये यह आवश्यक हो गया है कि सामूहिक रूप से प्रयत्न किया जाये अर्थात् राज्य की सहायता से इन आवश्यकताओ की पूर्ति की जाये। इसलिये सरकार ने इनका भी दायित्व अपने कन्धो पर लिया और बहुत सी जनउपयोगी सेवायें (Public Utility Services) जैसे यातायात,

5 Phillipe E Taylor, *The Economics of Public Finance*, Page 42
6 *Ibid* Page 43
7 Extension of the Scope of Government is one of the marked tendencies of modern times' *Ibid*, Page 45

पैमाने पर खर्चा करना पडता है जिसको पूरा करने के लिए सरकार कर लगाती है, ऋण लेती है और घाटे के बजट बनाती है। इसमे सन्देह नही कि कुछ देशो म विशेष कर पूंजीवादी देशो में नियोजन का इतना महत्व नही है जितना कि समाजवादी, अविकसित और कमविकसित देशो मे है। परन्तु पूंजीवादी देशो मे भी आर्थिक नियोजन किसी न किसी रूप तथा कुछ न कुछ अश मे विद्यमान अवश्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य के आर्थिक जीवन म सरकार इतना अधिक भाग ले रही है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि सरकार के कौनसे कार्य राजनैतिक हैं और कौन से आर्थिक और यदि यही प्रवृत्ति चलती रही तो वह समय दूर नही जब कि मनुष्य प्रत्येक कार्य के लिए राज्य पर निर्भर हो जायगा, जैसा कि रूस में आजकल है।

अध्याय ?

आर्थिक-व्यवस्था—
(पूँजीवाद, समाजवाद और मिश्रित अर्थ-व्यवस्था)
Economic Order—
(Capitalism, Socialism and Mixed Economy)

आर्थिक व्यवस्था का अर्थ—

आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत वे सभी सस्थाएँ सम्मिलित हैं, जिनके द्वारा आर्थिक यन्त्र (Economic Mechanism) सचलित होता है, अर्थात् किसी देश की आर्थिक व्यवस्था, उन सब ही सस्थाओ को, जिनके द्वारा देश का आर्थिक यन्त्र चलित होता है, एक स्थान पर एकत्रित करने वाले घेरे की बाहरी सीमाएँ हैं। आर्थिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य यह है कि व्यक्तियो को उत्पादन कार्यों से सम्बन्धित सुविधाएँ प्रदान करे, ताकि वे वस्तुओं की उत्पत्ति करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। हमने पिछले अध्याय मे देखा था कि मनुष्य के आर्थिक जीवन मे राज्य हस्तक्षेप, किसी न किसी प्रकार का प्रत्येक देश में ही मिलता है और इसीलिए किसी देश मे आर्थिक व्यवस्था का रूप, राज्य हस्तक्षेप की मात्रा और सीमा पर निर्भर करता है। यही कारण है कि प्रत्येक देश मे भिन्न-भिन्न प्रकार की आर्थिक व्यवस्था है। ससार में तीन प्रकार की आर्थिक व्यवस्थायें देखने मे आती हैं —

(अ) अयोजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था (Unplanned Economy)
(ब) योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था (Planned Economy)
(स) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy)

(अ) अयोजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था—अयोजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप मनुष्य के आर्थिक जीवन में न्यूनतम होता है। राज्य केवल सुरक्षा, शान्ति आदि की व्यवस्था, प्रशासन का कार्य और ऐसे कार्यों को करता है जो कोई भी व्यक्ति अपने निजी रूप से नही कर सकता। वस्तु का उत्पादन, वितरण, उपभोग, व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता रहती है। किसी वस्तु का उत्पादन कब और कितनी मात्रा में किया जाये, किसी व्यक्ति को कितनी मजदूरी दी जाये, नये उद्योग स्थापित किये जायें या नही और यदि स्थापित किये जायें तो किस स्थान पर, कोई व्यक्ति कौन सा व्यवसाय करे आदि बातों का निर्णय व्यक्ति स्वय ही करता है, जबकि योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में इन बातो का निर्णय एक केन्द्रीय सस्था या नियोजन आयोग (Planning Commission) करता है। इसका यह अभिप्राय

नहीं कि अयोजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था में कोई निर्देशन शक्ति ही नहीं। ऐसी व्यवस्था में जितने भी निर्णय लिए जाते हैं उन सभी का निर्देशन मूल्य यन्त्र (Price Mechanism) करता है।[1] मूल्य यन्त्र निम्न प्रकार से निर्देशन करता है —

प्रथम, मूल्यों के परिवर्तनों से ही, उन वस्तुओं का जो सीमित मात्रा में होती है, सम्भाजित (Rationed) वितरण हो जाता है। कुछ वस्तुओं की पूर्ति सीमित होने के कारण, यह सम्भव नहीं होता कि प्रत्येक व्यक्ति को वे इच्छानुसार मात्रा में प्राप्त हो जायें। इस प्रकार कौन व्यक्ति कितनी मात्रा प्राप्त कर सकेगा मूल्य द्वारा ही निश्चित होता है। ऊँचे मूल्य उपभोग को हतोत्साहित करते हैं और नीचे मूल्यों से उपभोग को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार उपभोग का आकार और विविधता मूल्यों द्वारा निश्चित होते हैं।

दूसरे, मूल्य यन्त्र वस्तुओं के उपयोगों को भी निश्चित करता है। दूसरे शब्दों में उत्पादन सम्बन्धी सभी निर्णय मूल्यों पर ही निर्भर करते हैं जैसे, कौन व्यक्ति किस वस्तु का उत्पादन करे, किस स्थान पर करे और कितनी मात्रा मे करे? कहाँ पर उत्पादन को रोक दे? आदि, क्योंकि मूल्य ही उत्पादन व्यय और लाभ की सीमाओं को निश्चित करते हैं। इस प्रकार मूल्य परिवर्तनों द्वारा साधनों का उचित और लाभदायक उपयोगों में बटवारा हो जाता है।

तीसरे, मूल्य यन्त्र इस बात का निश्चय करने में भी सहायता प्रदान करता है कि एक व्यक्ति किस व्यवसाय को करे और किस वस्तु का व्यापार करे? क्योंकि मूल्यों द्वारा ही भिन्न भिन्न व्यवसायों में शुल्क नियत होता है और भिन्न-भिन्न व्यापारों में लाभ की मात्रा निश्चित होती है। इस प्रकार मूल्यों के परिवर्तन श्रम-शक्ति के विभिन्न उपयोगों में वितरण को सहायता प्रदान करते हैं।

चौथे, मूल्य नियन्त्रण आय, उपभोग बचत और विनियोगों के आपसी सम्बन्धों और अनुपातों को भी निर्धारित करता है। व्यक्ति अपनी आय का कौन सा भाग उपभोग पर खर्च करे और कौन सा भाग बचाये। बचत को किन उपयोगों में लगाये अर्थात् बचतों का विनियोग किस प्रकार करे आदि प्रश्नों का उत्तर केवल मूल्यों के परिवर्तनों के गहन अध्ययन के बाद ही प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय, बचत, विनियोगों के बीच अनुपात केवल मूल्य यन्त्र द्वारा ही निर्धारित होता है।

विशेषतायें—अब हम इस स्थिति में है कि अयोजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था की विशेषताओं की गणना कर सकें। यह विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

(अ) इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक यन्त्र, मूल्यों के प्रभाव मे स्वय चालित रहता है। किसी विशेष सस्था के निर्देशन की आवश्यकता नहीं होती।

(ब) यह आवश्यक नहीं कि इस व्यवस्था में माँग और पूर्ति के बीच पारस्परिक समायोजन स्थापित हो।

(स) इसमे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।

1. Barbara Wootton, *Plan or No Plan* Pp 10-55

प्रयोजनावद्ध अर्थ-व्यवस्था का मुख्य रूप पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली है। निम्न मे हम पूंजीवादी प्रणाली (Capitalist Economy) का विस्तार में अध्ययन करेंगे।

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था—

परिभाषा—पूंजीवाद एक ऐसा आर्थिक सगठन है जिसमें उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तियों का स्वामित्व होता है और जिसका उपयोग वह अपने निजी लाभ के लिए करते हैं। यद्यपि पूंजी की आवश्यकता तो प्रत्येक प्रकार के उत्पादन मे ही होती है परन्तु पूंजीवादी व्यवस्था मे पूंजी व्यक्तियों के हाथ मे रहती है और वे ही उसको उपयोग मे लाने के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार इस प्रणाली मे उत्पत्ति के साधन व्यक्तिगत सम्पत्ति माने जाते हैं और व्यक्तियो को यह स्वतन्त्रता होती है कि वे या तो स्वयं उत्पत्ति कार्य को सम्पन्न करें या किसी अन्य व्यक्ति को ठेके पर दे दें परन्तु प्रत्येक स्थिति मे उनको लाभ प्राप्त होना चाहिये। इन्ही मुख्य बातों के आधार पर पूंजीवाद की अनेकों परिभाषायें दी गई हैं। लुक्स् और हूट के अनुसार 'पूंजीवाद, आर्थिक सगठन की एक ऐसी प्रणाली है जिसकी मुख्य विशेषता निजी स्वामित्व और मनुष्यकृत एवं प्राकृतिक साधनों का निजी लाभ के लिए उपयोग है।'[1] John Strachey के शब्दों मे "पूंजीवाद शब्द से हमारा अभिप्राय एक आर्थिक प्रणाली है जिसमें खेतो, कारखानो और खानो पर व्यक्तियो का स्वामित्व रहता है। इन उत्पत्ति के साधनो, जैसे कि इनको कहते हैं, पर वे लोग कार्य करते हैं जो इनके मालिक नही होते और उन लोगो के लाभ के लिए काम किया जाता है जो उनके मालिक होते हैं। पूंजीवाद मे ससार स्नेह से नही बल्कि लाभ के उद्देश्य पर घूमता है"।[2] प्रो० पीगू ने पूंजीवाद की परिभाषा इस प्रकार दी है पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था या पूंजीवादी प्रणाली वह है जिसमे उत्पादक साधनो का मुख्य भाग पूंजीवादी उद्योगो मे लगा हुआ है अर्थात् उन उद्योगो मे जिनमे उत्पत्ति के भौतिक साधनो पर निजी व्यक्तियो का स्वामित्व होता है या उनके द्वारा किराये पर लिये जाते हैं और उनके आदेशानुसार इस प्रकार उपयोग में लाये जाते हैं कि जिन वस्तुओं या सेवाओं को उत्पन्न करने मे सहायता देते हैं उन्हें लाभ पर बेचा जा सके।[3] पूंजीवाद की एक

---

1 'Capitalism is a system of Economic Organisation featured by the private ownership and the use for private profit of men made and natural resources.' Looks and Hoot *Comparative Economic Systems*

2 'By the word capitalism we mean an Economic System under which the fields factories and mines are owned by individuals These means of production as they are called are worked by those who do not own them for the profit of those who do Under capitalism, it is profit making not love, that makes the world go round '—*How Socialism Works*

3 A Capitalist Economy or capitalist system is one the main part of whose productive resources is engaged in capitalist industries in industries, in which the material instruments of production are owned or hired by private persons and are operated at their orders with a view to selling at a profit the goods or services that they help to produce *Socialism Versus Capitalism*, P 1

अच्छी और विस्तृत परिभाषा Webbs ने दी है। उनके अनुसार "पूंजीवाद शब्द या पूजीवादी प्रणाली या यदि हम चाहे तो पूजीवादी सम्यता से हमारा अभिप्राय उद्योग और वैधानिक सस्थाओ के विकास की उस विशेष स्थिति से है जिसमें अधिकाश श्रमिको को उत्पत्ति के साधनो के स्वामित्व से इस प्रकार अलग कर दिया जाता है कि वह मजदूरी कमाने वालो की स्थिति पर पहुच जाते हैं, जिनकी जीविका, सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राष्ट्र के अपेक्षाकृत उस छोटे से भाग की इच्छा पर निभर से हुए प्रतीत होते हैं अर्थात् उन पर जो उनके स्वामी हे और जो अपने वैधानिक स्वामित्व द्वारा भूमि, मशीनो और समाज की श्रम शक्ति के सगठन पर नियन्त्रण रखते हैं और वे ऐसा अपन लिए व्यक्तिगत और निजी लाभ कमाने के उद्देश्य से करते है।"[4] प्रो० बेनहॉम का विचार है कि "पूजीवादी अर्थव्यवस्था आर्थिक ताना-शाही की प्रतिविरोधी है। पूरे उत्पादन का कोई केन्द्रीय नियोजन नहीं होता।······ राज्य द्वारा निर्धारित की गई सीमाओ के अन्दर, प्रत्यक व्यक्ति इस बात के लिए लगभग स्वतन्त्र है कि जैसा चाहे वह कर। समाज की आर्थिक क्रियाओ का स्पष्टतया निर्धारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की एक भीड के समचय रहित फैसलों द्वारा होता है, क्योकि उत्पत्ति के साधन का प्रत्यक स्वामी (श्रमिको को सम्मिलित करते हुए, जो दासता प्रथा के अभाव म, अपने श्रम के स्वय मालिक होते है) स्वतन्त्र है कि वह जैसा चाहे उसका उपयोग करे और अपनी आय को जैसी इच्छा हो खर्च करे।"[5]

पूजीवादी प्रणाली की विशेषतायें—इन परिभाषाओ के आधार पर हम अब इस स्थिति मे है कि पूँजीवादी प्रणाली की विशेषताओ को बता सके। यह विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं —

(१) पूँजीवाद की प्रमुख सस्था 'निजी सम्पत्ति का अधिकार' है। इस अधिकार से प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन, उपभोग, विनिमय, क्रय-विक्रय आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता

4 By the term 'Capitalism' or the 'Capitalist System' or as we prefer the 'capitalist civilization we mean the particular stage in the development of industries and legal institutions in which the bulk of the workers find themselves divorced from the ownership of the instruments of production in such a way as to pass into the position of wage earners whose subsistence, security and personal freedom seem dependant on the will of a relatively small proportion of the nation namely those who own and through their legal ownership, control the organisation of the land, the machinery and the labour force of the community and do so with the object of making for themselves individual and private gains"—*Sydney and Beatrice Webb*

5 A capitalist economy is the antithesis of an economic dictatorship There is no central planning of production as a whole subject to the limitation imposed by the state, everybody is more or less free to do what he likes. The economic activities of the community are determined by the apparently unco ordinated decisions of a multitude of different persons, since each owner of a factor of production (including workers—who in the absence of slavery—own their own labour) is free to use it as he pleases, and to dispose of its earnings as he wishes"—*Economics*, P. 155

होती है और इस अधिकार की सुरक्षा सरकार द्वारा की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति को यह भी स्वतन्त्रता होती है कि वह अपनी मृत्यु के समय या उससे पहले अपनी सम्पत्ति को जिसको चाहे उसको दे सकता है। निजी सम्पत्ति की प्रथा से साधारणतया कई लाभ प्राप्त होते हैं, जैसे व्यक्तियों को उत्पत्ति के क्षेत्र में निर्णय लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है क्योंकि साधनों के मालिक वे स्वयं ही हैं। अर्थात् साधनों को किन उपयोगों में लगाये या उनका उपयोग किस प्रकार करें किस समय करें या खुद न करके किसी दूसरे को दे दें इन सब बातों का निर्णय व्यक्ति स्वयं ही करता है। इसके अतिरिक्त इस प्रथा से व्यक्तियों में बचत करने की आदत उत्पन्न होती है। व्यक्तियों को बचत करके पूंजी जमा करने की प्रेरणा मिलती है क्योंकि वे जानते हैं कि जो कुछ वे बचा कर रखेंगे वह उन्हीं का होगा। इस प्रकार इस अधिकार से देश में पूंजी के निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिलता है।

परन्तु आजकल जो पूंजीवाद का रूप है वह वैसा नहीं है जैसा कि १९वीं शताब्दी में था। निजी सम्पत्ति के अधिकार का उपयोग भी व्यक्ति केवल कुछ सीमाओं में ही कर सकता है। प्रत्येक देश में इस अधिकार पर कुछ न कुछ प्रतिबन्ध अवश्य ही देखने में आते हैं, क्योंकि इस अधिकार के कई बुरे परिणाम होते हैं, जैसे,

(अ) प्रथम, यह धन की असमानताओं को बढ़ाता है और वर्गीय संघर्ष को उत्पन्न करता है।

(ब) दूसरे, धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों को अपने विकास और उन्नति की बहुत कम सुविधायें और अवसर प्राप्त होते हैं। और

(स) अन्त में इस अधिकार के अनेकों राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक दुष्ट परिणाम होते हैं जैसे धन के बल पर व्यक्ति चुनाव में विजय प्राप्त करता है, सरकारी विभागों में धन के बल पर अच्छे स्थान प्राप्त करता है, एकाधिकार संघों की स्थापना होती है उपभोक्ताओं को ऊँचे मूल्यों पर वस्तुयें प्राप्त होती हैं इत्यादि इस प्रकार समाज का नैतिक पतन होता है।

जैसा कि हम अभी कह चुके हैं कि व्यक्ति इस अधिकार का उपयोग करने में इतना स्वतन्त्र नहीं है जितना पहले था। सरकार ने आजकल बहुत से प्रतिबन्ध लगा दिये हैं जैसे, धनी व्यक्तियों पर कर लगाना और निधनों के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य रक्षा आदि की मुफ्त सेवायें प्रदान करना, वस्तुओं के मूल्यों और गुणों को नियमित करना और जन उपयोगी सेवाओं को स्वयं प्रदान करना।

(२) पूँजीवादी प्रणाली की दूसरी प्रमुख संस्था 'निजी लाभ' है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने साधनों का प्रयोग अपने लाभों के लिए करता है। दूसरे शब्दों में साधनों का उपयोग सामाजिक हित में नहीं होता है और अधिकतर श्रमिकों और उपभोक्ताओं का शोषण होता है।

पूँजीवादी प्रणाली में निजी लाभ के उद्देश्य का विशेष महत्व है। क्योंकि एक तो इससे साहस करने और जोखिम सहन करने की प्रेरणा मिलती है और समाज में उत्पादक उद्योगों की वृद्धि होती है। दूसरे, इस उद्देश्य की पूर्ति के कारण

ही व्यक्ति यह निर्णय कर पाता है कि किस वस्तु का वह उत्पादन करे और कितनी मात्रा में करे। वह सदैव ही साधनों को कम लाभप्रद उपयोगों में से निकाल कर अधिक लाभप्रद उपयोगों में लगाता रहता है और इस प्रकार देश के उत्पादक साधनों का अधिकतम उपयोग सम्भव होता है। इसके अतिरिक्त उत्पादक क्रियाओं का क्षेत्र बढ़ता है, नई-नई वस्तुओं की उत्पत्ति होती है और उत्पत्ति में नए नए ढंगों का प्रयोग होता है।

(३) पूँजीवादी प्रणाली की तीसरी विशेषता आर्थिक स्वतन्त्रता है। निजी सम्पत्ति और निजी लाभ के अधिकारों का पूर्ण उपयोग उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता हो कि वह अपनी सम्पत्ति का जिस प्रकार चाहे उपयोग करे और आर्थिक क्रियाओं को इस प्रकार सम्पन्न करे कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। यह स्वतन्त्रता पूँजीवादी प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति को होती है और इसीलिए इसको स्वतन्त्र आर्थिक प्रणाली भी कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रणाली में व्यवसायिक स्वतन्त्रता रहती है। वह प्रसंविदे करने के विषय में पूर्णरूप से स्वतन्त्र होता है। उपभोक्ताओं को भी स्वतन्त्रता होती है कि वे अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करने के लिए अपने धन का व्यय जिस प्रकार चाहे करें और श्रमिक भी स्वतन्त्र होते हैं कि उन्हें जिस व्यवसाय अथवा स्थान पर अधिक मजदूरी मिले उसमें काम करें। इस प्रकार इस प्रणाली में समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता होती है।

परन्तु आजकल यह देखने में आता है कि सभी पूँजीवादी देशों में इस प्रकार की पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है। राज्य ने इस स्वतन्त्रता पर भी कुछ प्रतिबन्ध लगाये हैं। यह प्रतिबन्ध इसलिए लगाये गए हैं कि हो सकता है कि व्यक्ति विशेष जिस क्रिया को अपने लिए सबसे अधिक उपयोगी समझता हो वह सम्पूर्ण समाज के हित में न हो जैसे, चोरी करना, कत्ल करना सभी देशों में कानूनी जुर्म माने गए हैं। नशीली वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण पर भी नियन्त्रण लगाए गए हैं। पेटेन्ट और कापीराईट कानून भी इसीलिए बनाए गए हैं कि कुछ व्यक्तियों द्वारा किए गए आविष्कारों या लिखी गई पुस्तकों का अनुचित प्रयोग दूसरे व्यक्ति अपने निजी लाभ के लिए न कर सकें। इसी प्रकार कुछ व्यवसायों को जैसे युद्ध सम्बन्धी यन्त्रों का उत्पादन, तार व डाक की व्यवस्था, मुद्रा निकासी आदि को सरकार स्वयं करती है। इसी प्रकार कुछ व्यवसायों को करने के लिए विशेष शिक्षा और दीक्षा कानूनी रूप से अनिवार्य कर दी गई हैं जैसे, इन्जीनियरों, वकीलों, डाक्टरों आदि का व्यवसाय। इस प्रकार उपक्रम की स्वतन्त्रता केवल कुछ प्रतिबन्धों के अन्दर ही प्राप्त होती है।

(४) पूँजीवादी प्रणाली की चौथी प्रमुख संस्था मूल्य प्रणाली है। ऊपर बताई हुई सारी स्वतन्त्रताओं के होते हुए भी व्यक्तियों को अपने निर्णय मूल्य परिवर्तनों के आधार पर लेने होते हैं। इस सम्बन्ध में हम काफी विस्तार में ऊपर चर्चा कर ही चुके हैं।

(५) पूंजीवादी प्रणाली की एक और आधारभूत संस्था प्रतियोगिता है। यह प्रतियोगिता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के कारण ही उत्पन्न होती है। मूल्य यन्त्र प्रतियोगिता की सहायता से ही व्यक्तियों की आर्थिक क्रियाओं को नियमित करता है। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता केवल एक सैद्धान्तिक भ्रम है। वास्तविक जीवन में अपूर्ण प्रतियोगिता ही दीखती है। चूंकि पूर्ण प्रतियोगिता के लिये ये शर्तें आवश्यक हैं। प्रथम, साधनों की गतिशीलता पर किसी प्रकार का भी कृत्रिम प्रतिबन्ध नहीं होने और दूसरे किसी भी एक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत क्रियाओं से वस्तु का मूल्य प्रभावित नहीं होता। परन्तु वास्तविक जीवन में यह दोनों ही शर्तें पूरी नहीं होतीं, क्योंकि एक तो सरकार बहुत से प्रतिबन्ध लगाती है जैसे, मजदूरी की दर, काम के घण्टे, काम की दशायें आदि कानून द्वारा निश्चित कर देती है, जनोपयोगी सेवाओं को स्वयं प्रदान करती है इत्यादि। दूसरे कुछ उद्योग ऐसे हैं जिनमें बहुत बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती है जो किसी एक व्यक्ति के बस की बात नहीं है जैसे लोहा और स्पात, मोटर कार, पानी के जहाज आदि के उद्योग। कुछ उद्योगों की प्रकृति आरम्भ से ही एकाधिकार की स्थिति स्थापित होने की होती है, और कुछ उद्योगों में उत्पादक स्वयं ही एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न कर लेते हैं, जैसे औद्योगिक गुटबन्दी। इसके अतिरिक्त उपभोक्ताओं को भी विभिन्न वस्तुओं के बारे में पूर्ण ज्ञान नहीं होता और श्रमिकों को भी रोजगार के अवसरों और दशाओं की पूर्ण सूचना नहीं होती। इन सब बातों के कारण व्यवहारिक जीवन में प्रतियोगिता का अभाव रहता है। परन्तु फिर भी इन सीमाओं के अन्दर व्यक्ति प्रतियोगिता करने के लिये स्वतन्त्र होते हैं। इस प्रतियोगिता के कई लाभ हैं। प्रथम, प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुओं को खरीदने और चुनने की स्वतन्त्रता होती है। उपभोक्ता अपनी इच्छा अनुसार चीजें खरीद सकता है और उत्पादक अपने साधनों का इच्छानुसार चुनाव कर सकते हैं। दूसरे उत्पादन में अधिकतम कुशलता प्राप्त होती है क्योंकि अकुशल उत्पादकों को उत्पादन बन्द करना होता है या कुशलता में वृद्धि करनी होती है। इस प्रकार साधनों का अपव्ययी उपयोग नहीं होता है और अन्त में प्रतियोगिता मूल्य यन्त्र को सचालित करती है।

(६) पूंजीवादी प्रणाली की छटी विशेषता यह है कि इसमें उत्पादन-कार्य समन्वय रहित होता है। इसमें साधनों के उपयोग के बारे में किसी केन्द्रीय संस्था का निर्देशन नहीं होता है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं व्यक्तिगत क्रियाओं का निर्देशन मूल्य यन्त्र द्वारा होता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि पूंजीवादी प्रणाली का रूप गत वर्षों में काफी बदल गया है और जैसा कि हमने कई स्थानों पर बताया है कि परिस्थितियों के बदलने से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बहुत सीमा तक कम हो गई है। अब हम पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के गुण तथा दोषों का अध्ययन करते हैं।

पूँजीवादी प्रणाली के लाभ—

पूँजीवादी प्रणाली के निम्न लाभ बताये गये हैं।

(१) **उत्पादन सम्बन्धी लाभ**—(अ) उत्पादन प्रणाली व्यक्तियों की आवश्यकताओं के अनुकूल होती है। यह मूल्य यन्त्र द्वारा होता है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता होती है कि वह जिस प्रकार चाहे अपनी मौद्रिक आय को व्यय करे। किसी भी वस्तु को कितनी ही मात्रा म खरीदे, क्योंकि व्यक्ति वे यह निर्णय मूल्य पर निर्भर करते हैं और किसी भी वस्तु के लिये मनुष्य की आवश्यकता की तीव्रता उस मूल्य द्वारा व्यक्त होती है जो वह वस्तु के लिये देने को तैयार होता है। उत्पादक भी अपनी उत्पत्ति की मात्रा मूल्य द्वारा ही निश्चित करते हैं। इस प्रकार मूल्य यन्त्र माग और पूर्ति म सतुलन स्थापित होने म सहायता करता है।

(आ) उत्पादन की कुशलता, इस प्रणाली का दूसरा गुण है। अधिकतम लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य और प्रतियोगिता म सफल होने के लिये प्रत्येक उत्पादक, वस्तु को कम से कम उत्पादन लागत पर उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है। इसलिये उत्पादन क्षेत्र म केवल वे ही उत्पादक टिक पाते हैं जो अत्यन्त कुशल और निपुण होते हैं और कम कुशल या अकुशल उत्पादक, कम लाभ प्राप्त होने के कारण या हानि होने के कारण उस उद्योग को छोड कर किसी अन्य उद्योग म काय करने लगते हैं। इस प्रकार साधनों का अपव्ययी उपयोग बच जाता है।

(इ) उत्पादन में कुशलता प्राप्त करने के लिये प्रत्येक उत्पादक उत्पादन विधियो म नित नये सुधार करने के लिये प्रेरित होता है। वैज्ञानिक ढगा पर श्रमिकों का सगठन करता है। नये नये यन्त्रों का प्रयोग करता है। अनुसन्धान कार्यों पर अधिक व्यय करता है और इसी प्रकार के अन्य प्रयत्न करता है।

(ई) इन प्रयत्नो के कारण पिछले वर्षो म बहुत उन्नति हुई है। वस्तुओ की सख्या और विविधता म अत्यधिक वृद्धि हुई है। श्रमिको की उत्पादन शक्ति म भी उन्नति हुई है। पहिले की अपेक्षा आज प्रत्येक वस्तु का उत्पादन कई गुना बढ गया है। बहुत सी नई किस्म की वस्तुएँ बनती आरम्भ हुई हैं। उत्पादन उपभोक्ताओं की रुचियों के अनुकूल किया जा रहा है। वास्तव म यह पूँजीवादी उत्पादन का ही चमत्कार है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यदि पूँजीवादी उत्पादन इस प्रकार चलता रहा तो बीस वर्षों म (और सन् १९२८ से ५० वर्षों में) अत्यधिक निर्धन व्यक्तियों की निर्धनता समाप्त हो जायगी।[6]

(२) **जीवन स्तर में वृद्धि**—पूँजीवादी प्रणाली की एक सफलता यह भी बताई जाती है, कि गत वर्षों में उत्पादन म महान् वृद्धि होने के कारण, व्यक्तियों के जीवन स्तर म बहुत उन्नति हो गई है। इस वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि पहले की अपेक्षा अब वस्तुएँ एक तो प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने लगी हैं, दूसरे पहले की ही वस्तुएँ अब नय-नय रूप, रग और आकार की बनने लगी हैं और नय-नये आविष्कार

6 J A. Schumpeter, *Capitalism, Socialism and Democracy*, Page 64.

होने से नई-नई वस्तुएँ भी बनाई जाने लगी हैं, जैसे रेडियो, बिजली के पंखे, बिजली के प्रशीतक (Refrigerators) इत्यादि। यह पूर्ण रूप से पूँजीवादी देशों के गत वर्षों के आर्थिक इतिहास से स्पष्ट हो जाता है।[7] यह सस्ता कपड़ा, सस्ता सूती और रेशमी कपड़ा, जूते, मोटरें इत्यादि ही पूँजीवादी उत्पादन की विशेष सफलताएँ हैं। यह उन्नति या सुधार नहीं जो धनी व्यक्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। रानी एलीजबैथ के पास रेशमी मोजे थे। पूँजीवादी सफलता इसी में नहीं कि रानियों के लिए अधिक रेशमी मोजे प्रदान करें वरन् इसमें है कि कारखाना में काम करने वाले श्रमिकों को यह मोजे कम से कम प्रयत्न करके प्राप्त हो जायें। पूँजीवादी विधि, अकस्मात् ही नहीं बल्कि अपनी कार्य प्रणाली द्वारा, जन साधारण के जीवन स्तर में तीव्र गति से वृद्धि करती है।[8]

(३) **स्वयक्रियता**—हम ऊपर कह आये हैं कि पूँजीवादी प्रणाली में आर्थिक क्रियाओं का निर्धारण उपभोग और वितरण सम्बन्धी निर्णय मूल्य पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार प्रतियोगिता और मूल्य यन्त्र के कारण बिना किसी निर्देशक के ही इस प्रणाली में विभिन्न क्षेत्रों में स्वयं ही समन्वय स्थापित हो जाता है। इसमें समाजवाद की भांति केन्द्रीय नियोजन की कोई आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार यह प्रणाली स्वयचलित है।

(४) **स्वतन्त्रता**—पूँजीवादी प्रणाली में व्यक्तियों को आर्थिक और राजनैतिक दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। यह सच है कि यह स्वतन्त्रता कुछ प्रतिबन्धों के साथ ही प्राप्त होती है, परन्तु फिर भी अन्य आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं की अपेक्षा इसमें व्यक्ति अधिक स्वतन्त्र रहता है। इसमें राज्य का कम से कम हस्तक्षेप होता है। जब तक कि सामाजिक न्याय और सुरक्षा भंग न हो और जब तक कोई व्यक्ति अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए अन्य व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होता उस समय तक प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होता है कि वह जैसा चाहे करे। इस स्वतन्त्रता से व्यक्तिगत उपक्रम और उत्साह में वृद्धि होती है।

(५) **न्यायशीलता**—पूँजीवादी प्रणाली के समर्थकों का कहना है कि यह प्रणाली न्यायपूर्ण है। यह प्रकृति का नियम है कि सबसे अधिक योग्य जीव ही जीवित रहना चाहिए। यह प्रणाली इसी नियम पर आधारित है। न्यायशीलता तो इसी में है कि सबसे योग्य व्यक्ति को ही अधिकतम लाभ प्राप्त हो। इस प्रणाली में होता भी यही है।

(६) **लोचपूर्णता**—कुछ लोगों के अनुसार यह प्रणाली अपने आपको समय अनुसार बना सकती है अर्थात् इसमें एक बड़ा गुण यह है कि यह लोचपूर्ण है। परिस्थितियों के बदलने के साथ साथ यह अपनी उत्पादन विधि, प्रबन्ध और कार्य प्रणाली को तुरन्त ही बदल लेती है और समय अनुकूल बना लेती है। राजकीय हस्तक्षेप, इतना अधिक हो जाने पर भी, आज यह जीवित है और केवल यह ही नहीं

7 Loucks and Hoot Comparative Economic Systems Pp 67-75
8 J A Schumpeter *Ibid* P 67.

बल्कि संसार के अधिकांश भाग पर इसका प्रभुत्व है।

पूंजीवादी प्रणाली के दोष—

उपर्युक्त गुणों से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि पूंजीवादी प्रणाली दोष रहित है। इसके दोष काफी गम्भीर हैं। इन्हीं दोषों के कारण तो इसकी इतनी निन्दा हुई है और आर्थिक जीवन में राज्य हस्तक्षेप बढ़ा है। सच तो यह है कि इस इस प्रणाली में इतनी बुराईयां हैं कि इसका अन्त अब निकट ही दीखता है। यह दोष निम्न प्रकार हैं —

(१) आय की असमानता—पूंजीवादी प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह आर्थिक असमानताओं को जन्म देती है। इस प्रणाली में समाज दो भागों में विभाजित हो जाता है। प्रथम भाग में तो वे लोग आते हैं जिनके पास किसी भी वस्तु का अभाव नहीं होता और जो अपना जीवन भोग विलास में बिताते हैं और दूसरे भाग में ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जिनके पास पेट भर खाने को भोजन और तन ढाकने को कपड़ा भी नहीं होता। यही नहीं जैसे जैसे इस प्रणाली की उन्नति हुई है वैसे ही वैसे धन की असमानतायें बढ़ती ही गई हैं। धनी और अधिक धनी होते गये हैं और निर्धन और अधिक निर्धनता की सीमा पर पहुँचते गये। यह असमानतायें मुख्य रूप से निजी सम्पत्ति, उपक्रम की स्वतन्त्रता, निजी लाभ के लिये उत्पादन और प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न होती हैं। यद्यपि यह सही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र है कि वह जैसा चाहे वैसा करे परन्तु यह स्वतन्त्रता केवल सैद्धान्तिक ही है। क्योंकि व्यवहार में यह स्वतन्त्रता केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होती है जिनके पास पहले ही से प्रचुर मात्रा में साधन होते हैं। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे उत्पत्ति का क्षेत्र बढ़ता है और उत्पादन में नये ढंगों का प्रयोग होता है वैसे ही वैसे उन व्यक्तियों की संख्या कम होती चली जाती है जिनके पास नये ढंगों का प्रयोग करने के लिये मशीनें हों और बड़ी मात्रा में उत्पादन करने के लिये बहुत बड़ी पूंजी हो। इसी लिये केवल धनी परिवार के लोग ही धनी रहते हैं। हाल ही के एक अनुमान के अनुसार संयुक्त राष्ट्र अमरीका में २६ प्रतिशत परिवारों और व्यक्तियों को कुल आय का ५६% भाग प्राप्त हुआ जब कि शेष ७४% परिवारों और व्यक्तियों को केवल ४४% मिला।[9] इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन में सन् १९३६ में १२% व्यक्तियों ने कुल राष्ट्रीय आय का ४२% भाग प्राप्त किया था।[10] इस बात से सिद्ध होता है कि जब पूंजीवादी देशों में आय की असमानता इतनी भीषण है तो धन की असमानता तो और भी अधिक भयानक होगी। इस समस्या के साथ-साथ एक बुराई और उत्पन्न होती है कि पूंजीवादी देशों में समाज की प्रगति तथा सामाजिक और आर्थिक उन्नति के साथ-साथ बहुधा सम्पत्ति का मूल्य बढ़ता ही जाता है जिससे व्यक्ति को बिना किसी प्रयत्न के ही

9 Paul A Samuelson, *Economics*, P. 63.
10 Pigou, *Ibid*, P 19

आय प्राप्त होती है। इस प्रकार पूँजीपतियों की अधिकतर आय, 'अनुपार्जित आय' (Un-earned Income) होती है।

धन की यह असमानताएँ प्रत्येक दृष्टिकोण से ही हानिकारक और बुरी हैं। एक तो यह बहुत ही अन्यायपूर्ण है क्योंकि ऐसे परिवारों की संख्या बहुत अधिक होती है जिनके सदस्य अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को भी पूरी नहीं कर पाते और उनकी आय क्षमता निरन्तर गिरती ही जाती है। इसका प्रभाव इन तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि इनके बच्चे अनपढ़ रहते हैं और अच्छा भोजन प्राप्त न कर पाने के कारण सदैव ही अस्वस्थ रहते हैं और इस दूषित चक्र का कभी अन्त नहीं होता। दूसरी ओर कुछ धनी ऐसे व्यक्ति होते हैं जो बिना मेहनत किये भोग विलास में जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार की स्थिति अत्यन्त ही अन्यायपूर्ण है। कोल ने ठीक ही कहा है कि "उद्योग के मन्दिर में जहाँ तक सुख का सम्बन्ध है बड़े पुजारी और सेवकों में जमीन आसमान का अन्तर है।"[11] राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से भी यह असमानता अत्यन्त हानिकारक होती है। राजनैतिक क्षेत्र में यह अशान्ति उत्पन्न करती है और जनता को असन्तुष्ट बनाती है और सामाजिक क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपने गुणों का विकास करने के लिए सामान्य अवसर नहीं प्राप्त हो पाते हैं। आर्थिक क्षेत्र में इन असमानताओं के रहते हुए राष्ट्रीय आय में कितनी ही वृद्धि क्यों न हो जाय राष्ट्र के पूर्ण आर्थिक कल्याण में वृद्धि कदापि भी नहीं होगी। इसका कारण है, कि वस्तुओं की बहुतायत रहते हुए भी व्यक्तियों को वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो पाती हैं क्योंकि समाज के अधिकतर व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जिनके पास वस्तुएँ खरीदने के लिए पैसे ही नहीं होते। मशीनों और उत्पादन के नवीनतम ढंगों के प्रयोग से उत्पादन तो अवश्य बढ़ता जाता है परन्तु इसके साथ बेकारी भी बढ़ती जाती है। इस सम्बन्ध में अमरीका में खानों में खुदाई करने वाले लोगों के विषय में एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है जिससे कि पूँजीवादी प्रणाली का वास्तविक रूप प्रदर्शित हो जाता है। यह उदाहरण इस प्रकार है —

"एक खान खुदाई करने वाले व्यक्ति के पुत्र ने अपनी माता से कहा—माँ आग क्यों नहीं जलाती? कितनी ठण्ड है।

क्योंकि हमारे पास कोयला नहीं है। तुम्हारे पिता बेकार हैं और हमारे पास कोयला खरीदने को पैसे नहीं हैं।

परन्तु वह बेकार क्यों है?

क्योंकि कोयला बहुत अधिक मात्रा में है।"[12]

कितनी विचित्र बात है कि एक ओर तो कोयला बहुतायत में है और दूसरी

---

11 "There is a world of difference in terms of happiness between the high priest and the slaves in the temple of industry."—G. D. H. Cole: *Principles of Economic Planning*, 1935, P. 3.

12 Quoted by A. L. Leontiev: *Political Economy*, P. 181 from A. Rochester: *Labour and coal*.

और लोगों को आग जलाने को प्राप्त नहीं हो पाता है। यह केवल इसीलिये तो है कि उनके पास कोयला खरीदने को पैसे नहीं हैं क्योंकि कोयले के अत्यधिक उत्पादन के कारण उनको कोयले उद्योग से निकाल दिया गया है।

(२) **आर्थिक अस्थिरता**—पूँजीवादी प्रणाली का एक बड़ा दोष यह भी है कि इसमें आर्थिक स्थिरता का अभाव रहता है, अर्थात् मूल्यों के उतार-चढ़ाव बहुत अधिक और शीघ्र ही होते रहते हैं जिनसे कि देश का आर्थिक जीवन पूर्ण रूप से अनिश्चित रहता है। दूसरे शब्दों में व्यापार चक्र इस प्रणाली की मुख्य विशेषता है। कभी-कभी तो व्यापार और उद्योगों में एक दम समृद्धि आती है और फिर उनके बाद तुरन्त ही मन्दीकाल आता है और इसी प्रकार एक के बाद दूसरा—क्रम चलता ही रहता है। एक व्यापार चक्र का काल लगभग ९-१० वर्षों का होता है। मन्दी के दिनों में समाज के सभी वर्गों के लोगों को घोर कष्ट सहन करने पड़ते हैं। ऐसे दिनों में उत्पादन, व्यापार और राष्ट्रीय आय गिरती जाती है और बेकारी बढ़ती जाती है। १९३० के मन्दी काल के बारे में तो लगभग सभी जानते हैं उन वर्षों में संयुक्त राज्य की राष्ट्रीय आय ८,३०० करोड़ डालर से गिर कर ४,००० करोड़ डालर रह गई थी, औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक ११९ से ६४ पर आ गया था और बेकारों की संख्या लगभग १५ गुनी बढ़ गई थी। इस प्रकार यह अवगुण पूँजीवादी प्रणाली का अनिवार्य और स्वाभाविक दोष है।

(३) **अपव्ययिता**—ऐसी प्रणाली में आर्थिक साधनों का भिन्न-भिन्न उद्योगों में मितव्ययी प्रयोग नहीं होता है यह हम बता ही चुके हैं कि इस प्रकार की व्यवस्था में मूल्य यन्त्र मूल निर्देशक होता है और इसलिये केवल वही वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं जिनके मूल्य ऊँचे होते हैं अर्थात् जिनका केवल धनी व्यक्ति ही उपभोग करते हैं। इस प्रकार अधिकांश व्यक्तियों द्वारा उपभोग में लाई जाने वाली वस्तुएँ, दूसरे शब्दों में अनिवार्य आवश्यक्ताओं की वस्तुओं के उत्पादन में साधनों का बहुत कम उपयोग होता है।[13]

इसके अतिरिक्त उत्पत्ति के साधनों का बटवारा भिन्न-भिन्न उद्योगों और व्यवसायों में आदर्शतम नहीं होता है क्योंकि एक तो कुछ वस्तुओं की मौद्रिक लागत (Money Cost of Production) और सामाजिक लागत (Social Cost of Production) समान नहीं होती जैसे कि नशीली वस्तुओं का उत्पादन और विक्रय। ऐसी वस्तुओं की मौद्रिक लागत तो बहुत कम रहती है परन्तु सामाजिक लागत बहुत अधिक होती है। क्योंकि समाज को इन वस्तुओं के उपभोग के कारण उत्पन्न होने वाले झगड़े और अपराधों को रोकने के लिये पुलिस और न्यायालयों के प्रबन्ध करने पर बहुत खर्चा करना पड़ता है। परन्तु उत्पादक निजी लाभ को अधिकतम करने के लालच से इस बात की ओर ध्यान ही नहीं देता और वस्तुओं का उत्पादन करता चला जाता है। दूसरी ओर साधनों के कुछ उपयोग ऐसे हैं जिनसे सभी व्यक्तियों को एक साथ लाभ पहुँचता है और उसका मूल्य किसी एक व्यक्ति से नहीं लिया

13 Pigou · *Ibid*, P. 21

जा सकता है। जैसे पार्क, सड़कें, वाचनालयों आदि की व्यवस्था। ऐसे उपयोगों में सामाजिक लाभ अधिक होते हुये भी पूंजीपति अपनी पूंजी को कभी भी लगाने को तैयार न होगा क्योंकि इससे उसको कोई मौद्रिक लाभ प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार हमने देखा कि साधनों का उचित बटवारा पूंजीवादी प्रणाली में नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त कुछ उद्योग ऐसे होते हैं जिसमें एकाधिकार की स्थिति स्थापित हो जाती है। ऐसे उद्योगों में एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य से वस्तु को कम मात्रा में उत्पन्न करके ऊंचे मूल्य पर बेचता है। इसका मतलब यह है कि वह अपने उद्योग में उतने साधनों को प्रयोग में नहीं लाता जितने कि आदर्श बटवारे की स्थिति में आने चाहिये जिसमें इन साधनों का अपव्ययी उपयोग होता है। क्योंकि या तो वह बेकार पड़े रहते हैं या वह ऐसे उद्योगों में लगाए जाते हैं जहाँ उनकी सीमान्त उपयोगिता नीची होती है। अन्य कारणों से भी साधनों का अपव्ययी उपयोग होता है। एक तो एक वस्तु के भिन्न-भिन्न उत्पादक उत्पादन करने से पहले यह अनुमान नहीं लगा पाते कि उनमें से प्रत्येक वस्तुओं की कितनी मात्रा बेच सकेगा। जिसका परिणाम यह होता है कि या तो वह अधिक उत्पादन कर लेता है या कम। यदि उत्पादन मांग से अधिक हो जाता है तो उसको प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त करने के लिये विज्ञापन आदि पर बहुत अधिक पूंजी खर्च करनी पड़ती है जो खर्चा पूर्णरूप से अनावश्यक होता है। साथ ही साथ यदि अन्य प्रतियोगी उत्पादक वस्तु के रूप और रंग में कुछ परिवर्तन करदे तो पहले बनी हुई वस्तुओं का एक तो बिकना कठिन हो जाता है और दूसरे वस्तुओं के रूप और रंग में परिवर्तन करने में अनावश्यक खर्च होते हैं। इसके अतिरिक्त संस्थाओं और व्यापारों की दोबारगी (Duplication) के कारण भी बहुत बरबादी होती है।

(४) **बेकारी**—पूंजीवादी प्रणाली का चौथा गम्भीर दोष यह है कि इसमें मानवीय और भौतिक साधनों का पूर्ण उपयोग तो हो ही नहीं पाता और उसके ऊपर बेकारी और उत्पन्न होती चली जाती है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि इच्छा न होते हुये भी लोगों को बेकार होना पड़ता है। ऐसी व्यवस्था में कैसा अद्भुत स्वतन्त्रता का अधिकार है जब कि लोगों को पेट भरने, तन ढाकने, छत के नीचे रहने तक की स्वतन्त्रता और अधिकार नहीं। यह बेकारी केवल इसी लिये होती है कि उत्पत्ति के भौतिक साधनों पर कुछ ही लोगों का स्वामित्व होता है और श्रमिकों को नौकर रखना उनकी इच्छा पर निर्भर रहता है। परन्तु वे 'पूर्ण-रोजगार' (Full Employment) की स्थिति उत्पन्न करने में असमर्थ रहते हैं। इसीलिये तो समाजवाद अधिक प्रगति कर रहा है क्योंकि अब यह सिद्ध हो चुका है कि बिना राज्य हस्तक्षेप के पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती।

(५) **एकाधिकार संघों की स्थापना**—पूंजीवादी प्रणाली में बहुधा एकाधिकार संघों के स्थापित होने की प्रवृत्ति पाई गई है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो पूर्ण प्रतियोगिता इस प्रणाली का मुख्य लक्षण है परन्तु व्यावहारिक जीवन में एकाधिकारी या अर्ध एकाधिकारी संगठन स्थापित होते देखे गये हैं। स्पष्ट है कि ऐसे संघों की

स्थापना से केवल पूंजीवादी प्रणाली के दोष घटते ही नहीं हैं साथ ही साथ उनके लाभ भी कम हो जाते हैं।

(६) **शोषण**—इस प्रणाली में क्योंकि उत्पादकों का मुख्य उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना होता है इसलिए वे अपने उत्पादन व्यय को कम से कम रखने के लिए श्रमिकों का शोषण करते हैं। वे श्रमिकों को उनकी उत्पत्ति का पूरा मूल्य नहीं देते जिससे श्रमिक सदैव ही निधन बना रहता है। वे स्त्री और बच्चों को कम मजदूरी पर नौकर रखते हैं श्रमिकों की बीमारी आदि पर कोई ध्यान नहीं देते। इसके साथ-साथ श्रमिकों को सदैव ही बेकारी का डर लगा रहता है क्योंकि यदि श्रमिक अपनी मजदूरी बढवाने और काय दशाओं को सुधारने की बात कह तो मालिक उसको फौरन निकाल देगा। इस प्रकार इस प्रणाली में मानवता का पूर्ण अभाव रहता है।

(७) **कला की अवनति**—ऐसी प्रणाली जिसमें प्रत्येक वस्तु का महत्व द्रव्य में आका जाय उस प्रणाली में कला साहित्य और गायन विद्या आदि का कैसे विकास हो सकता है। मित्रता भी धन और दौलत की तराजू में तौली जाती है और देश में कला और कलाकारों का कोई स्थान नहीं होता।[14]

योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था—

योजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था का विचार बीसवीं शताब्दी की देन है। ऐसी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन व्यापार, रोजगार, जीवन स्तर और राष्ट्रीय आय का विकास एक साथ होता है और यह विकास एक केन्द्रीय संस्था द्वारा एक निश्चित योजना के अनुसार होता है। यह योजना एक पूर्व निश्चित उद्देश्य से बनाई जाती है और एक निश्चित अवधि के लिए होती है। राबिन्स के शब्दों में "योजना बनाने का अर्थ है किसी निश्चित उद्देश्य से काम करना, चुनना या निर्णय करना और यह निर्णय सारी आर्थिक क्रियाओं का निचोड होता है।'[15] लाविन के अनुसार योजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था "आर्थिक संगठन की एक ऐसी योजना है जिसमें सारे व्यक्ति तथा अन्य यन्त्रादि, उपक्रमों और उद्योगों को एक सम्पूर्ण प्रणाली की समचित इकाइयाँ मानी जाती हैं ताकि तमाम उपलब्ध साधनों का एक निश्चित अवधि के अन्दर, किसी जाति की आवश्यकताओं की अधिकतम संतुष्टि के लिए, उपयोग किया जाय।'[16] इस प्रकार योजनाबद्ध अर्थ व्यवस्था का मुख्य आधार आर्थिक नियोजन[17] है।

14 Loucks and Hoot, *Ibid*, P 83

15 Robbins *Economic Planning and International Order* P 4

16 Lewis Lorwin *Report of the Amsterdam Conference on World Social Planning* P. 714

17 आर्थिक नियोजन का विस्तृत अध्ययन पुस्तक-चौथी में किया गया है। यहाँ पर हम केवल योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी बातों की ही विवेचना कर रहे हैं।

योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था की विशेषताएँ—इस अर्थ-व्यवस्था की मुख्य विशेषतायें निम्न प्रकार हैं—

(१) इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए जो भी निर्णय होते हैं वे केन्द्रीय नियोजन अधिकारी (Central Planning Authority) द्वारा लिए जाते हैं। दूसरे शब्दों में एक नियोजन अधिकारी की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है जो देश के साधनों को ध्यान में रखकर पूर्व निश्चित उद्देश्यों के लिए एक विस्तृत योजना तैयार करता है। नियोजन अधिकारी वास्तव में नियोजन कार्य का निर्देशक होता है।

(२) नियोजन अधिकारी जिस योजना का निर्माण करता है वह निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बनाई जाती है अर्थात योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में उत्पादन एवं वितरण क्रियायें इन उद्देश्यों की पूर्ति को ध्यान में रख कर की जाती हैं और उनका मार्ग पूर्व निश्चित रहता है। यह आवश्यक नहीं कि यह उद्देश्य आर्थिक आधार पर ही निर्धारित हों वरन् सामाजिक राजनैतिक तथा अन्य विचारों के आधार पर भी निर्धारित किए जा सकते हैं। यह देश की परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। जैसे रूस में आर्थिक नियोजन का उद्देश्य, देश को आर्थिक क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाना और देश की सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था करना था। इसी प्रकार इटली और जर्मनी में मुख्य उद्देश्य राज्य की आर्थिक तथा सैन्य शक्ति को प्रबल बनाना था। कुछ भी हो प्रत्येक देश में आर्थिक नियोजन के कुछ सामान्य उद्देश्य अवश्य होते हैं जो लगभग सारे ही देशों में समान रहते हैं, जैसे व्यक्तियों के जीवन स्तर को ऊँचा करना, देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करना, आर्थिक असमानताओं को दूर करना, आर्थिक जीवन को स्थाई बनाना इत्यादि। हाँ, यह अवश्य है कि पिछड़े हुए देशों में नियोजन का प्राथमिक उद्देश्य आर्थिक विकास और औद्योगीकरण होता है।

(३) जैसा कि हम कह चुके हैं योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था एक निश्चित योजना के अनुसार कार्य करती है। जब देश की सरकार उद्देश्यों को निश्चित कर लेती है तो नियोजन अधिकारी उपलब्ध साधनों के अनुसार एक निश्चित अवधि में उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए योजना बनाता है, अर्थात वह यह निर्धारित करता है कि उस समय में साधनों का प्रयोग किस प्रकार होगा और फिर साधनों को विभिन्न प्रयोगों में प्राथमिकता क्रमों के अनुसार बाँट देता है। जब सरकार इस योजना को स्वीकार कर लेती है तब नियोजन कार्य आरम्भ होता है। यह ध्यान रहे कि यह योजना स्थाई नहीं होती। समय व परिस्थितियों के अनुसार इसमें परिवर्तन किए जा सकते हैं।

(४) एक और महत्वपूर्ण विशेषता इस व्यवस्था की यह है कि इसमें सभी आर्थिक क्रियाओं पर सरकारी नियन्त्रण रहता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अनुसार इस क्षेत्र में हम समाजवाद का अध्ययन करेंगे क्योंकि समाजवाद ही इसका आदर्शतम रूप है।

समाजवाद—

समाजवाद क्या है ?—थोड़े से ही शब्दों में समाजवाद के बारे में बता देना एक कठिन कार्य है क्योंकि यह शब्द सिद्धान्त और राजनैतिक आन्दोलन दोनों ही का संकेत करता है। इसके अतिरिक्त समाजवाद के अन्तर्गत केवल राजनैतिक सिद्धान्त ही नहीं मिलते बल्कि आर्थिक और राजनैतिक सिद्धान्तों की एक मिश्रित विवेचना मिलती है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि समाजवाद के इतने रूप हैं और इतनी विचारधारायें हैं कि ऊपर से देखने पर यह एक दूसरे के विरोधी मत प्रतीत होते हैं। इस प्रकार समाजवाद के अनेकों पहलू हैं और इस पर इतने लेख लिखे गये हैं कि वास्तव में यह कहना कठिन हो जाता है कि समाजवाद है क्या ? हमको भी यही कहते बनता है, जैसा कि जोड ने कहा है कि "संक्षेप में समाजवाद एक टोपी की भांति है जिसकी शक्ल बिगड़ गई है क्योंकि हर कोई उसे पहनता है।"[18]

हम यहाँ पर पहले समाजवाद की मुख्य मुख्य परिभाषाओं को देंगे और तत्पश्चात् समाजवाद की विशेषताओं, गुण और अवगुणों का वर्णन करेंगे।

Dickinson के अनुसार "समाजवाद, समाज का एक आर्थिक संगठन है जिसमें उत्पत्ति के भौतिक साधनों पर सम्पूर्ण जाति का स्वामित्व होता है और जिनका उपयोग एक सामान्य आर्थिक योजना के अनुसार ऐसी संस्थाओं द्वारा किया जाता है जो समाज के प्रतिनिधि हैं और जो जाति के प्रति उत्तरदायी हैं, इस प्रकार के समाजीकृत योजनाबद्ध उत्पादन के जो परिणाम होते हैं उनमें से समाज के सारे ही सदस्य समान अधिकारों के आधार पर, लाभ उठाने के अधिकारी होते हैं।"[19]

प्रो० पीगू ने समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार दी है "एक समाजीकृत प्रणाली वह है जिसके उत्पादक साधनों का मुख्य भाग समाजीकृत उद्योगों में लगा होता है।" और "एक समाजीकृत उद्योग वह है जिसमें कि उत्पत्ति के भौतिक साधनों पर किसी राजकीय अधिकारी या ऐच्छिक संस्था का स्वामित्व होता है और जो दूसरे व्यक्तियों को बेचकर लाभ कमाने के उद्देश्य से नहीं चलाये जाते बल्कि उन लोगों की प्रत्यक्ष सेवा के लिये जिनका कि अधिकारी या संस्था प्रतिनिधित्व करती है।"[20]

18 "Socialism, in short, is like a hat that has lost its shape because everybody wears it" —C E M. Joad *Modern Political Theory*. 1935. p. 40

19. "Socialism is an economic organisation of society in which the material means of production are owned by the whole community and operated by organs representative of and responsible to the community according to a general economic plan, all members of the community being entitled to benefit from the results of such socialised planned production on the basis of equal rights"—Dickinson, *Economics of Socialism* pp 11

20 "A socialised system is one the main part of whose productive resources are engaged in socialised industries And, "a socialised industry is one in which the material instruments of production are owned by a public or

Shadwell ने समाजवाद की बड़ी विस्तृत परिभाषा दी है। वास्तव में यह परिभाषा तो नहीं है बल्कि सम्पूर्ण समाजवाद का एक संक्षिप्त सार है। उनके अनुसार यह "अमूर्त तथा ठोस, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक, आदर्शवादी और भौतिकवादी, अतिप्राचीन और पूर्ण आधुनिक—दोनों ही है, यह एक कोरी भावना से लेकर एक स्पष्ट कार्यक्रम तक है, विभिन्न समर्थक इसको एक जीवन दर्शन, एक प्रकार का धर्म, एक धार्मिक नियम, एक आर्थिक प्रणाली, एक ऐतिहासिक श्रेणी, एवं न्यायिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं यह एक लोकप्रिय आन्दोलन और एक वैज्ञानिक विश्लेषण है, भूतकाल की एक व्याख्या है और भविष्य का एक दर्शन है, यह युद्ध का एक नारा है और युद्ध विरोधी है, एक हिंसात्मक क्रान्ति और एक सभ्य क्रान्ति है यह प्रेम और परोपकार करने का शुभ सन्देश है और घृणा तथा लालच का संघर्ष है मनुष्य जाति की आशा और सभ्यता का अन्त है, एक स्वर्ण युग का प्रभात है और एक भयपूर्ण आपत्ति है।"

Webbs के शब्दों में "समाजीकरण की मुख्य विशेषता यह है कि उद्योगों और सेवाओं के साथ उन उत्पत्ति के साधनों जिनकी उनके लिये आवश्यकता हो, उन पर व्यक्तियों का स्वामित्व नहीं होना चाहिये और औद्योगिक एवं सामाजिक प्रशासन का संगठन निजी लाभ कमाने के उद्देश्य से नहीं होना चाहिये।"[21]

इसी प्रकार लूक्स और हूट (Loucks and Hoot) ने समाजवाद की निम्न परिभाषा दी है। "समाजवाद उस आन्दोलन की ओर संकेत करता है जो समस्त प्राकृतिक और मनुष्यकृत उत्पादक वस्तुओं जिनका उपयोग बड़े पैमाने की उत्पत्ति में होता है, उनका स्वामित्व और व्यवस्था व्यक्तियों की अपेक्षा सारे समाज को ही सौंपना चाहता है, इस उद्देश्य से कि व्यक्ति की आर्थिक प्रेरणा या उसकी व्यवसायिक एवं उपभोग सम्बन्धी चुनाव करने की स्वतन्त्रता को नष्ट किये बिना ही बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय का अधिक समान वितरण हो सके।"[22]

तुगन बारोनोस्की (Tugan Baranowsky) ने कहा है कि "समाजवाद का सार इसमें है कि समाज में किसी व्यक्ति का शोषण न हो। वर्तमान आर्थिक प्रणाली

---

voluntary association and operated, not with a view to profit by sale to other people, but for the direct service of those whom the authority or association represents" —Pigou, *Socialism versus Capitalism*, P. 2

21. "The essential feature in socialisation is that industries and servcies with the instruments of prodution which they require, should not be owned by individuals and that industrial and social administration should not be organised for the purpose of obtaining private profit." Sydney Webb and Beatrice Webb, *The Decay of Capitalist Civilization*, Page 2.

22. "Socialism refers to that movement which aims at vesting in society as a whole rather than in individuals the ownership and management of all nature made and man made producer's goods used in large scale production, to the end that an increased national income may be more equally distributed without materially destroying the individual's economic motivation or his freedoms of occupational and consumption choises."—Loucks and Hoots.

निजी लाभ के उद्देश्य पर आधारित है। परन्तु समाजवाद के अन्तर्गत सब का अधिकतम कल्याण का उद्देश्य होता है···वस्तुओं का उत्पादन उस उपयोगिता के आधार पर किया जाता है जो किसी समाज को होती है।"[23]

मॉरीसन (Morrison) के शब्दों मे "समाजवाद का मुख्य लक्षण यह है कि सारे बड़े उद्योग और भूमि पर सार्वजनिक या सामूहिक स्वामित्व हो और उन को (एक राष्ट्रीय आर्थिक योजना के अनुसार) निजी लाभ की अपेक्षा सामान्य हित के लिये उपयोग किया जाये।"[24]

समाजवाद की मुख्य विशेषतायें—

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि हर लेखक ने समाजवाद को अपने अपने ढंग से समझा है और यही कारण है कि परिभाषाओं में इतनी भिन्नता मिलती है। इसीलिये समाजवाद के अनेक रूप भी हैं। परन्तु इन परिभाषाओं मे समाजवादी प्रणाली के मुख्य लक्षण अवश्य स्पष्ट हो जाते हैं। यह लक्षण निम्न प्रकार हैं—

(१) समाजवादी प्रणाली का प्रथम मुख्य लक्षण यह है कि इस प्रणाली मे उत्पत्ति के भौतिक साधनों पर समाज का सामूहिक स्वामित्व रहता है। व्यक्तियों को निजी सम्पत्ति का अधिकार नहीं होता और न ही साधनों का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिये किया जाता है। आर्थिक क्षेत्र मे सभी निर्णय राजकीय सस्थाओं द्वारा लिये जाते हैं। इन सस्थाओं के सदस्य या तो सरकारी अफसर होते हैं या विशेष कार्यों के लिये सरकार किसी विशेष सस्था को स्थापित कर देती है। इस प्रकार इस प्रणाली में साधनों का स्वामित्व एव उपयोग सामूहिक रूप से राज्य या समाज के हाथों में होता है।

(२) सामाजिक कल्याण की प्राप्ति इस प्रणाली का दूसरा उद्देश्य है। इस प्रणाली में आर्थिक क्रियाओं का निर्देशन और उनके बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाता है। यह योजना सरकार द्वारा नियुक्त एक केन्द्रीय अधिकारी द्वारा बनाई जाती है, जो सरकार की ओर से साधनों को विभिन्न उपयोगों में इस प्रकार बांटता है कि समाज के सभी लोगों का कल्याण अधिकतम हो। इस प्रकार ऐसी प्रणाली में अनोपार्जित आय के लिये कोई स्थान नहीं होगा। सारे व्यक्ति सरकार के नौकर होगें और उनको उनकी कार्यशक्ति के अनुसार उचित मजदूरी दी जायगी। समाजवादी प्रणाली में केवल उपभोग के लिये उत्पादन किया जाता है लाभ के लिये नहीं।

23. The essence of socialism lies in the absence of exploitation of any individual in the society The present economic system is based on the profit motive. But under socialism it aims at the maximum welfare of all, the production of commodities is on the basis of their utility to the community."
—Tugan Baranowsky

24. "The important essentials of socialism are that all the great industries and the land should be publicly or collectively owned, and that they should be conducted (in conformity with a national economic plan) for the common good instead of for private profit"
—Morrison

(३) समाजवादी प्रणाली के अतिरिक्त, आर्थिक नियोजन थोडी बहुत मात्रा में अन्य प्रणालियों में भी व्यवहार में लाया जा सकता है, परन्तु पूर्णरूप से आजनायद्ध प्रणाली समाजवादी प्रणाली ही है। स्वतन्त्र उपक्रम प्रणाली में यह काम, मूल्ययन्त्र द्वारा किया जाता है क्योंकि ऐसी वस्तुओं का उत्पादन बन्द कर दिया जाता है जिसमें लाभ कम होने की प्रवृत्ति होती है और उनके स्थान पर ऐसे उद्योगों का विकास होता है जिनमें लाभ की मात्रा बढ़ती होती है और इस प्रकार बिना किसी निर्देशक के ही साधन कम उपयोगी उपयोगों से निकल कर अधिक उपयोगी उपयोगों में लग जाते हैं। समाजवादी प्रणाली में यह काम नियोजन अधिकारी द्वारा किया जाता है। इस प्रकार आर्थिक नियोजन भी समाजवादी प्रणाली की प्रमुख विशेषता है।

(४) समाजवादी प्रणाली की अंतिम विशेषता आर्थिक समानता है। वास्तव में निजी सम्पत्ति के अधिकार और निजी लाभ के उद्देश्य के अभाव में आर्थिक असमानताएँ उत्पन्न होना असम्भव हो जाता है। आर्थिक समानता का यह अभिप्राय नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति की मौद्रिक आय बराबर होती है। ऐसा तो तभी हो सकता है जबकि सारे व्यक्तियों की काम क्षमता बराबर हो जाय परन्तु क्योंकि ऐसा होना असम्भव है इसलिए आर्थिक समानता का मतलब केवल अवसरों की समानता से है अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के लिये समान अवसर प्राप्त होने चाहिये। साथ ही साथ धन का वितरण भी इस प्रकार हो कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता अनुसार प्राप्त हो। इस प्रकार इस प्रणाली में वर्गीय संघर्ष का अन्त हो जाता है और किसी भी व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण नहीं होता।

समाजवाद का इतिहास—आरम्भ में १८४८ तक समाजवाद मुख्यतया कल्पनाओं से परिपूर्ण और आदर्शवादी था। इसमें धनवान और पूँजीपतियों का श्रमिकों की अपेक्षा अधिक हाथ था। इन समाजवादियों ने प्रतियोगिता प्रणाली और निजी व्यवसाय प्रणाली की बुराइयों को दूर करने के लिये समाजवादी योजनाएँ प्रस्तुत की थीं। इन समाजवादियों को स्वप्नदर्शी (Utopians) कहा जाता है और इनके समाजवाद को स्वप्नदर्शी समाजवाद कहते हैं। क्योंकि इन लोगों के सब आदर्श सिद्धान्तों पर आधारित थे और इन्होंने मनुष्य जाति का संगठन शिक्षा और भाईचारे द्वारा करने का प्रचार किया था। आधुनिक समाजवादियों की भाँति यह लोग एक समाजवादी राज्य स्थापित करने के लिए एक क्रान्ति नहीं चाहते थे बल्कि इन लोगों ने अपने समाजवादी कार्यक्रम को पूरा करने के लिए ऊँचे वर्ग के लोगों से सहायता देने की प्रार्थना की थी। इन लेखकों में से मुख्य लेखक Robert Owen, Saint Simon Fourier, Cabet इत्यादि थे।

१९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में श्रमजीवी समाजवाद का जन्म हुआ जिसको वैज्ञानिक समाजवाद भी कहते हैं। यह समाजवाद दो प्रकार का है। प्रथम, राज्य समाजवाद (State Socialism) और दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद (Inter-

national Socialism)। प्रथम वर्ग के समाजवादी राष्ट्रवादी है और उनका प्रस्ताव है कि राज्य को समाजवादी कार्यक्रम को स्वीकार करना चाहिये और राष्ट्रीय सरकार को इसकी पूर्ति करनी चाहिए। इसके मुख्य नेता Rodbertus और Lassalle थे। दूसरे वर्ग का मुख्य नेता Karl Marx था। Marx का समाजवाद क्रान्तिकारी है।

आधुनिक समाजवादियो म से अधिकांश यह विश्वास करते हैं कि राज्य की स्थापना बिना क्रान्ति के धीरे धीरे होनी चाहिए, अर्थात यह राज्य के विकास म विश्वास करते हैं और इस प्रकार यह विकासवादी समाजवादी (Evolutionary Socialists) हैं।

समाजवाद के रूप—

समाजवाद के मुख्य रूप निम्न प्रकार हैं —

१ वैज्ञानिक समाजवाद—वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता Karl Marx थे जो आधुनिक समाजवाद के पिता कहे जाते हैं। इन्होंने अपने समाजवाद की स्थापना इतिहास की भौतिकवादिक व्याख्या पर की थी। उसका विचार था कि आर्थिक वर्गों के आपसी सघर्ष द्वारा ही इतिहास का जन्म होता है। इसलिये इतिहास की प्रत्येक घटना को समझने के लिये उसकी आर्थिक पृष्ठ-भूमि को समझना आवश्यक हो जाता है। उसका विचार है कि ससार म सारी सामाजिक और राजनैतिक घटनायें आर्थिक कारणों से उत्पन्न होती हैं, जिनका प्रभाव प्रत्येक देश के इतिहास पर पडता है। प्रत्येक समय में ही समाज विभिन्न वर्गों में विभाजित रहता है और इन वर्गों में सदैव ही कुछ न कुछ भेद भाव रहता है। जैसे प्राचीनकाल म समाज गुलामों, कुलीन (Patrician) और नीच जाति म विभाजित था। इसी प्रकार मध्यकालीन समय म भी गुलाम, जागीरदार और सामन्त थे। इन वर्गों में से प्रत्येक के हित एक दूसरे के विरोधी थे जिसके कारण इनमें सघर्ष होते रहे और विभिन्न सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन हुए। पूँजीवादी प्रणाली का जन्म इसी प्रकार हुआ। यदि यह क्रम यो ही चलता रहा तो पूँजीवादी प्रणाली म कुछ ऐसे विरोध ह जो पूजीवाद का अन्त शीघ्र ही कर दगे। वह स्वय ऐसी दशायें उत्पन्न कर रहा है जो इसके विनाश का कारण बन रही ह और समाजवाद की स्थापना को प्रोत्साहन दे रही हं। इस प्रणाली में समाज के दो वर्ग हैं पूँजीपति और श्रमिक और इन दोनों में झगडा होना अनिवार्य है, क्योंकि एक ओर तो श्रमिकों की सख्या बढती जायगी और वह निर्धन होते जायेंगे और दूसरी ओर आय का एकत्रीकरण थोड़े ही हाथों म होता जायगा। यह युद्ध उस समय तक होत रहगे जब तक पूँजीवाद के स्थान पर श्रमिकों का आधिपत्य नही हो जाता और श्रमिकों की तानाशाही के बाद एक वर्गहीन समाज स्थापित हो जायगा। इसी को साम्यवाद के नाम से भी जाना जाता है।

Marx के समाजवाद के दो आधार स्तम्भ थे। एक तो मूल्य का श्रम सिद्धांत

कारीगर संघवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसका जन्म इङ्गलैण्ड में हुआ था। इसके अनुसार राज्य में इतनी कुशलता नहीं है कि वह उद्योगों को चला सके इसलिए उद्योगों को चलाने का काम कारीगरों के संघों को सौंप देना चाहिये। इन संघों में ऊँचे नीचे सभी प्रकार के श्रमिक सदस्य होंगे। इस प्रकार की व्यवस्था में प्रजातन्त्रीय शासन रहेगा और राज्य केवल इन संघों के कार्य का निरीक्षण करेगा। वह वस्तुओं के मूल्य और गुणों को निर्धारित करेगा। उत्पत्ति के साधनों का स्वामित्व तो राज्य के पास ही रहेगा परन्तु इसका संचालन संघ द्वारा किया जायगा। इस प्रकार यह प्रणाली राज्य समाजवाद और श्रम संघवाद का मिश्रण है।

५. **अन्य रूप**—वैज्ञानिक समाजवाद को साम्यवाद भी कहा गया गया है। यद्यपि (Marx) ने इसको वैज्ञानिक समाजवाद का ही नाम दिया था परन्तु बाद में धीरे धीरे लोगों ने इसे साम्यवाद कह कर पुकारना शुरू कर दिया। इसको Bolshevism भी कहते हैं परन्तु Bolshevism केवल उसी साम्यवाद को कहते हैं जो रूस में स्थापित है। साम्यवाद की भांति एक और प्रणाली का विचार उत्पन्न हुआ जिसको अराजकतावाद (Anarchism) कहते हैं। इस विचारधारा के अनुसार समाजवाद में राज्य और प्रशासन की कोई आवश्यकता नहीं है। पूँजीवादी प्रणाली का अन्त हो जाने के पश्चात् मनुष्य स्वयं शक्तिशाली हो जायेगा और दूसरे व्यक्तियों से छीनने के स्थान पर उनको कुछ देने की भावना उत्पन्न करेगा। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के अधिकारों को स्वीकार करेगा इसलिये पुलिस, न्यायालय सेना आदि की कोई आवश्यकता न होगी। वैसे तो राज्य की भी कोई आवश्यकता नहीं है परन्तु जब तक समाजवाद पूर्ण रूप से स्थापित न हो जाये तब तक राज्य समाजवाद की स्थापना के लिए केवल सुविधायें प्रदान करेगा।

राज्य समाजवाद का एक और रूप फैबियन समाजवाद है। इसके समर्थकों में Cole, Webbs और Shaw हैं इनके अनुसार शान्तिमय उपायों से समाजवाद स्थापित किया जा सकता है। इसकी स्थापना के लिए उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना होगा। यह समाजवादी उपन्यासों, नाटकों तथा कहानियों द्वारा पूँजीवाद के विरोध और समाजवाद के पक्ष में प्रचार करते हैं और इनका विश्वास है कि एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जब कि सारे संसार में समाजवाद स्थापित होगा।

समाजवादी प्रणाली के गुण—समाजवाद के समर्थक समाजवादी प्रणाली के निम्न गुण बताते हैं :—

(१) उत्पत्ति के क्षेत्र में—इस प्रणाली में पूँजीवादी प्रणाली की अपेक्षा उत्पादन अधिक कुशल होगा, क्योंकि प्रथम, उत्पादन सदैव ही उपभोग के लिये होगा, लाभ के लिये नहीं। अर्थात् केवल वे ही वस्तुएँ उत्पन्न की जायेंगी, जिनकी समाज को आवश्यकता है। हम देख चुके हैं कि पूँजीवादी प्रणाली में केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन होता है जिनमें निजी लाभ अधिकतम प्राप्त होने की आशा होती है, चाहे ऐसी वस्तुओं में अधिकांश विलासता की वस्तुएँ ही क्यों न हों। समाजवादी प्रणाली में वस्तुओं का उत्पादन केन्द्रीय योजना के अनुसार होगा। हर वस्तु की

अपनी प्राथमिकता होगी और उसी के अनुसार उसका उत्पादन किया जायगा। इस मे हानिकारक वस्तुओ का उत्पादन भी नही होगा। दूसरे, समाजवादी प्रणाली मे अधिक कुशलता भी होगी। इसमें राज्य अनुसधान के लिए सुविधायें उपलब्ध करेगा जिससे वैज्ञानिक आविष्कारो का क्षेत्र विस्तृत होगा और उत्पादन मे इनके द्वारा अधिक यन्त्रात्मक (technical) कुशलता आयेगी। तीसरे, पूँजीवाद की अपेक्षा उत्पादन अधिक मितव्ययी भी होगा। पूजीवादी प्रणाली की भांति इस प्रणाली मे प्रतियोगिता सम्बन्धी अपव्यय नही होगे।[25] न तो साधन प्रयोग के बाहर ही रहेगे, न सेवाओ की दो बारगी (duplication) ही होगी, न वस्तुओ के अनेको रूप रग होगे और न विज्ञापन आदि पर ही व्यय होगा। अन्त मे इस प्रणाली मे पूँजीवादी प्रणाली की भांति, अधिकतम लाभ के हेतु वस्तुओ की पूर्ति को कृत्रिम उपायों से नियन्त्रित नही किया जायगा। वस्तुएँ समाज की आवश्यकताओ के अनुसार उत्पन्न की जायेंगी। इसके अतिरिक्त पूँजी निर्माण और आर्थिक विकास को उत्पादन के साथ-साथ तीव्रगति से बढा सकेंगे। राज्य यह भी निश्चित करेगा कि देश मे विनियोगो का प्रवाह किस ओर हो, पूँजीगत वस्तुओ की मात्रा कितनी बढाई जाय। इस प्रकार इस प्रणाली में साधनों का अधिकतम उपयोग सामाजिक हित में होगा।

(२) **आर्थिक स्थिरता**—पूँजीवादी प्रणाली की प्रमुख विशेषता यह है कि प्रगति के साथ-साथ बेकारी बढती जाती है। यह बेकारी या तो व्यापार चक्रो या उत्पत्ति की विधि मे परिवर्तनो के कारण उत्पन्न होती है। समाजवादियो का दावा है कि यह बेकारी यदि पूर्णतया समाप्त नही होगी तो कम से कम अवश्य ही रह जायगी। वास्तविकता यह ही है कि समाजवादी प्रणाली मे आर्थिक जीवन पूर्णतया नियोजित रहने के कारण व्यापार चक्रो की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं। इस प्रकार आर्थिक जीवन अधिक स्थायी हो जाता है। यद्यपि यह सच है कि गत वर्षो मे विभिन्न पूँजीवादी देशो मे ऐसे प्रयत्न हुये हैं जिसके कारण बहुत सीमा तक ये व्यापार चक्र कम हो गये हैं, परन्तु समाजवादी व्यवस्था में तो यह चक्र उत्पन्न ही नही होगे। १९३० की मदी काल मे जब कि ससार के अन्य देशो में बेकारी बढ गई थी, रूस मे अधिकाधिक श्रमिकों के लिये माँग बढ गई थी।

(३) **आर्थिक समानता**—यह भी समाजवाद का एक प्रमुख गुण है। हम पहले ही कह चुके हैं कि आर्थिक असमानता से अनेको आर्थिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। इसलिये समाजवादी प्रणाली का इस प्रकार की असमानताओ को दूर करने का लक्ष्य होता है। विभिन्न व्यक्तियों की आय मे केवल उतना ही अन्तर होगा, जितना कि उनकी कार्य क्षमता मे अन्तर होगा। हर व्यक्ति को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उन्नति करने के अवसर प्राप्त होगे। पूँजीवाद की भांति, प्रचुर्य

25. "Competition is wasteful Two railways are built where one would suffice .. look at the shops, wholesale and retail, and see the waste of human force Without competition the whole dry goods and grocery business could be carried on with a third of the present economic expenditure of force" *Ely—Outlines of Economics* 1910, P, 520

और बेकारी, विलास और भुखमरी, शासन और दासता साथ ही साथ देखने को नहीं मिलेंगे। राज्य सम्पूर्ण साधनों का स्वामी होगा। वह सार्वजनिक हित के लिये, सार्वजनिक स्वास्थ्य एव चिकित्सा, शिक्षा एव मनोरंजन, पार्क, खेल के मैदान तथा अन्य प्रकार की समाजिक सुविधाएँ प्रदान करेगा। इस प्रकार निर्धन और धनी को समान अवसर मिलेंगे और व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार आर्थिक उन्नति कर सकेगा।

(४) **शोषण का अभाव**—पूँजीवाद की भाति इस प्रणाली मे व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण नही होता। हर व्यक्ति का परिश्रम के अनुसार वेतन प्राप्त होगा। केवल इसीलिये कि साधनों पर राज्य का स्वामित्व होता है और उनका उपयोग सामाजिक हित मे किया जाता है।

(५) **स्वतन्त्रता**—समाजवादी प्रणाली मे पूँजीवादी प्रणाली की अपेक्षा व्यक्तियो को अधिक आर्थिक स्वतन्त्रता होती है। यहाँ पर लोग वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्र होते है, क्योकि इस प्रणाली में व्यक्तियों को बेकारी का भय नही रहता, भविष्य की चिन्ता नही होती, रोटी, कपडे, मकान तथा अनिवार्यताओ की पूर्ति के बारे मे चिन्तित नही होना पडता। पूँजीवादी प्रणाली मे उपभोग और उपक्रम सम्बन्धी स्वतन्त्रताएँ केवल धनी व्यक्तियो के लिये ही हैं। समाजवाद म जीवन को सुख और शांति मिलती है। यह अवश्य है कि हम राजा, मिल मालिक एव जमींदार अवश्य नही होते।

समाजवादी प्रणाली के दोष—इस प्रणाली के निम्न दोष बताये जाते हैं —

(१) इस प्रणाली के आलोचको का यह विचार है कि इसमे यन्त्रात्मक कार्य कुशलता बहुत कम रहेगी, क्योंकि पूँजीवाद की भाँति इसमे निजी लाभ की प्रेरणा का पूर्ण अभाव है। पूँजीवादी प्रणाली मे व्यक्ति निजी लाभ से प्रेरित होकर ही, नये-नये आविष्कार करता है, उत्पादन की विधियो मे परिवर्तन करता है और उत्पादन के नये-नये क्षेत्रों मे भाग लेता है। परन्तु समाजवादी प्रणाली म उद्योग और व्यवसाय सरकारी कर्मचारियो द्वारा चलाये जाते हैं, जिनमें वह लगन, चैतन्यताई और साहस नही होता जो निजी व्यवसायियों मे होता है। वे अपने नित्य कर्म को ही करते रहते है और हानि या लाभ से उनका कोई भी वास्ता नहीं होता, क्योकि उन्हे सालाना तरक्की तो मिलती ही जाती है। वे नये-नये तरीको को मालूम करने, और प्रयोग का कष्ट नही करते, जिसके कारण समाजवादी प्रणाली मे यन्त्रात्मक उन्नति का बहुत कुछ अभाव रहता है। बहुत से लोगों का कहना तो यह है कि सरकारी उपक्रम केवल उन्हीं उद्योगो मे सफल हो सकता है जहाँ जोखिम की मात्रा उपेक्षाकृत कम हो और जहाँ उत्पादन विधियाँ अधिक स्थायी हो। ऐसे उद्योग जिनमे जोखिम की मात्रा अधिक होती है, उनमे निरन्तर उत्पादन विधियो मे परिवर्तन होते रहने चाहिये ताकि अन्य उत्पादकों की अपेक्षा उत्पादन व्यय न्यूनतम रहे। परन्तु यह केवल व्यक्तिगत साहस के बस की ही बात है क्योकि इसम जोखिम लेने की शक्ति और तत्परता एव तुरन्त निर्णय लेने की सुविधा है।

इसके अतिरिक्त, पूँजीवादी प्रणाली में प्रतियोगिता के कारण, प्रत्येक व्यक्ति अपनी वस्तु को कम से कम लागत पर उत्पन्न करने का प्रयत्न करता रहता है और अन्त में अयोग्य एवं कम कुशल साहसियों को उद्योग छोड़ देना पड़ता है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो या तो हानि उठायेंगे या अपनी कुशलता बढ़ायेंगे। हानि कोई भी व्यक्ति उठाना नहीं चाहेगा, इसलिये यदि वे उद्योग में रहना चाहते हैं तो उनको अपनी प्रयत्नात्मक कुशलता बढ़ानी ही होगी।

समाजवादियों का कहना है कि यह तो सही है कि इस प्रणाली में निजी लाभ की प्रेरणा तो अवश्य नहीं है परन्तु अन्य प्रकार की अधिक शक्तिशाली प्रेरणाएँ व्यक्तियों को यत्नात्मक उन्नति करने के लिये प्रेरित करेंगी, जैसे, देश प्रेम, स्वाभिमान, समाज सेवा, राष्ट्रीयता की भावना आदि। इसके अतिरिक्त जब प्रत्येक व्यक्ति को उसकी कार्य कुशलता अनुसार वेतन प्राप्त होंगे तो अवश्य ही हर व्यक्ति कार्य कुशल होना चाहेगा। इसके अतिरिक्त अनुसंधान और आविष्कार की तो राज्य स्वयं व्यवस्था करेगा। समाजवादी रूस ने पिछले वर्षों में जो उन्नति की है उससे सिद्ध होता है कि पूँजीपतियों की यह आलोचना केवल एक भ्रम है विज्ञान और मशीनों के क्षेत्र में तो वह अमेरिका से भी आगे बढ़ गया है। फिर पूर्ण प्रतियोगिता भी कोरी कल्पना ही है। यह विचार भी कि अधिक जोखिम वाले व्यवसायों में सरकारी उपक्रम सफल नहीं होता गलत है क्योंकि पूँजीवादी देशों में भी सरकार ने ऐसे ही उद्योगों को अपने हाथ में लिया है। यदि देखा जाय तो यह आलोचना भी निराधार है कि सरकारी कर्मचारी प्रबन्ध में लगन से काम नहीं करते और निर्णय लेने के लिये स्वतन्त्र नहीं होते क्योंकि यही बात निजी व्यवसाय के बारे में भी कही जा सकती है। आज के बड़े पैमाने के उद्योगों में बिना वेतन भोगी कर्मचारियों के काम चल ही नहीं सकता, जिनको भी निर्देशन के लिये अपने अफसरों या संचालकों का मुँह ताकना पड़ता है।

(२) समाजवादी प्रणाली में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्ण अभाव रहता है। राज्य के पूर्ण नियन्त्रण में व्यक्ति का कोई स्थान नहीं होता। राज्य मानवीय और भौतिक साधनों का प्रयोग केवल उन्हीं दिशाओं में करता है जिनमें कि वह उचित समझता है। इस प्रकार उत्पादन, उपभोग, वितरण सभी क्षेत्रों में यहाँ तक कि मनुष्य के समस्त आर्थिक जीवन पर राज्य का नियन्त्रण होता है। राज्य का प्रतिनिधित्व केवल थोड़े से आर्थिक नियोजक करते हैं। इन नियोजकों को महत्वपूर्ण निर्णय लेने का और उन्हें कार्यान्वित करने का सम्पूर्ण अधिकार होता है। इस प्रकार की व्यवस्था तानाशाही को जन्म देती है। जैसा कि Trotsky ने कहा था कि 'वह देश जिसमें राज्य ही के हाथ में नौकरियाँ देना है उसका विरोध करने का मतलब है, कि धीरे धीरे भूखा रह कर मरना। यह बहुत पुराना सिद्धान्त है कि जो काम नहीं करेगा वह नहीं खायेगा, इसके स्थान पर नया सिद्धान्त बन गया है कि जो आज्ञा पालन नहीं करेगा नहीं खायगा।[26] समाजवाद में वे आर्थिक स्वतन्त्रतायें

[26] Quoted by F. A. Hayek in *The Road to Serfdom* P. 89

भी प्राप्त नही हो पाती जो पूंजीवादी प्रणाली मे व्यक्तियों को प्राप्त होती हैं; जैसे निजी सम्पत्ति का अधिकार, उपक्रम की स्वतन्त्रता आदि। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में उपभोक्ताओं को भी अपने धन को मन चाहे तरीके मे खर्च करने की स्वतन्त्रता नही होगी, क्योंकि वे केवल उन्ही वस्तुओं का उपभोग कर सकेंगे जिनको राज्य उत्पन्न कर सकेगा अर्थात् जिनका विस्तार आर्थिक योजना द्वारा निर्धारित होगा। परन्तु समाजवादी प्रणाली के समर्थक इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार विलास वस्तुओं तथा अन्य हानिकारक वस्तुओं का उत्पादन करने म व्यर्थ ही मे पूजी का व्यय होता है। समाजवादी प्रणाली म न केवल यह अपव्यय ही समाप्त होगा बल्कि इनके उपभोग मे जो हानिकारक प्रभाव व्यक्तियो की कार्य-क्षमता पर होता है वह भी रुक जायेगा।

(३) समाजवादी प्रणाली के आलोचकों का विश्वास है कि इस प्रणाली में सबसे अधिक कठिनाइयाँ केन्द्रीय नियोजन के सम्बन्ध मे होंगी, क्योंकि इसमें स्वयचलित मूल्य-यन्त्र का अभाव होगा। पूंजीवादी प्रणाली में उत्पादन की कुशलता मूल्य यन्त्र के कारण ही उत्पन्न होती है और साधनों का प्रवाह भी एक उपयोग से दूसरे उपयोग में केवल मूल्य यन्त्र के निर्देशन मे होता है। इसी प्रकार उपभोक्ता को अपनी उपभोग की वस्तु छाँटने म मूल्य यन्त्र सहायता देता है और वेतनभोगी व्यक्तियों को भी अपने व्यवसाय को चुनने म इसी से सहायता प्राप्त होती है। परन्तु समाजवादी प्रणाली में मूल्य यन्त्र का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि यहाँ पर उत्पादन का उद्देश्य लाभ कमाना नही होता। इस प्रणाली मे उत्पादन सम्बन्धी सभी निर्णय केन्द्रीय-नियोजन अधिकारी द्वारा लिये जाते हैं, जो बिल्कुल मनमाने होंगे। उन्ही वस्तुओं का उत्पादन किया जायेगा जिनको कि नियोजन अधिकारी यह समझता है कि लोगों को उनकी आवश्यकता है। परन्तु यह निर्णय भी अनुमानजनक रहेगा क्योंकि व्यक्तियों की वास्तविक आवश्यकताओं को जानने के लिये कोई उचित विधि ही नही है। इसी प्रकार मूल्य भी मनमानी तरीके से निर्धारित किये जायेंगे। अत: बहुत अंश तक यह होगा कि जिन वस्तुओं की व्यक्तियों को आवश्यकता है वह उत्पन्न न होने के कारण उन्हें प्राप्त नहीं होंगी और जिन वस्तुओं की उन्हे आवश्यकता नहीं है वह उनको जबरदस्ती लेनी पड़ेंगी। कुछ समाजवादी लेखकों ने तो इस कठिनाई को स्वीकार किया है, परन्तु कुछ लेखक जैसे Dobb[27] का कहना यह है कि क्योंकि उपभोक्ता जो भी निर्णय लेते हैं एक तो वह सदैव ही ठीक नहीं होते और यदि वे उपभोक्ता विशेष के दृष्टिकोण से ठीक भी हो तो यह आवश्यक नहीं कि वे सामाजिक हित के अनुकूल हों। इसलिए यह आवश्यक है कि उनकी इस स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य होने चाहियें।

(४) कदाचित समाजवादियों का सबसे बडा दोष यह है कि उन्होंने अपनी योजना के कार्यान्वित होने मे जो वैज्ञानिक अड़चनें उत्पन्न होंगी उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वह यह भूल गयें कि साधारण व्यक्ति में न तो इतनी जिज्ञासा ही

27. C.f. Maurice Dobb : *Political Economy and Capitalism.*

होती है और न उसका इतना झुकाव ही होता है कि वह समाज सेवा या सामाजिक कल्याण के लिये अपने हित की बलि दे सके। किन्तु यह सम्भव हो सकता है कि व्यक्तियों की यह दुर्बलता शिक्षा की प्रगति के साथ-साथ दूर हो जायें।

हमने पिछले पृष्ठों में पूंजीवादी प्रणाली और समाजवादी प्रणाली का गहन अध्ययन किया है और यह देखा कि प्रत्येक प्रणाली के गुण भी हैं और अवगुण भी। पूंजीवादी प्रणाली की बुराइयाँ तो हमारे समक्ष हैं ही और इसमें कोई सन्देह भी नहीं कि आज का मानव इन कठिनाइयों से ऊब भी गया है। रही समाजवादी प्रणाली की बात सो रूस में इस प्रणाली ने चमत्कार कर दिखाये हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि रूस की भाँति क्या समाजवादी प्रणाली सारे ही देशों में ऐसे ही चमत्कार दिखा पावेगी और क्या यह सम्भव है कि संसार में वैसा समाजवाद स्थापित हो सकेगा जैसा कि समाजवादी लेखकों का विचार है? यही नहीं बल्कि एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि समाजवाद के विभिन्न रूपों में से कौन सा रूप संसार के लिए अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा? यह सब ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर सरलता से नहीं दिया जा सकता है। वास्तव में पूंजीवाद का अन्त करना भी उतना ही कठिन है जितना कि समाजवाद की स्थापना। इसलिये उचित तो यही रहेगा कि एक ऐसी प्रणाली स्थापित की जाये जिसमें पूंजीवाद और समाजवाद दोनों ही के गुणों का मिश्रण हो। क्योंकि न तो पूंजीवाद ही दोष रहित है और न समाजवाद ही। ऐसी प्रणाली को हम मिश्रित प्रणाली कहते हैं और आजकल अधिकांश देशों में यह स्थापित है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy)

परिभाषा—इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान स्वतन्त्र व्यवसाय प्रणाली इस बात में पूर्णत असमर्थ रही है कि वह आर्थिक जीवन को स्थायी बना सके। व्यापार चक्रों बेकारी औद्योगिक गुटबन्दियाँ वितरण की असमानता, वर्तमान प्रणाली की ऐसी बुराइयाँ हैं जिनके प्रति आँखें बन्द नहीं की जा सकती। इस प्रणाली ने केवल आर्थिक दासता को ही जन्म नहीं दिया है बल्कि व्यक्ति सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी धनी व्यक्तियों का दास बन कर रह गया है। यह बुराइयाँ अवश्य ही दूर होनी चाहिये। परन्तु क्या समाजवाद इन कठिनाइयों को, उत्पन्न किये बिना ही दूर कर सकता है? इस प्रश्न के उत्तर की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि हम सभी इससे परिचित हैं कि समाजवाद इन कठिनाइयों को दूर तो अवश्य करता है परन्तु साथ ही साथ अन्य प्रकार की कठिनाइयों को जन्म देता है, जैसे उपभोक्ताओं के लिए उपभोग के क्षेत्र में स्वतन्त्रता न होना, केन्द्रीय नियोजन अधिकारी के मनमाने निर्णय और तानाशाही सरकारी कर्मचारियों में औद्योगिक व्यवस्था सम्बन्धी कुशलता का अभाव इत्यादि। समाजवाद की इन कठिनाइयों को पूंजीवाद दूर कर सकता है इसलिए न तो पूर्णरूप में पूंजीवाद ही उपयुक्त है और न समाजवाद ही। ऐसी स्थिति में भिन्न-भिन्न देशों ने ऐसी अर्थ व्यवस्था स्थापित

की है जिसको मिश्रित अर्थ-व्यवस्था कहते हैं। इसको नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था (Controlled Economy) भी कहते हैं[28], अर्थात् जिसमें दोनों ही प्रणालियों के गुणों से लाभ उठाया जाता है। दूसरे शब्दों में ऐसी प्रणाली में न तो उपक्रम की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है और न आर्थिक साधनों पर राज्य का सम्पूर्ण आधिपत्य ही। इसमें राजकीय और व्यक्तिगत उपक्रमों को साथ-साथ चलाया जाता है और इस प्रकार पूंजीवादी प्रणाली और समाजवादी प्रणाली के लाभों को प्राप्त किया जाता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की विशेषतायें—इस प्रणाली की मुख्य विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

(१) देश की अर्थ-व्यवस्था दो भागों में विभाजित हो जाती है—प्रथम, राजकीय क्षेत्र (Public Sector) और दूसरा निजी क्षेत्र (Private Sector)। राजकीय क्षेत्र में वे उद्योग और व्यवसाय होते हैं, जिनकी व्यवस्था राज्य स्वयं करता है अर्थात् जिन पर राज्य का आधिपत्य है और जिनका मुनाफा सरकारी खजाने में जमा होता है और उसका व्यय सार्वजनिक हित में किया जाता है। निजी क्षेत्र, अर्थ-व्यवस्था का वह भाग है जिसमें उद्योग, खेत, व्यवसाय आदि निजी व्यक्तियों के हाथों में होते हैं, जिन पर व्यक्तियों का पूरा अधिकार होता है और जो निजी लाभ के उद्देश्यों से उपयोग में लाये जाते हैं। परन्तु यह सदैव ही और प्रत्येक स्थान पर आवश्यक नहीं कि व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता निजी क्षेत्र में प्राप्त हो जायें। किसी किसी देश में राज्य निजी क्षेत्र में भी नियन्त्रण सम्बन्धी नीति चलाता है जैसे कि भारतवर्ष में।

सच तो यह है कि 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' शब्द बहुत विस्तृत है। इसके अन्दर कई प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाएँ सम्मिलित की जा सकती हैं, जैसे, एक तो वह प्रणाली जिसमें पूर्णरूप से निजी उपक्रम को स्वतन्त्रता है परन्तु कुछ उद्योग सरकार ने अपने अधिकार में ले लिये हैं या कुछ उद्योगों के विकास के लिये राज्य आर्थिक सहायता प्रदान करता है। इसमें ऐसी प्रणाली भी आ जाती है, जिसमें देश के उद्योगों के अधिकांश भाग पर राज्य का आधिपत्य होता है और राज्य द्वारा चलाये जाते हैं और बहुत थोड़े से भाग में निजी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता दी जाती है। इस प्रकार यह शब्द केवल यह सम्बोधित करता है कि देश की अर्थ-व्यवस्था में राज्य द्वारा भी उद्योग चलाये जायेंगे और निजी व्यक्तियों को भी स्वतन्त्रता होगी परन्तु इन दोनों में क्या अनुपात होगा, इसके बारे में हर देश की सरकार देश की परिस्थितियों को देखकर निर्णय करती है।

(२) मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की दूसरी विशेषता नियोजन है। सरकार एक निश्चित योजना बनाकर व्यक्तियों के आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करने के उपाय करती है। एक स्वतन्त्र उपक्रम प्रणाली में भी राज्य हस्तक्षेप होता है, परन्तु वह मिश्रित प्रणाली नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसमें राज्य हस्तक्षेप असमन्वित और

28 A. P. Lerner, *The Economics of Control*, Page 4.

छितरा-बितरा होता है। उसमे कोई निश्चित योजना के अनुसार काम नही होता। राज्य हस्तक्षेप के आधार पर ही कुछ लोगो ने, जैसे सैमुएलसन[29] (Samuelson) ने सयुक्त राज्य की अर्थ-व्यवस्था को मिश्रित अर्थ-व्यवस्था कहा है, क्योकि सयुक्त राज्य में भी कुछ उद्योगो पर सरकार का पूर्ण आधिपत्य है जैसे, युद्ध सम्बन्धी हथियारो एव बमो आदि का बनाना, Tennesse Valley Authority जो राज्य की ही एक सस्था है उसने बाँध, नहरें आदि बनवाई हैं, वस्तुओ के मूल्यो को भी नियन्त्रित किया है एकाधिकार सघो को रोकने के लिये कानून भी बनाये है। परन्तु ऐसा सोचना भी भ्रम है कि सयुक्त राज्य म मिश्रित प्रणाली है। बिना नियोजन के यह प्रणाली स्थापित हो नही हो सकती है। Prof Lerner[30] ने स्वतन्त्र उपक्रम प्रणाली को बिना सचालक की मोटर बताया है, जिसमे बैठे हुए मुसाफिर सचालक पहियें (Steering Wheel) का कभी इधर मोड देते हैं और कभी उधर, परन्तु कुछ प्रतिबन्धो के अन्दर ताकि वे आपस मे झगड न सकें। उन्होने मिश्रित प्रणाली को ऐसी मोटर बताया है जिसमे सचालक होता है। अर्थात् जिसमे राज्य का योजनाबद्ध नियन्त्रण अर्थ-व्यवस्था पर होता है। इसी कारण Lerner इसको नियन्त्रित प्रणाली कहना चाहता है।

मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के गुण—इस प्रणाली म पूँजीवाद और समाजवाद, दोनो ही के लाभ प्राप्त होते हैं क्योकि इसम निजी सम्पत्ति, उपक्रम की स्वतन्त्रता और निजी लाभ, सब ही अधिकार रहते हैं। हाँ यह अवश्य है कि इन अधिकारो का उपयोग केवल सरकार द्वारा निर्धारित सीमाओ के अन्दर ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली म समाजवादी प्रणाली के लाभ जैसे आर्थिक स्थिरता, साधनो का अधिकतम उपयोग आय की समानता आदि भी प्राप्त होते है। क्योकि इसम देश की अर्थ व्यवस्था का विकास एक निश्चित योजना के अनुसार होता है। इस प्रकार इस प्रणाली म आर्थिक नियोजन और स्वतन्त्र उपक्रम प्रणाली दोनो ही के लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था के दोष—परन्तु यह प्रणाली भी दोष रहित नही है। आलोचको ने इसकी भी आलोचनायें की हैं। प्रथम, यह कहा जाता है कि यह प्रणाली कुशलतापूर्वक काय नहीं कर सकती है क्योकि इसमे आर्थिक निर्णयो के लेने मे अनेको प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होगी। न तो इसमे पूँजीवादी प्रणाली की भाँति मूल्य यन्त्र क्रियाशील होगा और न इसम समाजवादी प्रणाली की तरह विस्तृत नियोजन ही सम्भव होगा। इस प्रकार इस प्रणाली म निजी और राजकीय क्षेत्रो मे समन्वय स्थापित करना कठिन हो जायेगा और यह भी सम्भव है कि अर्थ-व्यवस्था सतुलित न हो पाये। परन्तु इस प्रकार की आलोचना निराधार है, क्योकि आलोचक यह भूल जाते है कि मिश्रित अर्थ-व्यवस्था मे विस्तृत नियोजन व्यवहार मे सफल हो चुका है और इस प्रकार के वाद-विवाद के लिये अब कोई भी स्थान नही है।

---

29 Op Cit Page 744
30 Op Cit, Page 4

इस प्रणाली के विरोध में दूसरी आलोचना यह की गई है कि अन्त मे धीरे-धीरे राज्य की तानाशाही स्थापित हो जायेगी और व्यक्ति को आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, किसी प्रकार की भी स्वतन्त्रता नही होगी जैसा कि जर्मनी और इटली म हुआ था। परन्तु आलोचकों का यह भय भी अनावश्यक है क्योंकि यदि आरम्भ से ही योजनाओं का आधार प्रजातन्त्रीय होगा तो तानाशाही को कभी भी स्थान प्राप्त न हो पायेगा। सरकार की केवल आर्थिक क्षेत्र म ही तानाशाही हो सकती है।

आलोचकों को इस बात का भी भय है कि मिश्रित प्रणाली कभी भी स्थाई रूप धारण नही कर पायेगी क्योंकि कभी भी ऐसा समय आ सकता है जबकि निजी क्षेत्र प्रगति करते-करते राजकीय क्षेत्र को समाप्त कर दे या राजकीय क्षेत्र इतना बलवान और शक्तिशाली हो जायें कि निजी क्षेत्र का अन्त कर दे और इस प्रकार मिश्रित प्रणाली का भौतिक रूप ही बिलकुल बदल जाये। ऐसा इसलिये हो सकता है कि यदि व्यक्तिगत उद्योगपति सरकार के नियमों का पालन न करे तो सरकार को विवश होकर उनके ऊपर अधिक नियन्त्रण लगाने पड़े या उनका अन्त ही करना पड़े और इस प्रकार देश म समाजवादी प्रणाली स्थापित हो जाये। दूसरी ओर यदि निजी क्षेत्र इतना बलवान है कि वह सरकार के उचित प्रशासन म अड़चने उत्पन्न करे, अपना सहयोग दान न दे तो सरकार को विवश होकर अपने नियन्त्रणों को ढीला करना पड़ेगा जिसका अभिप्राय यह होगा कि अन्त मे पूँजीवादी प्रणाली स्थापित हो जायेगी। कुछ सीमा तक आलोचकों का यह भय सच हो सकता है। परन्तु यदि दोनों ही क्षेत्र अपनी महत्ता को समझकर एक दूसरे को सहयोग देते चले जायें तो मिश्रित प्रणाली स्थाई बन सकती है। इतना अवश्य है कि इन दोनों क्षेत्रों के आपसी अनुपात म परिवर्तन होते रहे। परन्तु अन्तिम स्थिति में इसके मौलिक रूप में कोई भी परिवर्तन नही होगा।

वैसे तो आजकल अधिकांश देशो मे एक प्रकार से मिश्रित प्रणाली ही स्थापित है, परन्तु सही आर्थिक शब्दो म जैसे अमेरिका, इगलैंड आदि में मिश्रित प्रणाली नही कही जा सकती। चीन और भारतवर्ष म ऐसी प्रणाली को काय रूप देने के प्रयत्न किये जा रहे है और आर्थिक नियोजन, प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर किया जा रहा है। यदि ये प्रयोग सफल हो गये तो ससार की एक बहुत बड़ी समस्या दूर हो जायेगी।

अध्याय ३

एकाधिकारी संस्थाओं पर राजकीय नियन्त्रण

(Public Control of Monopoly)

एकाधिकार का अर्थ और महत्त्व—

एकाधिकार प्रतियोगिता की विपरीत दशा है। ऐसी स्थिति में वस्तु के उत्पादन, वितरण या उपभोग पर किसी भी एक या थोड़े से व्यक्तियों का नियन्त्रण रहता है। इनका मुख्य उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है इसलिये ये वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण रख कर वस्तु को एक निश्चित मूल्य पर बेचते हैं। इस प्रकार एकाधिकारी व्यवस्था में, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से, प्रतियोगिता का अभाव रहता है। यद्यपि इसका शब्दार्थ 'अकेला विक्रेता' है फिर भी ऐसी स्थिति व्यावहारिक जीवन में मुश्किल से ही देखने को मिलती है, क्योंकि एकाधिकारी पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य रहता है और वह इतना शक्तिशाली नहीं होता कि वस्तु की सम्पूर्ण पूर्ति पर अकेला ही नियन्त्रण रख सके। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में एकाधिकारी स्थिति से हमारा अभिप्राय उस अवस्था से है जिसमें किसी एक व्यक्ति को वस्तु विशेष की पूर्ति के अधिकांश भाग पर नियन्त्रण रखने का अधिकार प्राप्त होता है और उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह अपने अकेले के प्रयत्नों द्वारा बाजार में वस्तु के मूल्यों को नियन्त्रित करने में सफल हो जाता है। (विस्तृत अर्थ में इस शब्द के अन्तर्गत सभी प्रकार के निजी मूल्य नियन्त्रण चाहे वह पूर्ति का हो या माँग का, सेवाओं का हो या वस्तुओं का सम्मिलित किया जाता है। सङ्कुचित अर्थ में इसका अभिप्राय वस्तुओं या सेवाओं के मूल्य नियन्त्रण के हेतु बनाये गये उत्पादकों या व्यापारियों के संघ से लिया जाता है।[1] एकाधिकारी स्थिति कई प्रकार से उत्पन्न हो सकती है जैसे कोई प्राकृतिक वस्तु किसी देश के केवल एक ही भाग में मिलती हो तो उस भाग के पास उस वस्तु का एकाधिकार होगा। उदाहरणार्थ भारत में बंगाल को जूट उत्पादन में एकाधिकार प्राप्त था। ऐसी स्थिति को प्राकृतिक एकाधिकार कहते हैं। कुछ उद्योग सामाजिक दृष्टिकोण से बहुत उपयोगी होते हैं और उनमें एकाधिकारी स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक ही होता है जैसे रेलों की व्यवस्था। इसको सामाजिक एकाधिकार कहते हैं। इसके अतिरिक्त वैधानिक

1. Thomas, *Elements of Economics* 1932, p 207

एकाधिकार भी होते हैं जिनको राज्य जन्म देता है जैसे पेटेन्ट या कापी राईट। अन्त में ऐच्छिक एकाधिकार आता है। यह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब कि एक उद्योग में लगे हुए बहुत से उत्पादक आपस में स्वेच्छापूर्वक किसी वस्तु की पूर्ति या मूल्य पर नियन्त्रण करने के लिये गुट बना लेते हैं। इनको औद्योगिक गुटबन्दी या औद्योगिक सघ भी कहते हैं।

१९वीं शताब्दी के अन्त में औद्योगिक सघो की स्थापना योरुप के देशो में विशेष कर सयुक्त राज्य और जर्मनी मे बहुत अधिक सख्या मे हुई। जर्मनी मे कार्टल और अमेरिका मे ट्रस्ट बनाये गए और इनकी देखादेखी अनेको प्रकार के और औद्योगिक सघ स्थापित हुए और इन सभी ने ऐसे उपाय अपनाये जिनसे समाज का बहुत ही अहित हुआ। इन्होने अपनी स्थिति को बनाये रखने के लिए धोकेबाजी और बेईमानी से काम किया और उलटे-सीधे ढगो से प्रतियोगियो को उत्पत्ति के क्षेत्र से बाहर निकालने की चेष्टा की। इन विधियों में से मुख्य विधियाँ ये हैं—मूल्यों का कम करना, दरो मे विशेष कमी कर देना, उपभोक्ताओं और कच्चे माल के उत्पादको का शोषण करना इत्यादि। इन सब कारणों से सरकार ने इनको नियन्त्रित करने के अनेको उपाय किये हैं जिनका अध्ययन हम आगे चल कर करेंगे।

एकाधिकारी सस्थाओं के लाभ—एकाधिकारी सस्थाओ के लाभ सक्षेप में निम्न प्रकार हैं। प्रथम, ऐसी अवस्था मे कच्चा माल इत्यादि मितव्ययी मूल्यो पर प्राप्त हो जाता है। क्योकि यही अकेले क्रेता होते हैं इसलिए इनकी सौदा करने की शक्ति विक्रय करने वालो की अपेक्षा अधिक होती है। इसी प्रकार इनको श्रमिक भी नीची मजदूरी पर ही मिल जाते हैं। दूसरे, उत्पत्ति का पैमाना बडा होने के कारण इनको बडे पैमाने की उत्पत्ति के सभी लाभ प्राप्त होते हैं और बहुत कम उत्पादन व्यय पर वस्तु को उत्पन्न करते हैं। तीसरे, एकाधिकार सघ स्थापित होने से गला-काट प्रतियोगिता भी समाप्त हो जाती है और बहुत से अपव्यय बच जाते हैं। चौथे, वस्तु की बिक्री में भी बहुत बचत होती है क्योकि वस्तु के स्थानान्तरण मे दुबारगी (Duplication) नही होता, जैसे यदि कानपुर की जूते की फर्म अपने जूते आगरा भेजे और आगरा की फर्म अपने जूते कानपुर भेजे तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार के व्यापार मे कितना दुरुपयोग होता है। पाँचवें, एकाधिकार सघ स्थापित हो जाने से हर उत्पादक की व्यापार सम्बन्धी गुप्त बाते और ज्ञान सम्पूर्ण सघ को प्राप्त होते हैं जिससे उत्पादन मितव्ययी हो जाता है। छटे, क्योंकि वस्तु को बेचने वाला केवल एक ही व्यक्ति या थोडे से ही व्यक्ति होते हैं इसलिए माँग और पूर्ति मे सरलता से ही सतुलन स्थापित होने की सम्भावना हो जाती है जो कि पूर्ण प्रतियोगिता मे सम्भव नही होता।

एकाधिकार के दोष—एकाधिकारी व्यवस्था के दोष उनके लाभो की अपेक्षा अधिक गम्भीर हैं। ये दोष निम्न प्रकार हैं :—

प्रथम, एकाधिकारी अपने व्यवसायो मे नये-नये साहसियों को न आने देने के लिये अनुचित उपाय करता है क्योकि यदि वह ऐसा न करे तो वस्तु की पूर्ति पर

उसका नियन्त्रण नहीं रह सकेगा इसका परिणाम यह होगा कि एक तो उस व्यवसाय में प्रतियोगिता नहीं हो पाती और एकाधिकारी की ऊंचा मूल्य लेने की शक्ति पर कोई रुकावट नहीं हो पाती और इस प्रकार समाज को बहुत हानि होती है। इसके अतिरिक्त देश के साधनों का अधिकतम उपयोग भी नहीं हो पाता क्योंकि एकाधिकारी, मूल्य को ऊँचा रखने के उद्देश्य से वस्तुओं की पूर्ति माँग से कम ही रखता है। दूसरे इस प्रकार की व्यवस्था मे उपभोक्ताओं का शोषण होता है। वैसे तो बडे पैमाने के उत्पादन के कारण एकाधिकारी को अपेक्षाकृत कम उत्पादन की लागत पर उत्पत्ति प्राप्त होती है परन्तु वह वस्तु को कम मूल्य पर बेचने की अपेक्षा ऊंचे मूल्य पर बेचता है क्योंकि एक तो उसका उद्देश्य ही अधिकतम लाभ कमाना है दूसरे, प्रतियोगिता के अभाव में ऐसी प्रवृत्ति हो जाना स्वाभाविक ही है। तीसरे, औद्योगिक संघ कभी कभी इतने विशालकाय हो जाते है कि यह सम्भव नहीं होता कि उनका प्रबन्ध कुशलतापूर्वक किसी एक औसत योग्यता वाले व्यक्ति द्वारा चल पाये। यही कारण है कि अनेकों एकाधिकारी संघों को कुशल प्रबन्धक की मृत्यु के बाद अपने व्यापार को बन्द करना पड़ा। चौथे, एकाधिकारी संघों की स्थापना से धनी और अधिक धनी और निर्धन और अधिक निर्धन होता जाता है और इस प्रकार धन के वितरण की असमानतायें बढती ही जाती है। यह केवल इस कारण होता है कि एकाधिकारी को मूल्य निर्धारण की पूर्ण शक्ति होती है जिसका परिणाम यह होता है कि देश का धन केवल थोड़े से ही व्यक्तियों के हाथ में इकट्ठा हो जाता है। पाँचवे बहुधा संघ में शामिल होने वाली फर्मों की उत्पादन शक्ति संघ में शामिल होने के बाद वस्तु की केवल एक निश्चित मात्रा उत्पन्न करने तक ही सीमित हो जाता है क्योंकि अधिकतम लाभ प्राप्त करने के कारण वस्तु की पूर्ति माँग के अनुसार नहीं रखी जाती और इसलिए प्रत्येक फर्म को संघ के आदेशानुसार वस्तु की एक सीमित मात्रा में ही उत्पन्न करना होता है जिसका परिणाम यह होता है कि एक तो उनकी मशीनों की शक्ति का उचित उपयोग नहीं हो पाता और दूसरे उनका उत्पादन व्यय अधिक होने से उपभोक्ताओं को हानि उठानी पडती है। इसके अतिरिक्त एकाधिकारी इस डर से कि कहीं वस्तु की उत्पत्ति अधिक हो जाये और एकाधिकारी लाभ कम हो जाय नई नई खोजों उत्पादन विधियों और मशीनों का प्रयोग नहीं करते और इस प्रकार उनके उत्पादन में किसी प्रकार की भी यन्त्रात्मक प्रगति नहीं हो पाती है। छठे एकाधिकारी संघ जनता के विरोध को रोकने के लिए बड़े बड़े राजनैतिक दलों और सरकारी अफसरों को खरीद लेते हैं। यह विधान-सभाओं के सदस्यों को पूंजी के बल से अपने विरुद्ध नियम बनाने से रोकते हैं। इन सबका परिणाम यह होता है कि समाज का नैतिक पतन होता जाता है। अन्त में एकाधिकारी संघों से श्रमिकों और कच्चे माल के उत्पादकों का भी शोषण होता है।

एकाधिकार पर नियन्त्रण—कल्याणकारी राज्य की स्थापना के विचार से प्रेरित होकर प्रत्येक देश में ही एकाधिकारी संघों पर नियन्त्रण रखने के उपाय

किए गये हैं क्योंकि एकाधिकारी संघों से देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन को बहुत क्षति पहुँचती है और इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि राज्य अपने हस्तक्षेप द्वारा एकाधिकारी की शक्तियों को कम करे और जनता को शोषण से बचाये। इसलिए सरकार ने समय समय पर कई प्रकार के उपाय अपनाकर एकाधिकारी की शक्तियों को कम करने का उपाय किया है। यह उपाय तीन प्रकार के हैं —

(अ) नये एकाधिकार संघों की स्थापना को रोकना।

(ब) एकाधिकारियों के लिये प्रतियोगियों को जन्म देना या शक्ति प्रदान करना।

(स) करों द्वारा उनकी एकाधिकारी शक्ति को कम करना।

प्रो० पीगू के अनुसार एकाधिकारी संस्थाओं को नियन्त्रित करने की दो विधियाँ होती हैं। एक तो अप्रत्यक्ष दूसरे प्रत्यक्ष। प्रथम प्रकार की विधि के अन्तर्गत वह उपाय सम्मिलित होते हैं जिनसे एकाधिकारी की शोषण शक्ति को अप्रत्यक्ष रूप से कम करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे विधान द्वारा नये-नये औद्योगिक संघों को रोकना। और प्रत्यक्ष विधियों में वह उपाय आते हैं जिनके द्वारा राज्य एकाधिकारियों के लिए प्रतियोगियों को जन्म देता है या जनता को उनकी कुरीतियों का परिचय प्रचार द्वारा कराता है।[2]

अप्रत्यक्ष विधियाँ

(अ) औद्योगिक संघ विरोधी नियम—एकाधिकारी संस्थाओं को नियन्त्रित करने की जो बहुत ही सरल विधि अपनाई गई है वह यह है कि या तो राज्य ने नये संघ स्थापित होने के विरुद्ध नियम बना दिये या पुराने संघों को नष्ट करने के लिये प्रयत्न किये। जैसे अमेरिका में शमन और क्लेटन अधिनियम बनाये गये। सन् १८६० में शमन के अधिनियम के अनुसार एकाधिकारी संघों की स्थापना पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये गये और संघ स्थापित करने वालों के लिये कड़े दण्ड घोषित कर दिये थे और अन्तर्स्थानीय तथा अन्तर्देशीय व्यापार को नियन्त्रित करने के लिए जो भी संघ स्थापित करने के प्रयत्न होंगे वे सब गैर कानूनी होंगे। सन् १६१४ में क्लेटन अधिनियम ने शमन अधिनियम के क्षेत्र को और भी अधिक बढ़ा दिया और उन अनुचित विधियों को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया जिनसे एकाधिकारी अपने प्रतियोगियों को उत्पादन क्षेत्र में आने से रोकते थे या उनके लिए अनुचित प्रतियोगिता प्रदान करते थे। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम की एक विशेषता यह भी थी कि जो फर्में पहले आपस में प्रतियोगिता कर रही थीं उनके संचालक (Directors) समान नहीं हो सकते थे।

परन्तु इस प्रकार के प्रयत्न अधिकतर निष्फल ही रहे हैं, क्योंकि इस नीति में अनेकों प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम, इस नीति को —

2 *The Economics of Welfare*. P 337

करना ही सफल नहीं होता क्योंकि प्रत्येक अधिनियम में ही कोई न कोई कमी अवश्य ही होती है और चालाक वकील इन कमियों से फायदा उठाते हैं और अधिनियम को प्रभावशाली नहीं होने देते। या फर्में आपस में एक साधारण समझौता करलें जिसके अनुसार वस्तु की उत्पादन मात्रा और उसका मूल्य निश्चित करलें और इस प्रकार समझौते को कानूनी रूप दिये बिना ही अपने उद्देश्य की पूर्ति कर लें। सच तो यह है कि विधान परिषद ही क्या कोई भी शक्ति उन लोगों को प्रतियोगिता करने पर बाध्य नहीं कर सकती जो प्रतियोगिता करना नहीं चाहते। दूसरे यदि नये संघों को स्थापित न होने दिया जाय और यदि पुराने संघों को तोड़ दिया जाय तो भी अधिक से अधिक इसका परिणाम यह होगा कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता केवल थोड़े ही उत्पादकों में आरम्भ हो जाय। परन्तु यह याद रहे कि कि इस प्रकार की प्रतियोगिता एकाधिकार से अधिक हानिकारक होगी। क्योंकि इन थोड़े से उत्पादकों में गलाकाट प्रतियोगिता होने से केवल साधनों का ही दुरुपयोग नहीं होगा बल्कि मूल्यों के निरन्तर घटने बढ़ने से व्यापार बहुत ही अनिश्चित हो जायगा। तीसरे एकाधिकारी संस्थाओं के अपने कुछ विशेष गुण होते हैं और यदि इनको नष्ट कर दिया जायगा तो समाज इनके लाभों से वंचित रहेगा। इसलिए कोई ऐसे उपाय किये जाने चाहिए जिनसे कि इनकी शोषण करने की शक्ति समाप्त हो जाय।

(घ) सम्भाविक प्रतियोगिता को बनाये रखना—एकाधिकारी वस्तु की पूर्ति को नियंत्रित करके और वस्तु के मूल्य को ऊंचा निश्चित करके समाज का जो अहित करते हैं वह केवल इसीलिए कि वे जानते हैं कि उनके क्षेत्र में कोई भी प्रभावशाली या शक्तिशाली प्रतियोगी नहीं है। यदि उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि उनके प्रतियोगी उत्पन्न हो सकते हैं तो कदाचित् उनकी इन क्रियाओं पर रोक लग सकती है।

एकाधिकारी कई प्रकार की अनुचित क्रियायें अपना कर अपने प्रतियोगियों को पराजित करता है और उनको प्रतियोगिता के क्षेत्र से बाहर निकाल देता है। ये क्रियायें निम्न प्रकार हैं —

(अ) नीचे मूल्य निश्चित करना (Rate Cutting)—एकाधिकारी कभी कभी मूल्यों को इतना कम कर देता है कि उसके प्रतियोगियों के लिये यह असम्भव हो जाता है कि उतने नीचे मूल्य पर वस्तु को बेच सकें और परिणामवश उनको उत्पादन बन्द करना पड़ता है और इस प्रकार एकाधिकारी को फिर से पूर्ण एकाधिकार प्राप्त हो जाता है। यदि कोई फर्म किसी एक विशेष क्षेत्र में अपने प्रतियोगियों को [illegible] होते हुए देखती है तो उस क्षेत्र विशेष में मूल्य कम कर देती है या वस्तु को [illegible] रूप देकर उस पर नई छाप लगाकर नीचे मूल्य पर बेचना आरम्भ कर देती [illegible] यह नई वस्तु प्रतियोगी के उत्पादन क्षेत्र से बाहर निकलते ही बिकना बन्द हो जा[illegible] इस प्रकार की रीतियां को अधिकतर अपनाया गया है।

[illegible]भविष्य में वास्तविक दरों में रियायत करना—यह बहुधा जहाजों

कम्पनियों के संघों (Shipping Conferences) में किया जाता है। इस विधि के अनुसार संघ निर्यातकर्ताओं को यह सूचित कर देते हैं कि यदि वे अपना माल संघ के जहाज़ों के अतिरिक्त और किसी जहाज़ द्वारा नहीं भेजेंगे तो उनको दरों म छूट कर दी जायेगी। इस प्रकार का लालच देकर निर्यातकर्ताओं को अपना माल संघ के जहाज़ों पर ही भेजने के लिए मजबूर हो जाना पड़ता था।

(स) व्यापारियों पर अनुचित शर्तें लगाना—कभी-कभी एकाधिकारि संघ फुटकर और थोक व्यापारियों को मजबूर कर देते हैं कि वे उनकी वस्तु के अतिरिक्त और किसी अन्य उत्पादक की वस्तु को नहीं बेचेंगे। यह केवल उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि एक फर्म अनेका वस्तुओं म एक वस्तु ऐसी उत्पन्न कर रही हो जिसको कोई दूसरा उत्पादक उत्पन्न नहीं कर रहा हो और यह फर्म इस वस्तु को बेचने का अधिकार उसी समय दे सकती है जबकि या तो वह उसकी अन्य वस्तुयें भी बेचे या वह अन्य उत्पादकों की वस्तुओं को इस फर्म की वस्तुओं के साथ साथ न बेच। जैसा कि अमेरीका में International Harvester Company ने अपने ऐजेन्टों को अनाज काटने वाली मशीनों को बेचने का अधिकार इस शर्त पर दिया था कि वह इसके साथ-साथ कम्पनी की अन्य वस्तुओं को भी बेचेंगे। इसी प्रकार United Sheo Machinery Company ने कुछ विशेष प्रकार की जूते बनाने वाली मशीनों को इसी शर्त पर दिया था कि इनको प्रयोग करने वाला किसी अन्य फर्म से मशीनें नहीं मगवायेगा।[3]

(द) अन्य अनुचित रीतियाँ—उपरोक्त रीतियों से अधिक बुरी रीतियाँ भी एकाधिकारियों ने अपनाई हैं। जैसे प्रतियोगियों द्वारा बनाई हुई वस्तुओं के गुणों को गलत बुराइयाँ करना, प्रतियोगी उत्पादकों के ग्राहकों और कर्मचारियों को तोड़ना या घूस देकर कमचारियों से प्रतियोगी उत्पादकों के भेद को मालूम करना इत्यादि। इन सब कुरीतियों (Clubbing Devices) का उद्देश्य यही था कि पुराने प्रतियोगी डर कर उद्योग को छोड़ भागें और नये उत्पादक उद्योग में आने ही न पायें अर्थात् किसी प्रकार की भी प्रतियोगिता एकाधिकारी के लिए न रहे।

इसलिए इन कुरीतियों को रोकने के लिये The United States Federal Trade Commission Act, १९१४ में बना था जिसके अनुसार यह सब कुरीतियाँ अवैधानिक घोषित कर दी थी। इसी प्रकार Robinson-Patman अधिनियम, १९३६ के अनुसार विभिन्न क्रेताओं के बीच मूल्य भेद-भाव करने को अवैधानिक ठहराया गया था।

यदि इस प्रकार के उपाय सफल हो जाएँ तो एकाधिकारी की शक्ति बहुत सीमा तक नियन्त्रित की जा सकती है परन्तु कठिनाई यह है कि व्यवहार म ऐसे प्रयत्न अधिक सफल नहीं हो पाते हैं क्योंकि कानून में कहीं न कहीं कमी अवश्य ही रहती है, इसके अतिरिक्त यह भी पता लगाना सरल नहीं होता कि कौन व्यक्ति किस समय कानून तोड़ रहा है। जैसे यदि एकाधिकारी मूल्य कम करता है तो उसका

3. R. C Saxena and P. C Mathur, *Public Economic* Page 98

कारण वह यह दे सकता है कि यह मूल्य में कमी केवल इसी कारण हुई है कि उसकी उत्पादन लागत पहले से कम हो गई है, या अगर मूल्य कम करने पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया है तो वह उसी वस्तु को कम मूल्य पर बेचने के लिए कोई दूसरी फर्म अलग नाम से चालू कर सकता है और प्रतियोगियों के समाप्त हो जाने के बाद वह इस फर्म को बन्द कर सकता है। इसके अतिरिक्त सरकार किसी भी प्रकार से ऊपरी समझौतों को नहीं रोक सकती क्योंकि ऐसे समझौतों का कोई भी सबूत प्राप्त करना कठिन हो जाता है। सच तो यह है कि विधान द्वारा ऐसी कुरीतियों को रोकना सरल नहीं है और इसलिए यह आवश्यक है कि इन नियमों के साथ साथ अन्य विधियाँ भी अपनाई जायें। केवल यही नहीं एकाधिकारी इतना शक्तिशाली होता है कि दूसरे प्रतियोगियों की हिम्मत ही नहीं होती कि वे उस व्यापार में भाग लें सकें क्योंकि जैसा कि बेन्हम[4] ने कहा है कि एकाधिकारी शक्ति ऐसी दशाओं से उत्पन्न होती है जो दूसरे उत्पादकों को उस क्षेत्र में आने ही नहीं देती। बेन्हम के अनुसार या तो किसी व्यक्ति या फर्म के कानूनी अधिकार प्राप्त हो जायें या कोई फर्म किसी दुर्लभ वस्तु या आवश्यक वस्तु का उत्पादन करना आरम्भ करदे और एकाधिकारी हो जाये, जैसे अफरीका में दी बियर्स कम्पनी को हीरों के व्यवसाय पर एकाधिकार प्राप्त है। या किसी व्यवसाय में इतनी अधिक पूंजी की आवश्यकता हो कि जो आदमी पहले से व्यवसाय चला रहा है उसके अतिरिक्त किसी नये व्यवसायी की हिम्मत इतनी बड़ी पूंजी लगाने की न हो और इसलिए पहले ही व्यवसायी को एकाधिकार प्राप्त हो जाय और कभी-कभी पुरानी फर्म द्वारा उत्पन्न की गई वस्तु इतनी अधिक प्रसिद्ध हो जाती है कि उस उद्योग में नये उत्पादकों का प्रवेश करना ही कठिन हो जाता है।

इस प्रकार हमने देखा कि एकाधिकारी के विरुद्ध प्रतियोगिता प्रस्तुत करना कोई साधारण कार्य नहीं है और इसलिये जैसा कि पीगू ने कहा है कि कुरीतियों को कम करके शक्तिशाली प्रतियोगिता को बनाये रखने में अधिक से अधिक आंशिक सफलता ही प्राप्त हो सकती है और इसलिये ये उपाय बहुत ही अपूर्ण हैं। अतः यह आवश्यक है कि हम एकाधिकारियों की शक्ति को कम करने के लिये प्रत्यक्ष विधियों से काम लें।[5] यह विधियाँ निम्न प्रकार हैं —

प्रत्यक्ष विधियाँ

(अ) क्रेताओं की संस्थाएँ—प्रो० पीगू ने एकाधिकारी की शक्ति को नियन्त्रित करने के लिये कुछ व्यावहारिक एवं प्रभावशाली उपाय बताये हैं। उनका विचार है कि क्योंकि अप्रत्यक्ष विधियाँ अधिक सफल नहीं हो पाई हैं इसीलिये यह नितान्त आवश्यक है कि प्रत्यक्ष विधियों को कार्य रूप दिया जाय। ऐसी एक विधि यह है कि क्रेताओं की संस्था बनाकर क्रेताओं को भी इतना शक्तिशाली बना दिया जाय कि एकाधिकारी उनका शोषण ही न कर पाए। इस प्रकार एकाधिकारी सम

4 Benham, *Economics* Page 212

5 *Op Cit*, P. 365

की भाँति क्रेताओं का भी एक संघ बनाकर एकाधिकारी की शक्ति को कम करने का प्रस्ताव प्रो० पीगू ने दिया है। परन्तु इस विधि का व्यावहारिक रूप देना सरल नहीं है। प्रथम, दूर-दूर फैले हुए विभिन्न उपभोक्ताओं को एकत्रित करना और उनकी संस्था स्थापित करना कोई बच्चों का खेल नहीं है। हाँ यह सम्भव है कि थोक और फुटकर व्यापारियों की संस्थाएँ बन जाएँ परन्तु उस अवस्था में उपभोक्ताओं को एक के स्थान पर दो एकाधिकारियों का सामना करना पड़ेगा और उनका शोषण पहले से अधिक होगा। इस सम्बन्ध में दूसरी कठिनाई यह है कि यदि उपभोक्ताओं का संघ स्थापित किया जाय तो यह क्या आवश्यक है कि वस्तु उतनी ही मात्रा में उत्पन्न की जायेगी जितनी कि पूर्ण प्रतियोगिता में होनी चाहिए और मूल्य भी उसी प्रकार निर्धारित होंगे।

(ब) एकाधिकारी सम्बन्धी सूचनाओं को प्रकाशित करना—यदि जनता को एकाधिकारियों द्वारा अपनाई जाने वाली विभिन्न कुरीतियों की सूचना मिलती रहे तो यह सम्भव है कि एकाधिकारी इन कुरीतियों का प्रयोग न करें और उपभोक्ता शोषित होने से बच जाएँ। उपभोक्ताओं को समय-समय पर सरकार एकाधिकारिक समझौतों, लाभ की दरों आदि के विषय में विस्तृत सूचना दे सकती है। इसका परिणाम यह होगा कि एकाधिकारी अपनी कुरीतियों को अपनाने में डरेगा कि कहीं जनता उसके विरुद्ध न हो जाय। इसके अतिरिक्त इसके दो लाभ और होंगे—एक तो जनता को लाभ की मात्रा का ज्ञान कराने से उस उद्योग में पूँजी और उपक्रम को भाग लेने के लिये प्रेरित किया जा सकता है, और दूसरे जनता को वास्तविकताओं से परिचित करके अनेकों शंकाओं का समाधान किया जा सकता है। अमेरिका में Federal Commission का यही कार्य है और यू० के० में सन् १९२६ में Food Council इसीलिये स्थापित की गई थी। परन्तु यह विधि भी उसी समय सफल हो सकती है जबकि देश की जनता इतनी शिक्षित हो कि वह प्रकाशित सूचनाओं को पढ़ सके। इसके अतिरिक्त यह भी तो आवश्यक नहीं कि उपभोक्ता इन सूचनाओं से लाभ प्राप्त करें क्योंकि उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की वस्तु को प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक मूल्य देने को तैयार रहता है, चाहे पहले वह कितना ही विरोध क्यों न करता रहा हो। इसमें भी केवल आंशिक सफलता ही प्राप्त होने की आशा है इसलिये केवल इसका प्रयोग अन्य उपायों के साथ-साथ ही किया जा सकता है।

(स) मूल्य नियन्त्रण—सरकार एकाधिकारी की वस्तुओं के मूल्यों को नियन्त्रित करके उसकी, अधिक मूल्य पर वस्तु बेचने की, शक्ति को कम कर सकती है। यह नियन्त्रण दो प्रकार के हो सकते हैं—सकारात्मक (Positive) और नकारात्मक (Negative)। सकारात्मक मूल्य नियन्त्रण में, वस्तु का अधिकतम मूल्य निश्चित कर दिया जाता है, जिससे अधिक मूल्य पर एकाधिकारी वस्तु को नहीं बेच सकता। नकारात्मक मूल्य नियन्त्रण विधि के अनुसार वस्तु का मूल्य निश्चित नहीं किया जाता, बल्कि यह नियन्त्रण लगा दिया जाता है कि मूल्यों में

कोई भी वृद्धि करने से पहले सरकार या इस कार्य के लिये नियुक्त विशेष अधिकारी से एकाधिकारी को आज्ञा प्राप्त करनी होगी, अर्थात् बिना उनकी पूर्व आज्ञा के मूल्य बढ़ाय नहीं जा सकते और यह आज्ञा केवल उसी समय दी जाती है जब सरकार निश्चित हो जाती है कि मूल्य वृद्धि उचित है। परन्तु यह रीति भी इतनी सरल नहीं है।

कठिनाइयाँ—प्रथम, यह ही निश्चित करना सरल नहीं कि किसी वस्तु का उचित मूल्य क्या है या क्या होना चाहिये। सरकार यह निर्णय करने के लिये कि वस्तु का उचित मूल्य क्या होगा दो आधार बना सकती है—एक तो यह कि मूल्य ऐसा निश्चित करे, जिससे लागतो के ऊपर एकाधिकारी को सामान्य या उचित दर पर लाभ प्राप्त हो सके, और दूसरा यह कि मूल्य ऐसा हो कि विनियोग की हुई पूँजी पर एक उचित लाभ की आशा हो। परन्तु यह दोनो ही आधार जटिलताओं से परिपूर्ण है। एकाधिकारी कभी भी अपनी वस्तु की सही लागत बतान को तैयार न होगा और न हो, यह सम्भव है कि बिना एकाधिकारी की सहायता के वस्तु की उचित लागत आँकी जा सके। अनेको प्रकार के खर्चे होते हैं और एकाधिकारी कहीं भी बेईमानी से किसी भी खर्चे को बढ़ाकर दिखा सकता है जबकि इसमे संदेह ही नहीं कि प्रबन्ध की कुशलता के कारण वस्तु की लागत साधारणतया कम ही रहती है। इस प्रकार सही लागत का निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार यह निश्चित करना कि लागतो के ऊपर कितना लाभ उचित होगा, सरल नहीं होता है। क्योंकि इसकी कोई प्रामाणिक मूल्यांकन विधि तो अभी तक बन ही नहीं पाई है। दूसरी प्रकार के आधार में भी इसी प्रकार की अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। पहले तो यह ही निश्चित करना कठिन हो जायगा कि विनियोग की गई पूँजी कितनी है। समस्या यह है कि पूँजी का मूल्य वर्तमान दरो से निश्चित किया जाये या उस समय की दरो के अनुसार, जबकि कारखाना स्थापित किया गया था। इसी प्रकार यहाँ पर भी यह कठिनाई होगी कि सामान्य लाभ या उचित लाभ क्या होगा।

दूसरे, यदि मूल्य किसी प्रकार निश्चित कर भी दिया गया तो एकाधिकारी वस्तुओ के गुणो को कम करके मूल्य नियन्त्रण के उद्देश्य ही का सर्वनाश कर सकता है। एकाधिकारी की इस क्रिया का नियन्त्रित करना तो बहुत ही कठिन है।

तीसरे, यदि उत्पादन उत्पत्ति ह्रास नियम के आधीन हो रहा है और प्रति इकाई उत्पादन व्यय बढ़ता जा रहा है तो एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिये उत्पत्ति की मात्रा को घटा सकता है और कम उत्पादन व्यय पर वस्तु प्राप्त कर सकता है। दोनो ही दशाओ में मूल्य समान रहने पर, बाद की दशा मे एकाधिकारी को अधिकतम लाभ प्राप्त हो जायगा और मूल्य नियन्त्रण का उद्देश्य ही समाप्त हो जायगा।

अन्त मे, जैसा प्रोफेसर ड्यूरान्ड (Durand) ने कहा है कि मूल्य नियन्त्रण मे सदैव ही एक बड़े अरसे तक अपव्यय और शक्ति एवं लागत की दोबारगी (duplication of energy and cost) की सम्भावना रहती है। क्योंकि एक ही कार्य में

दोनो पक्षो के कर्मचारी लगे रहते है। हिसाब को रखना और बाजार म माग की दशाओ के अध्ययन एकाधिकारी और सरकार दोनो तरफ के लोग व्यवस्थ रहते है। दोनो पक्षो में वे उद्देश्य अलग अलग होने से, आपस मे सदैव ही मुकदमेबाजी और झगडे होते रहते हैं जिसमे और अधिक खर्चे होते है। इस कार्य में इतनी फिजूल खर्ची होती है कि यदि इसको न किया जाये तो अच्छा ही होगा।[6]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मूल्य नियन्त्रण की नीति अपव्ययी और अव्यवहारिक दोनो ही है। इसलिए केवल नकारात्मक विधि को ही अपनाना ठीक होगा। बहुधा जनोपयोगी सेवाओ मे सकारात्मक विधि से काम लिया गया है। अमेरिका मे कुछ शहरो में ऐसी सेवाओं का नीलाम किया जाता है अर्थात्, जो व्यक्ति सबसे कम मूल्य पर एक निश्चित प्रमाण और गुण की सेवा प्रदान करने के लिए तैयार होता है उसी को ठेका दे दिया जाता है।

हमने अभी एकाधिकारियो की क्रियाओ पर नियन्त्रण रखने की प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनो ही विधियो का अध्ययन किया है। इन विधियो मे से कोई भी ऐसी नही जो सरलतम हो या जिस को कार्यान्वित करने मे कोई कठिनाई न हो। इसमे तो कोई भी लाभ नही कि व्यय भी किया जाय और उद्देश्य भी पूरा न हो। इस-लिये अधिक अच्छा तो यह रहेगा कि उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाये। विभिन्न देशो मे ऐसा किया भी गया है विशेषकर जनोपयोगी सेवाओ के सम्बन्ध में जैसे इगलैंड म यह सेवा सरकार या नगरपालिकाओं द्वारा प्रदान की जाती है।

जनोपयोगी सेवाओ का नियन्त्रण

विज्ञान की प्रगति और विकास के साथ-साथ व्यक्तियों का जीवन पहले से अधिक जटिल अवश्य हो गया है परन्तु मनुष्यो को आज ऐसी ऐसी वस्तुयें और सेवाएँ घर बैठे प्राप्त हो जाती हैं जिनको प्राप्त करने के लिए मनुष्य पहले समय और शक्ति दोनों ही नष्ट करता था, परन्तु फिर भी उसे इतनी कुशल सेवाएँ नही मिलती थी जितनी कि आज की सेवाएँ हैं। इन सेवाओ से सब ही व्यक्तियो को लाभ पहुँचता है। इन सेवाओ को जनोपयोगी सेवाएँ (public utility services) कहते हैं—जैसे, पानी, बिजली आदि का प्रबन्ध करना, शहरो मे बसो, ट्राम, देश मे रेलो तथा अन्य यातायात के साधनो की व्यवस्था जनहित मे करना इत्यादि। इन सेवाओ की दो मुख्य विशेषताएँ हैं। प्रथम, यह अनिवार्यताएँ (essential) हैं और दूसरे इन की प्रकृति एकाधिकार की होती है। ये सेवाएँ अनिवार्य इसलिए होती हैं कि इनके बिना जीवन की आधु-निकता समाप्त हो जाती है और आजकल इन्ही से मनुष्य प्रगतिशील जाना जाता है। इन सेवाओं की प्रकृति एकाधिकार की कई कारणो से होती है—प्रथम पानी, बिजली, यातायात की व्यवस्था करने के लिए सडको मे आवश्यक खुदाई करनी होगी, अपने दफ्तर, कारखानो आदि के लिए विशेष स्थान प्राप्त करने होगे। इन सब का अधिकार एक सस्था को ही दिया जा सकता है। दूसरा कारण एकाधिकार

6 Quoted in Pigou, *Op. Cit.*, Page 380.

का रूप धारण करने का यह है कि इन सेवाओं में प्रारम्भ से बहुत ही बड़ी मात्रा में पूंजी लगानी होती है जैसे मशीनों में इमारतों में ट्राम की लाइनें बिछाने में इत्यादि। किसी नव आगन्तुक प्रतियोगी के लिए यह सम्भव नहीं होता कि इतनी बड़ी मात्रा में पूंजी का विनियोग कर सके। इस प्रकार जनोपयोगी सेवाएं प्रदान करने वाले उद्योगों की प्रकृति एकाधिकार स्थापित हो जाने की होती है जिनसे उपभोक्ताओं का मर्दन हो अहित होने का भय रहता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि इन उद्योगों पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण अवश्य रक्खा जाय। जनहित की रक्षा करने का अभिप्राय यह है कि सरकार यह निश्चित कर ले कि इन सेवाओं का गुण पर्याप्तता और मूल्य सदैव ही एक से रहेंगे। ग्राहकों में वृद्धि होने से इनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा।

नियन्त्रण की विधियां—साधारणतः जनोपयोगी सेवाओं में सम्बन्धित उद्योगों के नियन्त्रण के लिए दो विधियां अपनाई गई हैं। प्रथम इन उद्योगों का सञ्चालन एवं व्यवस्था उन व्यक्तियों एवं संस्थाओं को सौंपा गया है जिनको विधान सभा ने विशेष घोषणा पत्र द्वारा इस कार्य के लिए नियुक्त किया है। घोषणा पत्र में उन सारी शर्तों की गणना कर दी जाती है जिनके अनुसार उद्योगों की व्यवस्था करनी होती है। इस विधि में सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि कुछ समय बाद परिस्थितियों के बदल जाने पर यह सब बेकार हो सकती है जब यदि किसी वस्तु का अधिकतम मूल्य निश्चित कर दिया गया है तो हो सकता है कि कुछ वर्षों बाद यह मूल्य वास्तविक मूल्य की तुलना में बहुत अधिक हो या बहुत कम। पहली स्थिति में उपभोक्ताओं की हानि होगी और दूसरी स्थिति में उद्योग चलाने वाली संस्था की। इस कठिनाई को दूर करने के लिए बहुधा यह प्रस्ताव किया गया है कि वस्तु के मूल्य गुण आदि से सम्बन्धित प्रारम्भिक शर्तों को समयानुसार बदलते रहना चाहिए। परन्तु इसमें यह कठिनाई होगी कि इससे किसी व्यवस्था में कोई उन्नति या सुधार नहीं करेगी क्योंकि उसे यह डर रहेगा कि यदि प्रारम्भिक शर्तों में उलट फेर कर दी गई तो इस सुधारों से होने वाले लाभ प्राप्त नहीं होंगे। इस प्रकार यह विधि व्यवहार में इतनी सरल प्रतीत नहीं होती।

इस सम्बन्ध में दूसरी विधि जो अपनाई गई है उसमें कानून द्वारा सेवाओं और मूल्य सम्बन्धी शर्तें निश्चित नहीं की जातीं बल्कि सामान्य सिद्धान्त बना दिये जाते हैं जिनके अनुसार वस्तु का उत्पादन एवं विक्रय करना होता है। विधान सभा ऐसे उद्योगों की देख रेख के लिए एक विशेष संस्था भी स्थापित कर सकती है। संयुक्तराज्य में ऐसी संस्थाएं स्थापित हुई हैं जिनको कमीशन कहते हैं। इन कमीशनों का काम यह है कि वह उत्पादन करने वाली संस्थाओं का निरीक्षण करती है और यह देखती है कि वस्तु का उत्पादन घोषणा पत्र की शर्तों के अनुसार किया जा रहा है कि नहीं। ये वस्तुओं के मूल्य भी निर्धारित करती हैं। ये कमीशन यह भी देखती हैं कि घोषणा-पत्र की शर्तों के अनुसार सेवायें प्रदान की जा रही हैं या नहीं। बस तो साधारणतः सेवायें प्रदान करने वाली समितियां भी इस बात का पूरा ध्यान

रखती है कि उनके ग्राहक उनसे असंतुष्ट न रहें और इसलिए वे स्वयं ही हर प्रकार की सुविधा अपने ग्राहकों को देती हैं। यदि कोई संस्था शर्तों के अनुसार सेवायें प्रदान नहीं करती है तो कमीशन का कर्त्तव्य है कि वे इन शर्तों को पूरा करने के लिए संस्थाओं को बाध्य करें।

हमने अभी बताया था कि विधान परिषद सेवाओं के मूल्यों को भी निश्चित कर देती है। यह इसलिए कि उपभोक्ताओं को सेवाओं का ऊँचा मूल्य न देना पड़े और यह मूल्य इतना नीचा भी नहीं होना कि संस्थाएँ अपनी वस्तु के प्रमाण को बनाये रखने में असफल रहें। इस लिए सेवाओं का मूल्य अधिकतर सेवाओं की लागत के अनुसार निश्चित किया जाता है जिसका अनुमान निम्न आधारों के अनुसार लगाया जा सकता है—(अ) चल पूँजी का मूल्य (ब) कार्य संचालन सम्बन्धी लागतें और (स) लाभ की उचित दर।

चल पूँजी के मूल्य का आँकना कोई सरल काम नहीं है क्योंकि मशीनों में अकसर टूट-फूट होती रहती है जिसको ठीक कराने में काफी व्यय करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी मशीनों को बिल्कुल बदल देना पड़ता है और कभी-कभी मशीनों के समुचित भागों या पुर्जों को बदलना पड़ता है। हम सभी जानते हैं कि मशीनों के मूल्य किसी वर्ष में भी समान नहीं रहते और अधिकतर बढ़ने की ही सम्भावना रहती है। कीमती मशीनों के पुर्जे भी सम्पूर्ण मशीन के मूल्य के अनुपात में अधिक महँगे मिलते हैं। इसलिए चलपूँजी का वास्तविक मूल्य यदि संस्थाओं का उत्पादन आरम्भ करने के कुछ वर्ष बाद पता लगाया जायेगा तो इसमें इन सब बातों को ध्यान में रखना होगा। व्यवहार में होता भी यही है कि सेवाओं का मूल्य आरम्भ में निश्चित नहीं किया जाता, इसलिये यदि मशीनों के प्रारम्भिक मूल्यों के आधार पर उनका वर्तमान मूल्य आँका जाय तो इसमें त्रुटियों की बहुत सम्भावना रहेगी। बहुधा ऐसा होता है कि जब एक मशीन बेकार हो जाती है तब उसके स्थान पर बिल्कुल वैसी ही मशीन नहीं लगाई जाती, क्योंकि मशीन कला की उन्नति दिन-प्रति-दिन बढ़ते जाने के कारण पहले जैसी मशीनें मिलती ही नहीं। पुरानी मशीनों में अनेकों सुधार प्रतिवर्ष होते रहते हैं। इसलिए एक कठिनाई और उपस्थित हुई कि चलपूँजी का मूल्य पुरानी मशीनों के आधार पर आँका जाये या नई मशीनों के आधार पर। कुछ भी हो इन सब बातों के निर्णय मनमाने ही होंगे और इसलिए इसका कोई उचित उपाय नहीं दीखता।

इसी प्रकार कार्य संचालन लागतों का निर्धारण भी दुर्लभ है। बहुधा यह लागतें ऊँची करके बताई जाती हैं और कुछ खर्चे तो ऐसे होते हैं जिनको लागतों में सम्मिलित करने में अधिकारियों को हिचकिचाहट हो सकती है जैसे मुकदमेबाजी आदि के खर्चे।

लाभ की उचित दर निर्धारित करते समय भी कई प्रकार की समस्यायें उत्पन्न होती हैं जैसे लाभ की दर किस आधार पर निर्धारित की जाय, वर्तमान मूल्यों के आधार पर, वर्तमान ब्याज दरों के अनुसार, विनियोग की गई पूँजी

आधार पर इत्यादि। सच तो यह है कि किसी प्रकार भी लाभ क्यो न निर्धारित किया जाय अधिकारियो का निर्णय मनमाना ही होगा।

इन सब कठिनाइयो को देखते हुए यही उचित प्रतीत होता है कि सरकार इन उद्योगो का नियमन करने की अपेक्षा स्वय ही व्यवस्था करने का प्रयत्न करे। दूसरे शब्दो में जनहित के लिए ऐसे उद्योगो का सचालन राजकीय सस्थाओ या स्थानीय सस्थाओ द्वारा होना चाहिए।

अध्याय ४

राज्य द्वारा उद्योगों की व्यवस्था एवं संचालन
(Public Operation of Industries)

प्राक्कथन—

पिछले ५० वर्षों में स्वतन्त्र उपक्रम प्रणाली अर्थात् पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के इतने अधिक दोष सामने आये और मनुष्यों को इतने अधिक कष्ट सहन करने पड़े कि आज बहुमत इसी बात के पक्ष में है कि उद्योगों और सेवाओं की व्यवस्था एवं संचालन राज्य की देखभाल में होना चाहिये। यद्यपि राज्य पहले भी कुछ उद्योगों का संचालन करता था जैसे सुरक्षा और सैनिक सम्बन्धी उद्योग, और क्योंकि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखना चाहते थे, इसलिये राज्य को अधिक उद्योगों के संचालन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, परन्तु गत वर्षों में बेकारी और वस्तुओं की दुर्लभताओं और अधिकताओं ने समय समय पर ऐसा भीषण रूप धारण किया कि अर्थशास्त्रियों को भी विवश होकर निर्बाधावादी (Laissez faire) की विचारधारा को छोड़ना पड़ा; जिसका परिणाम यह है कि आज पूँजीवादी देशों में भी राज्य बहुत से उद्योगों की व्यवस्था स्वयं करता है और अन्य देशों में ऐसे उद्योगों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। राज्य द्वारा जिन उद्योगों की व्यवस्था एवं संचालन होता है उनको राजकीय उद्योग या राजकीय उपक्रम (Public Enterprise) कहते हैं। ऐसे उद्योगों का संचालन या तो सरकार या नगरपालिकायें या अन्य राजकीय संस्थाएँ करती हैं। इसको उद्योगों का समाजीकरण या राष्ट्रीयकरण भी कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उद्योगों का स्वामित्व और संचालन दोनों ही एक साथ राज्य के पास हों। यह भी हो सकता है कि उद्योग का स्वामित्व राज्य के हाथ में हो और राज्य उसकी व्यवस्था का कार्य किसी निजी संस्था को सौंप दे। इसी प्रकार उद्योगों का स्वामित्व किसी निजी व्यक्ति के हाथ में हो परन्तु कुछ कारणों से राज्य उनका संचालन स्थाई या अस्थाई रूप में अपने हाथ में ले ले। राज्य किन-किन उद्योगों को किस-किस समय अपने अधिकार में लेगा या राजकीय उपक्रम का क्षेत्र क्या होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि राज्य देश में किस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था स्थापित करना चाहता है। यदि राज्य यह समझता है कि

निजी व्यक्तियों का स्वामित्व देश के अहित म है और इसलिये यह निर्णय करता है कि सभी उद्योगों पर समाज का सामूहिक स्वामित्व नितान्त आवश्यक है तो वह धीरे-धीरे सारे ही उद्योगों को अपने अधिकार म लेता जाता है। ऐसी नीति का उद्देश्य देश मे समाजवाद स्थापित करना होगा। यदि राज्य समाजवादी प्रणाली स्थापित करना नही चाहता तो वह अर्थ-व्यवस्था को मिश्रित प्रणाली का रूप दे सकता है और सावजनिक क्षेत्र म मुख्य मुख्य उद्योगों को अपने अधिकार म लेकर शेष उद्योगों को निजी क्षेत्र के लिये छोड सकता है। यदि राज्य इन दोनों मे से कोई भी नीति अपनाना नही चाहता और केवल देश म सामाजिक कल्याण को अधिकतम करना चाहता है तो वह कुछ चुने हुए उद्योगों को अपने अधिकार मे ले सकता है। हम यहाँ पर केवल राजकीय उपक्रम उसके गुण अवगुण और भारत म सरकार की औद्योगिक नीति का ही अध्ययन करना है इसलिये हम अन्य बातो को छोडकर केवल इन्ही बातो पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करेंगे।

राजकीय सचालन के पक्ष में—राजकीय उपक्रम के पक्ष में निम्न दलीले दी गई हैं —

(१) देश की सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगो का सचालन राज्य प्रारम्भिक काल से ही करता आ रहा है। यह स्पष्ट ही है कि सुरक्षा और शान्ति आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन के प्राण हैं। इसलिय जो उद्योग युद्ध सम्बन्धी हथियार और मशीने बनायें या सैनिकों क लिये वस्त्र आदि का उत्पादन करें या आधुनिक अणु हथियारों का उत्पादन करें, स्वाभाविक ही है कि इनका सचालन निजी व्यक्तियों के हाथ म नही दिया जा सकता। इसक अतिरिक्त इन वस्तुओं का उत्पादन इतना महगा होता है और इसम इतनी अधिक पूजी की आवश्यकता होती है कि कोई भी व्यक्ति इन उद्योगों को चलान की सोच ही नही सकता। सबसे महत्वपूण बात तो यह है कि इन वस्तुओं की उत्पत्ति को पूण रूप से गोपनीय रखा जाता है ताकि शत्रु को गुप्त भेदों का पता न लगने पाय। इसलिय ऐसे उद्योगो को प्रत्येक देश म ही राज्य स्वय सचालित करता है, और करना भी चाहिय

(२) देश के कुछ प्राकृतिक साधन इतनी सीमित मात्रा म होते है कि उनके उद्योगों को निजी व्यक्तियों के हाथो म नही छोडा जा सकता, क्योंकि यह सम्भव नही कि इन साधनों का मितव्ययी उपयोग हो सके। निजी व्यक्ति अपने लाभो को अधिकतम करने की दृष्टि से इन साधनों का ऐसा प्रयोग कर सकता है जिससे समाज का हित अधिकतम न हो जैसे जगल का काटना या खानो की खुदाई करना आदि। इन कामो में निजी व्यक्ति या तो जल्दी-जल्दी जगल काट सकता है या बहुत धीरे धीरे या केवल उन्ही पेडो का काटे जिनकी लकडी का दाम बहुत ऊँचा है और इस प्रकार मामूली लकडी की पूर्ति को कम करके बाजार म उसका भी मूल्य बढा सकता है। कुछ भी हो निजी व्यक्ति कभी भी सामाजिक हित की वृद्धि करने के उद्देश्य से इन साधनों का प्रयोग नही करेगा। इसीलिय ऐसे उद्योगों का सचालन राज्य स्वय ही करता है और करना भी चाहिय।

(३) उन उद्योगों को जिनकी प्रवृत्ति एकाधिकारिक होती है सदैव ही राज्य को अपने आधीन ले लेना चाहिये। हम देख ही चुके हैं कि एकाधिकारी संस्थायें अधिकतर उपभोक्ताओं और श्रमिकों का शोषण करती हैं और उनको नियन्त्रित करने के लगभग सभी उपाय निष्फल रहे हैं। इसलिये यही उपाय सबसे उपयुक्त है कि राज्य एकाधिकारिक उद्योगों को अपने अधिकार में लेकर स्वयं उनका सचालन करे।

(४) जनोपयोगी सेवाओं सम्बन्धी उद्योगों को भी सरकार को स्वयं चलाना चाहिये, जैसे पानी, तार डाक, टेलीफून, बिजली आदि। यदि कई कम्पनियाँ एक ही शहर में पानी की पूर्ति करें तो स्पष्ट है कि कितनी गड़बड़ी और कितना अपव्यय होगा। प्रत्येक अपनी अपनी पाइप लाइन सड़कें खुदवा कर डलवायेगी, न तो सड़कें ही ठीक रहेंगी और न उनमें इतनी जगह ही होगी कि कई कम्पनियों की पाइप लाइनें डल सकें। इसके अतिरिक्त इन सब में अपव्यय भी बहुत होगा। इसलिये ये सेवाएँ उसी समय अच्छी प्रकार से प्रदान की जा सकती हैं जबकि केवल एक शहर में एक ही कम्पनी उद्योग को चलाये। परन्तु निजी व्यक्ति के हाथ में सौंप देने का अभिप्राय होगा निजी एकाधिकार। इसके अवगुणों का हम अध्ययन कर ही चुके हैं। इसीलिए ऐसे उद्योग राज्य द्वारा या किसी अन्य राजकीय संस्था द्वारा चलाए जाने चाहिएँ। एकांगी नियन्त्रण एवं प्रबन्ध में मितव्ययिता भी है और कुशलता भी।

(५) निजी उपक्रम की अपेक्षा, राजकीय उपक्रम में जनहित और जन-कल्याण अधिक अग्रसर हो सकेगा। हम जानते ही है कि निजी उपक्रम प्रणाली में निजी लाभ की दृष्टि से प्रत्येक कार्य किया जाता है। सामाजिक कल्याण का उसमें कोई स्थान नहीं होता, जबकि राजकीय उपक्रम में प्रत्येक कार्य सामाजिक कल्याण की दृष्टि से किया जाता है। इसीलिये औद्योगिक क्षेत्र में भी राज्य को पग बढ़ाना चाहिए।

(६) राज्य द्वारा उद्योगों का सचालन किए जाने पर कुछ थोड़े से ही व्यक्तियों के हाथों में धन का एकत्रीकरण नहीं हो पायगा, जैसे कि निजी उपक्रम प्रणाली में होता है। इसलिए धन का समान वितरण करने के लिए यह आवश्यक है कि सारे औद्योगिक क्षेत्र को राज्य अपने हाथ में ले ले।

राजकीय सचालन के विपक्ष में—उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय या नहीं ? बड़ा ही विवादग्रस्त प्रश्न है। यद्यपि राजकीय उपक्रम का क्षेत्र दिन-प्रति-दिन, संसार के प्रत्येक देश में, ही, बढ़ता जा रहा है, परन्तु आज भी लोग इस सम्बन्ध में एक मत नहीं हो पाये हैं। एडम स्मिथ से आज तक राष्ट्रीयकरण अथवा राजकीय उपक्रम की कुछ न कुछ आलोचनाएँ होती ही रही हैं। यह निम्न प्रकार हैं—

(१) आलोचकों का विचार है कि राष्ट्रीयकरण में साधनों का अधिकतम एवं मितव्ययी उपयोग नहीं होने पाता, जो कि निजी उपक्रम के अन्तर्गत हो जाता है। प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्पादन व्यय को न्यूनतम रखने का प्रयत्न करता है और साधनों का स्थानापन्न करता रहता है। इन लोगों का विचार

है कि साधना का इतना अधिक उत्तम प्रस्थापन स्वतन्त्र प्रतियोगिता के अतिरिक्त किसी और स्थिति में प्राप्त नहीं हो सकता है।

ये लोग यह भूल जाते हैं कि निजी उपक्रम में मितव्ययी उपयोग साधनों का तो अवश्य होगा, परन्तु यह उपयोग केवल निजी हित ही में तो होगा। इससे समाज का कल्याण तो नहीं बढ़ेगा। कुछ गिने चुने व्यक्तियों के लाभ की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज का लाभ अधिक आवश्यक है। एडम स्मिथ स्वयं इससे सहमत था कि कुछ उद्योगों को राज्य चलाये। उसके शब्दों में राज्य का कर्तव्य है कि "वह कुछ विशेष सार्वजनिक (Public) निर्माण करे और कुछ सार्वजनिक संस्थाएँ स्थापित करे, जिनको करना, किसी व्यक्ति या थोड़े से व्यक्तियों के लिए हितकारी न हो।"[1]

(२) अधिकतर लोगों ने राजकीय उपक्रम की इस आधार पर आलोचना की है कि इसमें कार्य कम कुशल होता है। व्यापार और उद्योगों में राजकीय संस्थाओं का कार्य प्रबन्ध कभी भी कुशल नहीं हो सकता है। निजी उपक्रम में व्यक्ति हानि से डरता है और लाभ से प्रेरित होता है और इसलिए वह अपने व्यापार की ओर अधिक ध्यान मग्न होकर काम करता है। राजकीय उपक्रम में वेतन भोगी कर्मचारियों से इतनी आशा नहीं की जा सकती। इनको लाभ और हानि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह तो केवल अपने वेतन और अपनी वार्षिक वृद्धि की ओर ही देखते हैं। इसीलिए यह अधिक कुशल प्रबन्ध नहीं कर पाते। निजी उपक्रमों में त्रुटियों का तुरन्त ही पता लगा लिया जाता है। इसीलिए इनमें मौद्रिक व्यय अवश्य ही कम होता है। परन्तु यह याद रहे कि निजी उपक्रमों में कुशलता केवल व्यक्तिगत हित की दृष्टि से ही लाभकारी होती है। सामाजिक दृष्टि से यह कुशलता बिल्कुल बेकार होती है अर्थात इस कुशलता से सामाजिक कल्याण में किसी प्रकार की भी वृद्धि नहीं हो पाती क्योंकि इनमें वस्तुओं की सामाजिक लागतें (Social Costs) बहुत अधिक होती हैं। उत्पादन और प्रबन्ध में कुशलता के अभाव के कई कारण होते हैं —

(अ) प्रथम, कुशलता बहुत सीमा तक जोखिम सहन करने की शक्ति पर निर्भर करती है। उत्पादक जितना अधिक जोखिम सहन करने के लिये तैयार होगा उतना ही अधिक लाभ उसे प्राप्त होगा। प्राचीन लेखक तो जोखिम सहन करने को उत्पत्ति का एक पृथक साधन मानते थे। परन्तु राजकीय उपक्रमों में सरकारी कर्मचारी उतना जोखिम लेने को तैयार नहीं होते, जितना कि निजी व्यक्ति। यद्यपि यह सच है कि निजी उपक्रम में सभी उत्पादक अत्यधिक जोखिम नहीं लेते परन्तु फिर भी हर देश में प्रत्येक उद्योग में कुछ न कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होते हैं जो अपना सर्वस्व एक ही दाव में लगाने को तैयार हो जाते हैं यही सोचकर कि यदि सफलता प्राप्त हो गई तो वारे के न्यारे हो जायेंगे। सरकारी कर्मचारियों से ऐसी आशा कभी भी नहीं की जा सकती। वास्तव में सरकारी दफ्तरों में काम करने की विधि ही ऐसी अनोखी है कि उसमें जोखिम का कोई स्थान नहीं है। दूसरे

1 *Wealth of Nations*

सरकार को सदैव ही जनता द्वारा आलोचना का भी भय रहता है। यह सब बातें १६वीं शताब्दी तक ही सीमित थी। आजकल तो अनुभव यह है कि निजी व्यवसायी बहुत जोखिम वाले कार्य करने को तो तैयार ही नहीं होते और यह सब कार्य राज्य को ही करने होते हैं। जैसे भारत में ही देखिये, बाँध बनवाना, पुल बनाना, जल-विद्युत सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित करना आदि सब राज्य ही कर रहा है और यह स्थिति केवल भारत में ही नहीं है, इंग्लैंड और अमेरिका में भी ऐसा हो रहा है।

(ब) सरकारी कार्यालयों में काम भी बहुत देरी से होता है। बहुधा ऐसा होता है कि समय पर कभी भी काम नहीं हो पाता। एक पत्र कई विभागों से होकर अन्तिम अफसर तक पहुँचता है। क्योंकि हर काम एक निश्चित विधि के अनुसार किया जाता है और इस विधि से विचलित करना सम्भव नहीं होता जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति को प्रयत्न करने के लिए कोई भी प्रेरणा नहीं मिल पाती। परन्तु यह याद रहे कि यह दोष केवल राजकीय उपक्रमों का ही नहीं है सभी बड़े बड़े संगठनों में ऐसा होता है और फिर समय के साथ साथ इस दोष को भी काफी सीमा तक दूर किया जा सकता है और कुशलता में वृद्धि की जा सकती है।

(स) बहुधा यह देखा गया है कि सरकारी कर्मचारी अच्छे व्यवस्थापक और प्रबन्धक नहीं होते। इन लोगों की नियुक्ति अधिकतर सिफारिशों के बल पर होती है। परिणामवश अकुशल और अयोग्य व्यक्ति भरती कर लिये जाते हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि सरकारी कार्यालयों का एक अच्छा प्रबन्धक उद्योगों का प्रबन्ध भी कुशलतापूर्वक कर सके। यद्यपि यह आलोचना कुछ सीमा तक सच है परन्तु यह देखा गया है कि बहुधा सरकार ने राष्ट्रीयकरण करने के बाद भी उद्योगों की व्यवस्था कम्पनी के पुराने कर्मचारियों के हाथ में रक्खी है, जैसे हमारे देश में ही लीजिये स्टेट बैंक और जीवन बीमा प्रमण्डल की व्यवस्था पुराने ही कर्मचारियों द्वारा की जा रही है।

(द) निजी उपक्रमों में जो कुछ भी प्रेरणा लाभ के लालच या हानि के डर से व्यक्ति को प्राप्त होती है उसी से वे अपनी कुशलता को बढ़ाने की चेष्टा करते हैं। यही कारण है कि निजी उपक्रमों में अधिक राजकीय उपक्रमों में कुशलता कम होती है। क्योंकि राजकीय उपक्रमों में कर्मचारियों पर लाभ और हानि की स्थिति से कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। प्रो० मार्शल ने कहा था, "कि वे, व्यवसाय, जिनमें, निरन्तर आविष्कार और साधनों की उत्पादनशीलता का विशेष महत्व है उनमें सरकारी हस्तक्षेप सामाजिक उन्नति के लिए भय पूर्ण है·········सरकार कदाचित् ही कोई वस्तु उत्पन्न करती हो ······एक सरकार केवल शेक्सपियर के लेखों की एक अच्छी पुस्तक छपवा सकती है परन्तु वह उनको लिखवा नहीं सकती।"[2]

परन्तु यह प्रेरणायें उसी समय महत्वपूर्ण होती हैं जबकि साहसी स्वयं व्यवसाय में कार्य करता है और प्रबन्ध करता है। आधुनिक बड़े पैमाने के व्यवसाय

2. Pigou Socialism Versus Capitalism, P. 79

में यह सम्भव नहीं है। आजकल अधिकतर उद्योगों का संगठन सम्मिलित पूंजी के आधार पर होता है और अधिकतर काम वेतनभोगी कर्मचारियों द्वारा किया जाता है जैसा कि राजकीय उपक्रमों में होता है। निःसन्देह यह सत्य है कि अधिकतर सम्मिलित पूंजी कम्पनियों में अधिकांश हिस्से कुछ थोड़े से ही व्यक्तियों के हाथों में होने से प्रबन्ध की कुशलता का स्तर काफी ऊँचा रहता है। इसके अतिरिक्त यदि राजकीय उपक्रमों में कर्मचारियों को यह आश्वासन दे दिया जाय कि लाभ में से कुछ भाग उन्हें भी प्राप्त होगा तो भी कुशलता में वृद्धि हो सकती है। यह भी मानना पड़ेगा कि कोई भी काम किसी व्यक्ति से उसकी इच्छा के बिना नहीं कराया जा सकता। यदि व्यक्तियों में रुचि है जिज्ञासा है और लगन है तो वह राजकीय उपक्रमों में भी कुशल बन सकते हैं और उन्नति कर सकते हैं। मनुष्य किसी भी आविष्कार को करने में आर्थिक लाभ से इतना प्रेरित नहीं होता जितना कि प्रसिद्धि और सम्मान से। वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कार, कवियों ने अपनी रचना और कलाकारों ने अपनी कला में प्रगति आर्थिक लाभ से प्रेरित होकर कभी भी प्राप्त नहीं की। इस प्रकार यह कहना कि राजकीय उपक्रमों में कुशलता का अभाव इसलिए रहता है कि व्यक्तियों को आर्थिक प्रेरणा नहीं मिलती उचित नहीं है।

(ह) कुछ विचारशील व्यक्तियों का यह प्रस्ताव है कि उपर्युक्त कठिनाइयों को दूर करने के लिए या कम करने के लिए अर्ध-सरकारी प्रमंडलों को राजकीय उद्योगों की व्यवस्था सौंप देनी चाहिए। इन प्रमंडलों के सदस्यों में योग्य व्यापारियों, प्रबन्धकों और विशेषज्ञों को लेना चाहिए। इनकी कार्यविधि सरलतम होनी चाहिए और सरकार द्वारा निश्चित सामान्य नीति के अनुसार इनका प्रबन्ध होना चाहिए। कुछ देशों में तो ऐसे प्रमंडल स्थापित भी किए गए हैं और ये सफलतापूर्वक काम भी कर रहे हैं। भारत में Airlines Corporation और Damodar Valley Corporation संयुक्त राज्य में Tennessee Valley Authority इत्यादि काम कर रही हैं।

(३) राजकीय उपक्रमों के सम्बन्ध में एक दोष यह भी बताया जाता है कि इन की वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य निर्धारण मनमाना ही होता है और इसकी कोई एक निश्चित विधि नहीं होती क्योंकि यही निश्चित नहीं हो पाता कि ऐसे उद्योगों को लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से चलाया जाय या बिना लाभ प्राप्त किये हुए। और यदि लाभ प्राप्त करने का उद्देश्य निश्चित किया जाये तो लाभ की दर क्या होनी चाहिए ?

(४) ऐसे उद्योगों के सम्बन्ध में एक कठिनाई यह भी उत्पन्न होती है कि राज्य और श्रमिकों के बीच क्या सम्बन्ध रहेगा। निजी उपक्रमों में तो राज्य श्रमिकों और मालिकों के बीच होने वाले झगड़ों का समझौता या फैसला करा देता है परन्तु यदि राज्य और श्रमिकों के बीच झगड़ा हो तो उसका निपटारा किस प्रकार हो, यह एक विषम समस्या है क्योंकि अधिकतर राजकीय उद्योगों में यही सम्भावना रहती है कि राज्य द्वारा श्रमिकों का शोषण हो।

(४) राजकीय उपक्रमों की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि जैसे-जैसे इसका क्षेत्र विस्तृत होता जाता है वैसे ही राज्य का आतंक व्यक्तियों पर बढ़ता जाता है। राजकीय उद्योगों की प्रवृत्ति भी एकाधिकार की सी होती है। इस लिये यह स्वाभाविक ही है कि श्रमिकों और उपभोक्ताओं का शोषण हो। परन्तु यह याद रहे कि यह आलोचना समाजवाद या समाजवादी केन्द्रीय नियोजन के विरुद्ध तो उपयुक्त है परन्तु विशेष राजकीय उद्योगों के विषय में यो यह निराधार है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रत्येक विवादग्रस्त विषय की भाँति, राजकीय उपक्रमों की भी अपनी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों ही हैं। आलोचना करने वालों को तो प्रत्येक वस्तु में आलोचना करने के अवसर प्राप्त हो जाते हैं, या यूँ कहिये कि वे अवसर ढूँढ ही लेते हैं, किन्तु यदि निष्पक्ष भाव से सोचा जाये तो कल्याणकारी राज्य की स्थापना के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि राज्य कुछ विशेष प्रकार के उपक्रमों का संचालन स्वयं ही करे, जैसे वे उद्योग जिनमें एकाधिकार स्थापित होने की प्रवृत्ति होती है, वे उद्योग जो सामान्य जनता के हित के हों, इत्यादि। वैसे भी राज्य आरम्भ से ही सेना तथा युद्ध सम्बन्धी उद्योगों का संचालन करता आ रहा है। आधुनिक काल में स्वतन्त्र उपक्रमों में इतनी अधिक बुराइयाँ दृष्टिगोचर हुई हैं और इतनी बुराइयाँ उत्पन्न होती जा रही हैं कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता की 'अदृश्य शक्ति' आज अपना सारा प्रभुत्व खो बैठी है। कल्याण-कारी राज्य में उपभोक्ताओं तथा श्रमिकों का शोषण सहन नहीं किया जा सकता। इसी लिये जिन उद्योगों में इस प्रकार के शोषण की उपस्थिति थी, उनका संचालन धीरे धीरे राज्य ने अपने हाथ में लेना आरम्भ कर दिया। गतवर्षों में उत्पादन की जटिलताओं के बढ़ते जाने के कारण, जनसंख्या की वृद्धि तथा साधनों की कमी के कारण, लगभग प्रत्येक प्रकार के उद्योग में ही शोषण के अवसर प्राप्त होने लगे, इसलिए राज्य ने भी अब सब ही प्रकार के उद्योगों पर नियन्त्रण करना आरम्भ कर दिया है। राजकीय उपक्रम से कोई विशेष हानि नहीं होती। हाँ इतना अवश्य है कि दफ्तरबाजी तथा कुछ निश्चल विधियों के अनुसार काम होने के कारण, अधिकांश उद्योगों में यह देखा गया है कि निर्णय लेने में देरी होती है और वस्तुओं की लागतें साधारणतया ऊँची ही रहती हैं। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि राजकीय उपक्रमों में सारे दोष ही हैं और अच्छाइयाँ कुछ भी नहीं और इसलिए राज्य को उद्योगों का संचालन करना ही नहीं चाहिए। वास्तव में राजकीय उद्योगों में कुछ अनुभवी व्यवस्थापकों की सेवायें प्राप्त करके सारे दोषों को दूर किया जा सकता है और सफलता प्राप्त की जा सकती है।

भारत में राजकीय उपक्रम का इतिहास—भारतवर्ष में राजकीय उपक्रम का इतिहास लगभग १०० वर्ष पुराना है। सर्वप्रथम सन् १८५४ में डाक विभाग स्थापित किया गया था और तभी से राज्य को इस सेवा का एकाधिकार प्राप्त है और आज रेलों के बाद इसका दूसरा स्थान है। यद्यपि कुछ विशेष रेलमार्ग पहले भी राज्य के अधिकार में थे, परन्तु प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक ब्रिटिश सरकार ने

बराबर स्वतन्त्र व्यापार और निर्बाधावादी नीति को अपनाया है। प्रथम महायुद्ध में आयातों में कमी हो जाने के कारण और युद्ध कार्यो के लिये वस्तुओ की मांग बढ़ जाने के कारण वस्तुओं की बहुत अधिक कमी अनुभव हुई और सरकार को विवश होकर ऐसे उपाय करने पडे जिनसे देश के उद्योगो का विकास हुआ। परन्तु युद्ध समाप्त होते ही सरकार ने पुन निर्बाधावादी नीति को अपनाया। भारत के औद्योगिक विकास के लिये सर्वप्रथम १९२३ म कुछ सफल प्रयत्न आरम्भ किये गये और टैक्स आयोग (Fiscal Commission) के सुझाव पर भारतीय सरकार ने विवेचनात्मक सरक्षण (Discriminating Protection) की नीति अपनाई। यह ध्यान रहे कि अभी तक सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र म किसी प्रकार का भी प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया था। सन् १९३७ म कुछ प्रान्तो म कांग्रेसी सरकार की स्थापना के बाद एक उद्योग मत्री सम्मेलन बुलाया गया जिसके सुझावो के अनुसार राष्ट्रीय नियोजन कमेटी (National Planning Committee) का निर्माण हुआ। इस कमेटी ने विभिन्न विषयो पर छानबीन की और अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की परन्तु उनका उपयोग केवल पचवर्षीय योजना म ही किया जा सका। इसी बीच में औद्योगिक विकास प्रान्तों को हस्तान्तरित कर दिया गया। परिणामत प्रान्तो में उद्योग विभाग स्थापित किये गये। परन्तु इन विभागो में कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया गया क्योकि इनके पास पर्याप्त साधन ही नहीं थे। साराश में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यद्यपि भारत मे गुणात्मक (Qualitative) दृष्टि मे औद्योगिक विकास बहुत कम ही हुआ फिर भी सख्यात्मक (Quantitative) दृष्टि से भारत का औद्योगिक विकास सन्तोषजनक रहा।

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते हुये ही भारत के औद्योगिक विकास के लिये अनेका प्रयत्न आरम्भ हुये और युद्धकाल में उद्योगो को प्रोत्साहन मिला परन्तु देश की स्वतन्त्रता तक कोई निश्चित नीति निर्मित नहीं हो पाई थी। सन् १९४७ में औद्योगिक कमीशन (Industrial Commission) नियुक्त किया गया जिसमें उद्योग, व्यापार, श्रमिक एव सरकार के प्रतिनिधि थे। वास्तव में हमारी वर्तमान औद्योगिक नीति का उद्गम इसी से हुआ। इसकी सिफारिशो को स्वीकार करते हुये भारत सरकार के तत्कालीन उद्योग मन्त्री डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने ६ अप्रैल सन् १९४८ को नई औद्योगिक नीति की घोषणा की।

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति—इस नीति के अनुसार उद्योगों को निम्न तीन मुख्य श्रेणियो मे बाटा गया था—

(१) शस्त्र एव बारूद (Arms and Ammunition) का अणु शक्ति (atomic energy) का उत्पादन एव नियन्त्रण, रेल यातायात का स्वामित्व एव व्यवस्था, केन्द्रीय सरकार के पूर्ण एकाधिकार में रहंगे।

(२) राज्य एव केन्द्रीय सरकार निम्न क्षेत्रो में नये कारखानो की स्थापित करने के लिये जिम्मेदार होगी, परन्तु जहाँ राष्ट्रीय हित में यदि आवश्यकता होगी तो सरकार निजी उपक्रम का सहयोग भी प्राप्त करेगी। ये उद्योग निम्न प्रकार हैं—

कोयला, लोहा एवं इस्पात, जहाज निर्माण, हवाई जहाज निर्माण, टेलीफून, टेलीग्राफ तथा वायरलेस मशीनें (रेडियो रिसीविंग सेट के अतिरिक्त) खनिज तेल का उत्पादन।

इस क्षेत्र में स्थित वर्तमान कारखाने अपना कार्य दस वर्षों तक करते रहेंगे और सरकार उनको सहायता देती रहेगी। इस अवधि के बाद उनकी स्थिति का निरीक्षण किया जायगा। सरकारी उद्योगों का प्रबन्ध लोक प्रमण्डलों (Public Corporations) द्वारा होगा। जल-विद्युत शक्ति के उत्पादन एवं वितरण पर सरकारी नियन्त्रण रहेगा।

(३) उपरोक्त उद्योगों के अतिरिक्त तीसरी श्रेणी में ऐसे उद्योग हैं जो महत्वपूर्ण हैं, जिन पर सरकार का नियन्त्रण एवं नियमन रहेगा। ये १८ उद्योग निम्न प्रकार हैं —

नमक, मोटर तथा ट्रैक्टर्स, प्राइम मूवर्स विद्युत इन्जिनीयरिंग, अन्य भारी यन्त्र, मशीन औजार, भारी रसायन, खाद, दवाइयाँ, बिजली, रसायन उद्योग, नान फैरस धातु, रबड़ उत्पादन शक्ति तथा औद्योगिक एलकोहल, सूती एवं ऊनी वस्त्र, सीमेन्ट, शक्कर, कागज एवं न्यूजप्रिन्ट, वायु एवं जल यातायात, सुरक्षा से सम्बन्धित व्यवसाय एवं उद्योग।

इन तीन श्रेणियों के उद्योगों के अतिरिक्त जितने भी उद्योग थे वे निजी उपक्रम के लिये छोड़ दिये गये थे, परन्तु यदि कार्य असन्तोषजनक होगा तो सरकार निजी क्षेत्र में भी हस्तक्षेप कर सकेगी।

यद्यपि उपर्युक्त नीति की बहुत आलोचना हुई, विशेषकर उन लोगों की ओर से जो समाजवाद स्थापित करने के पक्ष में थे। परन्तु वास्तव में यह नीति परिस्थितियों को देखते हुये अत्यन्त ही सन्तोषजनक और न्यायपूर्ण थी। निजी उपक्रम के समर्थकों ने भी अपना असन्तोष प्रकट किया, परन्तु उनकी आलोचनायें शीघ्र ही दब गई क्योंकि यह नीति पूर्णरूप से समयानुकूल थी। सन् १९५१ में उद्योग विकास एवं नियन्त्रण अधिनियम (Industries Development and Control Act) नई औद्योगिक नीति को कार्य रूप देने के लिये बनाया गया। सन् १९५३ में इसमें कुछ संशोधन किये गये।

प्रथम पंचवर्षीय योजना—भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा के बाद ही देश के आर्थिक विकास के लिये पंचवर्षीय योजना बनाई जिसका उद्देश्य सरकारी नियन्त्रण में देश में एक सन्तुलित अर्थव्यवस्था स्थापित करना था। भारतीय नियोजन आयोग (Planning Commission) के शब्दों में नियोजित अर्थव्यवस्था में, "व्यक्तिगत साहस को अपने कार्य के महत्व को समझकर देश के अधिकतम हित के लिये अनुशासन के नये नियमों को स्वीकार करना होगा। किसी अन्य संस्था की भाँति व्यक्तिगत साहस जिस सीमा तक जनहित की उन्नति के लिये साधक सिद्ध होगा वह अपनी न्यायोचितता का परिचय देगा।" इस प्रकार सरकार ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की स्थापना की ओर पग उठाया। सरकार ने उद्योगों में प्रत्यक्ष रूप से हाथ

घटाना आरम्भ किया, विशेषकर उन उद्योगों में जो सुरक्षा के लिये आवश्यक हैं और जिनमें व्यक्तिगत साहस भाग नहीं ले सकता जैसे बहुमुखी योजनायें, सिन्दरी फर्टिलाइजर फैक्ट्री, चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स, इण्डियन टेलीफून इण्डस्ट्रीज, इण्डियन रेयर अर्थ्स् लि०, दी न्यूमिन्ट अलीपुर इत्यादि।

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति—सन १९४८ की औद्योगिक नीति की घोषणा को हुए ८ वर्ष बीत चुके थे। इस अवधि में देश में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन और औद्योगिक क्षेत्र में नये विकास हुये थे। भारतीय संविधान निर्मित हो चुका था। पंचवर्षीय योजना समाप्त हो गई थी और दूसरी योजना का आरम्भ हो रहा था। अवदी कांग्रेस सम्मेलन में भारत के आर्थिक विकास का लक्ष्य समाजवाद रक्खा गया था जिसकी पुष्टि अमृतसर सम्मेलन में की गई थी और भारतीय संसद ने भी समाजवादी नमूने का समाज स्थापित करने को सरकारी सामाजिक एवं आर्थिक नीति का लक्ष्य मान लिया था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारतीय संविधान में आवश्यक संशोधन भी हो चुके थे। स्पष्ट है कि ये सब परिवर्तन हमारी औद्योगिक नीति में भी परिवर्तनों की आवश्यकता की ओर संकेत कर रहे थे। विशेषकर जबकि दूसरी पंचवर्षीय योजना का निर्माण हो रहा था। इस प्रकार ३० अप्रैल सन् १९५६ को नई औद्योगिक नीति की घोषणा हुई। नवीन नीति के तीन मुख्य उद्देश्य हैं। पहला संविधान में निश्चित किये गये सिद्धान्त, दूसरा समाजवादी समाज की स्थापना और तीसरा गत औद्योगिक विकास के अनुभव। भारतीय संविधान के अनुसार सरकारी औद्योगिक नीति का आधार इस प्रकार है, "भौतिक साधनों का स्वामित्व एवं नियन्त्रण अधिकतम सामुदायिक समानता लाने के लिए होना तथा अर्थ व्यवस्था का संचालन जन साधारण के हितों के विरुद्ध न हो और न धन और उत्पत्ति के साधन सीमित क्षेत्र में केन्द्रित हों।"

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सरकार निश्चित रूप से औद्योगिक क्षेत्र में बढ़ती जा रही थी और निजी उपक्रम का क्षेत्र नियन्त्रणों द्वारा सीमित किया जा रहा था। क्योंकि समाजवादी समाज की स्थापना के लिये यह आवश्यक था कि देश का आर्थिक विकास एवं औद्योगीकरण, विशेष रूप से भारी उद्योगों और यन्त्र निर्माण उद्योगों का, तीव्र गति से हो। सभी समस्याओं पर विचार करने तथा नियोजन आयोग से परामर्श करने के पश्चात् नवीन नीति में सरकार ने उद्योगों को तीन भागों में बाँटा है। इस वर्गीकरण में यह सम्भव है कि कुछ उद्योग दो भागों में आ जावें परन्तु भावी औद्योगिक विकास योजना के अनुसार हो होगा और उसमें संविधान के सिद्धान्तों और समाजवादी समाज की स्थापना का ध्यान रखा जायगा। सरकार को यह स्वतन्त्रता है कि वह किसी भी उद्योग को अपने नियन्त्रण में ले सकती है। इस प्रकार सरकारी उद्योगों का क्षेत्र इस नीति के अनुसार और भी अधिक विस्तृत हो गया है। इस नीति के अनुसार उद्योगों को जिन तीन वर्गों में विभाजित किया गया है वे निम्न प्रकार हैं—

(१) प्रथम वर्ग में वे उद्योग हैं जिनके भावी विकास की जिम्मेदारी पूर्ण

रूप से सरकार की ही होगी। इन उद्योगों की सूची, औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव की पहली अनुसूची में दी गई है। इनकी संख्या १७ है, परन्तु जहाँ पर निजी क्षेत्र में उनको स्थापित करने की स्वीकृति दे दी गई है उनका और वर्तमान औद्योगिक इकाइयों का विस्तार एवं विकास निजी क्षेत्र में ही होगा। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि जो औद्योगिक इकाइयाँ पहले से ही स्थापित हैं उनका विस्तार नहीं हो सकेगा या सरकार निजी उपक्रम के सहयोग से नई औद्योगिक इकाइयाँ नहीं स्थापित कर सकेगी। यदि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक है तो नई औद्योगिक इकाइयाँ भी स्थापित होंगी और पुरानी इकाइयों का विस्तार भी होगा। परन्तु रेल और हवाई यातायात, हथियार, बारूद और अणु शक्ति का विकास केवल केन्द्रीय सरकार के एकाधिकार में ही होगा। इन उद्योगों में भी यदि निजी क्षेत्र का सहयोग आवश्यक होगा तो सरकार ऐसा सहयोग या तो अधिकांश हिस्से खरीद कर या किसी अन्य विधि द्वारा प्राप्त करेगी ताकि इनका नियन्त्रण और नीति का निर्धारण सरकार ही के हाथ में रहे।

(२) दूसरे वर्ग में वे उद्योग होंगे जो औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव की दूसरी अनुसूची में दिये गये हैं। यह उद्योग प्रगतिशील रीति से सरकारी क्षेत्र में आते जायेंगे और इन उद्योगों की नई इकाइयाँ को साधारणतः सरकार स्वयं स्थापित करेगी। साथ ही निजी क्षेत्र को भी अवसर प्राप्त होगा कि वह इन उद्योगों का विकास और स्थापना या तो सरकारी सहायता या सहयोग से या स्वयं अपने प्रयत्नों से कर सके। इस प्रकार इन उद्योगों में सरकार और निजी क्षेत्र दोनों ही पर औद्योगिक विकास की जिम्मेदारी होगी।

(३) शेष सभी उद्योग तीसरे वर्ग में आते हैं और आशा की गई है कि इन उद्योगों का विकास साधारणतः निजी क्षेत्र द्वारा होगा। यद्यपि राज्य को भी यह अधिकार है कि वह इनमें से किसी उद्योग को भी चालू कर सके किन्तु सरकार की यह, नीति होगी कि वह निजी क्षेत्र को पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यक्रम के अनुसार इन उद्योगों के विकास करने के लिये प्रोत्साहित करेगी और यातायात, शक्ति तथा अन्य सेवाओं को उन्नत करके तथा आर्थिक सहायता देकर, सुविधाएँ प्रदान करेगी। सरकार ऐसी संस्थाएँ स्थापित करती रहेगी जो इन उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकें और औद्योगिक और कृषिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो सहकारी संस्थाएँ स्थापित होंगी उनको सरकार विशेष सहायता देगी। यदि उचित होगा तो सरकार निजी क्षेत्र को वित्तीय सहायता भी प्रदान करेगी। निजी क्षेत्र में जो औद्योगिक संस्थाएँ स्थापित होंगी वे देश की सामाजिक और आर्थिक नीति के अनुसार होंगी और उनका नियन्त्रण एवं नियमन 'उद्योग विकास और नियमन अधिनियम' तथा अन्य नियमों के अनुसार होगा। साथ ही सरकार ने यह भी स्वीकार कर लिया है कि जहाँ निजी क्षेत्र के उद्योगों का विकास राष्ट्रीय योजनाओं के कार्यक्रमों के अनुसार हो रहा है वहाँ उनको जितनी सम्भव होगी स्वतन्त्रता दी जावेगी। जहाँ एक ही क्षेत्र में सरकारी और निजी उपक्रम होंगे तो वहाँ सरकार की यह नीति होगी कि दोनों के

साथ वह एकसा ही व्यवहार करेगी।

सरकार को यह अधिकार है कि योजना को कार्यान्वित करने के लिये आवश्यकता होने पर पहले या दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वह किसी भी उद्योग को स्थापित कर सकती है। निजी क्षेत्र को भी यह स्वतन्त्रता होगी कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिय पहले वर्ग म आने वाले उद्योगो म से किसी भी उद्योग को स्थापित कर सके। साथ ही निजी क्षेत्र के छोटे छोटे कारखानो को स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिय हल्की नावे बनाना, बिजली का उत्पादन करने आदि पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होगे इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र के बड़े उद्योग अपनी छोटी छोटी आवश्यकताओं की पूर्ति निजी क्षेत्र से कर सकते है और निजी क्षेत्र अपनी बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सार्वजनिक क्षेत्र पर निर्भर रहेगा। ठीक यही सिद्धान्त छोटे और बड़े पैमाने के उद्योगों पर भी लागू होगा।

पहले और दूसरे वर्ग मे उद्योगों के नाम इस प्रकार हैं —

वर्ग १—(१) अस्त्र शस्त्र और सुरक्षा के अन्य समान, (२) अणु शक्ति, (३) लोहा और इस्पात, (४) हैवी कन्स्ट्रक्शन के माल (५) खनिज उद्योग, मशीन निर्माण और इसी प्रकार के अन्य उद्योग, (६) बड़े-बड़े विद्युत प्लान्ट्स, (७) कोयला और लिग्नाइट, (८) खनिज तेल, (९) कच्चा माल, मैंगनीज, जिप्सम, गन्धक सोना और हीरा, (१०) तांबा रांगा, जस्ता, टीन, (११) अणु-शक्ति आदेश (सन् १९५३) मे वर्णित खनिज पदार्थ, (१२) वायुयान, (१३) हवाई यातायात (१४) रेलवे यातायात (१५) जहाज निर्माण, (१६) टलीफोन और उसके तार (रेडियो को छोड कर), (१७) बिजली उत्पादन और वितरण।

वर्ग २—(१) मिनरल्स कन्सेशन रूल्स (सन् १९४९) के भाग तीन के अन्तर्गत जिन छोटे छोटे रासायनिक पदार्थों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य सभी रासायनिक पदार्थ, (२) प्रथम वर्ग में जिन धातुओं का उल्लेख हुआ है, उनके अतिरिक्त अन्य सभी लोहेतर धातुएँ अल्यूमीनियम, (३) मशीन निर्माण उद्योग, (४) लौह मिश्रण तथा औजार बनाने के काम म आने वाला इस्पात, (५) औषधियो, रगो तथा प्लास्टिक का उत्पादन करने के प्रसग मे काम आने वाले आधारभूत तथा मध्यवर्ती माल (६) एन्टीबायटिक तथा अन्य आवश्यक औषधियाँ (७) रासायनिक खाद, (८) नकली रबड, (९) कोयले से कार्बन गैस का उत्पादन, (१०) रासायनिक लुगदी, (११) सडक परिवाहन, (१२) समुद्री यातायात।

सन् १९४८ और १९५६ की औद्योगिक नीतियो की तुलना—पहली औद्योगिक नीति और वर्तमान नीति मे कुछ विशेष अन्तर है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस नीति म राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध या पक्ष म किसी प्रकार का भी कोई जिक्र नहीं किया गया है जब कि पहली नीति म यह स्पष्ट कर दिया गया था कि सरकार उद्योगो का राष्ट्रीकरण कर सकेगी। दूसरे इस नीति मे सार्वजनिक क्षेत्र को अधिक विस्तृत कर दिया गया है, यहाँ तक कि सरकार को यह भी अधिकार

है कि वह निजी क्षेत्र म भी अपने उद्योग स्थापित कर सकती है। इस नीति के अनुसार प्रथम वर्ग के १७ उद्योगो का विकास तो सार्वजनिक क्षेत्र मे होगा ही परन्तु दूसरे वर्ग के उद्योग भी प्रगतिशील रीति से सार्वजनिक क्षेत्र म आते जायेगे। किन्तु पहली औद्योगिक नीति म राजकीय उपक्रम का क्षेत्र इतना विस्तृत न था। तीसरे, उद्योगो का वर्गीकरण भी पहली नीति की अपेक्षा ढीला ढाला है। यह केवल इसीलिये किया गया है कि आर्थिक नियोजन की आवश्यकताओ के अनुसार कोई भी उद्योग किसी भी क्षेत्र म स्थापित किया जा सकता है चाहे वह किसी भी वग का हो। अन्त म, पहले वर्ग के उद्योगो की स्थापना की पूरी जिम्मेदारी यद्यपि सरकार पर होगी किन्तु आवश्यकता होने पर सरकार निजी क्षेत्र का सहयोग भी प्राप्त कर सकती है।

इस प्रकार पिछले अनुभवो और कठिनाइयो को दृष्टि म रखकर ही नई नीति म यह परिवतन हुए है। इस नीति का उद्देश्य मिश्रित अर्थ व्यवस्था स्थापित करना है। यह नीति समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य के अनुकूल है। भारतीय पृष्ठ भूमि म समाजवाद का यह अभिप्राय है कि 'साधारण जनता के सहयोग से सरकार द्वारा देश के आर्थिक जीवन का सचालन एव नियन्त्रण।' इसीलिये नई नीति म निजी क्षेत्र पर भी सरकारी नियन्त्रण को स्थान दिया गया है। इसम सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के साथ साथ निजी क्षेत्र को भी उचित स्थान दिया गया है परन्तु वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नही है बल्कि उसको योजना सम्बन्धी लक्ष्यो के अनुसार कार्य करना होगा।

आलोचना—इस नीति की भी बहुत कडे शब्दो म आलोचना की गई है। डा० मथाई इस नीति के सबसे बडे विरोधी हैं। यद्यपि वह इस बात से सहमत है कि आर्थिक क्षेत्र म राज्य हस्तक्षेप आवश्यक है जैसे यातायात के क्षेत्र म परन्तु निजी उपक्रम की स्वतन्त्रता एक साधारण नियम रहना चाहिय और राष्ट्रीयकरण की नीति का पालन बहुत ही कम होना चाहिये, बल्कि उस समय ही होना चाहिये जबकि यह नितान्त आवश्यक हो, क्योंकि योजना की नीति के अनुसार देश के आर्थिक विकास के निर्देशन का काय इतना बडा है कि उद्योगो की व्यवस्था एव स्वामित्व म राज्य का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप सरकार के प्रशासन और वित्त सम्बन्धी साधनो पर अनावश्यक भार डालेगा। यह आवश्यक है कि सरकार के वित्तीय और मानवीय साधन सुरक्षित रहे और वह नष्ट न हो। (डा० मथाई का विचार है कि सरकार के पास सगठन और प्रशासन सम्बन्धी साधन बहुत ही सीमित हैं और राष्ट्रीयकरण की आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिये अपर्याप्त है।) एक तो सरकारी कर्मचारी वैसे ही अपने निर्णयो म बहुत देर लगाते है, परम्पराओ पर अवलम्बित रहते हैं, उनका दृष्टिकोण अति कानूनी होता है, वह प्रयोग और परिवर्तन जिनसे प्रेरणा प्राप्त होती है जोखिम सहन करने की शक्ति आती है, लोच पूर्णत उत्पन्न होती है, से बहुत अधिक डरते हैं, त्रुटियाँ करते है और द्रव्य नष्ट करते हैं जो सफल औद्योगिक उपक्रम के लिये आवश्यक होते हैं। साथ ही भारतवर्ष मे तो

सरकारी कर्मचारियों का स्तर और भी अधिक गिरता जा रहा है।

डा० मथाई ने इसीलिये विवेचनात्मक राष्ट्रीयकरण (Discriminating Nationalisation) की नीति का पक्षपात किया है अर्थात् (अ) राष्ट्रीयकरण का क्षेत्र बहुत ही सीमित रहना चाहिए, (ब) यह केवल विशेष उद्योगों के सम्बन्ध में ही लागू होना चाहिये, (स) इसका निर्माण सिद्धान्त के रूप में नहीं होना चाहिये बल्कि किसी विशेष उद्योग की वास्तविक कठिनाइयों पर यह नीति आधारित हो, और (द) राष्ट्रीयकृत उद्योगों को विशेष स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

डा० मथाई की दलीलों में कोई विशेष तत्व नहीं है। उनका यह कहना कि सरकार उद्योगों को निजी उपक्रम के लिये छोड़ दे क्योंकि नियोजन का कार्य बहुत ही पेचीदा और भार युक्त है, भी ठीक नहीं है, क्योंकि नियोजन कार्य के पेचीदा होने के कारण ही तो यह आवश्यक है कि सरकार स्वयं उत्पादन कार्य करे क्योंकि इसमें शंका है कि निजी उपक्रम इन जिम्मेदारियों को पूरा कर पायगा या नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उचित कर्मचारियों की बहुत कमी है परन्तु समय के साथ-साथ यह कमी भी पूरी हो जायेगी। जहाँ तक राज्य द्वारा संचालित संस्थाओं में कार्य कुशलता की कमी का सम्बन्ध है उसमें भी यह कहना अनुचित न होगा कि वास्तव में निजी संस्थाओं के कर्मचारियों की त्रुटियाँ और कमजोरियाँ उद्योगपति जनता के सामने रखने की कोई आवश्यकता नहीं समझता और इसलिये उनका ज्ञान किसी को भी नहीं हो पाता। दूसरी ओर सरकारी कर्मचारियों की त्रुटियाँ शीघ्र ही जनता के सामने आ जाती हैं और उनकी उचित जाँच पड़ताल भी की जाती है। ये विचार श्री देशमुख ने भारतीय संसद के सम्मुख रखे थे जो बिल्कुल सही हैं। इन्होंने भी डा० मथाई की तरह अर्धस्वतन्त्र राजकीय उद्योग जो सरकार के नियन्त्रण से काफी सीमा तक मुक्त रहेंगे, स्थापित करने का प्रस्ताव किया था।

कुछ लोगों का, जिनमें डा० मथाई भी एक हैं विचार है कि समाजवादी व्यवस्था के लिए यह आवश्यक नहीं है कि राज्य उद्योगों का संचालन करे। प्रजातान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि आधार उद्योगों और सेवाओं पर राज्य का स्वामित्व न हो। नई नीति के अनुसार केवल कुछ महत्वपूर्ण उद्योग ही सार्वजनिक क्षेत्र में सम्मिलित नहीं किए गए हैं बल्कि ऐसी भी व्यवस्था की गई है कि राज्य आगे चल कर निजी क्षेत्र के उद्योगों को भी चला सकती है। यह निश्चय ही है कि ऐसी नीति उद्योगपतियों को कभी भी उद्योगों में भाग लेने को प्रोत्साहित न कर पायेगी क्योंकि उनको सदैव ही इस बात का भय रहेगा कि न जाने कब उस उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो जाये। दूसरी अनुसूची में जो उद्योग हैं उनमें उद्योगपति इसलिये भाग लेते हुए डरेंगे कि वे राज्य से प्रतियोगिता नहीं कर सकते। इसलिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में एक स्पष्ट तथा निश्चित नीति घोषित की जाये। परन्तु सच तो यह है कि ऐसी नीति निर्मित नहीं हो सकती, क्योंकि राज्य किस उद्योग को चलाने पर मजबूर होगा यह परिस्थितियाँ ही बता सकेंगी और यदि देखा जाय तो वर्तमान नीति भी बुरी नहीं है, क्योंकि उद्योगपतियों का डरने ही

रहना ठीक होगा। यही जनता के हित में भी है क्योंकि इस डर से वे अनुचित क्रियाएँ नहीं कर पायेंगे और कुशलता का स्तर भी बनाये रखेंगे। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में निजी उपक्रम के लिये काफी आश्वासन दे दिया गया है कि योजना के लक्ष्यों और उद्देश्यों की पूर्ति के अतिरिक्त उनको पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जायेगी और जिन उद्योगों में निजी और सरकारी दोनों ही संस्थायें कार्य करेंगी उनमें दोनों ही से सरकार समान व्यवहार करेगी।

समाजवादी समाज के समर्थकों का दूसरी ओर यह कहना है कि निजी क्षेत्र को जो स्थान दिया गया है वह अनुचित और अनावश्यक है। सीमेन्ट तथा अन्य महत्वपूर्ण उद्योगों को निजी उपक्रम के हाथों में छोड़ दिया गया है। पहली अनुसूची वाले उद्योगों में भी राज्य निजी उपक्रम का सहयोग प्राप्त कर सकता है, पूर्णत अनुचित है। इन आलोचकों के अनुसार निजी उपक्रमों को आर्थिक सहायता देने वाली बात भी भली नहीं लगती। नये प्रस्ताव में इन लोगों के अनुसार एक कमी यह भी है कि राष्ट्रीयकरण की कोई तिथि निश्चित नहीं की गई और इस प्रकार निजी उपक्रमों को जो अनिश्चित जीवन दान दिया गया है वह सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के हित में नहीं है। कुछ लोगों का तो कहना यहाँ तक है कि निजी क्षेत्र से जो कुछ एक हाथ से छीना गया था वह दूसरे हाथ से उसी को लौटा कर दे दिया गया है।

यदि निरपेक्ष दृष्टि से देखा जाये तो औद्योगिक नीति पूर्ण रूप से समय अनुकूल है। इस समय सरकार के सम्मुख इतनी विषम समस्याएँ हैं कि पूर्ण राष्ट्रीयकरण की नीति को अपनाना सम्भव नहीं है। हर क्षेत्र में आदर्शवादिता से काम नहीं होता। हमारे पास इतने साधन भी नहीं कि उद्योगों का पूर्ण रूप से राष्ट्रीयकरण किया जा सके, न ही मुआवजा देने के लिये सरकार के पास इतना धन है और न ही उनकी उचित व्यवस्था करने के लिये उचित कर्मचारी ही। इसलिए वर्तमान नीति व्यवहारिकता की दृष्टि से उत्तम है।

भारत में राजकीय उद्योग—निम्न पृष्ठों में हम कुछ उन महत्वपूर्ण उद्योगों तथा सेवाओं के बारे में बतायेंगे जिनको सरकार अपने देश में कर रही है। राजकीय उपक्रम मुख्यतया तीन प्रकार के हैं। प्रथम जिनकी व्यवस्था सरकार के विभिन्न विभागों द्वारा की जा रही है। दूसरे जिनकी व्यवस्था ऐसी कम्पनियों द्वारा की जा रही है जिनमें सरकार का हाथ अधिकतर है और तीसरे ऐसे उपक्रम जिनकी व्यवस्था वैधानिक मडलों द्वारा की जाती है।

वास्तव में सरकारी विभागों द्वारा जिन उद्योगों की व्यवस्था की जाती है उनमें एक तो सरकारी हस्तक्षेप बहुत अधिक होता है, निर्णय लेने में बहुत अधिक देर लगती है और सामान्य रूप से कुशलता बहुत कम होती है। सरकारी विभागों के कर्मचारी न तो नया पग उठाने की चेष्टा करते हैं और न ही उनको कोई प्रेरणा मिलती है, जो किसी भी संस्था की सफलता के लिए विशेष वस्तु है। यह कहना उचित ही है कि "विभागीय प्रबन्ध एक सामान्य नियम न बन कर केवल एक अपवाद

भारत में सरकार जिन उद्योगों को चला रही है, वे निम्न प्रकार हैं—

रेलें—भारत में प्रारम्भ में रेलें निजी व्यक्तियों द्वारा चलाई जाती थी, परन्तु सन् १६४४ से भारत सरकार ने इन्हें पूर्णरूप से अपने हाथ में ले लिया है। केवल कुछ छोटी रेलें ऐसी हैं जिनकी व्यवस्था आज भी निजी कम्पनियों द्वारा की जा रही है। रेल मन्त्रालय रेलों का बजट तैयार करता है जो पूर्णरूपेण केन्द्रीय बजट से अलग रहता है। इनमें ६·५ लाख व्यक्ति काम कर रहे हैं और इनमें सरकार के ६४७ करोड़ रुपये लगे हुए हैं। नियोजन कार्यक्रम में रेलों के विकास का एक प्रमुख स्थान है।

तार एवं डाक—आरम्भ से ही भारत में, यह सेवायें राज्य प्रदान कर रहा है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल के अन्त तक भारत में डाकघरों की कुल संख्या ५६००० हो जायेगी। वर्तमान स्थिति की अपेक्षा दूसरी योजना में, तारघरों की संख्या में १४०० की और टेलीफून कनेक्शनों में १,८०,००० की वृद्धि हो जायेगी। यह स्पष्ट ही है कि भारत की आर्थिक उन्नति इन सेवाओं के बिना बिल्कुल भी सम्भव नहीं है।

सिन्दरी रसायनिक खाद फैक्ट्री—खाद्यान्न नीति कमेटी (१६४३) की सिफारिश के अनुसार दिसम्बर सन् १६५१ में बिहार में २३ करोड़ रुपये की लागत से सिन्दरी फैक्ट्री स्थापित की गई थी। यह अनुमान था कि इसकी उत्पादन शक्ति प्रथम योजना के अन्त तक, ३१५००० टन रसायनिक खाद उत्पन्न करने की होगी, परन्तु सन् १६५५ के अन्त में इसका कुल उत्पादन ३२०००० टन हो गया था। दूसरी योजना-काल में इसकी उत्पादन शक्ति में ६०% की वृद्धि करने का लक्ष्य है। इस कार्य के लिए ७ करोड़ रुपयों का अतिरिक्त व्यय किया जायेगा। इसकी गौण वस्तुओं (by-products) का उपयोग अन्य उद्योगों में किया जाता है जैसे सीमेन्ट उत्पादन।

चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स—यह फैक्ट्री १५ करोड़ रुपयों की लागत से चालू की गई है। यह १५० इन्जन प्रति वर्ष बना रही है और आशा है कि दूसरी योजना तक यह २५० इन्जन प्रतिवर्ष बनाने लगेगी। एक इन्जन की लागत लगभग ६.५ लाख रुपये है परन्तु आशा है कि निकट भविष्य में ही इसकी लागत लगभग ५.३ लाख रुपये रह जायेगी।

पेरम्बूर कोच फैक्ट्री, मद्रास—यह फैक्ट्री स्विस फर्म की सहभागिता में स्थापित की गई है। इसका लक्ष्य ३५० डिब्बे प्रतिवर्ष बनाने का है। यह आशा है कि इसमें लगभग ४००० व्यक्तियों को नौकरी मिलेगी।

हिन्दुस्तान, मशीन, टूल फैक्ट्री बंगलौर—यह फैक्ट्री भी स्विस फर्म की सहयोगिता में स्थापित की गई है।

इसके अतिरिक्त सरकार की अन्य फैक्ट्रियाँ और कार्य कर रही हैं। सरकार देश में सिंचाई और जलविद्युत सम्बन्धी सभी योजनाओं को स्वयं ही कार्यान्वित कर रही है। सरकार ने पिछले दस वर्षों में चार परम मुख्य कार्य और किये हैं। बैंकों का राष्ट्रीयकरण, जीवन बीमे का राष्ट्रीयकरण हवाई यातायात का राष्ट्रीयकरण एवं

व्यापार मे प्रत्यक्ष भाग लेना।

वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण—वायु यातायात जाँच समिति (१६५०) की सिफारिशो की अंशत पूर्ति करते हुए सरकार ने १ अगस्त १६५३ को वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण कर लिया। इसके फलस्वरूप १ अगस्त सन १६५३ से आन्तरिक वायु सेवाओ के लिए 'इण्डियन ऐयर लाइन्स कार्पोरेशन" तथा अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेवाओ के लिय "ऐयर इण्डिया इन्टरनेशनल कारपोरेशन" का निर्माण हुआ। ये दोनों प्रमण्डल केन्द्रीय सरकार को अपनी क्रियाओं की वार्षिक योजनाएँ आर्थिक अनुमान के साथ देते है और इनके हिसाब किताब की जाँच Auditor General and Controller करता है जिसकी रिपोर्ट ससद म रक्खी जाती है। उन दोनो प्रमण्डलो की क्रियाओं म समचय लाने के लिये वायु यातायात परिषद नियुक्त की गई है जो भाडे की दरें किराया डाक शुल्क तथा वायु मार्ग सुविधाओ की उपलब्धता एव कुशलता के सम्बन्ध म सरकार को सलाह देती है। इसके साथ ही दोनो प्रमण्डलो की पृथक सलाहकार समितियाँ भी है जिनम वायु यातायात का प्रतिनिधित्व है और जो प्रबन्धको के सामने अपने दृष्टिकोण रखती हैं।

बैंको का राष्ट्रीयकरण—सरकार ने सर्व प्रथम सन् १६४६ मे रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण किया था। अपनी स्थापना के पन्द्रह वर्षों तक रिजर्व बैंक का कार्य पूर्ण रूपेण सतोषजनक नही रहा और वह अपने दायित्वो को भी भली भाँति पूरा नही कर पाई थी। देश मे मूल्य स्तर दिन प्रतिदिन बढता जा रहा था। इसीलिए सरकार को यह पग उठाना पडा। दूसरी लडाई के बाद अधिकतर देशो में युद्ध के कारण मौद्रिक प्रणालियो एव आर्थिक सस्थाओं म उत्पन्न होने वाली बुराइयो को दूर करने के लिये केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया है। इसीलिय भारत सरकार को भी यह उपाय लेना ही पडा। नियोजन काय प्रारम्भ होते ही रिजर्व बैंक पर जिम्मेदारियो का बोझा बढता ही गया। सरकार को अधिक धन की भी आवश्यकता हुई। देश की ८०% जनता ग्रामो मे रहने के कारण और कृषि की स्थिति मे प्रशसात्मक सुधार न हो पाने के कारण और ग्रामीण साख की उचित व्यवस्था, सहकारी आन्दोलन द्वारा न हो पाने के कारण रिजर्व बैंक के दायित्वों की उचित पूर्ति के लिये इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके और अन्य दस बैंको को मिलाकर स्टेट बैंक सन् १६५५ मे स्थापित किया गया। इसके उपर ४०० शाखाएँ पाच वर्षों म खोलने का वैधानिक दायित्व है।

जीवन बीमे का राष्ट्रीयकरण—भारत सरकार ने सन १६५६ मे जीवन बीमे का राष्ट्रीयकरण किया। जिस कार्य के लिए भारतीय ससद ने मई सन १६५६ म एक कानून बनाया गया था। पूर्व वित्त मन्त्री श्री देशमुख न इस सम्बध मे सरकार के विचारो का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था कि, हम अपने इस निणय मे किसी सिद्धान्त रूपी नापसन्दगी स प्रभावित नही हुए हैं। यदि ऐसा होता तो हमने सामान्य बीमा (General Insurance) जैसे बडे क्षेत्र को स्वतन्त्र नही छोडा होता। हमारा एक सकारात्मक (Positive) दृष्टिकोण, और इस सबध मे, यदि मैं

कहूँ, तो एक निर्माणात्मक (Creative) दृष्टिकोण है। हमे पूर्ण विश्वास है कि जीवन बीमा का काम करने वाली अनेको कम्पनियो, कुछ अच्छी, कुछ मामूली अच्छी, और एक बडी सख्या मे न इतनी अच्छी और न इतनी अधिक खराब, को हम एक शक्तिशाली और सक्रिय सगठन मे बाँध सके जो सम्पूर्ण देश मे जनता के प्रत्येक वर्ग की बचतो को गतिशील बनाकर, उनको सुरक्षित रख कर कुशलतापूर्वक बीमा सुविधाएँ उपलब्ध करने योग्य है।" इसी प्रकार कृष्णामाचारी ने भी कहा था कि, "बीमा पर नियन्त्रण रखने के लिए अनेको वैधानिक उपाय हमारे सामने रहे, परन्तु हमारा अनुभव यही है कि वैधानिक नियन्त्रण प्रभाव रहित हो गया है ......अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर दो कारणो से आए हैं ...... एक तो नकारात्मक कारण—निमित व्यक्तियो के कोषो का दुरुपयोग, और दूसरा एक सकारात्मक कारण—हम कोई ऐसा सकारात्मक झाडियो का घेरा नही बना पाये, जिसको पार नही किया जा सके।" इस प्रकार बीमा कम्पनियो की कमजोरियो को दूर करने के लिये और दूसरी योजना की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये सरकार के पास राष्ट्रीयकरण के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नही था। राष्ट्रीयकरण के मुख्य कारण निम्न प्रकार बताए गए है —

(१) (अ) जीवन बीमा व्यवसाय एक प्रकार की सामाजिक सेवा है जिस का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नही बल्कि केवल राष्ट्रीय हित की वृद्धि करना होना चाहिए। इसलिय अन्य सामाजिक सेवाओ की भाँति इस सेवा को भी राज्य को ही करना चाहिए।

(ब) इस समय जीवन बीमा व्यवसाय राष्ट्रीयकरण का इसलिये भी आवश्यक था कि सरकार को द्वितीय पचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के लिये बहुत अधिक धन की आवश्यकता थी। बीमा कम्पनियो को बीमित व्यक्तियो से वार्षिक किश्त के रूप मे जो धन प्राप्त होता है उसकी सख्या करोडो मे होती है। इस धन को प्राप्त करके सरकार बहुत सी आर्थिक कठिनाइयो से बच जाएगी।

(स) जीवन बीमा कम्पनियो के खर्चे उनकी आय की अपेक्षा बहुत अधिक थे और यह आवश्यक सा होता जा रहा था कि उनके अनावश्यक खर्चो एव अपव्यय को कम किया जाए। राष्ट्रीयकरण से उन मध्यस्थो की सख्या भी बहुत कम हो गई है जिनके ऊपर कम्पनियो को बहुत खर्चा करना पडता था। इस प्रकार राष्ट्रीयकरण से बीमा सम्बन्धी खर्चे बहुत कम हो गए हैं।

(द) बीमा कम्पनियो के कार्य सचालन मे बहुत सी कुरीतियाँ प्रचलित हो गई थी। इनके पास जो इतनी बडी मात्रा मे धन आता था उसका यह उचित उपयोग नही कर रही थी जैसा कि श्री देशमुख ने कहा था कि कम्पनियाँ अपने कोषो को "उन व्यवसायो की पूँजीगत आवश्यकताओ की पूर्ति मे लगाती हैं जिनमे उनके प्रबन्धकर्ता, चाहते है उपेक्षाकृत उन व्यवसायो के जो बीमित व्यक्तियो के हित मे होते हैं।" श्री देशमुख ने प्रभावशाली शब्दो मे यह स्पष्ट कर दिया था कि "जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी निर्णय लेने मे जिन बातो ने हमारे ऊपर

दबाव डाला है उनमें से एक बात कम्पनियों द्वारा शक्ति, स्थिति, और अधिकार का दुरुपयोग है, जो हमें विश्वास है कि वर्तमान स्थितियों में प्रचलित है।"

(ह) निजी व्यक्तियों द्वारा जीवन बीमा व्यवसाय किये जाने के कारण धन और आर्थिक शक्ति केवल थोड़े से ही व्यक्तियों के हाथों में एकत्रित हो रही थी जो समाजवादी नमूने के समाज के पूर्णत: विरुद्ध है।

(य) जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण से व्यक्तियों की बचतों का उचित उपयोग हो सकेगा।

श्री देशमुख ने आलोचकों को यह आश्वासन दे दिया था कि जीवन बीमा से प्राप्त धन का विनियोग पहले ही की भाँति निजी उद्योगों में ही होता रहेगा और सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में इस धन का अधिक प्रयोग नहीं होगा। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि जिन उद्योगों में इस धन का विनियोग होगा उनका रूप पहले से भिन्न हो। इसलिये जीवन बीमा के राष्ट्रीयकरण से यह सम्भव नहीं है कि सार्वजनिक क्षेत्र की आय के क्षेत्र बहुत अधिक बढ़ जायें, और ऐसा करने के लिए, यह स्पष्ट ही है कि हमको बीमा का आकार बढ़ाना ही होगा।

आलोचकों का यह कहना भी उचित नहीं है कि राष्ट्रीयकरण के बाद जीवन बीमा व्यवसायों की कुशलता कम हो जाएगी। इस सम्बंध में श्री देशमुख ने कहा था कि व्यवसाय की कुशलता को बनाए रखने के लिये पुराने कर्मचारी ही काम करते रहेंगे। इसके अतिरिक्त अब यह भी सम्भव हो सकेगा कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी जीवन बीमा सम्बन्धी सेवायें प्रदान की जा सकें।

जीवन बीमा प्रमण्डल अधिनियम, जो सन् १९५६ में बना था, उसके अनुसार सम्पूर्ण जीवन बीमा व्यवसाय एक वैधानिक प्रमण्डल को सौंप दिया गया है। इस प्रमण्डल को जीवन बीमा प्रमण्डल का नाम दिया गया है। उस समय यह आशा थी कि यह प्रमण्डल अपने कर्तव्यों का पालन सुचारु रूप से करेगा और जीवन बीमा व्यवसाय में उन्नति होगी परन्तु यह हमारा दुर्भाग्य है कि प्रमण्डल ने बड़ी लापरवाही से काम किया है। जीवन बीमा व्यवसाय में कमी होने के साथ साथ उसके कोषों का भी दुरुपयोग हुआ है। प्रमण्डल ने हरीदास मुदरा की कम्पनियों के हिस्सा में जो अपने कोषों का विनियोग किया है वह कितना अनुचित और व्यापारिक सिद्धान्तों के विरुद्ध था यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है और इससे यह पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया है कि आलोचकों के भय निराधार नहीं थे। प्रमण्डल की असफलता से अन्य राष्ट्रीयकृत उद्योगों के विरुद्ध भी आलोचना करने का पूरा अवसर अब आलोचकों को मिल गया है। परन्तु वास्तव में जीवन बीमा प्रमण्डल की असफलताओं से अन्य वैधानिक प्रमण्डलों को काफी सीखना चाहिए और उनको भविष्य में अधिक सतर्कता से काम लेना चाहिए।

अध्याय ५

सामाजिक सुरक्षा

(Social Security)

प्राक्कथन—

हममें से प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ खतरों का भय हर समय बना रहता है और यह भी सच है कि हममें से कोई भी व्यक्ति व्यक्तिगत रूप में या अकेले ही इन खतरों के विरुद्ध अपनी रक्षा करने योग्य नहीं है, क्योंकि हमारे आर्थिक एवं व्यक्तिगत साधन बहुत ही सीमित हैं। इसलिये यदि इन खतरों से सुरक्षित रहने की व्यवस्था सामूहिक रूप से की जाये तो प्रत्येक व्यक्ति को न तो इतना धन ही खर्च करना पड़ेगा और न ही उसके जीवन में इतनी अनिश्चितता रहेगी। सरकार ही एक ऐसी संस्था है जो सामूहिक रूप से एक ऐसे साधन का आयोजन कर सके जिससे प्रत्येक व्यक्ति इन खतरों के विरुद्ध सुरक्षित रहे। इस प्रकार की सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था ही को 'सामाजिक सुरक्षा' कहते हैं। दूसरे शब्दों में सामाजिक सुरक्षा समाज द्वारा व्यक्तिगत सदस्यों के लिये एक ऐसी व्यवस्था है जिससे उनकी भावी खतरों से रक्षा हो सके और जिनसे वे व्यक्तिगत रूप में अपने सीमित साधनों से सुरक्षा नहीं कर सकते।

वर्तमान औद्योगिक जगत में सामाजिक सुरक्षा का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। यह शब्द अतिव्यापक है और इसके अन्तर्गत सामाजिक बीमा और सामाजिक सहायता दोनों ही की योजनायें सम्मिलित की जाती हैं। कभी-कभी लोग सामाजिक बीमा का अभिप्राय सामाजिक सुरक्षा से ही लेते हैं परन्तु वास्तव में ये दोनों एक नहीं हैं। सामाजिक बीमा केवल सामाजिक सुरक्षा की एक शाखा है। सामाजिक बीमा एक ऐसी रीति है जिसमें श्रमिकों, मालिकों और सरकार के सहयोग और अंशदान से एक कोष स्थापित किया जाता है और बेकारी, बीमारी, तथा अन्य कठिनाइयों में इस कोष में से बीमित व्यक्ति को बिना किसी जाँच के और एक अधिकार के रूप में अनिवार्य रूप से पर्याप्त सहायता दी जाती है ताकि वह अपना न्यूनतम जीवन स्तर बनाये रख सके। Beveridge ने सामाजिक बीमा का वर्णन इस प्रकार दिया है, "अंशदान के बदले में किसी व्यक्ति को बिना किसी शर्त के और इस प्रकार कि जैसे उसका अधिकार हो उसको जीविका स्तर तक लाभ

प्रदान करना ताकि वह स्वतन्त्रतापूर्वक उसका प्रयोग कर सके। इस प्रकार सामाजिक बीमा म दोना बाते आती हैं, कि एक तो यह अनिवार्य है और दूसरी यह कि मनुष्य अपने साथियो के साथ मिलकर खडे होते है।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक बीमा की योजना विभिन्न पक्षो के अशदानो पर आधारित होती है। सामाजिक बीमा की मुख्य विशेषतायें निम्न प्रकार हैं —

सामाजिक बीमा की विशेषतायें—१ सवप्रथम एक कोष स्थापित किया जाता है जिसम श्रमिका, मालिको और सरकार के अशदान जमा होते रहते हैं। श्रमिकों का भाग सबसे कम होता है। श्रमिका को जो कुछ भी लाभ प्राप्त होते हैं उनका भुगतान इसी कोष से किया जाता है।

२ यह स्वाभाविक ही है कि श्रमिको के अशदान और उनको प्राप्त होने वाले लाभो के बीच कोई विशेष सम्बन्ध नही है। दूसरे शब्दो म श्रमिकों को प्राप्त होने वाले लाभा की मात्रा उनके अशदान से निर्धारित नही की जाती।

३ प्राप्त होने वाले लाभो की सीमाये निश्चित ही रहती हैं ताकि आय के पूर्ण या आंशिक अभाव मे उनको कम से कम इतना मिल सके कि वे अपना न्यूनतम जीवन स्तर बनाये रख सके।

४ लाभ प्रदान करते समय श्रमिको की आय, हैसियत आदि के बारे मे कोई भी जाच पडताल नही की जाती। यह लाभ उनको ऐसे प्रदान किये जाते हैं जैसे कि यह उनका अधिकार है कि वे इन लाभो को प्राप्त करे। ऐसा करने से श्रमिको की भावनाओं और आत्म सम्मान को कोई ठेस नही पहुँचती।

५ अन्त में सामाजिक बीमा अनिवार्य रूप से प्रदान किया जाता है ताकि प्रत्येक व्यक्ति को ही उससे लाभ प्राप्त हो सके।

सामाजिक बीमा तथा सामाजिक सुरक्षा में भेद—अब हम इस स्थिति में हैं कि सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा के भेद को स्पष्ट कर सकें। सामाजिक सुरक्षा के अन्तर्गत राज्य अपने कोष मे से उन श्रमिकों को आर्थिक सहायता प्रदान करता है जो इस योग्य होते हैं। सामाजिक बीमा का क्षेत्र अतिसीमित होता है और इसी कारण सामाजिक मुक्ति (Social Relief) की योजना इसके अतिरिक्त और चलाई जाती है, तब कही सामाजिक सुरक्षा का कार्य पूरा हो पाता है। इस प्रकार इन दोनो मे निम्न भेद हैं —

(अ) सामाजिक सुरक्षा म पूरी सहायता राज्य द्वारा ही प्रदान की जाती है, परन्तु सामाजिक बीमा में राज्य केवल आंशिक सहायता ही देता है।

(ब) सामाजिक सुरक्षा में, उल्लिखित शर्तों के अनुकूल प्रत्येक श्रमिक को ही लाभ प्राप्त होते हैं, परन्तु सामाजिक बीमा मे केवल अशदान देने वाले श्रमिको को ही लाभ प्राप्त होते हैं।

(स) सामाजिक सुरक्षा में पूरी जाँच पडताल के बाद और पूर्व निश्चित शर्तों के आधीन ही आर्थिक सहायता दी जाती है, जबकि सामाजिक बीमा मे ऐसा कुछ नही होता।

स्पष्ट है कि सामाजिक बीमा योजना केवल उन्ही स्थानों एव उद्योगों में व्यावहारिक रूप धारण कर सकती है जहाँ श्रमिक शिक्षित हैं, सुसगठित हैं और जिनके हृदय मे अपने भविष्य को सुरक्षित करने की लग्न है। दूसरी ओर इसका विपरीत दशाओं मे सामाजिक सुरक्षा योजना सफल होती है। इसके अतिरिक्त कुछ खतरे ऐसे होते है, जिनको केवल सामाजिक बीमा से ही दूर किया जाता है, और कुछ खतरे एसे हैं जिनको दूर करना बिना राज्य की सहायता के असम्भव होता है। बीमा योजना उन्ही लाभो के सम्बन्ध म बहुधा कार्यान्वित की जाती है, जहाँ इस बात का डर है कि व्यक्ति अपने नुकसानो को बढा चढा कर बतायेंगे या सामान्य कोष का अनुचित उपयोग करेंगे। दूसरी ओर सामाजिक सहायता एव मुक्ति केवल उसी समय दी जाती है जहाँ सारे व्यक्तियों को ही लाभ प्रदान करने का उद्देश्य होता है, जैसे शिक्षा केन्द्र, अस्पताल, प्रसव केन्द्र (maternity centres) इत्यादि।

सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी विचार का उदगम—सामाजिक सुरक्षा, किसी न किसी रूप म हर समय मे ही प्रस्तुत की जाती रही है। प्राचीन काल म केवल निर्धनो को आर्थिक सहायता दी जाती थी। परन्तु समय के साथ-साथ सामाजिक सहायता के आकार और रूप म वृद्धि हुई और आज सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना प्रत्यक राज्य का ही परम कर्तव्य हो गया है। सर्वप्रथम १८८१ म जर्मनी के राजा William प्रथम ने अपने मन्त्रालय से यह अनुरोध किया था कि वह सामाजिक बीमा सम्बन्धी योजनाओं को स्वीकार करले। सच तो यह है कि कल्याणकारी राज्य के विचार के साथ-साथ ही सामाजिक सुरक्षा का भी उद्गम हुआ है। एक कल्याण-कारी राज्य का मुख्य उद्देश्य आर्थिक सुरक्षा, प्रदान करना है। बेकारी, बीमारी या बुढापे में वह मौद्रिक सहायता देता है, बीमारी मे निःशुल्क चिकित्सा सुविधाएँ प्रदान करना है। इस प्रकार शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और बुढापे सम्बन्धी सामाजिक सेवाएँ प्रदान करने वाला राज्य ही कल्याणकारी राज्य है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन (International Labour Organisation) की स्थापना से सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी सेवाओं को और भी अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के बाद से तो इन सेवाओं का महत्व और भी अधिक हो गया है। ससार के लगभग प्रत्येक देश में राज्य ऐसी सेवाओं की व्यवस्था कर रहा है। कुछ देशो मे तो सामाजिक बीमा योजना तैयार करके कार्यान्वित भी की जा चुकी है जैसे, इङ्गलैण्ड म Beveridge योजना, कनाडा मे Marsh रिपोर्ट, सयुक्त राज्य अमेरिका मे Murray Dingell Bill, भारत मे Adarkar रिपोर्ट इत्यादि। निम्न पृष्ठों मे हम पहले बैवरिज योजना के बारे मे कुछ बतायेंगे, क्योंकि उसी के आधार पर भारत म भी Adarkar योजना बनाई गई थी।

बैवरिज योजना (Beveridge Plan)—इगलैंड म औद्योगिक क्रान्ति के कारण श्रम आन्दोलन तनिक जल्दी आरम्भ हो गया था और श्रमिकों की जागृति के कारण सामाजिक सुरक्षा की योजनायें बहुत पहले हो आरम्भ हो गई थी। वृद्ध आयु

पेन्शन की योजना सन् १९०८ में ही चालू हो चुकी थी। इसी प्रकार सन् १९११ में अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा, सन् १९१६ में बेकारी के विरुद्ध अनिवार्य राज्य बीमा योजनायें चलाई गई। सन् १९२५ में अंशदानों के आधार पर वृद्ध माताओं और गरीब बच्चों के लिये पेंशन की योजना चलाई गई और चोट इत्यादि के विरुद्ध पहला श्रमिकों का मुआवजा अधिनियम (Workmen's Compensation Act) १९०६ ही में बन चुका था। यह सारी योजनायें राज्य द्वारा चलाई गई थी परन्तु इनके अतिरिक्त ऐसी योजनायें भी थीं जो सेवायोजकों ने चला रखी थीं। इन योजनाओं में सबसे बड़ा दोष यह था कि इनमें कोई समन्वय नहीं था और यह प्रत्येक व्यक्ति को लाभ भी प्रदान नहीं करती थी। इसलिये इग्लैंड की सरकार ने जून सन् १९४१ में Sir William Beveridge की नियुक्ति की। इनका काम तत्कालीन योजनाओं के सम्बन्ध में जाँच करना था और उनमें सुधार लाने के लिये अपने सुझाव देना था। Beveridge ने अपनी रिपोर्ट दिसम्बर सन् १९४२ में प्रस्तुत की। इनके अनुसार "पुनर्निर्माण की राह में ५ देवों में से, आवश्यकता या कमी केवल एक ही देव है और कुछ प्रकार से इस पर आक्रमण करना सबसे सरल है। बीमारी, अज्ञानता, दरिद्रता और सुस्ती अन्य देव हैं।" इस प्रकार बैवरिज ने अपनी योजना में दो मुख्य बातों का समावेश किया है। प्रथम, यह कि सामाजिक बीमा सुविधायें प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिये और सारे लाभों के लिये केवल एक ही योजना चलाई जाये। दूसरे, बैवरिज ने इस बात का भी प्रयत्न किया है कि सामाजिक सुरक्षा का एक न्यूनतम राष्ट्रीय स्तर अवश्य ही निश्चित रहना चाहिये ताकि प्रत्येक व्यक्ति को हर समय में कुछ न कुछ सहायता अवश्य ही मिलती रहे और इस प्रकार राष्ट्रीय आय में किसी प्रकार की भी कमी उत्पन्न न हो। सारांश में बैवरिज की योजना तीन मान्यताओं पर आधारित है। प्रथम, यह कि एक निश्चित आयु तक प्रत्येक बच्चे के पालन पोषण का दायित्व श्रमिक पर न होकर राज्य पर होना चाहिये क्योंकि एक तो श्रमिक की आय वैसे ही कम होती है और यदि उन पर बच्चों की भी जिम्मेदारी होगी तो बच्चों में कुशलता बिलकुल भी नहीं आ पायेगी। इसलिये राज्य को इनका पालन पोषण करना चाहिये और आयु के अनुसार बच्चों को आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिये और यह सहायता उनको ऐसे प्रदान की जाये जैसे कि यह उनका जन्म अधिकार है। दूसरे यह कि योजना में सारी ही समाज सुरक्षा सम्बन्धी सेवाओं में एकरूपता लाई गई है और सम्पूर्ण योजना राष्ट्रीय आधार पर चलाने की सिफारिश बैवरिज ने की है। उनका ख्याल है कि राज्य को ऐसी दशायें उत्पन्न करनी चाहिये जिसमें बीमारी और अयोग्यता उत्पन्न ही न हो और यदि हों भी तो राज्य को ही उनके लिये उचित प्रबन्ध भी करना चाहिये। सारे ही व्यक्तियों को चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें मिलनी चाहियें और इनका सम्बन्ध पीड़ित व्यक्ति की आर्थिक स्थिति से नहीं होना चाहिये। इनका व्यय समाज को ही पूरा करना चाहिये क्योंकि यदि ऐसा न होगा तो व्यक्तियों की कार्य कुशलता गिरती जायेगी और बेकारी बढ़ती जायेगी। इसीलिये बैवरिज योजना में सामाजिक बीमा सम्बन्धी

खर्चों के अतिरिक्त सभी सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी सेवाओं के लिये निश्चित अंशदान देना पड़ता है और तत्पश्चात उनको सारी सेवायें नियमित रूप से मिलती रहती है। अन्तिम मान्यता यह है कि इंगलैंड में धीरे धीरे पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करनी होगी क्योंकि बिना इसके योजना सफल नहीं हो सकेगी।

योजना का कार्यक्षेत्र—यह योजना इतनी विस्तृत है कि लगभग सारे ही व्यक्ति इसके अन्तर्गत लाभ प्राप्त करते हैं और लगभग सारे ही खतरों के विरुद्ध समाज के सदस्यों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है इस उद्देश्य के लिए जनता को ६ वर्गों में विभाजित किया गया है—(१) श्रमिक (२) सेवा योजक, (३) गृहणियाँ जो पैन्शन पाने वाली आयु से कम आयु की है और जो अच्छी नौकरी पर नहीं लगी हुई हैं, (४) अन्य व्यक्ति जो काम करने योग्य आयु के तो हैं परन्तु लाभप्रद नौकरियों पर नहीं लगे हुए हैं, (५) १६ वर्ष की आयु से नीचे के बच्चे अर्थात् जो काम करने योग्य नहीं हैं और (६) ऐसे व्यक्ति जो रिटायर हो चुके हैं। इस प्रकार समाज के लगभग प्रत्येक व्यक्ति को ही किसी न किसी रूप से लाभ प्राप्त होगा। यदि कोई व्यक्ति धनी है और इस योग्य है कि वह अपना प्रबन्ध कर सके तो इन सेवाओं का लाभ प्राप्त करना उसके लिये अनिवार्य नहीं है परन्तु उसे अपना अंशदान अवश्य ही देना पड़ेगा। यह अंशदान तीन वर्गों के लोगों से नहीं लिया जाता, अर्थात बच्चों से, पैन्शन प्राप्त होने वाले व्यक्तियों से और गृहणियों से। अंशदान की दर ४ शि० ३ पें० प्रति पुरुष और ३ शि० ६ पें० प्रति स्त्री है। सेवा योजकों के लिये अंशदान की दर ३ शि० ३ पें० प्रति पुरुष और २ शि० ६ पें० प्रति स्त्री है।

योजना से प्राप्त होने वाले लाभ—

(१) गृहणियों को लाभ—प्रत्येक गृहणी को ६ प्रकार के लाभ प्राप्त करने का अधिकार है—(अ) १० पौं० प्रति व्यक्ति शादी के लिये, (ब) प्रसव सहायता ४ पौं० तक, और यदि कोई गृहणी किसी लाभप्रद व्यवसाय में काम कर रही है तो उसको १३ सप्ताह तक ३६ शि० प्रति सप्ताह अतिरिक्त प्रसव सहायता प्राप्त होगी, (स) विधवा होने की अवस्था में ३६ शि० प्रति सप्ताह की दर से १३ सप्ताह तक विधवा सहायता दी जाती है, (द) विधवा स्त्री को २४ शि० प्रति सप्ताह से शिशु सहायता प्राप्त होगी जब तक कि बच्चा नाबालिग रहेगा। इसके अलावा विधवा स्त्री उस सहायता की भी अधिकारी है जो शिशु को अपनी ओर से प्राप्त होगी। यदि विधवा स्त्री के कोई शिशु नहीं है तो उसको एक कलात्मक कार्य सीखना होगा जिसके लिये उसे आर्थिक सहायता दी जायेगी, (ह) यदि किसी स्त्री को बिना किसी दोष के तलाक मिल गया है तो उसको वह सारी सुविधायें मिलेंगी जो कि एक विधवा स्त्री को दी जाती हैं और (य) बीमारी की अवस्था में उसको बीमारी भत्ता के रूप में आर्थिक सहायता दी जायेगी।

(२) शिशु भत्ते—योजना के अनुसार पहले शिशु के अतिरिक्त अन्य निर्भरकर्त्ता शिशुओं को ८ शि० प्रति शिशु के हिसाब से दिया जायेगा। यदि शिशु के

माता पिता की आय बिल्कुल भी नही है तो पहले शिशु का भी भत्ता मिलेगा। यह भत्ता सभी व्यक्तियों के लिए समान है चाहे वह धनी हो या निर्धन।

(३) बेकारी एव बीमारी सहायता—प्रत्येक बेरोजगार व्यक्ति को २४ शि० प्रति सप्ताह की दर से दिया जायगा। यदि स्त्री पुरुष दोनो ही बेरोजगार हैं तो दोनो को ४० शि० प्रति सप्ताह दिया जायेगा। यदि कुटुम्ब म दो बच्चे भी हैं तो सहायता की दर ५० शि० प्रति सप्ताह हो जायेगी। यदि कोई व्यक्ति ६ महीने तक बराबर बेरोजगार रहता है तो उसको किसी यन्त्रात्मक दीक्षा केन्द्र (Technical Training Centre) म दीक्षा प्राप्त करनी होगी। दीक्षा अवधि में उसे भत्ता प्राप्त होगा जो बेरोजगारी भत्ता के बराबर होगा। इसी प्रकार बीमार व्यक्ति को भी बीमारी भत्ता प्राप्त होता है और चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ अलग प्रदान की जाती है।

(४) श्रमिकों को चोट आदि का मुआवजा—यदि कोई श्रमिक चोट के कारण कुछ समय के लिए काम करने योग्य नही रहता तो उसे १३ सप्ताह तक बीमारी भत्ता दिया जायेगा, तत्पश्चात यह भत्ता बढा दिया जाता है और उसकी राशि प्रारम्भिक मजदूरी की ⅔ कर दी जाती है। यदि किसी श्रमिक की मृत्यु हो जाती है तब उसके बच्चो को एक दम ३०० पौंड प्रति निर्भरकर्ता की दर से आर्थिक सहायता दी जायेगी। योजना म अन्तिम क्रियाकर्म के लिए भी व्यवस्था की गई है।

(५) वृद्ध अवस्था पेन्शन—प्रत्येक पुरुष को ६५ वर्ष की आयु पर और स्त्री को ६० वर्ष की आयु पर २४ शि० प्रति सप्ताह के हिसाब से पेन्शन मिलेगी और विवाहित स्त्री पुरुष दोनो को मिला कर केवल ४० शि० प्रति सप्ताह मिलेगा।

सरकार ने बैवरिज योजना को स्वीकार करते हुए समय-समय पर विभिन्न नियमो द्वारा योजना को कार्यरूप देने का प्रयत्न किया है। कुटुम्ब भत्ता योजना सन् १९४६ से चल रही है और प्रति शिशु को, प्रथम शिशु को छोड कर, ८ शि० प्रति सप्ताह के हिसाब से सहायता प्राप्त हो रही है। इसी प्रकार राष्ट्रीय बीमा सगठन द्वारा राष्ट्रीय बीमा योजना चलाई गई है। यह योजना भी १९४६ में एक अधिनियम के आधीन आरम्भ हुई है। परन्तु समय समय पर इसमे उचित सशोधन किए जा चुके है। इस योजना में प्रत्येक व्यक्ति को, केवल वृद्ध व्यक्ति, बच्चो, विवाहित स्त्रियो और निम्न आय वाले व्यक्तियो को छोड कर अशदान प्रति सप्ताह देना पडता है और बीमित व्यक्ति को ७ प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं अर्थात बीमारी सहायता, बेकारी सहायता, प्रसव सहायता, विधवा सहायता, मृत्यु सहायता, नौकरी समाप्त होने के बाद पेन्शन और सरक्षक भत्ता (Guardian's Allowance)। इसके अतिरिक्त औद्योगिक चोटो म भी आर्थिक सहायता मिलती है। इसी प्रकार जुलाई सन् १९५० में औद्योगिक चोट बीमा योजना, श्रमिको के मुआवजा अधिनियम के स्थान पर चलाई गई थी। इस योजना के आधीन काम करने की अवधि म जो चोट लगती है या बीमारियाँ उत्पन्न होती है उन सभी के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति चोट से अपाहिज हो जाता है या उस

की मृत्यु हो जाती है तो उसके निर्भरकर्ताओं को आर्थिक सहायता दी जाती है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय सहायता के लिए राष्ट्रीय मुक्ति अधिनियम (National Relief Act) सन् १९४८ में बनाया गया था। राज्य द्वारा जितने प्रकार की भी सुविधाएँ प्राप्त हो रही थीं वे अब एक स्थान पर एकत्रित कर दी गई हैं और उनका सचालन अब राष्ट्रीय मुक्ति सगठन (National Relief Organisation) द्वारा सम्पन्न किया जाता है। बिना घर के व्यक्तियों को रहने के लिये स्थान और वृद्ध और अपाहिज व्यक्तियों को सुविधाएँ दी जाती हैं। इसी प्रकार राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा के अन्तर्गत ग्रेट ब्रिटेन के नागरिकों को चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें प्रदान की जाती है। यद्यपि अधिकांश व्यय राज्य द्वारा किया जाता है, फिर भी सेवा प्राप्त करने वाले व्यक्ति को भी कुछ सेवा के बदले में देना पड़ता है। समय समय पर इस सम्बन्ध में अधिनियम बनाये गये हैं और इस योजना का प्रबन्ध राष्ट्रीय बीमा मन्त्रालय द्वारा किया जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि बैवरिज योजना सामाजिक सुरक्षा के लिये एक ऐसी योजना है जिसमें व्यक्ति की सुरक्षा गर्भ से मृत्यु तक होती है। यदि ब्रिटेन जैसे पूँजीवादी देश में इस योजना को पूर्णरूप से कार्यान्वित कर दिया गया तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रिटेन में पूर्णरूप से एक समाजवादी प्रणाली स्थापित हो जायेगी। यद्यपि योजना अपने उद्देश्यों में बहुत अच्छी है परन्तु देखना यह है कि पूर्ण रोज़गार की स्थापना हो पाती है या नहीं। सच तो यह है कि जैसी ब्रिटेन की स्थिति इस समय है उसको देखते हुए यह योजना केवल एक कल्पनामात्र दीखती है। परन्तु जो कुछ व्यावहारिकता में प्राप्त हो चुका है उससे तो यही सिद्ध होता है कि बैवरिज योजना पूर्णरूप से कार्यान्वित हो जायेगी, यद्यपि समय अनुमान से अधिक लगेगा।

संयुक्त राज्य में सामाजिक सुरक्षा—संयुक्त राज्य अमेरिका में सामाजिक सुरक्षा का कार्य राष्ट्रीय आधार पर केवल सन् १९३५ में ही आरम्भ किया जा सका, यद्यपि सामाजिक बीमा योजनायें प्रत्येक राज्य में १८वीं शताब्दी के अन्त में ही चालू हो गई थी। सन् १९३५ में एक अधिनियम बनाया गया जिसका उद्देश्य "श्रमजीवियों को आय की उस हानि से बचाना है जो वृद्धावस्था या कुटुम्ब में आयकर्त्ता की मृत्यु के कारण उत्पन्न होती है।" इस अधिनियम में कुछ कठिनाइयाँ थीं, इसीलिये सन् १९४३ में एक अधिक व्यापक एवं विस्तृत अधिनियम बनाया गया जिसके अनुसार वृद्ध अवस्था, अयोग्यता बीमा, बेकारी बीमा, प्रसव बीमा और चिकित्सा आदि की व्यवस्था की गई। इस योजना में श्रमिकों, सेवायोजकों और राज्य को अंशदान देना पड़ता है। इस योजना में अन्धे और निर्भरकर्त्ता बच्चों के लिए भी सहायता देने की व्यवस्था की गई है। इसके बाद Wagner Murray Dingell Committee की सिफारिशों के अनुसार तीन अधिनियम बनाये गये थे, अर्थात् The United States Public Health, Services Act 1944, The United tates Social Security Amendment Act 1946, और The United States

Employment Act 1946 । इन अधिनियमों में समय समय पर संशोधन किए जाते रहे हैं और वर्तमान स्थिति के अनुसार इस समय श्रमिकों को निम्न चार भागों में विभाजित करके सहायता दी जाती है —

(अ) यातायात उद्योगों में काम करने वाले श्रमिक जिनके अन्तर्गत वृद्ध आयु, अपाहिजता, मृत्यु बेकारी, बीमारी, प्रसव और रोजगार सम्बन्धी चोटों आदि की व्यवस्था की जाती है (ब) औद्योगिक एवं वाणिज्यिक श्रमिकों के लिये रिटायर होने के बाद मृत्यु बेकारी और रोजगार की चोटों आदि के लिये व्यवस्था की गई है, (स) कृषिक और घरेलू कार्यकर्ताओं के लिये वृद्ध अवस्था और मृत्यु और (द) वह श्रमिक जो स्वयं अपना काम करते हैं उनके लिये वृद्ध अवस्था और मृत्यु के पश्चात् बच्चों का बीमा आदि की व्यवस्था की गई। संयुक्त राज्य में अधिकतर योजनायें राज्य द्वारा चलाई जा रही हैं और इनके लिये वित्त की व्यवस्था भी राज्य ही करता है। कुछ योजनाएँ श्रमिकों एवं सेवायोजकों से अंशदान प्राप्त करके पूरी की जाती हैं।

जापान में सामाजिक सुरक्षा—एशिया के देशों में सामाजिक बीमा के क्षेत्र में जापान का प्रमुख स्थान है। जापान ने इस क्षेत्र में अच्छी प्रगति की है। यहाँ पर स्वास्थ्य बीमा योजना कल्याण पेंशन बीमा योजना श्रमिकों के मुआवजा सम्बन्धी बीमा योजना और बेकारी बीमा योजना चल रही है। स्वास्थ्य बीमा योजना के अतिरिक्त सभी योजनाओं का प्रबन्ध सरकार करती है। स्वास्थ्य बीमा योजना स्वास्थ्य बीमा समितियों द्वारा चलाई जा रही हैं। जापान में माझियों के लिये भी बीमा योजना बनाई गई है जिसकी व्यवस्था Welfare Ministry द्वारा की जा रही है और इसमें माझियों से अंशदान लिया जाता है।

भारत में सामाजिक सुरक्षा—ऐसी ही योजनायें लगभग सारे ही देशों में कार्यान्वित की गई हैं। भारत में भी सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी योजनाओं को कार्य-रूप दिया गया है। ये योजनायें भारत जैसे देश के लिये पर्याप्त तो नहीं हैं लेकिन फिर भी इनसे श्रमिकों को कुछ लाभ अवश्य प्राप्त हो रहे हैं। भारत में ऐसी योजनाओं की आवश्यकता बहुत अधिक है। जनता की अत्यधिक निर्धनता बीमारियों की बढ़ती हुई संख्या एवं क्षेत्र, माताओं और शिशुओं की बहुत ऊँची मृत्यु दर, जीवन की थोड़ी आयु और बेकारी और कम रोजगारी से उत्पन्न होने वाली विपतायें साथ ही साथ पुश्तैनी ऋण-ग्रस्तता इन सभी से यह सिद्ध होता है कि भारत में सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था की बहुत अधिक आवश्यकता है। भारत में आधुनिक औद्योगिकरण से अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। औद्योगिकरण से जो सामाजिक और आर्थिक असतुलन उत्पन्न हुआ है उससे असुरक्षा और निर्धनता बढ़ती ही जा रही है। संयुक्त परिवार प्रणाली के समाप्त हो जाने से तो यह सामाजिक समस्याएँ और भी बढ़ गई हैं और जिन स्थानों पर य प्रणाली चल भी रही है वहाँ यह अधिक शक्तिशाली नहीं हैं, क्योंकि घोर निर्धनता ने इसकी कमर तोड़ दी है। इसलिये अब समाज का ही यह कर्तव्य हो जाता है कि बेकारी बृ

अवस्था, अपाहिजता, बीमारी, जल्दी मृत्यु, औद्योगिक चोटों आदि से उत्पन्न होने वाली बुराइयों तथा परेशानियों का समाधान करे।

भारत में सामाजिक सुरक्षा का इतिहास लगभग ३० वर्ष पुराना है। सरकार का ध्यान सर्वप्रथम बीमारी बीमा की ओर आकर्षित हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के १९२७ के सम्मेलन के प्रस्ताव के अनुसार भारतीय संसद ने सन् १९२८ में बीमारी बीमा पर काफी सोच विचार किया था परन्तु कोई विशेष परिणाम नहीं निकल पाया। इसके बाद श्रम पर शाही आयोग ने स्थिति को समझते हुए इस बात की सिफारिश की कि वर्तमान कठिनाइयों को दूर करने के लिये सारे उपायों को कार्य रूप देने के लिये सरकार को आवश्यक आंकड़े प्राप्त करना चाहिये। उस समय तक के लिये जब तक कि कोई विस्तृत योजना तैयार हो, आयोग की सिफारिश थी कि एक आन्तरिक योजना सामाजिक सुरक्षा के लिये चालू कर दी जाय। यह योजना मुख्यतया इस मान्यता पर आधारित थी कि चिकित्सा सम्बन्धी लाभ प्रदान करने का दायित्व सरकार पर है और धन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व सेवा योजकों और श्रमिकों दोनों पर है। इस योजना के अनुसार एक कोष स्थापित होना जिसमें श्रमिकों की मजदूरियों में से अनिवार्य रूप से काटे गये अंशदानों को जमा कर दिया जाता और इन्हीं अंशदानों के बराबर या अधिक सेवा योजकों से प्राप्त अंशदानों को भी उसमें जमा कर दिया जाता। बीमारी की अवधि में इस कोष में से मजदूरी दी जाती। इस रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद भारत सरकार, विभिन्न राज्यों के श्रम मन्त्रालय, विभिन्न त्रिदलीय सभाओं, राज्यों की श्रम जाँच समितियों और कुछ व्यक्तियों ने व्यक्तिगत रूप में अपनी-अपनी बुद्धि अनुसार अनेकों प्रयत्न किये परन्तु कुछ भी हाथ नहीं आया। इस पर भारतीय सरकार ने यह निश्चय किया कि एक सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी विस्तृत योजना तैयार करने का काम एक विशेष अफसर को सौंपा जाय। तदनुसार सन् १९४३ में इस कार्य के लिये प्रो० अडारकर की नियुक्ति की गई जिन्होंने भारत में औद्योगिक श्रमिकों की बीमारी बीमा सम्बन्धी योजना पर अपनी रिपोर्ट १५ अगस्त १९४४ को प्रस्तुत की।

अडारकर योजना—प्रो० अडारकर की स्वास्थ्य बीमा योजना केवल स्वास्थ या बीमारी से ही सम्बन्धित न थी, बल्कि यह एक विस्तृत योजना है, जिसके अन्तर्गत औद्योगिक चोटों आदि के विरुद्ध सुरक्षा के लिये व्यवस्था की गई है। उनका विचार था कि इस योजना को कार्यान्वित करने से पहले, एक बेकारी बीमा योजना चालू की जाय और उद्योगों के विकास की ओर पूरा ध्यान दिया जाय। वृद्ध अवस्था पेंशन की व्यवस्था की जाय और एक राष्ट्रीय स्वास्थ्य आन्दोलन की स्थापना की जाय। प्रो० अडारकर के यह विचार पूर्णतया सत्य थे और महत्वपूर्ण भी, क्योंकि बिना इनके एक शक्तिशाली बीमारी बीमा योजना की व्यवस्था होना असम्भव था। प्रो० टॉज़िग का भी विचार है कि 'बीमारी बीमा उतना ही आवश्यक है जितना चोटों का बीमा'। भारत में तो इसकी आवश्यकता विशेष रूप से है क्योंकि यहाँ तो बीमारी बहुत ही अधिक है। योजना की मुख्य विशेषतायें निम्न प्रकार हैं —

(अ) योजना बड़ी ही सरल, साधारण एवं स्पष्ट है।

(आ) यह अनिवार्य है और अंशदानों पर आधारित है।

(इ) तत्कालीन श्रम सम्बन्धी नियम इस योजना के अंग हैं।

(ई) इसका कार्य संचालन अपव्ययी नहीं है।

(उ) यह योजना केवल औद्योगिक चोटों को ही कम नहीं करेगी, वरन् औद्योगिक शान्ति भी स्थापित करेगी।

(ऊ) यह योजना अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के प्रस्तावों के अनुसार बनाई गई है और इतनी लोचपूर्ण है कि परिवर्तन किये जा सकते हैं।

अडारकर योजना में २०० रु० महावार तक पाने वाले प्रत्येक श्रमिक को लाभ प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी। योजना के लिए आवश्यक वित्त की पूर्ति श्रमिकों और सेवायोजकों के संयुक्त अंशदानों द्वारा होती। श्रमिकों से प्रत्येक माह यह अंशदान प्राप्त किया जायगा जिसके वसूल करने की जिम्मेदारी सेवायोजकों पर होगी। योजना से नकद लाभ किसी भी श्रमिक को उसी समय प्राप्त हो सकता था जब कि उसने छः माह तक अपना अंशदान दिया हो। स्थायी श्रमिक को ९० दिन तक और अस्थायी श्रमिक को केवल ४५ दिन तक ही नकद लाभ प्राप्त होगा। आकस्मिक (Casual) श्रमिक को केवल चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ ही प्राप्त होंगी। औद्योगिक क्षेत्र जनसंख्या के घनत्व के आधार पर चार वर्गों में विभाजित किये गये थे। हर क्षेत्र में चिकित्सा सम्बन्धी व्यवस्था अलग-अलग होगी।

भारत सरकार ने अडारकर योजना की व्यावहारिकता की जाँच करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के अधिकारी M Stack और R Rao को नियुक्त किया। इन लोगों ने योजना में कुछ संशोधन किये। संशोधित अडारकर योजना को सरकार ने स्वीकार करके सन् १९४८ में कर्मचारियों का सरकारी बीमा अधिनियम (Employees State Insurance Act) पास किया। इस प्रकार का अधिनियम पश्चिमी पूर्वी एशिया में पहला ही था। इससे पहले कि हम इस अधिनियम के विषय में कुछ बतायें यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विशेषज्ञों ने अडारकर योजना में जिन कारणों से संशोधन किये थे उनके विषय में कुछ बता दिया जाय।

इन विशेषज्ञों का विचार था कि प्रसव लाभ और श्रमिकों के मुआवजे सम्बन्धी व्यवस्था को भी इस योजना में सम्मिलित कर लिया जाय। इन लोगों का यह भी विचार था कि इस योजना में शारीरिक श्रमिकों के साथ-साथ मानसिक श्रमिकों को भी लाभ प्रदान किये जायें और बीमा योजना की उन सारी शाखाओं को जिसमें चिकित्सा की आवश्यकता होती है एक साथ मिला देना चाहिए जैसे बीमारी प्रसव और चोटें। इसके अतिरिक्त इन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि राज्य को करों से प्राप्त आय में से इस योजना के लिये आर्थिक सहायता देनी चाहिए। श्रमिकों को नकदी में जो लाभ प्रदान किये जायें वह पर्याप्त मात्रा में हो; कुटुम्ब को एक इकाई माना जाये और प्रबन्ध सम्बन्धी जो नियम बनाये जायें वे साधारण और सरल होने चाहिये। इसी प्रकार ये लोग अडारकर की इस बात

से भी सहमत नही थे कि चिकित्सा सम्बन्धी सहायता के लिये एक स्वतन्त्र योजना बनाई जाये, क्योंकि ऐसी योजना को व्यावहारिक रूप देने मे अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न होगी, जैसे —

(अ) ऐसी योजना की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि जो प्रमाण पत्र (certificate) दिये जायें वे सच्चे हों। यह काम स्वास्थ्य बीमा अधिकारी भली-भाँति कर सकते हैं क्योकि सम्पूर्ण योजना पर ही उनका नियन्त्रण रहेगा।

(ब) स्वास्थ्य बीमा योजना में डाक्टरों से पर्याप्त चिकित्सा सेवाये प्राप्त की जा सकती हैं।

(स) किसी भी स्वतन्त्र स्वास्थ योजना मे मानवता को वह महत्व नही दिया जाता जो स्वास्थ्य बीमा योजना मे दिया जाता है। इसीलिये यह आवश्यक है कि स्वास्थ्य बीमा योजना राष्ट्रीय स्तर पर चलाई जाये।

(द) एक स्वतन्त्र स्वास्थ सेवा औद्योगिक बीमारियों का इलाज करने और रोकने में भी सफल नहीं होगी।

(ह) ऐसी योजना अपव्ययी भी होगी।

इन्ही कारणो से भारत सरकार ने अडारकर द्वारा प्रस्तावित स्वतन्त्र चिकित्सा सहायता की योजना को स्वीकार नही किया और इन विशेषज्ञों की सिफारिशो के अनुसार अधिनियम बनाया।

कर्मचारियों का सरकारी बीमा अधिनियम सन् १९४८—इस अधिनियम के आधीन ६ अक्टूबर १९४८ को बीमा प्रमण्डल का उदघाटन हुआ। इस प्रमण्डल की सचालक समिति के ३८ सदस्य है, जिसम केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों, सेवायोजकों और मजदूरो के प्रतिनिधि हैं। इसमें भारतीय ससद और डाक्टरों के भी प्रतिनिधि हैं। प्रमन्डल का शासन प्रबन्ध एक स्थायी समिति करती है जिसके १३ सदस्य हैं जो ३८ सदस्यो मे से चुने जाते हैं और इसम मजदूरो और सेवायोजकों के प्रतिनिधियों की सख्या बराबर बराबर होती है। चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायो का आयोजन करने और सलाह देने के लिये सन् १९४८ मे डाक्टरों की एक चिकित्सालाय सभा बनाई गई थी जिसके २८ सदस्य हैं। केन्द्रीय सरकार को प्रमन्डल के हिसाब किताब की जाच कराने तथा प्रमुख अधिकारियों को नियुक्त करने का पूरा अधिकार है। प्रमन्डल के शासन की पूरी जिम्मेदारी प्रमुख सचालक की है जिसकी सहायता के लिये ४ प्रमुख अधिकारी हैं। प्रमुख सचालक सम्पूर्ण शासन सम्बन्धी कार्यवाहियाँ प्रादेशिक तथा स्थानीय कार्यालयो द्वारा करता है। इस कार्य के लिये प्रादेशिक सलाहकार परिषद भी बनाये गये हे जिसमें प्रान्तीय सरकार, मजदूरों और सेवायोजको के प्रतिनिधि होते हैं।

अधिनियम से प्राप्त होने वाले लाभ—यह अधिनियम भारत के ४००) रुपयों से कम मासिक मजदूरी पाने वाले मजदूरो पर लागू होता है। यह उन सभी कारखानों पर लागू किया गया है जो साल भर चलते हैं, जिनमे शक्ति का प्रयोग होता है और जिनमे २० या २० से अधिक व्यक्ति कार्य करते हैं। यह योजना

अनिवार्य है और अधिनियम मे आने वाले प्रत्येक श्रमिक का बीमा अनिवार्य रूप से किया जायेगा। अधिनियम मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि आवश्यकता होने पर सरकार इस अधिनियम को उन कारखानो पर भी लागू कर सकती है जो साल में कुछ ही महीने चलते हैं। सितम्बर सन् १६५१ म औद्योगिक मजदूरो को स्वास्थ्य एव औषधि सम्बन्धी लाभ देने के लिये इस अधिनियम मे सशोधन किये गये। प्रारम्भिक स्थिति म केवल स्वास्थ्य एव चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ मजदूरो को दी जायेगी। यह सुविधाये निम्न प्रकार है —

(अ) चिकित्सा तथा औषधि और स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य सुविधाये।

(ब) औद्योगिक मजदूरो के स्वास्थ्य के सम्बन्ध म उचित जानकारी प्राप्त करने के लिये शासकीय व्यवस्था की जायेगी जिसका कर्तव्य सरकार का ध्यान मजदूरो के स्वास्थ्य की ओर आकर्षित करना तथा उसको सुधारने के लिये आवश्यक सलाह देना होगा। सशोधित योजना के अनुसार एक बीमा कोष बनेगा। सम्पूर्ण योजना लागू होने पर मजदूरो और सेवायोजको इत्यादि के चन्दे से मिलकर जो आय प्राप्त होगी उसकी वार्षिक राशि २.०५ करोड रुपया होगी। मजदूरो और सेवायोजको से प्राप्त अशदान के अतिरिक्त केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो, स्थानीय सस्थाओं या किसी व्यक्ति या सस्था से प्राप्त होने वाले दान या आर्थिक सहायता आदि भी इस कोष मे सम्मिलित कर दिये जायेगे। राज्य सरकारें भी इस योजना मे वित्तीय सहायता देंगी और बीमित व्यक्तियो की चिकित्सा सम्बन्धी खर्चों मे इनका अनुपात ½ होगा। इन खर्चों का ⅔ भाग केन्द्रीय सरकार पूरा करेगी। केन्द्रीय सरकार ने यहाँ तक कह दिया है कि यदि प्रान्तीय सरकार चाहे तो केन्द्रीय सरकार उनको ⅓ भाग की पूर्ति के लिये भी ऋण प्रदान कर सकती है।

अधिनियम पूरा लागू होने पर औद्योगिक मजदूरो को निम्न सुविधायें मिलेगी —

	सुविधाएँ	समय	लाभ की दर
१	बीमारी सम्बन्धी सुविधाएँ	प्रत्येक वर्ष म ८ सप्ताह तक	साप्ताहिक मजदूरी का ७/१२ अश।
२	प्रसव सबंधी सुविधाएँ	१२ सप्ताह तक	१२ आने प्रतिदिन की दर से अथवा बीमारी सम्बन्धी सुविधाओ की दर से (जो भी अधिक हो)।

सुविधायें	समय	लाभ की दर
३ अयोग्य मजदूरों के लिये सुविधाएं		
(अ) स्थायी अयोग्यता की दशा मे		
(i) सपूर्ण क्षति के लिये	आजीवन	साप्ताहिक मजदूरी का ७/१२ अश।
(ii) आशिक अयोग्यता के लिये	इस दशा मे Workmen's Compensation Act के अनुसार	Workmen's Compensation Act के अनुसार।
(ब) अस्थायी अयोग्यता के लिये	अयोग्यता जब तक रहे तब तक	साप्ताहिक मजदूरी का ७/१२ भाग।
४. मजदूरों के निर्भर कर्त्ताओं के लिये	(i) मजदूर पर निर्भर कर्त्ता विधवा स्त्री के लिये उसकी मृत्यु तक अथवा पुनर्विवाह की अवधि तक।	(i) उसकी मजदूरी के ३/५ की दर से यदि दो विधवाएं हैं तो इस दर का आधा आधा।
	(ii) उसके वैधानिक उत्तराधिकारी के लिये १५ वर्ष की आयु तक और यदि वह पढ रहा है तो १८ वर्ष की आयु तक।	(ii) मृतक की मजदूरी के २/५ भाग की दर से प्रत्येक उत्तराधिकारी को।
	(iii) मृतक की वैधानिक लडकी के लिये १५ वर्ष की आयु तक या विवाह होने तक (जो भी कम हो) और यदि वह शिक्षा पा रही है तो १७ वर्ष की आयु तक।	(iii) मृतक की मजदूरी का २/५ की दर से प्रत्येक बेटी को।
५. औषधि एव चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ	मजदूरों के ठीक न होने तक।	साधारण औषधालयों की सुविधा मिलेगी।

अर्थ-प्रबन्ध—जैसा कि बता चुके हैं इन सुविधाओं पर जो खर्चा होगा उसकी व्यवस्था के लिए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो से प्राप्त सहायता, धर्मार्थ सहायता, मजदूरो और सेवायोजकों के चन्दों को जमा करके कर्मचारियों का सरकारी बीमा-कोष स्थापित किया गया है। प्रत्येक वर्ष जो आय प्राप्त होगी वह इसी कोष म जमा होती जायेगी। मजदूरो को चन्दा देने के लिए उनका विभाजन ८ वर्गों म किया गया है। मजदूरों और सेवायोजको की दरें निम्न प्रकार हैं—

मजदूरी की दर	मजदूरो का चन्दा	सेवायोजको का चन्दा	योग
१ दैनिक मजदूरी　१) स कम	—	०—७—०	०—७—०
२　,,　,,　१) से १॥) तक	०—२—०	०—७—०	०—६—०
३　,,　,,　१॥) से २) तक	०—४—०	०—८—०	०—१२—०
४　,,　,,　२) से ३) तक	०—६—०	०—१२—०	१—२—०
५　,,　,,　३) से ४) तक	०—८—०	१—०—०	१—८—०
६　,,　,,　४) से ६) तक	०—११—०	१—६—०	२—१—०
७　,,　,,　६) से ८) तक	०—१५—०	१—१४—०	२—१३—०
८　,,　,,　८) से अधिक किन्तु ४००) मासिक से कम	१—४—०	२—८—०	३—१२—०

सन् १९५१ के संशोधन के अनुसार सभी सेवायोजको को अपने कारखाने म दी जाने वाली कुल मजदूरी का ०.७५% की दर स चन्दा देना पड़ता है। जिन क्षेत्रा मे सुविधायें प्रदान की जा रही हैं वहा क सेवायोजको के लिए चन्दे की दर सम्पूर्ण मजदूरी का १.२५% है। सेवायोजको को बीमा योजना वाले क्षेत्रा म मजदूर मुआवजा अधिनियम तथा प्रसव लाभ अधिनियम के अन्तर्गत सुविधायें देने की आवश्यकतायें नहीं हैं। इसीलिए उनके चन्दे की दर ½% अधिक है। बीमित व्यक्तियों क कुटुम्ब क सदस्यो को चिकित्सा लाभ प्राप्त होने के बाद विशेष अंशदानो की दर उन क्षेत्रों म जहाँ योजना लागू नहीं हुई है ०.७५% से बढकर १.७५% हो गई है और योजना वाले क्षेत्रों मे १.२५% से ३.५% हो गई है।

अधिनियम म बीमारी और प्रसव लाभो को प्राप्त करने के सम्बन्ध मे कुछ शर्तें भी लागू की गई हैं। यदि बीमित व्यक्ति ने लगातार २६ सप्ताह तक (इस काल को अंशदान काल कहा गया है) अंशदान दिया है तो उसको बाद के २६ सप्ताह तक (जिसको लाभकाल कहा गया है) बीमारी या प्रसव लाभ प्राप्त होगा। अयोग्यता, निर्भरकर्त्ताओं तथा औषधि लाभो के सम्बन्ध म ऐसी कोई शर्त नहीं है। आजकल यह योजना ५८ केन्द्रो म चल रही है और लगभग १२ लाख मजदूरो को लाभ प्रदान कर रही है।

योजना को कार्यान्वित करने मे कुछ कठिनाइयाँ ऐसी उपस्थित हुई हैं जिनके

कारण योजना की प्रगति कोई विशेष नही हो पाई है। सेवायोजकों ने इस सम्बन्ध म अपनी आपत्ति दिखलाई है, क्योंकि एक तो उनके खर्चे बहुत अधिक बढ गए है, दूसरे उनको श्रमिकों से चन्दा वसूल करने मे (जिसकी जिम्मेदारी उन्ही पर है) बहुत कठिनाइयाँ हुई है। श्रमिक भी इस योजना से सतुष्ट नही है। उनकी असतुष्टी का पहला कारण तो यह है कि वह चाहते हैं कि योजना के लाभ उनके कुटुम्ब के सदस्यो को भी प्राप्त हो, जो आरम्भ मे सम्भव नही था परन्तु अभी हाल मे ही यह सुविधा प्रदान कर दी गई है। दूसरा कारण यह है कि मजदूर चाहते है कि उनको अधिक अच्छे अस्पतालों की सुविधा प्राप्त हो और प्रमण्डल अपने अस्पताल खुद खोले। तीसरे, मजदूरो का यह भी कहना है कि जो प्रगतिशील सेवायोजक उच्च प्रकार की चिकित्सा सेवाये प्रदान कर रहे हैं, योजना चालू होने के बाद उनमे कोई कमी नही होनी चाहिये। उनका यह भी कहना है कि प्रमण्डल के प्रबन्ध मे उनका और अधिक प्रतिनिधित्व होना चाहिए। इस योजना को सफल बनाने में कई प्रकार की अडचनें आई है जैसे, चिकित्सको का अभाव, दफ्तरो और दवाईखाना (Dispensaries) आदि के लिए स्थानो का अभाव। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारो ने भी यह शिकायत की है कि चिकित्सा सम्बन्धी खर्चों का जो भाग उनको देना पडता है वहुत अधिक है।

मजदूरो का मुआवजा अधिनियम (Workmen's Compensation Act)—औद्योगिक उत्पादन मे मशीनो और शक्ति के बढते हुए प्रयोग के साथ-साथ औद्योगिक चोटो और दुर्घटनाओ की सख्या दिन-प्रतिदिन बढती जा रही है। आजकल इन दुर्घटनाओं के परिणाम बहुत ही घातक होते है। कभी मनुष्य की मृत्यु हो जाती है और कभी मजदूर, हाथ या पाँव कटने से अपाहिज हो जाता है। इन सब चोटो का प्रभाव केवल मजदूर के जीवन पर ही नही पडता वरन् उसके परिवार के सदस्य, जो उस पर रोटी कपडे के लिए आश्रित रहते है, भी उसके साथ साथ भुगते है और अपाहिज होते है। पाश्चात्य देशों में मशीनो का उपयोग अपनी चरम सीमा पर होने के कारण, वहाँ के उद्योगपतियों ने बहुत पहले ही समस्या की विषमता को समझकर इन दुर्घटनाओ से मजदूर और उसके परिवार के सदस्यो को होने वाली क्षति की पूर्ति करने की व्यवस्था आरम्भ कर दी थी। परन्तु भारत मे सन् १९२३ से पहले इस प्रकार की व्यवस्था न थी। इसके मुख्य दो कारण थे—एक तो भारत मे कारखानों की सख्या अपेक्षाकृत सीमित थी और अधिकतर वस्तुओं का उत्पादन छोटे पैमाने पर बिना मशीनों की सहायता के किया जाता था। मशीनो की बनी हुई वस्तुएँ अधिकतर विदेशो से आयात किया जाता था। इस प्रकार दुर्घटनाओ की सख्या बहुत कम थी। दूसरा कारण यह था कि विदेशी सरकार का भारत पर आधिपत्य था जिसका मुख्य उद्देश्य विदेशियों के हित को अग्रसर करना था। अधिकतर उद्योगपति विदेशी ही थे और इस प्रकार की व्यवस्था उनके हित में नही थी। इसके अतिरिक्त सरकार की नीति उन वर्षों म सदैव पूँजीपतियो के पक्ष में ही हुआ करती थी। इसीलिए सन् १९२३ से पहले भारत मे इस समस्या की ओर ध्यान नही दिया गया।

था। गतवर्षों में औद्योगिक दुर्घटनाओं की संख्या औद्योगीकरण की प्रगति के साथ २ भारत में भी बहुत अधिक हो गई है। यद्यपि विभिन्न फैक्ट्री अधिनियमों में विभिन्न प्रकार की सुरक्षा सम्बन्धी विधियाँ जैसे मशीनों के चारों ओर घेरों की व्यवस्था आग बुझाने वाले यन्त्रों आदि की व्यवस्था अवश्य की गई है फिर भी मजदूरों की लापरवाही और अपर्याप्त सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था के कारण ऐसी दुर्घटनायें दिन प्रतिदिन होती हैं। इसीलिए भारत में भी अन्य विदेशों की भांति इसकी उचित व्यवस्था होनी चाहिए और श्रमिकों को चोटों के लिए उचित मुआवजा मिलना चाहिए। यह ध्यान रहे कि यह सहायता किसी भी प्रकार से दान के रूप में नहीं दी जानी चाहिए। यह मनुष्यता के नाते और आर्थिक दृष्टिकोण से भी न्याय-गगत है। इसके अतिरिक्त ऐसी सहायता से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के जीवन का कुछ मूल्य होता है और साथ ही साथ मजदूर को भी यह आभास होने से कि उसका जीवन सुरक्षित है, उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है और वह अपने काम को तन मन धन से करता है। यही नहीं बल्कि ऐसी व्यवस्था कारखानों के मालिकों को सतर्क बनाती है, उनको सचेत करती है कि वे दुर्घटनाओं के विरुद्ध उचित प्रबन्ध करें और मजदूरों को उचित औषिधिय सहायता की व्यवस्था करें। ऐसी व्यवस्था में इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि कारखाना छोटा है या बड़ा, खतरा कम है या अधिक, मजदूर कम मजदूरी पाने वाला है या अधिक मजदूरी पाने वाला, शारीरिक श्रम है या मानसिक श्रम और मजदूर व्यवसायिक बीमारी से पीड़ित है या औद्योगिक चोट से।

यद्यपि सन् १८८४ म श्रमिकों के मुआवजे की बात उठाई गई थी परन्तु सन् १९२३ से पहले यह सम्भव न हो सका कि मजदूर को कार्य करने की अवधि म लगने वाली चोटों के विरुद्ध मुआवजा मिल सके। श्रमिकों का मुआवजा अधिनियम में केवल उन चोटों के विरुद्ध व्यवस्था की गई है जो काम करने की अवधि म लगती हैं और व्यवसायिक बीमारियों और मृत्यु के विरुद्ध भी श्रमिकों को मुआवजा देने की व्यवस्था की गई है। यदि कोई चोट श्रमिकों की लापरवाही या नशे म होने के कारण लगती है तो कारखाने के मालिकों को मुआवजा देने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। यदि किसी मजदूर की चोट सात या सात दिन के अन्दर ही अन्दर ठीक हो जाती है तो भी मजदूर को कोई मुआवजा नहीं मिलेगा।

मुआवजों की राशि इस बात पर निर्भर करती है कि मजदूर को किस प्रकार की चोट लगी है और उसकी औसत माहवारी मजदूरी कितनी है। अधिनियम म चोटें तीन प्रकार की बताई गई हैं —ऐसी चोटें जिनसे मृत्यु हो जाये, दूसरी वे चोटें जिनसे स्थायी अयोग्यता उत्पन्न हो जाय और तीसरी वे चोटें हैं जिनसे अस्थायी अयोग्यता उत्पन्न हो। बालिग व्यक्ति की मृत्यु पर यदि उसकी आय १० रु० माहवार से कम है तो उसको ५०० रु० और यदि उसकी आय ३०० रु० प्रति माह से अधिक है तो ४,५०० रु० का मुआवजा दिया जायेगा। इस प्रकार मुआवज़े की दर बालिग व्यक्तियों की मृत्यु के सम्बन्ध म ५०० रु० से ४,५०० रु० तक है।

इसी प्रकार बालिग व्यक्तियों को स्थायी रूप से अपाहिज हो जाने पर मुआवज़े की दर मजदूरी के अनुसार ७०० रु० से ६,३०० रु० तक होती है। नाबालिगों के सम्बन्ध में मुआवज़े की दर मृत्यु होने पर २०० रु० है और पूर्णतः अपाहिज हो जाने पर १२,०० रु० है। *अस्थायी अपाहिजता के लिए बालिगों और नाबालिगों* के सम्बन्ध में, १० रु० माहवार से कम मजदूरी पाने वालों के लिए मुआवज़ा केवल आधे महीने की मजदूरी होगी और १०० रु० से अधिक पाने वालों के लिये ३० रु० होगी। इस प्रकार अस्थायी अपाहिजता में मुआवज़ा की अधिकतम दर ३० रु० है और यह मुआवज़ा चोट लगने के सात दिन बाद आरम्भ होता है और अधिक से अधिक ५ वर्षों तक दिया जा सकता है। अधिनियम में इस बात की भी व्यवस्था की गई है कि मजदूर की मृत्यु के बाद उस पर निर्भर करने वाले व्यक्तियों को मुआवज़ा दिया जाये। ऐसे निर्भरकर्त्ताओं को दो भागों में बाँट दिया गया है :—
पहले वे लोग जिनको सबूत देने की कोई आवश्यकता नहीं होती कि वे मृतक पर आश्रित थे और दूसरे वे जिन्हें इस बात का सबूत देना पड़ता है कि वे मृतक पर आश्रित थे। पहले वर्ग के अन्तर्गत विधवा, नाबालिग बेटा, अविवाहित बेटी और विधवा माता है और दूसरे वर्ग में एक रडुआ, नाबालिग भाई और पिता सम्मिलित है।

इस अधिनियम में १६२३ के बाद १६२६, १६२६, १६३३, १६३७, १६३८, १६३६, १६४२ और १६४६ में संशोधन हुये हैं। नियम का कार्यक्षेत्र निम्न प्रकार है :—

(अ) यह अधिनियम उन सभी श्रमिकों पर लागू होता है जो रेलों, कारखानों और खानों में काम करते हैं। क्लर्कों, प्रशासन सम्बन्धी सेवाओं (Administrative Services), में काम करने वाले, फौजी अफसर, आकस्मिक मज़दूरों (Casual Workers) या अन्य प्रकार के व्यक्तियों जिनका माहवारी वेतन ४०० रुपये से अधिक है उनको इस अधिनियम के अन्तर्गत कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा।

(आ) यद्यपि राज्य सरकारों को इस बात का अधिकार है कि वे अन्य प्रकार के श्रमिकों पर भी यह नियम लागू कर सकती हैं परन्तु साधारणतया उन्हीं मज़दूरों पर लागू होता है जो सुसंगठित उद्योगों (Organised Industries) में काम करते हैं।

(इ) जिन श्रमिकों को अयोग्यता या निर्भरकर्त्ताओं के लाभ कर्मचारियों को सरकारी बीमा योजना के अन्तर्गत प्राप्त हो चुके हैं उनको इस नियम के अन्तर्गत कोई भी सहायता प्राप्त न होगी।

(ई) जम्मू और काश्मीर को छोड़कर यह अधिनियम भारत के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है।

(उ) मुआवज़ा केवल उसी समय दिया जाता है जबकि चोट काम करते समय लगी है और जबकि अयोग्यता की अवधि सात दिन से अधिक होती है।

को दूर करने के लिये श्रम संघों को चाहिए कि वे मजदूरों की शिक्षा का प्रबन्ध करें और सभाओं का आयोजन करके उनको अधिनियम का पूर्ण ज्ञान करायें। यदि श्रम संघ ऐसा नहीं करते तो सरकार को इस ओर पूर्ण ध्यान देना चाहिए। सरकार या श्रम संघों को चाहिए कि वे मजदूरों को मुफ्त कानूनी सलाह देने का प्रबन्ध करें। जो कुछ खर्चा हो वह राज्य सरकार द्वारा पूरा किया जाय। यह भी आवश्यक है कि अधिनियम का कार्य प्रबन्ध अधिक सरल और साधारण कर दिया जाय। अधिनियम में यह भी संशोधन किया जाय कि मुआवज़े सम्बन्धी प्रार्थना पत्र मिल मालिकों को न देकर श्रम कमिश्नर (Labour Commissioner) को दिए जायं। इसके अतिरिक्त मुआवजे की राशि में भी वृद्धि की जाए और उसका निर्धारण प्रत्येक समय के लिये समान रूप से नहीं होना चाहिए। आजकल जबकि मूल्य इतने बढ़ गए हैं और जबकि रहन-सहन इतना खर्चीला हो गया है यह आवश्यक है कि मुआवजे की राशि भी उसी अनुपात में बढ़ा दी जाय जिस अनुपात में सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि हुई है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उद्योगपतियों के दिवालिये हो जाने पर मजदूरों को मुआवजों की राशि नहीं मिल पाती है और कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि मालिकों ने मुआवजा देने में आनाकानी की है। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये सेवायोजकों की विभिन्न संस्थाओं ने इस बात पर जोर दिया है कि सेवा-योजकों के मुआवज़े के भुगतान करने की जिम्मेदारी के विरुद्ध भी बीमा किया जाये और कुछ सेवायोजकों ने इसे आरम्भ भी कर दिया है। ऐसी योजना के बहुत से लाभ हैं। प्रथम, सेवायोजक निश्चित हो जाता है और उसको यह फिकर नहीं रहती है कि उसे मुआवज़ा देना पड़ेगा और इसलिये वे मज़दूरों से होड़ भी नहीं करते और यह प्रयत्न करते हैं कि मजदूरों को पूरा मुआवज़ा मिल जाय। इस प्रकार मज़दूरों और मालिकों के बीच उत्पन्न होने वाले झगड़े भी कम हो जायेंगे। मज़दूर भी निश्चिन्त हो जाते हैं कि उनको मुआवजा मिल जायेगा। इसीलिये राज्य सरकार, श्रम जाँच समिति और सेवायोजकों के संगठनों ने यह प्रस्ताव दिया है कि सेवा-योजकों के मुआवज़ा भुगतान करने की जिम्मेदारी का बीमा अनिवार्य कर दिया जाय। कर्मचारियों के सरकारी बीमा अधिनियम (Employees State Insurance Act) में इस बात का प्रबन्ध भी कर दिया गया है जिसके अनुसार मुआवज़ा देने की जिम्मेदारी प्रमण्डल की है सेवायोजकों की नहीं। फिर यह अधिनियम तो केवल उसी समय तक के लिये है जब तक कि स्वास्थ्य बीमा योजना सम्पूर्ण भारत में लागू नहीं होती। कर्मचारियों के सरकारी बीमा अधिनियम के सारे देश में लागू होते ही इस अधिनियम का कोई महत्व नहीं रहगा।

प्रसव लाभ सम्बन्धी व्यवस्था—भारत जैसे विशाल देश में जहाँ स्त्रियों की मृत्यु दर इतनी ऊँची है, जहाँ कि स्त्रियाँ निर्धन और अज्ञानी हैं, जहाँ उनको प्रसव काल में उचित चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ और औषधि प्राप्त नहीं होती और जिसके कारण ही मृत्यु दर इतनी ऊँची है, यदि स्त्रियों को प्रसव काल में उचित

सुविधाएं न दी गई तो देश का भविष्य अधिक उज्ज्वल प्रतीत नहीं होता। स्वस्थ माता ही का शिशु स्वस्थ होता है और शिशु के स्वस्थ होने के लिये यह आवश्यक है कि माताओं के स्वास्थ्य का प्रसव काल में पूरा ध्यान रखा जाय। उनसे कोई काम न लिया जाय अच्छा भोजन दिया जाय और उचित औषिधियाँ दी जायें। भारत में इस सम्बन्ध में कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जो सम्पूर्ण देश की स्त्रियों के सम्बन्ध में लागू हो। लगभग प्रत्येक प्रान्त में ही इस सम्बन्ध में अधिनियम बनाये गये हैं परन्तु औद्योगिकरण और आर्थिक नियोजन की प्रगति में यह आवश्यक हो गया है कि इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण देश के लिये एक अधिनियम बनाया जाय।

सब प्रथम, बम्बई में सन् १९२९ में प्रसवलाभ अधिनियम (Maternity Benefit Act) बनाया गया था। तत्पश्चात् मध्य प्रान्त ने सन् १९३० में, मद्रास ने सन् १९३४ में, उत्तर प्रदेश ने सन् १९३८ में, बंगाल ने सन् १९३९ में, पंजाब ने सन् १९४३ में आसाम ने सन् १९४४, बिहार ने सन् १९४५ और उड़ीसा ने सन् १९५३ में इसी प्रकार के अधिनियम बनाये गये। इन अधिनियमों में समय समय पर संशोधन होते रहे हैं। यह ध्यान रहे कि सब राज्यों में यद्यपि उद्देश्य एक ही है परन्तु अधिनियमों की शर्तें और लाभ की मात्रा एक दूसरे से भिन्न है। प्रत्येक मजदूर को लाभ प्राप्त करने योग्य होने के लिये, यह आवश्यक है कि एक निश्चित अवधि के लिये नौकरी अवश्य कर रक्खी हो। यह अवधि हर राज्य में अलग अलग है, जैसे, आसाम में १५० दिन, बिहार, उत्तर प्रदेश में ६ माह, राजस्थान ७ माह, आन्ध्र में २४० दिन इत्यादि। इसी प्रकार लाभ काल भी कहीं ७ सप्ताह और कहीं १२ सप्ताह है। लाभ की राशि भी ८ आना प्रतिदिन से १२ आने प्रतिदिन तक है।

केन्द्रीय सरकार ने केवल खान उद्योग में काम करने वाली स्त्रियों के लिये प्रसव अधिनियम बनाया है। पश्चिमी बंगाल में चाय के खेतों में काम करने वाली स्त्रियों के लिये अन्य उद्योगों की अपेक्षा बिल्कुल ही अलग नियम है। कुछ राज्यों में प्रसव अधिनियम सारे प्रवन्धित उद्योगों के लिये ही बनाया गया है और कुछ राज्यों में केवल बारहमासी उद्योगों के लिये ही बनाया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन अधिनियमों से देश की स्त्री श्रमिकों को बहुत लाभ पहुँचा है। केन्द्रीय सरकार ने खान उद्योग प्रसव लाभ अधिनियम जो सन् १९४१ में बना था, उसके अतिरिक्त दो और अधिनियमों द्वारा प्रसव लाभ की व्यवस्था कर रही है अर्थात् कर्मचारियों का सरकारी बीमा अधिनियम सन् १९४८ और बागों में काम करने वाले श्रमिकों का अधिनियम सन् १९५१। परन्तु इन सब अधिनियमों में अभी बहुत कमी है। प्रथम, इन अधिनियमों में एकरूपता नहीं है। दूसरे, इन अधिनियमों के अन्तर्गत चिकित्सा की कोई व्यवस्था नहीं की गई है, केवल नकद लाभ ही दे दिया जाता है। तीसरे, बहुधा श्रमिकों को यह लाभ प्रदान भी नहीं किये जाते हैं। मद्रास और बंगाल में कोई व्यवस्था इस बात की नहीं की गई है कि सेवायोजक स्त्रियों को नौकरी से अलग न करें। अक्सर यह होता है कि जैसे ही सेवा योजकों को गर्भ के

चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं वैसे ही वे स्त्रियों को अलग कर देते हैं। ऐसी व्यवस्था केवल मद्रास और बंगाल में ही की गई हैं। हमारे यहाँ की स्त्रियाँ शर्म के कारण भी अपने अधिकार से लाभ नहीं उठाती। कभी डर के कारण और कभी अज्ञानता के कारण भी स्त्रियों को यह लाभ प्राप्त नहीं हो पाता। इसी कारण शाही आयोग ने यह प्रस्ताव दिया था कि इन अधिनियमों के कुशलकार्य संचालन और प्रबन्ध के लिये स्त्री-फैक्ट्री निरीक्षक नियुक्त किये जाए। परन्तु अभी तक अधिकांश राज्यों में इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। श्रम-जाच समिति की सिफारिश थी कि प्रत्येक श्रमिक को शिशु-जन्म के छ माह पहले तथा छ. माह बाद तक स्त्री को प्रसव लाभ मिलने चाहियें। यह सिफारिश कर्मचारियों के सरकारी बीमा अधिनियम में स्वीकार करली गई हैं और इसकी व्यवस्था भी हो गई है।

बेकारी बीमा—भारत में बेकारी के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिये भी कुछ प्रयत्न किये गये हैं। आजकल औद्योगिक जगत में प्रतियोगिता अपनी चरम सीमा पर होने के कारण उत्पत्ति के क्षेत्र में नित नये सुधार किये जाने लगे हैं। नई नई मशीनों का आविष्कार होता जा रहा है और विशिष्टीकरण तथा अभिनवीकरण की योजनाओं के कारण श्रमिकों के बेकार होने का भय दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। हम सभी जानते हैं कि श्रमिकों की दशा इतनी बुरी रहती है और वे इतने ऋणगृस्त रहते हैं कि यदि उनकी नौकरी अकस्मात ही छूट जाय तो उनके पास इतना भी नहीं होता कि वे दो समय पेट भर के खा भी लें। वैसे ही बेकारी सबसे अधिक कठोर होती है। बेकारी केवल व्यक्ति विशेष को पगु नहीं बना देती बल्कि सारे समाज को ही इसके बुरे परिणाम भुगतने पड़ते हैं। बीमारियाँ, भुखमरी, पागलपन, चोरियाँ, सारी ही सामाजिक बीमारियाँ बेकारी से ही उत्पन्न होती हैं। यद्यपि ससार के बहुत से देशों में मंदी काल के पश्चात ही बेकारी निवारण सम्बन्धी योजनायें चालू की जा चुकी थी फिर भी भारत में अभी तक इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। ऐसी योजना न बन पाने का एक कारण यह हो सकता है कि क्योंकि ऐसी योजना के लिये बहुत अधिक धन की आवश्यकता होगी और हमारी सरकार के पास इतना धन नहीं है। वास्तव में भारत में बेकारी बीमा के लिये एक समुचित योजना को निर्मित करना कोई हँसी खेल नहीं। यह सच है, परन्तु फिर भी आरम्भ में केवल औद्योगिक श्रमिकों के लिये ही एक छोटी सी योजना बनाई जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के सन् १९३४ के अधिवेशन के अनुसार बेकारी बीमा योजनाएं लगभग सारे ही देशों में बन जानी चाहिये थी परन्तु ऐसी योजनाएं संयुक्त राज्य अमेरीका, ग्रेट ब्रिटेन, दक्षिणी अफरीका, न्यूजीलैण्ड, नार्वे, इटली, कैनाडा आदि देशों में चालू हुई है, और इन देशों में बेकारी बीमा को अनिवार्य कर दिया गया है।

भारत में सन् १९४५ में एक राष्ट्रीय रोजगार सेवा (National Employment Service) स्थापित की गई थी, जिसके आधीन देश में बहुत से रोजगार दफ्तर (Employment Exchange) स्थापित कर दिये गये हैं। जिनका काम व्यक्तियों

में दिया गया था। यह सुझाव समझौता बोर्ड (Conciliation Board) ने केवल खान उद्योग के लिए दिया था और यह सिफारिश की थी कि खान उद्योग में काम करने वाले मज़दूरों के चार महीने के आधारभूत वेतन के बराबर बोनस देकर प्राव-दान कोष स्थापित किया जाय। सरकार ने यह स्वीकार करते हुए सन् १९४८ में कोयला उद्योग प्रावदान कोष और बोनस योजना अधिनियम बनाया। लगभग प्रत्येक व्यक्ति को ही अपने जीवन में ऐसे अवसर अवश्य ही प्राप्त होते हैं जब कि अकस्मात ही उनको कोई न कोई खर्चा करना पड़ जाता है। उपरोक्त अधि-नियम में ऐसे खर्चों और बुढ़ापे तथा अन्य अयोग्यताओं के विरुद्ध व्यवस्था की गई है। यह अधिनियम केवल कोयला उद्योग में उन मजदूरों पर लागू होता है जिनकी मासिक मज़दूरी ३००) रुपए से कम है। इन मजदूरों में माली, भंगी तथा घरेलू नौकर, सरकारी रेलों में काम करने वाले मजदूर और ईंटों के भट्टों पर काम करने वाले मजदूरों को इस योजना का लाभ प्राप्त नहीं होता। यह लाभ उसी समय प्राप्त होता है जब कि किसी श्रमिक ने एक निश्चित काल तक उद्योग में काम कर लिया हो। यह काल अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। मज़दूरों को अपनी आधारभूत मजदूरी, महँगाई भत्तों और भोजन छूटों आदि का ६¼% चन्दे के रूप में देना होता है। इतनी ही राशि सेवायोजक भी देता है। ३० जून सन् १९५६ तक इस कोष में ६३ करोड़ रुपया जमा हो गया था। श्रमिकों को अपने चन्दे पर ३½% ब्याज भी मिलता है। कोष का प्रबन्ध, श्रमिकों और सेवायोजकों, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गए एक बोर्ड के द्वारा किया जाता है।

सन् १९५२ में श्रमिकों की प्रावदान कोष योजना बनाई गई और एक अधि-नियम पास किया गया जो १ नवम्बर सन् १९५२ से लागू हुआ। आरम्भ में यह केवल उन बड़े-बड़े उद्योगों जैसे, सीमेन्ट, सिगरेट, इंजीनियरी, लोहा और स्पात, कागज़ और कपड़ा जिनमें ५० या ५० से अधिक व्यक्ति काम करते हों, लागू किया गया था। केन्द्रीय-सरकार को यह अधिकार है कि यदि वह उचित समझे तो इस अधि-नियम के क्षेत्र में उन कारखानों को भी ला सकती है जिनमें ५० से कम व्यक्ति भी काम कर रहे हों। सन् १९५६ के एक संशोधन के अनुसार वह कारखाने भी इस क्षेत्र में सम्मिलित किये जा सकते हैं जो फैक्टरी नहीं समझे जाते। नये स्थित कारखाने तीन वर्ष तक इस अधिनियम के क्षेत्रों में नहीं आ सकते। मई सन् १९५८ के एक संशोधन के अनुसार अब वे कारखाने भी नियम के अन्तर्गत आ गये हैं जो सरकार द्वारा चलाये जा रहे हैं। सन् १९५६ में इस अधिनियम के अन्तर्गत दियासलाई, चीनी, चाय, काँच, तेल, रसायन पदार्थ, छापेखानों तथा समाचार पत्रों को भी इसमें शामिल कर लिया गया। सन् १९५७ में खनिज तेल उद्योग, रबड़, चाय, कहवा, इलायची और काली मिर्च के बगीचे भी शामिल कर लिये गये है। ३१ मार्च सन् १९५८ के अन्त तक यह अधिनियम ६,५२४ कारखानों पर लागू हो चुका था जिनमें २६.५६ लाख मजदूर आते थे और जिनमें से २४.१२ लाख मजदूर लाभ प्राप्त कर रहे थे। इस कोष में प्रति माह २.४७ करोड़ रुपये इकट्ठे हो रहे हैं और इसकी कुल

करोड़ो कृषिक मजदूरो के लिये भी कोई व्यवस्था नही हुई है। भारत मे अन्य देशो की भाति सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था उस समय तक सम्भव नही है, जब तक कि देश की अर्थ-व्यवस्था कृषिक से औद्योगिक नही हो जाती, जब तक देश में पूर्ण शिक्षा की स्थिति स्थापित नही होती और जब तक देश एक विकसित देश नही हो जाता। यह सब कुछ सच है परन्तु क्या यह भी सच है कि जितने औद्योगिक श्रमिको को सामाजिक सुरक्षा की सुविधायें दी जा रही है, वे पर्याप्त है और उनमे सुधार या उन्नति के लिये अब कोई स्थान नही है ? हम जानते है कि स्थिति ऐसी नही है। यदि हमे देश का औद्योगिक विकास करना है तो हमे स्वस्थ और कुशल श्रमिको को जन्म देना होगा। इसका उत्तरदायित्व सारे समाज पर है, सरकार पर नही। हम मे से प्रत्येक नागरिक को इस ओर ध्यान देना चाहिये। धनी व्यक्तियों, व्यापारियो और उद्योगपतियो को ऐसी व्यवस्था अपनी ओर मे करनी चाहिये और सरकार को उन क्षेत्रों या दिशाओ में व्यवस्था करनी चाहिये जहाँ किसी एक व्यक्ति के बस के बाहर का काम है। श्रमिको को अशदान से अभी मुक्त ही रखना चाहिये। यदि सारे श्रमिको के लिये यह सम्भव न हो तो कम से कम ३००) रु० माहवार से कम पाने वालो के लिये तो यह हो ही जाना चाहियें। वर्षो पहले रिकार्डो ने कहा था कि "मानवता के मित्र केवल यही इच्छा कर सकते है कि सब देशो के श्रमिक वर्ग आराम और आनन्द के लिये रुचि उत्पन्न करें और इन्हे प्राप्त करने के प्रयत्नो मे उन्हें सब वैधानिक ढगो से प्रोत्साहित किया जाय।" इसलिये सरकार का कर्तव्य यह भी है कि वह श्रमिको को इस योग्य बनाये कि वे अपने अधिकारो को प्राप्त कर सके। सरकार को चाहिये कि वह पहले आवश्यक आकडे जमा कराये। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि सरकारी कर्मचारी अधिक सहनशील बने और श्रमिको के लिये अधिक प्रेम उत्पन्न करें। जो व्यक्ति भारत की निर्धनता की आड लेकर सामाजिक सुरक्षा का विरोध करना चाहते है उन्हे यह ध्यान रहे कि निर्धन देश मे ही इसकी अधिक आवश्यकता है। इसलिये भारत के आर्थिक और औद्योगिक विकास के लिये सामाजिक सुरक्षा नितान्त आवश्यक है। केवल यह ही देश के श्रमिको की परेशानियों का समाधान कर सकती है और इन्हे जैसा डाक्टर अम्बेदकर ने कहा था, "रोटी एक मकान, पर्याप्त कपडे, शिक्षा और अच्छा स्वास्थ्य, और सबसे अधिक ससार की चौडी सडको पर सम्मान से चलने का अधिकार" प्रदान कर सकती है।

१

अध्याय ६

वस्तुओं के मूल्यों, पूर्ति तथा गुणों पर राजकीय नियन्त्रण

(Public Control of Prices, Supply and Qualities of Commodities)

प्राक्कथन—

निर्बाधावादी विचारों के विरुद्ध, गत वर्षों में जो आलोचनायें हुई हैं और हम में से प्रत्येक को जो स्वतन्त्र उपक्रम के दुष्परिणाम सहन करने पड़े हैं उनको कोई भी व्यक्ति भूल नहीं सकता। यही कारण है कि सारे क्षेत्रों में राज्य का नियन्त्रण बढ़ता ही जा रहा है और यहाँ तक कि राज्य वस्तुओं के मूल्य, पूर्ति और गुणों तक पर नियन्त्रण रखने लगा है। स्वतन्त्र उपक्रम का सबसे बड़ा दोष यही था कि आर्थिक जीवन स्थायी नहीं था। मूल्यों में बहुत अधिक उतार-चढ़ाव होने के कारण आर्थिक जीवन स्वास्थ्यहीन होता जा रहा था। बेकारी बढ़ती जा रही थी और समाज में एक दूसरे के प्रति अविश्वास बढ़ता ही जा रहा था। प्राचीन लेखकों का यह विश्वास कि मनुष्य हर काम को अपने हित में करता है इसलिये आर्थिक साधनों का उत्तम बटवारा और सदुपयोग हो जाता है अब छिन्न-भिन्न होता जा रहा था। अर्थशास्त्रियों के लिए भी मूल्य यन्त्र का अब वह महत्व नहीं था जो प्राचीन लेखकों के लिये था। उनके अनुसार मूल्य यन्त्र द्वारा पूर्ति और माँग में समन्वय रहता है और साधन कम महत्वपूर्ण उपयोगों से अधिक महत्वपूर्ण उपयोगों को स्थानान्तरित होते हैं।[1] परन्तु पिछले ५० वर्षों में मूल्यों में जो भीषण उतार-चढ़ाव होते रहे हैं उनसे यह भली-भाँति सिद्ध हो गया है कि माँग और पूर्ति में जो भी समन्वय स्थापित होता है वह दिखावटी और अस्थायी होता है। मूल्यों के आकस्मिक परिवर्तनों से आर्थिक जीवन में अनिश्चितता उत्पन्न हो जाती है और व्यापार, वाणिज्य, उद्योग आदि सभी क्षेत्रों में जीवन गति रुक सी जाती है। इसलिये आजकल सभी इस बात से सहमत हैं कि मूल्यों के क्षेत्र में निर्बाधावादी नीति का पालन नहीं किया जा सकता। बात यह है कि मूल्यों के ऊँचे होने से व्यापारियों

1 J. K. Galbraith, *A Theory of Price Control* P. 2.

और उद्योगपतियो को लाभ होता है और मूल्यो के नीचे होने से इनको नुकसान होता है और उपभोक्ताओ को लाभ होता है। परन्तु हर प्रकार के मूल्यों के उतार-चढाव अन्यायपूर्ण या हानिकारक नही होते। यदि उत्पादन व्यय के बढने के कारण मूल्यों मे वृद्धि होती है तो ऐसी वृद्धि स्वाभाविक ही है इसी प्रकार उत्पादन व्यय घटने से मूल्यो का गिरना भी उचित होता है परन्तु यदि कृत्रिम उपायो से मूल्यो को बढा दिया जाय या प्रतियोगिता का अन्त करने के लिये मूल्यों को गिरा दिया जाय या वस्तु की पूर्ति को कम कर के उसके मूल्यों मे अत्यधिक वृद्धि कर दी जाय, तो ऐसे उतार-चढाव समाज के लिये हानिकारक होते हैं। ऐसा अनुभव है कि वस्तुओं की सामान्य दुर्बलता के काल में मूल्य काफी ऊँचे हो सकते हैं और मुट्ठी भर व्यक्तियों को नफाखोरी और उपभोक्ताओ का शोषण करने का एक अच्छा अवसर प्राप्त हो सकता है। उपभोक्ताओ को अपनी आवश्यकताओ की वस्तुएँ न मिल पाने पर उनका जीवन स्तर गिरता जाता है और गरीबी और अमीरी के बीच की खाई और अधिक चौडी होती जाती है। जब कभी कोई बडा उत्पादक अन्य प्रतियोगियों को समाप्त करके, अपने लिये एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न करना चाहता है और ऐसा करने के लिये मूल्यो को नीचा कर देता है तब मूल्यों के ऐसे परिवर्तन भी न्यायसगत नही होते है, क्योंकि एक ओर तो साधनो का मितव्ययी उपयोग सम्भव नही हो पाता और दूसरी ओर उपभोक्ताओ को स्वतन्त्र प्रतियोगिता के लाभ भी प्राप्त नही हो पाते है। इसीलिये गत वर्षो म सभी देशों मे सरकारो ने मूल्य नियन्त्रण को एक सामान्य नीति के रूप मे स्वीकार कर लिया है और आज प्राचीन लेखकों की यह विचारधारा कि "राज्य द्वारा कोई भी हस्तक्षेप जिसका उद्देश्य स्वतन्त्र प्रतियोगिता के कार्य सचालन मे बाधा डालना है, राष्ट्रीय लाभाश को अवश्य ही आघात पहुँचायेगा, क्योंकि इस प्रतियोगिता को यदि स्वतन्त्र छोड दिया जाय तो सदैव ही साधन निजी उत्पादकता की स्थिति से ऊँची उत्पादकता वाली स्थिति की ओर जाते रहेगें और इस प्रकार समुदाय के साधनो की सदैव ही कम अनुकूल से अधिक अनुकूल व्यवस्था होती रहेगी।"[2] का कोई महत्वपूर्ण स्थान नही रह गया है। इस प्रकार मूल्य नियन्त्रण का उद्देश्य केवल यही होता है कि आर्थिक जीवन मे अनिश्चितता उत्पन्न न होने दी जाय और समाज को होने वाले कष्ट दूर हो जाये। मूल्य नियन्त्रण मे मूल्यों को ऊँचा भी उठाया जा सकता है और नीचे भी गिराया जा सकता है और उसको स्थायी भी रखा जा सकता है। कौनसी नीति का प्रयोग किस समय होगा यह उस समय की परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। सक्षेप मे मूल्य नियन्त्रण की नीति का प्रयोग निम्न प्रकार किया गया है :—

(अ) मुद्रा प्रसार एव एकाधिकारी के शोषण को रोकने के लिये मूल्यों को नीचे स्तर पर निर्धारित किया जा सकता है। मदीकाल मे मूल्यों को ऊपर उठाया जा सकता है और यदि मूल्यो के उतार-चढाव बहुत ही आकस्मिक हैं और अति

2. A. C. Pigou : *The Econom cs of Welfare* P. 229.

शीघ्र हो रहे है तो उनका स्थायीकरण किया जा सकता है।

(ब) आर्थिक नियोजन के काल म यदि किसी देश की सरकार यह चाहती है कि साधनों का उपयोग पूर्व निश्चित योजना के अनुसार हो और समाज के हित में हो तो वह वस्तुओं का मूल्य निश्चित कर सकती है।

(स) यदि वस्तुओं की पूर्ति कम हो और वस्तुएँ अनिवार्य आवश्यकता की हो जिनका समान वितरण आवश्यक हो तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये भी मूल्य नियन्त्रण की नीति अपनाई जा सकती है।

(द) यदि सरकार देश के किसी उद्योग विशेष को प्रोत्साहन देना चाहती है तो भी मूल्य नियन्त्रण की नीति अपनाई जा सकती है।

मूल्य नियन्त्रण की रीतियाँ—मूल्यो पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से नियन्त्रण किया जा सकता है। प्रत्यक्ष नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार वस्तु की माँग, पूर्ति एव मूल्यों को निश्चित करती है और कानून बना देती है। कानून तोडने वालो को दड देती है। यह नीति प्रथम और द्वितीय महायुद्ध काल म अपनाई गई थी। अप्रत्यक्ष नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार मौद्रिक एव वित्तीय उपाय करती है अर्थात् करारोपण, (Taxation), आयात निर्यात नियन्त्रण, मौद्रिक नीति में परिवर्तन करना इत्यादि।

मूल्य नियन्त्रण की प्रत्यक्ष रीतियाँ—हम अभी कह ही चुके हैं कि मूल्य-नियन्त्रण नीति के अन्तर्गत मूल्यो को ऊँचा उठाना और नीचे गिराना दोनो ही बातें सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त कभी कभी मूल्यो को स्थायी रखने की भी आवश्यकता अनुभव होती है। इन तीनो ही उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सरकार प्रयत्न करती है। इनम से प्रत्येक का वर्णन हम निम्न म करेगे —

(अ) **ऊँचे मूल्यो पर नियन्त्रण**—मूल्यों की वृद्धि कई कारणों से हो सकती है जैसे, व्यापार चक्रों के कारण, युद्ध, विकास योजनाओ, स्फीतीयकरणो और एकाधिकारी की अनुचित क्रियायें। अब हम इन स्थितियो को क्रमानुसार लेकर मूल्य नियन्त्रण की विभिन्न रीतियो का अध्ययन करेंगे।

व्यापार चक्र—व्यापारिक और औद्योगिक जगत का यह एक सामान्य अनुभव है कि कभी मूल्य एकदम नीचे गिरने लगते है और कभी एकदम ऊँचे चढने लगते हैं और यह उतार-चढाव समुद्र की लहरों की भाँति नियमानुसार होते हैं। व्यापार-चक्र स्वतन्त्र उपक्रम प्रणाली की मुख्य विशेषता है। जब लाभ बहुत ऊँचे हो, व्यापारी आशावादी हो और विनियोग बढ रहे हो तब स्वाभाविक ही है कि व्यापार मे वृद्धि होगी। ऐसे समय मे लागतो म अधिक वृद्धि नही हो पाती क्योकि मजदूरी, लगान तथा ब्याज की दरें लगभग स्थायी ही रहती हैं और मूल्यो के बढने से उनपर एकदम प्रभाव नही पडता इसलिये मूल्यो के बढने और लागतों के लगभग समान रहने के कारण प्रत्येक उद्योगपति को बहुत लाभ होते हैं और वे समृद्धि का अनुभव करने लगते हैं। परन्तु इस स्थिति के बाद ही मदीकाल आरम्भ होता है। लागतें बढने लगती हैं। व्यापारी लोग समझते हैं कि उनका व्यवसाय आवश्यकता से अधिक बढ

जाया है और वे उसको सकुचित करने लगते है। कई सस्थायें तो ठप्प हो जाती हैं और इसका प्रभाव अन्य व्यक्तियों पर पडता है और चारो ओर निराशा की एक लहर फैल जाती है जिसके फलस्वरूप बेकारी बढती जाती है और वस्तुयें बहुतायत मे होते हुये भी लोगो के पास उनको खरीदने के लिये पैसा नही होता। इसी प्रकार समृद्धिकाल, मदीकाल और फिर समृद्धिकाल, एक के बाद दूसरा उत्पन्न होता रहता है और यह चक्र यूँही चलता रहता है। समृद्धिकाल म यह अवश्य है कि मूल्यो को पूर्णतः बढने से तो नही रोका जा सकता परन्तु उनके ऊपर जाने की प्रवृति को नियन्त्रित किया जा सकता है ताकि वे उतने ऊँचे न जाने पायें जितना कि वे उपाय न करने की दशा म जाते। अधिकाँश लोगो का यही विचार है कि व्यापारचक्र मौद्रिक कारणो से ही उत्पन्न होते हैं इसलिये समृद्धिकाल में मूल्यो को नियन्त्रित करने के लिये ऐसे उपाय किये जाते है जिनसे देश में मुद्रा का चलन कम हो जाये अर्थात् मुद्रा की मात्रा को कम करना, साख के विस्तार को नियन्त्रित करना इत्यादि। क्योकि इस काल म सब ही वस्तुओ के मूल्य एक साथ बढने है, इसलिये किसी एक वस्तु के मूल्य को नियन्त्रित नही किया जा सकता और यदि ऐसा किया भी जाये तो इससे कोई व्यावहारिक लाभ भी न होगा। इसी प्रकार मदीकाल म मुद्रा की अधिक निकासी करके, साख नीति अधिक उदार बना कर, व्यक्तियों म अधिक मुद्रा खर्च करने की रुचि उत्पन्न कर दी जाती है और मूल्यो को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाता है।

युद्धकाल—युद्धकाल मे, मुद्रा प्रसार एक साधारण सी घटना होती है। इसका मुख्य कारण यह होता है कि एक ओर तो मुद्रा का प्रसार होता है और दूसरी ओर उपभोक्ताओ के लिये उपभोग की वस्तुओं की मात्रा कम होती जाती है। इसके अतिरिक्त युद्ध के समय सचालन के लिये बढती हुई सख्या म सैनिको के लिये गोला बारूद व लडाई का अन्य सामान, कपडा इत्यादि सभी की आवश्यकता बढती है जिससे मूल्य बढने लगते हैं। तीसरे, ऐसे समय मे सरकार का खर्चा भी बहुत बढ जाता है जिसको पूरा करने के लिये सरकार को मुद्रा की पूर्ति बढाने पर मजबूर होना पडता है। परिणामत व्यक्तियों की क्रय शक्ति बढती जाती है जिसके प्रभाव में मूल्य भी बढने जाते हैं। चौथे, युद्धकाल मे लगभग प्रत्येक व्यक्ति को ही वस्तुओ के कम हो जाने की आशका रहती है जिसके कारण क्रेता और विक्रेता दोनो ही वस्तुओं को अपने पास जमा करना चाहते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि मूल्य बढते जाते हैं। पाँचवे, युद्धकाल मे आयातो के घटने और बहुत से साधनों का युद्ध कार्यों म प्रयोग होने से तथा युद्ध मे काफी वस्तुओं के नष्ट हो जाने से बाजारा म वस्तुओं की कमी ही रहती है जिसके कारण भी मूल्य बढ जाते है। अन्त मे, प्रत्येक व्यक्ति यही सोच कर कि भविष्य म मूल्य और बढेंगे, अधिक लाभ प्राप्त करने की आशा मे वस्तुओं की खरीद-खरीद कर रखता जाता है, जिसके फलस्वरूप बाजार में वस्तुओं की कमी होती जाती है और मूल्य बढते जाते हैं। इन सब कारणो से माँग और पूर्ति का सन्तुलन भग हो जाता है और मुद्रा की अधिक मात्रा वस्तुओं एव

सेवाओं की पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाती है। इसलिये सबसे उपयुक्त उपचार यही होगा कि माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित कर दिया जाये अर्थात् चलन में मुद्रा की मात्रा कम कर दी जाये और वस्तुयें तथा सेवाओं की पूर्ति बढ़ा दी जाये। परन्तु ऐसा करना कोई बच्चों का खेल नहीं। यद्यपि सरकारों ने क्रय शक्ति कम करने के लिये पुराने करों की दरों में वृद्धि की है, नये-नये कर लगाये हैं, साख पर कड़े नियन्त्रण रखे हैं, व्यक्तियों से सार्वजनिक ऋण प्राप्त किये हैं, परन्तु फिर भी आशातीत सफलता प्राप्त न हो पाई। युद्धकाल में मूल्य नियन्त्रण इसीलिये एक विषम समस्या होती है। परन्तु यह भी नहीं किया जा सकता कि मूल्यों को नियन्त्रित न किया जाये क्योंकि एक ओर तो सरकार को ऐसी नीति से लाभ होता है क्योंकि युद्ध सचालन के लिये सरकार को जो वस्तुयें तथा सेवायें प्राप्त करनी होती हैं वह यदि अनियन्त्रित मूल्यों पर प्राप्त करे तो युद्ध का खर्चा कई गुना अधिक हो जायेगा इस लिये सरकार इन वस्तुओं और सेवाओं को उचित मूल्यों पर प्राप्त करने के लिये मूल्य नियन्त्रित करती है। दूसरे चोर बाजारी और नफाखोरी जैसी सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनको रोकना सरकार का कर्तव्य है। इसी प्रकार वस्तुओं को ऐसे समय में सचित करना जबकि उनकी कमी हो और जबकि लोगों को उपभोग के लिये न मिल रही हों, यह भी एक सामाजिक जुर्म है जिससे समाज को बहुत हानि होती है। इन सामाजिक बुराइयों को रोकने के लिये भी मूल्य नियन्त्रण नीति आवश्यक होती है। अन्त में मूल्य वृद्धि से वस्तुओं की लागत में वृद्धि होती है जिसके कारण मूल्य और अधिक बढ़ते चले जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यक्तियों के वेतन भी बढ़ाये जाते हैं और मँहगाई भत्ता भी दिया जाता है, परन्तु इसमें इतनी वृद्धि नहीं होती जितनी मूल्यों में होती है और इसलिये मूल्यों की प्रत्येक वृद्धि से समाज में असन्तोष बढ़ता जाता है। इसलिये मूल्यों की अधिक वृद्धि और बढ़ते हुये असन्तोष को रोकने के लिये भी मूल्यों का नियन्त्रित करना आवश्यक हो जाता है।

आर्थिक नियोजन (Economic Planning)—युद्ध की भाँति मूल्यों में वृद्धि उस स्थिति में भी होती है जब कि किसी देश की सरकार देश के आर्थिक विकास के लिये योजनाएँ कार्यान्वित करती हैं। ऐसी योजनाओं को कार्य रूप प्रदान करने के लिये बहुत बड़ी मात्रा में व्यय करना होता है ठीक उसी प्रकार जैसा कि युद्ध सचालन में किया जाता है। जिस प्रकार युद्ध में देश के साधनों को सामान्य उपयोगों से निकाल कर युद्ध सम्बन्धी कार्यों में लगाया जाता है उसी प्रकार आर्थिक नियोजन में भी देश के साधन इधर उधर के सारे उपयोगों से निकाल कर उन उपयोगों में लगाये जाते हैं जिनसे योजना के लक्ष्यों की पूर्ति होती हो। अन्तर केवल इतना है कि युद्धकाल में वस्तुओं और सेवाओं का विनाश भी होता है जबकि आर्थिक नियोजनकाल में ऐसा नहीं होता। आर्थिक नियोजन में पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण को प्राथमिकता मिलने के कारण उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन कम होता है ठीक उसी प्रकार जैसा कि युद्ध काल में। परन्तु दोनों स्थितियों में अन्तर यह है कि युद्धकाल में उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन पहले की अपेक्षा बढ़ता है परन्तु इसका अधिकांश भाग सैनिकों के

उपभोग म आता है फलस्वरूप जनसाधारण के उपभोग के लिए बहुत कम मात्रा म वस्तुएँ उपलब्ध हो पाती हैं एक ओर तो वस्तुओं की कमी होती है दूसरी ओर वस्तुओं क लिये माग निरन्तर बढती जाती है। वस्तुओं की माग बढने का पहला कारण तो यह है कि नियोजन काय के लिय प्रत्येक प्रकार के कच्चे माल की आवश्यकता होती है जिससे कि उनका मूल्य बढ जाता है। इसका दूसरा कारण यह है कि नियोजन काय क सचालन क लिए सरकार को अधिक मुद्रा छापनी पडती ह। परिणामतया व्यक्तियों को अधिक क्रय शक्ति प्राप्त होती है। परन्तु उनको वस्तुओं की प्राप्ति उतने अनुपात म नहीं होना और इसलिये वस्तुओं के मूल्य बढ जात हैं। इसके अतिरिक्त युद्धकाल म सरकार को तुरन्त ही व्यय करना होता है जिसका प्रभाव मूल्यों पर एकदम पडता है परन्तु नियोजन काय म यह व्यय धीरे धीरे किया जाता है। साधनों को नियन्त्रित रूप म उपयोग म लाया जाता है इसलिय प्रारम्भिक अवस्था म तो मूल्य अवश्य ही बढते परन्तु कुछ वर्षों बाद मूल्यों म बहुत अधिक वृद्धि नहा होती है क्योंकि नियोजन का उद्देश्य मूल्यों को कम करना भी हो सकता है। इसीलिय मूल्यों की वृद्धि जब कि युद्ध कालीन वित्त व्यवस्था का एक स्वाभाविक गुण है आर्थिक नियोजन म यह केवल एक सम्भावना मात्र ही है। फिर भी यह अनुभव किया गया है कि आर्थिक नियोजन म हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) के फलस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति और उनकी माग म असतुलन उत्पन्न हो जाने के कारण वस्तुओं के मूल्य बढते जाते ह और इसलिय यह आवश्यक हो सकता ह कि प्रारम्भिक दशाओं म सरकार मुद्रा प्रसार विरोधी उपाय करे या मूल्यों को प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित करे। यह ध्यान रहे कि जैसे जसे नियोजन की सफलता होगी और उत्पादन बढता जायगा मूल्यों के बढने का डर कम होता जायगा और मूल्य सम्बन्धी नियन्त्रण भी ढील होते जायेंगे।

स्थानीय कारण (Local causes)—यह सत्य है कि ससार के प्रत्येक देश की भौगोलिक सीमाए अलग अलग हैं सरकार अलग अलग हैं, बोली, भाषा, धर्म सामाजिक व्यवस्था आदि सभी अलग अलग ह परन्तु राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों म प्रत्येक देश एक दूसरे से प्रभावित होता रहता है। यह असम्भव है कि एक देश म उपद्रव होने का या दो देशों के बीच युद्ध होने का या किसी देश म फसलों के नष्ट होने का प्रभाव दूसरे देशों पर न पडे। यद्यपि यह कारण स्थानीय होते ह परन्तु इनके प्रभाव की प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय होती ह। ऐसे कारणों से भी मूल्यों म वृद्धि होती ह। ऐसी स्थिति म साधारणतया सरकार मूल्य नियन्त्रण के लिये कोई उपाय नहा करती परन्तु यदि मूल्यों की प्रवृत्ति निरन्तर बढता रहने की हो या मूल्यों की वृद्धि केवल अनिवार्य वस्तुओं के सम्बन्ध म ही हो तब सरकार को मूल्य नियन्त्रण के प्रत्यक्ष उपाय करने ही पडते ह।

एकाधिकारी व्यवस्था (Monopolistic organisation)—एकाधिकारी का मुख्य उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना होता है। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिय मूल्यों को ऊँचा करता चला जाता है। आधुनिक औद्योगिक सगठन की मुख्य

विशेषता यही है कि अधिकतर उद्योगों का संगठन एकाधिकारी संघों द्वारा किया जा रहा है। ऐसे संगठनों से समाज को जो हानियाँ होती हैं वह सर्व विदित हैं।
१ इसीलिये सरकार को एकाधिकारी मूल्यों को नियन्त्रित करना पड़ता है।[3]

२ **बढ़ते हुए मूल्यों को नियन्त्रित करने के उपाय**—बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने के लिए साधारणतया दो उपाय बताये जाते हैं। पहला उपाय तो यह हो सकता है
३ कि सरकार वस्तुओं के वास्तविक मूल्यों को निश्चित कर दे और दूसरा उपाय यह हो सकता है कि वस्तुओं के अधिकतम मूल्य निश्चित कर दिये जायें जिनसे अधिक मूल्यों पर कोई भी वस्तु को न बेच सकेगा। पहला उपाय इतना सरल नहीं है जितना कि ऊपर से दीखता है, क्योंकि वस्तु के वास्तविक मूल्य को निश्चित करना कोई साधारण बात नहीं है। पहले तो यह पता लगाना ही सरल नहीं है कि कौन सा मूल्य वास्तविक मूल्य होगा ? दूसरे यह कि वस्तु का वास्तविक मूल्य किस आधार पर निश्चित किया जाय ? कुछ लोगों का यह विचार है कि वास्तविक मूल्य निर्धारण का सबसे उत्तम आधार वस्तु का उत्पादन व्यय होता है इसीलिये इसी के आधार पर मूल्य निश्चित किया जाना चाहिये। परन्तु क्या उत्पादन व्यय का पता लगाना सम्भव है ? एक तो उत्पादन व्यय में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं जैसा कि युद्ध काल में होता है दूसरे, जब कोई उत्पादक कई प्रकार की वस्तुएँ एक साथ उत्पन्न करता है तब यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि उनमें से किसी एक वस्तु की लागत क्या है। इसीलिए इस कठिनाई को दूर करने के लिये बहुधा अनुमान से ही मूल्य निश्चित किये गये हैं। यह नीति अधिकतर दोनों महायुद्धों में अपनाई गई थी।

वस्तुओं के वास्तविक मूल्यों को निर्धारित करने में जो कठिनाइयाँ अनुभव हुई उनको दूर करने के लिये अधिकतम मूल्य निश्चित किए जाते हैं। यह मूल्य, मूल्य वृद्धि की अधिकतम सीमा होती है जिससे अधिक मूल्य नहीं बढ़ाये जा सकते। इस विधि में न तो सरकार को ही कठिनाई होती है और न उत्पादक को ही कोई आपत्ति होती है। इसमें परिस्थितियों के अनुसार अर्थात् लागतों में वृद्धि होने के साथ साथ अधिकतम सीमा तक मूल्यों को बढ़ाने के लिए पूरा स्थान रहता है। इसके अतिरिक्त इस विधि में लागतों के मालूम करने की कोई आवश्यकता नहीं होती और इसीलिए लागतों के विस्तृत और सही अनुमान भी नहीं लगाने पड़ते। परन्तु व्यावहारिक जीवन में यह देखा गया है कि उत्पादक अधिकतम सीमा का अनुचित प्रयोग करते हैं और यह अधिकतम मूल्य उनका वास्तविक मूल्य बन जाता है अर्थात् लागतों के कम होने पर भी वह अधिकतम मूल्य पर वस्तुएँ बेचते हैं और इस प्रकार उपभोक्ताओं का शोषण करते हैं।

कठिनाइयाँ—उपरोक्त रीतियों में से मूल्य नियन्त्रित करने की कोई सी भी रीति क्यों न अपनाई जाए कुछ न कुछ कठिनाईयाँ अवश्य ही उत्पन्न होंगी। इन कठिनाइयों के उत्पन्न होने का पहला कारण यह है कि वस्तु के मूल्य निर्धारित करने का

३ इसका पूर्ण विवरण हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं।

कार्य ही कोई साधारण कार्य नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु अनेक प्रकार और अनेकों गुणों की होती है। प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग किस्म तथा अलग-अलग गुणों के अनुसार मूल्य निश्चित करना कोई सरल बात नहीं है। यदि वस्तु का मूल्य निश्चित भी कर दिया जाय तब यह भी तो सम्भव है कि उत्पादक अपने लाभ को पहले ही जैसा रखने के लिए वस्तु के गुणों में कमी कर दे और पहले की अपेक्षा घटिया वस्तु बनाने लगे। यदि ऐसा होगा तो मूल्य नियन्त्रण का उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा। इसीलिए कुछ देशों में सरकार ने वस्तुओं के उत्पादन और उनकी किस्मों पर नियन्त्रण लगाने आरम्भ कर दिए हैं। सरकार ने केवल वस्तुओं विशेष की कुछ प्रमापीकृत किस्मों (Standard varieties) को ही उत्पन्न करने की आज्ञा दी और इन वस्तुओं के मूल्य और किस्म को निश्चित कर दिया। परन्तु इस उपाय में यह कठिनाई उत्पन्न हो गई कि उपभोक्ताओं की स्वतन्त्रता कम हो गई और उनके लिये वस्तुओं के चुनने का क्षेत्र भी सीमित हो गया। मूल्य निश्चित करने की विधि में, एक कठिनाई यह भी उत्पन्न होती है कि किस समय पर और किस स्थान पर वस्तु का कितना मूल्य निर्धारित किया जाय और समय या मौसम के परिवर्तनों के साथ-साथ मूल्यों में किस हिसाब से परिवर्तन किए जायें। हम रोजाना ही यह देखते हैं कि एक शहर में एक स्थान से दूसरे स्थान पर एक वस्तु के मूल्य अलग अलग होते हैं और फिर भिन्न-भिन्न शहरों में भी यह भिन्नता पाई जाती है। सामान्य परिस्थितियों में तो मूल्यों की भिन्नता स्वाभाविक ही है और मौसम और स्थान के अनुसार मूल्यों में जो परिवर्तन होते हैं वे मूल्य यन्त्र की स्वयं क्रियता का ही परिणाम है। परन्तु मूल्य नियन्त्रण की विधि में स्वयं क्रियता का गुण नहीं पाया जाता है इसलिए इस प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार की कठिनाइयों को दूर करने के लिए ऐसा किया जा सकता है कि स्थानीय बाजार की दशा का गहन अध्ययन करने के पश्चात् भिन्न भिन्न क्षेत्रों एवं भिन्न-भिन्न मौसमों में भिन्न-भिन्न मूल्य निश्चित कर दिए जायें। साथ ही साथ यह भी व्यवस्था की जाय कि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को वस्तुओं का आवागमन न हो और वस्तुओं का आमचन भी न हो। जैसा कि सन् १९५८ के अन्त में और इस वर्ष के शुरू में खाद्य अन्न की समस्या को सुलझाने के लिए भारत में सरकारों ने किया था। गेहूँ और चावलों के दामों को कुछ प्रान्तों में निश्चित कर दिया था और उनके आवागमन पर नियन्त्रण लगा दिए गए थे। परन्तु यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह नीति दोष रहित है। अच्छा तो यह होगा कि स्थानों और मौसमों सम्बन्धी भिन्नताओं को जहाँ तक हो सके न्यूनतम रखा जाये। अन्त में मूल्य नियन्त्रण करने की विधि उसी समय सफल हो सकती है जबकि वह सर्वांगी हो अर्थात् कच्चे माल से लेकर अन्तिम उपभोक्ता तक पहुँचने की सभी अवस्थाओं पर मूल्य नियन्त्रित किए जायें अर्थात् यदि मूल्य नियन्त्रण की नीति प्रभावयुक्त बनानी है तो यह आवश्यक है कि सभी थोक और फुटकर सभी प्रकार की वस्तुओं तथा कच्चे माल के मूल्य नियन्त्रित किए जायें, जिसके लिए यह आवश्यक होगा कि मजदूरी की दरें, सूद की दरें, भूमि का लगान, मशीनों के मूल्य

आदि सभी निश्चित हो। स्पष्ट ही है कि यह सम्पूर्ण क्रिया कितनी जटिल होगी।

मूल्य नियत्रण सम्बन्धी रीति म उपरोक्त कठिनाइयो के अतिरिक्त कुछ दूसरे प्रकार की कठिनाइया भी उत्पन्न होती हैं। यह कठिनाइयाँ इस कारण उत्पन्न होती हैं कि माग और पूर्ति म सामान्य सतुलन स्थापित होने के लिए क्षेत्र अति सीमित हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि माग और पूर्ति के बीच सन्तुलन स्थापित ही नही होता, तो बिलकुल सच होगा, उलटा भग और हो जाता है। सरकार वस्तुओ के मूल्य नीचे रखती है जिसका परिणाम यह होता है कि उत्पादक नियन्त्रित मूल्य वाली वस्तुओ को उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित नही होते। यह कठिनाई इस प्रकार दूर की जा सकती है कि सारी ही औद्योगिक या सारी ही कृषिक वस्तुओ के मूल्य नियन्त्रित कर दिए जायें। फिर भी ऐसा अवश्य होगा कि प्रत्येक वस्तु के मूल्य समान नही होग और उत्पादक केवल उन्ही वस्तुओ को उत्पन्न करेंगे जिनके मूल्य अधिक होग इसलिए मूल्य नियन्त्रण करने की नीति अपनाने के साथ-साथ सरकार का यह भी निश्चित करना होगा कि आवश्यक वस्तुओ की उत्पत्ति म कोई कमी न हो। यह सर्वविदित है कि स्वतन्त्र उपक्रम प्रणाली म मूल्य यत्र ही माँग और पूर्ति म समायोजन स्थापित करता है। मूल्य कम होने से पूर्ति घटती है और माँग बढती है। इस प्रकार मूल्यो के परिवर्तनो द्वारा माग म भी परिवर्तन होते हैं। यदि मूल्य नीचे निश्चित किए जाय तो धनी व्यक्ति उस वस्तु को अधिक मात्रा में खरीद कर अपने पास रख लेंगे। परिणामतया उनको अनुचित लाभ प्राप्त होगा। दूसरी ओर निधन व्यक्तियो को वस्तुए मिल भी न पायेंगी और उनके उपभोग का स्तर गिर जाएगा। इसलिए यह आवश्यक है कि मूल्य नियन्त्रण के साथ-साथ वस्तु की पूर्ति को भी इस प्रकार नियमित किया जाय कि सभी व्यक्तियो को समान मात्रा म वस्तु प्राप्त हो सके। अन्तिम और सबसे बडी कठिनाई इस प्रकार की नीति मे यह होती है कि व्यक्तियो का नैतिक स्तर गिरता जाता है और चरित्रहीनता बढती जाती है। पूर्ति की अपेक्षा माग अधिक होने के कारण वस्तुओ की बिक्री चोरी से होने लगती है और इस प्रकार चोर बाजारी और नफा खोरी बढती जाती है। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि प्रत्येक वग का व्यक्ति एसी स्थिति के विरुद्ध शिकायत भी करता है और भाग भी लेता रहता है। उधर मूल्य नियत्रण सम्बन्धी प्रबन्ध कर्त्ता तथा अन्य सरकारी कमचारी रिश्वत लेना आरम्भ कर देते हैं और ऐसी कार्यवाहियो की ओर ध्यान ही नही देते। हम सब ही एसी स्थिति से पूर्णतया परिचित हैं क्योकि द्वितीय महायुद्ध काल मे ऐसी ही स्थिति थी। इसलिए नीचे स्तर पर मूल्य निश्चित करने का काय कोई सरल नही है और सरकार उपभोक्ताओ तथा उत्पादको सभी को अपना २ सहयोग देना होगा और सतकता से काम करना होगा।

(ब) नीचे गिरते हुये मूल्यो पर नियन्त्रण—बढते हुए मूल्यों की भाँति गिरते हुए मूल्य भी समाज के लिए हितकर नही होते। मुद्रा प्रसार म मूल्य बढते हैं और मुद्रा सकुचन या मदी काल मे मूल्य गिरते हैं। गिरते हुए मूल्यों के कारण उत्पादको के लिये लाभ की दर कम हो जाती है, व अपने उत्पादन को कम करने लगते हैं,

कारखानों में छटनी होने लगती है और इस प्रकार समाज में बेकारी उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति सारे समाज के लिये ही कष्टदायी होती है। इसमें उत्पादकों को तो हानि होती ही है, परन्तु उपभोक्ताओं को भी इससे लाभ नहीं होता है क्योंकि बेकार होने के कारण वस्तुएँ सस्ती होते हुए भी वे उनको नहीं खरीद पाते हैं। इसीलिए विभिन्न देशों में अवसाद और मंदी को रोकने के लिये ताकि मूल्य न गिरने पायें और बेरोजगारी न बढ़ने पाये सरकारों ने मूल्य नियन्त्रण की नीति द्वारा मूल्यों को ऊँचे स्तर पर निश्चित करने का प्रयत्न किया है। इस नीति के अनुसार सरकार वस्तु को ऊँचे मूल्य पर खरीदना आरम्भ कर देती है ताकि मूल्य नीचे न गिरने पाये और वस्तुओं की उत्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगा कर उनकी पूर्ति को भी बढ़ने से रोकती है। ऐसी नीति सन् १६३० के मंदी काल में संयुक्त राज्य तथा अन्य देशों में अपनाई गई थी। यह ध्यान रहे कि इस रीति से मूल्यों के गिरने की समस्या पूर्णतया नहीं सुलझ पाती। चाहे सरकार कितनी ही कोशिश करे मूल्य गिरते हैं और गिरते ही चले जाते है।

(स) मूल्य स्थिरता—बहुत ऊँचे मूल्य और बहुत नीचे मूल्य इतने हानिकारक नहीं हैं जितने कि निरन्तर गिरते हुए या निरन्तर बढ़ते हुए या कभी गिरते हुए या कभी बढ़ते हुए मूल्य बुरे होते हैं। क्योंकि ऐसी स्थिति में कोई भी निश्चित निर्णय नहीं लिया जा सकता। इसलिये आर्थिक एवं व्यवसायिक क्षेत्रों में अनिश्चितता रहती है। यही कारण है कि बहुत बार मूल्यों को स्थायी रखने का प्रयत्न किया गया है। इसी को मूल्य स्थिरता कहते हैं। इस नीति में मूल्यों को एक निश्चित सीमा से न तो ऊपर ही और न नीचे ही जाने दिया जाता है। परन्तु व्यवहार में यह नीति इतनी सरल नहीं होती जितनी कि सिद्धान्त में। मूल्यों को स्थिर रखने के लिये अधिकांश सरकारों ने मूल्य बढ़ने की दशा में वस्तुओं को बेचा है और मूल्य गिरने की दशा में वस्तुओं को खरीदा है और इस प्रकार माँग और पूर्ति में समायोजन स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु प्रश्न यह है कि सरकार किस सीमा तक वस्तुओं को खरीद सकती है और किस सीमा तक वस्तुओं को बेच सकती है। क्योंकि सरकार की क्रियाओं का क्षेत्र और साधन सीमित ही तो होते हैं। इसलिए यह नीति उसी समय सफल हो सकती है जबकि इसके साथ-साथ अन्य प्रकार के उपाय भी अपनाये जायें।

मूल्य नियन्त्रण की परोक्ष रीतियाँ—उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मूल्य नियन्त्रण की प्रत्यक्ष रीतियों में कुछ न कुछ कठिनाइयाँ अवश्य ही उत्पन्न होती हैं। उनको प्रभावयुक्त बनाने के लिये यह आवश्यक है कि परोक्ष रीतियों को भी उनके साथ-साथ अपनाया जाय। यह नीतियाँ तीन प्रकार की हो सकती हैं अर्थात् मुद्रा एवं साख में परिवर्तन करके, करारोपण के स्तर में परिवर्तन करके और विदेशी आयातों एवं निर्यातों को नियन्त्रित करके। हम सभी इससे परिचित हैं कि किसी भी देश में मूल्य स्तर एक बड़ी सीमा तक मुद्रा और साख की मात्रा से प्रभावित होता है। मुद्रा की अधिक निकासी से मूल्य बढ़ते हैं या बैंकों से अधिक साख सृजन से भी मूल्यों में वृद्धि होती है और इसलिये ऐसे समय में सरकार देश की केन्द्रीय बैंक द्वारा साख

नियन्त्रण की नीति अपना कर मूल्यों को बढ़ने से रोकती है। ठीक इसके विपरीत मुद्रा संकुचन और अवसाद की स्थिति में करती है। विदेशी विनिमय दरों को नियन्त्रित करके और मुद्रा का अवमूल्यन करके विदेशी आयातों और निर्यातों को भी सरकार नियन्त्रित करती है और मूल्यों के परिवर्तनों को रोकती है। इसी प्रकार पुराने करों की दरों में वृद्धि करके या नए कर लगा कर या ठीक इसका उल्टा करके मूल्यों को नियन्त्रित किया जाता है। इसी प्रकार विदेशी आयातों पर कर लगा कर या पुरानी दरों में वृद्धि करके आयातों को घटाया जाता है और निर्यात करों को कम करके निर्यातों को बढ़ाया जाता है। फलस्वरूप मूल्य बढ़ने लगते हैं। इसी प्रकार आयात करों को कम करके और निर्यात करों को बढ़ा कर मूल्य गिराये जाते हैं। मूल्य गिरने की स्थिति में वस्तुओं पर उत्पादनों एवं उपभोग कर लगा कर मूल्य ऊँचे किये जाते हैं और ऐसे करों को कम करके मूल्य कम किये जाते हैं। कभी कभी वस्तुओं के आयात निर्यात पर प्रमाणात्मक नियन्त्रण भी लगाये जाते हैं जैसे, आयातों और निर्यातों के अभियश निश्चित कर देना या वस्तुओं के स्वतन्त्र व्यापार पर नियन्त्रण कर देना। इसी प्रकार देश में वस्तुओं की कीमतों को कम करने के लिये उत्पादकों को आर्थिक सहायता देना एकाधिकारियों की कार्यवाहियों को नियन्त्रित करना, सट्टे बाजारों की क्रियाओं पर नियन्त्रण रखना इत्यादि उपायों से भी मूल्य नियन्त्रित किये गये हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मूल्य नियन्त्रण नीति की सफलता के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार की रीतियाँ अपनाई जायें।

भारत में मूल्य नियन्त्रण सम्बन्धी नीतियाँ—भारत में भी अन्य देशों की भाँति मूल्यों में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं परन्तु मूल्य सम्बन्धी समस्याओं पर केवल द्वितीय महायुद्ध के काल में ही सरकार का ध्यान आकर्षित हुआ था। प्रथम महायुद्ध के काल में मुद्रा प्रसार के कारण मूल्यों में बहुत अधिक वृद्धि हुई और सन् १९२१ के बाद ही मूल्य गिरने आरम्भ हुए थे और अन्त में सन् १९२९ में महान मंदी काल आरम्भ हो ही गया था। वैसे तो सारे संसार में ही व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रों में मंदी आई थी परन्तु इसका प्रभाव सबसे अधिक भारत जैसे कृषि प्रधान देशों पर पड़ा था जिससे समाज के सभी वर्गों को काफी कष्ट सहन करने पड़े थे। यह मंदी सन् १९३८ तक चलती रही। सन् १९३९ में युद्ध आरम्भ होते ही मूल्य ऊपर चढ़ने लगे। यह अवश्य है कि सन् १९४० में मूल्यों में कुछ कमी अवश्य हो गई थी परन्तु सन् १९४१ में मूल्यों की वृद्धि फिर से आरम्भ हुई और सन् १९४३ तक मूल्य काफी ऊँचे हो चुके थे। इस मूल्य वृद्धि के मुख्य कारण इस प्रकार थे। प्रथम, सरकार की युद्ध सम्बन्धी वित्तीय नीति उचित न थी। ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत सरकार ने भारत में बहुत सामान खरीदा था जिसके बदले में भारत को केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ (Sterling Securities) ही प्राप्त हुई थी। यह प्रतिभूतियाँ भारतीय रिजर्व बैंक में जमा करादी थी जिनकी आड़ पर रिजर्व बैंक ने कागजी मुद्रा छाप दी थी। सन् १९३८-३९ में केवल

१२६ १० करोड रुपयो की ही मुद्रा चलन में थी परन्तु सन् १६४५-४६ में इसकी मात्रा बढ़कर १२१८ ७७ करोड रुपया हो गई थी। इसी प्रकार अनुसूचित बैंकों की जमा में भी बहुत वृद्धि हुई थी। सन् १६३८-३६ में बैंक जमा की मात्रा २२७·११ करोड रुपये थी और सन् १६४५ में यह बढ़कर ६५८ ३२ करोड रुपये हो गई थी। इस प्रकार मुद्रा और बैंक जमा में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण ही मूल्यों मे वृद्धि हुई थी। साथ ही साथ वस्तुओं का उत्पादन माँग की अपेक्षा बहुत कम था। जितना उत्पादन हो रहा था उसमे अधिकाश सैनिको के लिए भेज दिया जाता था। साधारण जनता के उपभोग के लिए बहुत कम मात्रा मे वस्तुये प्राप्त हो रही थी। एक ओर क्रय शक्ति बढ रही थी और दूसरी ओर वस्तुओं की पूर्ति कम हो रही थी जिसके कारण मूल्य बढते ही गये। वस्तुओं की कमी का एक कारण यह भी था कि जैसे जैसे युद्ध मे प्रगति होती गई सट्टेबाजी भी बढती गई और व्यक्तियों की आसचन प्रवृत्ति में भी वृद्धि होती गई। इसके अतिरिक्त यातायात के साधनो की कमी के कारण भी वस्तुओं का उचित बटवारा न हो सका। इन सब कारणों से मूल्य बढते ही गए।

सरकार को मूल्य वृद्धि का आभास सर्वप्रथम सन् १६३६ में हो हुआ। मूल्य इतने अधिक बढ गए थे कि सरकार के लिए स्थिति पर पूर्ण नियन्त्रण रखना असम्भव होता जा रहा था और व्यक्तियों में असान्ति भी उत्पन्न हो रही थी। समस्या की विषमता को समझ कर सरकार ने तीन प्रकार के उपाय किये। प्रथम, सरकार ने मूल्य नियन्त्रण नीति निर्मित की और वस्तुओं के न्यायपूर्ण वितरण के लिये राशनिंग प्रणाली चालू की। प्रमुख वस्तुओं के मूल्यों को नियमित करके सरकार ने उनका राशनिंग कर दिया। सरकार ने जो दूसरा उपाय किया उसका सम्बन्ध मुख्य रूप से मौद्रिक और बजट सम्बन्धी क्षेत्रों से था। कुछ समय के लिये नोटो की निकासी को धीमा कर दिया। रिज़र्व बैंक ने सोने को बेचना आरम्भ कर दिया, केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने ऋण प्राप्त किये और बचत आन्दोलन आरम्भ किया और सरकार ने अपने खर्चों मे भी बहुत कमी की। तीसरे प्रकार के उपायो मे सरकार ने औद्योगिक एव कृषिक वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने के लिए प्रयत्न किए। सन् १६४३ मे अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन आरम्भ किया।

परन्तु सरकार को इन प्रयत्नो मे आशातीत सफलता प्राप्त न हो सकी। बहुत अधिक मात्रा में करों की चोरी हुई और सरकार को अपनी आशा से कम ही ऋण प्राप्त हुए। चोर बाजारी ने तो सरकार की मूल्य नियन्त्रण नीति की कमर ही तोड दी थी। युद्ध समाप्त होने के बाद यह आशा की जाती थी कि मूल्य कम होंगे परन्तु ऐसा न हुआ और सन् १६५१ में थोक मूल्यों का सूचक अक ४६२ हो गया था। मूल्यों के इस प्रकार निरन्तर बढते जाने के भी कई कारण थे। इन कारणों के सुविधाजनक अध्ययन के लिए सन् १६४५ मे १६५१ तक के काल को निम्न दो भागों में विभाजित कर सकते हैं —

(अ) अवमूल्यन से पहले का काल—अगस्त सन् १६४५ से सितम्बर सन्

आयात नीति को अधिक उदार कर दिया, अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन की ओर अधिक ध्यान दिया और विकास योजनायें चालू कीं। परन्तु इन सभी प्रयत्नों से उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि न हुई और मूल्य कम न हो सके। सरकार को फिर से कन्ट्रोल लागू करने पड़े। साथ ही साथ सरकार ने अन्य उत्पादक व्ययों को तुरन्त ही बन्द कर दिया, विकास योजनाओं को स्थगित कर दिया, सम्मिलित पूँजी कम्पनियों से व्यक्तियों को प्राप्त होने वाला लाभांश को नियन्त्रित कर दिया और आयातों में वृद्धि की। इन सबके परिणामवश मूल्यों में कुछ कमी अवश्य हुई और मार्च सन् १९४९ में सूचक अंक गिरकर ३७० रह गया।

(ब) अवमूल्यन के बाद के काल में मूल्य वृद्धि के निम्न कारण थे —

(१) रुपए का अवमूल्यन—सितम्बर सन् १९४९ में रुपए का अवमूल्यन हो जाने से अमेरिका, पाकिस्तान और जापान से आने वाली वस्तुओं के मूल्यों में बहुत अधिक वृद्धि हो गई। साथ ही साथ देशी वस्तुओं के निर्यातों में वृद्धि होने से उनके मूल्य भी देश में बढ़ गये थे और इस प्रकार अवमूल्यन से सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि ही हुई।

(२) आयात नियन्त्रण—उस समय व्यापार सन्तुलन भारत के विपक्ष में था। भारत के विदेशी विनिमय कोष कम होते जा रहे थे इसलिये सरकार को विदेशी आयातों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाने पड़े। परिणामस्वरूप मूल्यों में और भी वृद्धि हुई।

(३) कोरियाई युद्ध—कोरियाई युद्ध का प्रभाव भारत पर भी पड़ा और भारत के निर्यातों में वृद्धि होने से वस्तुओं के मूल्य और भी बढ़ गये। २४ जून सन् १९५० को मूल्य सूचक अंक जो ३९७.१ था वह अप्रैल सन् १९५१ को ४६२ हो गया था। स्पष्ट ही है कि कोरिया युद्ध से मूल्यों में कितनी अधिक वृद्धि हुई थी।

(४) भारत-पाकिस्तान व्यापार सम्बन्धी कठिनाइयाँ—भारतीय रुपया के अवमूल्यन से भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले व्यापार में बहुत कमी हो गई थी। जिसके फलस्वरूप कपास और जूट के मूल्य काफी बढ़ गये थे।

कोरिया युद्ध के छिड़ते ही सन् १९५० में वस्तुओं की पूर्ति एवं मूल्य सम्बन्धी Ordinance निकाला गया जिसके आधीन ११ आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों, उनकी पूर्ति एवं वितरण को नियन्त्रित करने की व्यवस्था की गई। भारतीय निर्यातों को कम करने के लिये ताकि आन्तरिक मूल्य कम हो जाये, निर्यात करों में भी वृद्धि कर दी गई, और फरवरी सन् १९५१ में भारत और पाकिस्तान के बीच व्यापार फिर से आरम्भ हो गया। इसके अतिरिक्त नवम्बर सन् १९५१ में रिजर्व बैंक ने बैंक दर को ३ से ३½% कर दिया। इन सब प्रयत्नों से मूल्य गिरने शुरू हुये। मूल्यों के गिरने में सब से अधिक सहायता दो कारणों से प्राप्त हुई। एक तो केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने घाटे के बजटों के स्थान पर लाभ के बजट बनाये और दूसरे इसी बीच में कृषिक एवं औद्योगिक उत्पादन में भी वृद्धि हुई थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९५२ में मूल्य इतने गिर गये थे कि सरकार को मूल्यों को और

ही मूल्य बढते हैं। इसीलिये युद्धकाल और विकास योजना काल में मूल्यों मे विशेष वृद्धि होती है। परन्तु कठिनाई तो इस बात की होती है कि न तो क्रय-शक्ति को कम करने की कोई प्रभावयुक्त विधि होती है और न उत्पादन मे अनुपातिक वृद्धि करना ही सम्भव होता है। जिसका परिणाम यह होता है कि चोर-बाजारी और भ्रष्टाचार बढ जाता है। इनको रोकने की एक-मात्र विधि यह ही है कि सरकार नियन्त्रित मूल्य पर वस्तुओं का बटवारा स्वय करे ताकि उपभोक्ताओं को मूल्य भी अधिक न देने पडे, वस्तुएँ भी प्राप्त हो जाएँ, चोर-बाजारी भी कम हो जाय और वस्तुओं का आसचन भी बन्द हो जाय। स्वतन्त्र उपक्रम प्रणाली मे माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियाँ मूल्य निर्धारित करती है और स्वय मूल्य द्वारा निर्धारित होती है परन्तु मूल्य नियन्त्रण की अवस्था मे माग और पूर्ति मे स्वतन्त्र सामञ्जस्य नही हो पाता और वस्तुओं का वितरण भी प्राकृतिक रूप से नही हो पाता। जब मूल्य कृत्रिम उपायो से निर्धारित न होकर स्वतन्त्र रूप से निश्चित होता है प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वह जितनी मात्रा मे चाहे वस्तु को खरीदे, जिसका परिणाम यह होता है कि वस्तु की पूर्ति तुरन्त ही समाप्त हो जाती है। परन्तु जब कृत्रिम विधियो से मूल्य नीचा रखा जाता है, तब यह स्वभाविक ही है कि माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाय। उपभोक्ताओं को वस्तुओं की प्राप्ति या तो उनके अपने प्रभाव से हो या उनको अपना अमूल्य समय नष्ट करके लम्बी-लम्बी लाइनो मे खडे होकर वस्तु को प्राप्त करना पडे।[4] इसलिये उपभोक्ताओं को इन कठिनाइयो से बचाने के लिये, और उनके उपभोग स्तर को न गिरने देने के लिये, यह आवश्यक है कि मूल्य नियन्त्रण के साथ-साथ वस्तुओं के वितरण को भी नियमित किया जाय। दूसरे शब्दो मे राशनिंग प्रणाली स्थापित की जाय। परन्तु यह समझ लेना एक बडी भूल होगी कि राशनिंग सदैव ही मूल्य नियन्त्रण के साथ ही चलता है। यद्यपि इसमें कोई सदेह नहीं कि मूल्य नियन्त्रण की सफलता के लिये राशनिंग अनिवार्य है, परन्तु व्यवहार मे मूल्य नियन्त्रण के बिना भी राशनिंग व्यवस्था की आवश्यकता हुई है। ऐसा उस समय हुआ है, जबकि सरकार ने किसी वस्तु के उपभोग को नियन्त्रित करना आवश्यक समझा है।

राशनिंग व्यवस्था का प्रयोग लगभग प्रत्येक समय मे ही, वस्तुओं की कमी से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो को दूर करने के लिये किया गया है, परन्तु इसका विस्तृत उपयोग प्रथम महायुद्ध मे ही हुआ था। युद्ध-काल मे वस्तुओं की कमी हो जाना स्वाभाविक ही है, इसीलिये प्रथम महायुद्ध मे भाग लेने वाले लगभग प्रत्येक देश मे ही राशनिंग व्यवस्था चालू की गई थी। दूसरे महायुद्ध काल मे तो इसका उपयोग और भी बढचढ कर किया गया। परन्तु यह केवल कुछ ही देशो जैसे ग्रेट-ब्रिटेन में ही सफल हुई है। सच तो यह है कि राशनिंग व्यवस्था की कार्य विधि बहुत ही जटिल होती है और तनिक सी लापर्वाही से सब कुछ चौपट हो सकता है। इसलिये इसकी सफलता निम्न बातो पर निर्भर करती है :—

4. A. C. Pigou, *Op. Cit*, Page 215.

(अ) सर्व प्रथम, प्रशासन मे पूर्ण समन्वय होना चाहिये और वस्तुओ का वितरण एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार होना चाहिये ताकि ठीक समय पर उचित स्थानो पर वस्तुओ को भेज दिया जाय।

(ब) दूसरे, उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ का उचित ज्ञान होना भी आवश्यक है, ताकि उसी के अनुसार यह निर्धारित किया जा सके कि किस क्षेत्र मे वस्तु की कितनी मात्रा भेजी जाय। सभी व्यक्तियो की आवश्यकताओ का सही ज्ञान उसी समय हो सकता है, जबकि प्रत्येक मकान मे रहने वालो की सख्या सम्बन्धी सूचना प्राप्त की जाय। इस सूचना को प्राप्त करके एक राशनकार्ड बनाया जाय और प्रत्येक घर मे एक कार्ड दे दिया जाय, जिसको दिखाकर वह वस्तु खरीद ले। व्यवहार मे यह ही रीति अपनाई गई है। बहुधा सरकारो ने वस्तुओं के न्यायपूर्ण वितरण के लिये प्रत्यक व्यक्ति के लिये वस्तु की मात्रा निश्चित की है, परन्तु कही-कही पर एक अधिकतम सीमा निश्चित करके उपभोक्ताओ को यह भी स्वतन्त्रता दी गई है कि अपनी इच्छानुसार जितनी वस्तु चाहे खरीदें।

(स) तीसरे वस्तुओ की पूर्ति को ध्यान म रखकर प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से वस्तु की मिलने वाली मात्रा निर्धारित की जाय। यह मात्रा ऐसी होनी चाहिये, जो औसत व्यक्ति की आवश्यकता से न तो कम हो और न अधिक, क्योंकि यदि कम होगी तो व्यक्ति का जीवन स्तर गिर जाने से उसको कार्य कुशलता पर बुरा प्रभाव पडेगा और अधिक होने से वस्तु की बर्बादि होने की सम्भावना रहेगी।

(द) अन्त मे राशनिग कर्मचारी और जनता दोनो ही मे ईमानदारी रहनी चाहिये। यदि राशनिग अधिकारियो मे बेईमानी और घूँसखोरी की भावना जाग्रत हो जायगी तो जाली राशन कार्ड बनेंगे और वस्तुएँ चोर-बाजारी से बिकेगी। इसी प्रकार यदि व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यो की सख्या को बढा-चढाकर बताता है तो इससे सारे समाज को ही हानि होगी और वस्तुओ का न्यायपूर्ण वितरण भी नही हो पायेगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राशनिग प्रणाली की व्यवस्था कोई सरल बात नही है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि इस प्रणाली मे उपभोक्ताओ की स्वतन्त्रता बहुत कुछ कम हो जाती है। वे अपनी इच्छानुसार वस्तुओ का उपभोग नही कर पाते। उनको उन्ही वस्तुओं का उपभोग करना पडता है जोकि उन्हे राशनिग प्रणाली मे दी जाती हैं। ग्रेट ब्रिटेन मे उपभोक्ताओ को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिये प्रयत्न किये गये थे। वहाँ पर सरकार ने प्रत्येक वस्तु के कुछ बिन्दु (Points) निर्धारित कर दिये थे और हर एक व्यक्ति के लिए इन बिन्दुओ की एक अधिकतम सख्या निर्धारित कर दी थी जिसके अन्तर्गत वस्तुओ को जिस प्रकार चाहे खरीद सकता था। अत कुछ सीमा तक राशनिग प्रणाली मे उपभोक्ताओ को होने वाली असुविधायें कम अवश्य हो गई थी परन्तु राशनिग प्रणाली की व्यवस्था में प्रबन्ध सम्बन्धी कठिनाइयाँ तब भी उपस्थित रही। परन्तु इन कठिनाइयो को दूर नही किया जा सकता और कितने ही प्रयत्न इस ओर क्यों न किये जायें फिर भी इस

प्रणाली में अनुमानों से काम अवश्य ही लेना पड़ेगा और यह प्रणाली कभी भी सरल और दोष रहित नहीं बनाई जा सकती। इस सम्बन्ध में केनन ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अपने विचार प्रकट किये हैं जिनको प्रो० पीगू ने अपनी पुस्तक में दुहराया है। वह कहते हैं कि "समान आय वाले परिवार जिन अनुपातों में विभिन्न जीवन की अनिवार्यताओं का उपभोग करते हैं वे अलग-अलग होते हैं। साधारण समयों में वे अपने व्यय को विभिन्न अनिवार्यताओं में इस प्रकार विभाजित करते हैं जिसे वे सबसे अच्छा समझते हैं, कुछ रोटियाँ अधिक प्राप्त करते हैं, कुछ मांस और दूध आदि-आदि। राशनिंग कर देने से इस प्रकार की भिन्नतायें समाप्त हो जाती हैं, हर परिवार को हर वस्तु की, प्रति व्यक्ति समान मात्रा दी जाती है, आयु, लिंग, पेशा आदि बातों पर बड़ी कठिनाई से ही ध्यान दिया जा सकता है।"[5] इसलिये अच्छा तो यही होगा कि राशनिंग प्रणाली केवल आर्थिक संकट काल में ही स्थापित की जाय।

भारत में राशनिंग प्रणाली—भारत में राशनिंग का आरम्भ द्वितीय महायुद्ध काल में हुआ था। युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में सरकार ने केवल मूल्यों को नियन्त्रित करके ही स्थिति को ठीक करने का प्रयत्न किया था परन्तु स्थिति को बिगड़ता देख कर सरकार ने सन् १९४३ में बम्बई शहर में राशनिंग व्यवस्था की। धीरे-धीरे मार्च सन् १९४५ तक भारत के बड़े बड़े शहरों में भी राशनिंग व्यवस्था चालू कर दी गई और मद्रास और बम्बई में तो ग्रामीण क्षेत्रों में भी राशनिंग व्यवस्था लागू कर दी गई थी। फिर भी जो कुछ प्रयत्न किये गये थे वे देश की आवश्यकता के अनुसार नहीं थे और राशनिंग का क्षेत्र काफी सकुचित रहा। सरकार ने प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक पौंड और प्रत्येक बच्चे के लिये ½ पौंड की मात्रा निर्धारित की थी परन्तु बाद में समय-समय पर इस मात्रा को घटाया गया था।

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि भारत में राशनिंग केवल खाद्यान्न के सम्बन्ध में ही किया गया था। जहाँ तक अन्य उपभोक्ताओं की वस्तुओं का सम्बन्ध था उनकी पूर्ति को भी नियमित करने के लिये प्रयत्न किये गये थे। कुछ क्षेत्रों और शहरों में चीनी का भी राशन कर दिया गया था। कपड़े पर भी कन्ट्रोल लगाया गया था और कुछ स्थानों पर कपड़े का राशनिंग भी कर दिया गया था। इसी प्रकार मिट्टी के तेल का भी राशन कर दिया गया था। परन्तु भारत की राशनिंग व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि राशन की मात्रा प्रत्येक स्थान पर अलग अलग थी, जिसको किसी वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं किया गया था। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण देश के लिये राशनिंग की समुचित व्यवस्था भी नहीं की गई थी। कुछ क्षेत्रों में राशनिंग व्यवस्था लागू कर दी गई थी और कुछ को बिलकुल ही छोड़ दिया गया था। यद्यपि भारत में राशनिंग को आशातीत सफलता प्राप्त न हो सकी थी फिर भी इतना अवश्य था कि कुछ क्षेत्रों में वस्तुओं का वितरण अधिक न्यायसंगत हो गया था। हमारे देश में इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह

5 A C Pigou, Ibid p, 220.

था कि वह मूल्यों को कम नहीं कर पाई थी। सच तो यह है कि हमारे देश की राशनिंग प्रणाली अन्य देशों की तुलना में एक कोरा मजाक ही थी। आज भी कुछ वस्तुओं का नियन्त्रित वितरण किया जा रहा है जैसे कोयला आदि और गेहूँ का तो सरकार ने एक प्रकार का राशनिंग फिर से चालू कर दिया है। पिछले कुछ महीनों से सरकार ने गेहूँ के वितरण के लिये सरकारी गल्ले की दुकानें प्रत्येक नगर में चालू कर रखी हैं। इन दुकानों से उचित मूल्यों पर गेहूँ की एक निश्चित मात्रा निम्न आय वाले व्यक्तियों को दी जाती है। सरकार ने जनता की सुविधा के लिये राशन कार्डों की व्यवस्था भी कर दी है।

वस्तुओं में मिलावट (Adulteration in Commodities)—

अभी हमने सरकार द्वारा वस्तुओं की पूर्ति एवं मूल्य नियन्त्रण सम्बन्धी बातों का अध्ययन किया है। साधारणतया वस्तुओं के मूल्यों एवं पूर्ति को नियन्त्रित करने की नीति पूर्णतया सफल नहीं हो पाती। इस असफलता का एक कारण यह हो सकता है कि व्यापारी लोग लाभ कमाने के लालच से वस्तुओं में मिलावट कर देते हैं, जिससे वस्तुओं के गुण कम हो जाते हैं और वह घटिया हो जाती हैं। ऐसा उस समय होता है जबकि सरकार वस्तुओं के नीचे मूल्य निश्चित करती है। व्यापारी लोग वस्तु में घटिया किस्म की वस्तुएं मिलाकर बचने लगते हैं। गत वर्षों में मिलावट करने की आदत लोगों में बहुत उत्पन्न हो गई है। अन्य वस्तुओं की अपेक्षा खाने की वस्तुओं एवं दवाइयों में मिलावट करना एक साधारण सी बात समझी जाने लगी है। इस प्रथा से सारे समाज को ही हानि पहुँचती है। इसलिए राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह इस सामाजिक बुराई को रोके और समाज को ऐसी कुरीतियों से बचाये।

वस्तु में मिलावट करने का अभिप्राय यह है कि किसी 'प्रमापीकृत' (Standard) वस्तु में जिसके मूल्य काफी ऊँचे हों उसी से मिलती-जुलती ऐसी सस्ती वस्तु को मिलाया जाय जिससे वस्तु के गुणों में कमी हो जाय परन्तु उसके दाम उतने ही प्राप्त हों जितने कि प्रमापीकृत वस्तु के। यह मिलावट कई प्रकार से की जा सकती है प्रथम प्रकार की मिलावट ऐसी हो सकती है जिससे वस्तु के गुणों को कम कर दिया जाय, या उसकी शक्ति को कम कर दिया जाये जैसे, गेहूँ के आटे में मक्का या जौ का आटा मिलाना, सरसों के तेल में लाहा का तेल मिलाना दूध में पानी मिलाना इत्यादि। दूसरे प्रकार की मिलावट ऐसी हो सकती है जिसमें किसी घटिया वस्तु को मिलाने के स्थान पर वस्तु के मूल्यवान मौलिक गुणों को किसी विधि द्वारा कम कर दिया जाय जैसे दूध में से मक्खन निकालने के पश्चात् उसे खालिस दूध के स्थान पर बेचना। अंतिम प्रकार की मिलावट ऐसी हो सकती है जिसमें किसी मूल्यवान वस्तु के स्थान पर घटिया वस्तु को मूल्यवान वस्तु की तरह बेचा जाय, जैसे बनस्पति घी को देसी घी की तरह बेचना या लेबिल बदल देना या पैकिंग बदल देना या असली क्यूटीकोरा पाउडर के डिब्बों में रेलम खरिया भर कर

बेचना। स्पष्ट है कि इन सब विधियों से उपभोक्ताओं को कितनी हानि होती है। एक ओर तो उन्हें दाम पूरे देने पर भी असली वस्तु नहीं मिल पाती दूसरी ओर घटिया वस्तु के सेवन से स्वास्थ्य और खराब होता है। खाने की वस्तुओं और दवाइयों में मिलावट करना तो बहुत ही घातक हो सकता है। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस प्रकार की रीतियों को बन्द किया जाय। यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह सरासर बेईमानी और धोखेबाजी है। उपभोक्ताओं को घटिया वस्तु देकर असली वस्तु जैसे मूल्य ले लेना धोखा नहीं तो और क्या है? इसके अतिरिक्त खाने की वस्तुओं में मिलावट करने से अनेकों प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। दवाइयों में मिलावट करने से तो मरीज़ की मृत्यु तक हो सकती है।

वस्तुओं में मिलावट करने से केवल उपभोक्ताओं को ही हानि नहीं होती बल्कि उत्पादकों को भी हानि होती है। जो उत्पादक ईमानदार होते हैं, और मिलावट करना बेईमानी समझते हैं, वे मिलावट करके वस्तुओं को बेचने वाले उत्पादकों से प्रतियोगिता नहीं कर पाते हैं क्योंकि वे असली वस्तुओं को उतने सस्ते मूल्यों पर नहीं बेच सकते जिन पर कि मिलावट की हुई वस्तुएँ बिकती हैं। उनकी बिक्री कम होती है और उन्हें हानि होती है और अन्त में या तो उन्हें भी मिलावट करने पर विवश होना पड़ता है या अपना उत्पादन बन्द कर देना होता है। यदि वे मिलावट करना आरम्भ कर दें तो फिर इस दूषित चक्र (Vicious Circle) का कभी भी अन्त न हो पायेगा और यदि वे ऐसा नहीं करते तो उन्हें अपना उत्पादन बन्द करना पड़ेगा जिससे समाज को ख़ालिस वस्तुओं का मिलना ही कठिन हो जायेगा। इसके अतिरिक्त जब प्रमाणीकृत वस्तुओं के डिब्बों में नकली वस्तुयें भर कर बेची जायेंगी, तो इससे जनता का विश्वास डिग जायगा और उनकी प्रसिद्धि भी समाप्त हो जायगी। यह भी नहीं बल्कि जनता का विश्वास फिर असली वस्तुओं पर से भी उठ जाता है। हर व्यापारी और उत्पादक बेईमान समझा जाने लगता है। इस प्रकार ऐसे दूषित वातावरण में न तो व्यक्तियों में असली और मिलावट की हुई वस्तुओं के बीच भेद करने की रुचि ही रहती है और न पहिचान करने की शक्ति ही और दूसरी ओर ईमानदार उत्पादकों को न तो कोई प्रोत्साहन ही मिलता है और न उनके लिये व्यापारिक जगत में कोई स्थान ही रहता है।

आधुनिक मनुष्य ने बेईमानी करने के लिए अपनी बुद्धि का बड़ा ही उत्तम प्रयोग किया है। यह बात वस्तुओं में मिलावट करने के सम्बन्ध में तो और भी सही उतरती है। मिलावट करने वालों ने वस्तुओं में मिलावट करने में बड़े ही निराले और अद्भुत ढंगों का प्रयोग किया है, जैसे खाने की वस्तुओं में मिलावट करने में सफल होने के लिए वस्तुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग दिये गये हैं, बनावटी खुशबू दी गई है दवाईयों के डिब्बों पर गलत लेबिल लगाना या असली दवाई के डिब्बों में नकली दवाई बेचना या किसी ख्यात वाली फर्म की प्रसिद्ध दवाइयों के लेबिलों को गैर कानूनी ढंग से छपवा कर नकली दवाइयों के डिब्बों पर चिपकाना या इस प्रकार के डिब्बे बनवाना जैसे कि प्रसिद्ध वस्तुओं के हों और उनमें नकली वस्तुओं को भर कर

बेचना या प्रमापीकृत वस्तुओं के पुराने डिब्बों में सस्ती घटिया वस्तुओं को प्रमापीकृत वस्तु की तरह बेचना, इत्यादि ऐसी विधियाँ हैं जिनके द्वारा मिलावट करने वाले बड़ी सुगमता से उपभोक्ताओं को बेवकूफ बनाकर अपनी वस्तुओं की निकासी करने में सफल हो जाते हैं।

मिलावट करना कोई नई क्रिया नहीं है। बेईमानी और धोखेबाजी बहुत पुराने समय से ही वैधानिक जुर्म माने गये हैं और इसी प्रकार वस्तुओं में मिलावट करना भी बहुत प्राचीन समय से होता चला आया है। भारतवर्ष, यूनान, चीन, इंगलैंड आदि देशों में इस कुरीति को रोकने के लिये प्राचीन समय से ही प्रयत्न होते आये हैं और सरकार को उत्तम सफलता भी प्राप्त हुई थी। परन्तु आजकल यह कुरीति अपनी चरम सीमा पर है और विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ मिलावट करने की नित नई विधियाँ देखने में आ रही हैं। आजकल इस समस्या का रूप और आकार इतना विस्तृत हो गया है कि उपभोक्ता के लिये न तो कोई गुंजायश ही है और न उपभोक्ता के पास ऐसी कोई विधि है जिससे वह वस्तुओं में की गई मिलावट को पहिचान सके और न उसके पास इतनी शक्ति ही है जिससे वह इस कुरीति को रोक सके। अतः स्पष्ट है कि इसका अन्त करने का सम्पूर्ण दायित्व सरकार पर ही है। उन्नतिशील देशों में सरकार ने अपनी जिम्मेदारी को समझ कर समाज की सुरक्षा करने के लिये इस विषय में कानून बनाये हैं और खाद्य पदार्थों के लिये एक निश्चित मान (Standard) निर्धारित किया है।

भारत में वस्तुओं की मिलावट को रोकने के उपाय—भारत में भी वस्तु में मिलावट करने की प्रथा आजकल बहुत बढ़ गई है और आश्चर्य तो यह है कि मामूली से मामूली वस्तु में भी मिलावट की जा रही है। घी और दूध जैसी वस्तुओं का तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। यह अनुमान लगाया गया है कि १९ से ६६% लोग दूध में मिलावट करते हैं और घी में ७ से ६८% तक मिलावट करते हैं।[6] सन् १९५४ तक लगभग प्रत्येक प्रान्त में खाद्य पदार्थों में मिलावट को रोकने के लिये कानून बने हुए थे। परन्तु वह मिलावट को बन्द करने में सफल नहीं हुए थे, क्योंकि निरीक्षण तथा प्रबन्ध करने के लिये इनके पास लिखे पढ़े व्यक्तियों की कमी थी। इसके अतिरिक्त कानूनों में भी कमियाँ थीं इसलिये, भारतीय संसद ने सन् १९५४ में 'खाद्य पदार्थों में मिलावट निरोधक अधिनियम' बनाया। यह अधिनियम सारे ही राज्यों में लागू कर दिया गया है और यह प्राचीन अधिनियमों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और अच्छा निरोधक भी। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक खाद्य पदार्थ मिलावट की हुई समझी जायगी यदि उसकी प्रकृति प्रवृत्तियां व गुण इस प्रकार की नहीं हैं जैसे कि बताये जाते हैं, यदि उसमें कोई ऐसी वस्तु मिला दी गई है जिससे कि वह हानिकारक वस्तु बन गई है, यदि उसके स्थान पर कोई ऐसी सस्ती वस्तु पूर्णतया या अंशतया मिला दी है जिससे कि मुख्य वस्तु हानिकारक हो गई है यदि वस्तुओं के

6 Dr Norman Wright *Report on the Development of Cattle and Dairy Industries of India*, 1952, p p 24 31

मौलिक गुणो को पूर्णत या अशतः कम कर दिया गया है, यदि उसे गन्दे स्थानो पर तैयार किया गया है या गन्दे डिब्बो मे बन्द किया गया है, यदि उसमें किसी जहरीली वस्तु का मिश्रण कर दिया है, यदि उसम किसी गन्दी या सडी हुई वस्तु को मिलाया गया है, यदि उस वस्तु का डिब्बा किसी हानिकारक वस्तु का बनाया गया है, यदि प्रमाणित रगो की अपेक्षा उसमें अन्य रगो का प्रयोग किया गया है और यदि उसके गुण अथवा विशुद्धता प्रमाणित स्तरो से नीचे है इत्यादि। इसके अतिरिक्त अधिनियम के अनुसार किसी वस्तु का अन्य व्यापार चिन्हो (Brands) के नाम से बेचना भी जुर्म है और इसके अन्तर्गत हर वह वस्तु सम्मिलित होगी जो या तो नकली है या किसी अन्य खाद्य पदार्थ से इतनी मिलती जुलती है कि धोका होने की सम्भावना है, या उसको किसी ऐसे स्थान या देश से सम्बन्धित कर दिया गया है जहाँ की वह नही है या लेबुल पर या किसी अन्य प्रकार से उसके गुणो की झूठी और गलत व्याख्या की गई है। अधिनियम में कुछ खाद्य पदार्थों के लिये विशेष मान भी निश्चित कर दिये है और यह आवश्यक है कि वस्तुऐ उसी प्रमाण की बेची जायें। यदि कोई व्यापारी प्रमाणित मान से कम की वस्तुऐं बेचता है तो उसको दड दिया जायेगा। अधिनियम में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि राज्य सरकारे चाहे तो वह खाद्य पदार्थो के निरीक्षण के लिये निरीक्षक नियुक्त कर सकती हैं जिनका काम व्यापारियो एव उत्पादको से खाद्य पदार्थों के नमूने इकठ्ठे करना होगा। यह नमूने सरकारी विश्लेषण कर्त्ता (Public Analysts) के पास भेजे जा सकते है। यदि नमूनों में किसी प्रकार की मिलावट मिलती है तो उत्पादक एव व्यापारी पर मुकदमा चलाया जा सकता है। यह निरीक्षक उन स्थानो का भी निरीक्षण कर सकने है जहाँ पर कि खाद्य पदार्थों का उत्पादन किया जा रहा है या बेचा जा रहा है या गोदामो में भरा जा रहा है। क्रेता भी वस्तुओ के नमूने सरकारी विश्लेषण कर्त्ता के पास भेज सकते है परन्तु उनको इसके लिये कुछ शुल्क देना पडेगा। यदि नमूने मे किसी प्रकार की भी मिलावट मिलती है तब यह शुल्क वापिस कर दिया जायेगा। यदि किसी व्यापारी का चालान प्रथम बार हुआ है तो उसको एक वर्ष की सजा या तो २,०००) रुपए के जुर्माना या दोनो का दड दिया जा सकता है और यदि किसी व्यापारी का यह पहला जुर्म नहीं है तब उसको चार वर्ष की सज़ा और जुर्माना दोना का दड दिया जा सकता है।

बडे खेद की बात है कि इस अधिनियम के होते हुये भी खाद्य वस्तुओ की मिलावट अभी तक चल रही है इसका मुख्य कारण यह है। कि कर्मचारियो के अभाव म यह सम्भव नहीं है कि सब कारखानो और सस्थाओं का निरीक्षण किया जावे। इसके अतिरिक्त कर्मचारियो मे घूसखोरी और भ्रष्टाचार बहुत प्रचलित है। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिनियम मे अभी भी इतनी कमियाँ हैं कि वकील लोग अपनी बुद्धिमानी से मिलावट करने वालो को बचाने की कोई न कोई विधि अवश्य ही मालूम कर लेते हैं।

हमारे देश में नकली इन्जेक्शन और दवाइयो के बनाने में भी उत्पादको को

पुस्तक-दूसरी



राजस्व

अध्याय १

राजस्व का परिचय
(Introduction to Public Finance)

राजस्व की परिभाषा—

राजस्व अर्थशास्त्रीय विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इस शब्द का अभिप्राय राज्य की वित्तीय व्यवस्था के विज्ञान एवं कला से है। राज्य किस प्रकार अपनी आय इकट्ठा करता है और किस प्रकार उसका व्यय करता है, यही मुख्य में राजस्व का विषय है। वास्तव में राजस्व अंग्रेजी भाषा के शब्द Public Finance का शब्दार्थ नहीं है। इसका सही शब्दार्थ तो 'जनता वित्त' होता। हम इस विषय में जनता सम्बन्धी बातों का ज्ञान तो करते हैं परन्तु हमारा जनता की वित्तीय व्यवस्था से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। सही मानो में तो हम जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था 'राज्य' की वित्तीय व्यवस्था का अध्ययन 'राजस्व' के अन्तर्गत करते हैं। इसीलिये हिन्दी में अंग्रेजी भाषा के शब्द का अर्थ 'राजस्व' किया गया है। 'राजस्व' एक विस्तृत शब्द है, जिसमें सारी राजकीय संस्थाओं एवं पदाधिकारियों की वित्तीय व्यवस्था का अध्ययन सम्मिलित है। इस प्रकार राजस्व में हम व्यक्तियों का अध्ययन व्यक्तिगत रूप में न करके सामूहिक रूप में करते हैं। राजस्व की अनेकों परिभाषायें देखने में आती हैं। हम उनमें से कुछ अधिक महत्वपूर्ण परिभाषाओं को यहाँ पर लेंगे —

प्रो० सी एफ. बैस्टेबिल (C F. Bastable) के शब्दों में, "सब राज्यों के लिये, चाहे—वे अच्छी तरह विकसित हैं या बुरी तरह—किसी न किसी प्रकार के साधन आवश्यक होते हैं, और इसीलिये राजकीय साधनों की पूर्ति एवं उनका उपयोग अध्ययन का एक विषय बन गये हैं, जिसे अंग्रेजी में 'राजस्व' कहते हैं।" कुछ लेखकों[1] को इस परिभाषा में कुछ आपत्तियाँ हैं। इनके अनुसार 'साधन' शब्द अस्पष्ट है। यह सब ही प्रकार के साधनों—चाहे मौद्रिक हो या अमौद्रिक, भौतिक हों या अभौतिक—को सम्बोधित करता है, जब कि इन लेखकों का विचार है कि राजस्व में केवल राज्य के मौद्रिक तथा साख सम्बन्धी साधनों को ही सम्मिलित करना चाहिये। परन्तु यहाँ पर यह बता देना उपयुक्त होगा (जैसा कि इन लेखकों

1. Mehta and Agrawal, *Public Finance—Theory and Practice* 1951, Page 7.

ने स्वय ही माना है) कि विभिन्न भौतिक एव अभौतिक या मौद्रिक एव अमौद्रिक साधनो के बीच भेद करना सरल नही है। दूसर राज्य अपने काय सचालन के लिय सभी प्रकार के साधनो से काम लेता है और फिर आज का युग मुद्रा का युग है। मद्रा का आजकल वह स्थान है जो किसी भी वस्तु का नही है। आज के युग में देश प्रम मा का प्यार, सच्चाई ईमानदारी सब ही अभौतिक वस्तुओ का अस्तित्व समाप्त हो गया है और इनका महत्व मुद्रा म ही सिमट कर रह गया है। इसलिय साधन शब्द का प्रयोग बॅस्टबिल ने बहुत ठीक किया है। इस बात पर किसी प्रकार की आपत्ति करना अनावश्यक है।

श्रीमती उमलाहिक्स (Mrs U K Hicks) व्यक्तिगत मामलो तथा राजकीय मामलो के भद को स्पष्ट करते हुय कहती ह कि दूसरा समह उन सेवाओ (और कुछ स्थितियों म वस्तुओं) की व्यवस्था करने म व्यस्त रहता है जिनका क्षत्र और विविधता उपभोक्ताओ की प्रत्यक्ष इच्छाओ द्वारा नही बल्कि सरकारी संस्थाओं के निणय द्वारा निर्धारित होते हैं अर्थात प्रजातन्त्र म नागरिको के प्रतिनिधियों द्वारा राजस्व म हम केवल दूसरे समह की क्रियाओ स ही सम्बन्धित ह।[2]

श्रीमती हिक्स के इन शब्दो से राजस्व के विषय म एक बात के अतिरिक्त और कुछ नही ज्ञात होता अर्थात राजस्व मे केवल राजकीय सस्थाओ की क्रियाओ का अध्ययन होता है। यदि देखा जाय तो यह राजकीय अथशास्त्र (Public Economics) की परिभाषा हुई। राजस्व मे हम राजकीय अथशास्त्र के केवल उस भाग से सम्बन्धित ह जिसमे राज्य द्वारा एकत्रित धन और उसके उपयोग का अध्ययन किया जाता है। श्रीमती हिक्स ने भी कदाचित इस पर ध्यान दिया हो। इसीलिय आग चलकर उन्होने कहा है कि राजस्व का मुख्य विषय उन विधियो का निरीक्षण एव मूल्याकन करना है जिनके द्वारा सरकारी संस्थाएँ आवश्यकताओ की सामूहिक सतुष्टि करने का प्रबन्ध करती हैं और अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिय आवश्यक कोष प्राप्त करती हैं।[3]

प्रोफसर फिनल शिराज के अनुसार सक्षप म राजस्व उन सिद्धान्तो का अध्ययन है जिनके अनुसार राजकीय पदाधिकारियो के कोषो का एकत्रीकरण एव व्यय होता है। एक वास्तविक विज्ञान के रूप मे इनका सम्बन्ध उन तथ्यो से है जैसा कि वे होते ह। यह उन वित्तीय घटनाओ के जटिल प्रवाह मे खोज करता है और धैर्ययुक्त और क्रमबद्ध खोज जिसको हम अनुसधान कहते है से उनम छिपी हुई एकरूपता का पता लगाता है और एकरूपता के वाक्यो को नियमो की भाति बताया जाता है।[4]

इस परिभाषा मे शिराज ने राजस्व के विषय एव क्षत्र पर अन्य लखको की अपेक्षा अधिक विचार किया है। उन्होने इसको कला और विज्ञान दोनों ही माना

2 U K Hicks *Public Finance* 1948 Page 1
3 *Ibid* Page 6
4 Findlay Shirras *Science of Public Finance* Part 1

है। इसलिये यह परिभाषा अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक है। कुछ लेखकों ने इसे सन्तोषजनक तो माना है परन्तु इससे पूर्णतया सतुष्ट नहीं है। उनका कहना है कि 'राजकीय संस्थाओं' जिसके लिये शिराज ने अंग्रेजी के शब्दों (public authorities) का प्रयोग किया है, के अन्तर्गत, प्रमण्डल आदि संस्थाएँ भी सम्मिलित हो जाती हैं, जबकि राजस्व में हम केवल राज्य की क्रियाओं से ही सम्बन्धित रहते हैं। यह लेखक यह ही भूल गये कि अंग्रेजी भाषा के शब्द authorities और bodies में बहुत अन्तर है। जबकि public authorities पूर्णतया public bodies हो सकती हैं, public bodies हर स्थिति में public authorities नहीं हो सकती। प्रमण्डल public body अवश्य है परन्तु public authority नहीं। Public authorities के अन्तर्गत हम केन्द्रीय सरकार, प्रान्तीय सरकार, नगरपालिकाओं, नगर सुधार ट्रस्ट, वैधानिक ग्राम पंचायतों, जिला बोर्ड आदि जो राज्य की ओर से काम करती हैं और जिन्हें राज्य ने वैधानिक अधिकार दे रखा है, उन्हीं को सम्मिलित करते हैं। प्रमण्डल और कम्पनी public bodies में सम्मिलित होगी। इसलिये इस विषय पर आपत्ति करना अन्यायपूर्ण है।

डा० डाल्टन का कथन है कि राजस्व उन विषयों में से एक है, जो अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र की सीमाओं पर स्थित है। "यह राजकीय पदाधिकारियों की आय और व्यय से सम्बन्धित है, और इनके पारस्परिक समन्वय से भी। राजस्व के सिद्धान्त सामान्य सिद्धान्त हैं जो इन मामलों के विषय में प्रतिपादित किये जा सकते हैं।"[5]

शिराज और डालटन की परिभाषाओं में, स्पष्ट ही है, कोई अन्तर नहीं है।

आर्मिटेज स्मिथ (Armitage Smith) के अनुसार, "राजकीय व्यय तथा राजकीय आय की प्रकृति तथा उसके सिद्धान्तों की खोज को राजस्व कहते हैं।"[6]

लुट्ज (Lutz) के शब्दों को दुहराने के लिये, "राजस्व उन साधनों की व्यवस्था, सुरक्षा तथा वितरण का अध्ययन करता है, जो राजकीय अथवा प्रशासन सम्बन्धी कार्यों को चलाने के लिये आवश्यक होते हैं।"[7]

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से यह ही विदित होता है कि इनमें केवल शब्दों का ही हेर-फेर है वरन् अभिप्राय सब का एक समान है, अर्थात् राजस्व, राजकीय संस्थाओं के आय और व्यय का एक अध्ययन है।

राजस्व का विषय एवं क्षेत्र—

राजस्व की परिभाषा से इसकी विषय सामग्री भली भांति विदित है। राज्य और उससे सम्बन्धित संस्थाएं प्रशासन एवं सामाजिक कल्याण के लिये किस प्रकार धन एकत्रित करती हैं और उसको किस प्रकार व्यय करती हैं—यही राजस्व के अध्ययन

5. Hugh Dalton, *Principles of Public Finance*, Page 1.
6. Armitage Smith, *Principles and Methods of Taxation*, Page 14.
7. H. L. Lutz, *Public Finance*, Page 3

का विषय है। इस प्रकार राज्य की क्रियाओं के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उसके धन के स्रोतों और खर्चों की मदों का भी ज्ञान प्राप्त हो। यह ध्यान रहे कि हम राज्य की केवल उन क्रियाओं का ही अध्ययन नहीं करते जिनका सम्बन्ध आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि से होता है, बल्कि उनका अध्ययन वित्तीय दृष्टिकोण से करते हैं और उनकी वित्तीय जटिलताओं पर भी दृष्टिपात करते हैं। कल्याणकारी राज्य के विचार के उदगम के बाद से तो यह निश्चित करना ही दुर्लभ हो गया है कि राज्य की किन क्रियाओं से सम्बन्धित वित्तीय जटिलताओं का अध्ययन राजस्व में किया जाय, क्योंकि आजकल तो लगभग सारी क्रियाएँ एक दूसरे से आपस में ऐसी गुथी हुई हैं कि किसी एक क्रिया को अलग करना या उसके किसी भी पहलू की ओर संकेत करना सम्भव ही नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि राज्य द्वारा सम्पन्न की जाने वाली सामाजिक क्रियाओं की वाञ्छनीयता अर्थात् बुराइयाँ तथा अच्छाइयाँ के सम्बन्ध में खोज करना राजस्व का विषय नहीं है। यह तो राजकीय अर्थशास्त्र का विषय है। राजस्व में केवल वित्त एकत्रित करने और उसको व्यय करने से सम्बन्धित क्रियाओं का ही अध्ययन किया जाता है। इन क्रियाओं की वाञ्छनीयता के विषय में खोज की जाती है और उचित सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया जाता है और समाज तथा देश पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। चाहे इन वित्तीय क्रियाओं का सम्बन्ध राज्य की आर्थिक क्रियाओं से है या राजनैतिक क्रियाओं से, या सामाजिक क्रियाओं से इसके विषय में सोचने का काम राजस्व का अध्ययन करने वाले का नहीं है।

ऊपर से देखने से तो राजस्व का क्षेत्र बहुत ही छोटा लगता है, अर्थात् राज्य की आय और राज्य का व्यय। वास्तव में यह तो राजस्व के दो बड़े-बड़े भाग हैं। इन भागों को निम्न प्रकार अन्य उपविभागों में विभाजित किया गया है। इस प्रकार राजस्व के सम्पूर्ण क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है :—

(अ) राजकीय व्यय—राज्य को किन-किन मदों पर कितना-कितना व्यय करना आवश्यक है, यह व्यय किन सिद्धान्तों के अनुसार किया जाय, इससे सम्बन्धित क्या कठिनाइयाँ हैं, इत्यादि बातों का अध्ययन इस भाग में किया जाता है।

(आ) राजकीय आय—इस भाग में हम यह अध्ययन करते हैं कि राज्य अपनी आय किन-किन स्रोतों से प्राप्त करता है, करों का क्या महत्व है, करारोपण के क्या सिद्धान्त हैं, करों के क्या प्रभाव होते हैं, इत्यादि।

(इ) राजकीय ऋण :—वैसे तो राजकीय ऋण भी, राजकीय आय का एक स्रोत है, और इसका अध्ययन भी उसी के अन्तर्गत किया जाना चाहिये। परन्तु इसका अध्ययन बिल्कुल अलग रूप से किया जाता है। इसका कारण यह है कि राजकीय आय के जो वास्तविक स्रोत होते हैं, उनसे प्राप्त किये हुये धन को लौटाने का प्रश्न नहीं उठता, परन्तु राज्य ऋण द्वारा जो धन प्राप्त करता है वह तो आय नहीं ऋण है, जिसका भुगतान राज्य को करना ही होगा। इस भाग के अन्तर्गत

हम यह अध्ययन करते हैं कि राज्य किन सिद्धान्तो के आधार पर ऋण प्राप्त करता है, ऋण क्यो लिये जाते है, किस प्रकार के लिये जाते है, इनके क्या प्रभाव होते हैं और इन ऋणो का भुगतान किस प्रकार किया जाता है इत्यादि।

(ई) वित्तीय प्रबन्ध :—इस भाग में हम यह अध्ययन करते हैं कि राज्य की ओर से सरकार वित्तीय क्रियाओ का प्रबन्ध किस प्रकार करती है। बजट किस प्रकार बनाया जाता है, बजट बनाने के क्या उद्देश्य होते है, घाटे के बजट और लाभ के बजट का क्या महत्व है, इत्यादि बातो पर खोज इस भाग मे की जाती है।

(उ) सघीय वित्त—आजकल सघीय वित्त का महत्त्व, राजस्व के एक भाग के रूप मे, काफी बढ गया है। कुछ देशो मे सघ नमूने का सरकारी सगठन है, जैसे कनाडा, आस्ट्रेलिया, सुइटजरलैण्ड, भारतवर्ष इत्यादि। इन देशो म समस्याएँ यह हैं कि सघ सरकार और उसके आधीन इकाई सरकारो (Unit Governments) मे कैसे वित्तीय सम्बन्ध हो, विभिन्न क्रियाओ का विभाजन कैसे हो, सघीय वित्त के क्या सिद्धान्त हैं इत्यादि। इन्ही का अध्ययन इस भाग मे किया जाता है।

राजस्व एव व्यक्तिगत वित्त व्यवस्था मे भेद
(Distinction between Public and Private Finance)—

यद्यपि राजकीय और व्यक्तिगत ससस्याएँ लगभग एक समान है, दोनों ही क्षेत्रों मे आय और व्यय के बीच सामजस्य स्थापित करना पडता है, और दोनों ही क्षेत्रो म वित्त व्यवस्था का रूप एक सा ही होता है, फिर भी दोनो—राज्य और व्यक्ति—ही की स्थिति एव वित्तीय व्यवस्था मे कुछ मौलिक भेद बताये जाते है। यह भेद निम्नाकित हैं। यहीं पर हम यह भी निर्णय करेंगे कि यह भेद कहा तक न्याय सगत है —

(१) राज्य का अपेक्षाकृत अधिक प्रभुत्व—यह स्वीकार करने मे किसी को भी कोई आपत्ति नहीं होगी कि राज्य का व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्रभुत्व होता है। वह अधिक शक्तिशाली है। यद्यपि दोनो के स्रोत एक से हैं—दोनों ही अपनी आय प्राप्त कर सकते है, दोनो ही दूसरों से दान ले सकते हैं और दोनो ही ऋण ले सकते हैं—फिर भी राज्य शक्तिशाली होने के कारण व्यक्तियों की सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमा सकता है और उसको आवश्यकता होने पर हडप भी कर सकता है, जो व्यक्ति के हाथ की बात नही। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की सम्पत्ति हडप नहीं कर सकता। ऐसे तो राज्य भी किसी दूसरे राज्य की सम्पत्ति हडप नही कर सकता। परन्तु बात यह है कि वह अपने ही नागरिको की सम्पत्ति पर अधिकार जमा सकता है, क्योंकि वे उसके आधीन हैं। यह विचार कुछ ठीक नही है क्योंकि राज्य नागरिको का ही एक सामूहिक रूप है। नागरिक राज्य का एक अग है। नागरिको की सम्पत्ति राज्य की सम्पत्ति है और राज्य की सम्पत्ति नागरिको की। इस प्रकार जब राज्य किसी नागरिक की सम्पत्ति हडप करता है तो ऐसा करने मे उसका यही प्रयत्न होता है कि वह नागरिक की अपेक्षा उसका अधिक

अच्छा उपयोग करे। अतः ऐसा करने में राज्य केवल अपनी आय के एक भाग को एक व्यय की मद् से निकालकर दूसरी मद् में लगा देता है, जैसा कि व्यक्ति भी करता है। इसलिये राजकीय और व्यक्तिगत वित्त व्यवस्था में इस प्रकार भेद करना न्याय संगत नहीं है।

(२) **राजकीय आय की अनिवार्य प्रकृति**—कुछ लेखकों का विश्वास है कि बिना आय के राज्य का कोई अस्तित्व ही नहीं होता क्योंकि यह जब चाहे आय प्राप्त कर सकता है। यह व्यक्तियों को कर देने पर बाध्य कर सकता है। इसी कारण दोनों—राजकीय और व्यक्तिगत वित्त व्यवस्था—में अन्तर होता है। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को रुपया देने के लिये मजबूर नहीं कर सकता। राज्य ऐसा कर सकता है। परन्तु इस प्रकार का भेद भी भ्रमपूर्ण है। एक राज्य दूसरे राज्य को भी धन देने के लिये विवश नहीं कर सकता, जैसे कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को मजबूर नहीं कर पाता। राज्य केवल अपने नागरिकों से ही धन ले सकता है। परन्तु यह इस धन के बदले में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सेवायें प्रदान करता है। व्यक्तियों से प्राप्त धन राज्य पूरा का पूरा व्यक्तियों को ही लौटा देता है। यह हो सकता है कि जिस व्यक्ति से धन प्राप्त किया गया है, या कर की राशि वसूल की गई है उसको कोई प्रत्यक्ष सेवा न प्राप्त हो। इसलिये इस प्रकार का भेद भी ठीक नहीं है।

(३) **राजकीय ऋणों का अनिवार्य चरित्र**—यह भी विश्वास किया जाता है कि राज्य अपने नागरिकों को ऋण देने के लिये विवश कर सकता है, जबकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को ऋण देने के लिये विवश नहीं कर सकता। परन्तु यह विचार भी भ्रमपूर्ण है। हम ऊपर कह चुके हैं कि जिस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को किसी भी कार्य के लिये विवश नहीं कर सकता उसी प्रकार एक राज्य दूसरे राज्य को भी बाध्य नहीं कर सकता। एक बुद्धिमान व्यक्ति को सदैव समान प्रकृति वाली वस्तुओं की ही आपस में तुलना करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी सोचना अनुचित है कि राज्य नागरिकों को ऋण देने पर विवश कर सकता है। यह केवल तानाशाही में ही हो सकता है प्रजातन्त्र में नहीं, जहां राज्य अपने नागरिकों का सामूहिक रूप होता है।

(४) **राजकीय आय की लोच**—राजकीय आय व्यक्तिगत आय की अपेक्षा अधिक लोचपूर्ण होती है। यह सच है। राज्य अपनी आय को अधिक सरलता से बढ़ा सकता है। कुछ लोगों का कहना है कि जैसे जैसे राज्य अपनी आय बढ़ाने का प्रयास करता है, व्यक्तियों की व्यक्तिगत आय कम होती जाती है। इस प्रकार राज्य केवल उस अनुपात को बदल सकता है जिस में देश की सम्पूर्ण आय नागरिकों और राज्य के बीच विभाजित रहती है। श्रीमती हिक्स का भी यही विचार है। वह कहती है कि व्यक्ति अपनी आय का एक भाग स्वयं खर्च करते हैं और दूसरे को वे आवश्यकताओं की सामूहिक सन्तुष्टि में खर्च करते हैं। इस दूसरे भाग में सुगमता से परिवर्तन किया जा सकता है। यह ध्यान रहे कि कुल

आय में भी वृद्धि हो सकती है। एक तो राज्य धन का विनियोग उत्पादक योजनाओं में कर सकता है और दूसरे व्यक्तियों की असमन्वित क्रियाओं की अपेक्षा राज्य की समन्वित क्रियाओं से कुल आय में सरलता से वृद्धि हो जाती है। और इस प्रकार राज्य की व्यक्ति की अपेक्षा राज्य की आय अधिक लोचपूर्ण होती है।

(५) राज्य की आय उसके व्यय से निर्धारित होती है—बहुधा यह कहा जाता है कि राजकीय एवं व्यक्तिगत वित्त में यह सब से बड़ा भेद है कि जबकि व्यक्ति अपने व्यय का सामंजस्य अपनी आय के साथ करता है, दूसरी ओर राज्य अपनी आय को व्यय के अनुसार प्राप्त करता है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। व्यक्ति का व्यय उसकी आय से निर्धारित होता है। इसके विपरीत राज्य पहले यह निश्चित करता है कि उसे विभिन्न मदों पर कब, कितना और कैसे खर्च करना है तत्पश्चात् वह आय के साधन निश्चित करता है। यह ध्यान रहे कि यह भेद दृढ़ नहीं है। बहुधा ऐसा होता है कि राज्य तथा व्यक्ति दोनों ही अपने अपने क्षेत्रों में अपनी प्रकृति से बिल्कुल विपरीत दिशा में कार्य करते हैं। बहुत से अवसरों पर व्यक्ति अपनी आय से कहीं अधिक खर्च करता है जैसे त्यौहारों पर, शादी में, जन्म तथा मृत्यु आदि अवसरों पर। यही कारण है कि भारतीय कृषक एवं श्रमिक इतने ऋण ग्रस्त रहते हैं। यदि उनमें इस प्रकार की भावना जाग्रत हो जाए तो भारत की आधी कठिनाईयां दूर हो जाएँ। तो, व्यक्ति इस प्रकार अपनी निश्चित एवं स्थायी आय से अधिक खर्च करके, अपनी आय को बढ़ाने का प्रयत्न करता है। राज्य के विषय में भी ऐसा होता है, कि यह आवश्यक नहीं कि राज्य सदैव ही अपने व्यय के अनुसार आय प्राप्त करने में सफल हो जाए। बहुत बार सरकार को अपने खर्चे कम करने पड़ जाते हैं जैसे आजकल ही लीजिये, भारत सरकार को अपने नागरिक प्रशासन सम्बन्धी खर्चों को कम करना पड़ रहा है ठीक इसी प्रकार इस वर्ष (१९५९) में भारत सरकार ने सुरक्षा व्यय में भी कमी कर दी है। कभी कभी तो यहाँ तक स्थिति पहुँच जाती है कि सरकार को अपनी उत्पादक योजनाओं को स्थगित कर देना पड़ता है जैसे आज कल भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारें अपनी बहुत सी योजनाओं में कमी कर रही हैं। अतः व्यक्ति और राज्य की वित्त व्यवस्था में यह भेद केवल नाम मात्र ही है। परन्तु यह बात कभी कभी ही सत्य होती है। अधिकतर वही होता है जो हम पहले कह चुके हैं।

(६) राज्य का उद्देश्य लाभ प्राप्ति नहीं होता—यह विश्वास कर लिया गया है कि व्यक्ति सदैव ही निजी लाभ की दृष्टि से कार्य करता है, परन्तु राज्य के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति अधिकांश अवसरों में यही प्रयत्न करता है कि वह अपनी आय में से कुछ न कुछ अवश्य बचाले और इस बचत को सदैव ही वह अधिकतम करना चाहता है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह सारे ही व्यक्तियों की प्रवृत्ति होती है? वास्तव में ऐसी बात नहीं है। अधिकांश व्यक्ति अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करके अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं अपेक्षाकृत बैंकों में जमा करने के। कुछ तो अपनी आय से भी अधिक व्यय करने के आदी हो जाते हैं और

फिर क्या राज्य सदैव ही लाभ रहित उद्देश्यों से कार्य करता है ? जिस प्रकार व्यक्ति अधिकतम सन्तुष्टि करने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार राज्य भी अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। राज्य का उद्देश्य यह ही होता है कि वह सामाजिक लाभ को अधिकतम करे। अधिकाधिक व्यक्तियों को अधिकाधिक मात्रा म सेवाए प्रदान करे। इसी उद्देश्य की पूर्ति म वह निरन्तर सलग्न रहता है। इस प्रकार इस आधार पर भेद करना भी न्यायसगत नहीं है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राजकीय और व्यक्तिगत वित्त म केवल अश का ही अन्तर है।

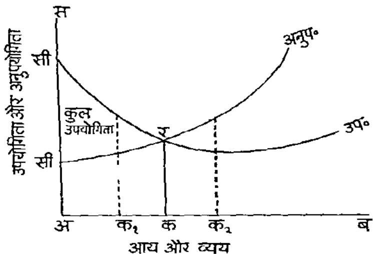
राजस्व का उद्देश्य अर्थात् 'अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त'—

हम अभी कह रहे थे कि एक व्यक्ति की भाँति राज्य भी अपनी आय और व्यय का सामजस्य इस प्रकार करता है कि वह सामाजिक कल्याण को अधिकतम कर सके। अत अधिकतम सामाजिक कल्याण का प्राप्त करना ही सरकार का मुख्य उद्देश्य होता है और यह उसकी समस्त क्रियाओ जैसे आय प्राप्त करना, व्यय करना, ऋण लेना और सुरक्षित कोष रखना इत्यादि म विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दो म हम यह भी कह सकते हैं कि राज्य की वित्तीय क्रियाओ का नियमन अधिकतम सामाजिक कल्याण नियम द्वारा होता है।

इस नियम के अनुसार राजकीय व्यय हर दिशा म उस बिन्दु तक बढ़ते रहना चाहिए जब तक कि इस व्यय स उत्पन्न होने वाला सतोष राज्य द्वारा लगाये हुए करो मे उत्पन्न होने वाले असतोष के बराबर न हो जाए। इस प्रकार सामाजिक कल्याण उसी स्थिति में अधिकतम होगा जब कि सतोष और असतोष पूर्ण सतुलन की स्थिति म होगे। अत यह नियम उन सीमाओ के निर्धारित करने म सहायता देता है, जिन तक राज्य कर लगाता जाय और अपनी क्रियाओ के क्षेत्र को बढ़ाता जाय। आधुनिक समय मे इन विषयो का बड़ा महत्त्व है। इसीलिये अधिकतम सामाजिक कल्याण के नियम का भी विशेष महत्त्व है। प्राचीन अर्थशास्त्रियो की तो बात ही और थी। वे राज्य हस्तक्षेप को पसन्द ही नहीं करते थे। उनका विचार यह था कि राज्य को प्रजा के कार्यों म अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उदाहरणार्थ, जे॰ बी॰ से॰ का विचार था कि, 'वित्त की सारी योजनाओं म सबस अच्छी योजना यह है कि कम खर्च करे और सब करो म वह कर सबसे अच्छा है जिसकी राशि सबसे कम हो।" पुराने विचारकों का यह भी कहना था कि 'सबस अच्छी सरकार वही है जो सबसे कम शासन करे।" इन लोगों के इन नारो कि 'हर कर एक बुराई है" या "द्रव्य को व्यक्तियों की जेबों मे बढ़ने के लिये छोड़ देना चाहिए' या "व्यक्तियो द्वारा व्यय किया हुआ द्रव्य उत्पादक है और सरकार द्वारा व्यय किया गया अनुत्पादक", का परिणाम यह हुआ कि प्राचीन समय म राजस्व का आकार बहुत ही छोटा रहा। परन्तु आजकल राजस्व का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत

हो गया है और यह सभी का विश्वास है कि राज्य की अपेक्षा व्यक्ति कभी भी आय और व्यय में सतुलन इस प्रकार नहीं कर सकता जिससे सामाजिक कल्याण अधिकतम हो। सरकार अपने व्यय को पूरा करने के लिये जनता से करो द्वारा धन प्राप्त करती है और उसको अपने निर्देशन में व्यय करती है।

यह नियम "उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। जैसे-जैसे मनुष्य के पास धन जमा होता जाता है धन की प्रत्येक वृद्धि के साथ उसकी उपयोगिता मनुष्य के लिये घटती जाती है। इसके विपरीत मनुष्य के पास धन की मात्रा कम होने के साथ साथ उपयोगिता बढती जाती है। इसीलिए सरकार धनी व्यक्तियों पर ऊँची दर पर कर लगाती है और निर्धन व्यक्तियों को कर से मुक्त कर देती है। इस प्रकार करारोपण द्वारा सरकार धन की असमानताओं को कम करने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर वह धन प्राप्त करके खर्च करती है और कुल उपयोगिताओं को अधिकतम करती है और सामाजिक कल्याण अधिकतम करने के ध्येय की पूर्ति करती है। अत सरकार को उस सीमा तक कर लगाकर अपनी क्रियाओं को बढाते जाना चाहिये जब तक कि व्यय से प्राप्त कुल उपयोगिताएं अधिकतम न हो जायें। इसी विचार को एक चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।



उपर्युक्त चित्र में अ ब रेखा पर आय व व्यय की इकाइया ली गई है और अ स पर उपयोगिता एव अनुपयोगिता की इकाइया। 'सी० उप०' रेखा सरकारी व्यय की सीमान्त उपयोगिताओ को प्रदर्शित करती है और 'सी० अनुप' रेखा कर द्वारा उत्पन्न अनुपयोगिता दिखाती है। सरकारी व्यय बढने के साथ साथ सीमान्त उपयोगिता कम होती जायेगी जैसा कि सी० उप० रेखा से स्पष्ट होता है। कर दाता

को कर का भुगतान करने से अनुपयोगिता बढ़ती जायगी जैसा कि 'सी० अनुप०' रेखा से स्पष्ट होता है। दोनों रेखायें र' बिन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं। यह अनुकूलतम बिन्दु है जिस पर कुल उपयोगिता अधिकतम होगी। यदि सरकार क तक कर लगायेगी तब कुल उपयोगिता कम होगी। अपेक्षाकृत उस स्थिति के जब कर 'क₁' तक लगायगी यह असतत (dotted) रेखा से दिखाया गया है। यदि सरकार कर को 'क₂' तक बढ़ाती जाय तब कुल उपयोगिता कम हो जायेगी क्योंकि अनुपयोगिता भी बढ़ती जायगी जैसा कि दूसरी सतत रेखा (dotted line) से दिखाया गया है।

व्यवहारिक कठिनाइयाँ—परन्तु यह ध्यान रहे कि यह कोई सरल बात नहीं कि करों से उत्पन्न होने वाली सीमान्त अनुपयोगिता और व्यय से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता में सन्तुलन स्थापित किया जा सके। पहले तो यह ही सम्भव नहीं कि अनुपयोगिता और उपयोगिता को नापा जा सके। फिर जब केवल एक व्यक्ति के लिए यह बताना कठिन है कि उसको त्याग से प्राप्त होने वाली अनुपयोगिता और आय से प्राप्त होने वाली उपयोगिता कब बराबर होगी तो राज्य के लिये तो यह और भी कठिन होगा। क्योंकि राज्य को तो प्रत्यक्ष रूप से कोई उपयोगिता प्राप्त होती नहीं है जो कुछ उपयोगिता प्राप्त होती है वह व्यक्तियों को ही होती है और जब व्यक्तियों को यह ज्ञात नहीं हो पाता तो राज्य को कैसे हो सकता है। दूसरे राज्य को बहुत सी बातों में भविष्य का अनुमान लगाना पड़ता है। करों से जो अनुपयोगिता व्यक्तियों को प्राप्त होती है वह कई कारणों से उत्पन्न होती है—प्रथम कर के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ मुद्रा अपने पास से देनी पड़ती है जिसकी उसको कुछ न कुछ उपयोगिता अवश्य होती है। और जितना कर बढ़ता जाता है उतनी ही उपयोगिता की हानि कर दाता को बढ़ती जाती है। दूसरे कर का भुगतान करने से व्यक्तियों को या तो अपना उपभोग कम करना होता है या बचत कम करनी होती है। दोनों ही परिस्थितियों में देश की उत्पादन शक्ति कम होगी। हां यदि लोग आवश्यकता से अधिक बचा रहे थे तब तो करारोपण से हानि के स्थान पर लाभ होगा। तीसरे करारोपण व्यक्तियों में अशान्ति उत्पन्न करता है जिसके कारण अनुपयोगिता में वृद्धि होती है। इसी प्रकार राजकीय व्यय से भी कई प्रकार से समाज को लाभ प्राप्त होता है। प्रथम, व्यक्तियों को वस्तुओं और सेवाओं का प्रत्यक्ष उपभोग करने को मिलता है। पूँजीगत वस्तुओं के प्रयोग से भी समाज को लाभ होता है। व्यक्तियों की सामान्य उत्पादन शक्ति में वृद्धि होती है और अन्त में धन का समान वितरण हो जाता है, जिससे अनेकों लाभ प्राप्त होते हैं।

परन्तु राज्य के लिये यह सम्भव नहीं कि यह अनुपयोगिताओं और उपयोगिताओं का पूर्ण ब्यौरा तैयार करके उनमें सन्तुलन स्थापित कर सके। इसलिये यह निश्चित करने के लिये कि राज्य की वित्तीय क्रियाओं से सामाजिक कल्याण अधिकतम हुआ

या नही डालटन ने निम्न आधार बताये हैं[8]:—

प्रथम, देश बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक झगड़ों से सुरक्षित है, या नहीं। यह राज्य का मौलिक कर्तव्य है कि वह देश को इन आपत्तियों से सुरक्षित रक्खे। बिना शान्ति के किसी भी क्षेत्र में प्रगति के विषय में सोचना भर श्रम होगा। आर्थिक जीवन के लिये तो शान्तिमय वातावरण और भी आवश्यक है। इसीलिये राज्य द्वारा पुलिस, जेल, न्यायालयों, सैनिकों, और सैनिक उद्योगों पर किया गया व्यय प्रत्यक्ष रूप से अनुत्पादक होते हुये भी न्याययुक्त है। डालटन ने तो यहा तक कहा है कि राज्य की नीति ही ऐसी होनी चाहिये, जिससे न तो विदेशी आक्रमणों को प्रोत्साहन मिले और न अन्दरूनी झगडे बढें। विदेशों को उत्तेजित करने वाली नीति न केवल विदेशी आक्रमणों की सम्भावना ही बढाती है बल्कि देश में भी सैनिकों आदि पर व्यय बढ जाता है। इसी प्रकार यदि देश में आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक नीतियां बुद्धिमानी से निर्मित न की जाये तो देश मे आन्तरिक अशान्ति बढेगी और शान्ति व्यवस्था पर व्यय भी अधिक होगा।

डालटन के अनुसार सामाजिक कल्याण अधिकतम करने के लिये दूसरी महत्व-पूर्ण बात यह है कि देश के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि हो। इसके अन्तर्गत दो मुख्य बातें आती हैं— (अ) प्रथम यह कि देश की उत्पादन शक्ति म वृद्धि हो और (आ) दूसरी यह कि जो कुछ उत्पन्न किया जारहा है उसके वितरण मे उचित सुधार हो। इसका अभिप्राय यह है कि वित्त व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिससे उत्पादन बढे। यदि राजस्व के अन्तर्गत सम्पन्न की गई किसी भी क्रिया से उत्पादन मे वृद्धि होती है या उत्पादन को हानि नही होती, तो वह क्रिया उचित है, अन्यथा अनुचित कहलायेगी। इसीलिये, अनिवार्य वस्तुओं या जीवन रक्षक वस्तुओं पर लगाया गया कर न्याययुक्त नही कहा जाता, क्योंकि ऐसी वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाने से व्यक्तियों को उनका उपभोग बन्द कर देना होता है जिससे उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। किसी उद्योग विशेष पर लगा हुआ कर उसके विकास को निरुत्साहित करेगा। विदेशी वस्तुओं के आयातों पर कर लगाने से देश के उद्योग विकसित होंगे अत यह न्याययुक्त होगा। इसी प्रकार धन के वितरण में आवश्यक सुधारों का अभिप्राय यह है कि धन के वितरण की असमानताएं कम हो, साथ ही साथ व्यक्तियों और कुटुम्बों की आय में होने वाले परिवर्तन भी कम से कम हों। धन के वितरण की असमानताओं को कम करना इसलिये आवश्यक है कि एक तो व्यक्तियों और कुटुम्बों को आय अपनी आवश्यकताओं के अनुसार प्राप्त हो सकेगी और दूसरे उनकी आय उपयोग करने की शक्ति के अनुसार भी होगी। आय के परिवर्तनों को कम करना भी वाछनीय है ताकि समाज का आर्थिक जीवन अधिक स्थायी बने, विशेषरूप से व्यक्तियों की आय और रोजगार स्थिति। अत राजस्व की प्रत्येक क्रिया जिसका उद्देश्य धन के वितरण की असमानताओं को कम करना हो, आय के परिवर्तनों को

8. Op cit pp 7—15

न्यूनतम करना हो और देश में रोजगार और आय के स्तरों को उन्नत करना हो, जिसके परिणामवश देश का आर्थिक जीवन अधिक स्थायी बने, वह न्यायोचित होगी और सामाजिक कल्याण में वृद्धि भी करेगी। इसके अतिरिक्त राजस्व के अन्तर्गत कोई नीति न्याय संगत है या नहीं इस बात पर भी निर्भर करेगी कि उस नीति के भविष्य में क्या प्रभाव होंगे। यदि कोई कर भविष्य में या दीर्घकाल में लोगों की कार्य करने की इच्छा और शक्ति को कम करता है तो वह उचित नहीं और उससे सामाजिक कल्याण कम होगा। इसी प्रकार यदि कोई व्यय वर्तमान में न करके भविष्य में व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करता है तो उसको केवल इसी कारण स्थगित करने का विचार नहीं करना चाहिये। अतः सामाजिक कल्याण का अनुमान करते समय वर्तमान और भविष्य दोनों ही प्रभावों को आंकना चाहिये और उनकी तुलना करके निर्णय लेना चाहिये। डाल्टन ने ठीक ही कहा है कि किसी भी वित्तीय प्रस्ताव की विवेचना करते समय इस प्रस्ताव से उत्पन्न होने वाले प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिये, समाज को होने वाले लाभों तथा हानियों के बीच पता लगाया जाये कि कौन अधिक है, इसकी तुलना अन्य प्रस्तावों के लाभ तथा हानियों से करके जो निष्कर्ष प्राप्त हो उसी के अनुसार कार्य करना चाहिये।[9] इस प्रकार के कार्य बहुत ही कठिन होते हैं, क्योंकि एक तो यह ही सरल नहीं कि भविष्य के बारे में सही अनुमान लगाये जा सकें और दूसरे अधिकांश निर्णय आर्थिक और अनार्थिक उद्देश्यों से प्रभावित होते हैं। परन्तु यदि अधिकतम सामाजिक कल्याण के सिद्धान्त के अनुसार काम करना है तो यह प्रयत्न करने ही होंगे। यह ध्यान रहे कि हम किसी भी क्रिया को अकेले ही नहीं देख सकते और यह निर्णय नहीं कर सकते कि क्रिया विशेष उचित है या अनुचित। हमें देश की समुचित राजस्व व्यवस्था को ध्यान में रख कर ही किसी क्रिया विशेष के प्रभावों का अध्ययन करना होगा। यह ही नहीं, बल्कि राजस्व नीति का न्यायपूर्ण अध्ययन करने के लिये हमें देश की आर्थिक नीति को भी ध्यान में रखना होगा। इसलिये किसी भी एक क्रिया की अच्छाई और बुराई का ज्ञान उसको सम्पूर्ण देश के आर्थिक ढांचे से अलग करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। यही बात सामाजिक कल्याण का पता लगाते समय भी ध्यान में रखनी होगी।

श्रीमती हिक्स के विचार[10]—श्रीमती उर्सला हिक्स का विचार है कि राजस्व की किसी भी नीति को निर्मित करते समय दो बातों को आधार बनाना चाहिये, एक तो 'उत्पादन स्तर' (Production optimum) और दूसरे, 'उपयोगिता स्तर' (Utility optimum)।

"यह ध्यान में रखकर कि प्रत्येक नीति का उद्देश्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि है, हमारी खोज का पहला पग, स्पष्टतया यह बताना है कि आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के साधनों को—उत्पादन—अधिकतम किया जाये। यह स्पष्ट ही है कि साधनों

9. Ibid, P. 15.
10. U. K. Hicks, op cit pp. 119 123.

के स्थिर रहने की दशा मे यदि उत्पादन को अधिकतम न किया जाये तो वस्तु का वितरण किसी प्रकार क्यो न किया जाये, सतुष्टि कम ही प्राप्त होगी। उत्पादन को अधिकतम करने या 'उत्पादन स्तर' का, इस प्रकार, साधनों के बटवारे से सम्बन्ध है। उत्पादन को अधिकतम करने की शर्त यह है कि वस्तुओं की व्यवस्था के सामान्य रहने की स्थिति में यह असम्भव होगा कि साधनों का पूर्ण वितरण करके एक वस्तु का उत्पादन दूसरी वस्तु के बिना कम हुए बढ जाय। यद्यपि 'उत्पादन स्तर' का आधार बहुत पहले ही साधनो के समान सीमान्त उत्पत्ति के नियम के रूप मे प्रगट हो चुका था और यह कोई नया विचार नही है, परन्तु एक तो यह अधिक सूक्ष्म है और दूसरे इसमे वस्तुओ का प्रस्थापन मूल्य के आधार पर नहीं किया जाता और इसलिये यह सभी क्षेत्रों मे लागू होता है।"

"यहाँ तक तो तर्क सम्बन्धी कोई कठिनाई नही है, परन्तु जब हम उन समस्याओ की ओर ध्यान देते है जो साधनो की अविभाज्यता, बाह्य बचतों और साधनों की पूरकता जैसी जटिलताओ के कारण उत्पन्न होती है तब उत्पादन स्तर तक को प्राप्त करने की नीति को कार्यान्वित करने म स्पष्ट रूप मे बहुत सी विशेष प्रकार की कठिनाइया उत्पन्न होती हैं। दूसरा पग तनिक अधिक जटिल है। उत्पादन स्तर म हमको ऐसी व्यवस्था का चुनाव करना है जो सतुष्टियों को अधिकतम करेगी। और यहा पर एक व्यक्ति की सतुष्टियो की दूसरे व्यक्तियो की सतुष्टियो से तुलना करने की कठिनाई अनुभव होती है। इस कठिनाई को हम क्षति पूर्ति द्वारा दूर कर सकते हैं। यदि वस्तुओं का कोई विशेष पुनर्वितरण पहले व्यक्ति को पहले से इतनी अधिक सतुष्टि प्रदान कर दे कि वह दूसरे व्यक्ति की क्षतिपूर्ति कर सके और फिर भी अधिक अच्छा रहे (उस स्थिति से जैसा कि आरम्भ मे था) तब दोनो ही इससे सहमत होगे कि यह परिवर्तन पहली स्थिति पर एक सुधार होगा। इस प्रकार सतुष्टियो को अधिकतम करना या 'उपयोगिता स्तर' भी ठीक उसी प्रकार परिभाषित किया जा सकता है जैसे कि 'उत्पादन स्तर'। उपयोगिता उस समय अधिकतम होती है, जबकि एक व्यक्ति की सतुष्टि को बिना दूसरे की सतुष्टि कम करे हुये बढाना (स्थिति को उन्नत करना) असम्भव हो।"[11]

श्रीमती हिक्स ने अपने विचारो की व्यवहारिकता पर अधिक ध्यान नही दिया। सच तो यह है कि अधिकतम सामाजिक कल्याण के नियम की भाति श्रीमती हिक्स द्वारा बताये गये आधार भी केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही महत्वपूर्ण है, क्योंकि इनको कार्य रूप प्रदान करने के लिए, बडी सतर्कता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को बहुत ही निष्पक्ष और हिसाब किताब मे निपुण होना चाहिए। इतना अवश्य है कि इन आधारो पर यदि राजस्व नीतियों को निर्मित किया जाय तो इसमे कोई सदेह नही कि अपेक्षाकृत अधिक लाभ समाज को प्राप्त होगा। इसमे कोई सदेह नही कि इनकी सफलता मे इतनी कठिनाइया हैं कि सरलता से दूर नही की जा सकती।

11 Mrs U K Hicks, *Ibid*, pp 121 22

राजस्व का महत्त्व—

आधुनिक समय में राजस्व के महत्त्व के सम्बन्ध में बहुत सी दलीलें देना बेकार ही हैं क्योंकि हम सभी इस से भली-भाति परिचित हैं। राजस्व के क्षेत्र और महत्त्व का विकास लगभग १६वी शताब्दी के अन्त से आरम्भ होता है। उन्ही वर्षों में जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर (Wagner) ने अपना 'राज्य की बढ़ती हुई क्रियाओं का नियम प्रतिपादित किया था। राज्य की क्रियाओं में तो, वैसे उस समय तक काफी वृद्धि हो चुकी थी परन्तु पिछले लगभग ७० वर्षों में और विशेषकर वैगनर नियम के बाद तो राजकीय कार्यों की वृद्धि इतनी तीव्रगति से हुई है कि वैगनर नियम पूर्णरूप से सिद्ध हो गया है। राजकीय क्रियाओं की वृद्धि के साथ साथ ही राजस्व के क्षेत्र में भी वृद्धि हुई है। अब तो राज्य केवल नागरिकों और देश की सुरक्षा करने का काम ही नही करता बल्कि नागरिकों के जीवन के प्रत्येक पहलू पर अपना नियन्त्रण रखता है। अपनी इन बढ़ती हुई क्रियाओं की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए राज्य को आय के नये नये स्रोत ढूढने पड़ते हैं और अपने व्यय को भी सतर्कता से करना होता है। यदि आय कम होती है तो आन्तरिक तथा बाह्य ऋण भी प्राप्त करने होते हैं। राजकीय आय, व्यय और ऋण सम्बन्धी नीतियों पर देश के आर्थिक जीवन की व्यवस्था निर्भर करती है। देश के आर्थिक जीवन की व्यवस्था सरकार की आर्थिक नीति पर निर्भर करती है। अत राजस्व और प्रशासन एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। इसीलिये अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र और समाज शास्त्र में राजस्व को मुख्य स्थान प्रदान किया गया है।

अधिकाश प्राचीन अर्थशास्त्री निर्बाधावादी नीति (*Laissez-faire* policy) के समर्थक थे। उनके अनुसार नागरिकों के जीवन में राज्य को हस्तक्षेप नही करना चाहिए। एडमस्मिथ ने तो केवल सुरक्षा, शिक्षा सार्वजनिक निर्माण कार्य आदि जैसे महत्वपूर्ण कार्यों में ही हस्तक्षेप देश के लिए उत्तम बताया था। बीसवी शताब्दी के आरम्भ तक यही विचार-धारा चलती रही, धीरे-धीरे इसका बल कम होता गया है और आज केवल इने-गिने लोग ही इस नीति का समर्थन करते हैं। गत वर्षों में आर्थिक राष्ट्रीयवाद (Economic Nationalism) की बढ़ती हुई लहर ने राज्य के कार्यों तथा दृष्टिकोणों को बदलकर ही रख दिया और मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था तथा साख प्रणाली के विकास ने तो राज्य के कार्य-क्षेत्र को और भी विस्तृत कर दिया। पूंजीवादी प्रणाली की बढ़ती हुई बुराईयों ने तो राज्य की क्रियाओं के क्षेत्र को यहाँ तक बढ़ा दिया है कि अब राज्य नागरिकों के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में नियमन करने लगा है।

हमारे आर्थिक जीवन में और देश के आर्थिक ढाचे में राजस्व का महत्त्व इसलिए भी अधिक होता जा रहा है क्योंकि हमारा दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अब विस्तृत हो गया है और अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि करारोपण द्वारा धन और आय के वितरण को सुधारा जा सकता है और सामाजिक बुराईयों

को दूर किया जा सकता है। इसी प्रकार शराब आदि हानिकारक वस्तुओं के उपभोग को भी नियन्त्रित किया जा सकता है। राजकीय व्यय द्वारा नये-नये उद्योगों और व्यवसायों का निर्माण हो सकता है रोजगार तथा मजदूरी की दरों में वृद्धि हो सकती है और मजदूरों को सामाजिक बुराइयों से सुरक्षित रक्खा जा सकता है। राज्य अपनी राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) द्वारा विभिन्न साधनों के विभिन्न व्यवसायों में वितरण को निर्धारित कर सकता है और देश का सन्तुलित विकास कर सकता है। शिशु उद्योगों को सरक्षण प्रदान करके विदेशी प्रतियोगिता से बचा सकता है। इसी नीति द्वारा राष्ट्रीय उपक्रमों का विकास कर सकता है और साधनों का ऐसे उद्योगों में प्रयोग कर सकता है जो देश के लिये हितकारी हों। राज्य अपने व्यय द्वारा देश में बेकारी दूर कर सकता है और नागरिकों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि कर सकता है। आधुनिक युग में राज्य की क्रियात्मक वित्तीय व्यवस्था के कारण ही राजस्व का महत्त्व है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि राज्य की राजकोषीय नीति का मुख्य उद्देश्य आर्थिक जीवन के ढाचे में इच्छानुसार और आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना है। राजस्व द्वारा अर्थ-व्यवस्था में क्रियात्मक परिवर्तन (Functional changes) किये जा सकते हैं। इसीलिए राजस्व का महत्त्व है।[12]

12. A. P. Lerner, *The Economics of Control.*

भाग-१

राजकीय व्यय

अध्याय १

राजकीय व्यय की प्रकृति एवं सिद्धान्त

(Nature and Principles of Public Expenditure)

प्राक्कथन—

राजकीय व्यय, राज्य की क्रियाओं का आदि और अन्त, दोनों ही है। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार विभिन्न क्रियाए सम्पन्न करती है, उन उद्देश्यों का अध्ययन हम राजस्व के इसी विभाग मे करते हैं और राजकीय व्यय के परिणामा और आकार से ही हम को यह ज्ञात होता है कि राज्य का क्या स्थान मनुष्य के जीवन में है और राज्य किस सीमा तक नागरिको के सरक्षक के रूप में कार्य कर रहा है। हम देख ही चुके हैं कि राज्य पहले अपने व्यय को देखता है तत्पश्चात् वह आय के स्रोतो को खोजता है। इसीलिये राजस्व की प्रत्येक पुस्तक में राजकीय व्यय का अध्ययन राजकीय आय से पहले किया जाता है। जिस प्रकार अर्थशास्त्र में उपभोग का महत्व है उसी प्रकार राजस्व में राजकीय व्यय का महत्व है।

पिछले अध्याय म हम देख ही चुके हैं कि गत वर्षों में राजस्व का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो गया है। अत राजकीय व्यय के आकार में भी वृद्धि हुई है। इस वृद्धि के वैसे तो अनेकों कारण है, परन्तु मुख्य यह ही है कि राज्य की क्रियाओ का क्षेत्र पहले से कई गुना बढ गया है। यदि हम आधुनिक राज्यो के व्यय की ओर ध्यान दें और उन आकडो का अध्ययन करे तो ज्ञात होगा कि राज्य के कार्यों में केवल विस्तृत वृद्धि ही नही हुई है बल्कि गहरी वृद्धि भी हुई है।[1] विस्तृत वृद्धि (Extensive increase) से हमारा अभिप्राय यह है कि राज्या के कार्यों की सख्या पहले से अधिक हो गई है और कई गुनी बढ गई है, अर्थात् राज्य

1 Phillips E, Taylor, *The Economics of Public Finance*, Pages 48 to 68

के कार्यों का क्षेत्र और आकार गत वर्षों में बहुत बढ़ गया है। गहरी वृद्धि (intensive increase) से हमारा आशय यह है कि पहले जो कार्य राज्य के मौलिक कार्य समझे जाते थे उनमें पहले की अपेक्षा अब अधिक व्यय की आवश्यकता है। और पहले की अपेक्षा वे गत वर्षों में बहुत व्यय-पूर्ण हो गये हैं। संक्षेप में हम यूं कह सकते हैं कि राज्यों के कार्यों में वृद्धि होने के कारण राजकीय व्यय में वृद्धि हुई है और राज्य के कार्यों में दो प्रकार की वृद्धि हुई है—गहरी और विस्तृत। निम्न में हम इन दोनों प्रकार की वृद्धियों का अध्ययन करेंगे।

सरकार के कार्यों मे गहरी वृद्धि
(Intensive Expansion of Governmental Functions)[2]—

एक लम्बे काल से सरकार की यह जिम्मेदारी रही है कि वह देश को विदेशी अत्याचार के विरुद्ध सैनिक व्यवस्था द्वारा सुरक्षित रक्खे, सड़कों इत्यादि को बनवाये और नागरिकों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करे। गत वर्षों में इन तीन कार्यों के कारण ही राजकीय व्यय में वृद्धि हुई है और पिछली एक शताब्दी की तुलना में इस का रूप ही बिल्कुल बदल गया है। आजकल के युद्ध इतने महँगे और खर्चीले हो गये हैं कि साधारण मनुष्य इसका अनुमान ही नहीं कर सकता है। "सैनिक कला और विज्ञानों की इतनी तीव्र प्रगति हुई है कि युद्ध के यन्त्रों का क्रय अत्यधिक खर्चीला हो गया है और विनाश की दर अत्यधिक ऊँची हो गई है। सरकार द्वारा, युद्ध पीड़ित व्यक्तियों और उनके कुटुम्बों की देखभाल करने का और उनको बोनस, शिक्षा और पुनर्वास आदि के रूप में लाभ प्रदान करने का दायित्व स्वीकार कर लेने से सरकार की युद्ध सम्बन्धी लागतें तो बहुत अधिक बढ़ गई हैं।"[3] यह हिसाब लगाया गया है कि सन् १७८९ और १९२० के वर्षों में अमेरिका की संघ सरकार के कुल खर्चों में ७८.९% खर्चे केवल युद्ध सम्बन्धी थे।[4]

इसी प्रकार सड़कों और प्रधान मार्गों को बनवाने और उनका प्रबन्ध करने का व्यय भी बहुत अधिक हो गया है। प्रथम महायुद्ध से, स्वचलित (automobiles) गाड़ियों के विकास से अच्छी किस्म की और अधिक सड़कों की माँग में दिन प्रति दिन वृद्धि होती गई है। अधिक भारी गाड़ियों और अधिक गति वाली गाड़ियों से तो नई सड़कों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है और पुरानी सड़कों के स्थान पर अब नई प्रकार की मजबूत सड़कें बनाई जाने लगी हैं। पहले की अपेक्षा अब अधिक चौड़ी सड़कों की भी आवश्यकता बढ़ गई है। इन्हीं सब कारणों से सड़कों का बनवाना पहले की अपेक्षा अब बहुत अधिक खर्चीला हो गया है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण अब अधिकाधिक व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता

2 *Ibid*—Page 48-56
3 *Ibid*—Page 49
4 *Ibid*—Page 51

है। इसके अतिरिक्त गत वर्षों में प्रारम्भिक और उत्तर माध्यमिक निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने के विचार का बहुत प्रचार हुआ है। अतः परिणाम यह हुआ कि शिक्षा सम्बन्धी व्यय भी पहले से बहुत अधिक हो गया है।

नागरीकरण (Urbanisation) —गत वर्षों में यह प्रवृत्ति रही है कि व्यक्ति गाँव छोड़ छोड़ कर शहरों में आने लगे हैं। कुछ तो शहरों की रौनक से आकर्षित होकर और अधिकतर शहरों में रोजी कमाने के लिए लोग ग्रामों से नगरों में आते हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा के विकास और यातायात के साधनों की उन्नति ने भी इस प्रवृत्ति में और भी अधिक वृद्धि की है। परिणामस्वरूप नगरों की संख्या लगभग प्रत्येक देश में ही बढ़ गई है। इस प्रवृत्ति ने भी सरकार के व्यय को बढ़ाने में सहायता की है। नगरों में भीड़-भाड़ बढ़ने के कारण सरकार का जन-स्वास्थ्य और कल्याण की देखभाल करने का दायित्व पहले से कई गुना अधिक हो गया है। खाने की वस्तुओं और उनके वितरण का निरीक्षण, अस्पतालों की संख्या में वृद्धि और उनकी उचित व्यवस्था करना, निर्धनों के लिए निःशुल्क स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करना, खेल के मैदानों और मनोरंजन के स्थानों एवं साधनों की व्यवस्था करना इत्यादि। आवश्यकताओं को बढ़ते हुए नागरीकरण ने ही जन्म दिया है। नागरीकरण में सरकार के कार्यों की गहरी और विस्तृत वृद्धि दोनों ही को सहायता मिली है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भ्रष्टाचार और अपव्यय के कारण इन खर्चों का आकार और भी अधिक हो गया है, परन्तु इतना निश्चय है कि व्यक्तियों के व्यक्तिगत प्रयत्नों की अपेक्षा इनकी सामाजिक लागतें (Social Costs) फिर भी बहुत कम हैं।

सरकार के कार्यों में विस्तृत वृद्धि
(Extensive Expansion of Governmental Functions)[5] —

पिछले तीस वर्षों से सरकार को बहुत से नए-नए कार्य करने पड़े हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जनता की ओर से इन कार्यों की सरकार द्वारा किए जाने की माँग रही है और यह माँग दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। इन कार्यों की प्रकृति और कारणों का विवरण निम्नांकित है —

महान् अवसाद से उत्पन्न होने वाले कार्य (Depression born Functions) —

सन् १९३० के महान् अवसाद ने सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता को बहुत स्पष्ट कर दिया था। विभिन्न स्तरों पर—संघीय प्रान्तीय और स्थानीय स्तरों पर उदार सरकारें स्थापित होना आरम्भ हुई। सरकारों ने मुख्य रूप से तीन क्षेत्रों में नए-नए दायित्वों को स्वीकार किया। यह क्षेत्र निम्न प्रकार हैं —

(अ) उद्योग, कृषि तथा श्रम को प्रोत्साहन देना
(ब) अर्थ-व्यवस्था पर बढ़ती हुई मात्रा में नियन्त्रण रखना
(स) जन-कल्याण में वृद्धि करना।

5 *Ibid* Pages 56 68

यद्यपि सन् १९३० के महान् अवसाद से पहले भी इसी किस्म के कार्य आरम्भ हो गए थे, परन्तु अवसाद काल में तो इनमें आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। उद्योगों की सहायता के लिए सरकार ने अनेकों सार्वजनिक योजनायें निर्मित की, श्रमिकों के लिए मकानों की व्यवस्था सम्बन्धी नये-नये कार्यक्रम बनाये, कृषि के क्षेत्र में कृषिकों को साख सम्बन्धी सुविधायें देने के लिये वस्तुओं के मूल्यों को ऊंचा करने के लिये, भूमि के कटाव को कम करने के लिए, सभी देशों में विभिन्न प्रकार के कानून बनाये गये। इसी प्रकार श्रम की सामूहिक सौदा करने की शक्ति को बढ़ाने के लिए अधिनियम बने, सरकारी रोजगार सेवाएं स्थापित हुई, बेकारी मुआवजा और वृद्ध अवस्था पेन्शन तथा अन्य प्रकार की सुविधाएं श्रमिकों को दी जाने की व्यवस्था की गई।

"महान् अवसाद से पहले सरकार के नियमन अथवा नियन्त्रण सम्बन्धी कार्य अधिकतर अपनी प्रकृति में अनार्थिक थे। पुलिस और न्याय सबन्धी कार्यों का मुख्य उद्देश्य विस्तृत और मौलिक सामाजिक अधिकारों की रक्षा करना था। आर्थिक क्षेत्र में सरकार यातायात और जन उपयोगी सेवाओं के मूल्यों तथा उनके सचालन, शुद्ध भोजन और दवाइयों का निरीक्षण, एकाधिकार निरोधक सबन्धी क्षेत्रों का नियमन करती थी। वास्तव में यह वृद्धि इतने अधिक क्षेत्रों में हुई थी और इतनी अधिक तेज़ी से हुई थी कि बहुत से व्यक्तियों के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठ रहे थे कि सरकार की अवसाद सम्बन्धी नीति का उद्देश्य पुरानी स्थिति को पुन स्थापित (Recovery) करना था या पूर्ण रूप से एक नई स्थिति स्थापित (Reform) करना था।"[6]

"सामान्य रूप से इन वर्गों में नियमन कार्य का उद्गम शोषण (Exploitaion) की एक विस्तृत परिभाषा से हुआ है। जहां कहीं भी आर्थिक शक्ति का उपयोग जन-हित के विरुद्ध हुआ है या विभिन्न वर्गों के कल्याण के लिए हानिकारक रहा है, सरकार को उसी क्षेत्र में उचित कार्य सचालन के नियमों को निर्मित करने के लिए विवश होकर प्रवेश करना पड़ा है ····· ········नियमन कार्य तुलनात्मक रूप से कम खर्चीले होते हैं। इनमें प्रबन्ध करने वाले कर्मचारियों की एक बड़ी सख्या की आवश्यकता तो हो सकती है परन्तु इनमें वस्तुओं और आर्थिक सहायता के रूप में एक बड़ी मात्रा में धन लगाने की आवश्यकता नहीं होती······ विकास कार्यों में सामान्य रूप से ऋणों तथा अन्य प्रकार के भुगतानों के रूप में अधिक धन की आवश्यकता होती है। तीसरे क्षेत्र में—जन कल्याण की वृद्धि—मौद्रिक सहायता और सार्वजनिक निर्माण कार्य तो लगभग अनिवार्य ही है और इसलिए सामान्य रूप से यह कार्य प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की सख्या की तुलना में अधिक व्यय पूर्ण है।"[7]

इसमें कोई सदेह नहीं कि गत वर्षों में सरकार ने सामाजिक सुरक्षा सबन्धी

6. Ibid Page 58
7. Ibid Page 59

तथा जन-कल्याण के क्षेत्र मे इतने अधिक कार्य करने आरम्भ कर दिए हैं कि सरकार का व्यय पहले से कई गुना अधिक हो गया है। उपर्युक्त विवरण मे सरकार के कार्यों की वृद्धि का एक सामान्य उल्लेख किया गया है[8], परन्तु कुछ लेखको ने इन्ही कारणो को अलग अलग भागो म विभाजित करके दिया है।[9] इनको हम बहुत सक्षेप मे निम्न मे देते हैं :—

(१) आवश्यकताओं की सामूहिक संतुष्टि—बहुत से कार्य ऐसे हैं जो पहले व्यक्ति ही करते थे परन्तु अब वे राज्य द्वारा किए जाते हैं, कदाचित इसलिए कि एक तो सरकार द्वारा उनका किया जाना अधिक मितव्ययी हो गया है, और दूसरे इसलिए कि जनता की यह माग रही है कि इन कार्यों को सरकार ही करे। नगरो मे पानी, बिजली, यातायात आदि की व्यवस्था करना इसी प्रकार के कार्य है। यदि ये कार्य व्यक्तियों द्वारा किए जाए तो एक तो सेवाओं की दुबारगी (duplication) के कारण अपव्यय बहुत होगा, दूसरे बडे पैमाने की उत्पत्ति के लाभ प्राप्त नही होगे, और अन्त मे जन उपयोगी सेवाओ मे एकाधिकार स्थापित होने की सभावना के कारण समाज का शोषण होने का भी भय रहता है। इसीलिए नागरिक भी चाहते हैं कि ये काय सरकार द्वारा किए जाएँ। परिणामस्वरूप राज्यो के कार्यों में वृद्धि हुई है।

(२) उद्योगों का समाजीकरण—निर्बाधावादी नीति की असफलताओ और समाजवादी विचारधारा की प्रगति के साथ-साथ राज्यो ने अनेको उद्योगो का राष्ट्रीयकरण करना आरम्भ कर दिया है, जिस कारण भी राज्य के कार्यों मे वृद्धि हुई है।

(३) उत्पादन में सहायता—छोटे-छोटे कृषको और उद्योगपतियो को राज्य ने विभिन्न प्रकार की आर्थिक सहायता प्रदान करना आरम्भ कर दी है, ताकि वे विदेशी प्रतियोगिता से टक्कर ले सकें और देश का औद्योगिक विकास हो सके।

(४) कल्याणकारी क्रियाएँ—आधुनिक सरकारो ने कल्याणकारी तथा सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी क्रियाये भी सम्पन्न करना आरम्भ कर दी हैं, जैसे बेकारी बीमा, स्वास्थ्य बीमा, प्रसव लाभ, बीमारी बीमा, वृद्धावस्था पैन्शन देना आदि। पहले राज्य इन क्रियाओं को सम्पन्न नही करता था। राज्य की य क्रियाएँ पूर्णतया नवीन है।

(५) आर्थिक अवसाद सम्बन्धी कार्य—हम ऊपर बता आय है कि सन् १९३० के आर्थिक अवसाद के दोषो को दूर करने के कारण भी राज्य को अनेकों प्रकार की नई क्रियाओ को अपने कार्य-क्षेत्र म सम्मिलित करना पडा है। परिणामस्वरूप उसका कार्य क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है।

(६) आर्थिक नियोजन—बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही आर्थिक नियोजन

8 जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर ने भी यह ही कारण बताए हैं।

9 Saxena and Mathur, *Public Economics* Pages 17-18

सम्बन्धी विचारधारा ने बहुत जोर पकड़ा। विशेषकर रूस में आर्थिक नियोजन की सफलता के पश्चात् तो प्रत्येक देश की सरकार ने इसको किसी न किसी रूप में अवश्य ही अपनाया है। अविकसित देशों में तो इसका बड़ा ही बोलबाला है।

(७) युद्ध सम्बन्धी व्यय— पिछले चालीस वर्षों में संसार को दो विश्व युद्धों की कठिनाइयों को सहन करना पड़ा है। आधुनिक युद्ध अत्यधिक खर्चीले होते हैं। सैनिक व्यवस्था भी बहुत महँगी हो गई है। यही कारण है कि आजकल प्रत्येक देश में राजकीय आय का एक बहुत बड़ा भाग सुरक्षा सम्बन्धी बातों पर खर्च किया जा रहा है।

(८) नागरिक प्रशासन—गत वर्षों में नागरिक प्रशासन पर भी, जो राजकीय व्यय की, सुरक्षा के बाद, दूसरी महत्वपूर्ण मद है, व्यय बढ़ता ही जा रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि संसार में प्रजातन्त्रीय सरकारों की संख्या बढ़ जाने के कारण प्रजातान्त्रिक संस्थाओं की स्थापना एवं व्यवस्था पर सरकारों को बहुत अधिक व्यय करना पड़ रहा है। चुनाव, सभाओं, संसद आदि पर बहुत अधिक व्यय किया जा रहा है। पिछले वर्षों में संसार में स्वतन्त्र राष्ट्रों की संख्या बहुत अधिक हो गई है। प्रत्येक राज्य को अपनी मित्रता बनाये रखने के लिये दूतावास आदि विदेशों में स्थापित करने पड़ते हैं जिनमें बहुत अधिक व्यय होता है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या की वृद्धि के कारण आन्तरिक सुरक्षा सम्बन्धी व्यवस्था भी बहुत खर्चीली हो गई है। अन्त में प्रशासन सम्बन्धी दफ्तर भी इतने अधिक हो गये हैं कि पहले की अपेक्षा दफ्तरों और अफसरों व क्लर्कों की संख्या कई गुणी बढ़ गई है, फलस्वरूप प्रशासन कार्य भी अधिक देरी से होने के साथ-साथ खर्चीला भी अधिक हो गया है।

इन्हीं सब कारणों से राजकीय व्यय में गत वर्षों में इतनी अधिक वृद्धि हुई है।

राजकीय व्यय का सिद्धान्त—

आधुनिक समय में, हमने अभी देखा कि, राज्य का कार्य-क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है। स्पष्ट ही है कि राज्य को कितनी बड़ी मात्रा में व्यय करना पड़ता है और कितने अधिक मदों के लिये धन एकत्रित करके उन पर बाटना भी होता है। अतः राज्य के लिये यह आवश्यक है कि व्यय करने से पहले और बाद में यह विचार करे कि व्यय को पूरा करने के लिये किन स्रोतों से धन प्राप्त किया जाय, और उसके बाद में यह सोचे कि विभिन्न मदों पर व्यय ठीक प्रकार से हुआ या नहीं। राज्य के पुराने कार्यों में प्रत्येक वर्ष ही कुछ न कुछ नये कार्य बढ़ते ही जाते हैं, इसलिये राज्य के लिये यह आवश्यक है कि वह आय और व्यय दोनों का ही एक साथ विचार करे, और इस प्रकार नियोजन करे कि अधिक से अधिक उद्देश्यों की पूर्ति हो तभी राज्य अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का पूर्णउपयोग कर पायगा। व्यवहार में सरकार यह ही करती है। इसी उद्देश्य से आजकल बजट बनाये जाते हैं। बजट बन जाने के बाद सरकार के लिये एक नयी समस्या उत्पन्न होती है—वह है जनता

विशेष या संस्था विशेष पर उसी समय व्यय किया जाये जबकि (अ) व्यय की धनराशि कम हो (आ) वह न्यायालयों द्वारा वसूल किया जा सके, और (इ) वह किसी एक निश्चित नीति एवं सामाजिक रिवाज के अनुसार हो। अत स्कूल अस्पतालों आदि संस्थाओं को तो आर्थिक सहायता दी जा सकती है परन्तु मन्दिर या गिरजों आदि को कोई भी सहायता देना न्यायोचित नही होगा।

(२) मितव्ययिता का नियम (Canon of Economy)—सरकार जिस धन को जनता से प्राप्त करती है वह एक प्रकार की धरोहर होती है, जिसका उपयोग सरकार को बडी सतर्कता से करना चाहिए। मितव्ययिता का अर्थ यह है कि सरकार को केवल उन्ही मदो पर और उसी समय व्यय करना चाहिए जहा यह आवश्यक हो। इसके अतिरिक्त सरकार को व्यय के अन्तिम परिणामों और प्रभावो की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। वही व्यय मितव्ययी समझा जायगा, जिसके परिणामवश नागरिको की उत्पादन शक्ति म वृद्धि होती है। आजकल सरकारी संस्थाओ के विरुद्ध सामान्य शिकायत यह है कि वे बेहद अपव्ययी और लापरवाह है। व्यय करते समय उचित नियोजन नही करती और दूरदर्शिता से तनिक भी काम नही लेती। दफ्तरो और अफसरो की संख्या तो दिन प्रतिदिन बढती जाती है परन्तु सरकार का वित्तीय नियन्त्रण एव नियमन उतना ही ढीला होता जा रहा है। भारतवर्ष को ही लीजिए, रोजाना सरकारी दफ्तरो म गबन के मामले सुनने म आते है। बहुत से कार्य अधभर म छोड दिये जाते है। 'अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन' पर करोडो रुपये का व्यय हुआ परन्तु अन्न की स्थिति पहले ही जैसी रही। प्रत्येक वर्ष 'वन महोत्सव' पर करोडो रुपयो का व्यय होता है परन्तु मुश्किल से दस प्रतिशत पेड ही जीवित रहते हैं। अनेकों सभाओ और सम्मेलनो का आयोजन प्रत्येक वर्ष होता है परन्तु लाभ तनिक भी नही होता और इतना धन बेकार ही जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सरकार को अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि वह इस सिद्धान्त का पालन करे।

(३) अनुमोदन का नियम (Canon of Sanction)—इस नियम के अनुसार प्रत्येक अधिकारी को व्यय करते समय अपने उच्च अधिकारी से अनुमोदन प्राप्त कर लेना चाहिये। ऐसा करने से बहुत से बेकार खर्चे कम हो जाते है। इस नियम में निम्न मुख्य बातें सम्मिलित है—(अ) किसी भी सरकारी अफसर को उस राशि से अधिक व्यय करने की मन्जूरी नहीं देनी चाहिये, जितना कि उसे स्वय अधिकार है। (ब) ऋण केवल उन्हीं मदो पर खर्च करना चाहिये, जिनके लिये वह प्राप्त किया गया है। साथ ही साथ ऋण को उचित समय पर लौटाने की भी व्यवस्था करते जाना चाहिये। (स) सारी व्यय की गई राशियो के हिसाब किताब का उचित निरीक्षण (auditing) भी होना चाहिये ताकि अनुचित ढंग से धन व्यय न किया जा सके और विभिन्न अफसर अपने अधिकारो का अनुचित उपयोग और अपनी सीमाओ का उल्लघन न कर सकें। इस प्रकार आजकल अनुमोदन कार्य का रूप अति विस्तृत हो गया है। स्वय सरकार को विधान सभा से प्रत्येक व्यय की

मन्जूरी लेनी होती है हर विभाग को अपने मन्त्रालय से, और हर विभाग में अफसरों को अपने उच्चतम अधिकारी से आज्ञा लेनी पड़ती है। यद्यपि इसमें अनावश्यक देरी जरूर होती है परन्तु सामाजिक हित को अधिकतम करने के लिये यह मूल्य कोई अधिक नहीं है।

(४) **आधिक्य सिद्धान्त** (Canon of Surplus)—प्रो० शिराज के शब्दों में "आधिक्य सिद्धान्त का अभिप्राय राजकीय व्यय में हीनता (deficits) या घाटों को दूर करना है। राजकीय संस्थाओं को अपनी आय की प्राप्ति एवं व्यय साधारण व्यक्तियों के समान करना चाहिये। व्यक्तिगत व्यय के समान सतुलित बजट ही सामान्य नीति होनी चाहिये। प्रो० शिराज ने सन् १९२० में ब्रुसेल्स (Brussels) के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन के एक प्रस्ताव को अपनी पुस्तक में दुहराया है कि, जो देश घाटे के बजटों की नीति को स्वीकार करता है वह उस फिसलने वाले मार्ग पर चल रहा है जो सामान्य विनाश की ओर ले जाता है, उस मार्ग से बचने के लिये कोई बलिदान भी बहुत बड़ा नहीं है।' यह बात सही भी है क्योंकि घाटे के बजटों से जनता का ऋण भार बढ़ जाता है और देश तथा विदेशों में, सरकार का विश्वास कम होता जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सरकार को घाटे के बजट बनाने ही नहीं चाहिये। देश के आर्थिक विकास की स्थिति में तो ऐसे बजट नितान्त आवश्यक होते हैं। इसी प्रकार युद्ध काल में भी सरकार को घाटे के बजटों के बिना काम नहीं चलता। सामान्य रूप से सरकार को सतुलित बजट बनाने चाहिये। आधिक्य बजट भी ठीक नहीं होते क्योंकि ऐसे बजटों से नागरिकों के मस्तिष्क में यह आपत्ति उत्पन्न होती है कि उन पर कर भार बहुत अधिक है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कब कैसा बजट बनाया जाये, परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अवसाद काल में घाटे के बजट, मुद्रा स्फीति में आधिक्य बजट और सामान्य परिस्थितियों में सतुलित बजट बनाने चाहिये।

इस प्रकार सरकार को अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये उपर्युक्त नियमों का पालन करना चाहिये।

राजकीय व्यय का वर्गीकरण
(Classification of Public Expenditure)—

राजकीय व्यय का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। प्रत्येक लेखक ने अपने अपने ढंग से यह वर्गीकरण किया है और अलग अलग आधारों पर आश्रित किया है निम्न में हम इन वर्गीकरणों का अध्ययन करेंगे।

(अ) **कोहन तथा प्लेहन का वर्गीकरण** (Cohn and Plehn's Classification)—जर्मन अर्थशास्त्री कोहन और अमेरिकन अर्थशास्त्री प्लेहन ने राजकीय व्यय को निम्न चार भागों में विभाजित किया है —

(१) पहला, वह व्यय जिसका लाभ सामान्य रूप से सारे समाज को

पहुँचता है, जैसे सुरक्षा सम्बन्धी व्यय, शिक्षा, स्वास्थ, यातायात आदि पर किया गया व्यय।

(२) दूसरा वह व्यय जो कुछ विशेष व्यक्तियों अथवा वर्गों के लाभ के हेतु किया जाता है, परन्तु यदि देखा जाये तो यह लाभ सामान्य ही लाभ होता है, क्योंकि यह व्यय उन व्यक्तियों के लिये किया जाता है, जो स्वयं अपनी सहायता नहीं कर सकते। जैसे बेकारी बीमा, बीमारी बीमा, वृद्धावस्था पैन्शन आदि।

(३) तीसरा, वह व्यय जिससे कुछ व्यक्तियों को विशेष लाभ पहुँचाने के साथ साथ सारे समाज को भी लाभ पहुँचता है जैसे, पुलिस, न्यायालयों आदि का प्रबन्ध एवं व्यवस्था।

(४) चौथा, वह व्यय जिससे केवल कुछ विशेष व्यक्तियों को ही लाभ पहुँचता है, जैसे, राजकीय उद्योगों पर व्यय।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण इन अर्थशास्त्रियों ने 'लाभ' को आधार मान कर किया है। वैसे तो यह वर्गीकरण अत्यधिक सरल और न्यायपूर्ण भी है क्योंकि यह प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होने वाले लाभों के अनुसार किया गया है परन्तु इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि यह चार वर्ग एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं हैं। यह सरलता से एक दूसरे के क्षेत्र में सम्मिलित किये जा सकते हैं। वास्तव में इस प्रकार के आधार पर सरकारी व्ययों में भेद करना सरल नहीं होता, क्योंकि लगभग प्रत्येक प्रकार का राजकीय व्यय एक ओर तो सामूहिक लाभ प्रदान करता है और दूसरी ओर वही व्यय कुछ व्यक्तियों एवं वर्गों को भी लाभ पहुँचाता है।

(ब) प्रो० निकलसन का वर्गीकरण (Nicholson's Classification)—राजकीय व्यय के लिये राजकीय आय साधन भी है, और साध्य भी। इसीलिये निकलसन ने अपने वर्गीकरण को 'आय' के आधार पर आधारित किया है अर्थात् उन्होंने अपना वर्गीकरण इस आधार पर किया है कि राजकीय व्यय की, आय उत्पन्न करने की शक्ति कितनी है या राजकीय व्यय से कितनी आय प्राप्त होने की आशा है। इन्होंने भी राजकीय व्यय को चार वर्गों में विभाजित किया है —

(अ) प्रथम, वह व्यय जिससे राज्य को किसी प्रकार की भी आय प्राप्त नहीं होती, जैसे युद्ध व्यय, बेकारों को सहायता, वृद्धावस्था पैन्शन आदि।

(आ) दूसरा, वह व्यय जिससे राज्य को कोई प्रत्यक्ष आय नहीं प्राप्त होती परन्तु राज्य की आय में दीर्घ काल में अप्रत्यक्ष रूप से वृद्धि होती है, जैसे निःशुल्क शिक्षा, क्योंकि शिक्षा व्यक्तियों की कार्य कुशलता तथा उत्पादन शक्ति में वृद्धि करती है, जिससे अन्त में जनता की करदान शक्ति बढ़ जाती है।

(इ) तीसरा, वह व्यय जिससे राज्य को केवल थोड़ी सी ही आय प्राप्त होती है अर्थात् जिसमें शुल्क की दर सेवा के मूल्य से कम होती है, जैसे शुल्क सहित शिक्षा प्रदान करना।

(ई) चौथा, वह व्यय जिससे राज्य को व्यय पूर्ति के बाद अतिरिक्त आय प्राप्त होती है। राज्य द्वारा सचालित सब ही जन उपयोगी सेवायें (Public utility services) तथा उद्योग इसी वर्ग में आते हैं, जैसे रेल, डाक, तार आदि की व्यवस्था।

यह वर्गीकरण भी वैज्ञानिक नहीं है। यह केवल वित्त मंत्री के लिये लाभप्रद हो सकता है क्योंकि उसको यह जानना जरूरी है कि किस मद् से कितनी आय होगी। व्यय के उचित अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि वर्गीकरण ऐसा हो जिससे राजकीय व्यय की किसी विशेषता का स्पष्टीकरण होता हो। इसके अतिरिक्त विभिन्न वर्ग का क्षेत्र भी अस्पष्ट है क्योंकि कदाचित कोई भी व्यय ऐसा नहीं होगा जिससे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आय में वृद्धि न हो।

(स) एडम का वर्गीकरण (Ada'ms Classification)—प्रो० एडम ने राजकीय व्यय का वर्गीकरण, व्यक्तियों पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर किया है। उनके अनुसार राजकीय व्यय तीन प्रकार का है, अर्थात् सरक्षात्मक, व्यापारिक और विकासात्मक व्यय। कुछ व्यय तो राज्य नागरिकों की जान और माल की रक्षा करने के लिये करता ही है, जैसे सैनिकों तथा युद्ध सम्बन्धी हथियारों की व्यवस्था करना, पुलिस आदि का प्रबन्ध करना इत्यादि। इस प्रकार के खर्चे एडम ने प्रथम वर्ग में सम्मिलित किये हैं। दूसरे वर्ग में उन व्ययों को सम्मिलित किया है जो व्यापार और वाणिज्य की उन्नति के लिये किये जाते हैं जैसे रेल, तार, डाक की व्यवस्था सम्बन्धी व्यय। अन्तिम वर्ग में राज्य के सामाजिक कार्यों पर किया जाने वाला व्यय सम्मिलित किया गया है अर्थात् वे खर्चे जिनके करने से नागरिकों का और देश का विकास होता है जैसे शिक्षा, स्वास्थ, सामाजिक बीमा, गृह निर्माण इत्यादि पर किया गया व्यय।

परन्तु अर्थशास्त्री इस परिभाषा से भी सतुष्ट नहीं हो पाये हैं। उनके अनुसार यह भेद करना कठिन है कि कौन सा व्यय किस वर्ग में रक्खा जाये, क्योंकि एक ही व्यय विकासात्मक और वाणिज्यक हो सकता है या रक्षात्मक और विकासात्मक हो सकता है। अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक व्यय देश और नागरिकों के विकास में सहायता करता है। इस तर्क पर सैलिगमैन, बैस्टेबिल और मिल ने इसकी आलोचना की है।

(द) मिल का वर्गीकरण (Mill's Classification)—मिल ने प्रो० एडम की आलोचना करते हुये राजकीय व्यय को दो भागों में विभाजित किया है, अर्थात् आवश्यक और इच्छानुसार (Necessary and Optional)। परन्तु यह स्पष्ट ही है कि यह निर्णय करना कितना कठिन होगा कि कौन सा व्यय राज्य ने अपनी इच्छानुसार किया है। वास्तव में आजकल राज्य का प्रत्येक व्यय ही आवश्यक है। इसके अतिरिक्त राज्य कोई भी व्यय बेकार कर ही नहीं सकता। एक बार व्यक्ति ऐसा कर सकता है परन्तु राज्य से ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

(ह) रोशर का वर्गीकरण (Roscher's Classification)—जर्मन अर्थ-

शास्त्री रोशर ने राजकीय व्यय को आवश्यक, उपयोगी और बेकार—तीन वर्गों म विभाजित किया है। कदाचित् रोशर ने व्यय की अविलम्बता के अश (Degree of urgency) के आधार पर यह वर्गीकरण किया है। पहले वर्ग मे जो खर्चे हैं वे तो किसी प्रकार भी टाले नही जा सकते। दूसरे प्रकार के खर्चे उपयोगी हैं परन्तु उनको थोडे काल के लिये स्थगित किया जा सकता है और अन्तिम प्रकार के व्यय तो अनावश्यक और बेकार होते हैं। इस वर्गीकरण के विरुद्ध भी वे सभी आलोचनाएँ की गई हैं जो उपरोक्त वर्गीकरणो के विरुद्ध की जा चुकी हैं।

(य) शिराज का वर्गीकरण (Shirras' Classification)—प्रो॰ शिराज ने राजकीय व्यय को दो भागों में बाँटा है—प्राथमिक (Primary) व्यय और गौण (Secondary) व्यय। प्राथमिक व्यय वे हैं जो नितान्त आवश्यक हैं, जिन्हे अन्य व्यय से पहले करने की राज्य सोचता है जैसे, रक्षा, शान्ति व्यवस्था इत्यादि। गौण व्यय वे व्यय हैं जिन्हे राज्य बाद म करता है या बजट में जिनको पहली प्राथमिकता नही दी जाती जैसे, सामाजिक सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य प्रकार की जन उपयोगी सेवाएँ आदि सम्बन्धी खर्चे।

प्राथमिक और गौण व्यय म राजकीय व्यय का वर्गीकरण ऊपर से देखने पर स्पष्ट और सरल दीखता है परन्तु यह भी सतोषजनक नही है। प्रथम, तो यह ही कठिन है कि प्राथमिक और गौण व्यय में भेद किया जा सके क्योंकि राज्य का कोई भी व्यय स्थायी रूप से न तो प्राथमिक ही है और न गौण ही। समयानुसार खर्चों की प्रकृति मे परिवर्तन होता रहता है। जो इस वर्ष प्राथमिक व्यय है वह ही दस वर्ष बाद गौण व्यय हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्राथमिक और गौण व्यय वे व्यय हैं जो अपनी परिभाषा के लिये एक दूसरे पर आधारित हैं। इस प्रकार यह वर्गीकरण भी उपयुक्त नही है।

(र) डालटन का वर्गीकरण (Dalton's Classification)—डाक्टर डालटन ने राजकीय व्यय के दो भाग किये हैं—(१) अनुदान (Grant) और (२) क्रय मूल्य (Purchase Price)। जब सरकार को किसी व्यय के बदले मे न तो कोई वस्तु और न कोई सेवा प्राप्त हो तो ऐसे व्यय को अनुदान कहेगे जैसे, अकाल या बाढ पीडितों को आर्थिक सहायता, वृद्धावस्था पैन्शन इत्यादि। अनुदान को निर्यात प्रव्याज (Bounty) और अर्थ-सहायता (Subsidies) के रूप म भी दिया जा सकता है। अनुदान दो प्रकार के बताये गये हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष अनुदान वे हैं जो उन्ही व्यक्तियों को लाभ पहुँचाते हैं जिनको वह दिये गये हैं। अप्रत्यक्ष अनुदान वे हैं जो किसी एक व्यक्ति को दिये जाते हैं परन्तु उनका लाभ किसी दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों को प्राप्त होता है। जब सरकार को किसी व्यय के बदले मे सेवा या वस्तु प्राप्त हो जाती है तो ऐसे व्यय को क्रय-मूल्य कहते हैं। परन्तु जैसा कि डालटन ने स्वय ही कहा है कि व्यवहार मे कभी-कभी ये दोनों एक साथ ही उपस्थित हो सकते हैं। उदाहरणार्थ सरकार किसी सेवा के लिये जो मूल्य दे रही है वह यदि उस मूल्य से ऊँचा हो जो निजी व्यक्ति द्वारा दिया जायेगा तो यह जो

आधिक्य है अनुदान कहलायगा। व्यवहार म इस आधिक्य को आकना सरल नहीं है। डाक्टर डालटन का विचार है कि ऋण पर दिया गया सूद अनुदान भी है और क्रय मूल्य भी। जिस समय सूद का भुगतान किया जाता है, उस दृष्टिकोण से तो यह अनुदान हुआ और अतीत के दृष्टिकोण से यह क्रय मूल्य हुआ क्योंकि वास्तविकता म सूद ऋण का मूल्य नही तो और क्या है? परन्तु डाक्टर डालटन के विरुद्ध इतना कहना पडेगा कि सूद अनुदान नही होता केवल क्रय-मूल्य ही रहता है। उस समय भी जब सूद का भुगतान किया जाता है वह क्रय मल्य ही रहता है क्योंकि सरकार ऋण से बराबर लाभ प्राप्त करती रहती है।

(स) प्रो० पीगू का वर्गीकरण (Pigou's Classification) प्रो० पीगू के अनुसार राजकीय व्यय दो भागो मे बाटा जा सकता है—हस्तान्तरित होने वाला (Transfer) और हस्तान्तरित न होने वाला (Non transfer) व्यय। उन्ही के शब्दों मे हस्तान्तरित होने वाला व्यय वह है जो नागरिकों के लिय या तो नि शुल्क किय जाते हं या उपस्थित सम्पत्ति अधिकारो का क्रय करने के लिय किय जाते हैं। हस्तान्तरित न होने वाला व्यय वह है जो 'राष्ट्र के साधनो की वतमान सेवाओ को खरीदने के लिय किय जाते ह। प्रथम प्रकार के व्यय के अन्तगत—ऋण पर दिया गया ब्याज पेन्शन बीमारी बीमा बेकारी लाभ अथ सहायता इत्यादि सम्मिलित ह और दूसरी श्रेणी मे सेना, जहाजो बडा वायु शक्ति नागरिक शासन जन उपयोगी सेवाओं आदि का व्यय सम्मिलित है। इन दोनो प्रकार के व्ययों के बीच भेद करने के सम्बन्ध म पीगू का कहना है कि जब कि हस्तान्तरित होने वाले व्यय का एक दम यह प्रभाव नही होता कि साधन व्यक्तिगत उपयोगी म से एक दम बाहर आजाय हस्तान्तरित न होने वाले व्यय का यह प्रभाव होता है। किसी भी समय राष्ट्र के साधनों का उपयोग सरकार द्वारा भी किया जाता है और व्यक्तियों द्वारा भी और जब हस्तान्तरित न होने वाले व्यय म वृद्धि की जाती है तो साधन व्यक्तिगत उपयोगो से निकलकर सरकारी उपयोगों मे आने लगते ह। प्रो० पीगू के मतानुसार जबकि हस्तान्तरित होने वाला व्यय व्यक्तिगत और सरकारी उपयोगा म साधनों का पुनर्वितरण तो नही करता परन्तु विभिन्न वस्तुओ या सेवाओ के उत्पादन में अवश्य करता है। क्योंकि जब कर दाताओ से धन लेकर वृद्ध व्यक्तियो या बेकार व्यक्तियों को दिया जाता है तो कुछ वस्तुओ की माग तो बढती है और कुछ की गिरती है और पहले प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन म अधिक साधनो का उपयोग होने लगता है।

(द) जे० के० मेहता का वर्गीकरण (Mehta's Classification)—भारत के प्रसिद्ध अथशास्त्री प्रो० मेहता ने राजकीय व्यय के दो भाग किय हैं —(१) अपरिवर्ती व्यय (Constant Expenditure) और परिवर्ती व्यय (Variable Expenditure)। इन के अनुसार पहले भाग म वे व्यय आते ह जो उपयोग म वृद्धि होने पर भी समान रहते है जैसे रक्षा सम्बन्धी व्यय, हवाई अडडा पर प्रकाश स्तम्भ पर व्यय इत्यादि। दूसरे भाग मे वे व्यय आते हैं जो उपयोग बढने के साथ साथ

बढते हैं और उपयोग घटने के साथ साथ घटते हैं जैसे डाक सेवाओं, शिक्षा आदि पर व्यय। प्रो० मेहता का कथन है कि इस वर्गीकरण से यह निश्चय नही कर लेना चाहिये कि सरकार का प्रत्येक व्यय इनमे से केवल किसी एक ही वर्ग मे आ जायेगा। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यय इन दोना ही भागो मे पूर्णतया या अशतया सम्मिलित किया जा सकता है जैसे डाक सेवाओ का बहुत सा व्यय परिवर्तित व्यय है। अत यह स्पष्ट है और प्रो० मेहता ने स्वय भी स्वीकार किया है कि उनके वर्गीकरण म भी एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग नही किया जा सकता।

५(क) **अन्य वर्गीकरण** (Miscellaneous Classification) —कुछ लेखको ने राजकीय व्यय के उत्पादक और अनुत्पादक, दो भाग किये हैं। यद्यपि यह सोचा भी नही जा सकता कि राज्य कभी अनुत्पादक व्यय कर भी सकता है, परन्तु व्यवहार म ऐसे व्यय देखने म आते है। भारत म मद्यनिषेध सम्बन्धी खर्च इसी प्रकार के हैं। एक ओर तो सरकार का व्यय बढ रहा है और दूसरी ओर आबकारी कर की आय कम होती जा रही है।

उपर्युक्त वर्गीकरणो के अध्ययन मे स्पष्ट है कि सब ही किसी न किसी दृष्टि से दोषपूर्ण हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन लेखको ने अपने सामने राजकीय व्यय की किसी विशेषता को रखकर वर्गीकरण नही किये हैं। सच तो यह है कि राज्य का स्थान व्यक्ति की उन्नति मे इतना महत्वपूर्ण हो गया है और उसके कार्यों मे इतनी अधिक वृद्धि हो गई है और विभिन्न कार्यों का क्षेत्र इतना अस्पष्ट है कि व्यय को भी स्पष्ट रूप से अलग अलग वर्गो मे नहीं बाँटा जा सकता। जो भी प्रयत्न इस सम्बन्ध मे किये गये हैं वे सराहनीय हैं।

अध्याय ३

राजकीय व्यय के प्रभाव

(Effects of Public Expenditure)

प्राक्कथन—

हम पिछले अध्याय मे देख चुके हैं कि गत वर्षों मे राजकीय व्यय मे कितनी अधिक वृद्धि हुई है और उसके कारणो की भी विवेचना हम कर चुके हैं। इस अध्याय मे हम राजकीय व्यय के विभिन्न प्रभावों का स्पष्टीकरण करेंगे। राजकीय व्यय के प्रभावो के अध्ययन के सम्बन्ध मे हमे दो दृष्टिकोण मिलते हैं—सकीर्ण और विस्तृत। परम्परावादी लेखक एडम स्मिथ और उसके अनुयायियो के विचार उपेक्षाकृत अधिक सकीर्ण थे और आधुनिक लेखको के विचार अत्यधिक विस्तृत हैं।[1] एडम स्मिथ से लेकर आज तक राजस्व के मुख्य मुख्य लेखको ने इस विचार की पुष्टि की है कि राजस्व की जितनी भी क्रियाएँ हैं उनका सम्बन्ध केवल व्यक्तियो के धन को प्राप्त करके राज्य के उपयोग मे लाना है ताकि वह उपभोक्ताओ को सेवाएँ प्रदान कर सके। इस बात की ओर किसी का भी ध्यान नही गया कि राजकीय व्यय एक प्रकार की आय है जो उन लोगों को प्राप्त होती है जिन पर उसका व्यय होता है। सब ही लेखकों ने करो की राशि को राष्ट्रीय आय में से घटाया है और उसके आय उत्पन्न करने वाले पहलू की ओर बिल्कुल भी ध्यान नही दिया। एडम स्मिथ का विचार था कि सरकारी खर्चे अनुत्पादक श्रम के लिये किये गए भुगतान होते हैं[2] और इसलिये इनसे राष्ट्रीय उत्पत्ति में वृद्धि नही होती।[3] इसी प्रकार रिकार्डो, मिल, बैस्टेबिल और एच. सी. एडम्स ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं और करों को निजी आय की धारा मे से निकाले हुए कोष समझा है। वे यह नही समझते थे कि इन कोषों को निजी आय की धारा मे डालकर नई आय उत्पन्न की जाती है। क्या एक व्यक्ति का व्यय दूसरे की आय नही होती? यदि व्यक्तिगत

1. Phillips E. Taylor, *The Economics of Public Finance*, Page 78

2. *Wealth of Nations*, pages 87 88

3. *Ibid*, page 315.

व्यय के सम्बन्ध मे यह सही है तो राजकीय व्यय के विषय म भी यह सच है। हम दोनों ही दृष्टिकोणो से राजकीय व्यय के प्रभावो को निम्न मे अध्ययन करेंगे।

राजकीय व्यय और उत्पादन

(Public Expenditure and Production)—

राजकीय व्यय राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि करता है या उसको कम करता है? इसके द्वारा व्यक्तियो की उत्पादन शक्ति प्रोत्साहित होती है या निरुत्साहित होती है?—बडे ही विवादग्रस्त विषय हैं। हम अभी कह ही चुके हैं कि प्राचीन लेखक सब ही राजकीय व्ययों को अनुत्पादक मानते थे। परन्तु यह विचार सही नही है। सही तो यह है, कि न तो सभी व्यय अनुत्पादक होते हैं और न सभी उत्पादक—यदि हम व्यय के प्रत्यक्ष परिणामो की दृष्टि से देखें। यदि हम व्यय के अप्रत्यक्ष परिणामों की दृष्टि से देखें तो सभी व्यय दीर्घ काल मे उत्पादक होते है। अन्तिम विचार सबसे उपयुक्त है। डाल्टन के अनुसार उत्पादन पर राजकीय व्यय के प्रभावो को तीन शीर्षको मे बाट कर अध्ययन किया जा सकता है —[4]

(अ) व्यक्तियो की कार्य करने की क्षमता और बचाने की क्षमता पर प्रभाव।

(ब) व्यक्तियों की कार्य करने और बचाने की इच्छा पर प्रभाव, और

(स) विभिन्न स्थानों और उपयोगो मे आर्थिक साधनो के स्थानान्तरण पर व्यय के प्रभाव।

(अ) राज्य द्वारा किया गया व्यय व्यक्तियो की कार्य करने की शक्ति को कई प्रकार से प्रभावित कर सकता है। प्रथम, इस व्यय से अनेको व्यक्तियों को आय प्राप्त होती है और उनकी क्रय शक्ति बढती है। पेन्शन, भत्ते, बेकारी व बीमारी लाभ वस्तुओं और सेवाओ पर किया गया व्यय—सब ही व्यक्तियो की क्रयशक्ति मे वृद्धि करते हैं। व्यक्तियों मे अधिक वस्तुओ को खरीदने और अपने उपभोग-स्तर को ऊँचा करने की सामर्थ आती है। उनकी कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है और दीर्घकाल मे उत्पादन को बढ़ाता है। इस प्रकार राजकीय व्यय देश मे उत्पत्ति को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। इस प्रकार का व्यय निर्धन व्यक्तियो के लिये, और बच्चो के लिये तो बहुत ही लाभप्रद होता है। बच्चो को आरम्भ से ही पौष्टिक भोजन मिलने से उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है और वह अपनी युवावस्था म अधिक कार्यकुशल हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार निर्धन व्यक्तियो की भी कार्यकुशलता मे वृद्धि होती है। यद्यपि यह भी सम्भव हो सकता है कि इसका उलटा प्रभाव पडे, इन व्यक्तियो मे बुरी आदते पड जायें, और अपव्यय की प्रवृत्ति आरम्भ हो जाये और कार्यक्षमता बढने के स्थान पर कम हो जाये। ऐसी शका स्वाभाविक है क्योकि निर्धन व्यक्ति अधिकतर अशिक्षित होते है। अल्पकाल म तो कार्यक्षमता न भी बढे परन्तु दीर्घकाल मे कार्यक्षमता अवश्य ही बढ़ेगी। इसके

4. Dalton, *Public Finance*, Page 206

अतिरिक्त यह इस बात पर भी निर्भर करेगा कि राज्य अपना व्यय किस प्रकार करता है। यदि निर्धनों को आर्थिक सहायता एकदम नकदी के रूप में दी जाती है तो सम्भव है कि वे इस राशि को जुए और शराब पर लगावें। यदि राज्य इस सहायता को धीरे धीरे देता है और वस्तुओं अथवा सेवाओं के रूप में देता है तो सम्भव है कि इस प्रकार की बुराइयां उन में उत्पन्न न हों।

दूसरे, राज्य अपने व्यय द्वारा व्यक्तियों, विशेषकर निर्धन व्यक्तियों, को वस्तुएँ और सेवायें प्रदान करके, उनकी कार्यक्षमता को बढ़ा सकता है। राज्य इन सेवाओं और वस्तुओं को या तो मुफ्त या कम मूल्य पर दे सकता है जैसे, नि:शुल्क शिक्षा, औषधिक सहायता, सस्ते और कम किराये वाले मकान इत्यादि। इन सभी से व्यक्तियों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। इसीलिये दिन प्रतिदिन आधुनिक सरकारें अपना व्यय इन मदों पर बढ़ाती जा रही हैं।

तीसरे, राज्य अपने व्यय द्वारा कुछ ऐसी सुविधायें प्रदान कर सकता है जिससे व्यक्तियों को अपनी उत्पादक क्रियाओं को सम्पन्न करने में सहायता मिले और अधिकाधिक व्यक्तियों में उत्पत्ति करने की रुचि उत्पन्न हो। रेलों और सड़कों के उन्नत होने से या अविकसित क्षेत्रों में इन साधनों की उपलब्धता से व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति में कई गुनी वृद्धि होती है और सभ्यता का विकास होता है। सिंचाई के साधनों की वृद्धि से कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है और जल विद्युत शक्ति के विकास से उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है।

इसी प्रकार राजकीय व्यय से व्यक्तियों की बचत करने की शक्ति में वृद्धि होती है। किसी भी व्यक्ति की आय दो भागों में विभाजित होती है—उपभोग एवं बचत। बचत या तो उपभोग को कम करके या आय को बढ़ाकर बढ़ाई जा सकती है। राजकीय व्यय से व्यक्तियों की आय में वृद्धि होती है और उनमें अधिक बचत करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है।

(ब) अभी हमने देखा कि राजकीय व्यय से व्यक्तियों की कार्य करने और बचाने की शक्ति पर अच्छे प्रभाव पड़ते हैं। इस भाग में हम राजकीय व्यय के, व्यक्तियों के कार्य करने और बचाने की इच्छा पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करेंगे। राजकीय व्यय दो प्रकार का होता है, एक तो वर्तमान सम्बन्धी और दूसरा भविष्य सम्बन्धी। वर्तमान व्यय से तो व्यक्तियों के कार्य करने और बचाने की इच्छा में वृद्धि होती है। हम पिछले भाग में अध्ययन कर ही चुके हैं कि राजकीय व्यय से अधिकतर व्यक्तियों को अपना जीवन स्तर ऊँचा करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। यह सम्भव है कि कुछ व्यक्तियों में बुरी आदतें उत्पन्न हो जायें, जिनको न होने देने के लिए सरकार को वस्तुओं और सेवाओं के रूप में सहायता देनी चाहिये। व्यक्तियों में सदैव प्रगति करते रहने की इच्छा रहती है। वे अपनी इस इच्छा को राजकीय व्यय द्वारा कार्य रूप दे सकते हैं। अतः राजकीय व्यय से व्यक्तियों में अपना उत्थान करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार यदि सरकार भविष्य में आर्थिक लाभ देने का वायदा करले तो सम्भव है कि व्यक्तियों के कार्य करने की

रुचि कम हो जाय। परन्तु यदि यह व्यय कुछ शर्तों के आधीन किया जाता है तो इससे व्यक्तियों के कार्य करने और बचाने की रुचि में वृद्धि होती है। जैसे बीमारी तथा बेकारी लाभ, जिसमें राज्य अपना अंशदान उसी समय देता है, जब कि लाभ प्राप्त करने वाला अपना अंशदान (Contribution) देने को तैयार हो जाता है। यदि सरकार काम की मात्रा में वृद्धि के साथ साथ लाभ की दर में वृद्धि कर दे तो भी कार्य करने की इच्छा में वृद्धि होगी।

(स) राजकीय व्यय आर्थिक साधनों के उपयोगों में भी परिवर्तन कर सकता है। यह दो प्रकार का हो सकता है—प्रत्यक्ष, और परोक्ष। प्रत्यक्ष रूप से राजकीय व्यय स्वयं साधनों का स्थानान्तरण है। राज्य व्यक्तियों के धन को स्वयं व्यय करता है यदि राज्य ऐसा न करे तो यही धन व्यक्तियों द्वारा बिल्कुल ही भिन्न प्रकार से खर्च किया जायेगा। अतः राज्य प्रत्यक्ष स्थानान्तरण द्वारा व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति को बढ़ाता है। वह उन कार्यों को करता है जिन्हें व्यक्ति अपने व्यक्तिगत रूप में नहीं कर सकते हैं—जैसे, सिंचाई योजनाओं को कार्यान्वित करना, रक्षा सम्बन्धी व्यय करना, न्यायालयों पर व्यय इत्यादि। परोक्ष रूप से राजकीय व्यय व्यक्तियों में इस बात के लिये रुचि उत्पन्न कर सकता है कि वे अपने धन के व्यय के ढंग को बदल दें—जैसे जल विद्युत शक्ति के विकास से व्यक्तियों में यह रुचि उत्पन्न हो सकती है कि वे अपना रुपया अन्य प्रकार से खर्च न करके उद्योगों में व्यय करें।

प्राचीन लेखकों का मत था कि सरकारी व्यय द्वारा साधनों का स्थानान्तरण सदैव ही हानिकारक होता है। उससे व्यक्तिगत हित अग्रसर नहीं होता। इस विषय में राज्य को हस्तक्षेप करना ही नहीं चाहिये। स्वतन्त्र प्रतियोगिता में मूल्य यन्त्र के सचालन से और व्यक्तियों के स्वयं हित से प्रेरित होने के कारण साधनों का बटवारा सर्वोत्तम होता है। इस प्रकार राज्य हस्तक्षेप से यह सर्वोत्तम बटवारा भंग हो जाता है और समाज उसके लाभों से वंचित रहता है। परन्तु समय ने यह सिद्ध कर दिया कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता में सदैव ही साधनों का अधिकतम उपयोग नहीं होता और इसीलिये राज्य हस्तक्षेप आवश्यक प्रतीत हुआ। परन्तु यह भी सत्य नहीं है कि राज्य द्वारा साधनों का प्रत्यक्ष स्थानान्तरण लाभप्रद होता है और न यह कहना ही सही होगा कि प्रत्यक्ष स्थानान्तरण हानिकारक होता है। ये परिस्थितियों पर निर्भर होता है कि साधनों का स्थानान्तरण लाभप्रद है अथवा हानिकारक। उदाहरणार्थ, सुरक्षा सम्बन्धी व्यय को लीजिये। आजकल लगभग प्रत्येक देश में सुरक्षा व्यय बढ़ रहा है और बजट में व्यय की मदों में इसका प्रमुख स्थान है। वैसे तो यह व्यय, जो व्यक्तियों से प्राप्त किया हुआ धन ही है, आवश्यक है क्योंकि शान्त वातावरण में ही उत्पादन कार्य सम्भव हो सकता है, परन्तु यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय और यह सारा धन उत्पादक कार्यों में लगा दिया जाय तो संसार की कितनी उन्नति हो इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। परन्तु जब तक प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को सुरक्षित न समझे, उस समय तक देश में उत्पत्ति में प्रगति की आशा करना व्यर्थ

होगा, इसलिये रक्षा व्यय तो परम आवश्यक है। यह भी तो आवश्यक नहीं कि रक्षा पर इतनी बड़ी मात्रा व्यय की जाय। यदि सब देश आपस में समझौता-करलें और एक ही अनुपात में अपना सुरक्षा व्यय कम कर दें तब भी व्यक्ति उतने ही सुरक्षित रहेंगे जितने आज हैं। यदि आज युद्ध छिड़ जाये तो यही व्यय कई गुना और अधिक हो जायेगा। इसी प्रकार जितना व्यय आजकल सरकार सरक्षण (Protection) सम्बन्धी नीतियों पर कर रही है उतना पिछली शताब्दी में नहीं किया जाता था और न आने वाली शताब्दी में होने की आशा ही की जा सकती है। सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी व्यय के बारे में भी यही कहा जा सकता है। समाज की उन्नति के साथ साथ इस व्यय में अवश्य ही कमी होगी, परन्तु आजकल यह व्यय अत्यन्त ही आवश्यक है, विशेष रूप से निर्धन और अविकसित देशों में। रेलों तथा यातायात के अन्य साधनों की प्रगति, शक्ति के साधनों का विकास साधनों के स्थानान्तरण में परोक्ष रूप से सहायक होता है। नये नये आविष्कारों और वैज्ञानिक खोजों का भी यही प्रभाव होता है।

वर्तमान से भावी उपयोगों में और विभिन्न स्थानों में साधनों का स्थानान्तरण—सरकार के कुछ व्यय इस प्रकार के होते हैं कि व्यक्तियों को भविष्य के लिये अपने साधनों को बचाकर रखना ही पड़ता है—जैसे बेकारी व स्वास्थ बीमा, वृद्धावस्था पेंशन इत्यादि। इसी प्रकार व्यक्तियों के साधनों का स्थानान्तरण सरकारी व्यय द्वारा अपने आप ही वर्तमान उपयोगों से भावी उपयोगों में हो जाता है जैसे आर्थिक विकास सम्बन्धी योजनाएं जिनसे देश की स्थायी पूँजी में वृद्धि होती है और भविष्य में प्राप्त होने वाली पूँजीगत वस्तुओं की मात्रा बढ़ती है। सच तो यह है कि पूँजीगत वस्तुओं पर किये गये प्रत्येक व्यय की ही यही प्रकृति होती है। उत्पादन कार्यों में श्रम का महत्व सक्रिय साधन होने के नाते बहुत अधिक है। अतः यह भी आवश्यक है कि मानव पूंजी (human capital) को भी भविष्य के लिए बढ़ाया जाये। जब सरकार स्वास्थ्य मकानों, सामाजिक सुरक्षा पर व्यय करती है या बच्चों को नि:शुल्क शिक्षा प्रदान करती है, उनके लिये नि:शुल्क दूध का प्रबन्ध करती है तो वह मानव पूँजी के विकास और वृद्धि के लिये प्रयत्न करती है जिनकी प्रकृति भी ठीक वैसी ही होती है जैसी पूँजीगत वस्तुओं पर किये गये व्ययों की होती है। कभी कभी यह भी आवश्यक होता है कि सरकार अपने व्यय द्वारा देश के उत्पादक साधनों का स्थानान्तरण एक स्थान से दूसरे स्थान को करे अर्थात्, जब सरकार विकसित क्षेत्रों पर कम व्यय करे और अविकसित या पिछड़े हुए भागों पर अधिक व्यय करे तो इस व्यय द्वारा वह साधनों का स्थानान्तरण विकसित क्षेत्रों से अविकसित क्षेत्रों को कर रही है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सामान्य रूप से राजकीय व्यय का उत्पादन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

राजकीय व्यय और वितरण
(Public Expenditure and Distribution)—

धन का असमान वितरण, आधुनिक समाज की एक प्रमुख विशेषता है। धन के असमान वितरण का पक्षपात किसी भी आधार पर नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि आधुनिक सरकारो ने राजस्व की क्रियाओ द्वारा धन की असमानताओ को दूर करने के विशेष प्रयत्न किये है। यद्यपि प्राचीन लेखक इस ओर भी राज्य हस्तक्षेप बुरा समझते थे, परन्तु आजकल तो सब ही इससे सहमत है। सरकार धन के वितरण म समानता स्थापित करने के लिये करारोपण करती है और विशेष दिशाओ म व्यय करती है। करारोपण द्वारा धनी व्यक्तियो के आय के धन को कम करती है और व्यय द्वारा निर्धनो के धन को बढाती है। यद्यपि यह दोनो क्रियाएँ एक दूसरे पर अवलम्बित है किन्तु यहां पर हम केवल राजकीय व्यय के प्रभावो का ही अध्ययन करेंगे।

प्रतिगामी (Regressive) अनुपातिक (Proportional) और प्रगतिशील (Progressive) व्यय—धन के वितरण पर राजकीय व्यय के पडने वाले प्रभावो की विवेचना करते समय डालटन ने राजकीय व्यय को करो की भाति तीन प्रकार का बताया है—प्रतिगामी, अनुपातिक और प्रगतिशील।[5] कोई भी राजकीय व्यय प्रतिगामी होगा, यदि लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्ति की जितनी आय कम है उतना ही कम अनुपात मे लाभ प्राप्त हो, अनुपातिक होगा, यदि लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्ति को आय के अनुपात म ही लाभ प्राप्त हो, और प्रगतिशील होगा, यदि लाभ प्राप्त करने वाले की आय जितनी कम हो उतना ही अधिक लाभ का अनुपात उन प्राप्त हो। उदाहरण क लिये, यदि महगाई भत्ते की दर आय बढने के साथ साथ बढती जाय तो यह प्रतिगामी व्यय होगा, यदि सभी व्यक्तियो के लिय समान प्रतिशत है तो यह अनुपातिक व्यय होगा और यदि आय बढने के साथ साथ दर कम होती जाय और एक निश्चित आय के बाद महगाई भत्ता न दिया जाये तो यह व्यय प्रगतिशील होगा। यह स्पष्ट ही है कि प्रतिगामी व्यय या आर्थिक सहायता से असमानता दूर होने की अपेक्षा और अधिक होगी। अनुपातिक व्यय भी असमानताओ को दूर करने मे अधिक सफल नही होता। प्रगतिशील व्यय ही धन के वितरण की असमानताओ को बहुत सीमा तक दूर कर सकता है। कुछ सीमा तक तो अनुपातिक और थोडा प्रतिगामी व्यय (mildly regressive expenditure) भी असमानताओ को कम कर सकता है। परन्तु अधिक उपयुक्त यही होगा कि तीव्र प्रगतिशील व्यय किया जाये। प्रगतिशील व्यय के कई रूप हो सकते हैं जैसे, नकदी के रूप म आर्थिक सहायता, नि शुल्क या सस्ती सेवाओ और वस्तुओ को उपलब्ध करना, इत्यादि। नकदी क रूप म आर्थिक सहायता जैसे, वृद्धावस्था पेंशन, दुर्घटना लाभ, प्रसवलाभ, बेकारी एव बीमारी लाभ, निर्धन व्यक्तियो को उस समय प्राप्त होती है जबकि

5 op cit., Page 222

उन्हें उसकी बहुत आवश्यकता होती है। लगभग प्रत्येक देश में इन सहायताओं को अब प्रमुख स्थान दिया जा रहा है। इसी प्रकार सरकार निर्धन व्यक्तियों को नि:शुल्क सेवायें और मुफ्त वस्तुएँ प्रदान करती है जैसे, नि:शुल्क शिक्षा, चिकित्सा सुविधाएँ सस्ते मकान, मुफ्त दूध इत्यादि। ऐसी सेवाओं और वस्तुओं से धन के वितरण की कुछ असमानतायें अवश्य ही कम होती हैं और निर्धन व्यक्तियों को अच्छा जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त होता है। यदि ये सेवायें जो मनुष्य की प्रगति के लिये इतनी आवश्यक हैं, मुफ्त या सस्ते मूल्यों पर मिलती रहें तो आय की असमानताएँ इतनी कष्टदायक नहीं होतीं।

'व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अनुसार राजकीय व्यय—यदि राजकीय व्यय, व्यक्तिगत आवश्यकताओं या कुटुम्ब विशेष के अनुसार किया जाये तो भी धन के वितरण की असमानताएँ बहुत सीमा तक कम की जा सकती हैं। अतः एक व्यक्ति जिसके कुटुम्ब में सदस्यों की संख्या अधिक है अधिक सहायता का अधिकारी है अपेक्षाकृत उस व्यक्ति के जिसके कुटुम्ब में सदस्यों की संख्या कम है। इसी प्रकार आय समान रहने की दशा में यदि एक व्यक्ति को दूसरे की अपेक्षा अपने कुटुम्ब में अधिक बीमारों का इलाज कराना होता है वह अधिक निर्धन है सो उसे अधिक आर्थिक सहायता की आवश्यकता है। वास्तव में व्यक्तिगत आवश्यकताओं और राजकीय व्यय में समायोजन (adjustment) करना कोई सरल बात नहीं है। इसलिये उपयुक्त यही होगा कि शिक्षा, चिकित्सा आदि सामान्य रूप से नि:शुल्क प्रदान की जायें, और सामान्य रूप से वृद्धावस्था पैन्शन, प्रसव व बीमारी लाभ तथा अन्य प्रकार के सामाजिक लाभ प्रदान किये जायें।

कुछ लेखकों का विचार है कि नि:शुल्क सेवायें प्रदान करने से व्यक्तियों की कार्य करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ता है। धन का वितरण तो समानता की ओर अग्रसर होता है परन्तु उत्पादन गिरने लगता है और राष्ट्रीय आय कम हो जाती है और अन्त में व्यक्तिगत आय भी कम होती जाती है। दूसरी ओर इन व्ययों को पूरा करने के लिये बहुत बड़ी मात्रा में धन की आवश्यकता होगी। जिसे प्राप्त करने के लिये सरकार को करारोपण करना होगा। यह करारोपण भी उत्पादकों को निरुत्साहित करेगा। साधनों के इस प्रकार के पुनर्वितरण से तो 'समृद्धि का वितरण' नहीं होता बल्कि 'निर्धनता का वितरण' होता है। परन्तु इस प्रकार का प्रभाव सदैव ही नहीं पड़ता। एक तो सरकार इस बात का सदैव ही ध्यान रखती है कि करारोपण तीव्र प्रतिगामी (sharply progressive) न हो जाये क्योंकि केवल तीव्र प्रतिगामी करों से ही देश में उत्पादन निरुत्साहित होता है। दूसरे, कभी कभी धन के वितरण की असमानताओं का कम करने के लिये ऐसे कर लगाने आवश्यक हो जाते हैं। इसलिये अधिक अच्छा उत्पादन या अधिक अच्छा धन का वितरण इन दोनों में से सरकार को कौन सा उद्देश्य अपनी नीति का बनाना चाहिये, केवल परिस्थितियां ही बता सकती हैं। सच तो यह है कि सरकार की सफलता तो इसी में है कि दोनों में उचित सन्तुलन रहे क्योंकि न्यायपूर्ण वितरण के अभाव में

अधिक उत्पादन का कोई महत्व नही और जब उत्पादन ही न बढेगा तो वितरण मे व्यक्तियो को प्राप्त क्या होगा। अत. दोनो उद्देश्य साथ साथ चलने चाहियें।

अन्य प्रभाव—यह ध्यान रहे कि इस प्रकार के पुनर्वितरण का एक अच्छा प्रभाव यह भी होता है कि आर्थिक जीवन अधिक सतुलित और स्थायी हो जाता है। कीन्स ने सिद्ध किया है कि निर्धनो मे धनी व्यक्तियो की अपेक्षा अपनी आय में से अधिक भाग उपभोग पर व्यय करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। अत धनी व्यक्तियो पर कर लगाकर जब धन लिया जाता है और निर्धनो पर उसको खर्च किया जाता है तो देश में कुल खर्च किये हुये धन की मात्रा मे वृद्धि होगी और देश में कुल रोजगार की स्थिति उन्नत होगी।[6] इस प्रकार की नीति अवसाद काल म बहुत अच्छी सिद्ध हो सकती है। अवसाद काल मे जबकि निजी व्यापारो एव उद्योगो मे लगे हुये व्यक्तियो की छटनी शुरू हो जाती है तब सरकार रेल, सड़क, नहर बनवाकर तथा अन्य सार्वजनिक निर्माण कार्य अपने हाथ मे लेकर और कुछ उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान करके रोजगार के स्तर को गिरने से रोक सकती है। करारोपण द्वारा इतना लाभ अवसाद काल मे नही होगा जितना कि मुद्रा स्फीति मे क्योकि करारोपण से केवल धन का स्थानान्तरण व्यक्ति से सरकार को ही होता है। अधिक महत्व तो राजकीय व्यय का है। इसके अतिरिक्त सरकार ऋण लेकर करारोपण की अपेक्षा अधिक अच्छा कार्य कर सकती है, क्योकि ऋण प्राप्त करने की नीति में, चाहे नोट प्रकाशन करे, चाहे व्यक्तियो से प्रत्यक्ष ऋण प्राप्त करे या विदेशी ऋण प्राप्त करे, परन्तु हर स्थिति मे उसे अतिरिक्त क्रय शक्ति व्यक्तियो के हाथो में पहुचाने का अवसर मिलेगा, जिससे आर्थिक क्रियाओ का स्तर ऊँचा शीघ्रतया और अधिक तीव्रता से होगा।

6. इसकी विस्तृत विवेचना एक अलग अध्याय में दी गई है।

भाग २

अध्याय ४ — भारत में राजकीय व्यय (Public Expenditure in India)

भारत मे राजकीय व्यय की मुख्य प्रवृत्तियाँ—

किसी भी देश म राजकीय व्यय की प्रकृति एव आकार उस देश की आर्थिक एव राजनैतिक दशाओ और सरकार की आर्थिक नीति के लक्ष्यो पर निर्भर करते ह। अविकसित या कम विकसित देश म विकसित देश की अपेक्षा राजकीय व्यय का आकार बहुत बडा होना चाहिए। अवसाद काल में समृद्धि काल की अपेक्षा राज्य को अधिक व्यय करना होगा। इसी प्रकार युद्धकाल और आन्तरिक झगडा की अवस्था म शान्तिमयी वातावरण की अपेक्षा राजकीय व्यय बहुत अधिक होगा। राजकीय व्यय को प्रभावित करने वाली दूसरी मुख्य बात सरकार की आर्थिक नीति के उद्देश्य है। एक देश म राजकीय व्यय का आकार बहुत सकीर्ण होगा यदि सरकार का उद्देश्य केवल रक्षा करना और शांति स्थापित करना ही है परन्तु दूसरे देश म यहा विस्तृत होगा यदि सरकार का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य स्थापित करना है। इन्ही सब बातो स राजकीय व्यय सम्बन्धी नीतियाँ निर्धारित होती है।

भारत म भी राजकीय व्यय इन्ही सब बातो से प्रभावित होता रहा है। भारत एक विशाल कृषक देश है। यहा कि कृषि भी पिछडी हुई अवस्था म है। औद्योगिक विकास बहुत कम हुआ है। प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है जीवनस्तर न्यून है। समय समय पर स्थितियो के बदलने के साथ साथ राजकीय व्यय का आकार भी बदलता रहा है। फिर भी आज भारत एक अविकसित देश है। भारत म राजकीय व्यय पर जितना प्रभाव सरकारी नीति का पडा उतना किसी और बात का नही पडा है। सन १९४७ म ही भारत स्वतन्त्र हुआ। उससे पूर्व भारत म विदेशी सरकार का मुख्य उद्देश्य देश में शान्ति बनाए रखना था ताकि वह ठीक प्रकार से शासन करती रहे। इसीलिए वह निर्बाधावादी नीति को ही अपनाती रही। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात राष्ट्रीय सरकार का उद्देश्य भारत म एक कल्याणकारी राज्य स्थापित करना हुआ। समाजवादी समाज की स्थापना के हेतु भारत ने आर्थिक नियोजन का मार्ग अपनाया। इन्ही सब कारणो से भारत के राजकीय व्यय का आकार पिछले दस वर्षों में बहुत ही विस्तृत हो गया है। इसके अतिरिक्त भारत में

संघीय-वित्त व्यवस्था से भी राजकीय व्यय का आकार समय समय पर बदलता रहा है।

भारत में राजकीय व्यय पर एक दृष्टि—सन् १९३९ से पूर्व भारत में विदेशी सरकार की नीति देश के आर्थिक विकास के हित में न थी और इसीलिए राजकीय आय का बहुत थोड़ा सा भाग ही सामाजिक और विकास कार्यों पर खर्च किया जाता था और अधिकांश भाग रक्षा और नागरिक प्रशासन पर खर्च होता था। राजकीय व्यय का उद्देश्य धन की असमानताओं को कम करना भी नहीं था। निम्न तालिका[1] इस स्थिति का स्पष्टीकरण करती है —

(करोड़ रुपयों में)

व्यय की मदें	१९००-०१	१९१३-१४	१९२०-२१	१९२९-३०	१९३९-४०
भौतिक सुरक्षा (रक्षा, पुलिस, जेलें, न्याय-व्यवस्था, ऋण सेवाएँ इत्यादि)··········	४७१	५९४	१४२९	१४४८	१५२६
आर्थिक सुरक्षा (रेलें, सार्वजनिक निर्माण कार्य, उद्योग एवं नियोजन, कृषि एवं ग्रामीण विकास)	३१८	३४९	५०८	३१०	२९९
सामाजिक सुरक्षा (शिक्षा एवं स्वास्थ्य)	९२	८३	१३१	२१७	१८५

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि आर्थिक विकास और सामाजिक सुरक्षा पर कितना कम खर्च हो रहा था। इसके अतिरिक्त जबकि 'भौतिक सुरक्षा' पर व्यय सन् १९००–१९४० के बीच में तिगुने से भी अधिक हो गया था, आर्थिक सुरक्षा पर लगभग समान था और सामाजिक सुरक्षा पर दो गुना हो गया था। यही कारण था कि राजकीय व्यय का आकार इतना संकीर्ण था। सन् १९१९ के एक्ट से राजकीय व्यय में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए थे परन्तु वे अधिक प्रशंसनीय नहीं थे। सन् १९३५ में कुछ प्रान्तों में राष्ट्रीय सरकारों के आ जाने के कारण कुछ समय के लिये सामाजिक सेवाओं पर अधिक व्यय हुआ परन्तु सन् १९३९ से स्थिति फिर बिगड़ने लगी।

सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ। भारत सरकार ने ब्रिटेन की सरकार की ओर से बहुत से युद्ध सम्बन्धी खर्चे किए। इन वर्षों में रक्षा व्यय, जो सन् १९३९–४० में ४९.५४ करोड़ रुपये था, बढ़कर सन् १९४४–४५ में ४५८.३२ करोड़ रुपए हो गया। इसी प्रकार नागरिक प्रशासन पर भी व्यय में बहुत वृद्धि हुई क्योंकि सरकार को अनेकों नए विभाग खोलने पड़े और पुराने विभागों को बढ़ाना पड़ा। मुद्रा प्रसार के कारण सरकार को मुद्रा प्रसार निरोधक उपाय करने

1. M. H. Gopal, *Indian Public Finance*, Commerce, Annual Number, (1950).

पड़े। उपभोग, मूल्य, आयात, निर्यात, विदेशी विनिमय उत्पादन आदि पर नियन्त्रण लगाने पड़े। परिणामस्वरूप सरकार के व्यय में बहुत वृद्धि हुई परन्तु इस वृद्धि से देश को कोई भी लाभ प्राप्त नहीं हुआ।

युद्ध समाप्ति के बाद और युद्ध के अन्तिम वर्षों में सरकार ने निर्बाधावादी नीति को त्याग दिया और दामोदर घाटी योजना जैसी योजनाओं को निर्मित करना आरम्भ किया। सन् १९५० के संविधान से तो सरकार की नीति की रूप रेखा ही बदल गई और अब सरकार की नीति का मुख्य लक्ष्य समाजवादी समाज की स्थापना करना हो गया था। इसी बीच मूल्यों की वृद्धि के कारण सरकार के खर्चों में बहुत वृद्धि हुई। साथ ही साथ बहुत सी योजनाओं को स्थगित करना-पड़ा-या उनका आरम्भ कम कर दिया गया और अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन पर व्यय बढ़ा दिया गया। उधर देश के विभाजन से भी राजकीय व्यय की राशि में वृद्धि हुई। शरणार्थियों के पुनर्वासन पर सरकार को बहुत बड़ी मात्रा में व्यय करना पड़ा। देश में झगड़ा और दंगों के कारण भी शान्ति स्थापित करना बहुत महँगा हो गया था और सरकार को कुछ वर्षों तक इन मदों पर बहुत अधिक खर्च करना पड़ा था। देश के विभाजन से खाद्यान्न समस्या बढ़ गई और जूट और कपास की कमी देश में अनुभव होने लगी। परिणामवश सरकार को इन वस्तुओं के आयात पर बहुत व्यय करना पड़ा और यह व्यय आजकल भी चल रहा है।

भारत सरकार को स्वतन्त्र देश होने के नाते कुछ नय खर्चों को आरम्भ करना पड़ा और पुराने खर्चों को बढ़ाना पड़ा। राजदूत सम्बन्धी व्यय, कूटनीतिक सम्बन्धों (diplomatic relations) और रक्षा पर पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक व्यय करना पड़ा—ये व्यय तो स्वतन्त्रता सम्बन्धी थे और स्थायी थे। इसके अतिरिक्त उस समय ये व्यय विकास सम्बन्धी व्यय से भी अधिक महत्वपूर्ण थे और इसीलिए इनको प्राथमिकता मिली। अतः राजकीय व्यय पिछले दस वर्षों में बड़ी तीव्रता से बढ़ा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद के चार वर्षों में यह व्यय अधिकतर रक्षा, नागरिक प्रशासन, शरणार्थियों और खाद्यान्न पर हुआ और तत्पश्चात् सन् १९५१ से विकास सम्बन्धी कार्यों और सामाजिक सुरक्षा पर सरकार को और व्यय करना पड़ा। निम्न तालिका से केन्द्रीय और राज्य सरकारों के व्यय में (आय के हिसाब से) जो वृद्धि हुई है वह स्पष्ट हो जाती है—[१]

(करोड़ रुपया में)

	१९२१–२२	१९३८–३९	१९५०–५१	१९५३–५४	१९५७–५८
केन्द्र	१०९ ६३	८२ ०३	३४५ ८७	३८५ ७५	६६६ ६१
'अ' श्रेणी के राज्य	७० १२	८० ५३	२९३ ०८	३८० ५४	६६७ २४
'ब' श्रेणी के राज्य	—	—	६१ ५३	११५ ८५	

	१९५८–५९
केन्द्र	७१२ ६४
कुल राज्य	७४५ ७५

[१] *Based on the Report of Taxation Enquiry Commission* page 35

इस निरन्तर बढते हुए व्यय के मुख्य कारण—बढते हुए मूल्य, नागरिक प्रशासन के क्षेत्र मे सरकार की बढती हुई जिम्मेदारिया और आर्थिक विकास सम्बन्धी कार्यक्रम थे। आर्थिक विकास कार्यों पर कितना व्यय सरकार कर रही थी इसका अनुमान निम्न आकडो से लग सकता है —

केन्द्रीय सरकार [3] (करोड रुपयो म)

	१९२१–२२	१९३६–३७	१९३८–३९	१९५०–५१	१९५७–५८
गैर-विकास सम्बन्धी व्यय	१०४ ०३	७४ ९४	७६ ०२	२९५ ०२	२९६ २२
विकास (सामाजिक सेवाओ सहित) सम्बन्धी व्यय	५ ९०	५ ९७	६ ०१	४० ८५	४०१ ०२
योग	१०९·९३	८० ९१	८२ ०३	३३५ ८७	६९७ २४

जबकि विकास सम्बन्धी कार्यों पर व्यय का प्रतिशत ११ स २० (सन् १९३८ से सन् १९५३ तक) हो गया, रक्षा पर व्यय ५४% से घटकर ४०% (सन् १९३८ से १९५७ तक) रह गया था।

राज्य सरकारों [4] (करोड रुपयो मे)

	१९२१–२२	१९३६–३७	१९३८–३९	१९५०–५१		१९५७–५८
				'अ' राज्य	'ब' राज्य	सब राज्यो का
गैर-विकास सम्बन्धी व्यय	४२ ०९	४७ ४३	४९·२५	१४४ ५९	४८ ३९	२९६·२२
विकास सम्बन्धी व्यय (सामाजिक सेवाओ सहित)	२८·०३	२९ २६	३१ २८	१४८·४९	४३·१४	४०१·०२
योग	७०·१२	७६ ६९	८०·५३	२९३·०८	९१·५३	६९७ २४

3. *Ibid* Page 36
4. *Ibid* Page 36.

उपर्युक्त तालिकाओं से स्पष्ट है कि विकास सम्बन्धी कार्यों मे व्यय बढ़ता जा रहा है और गैर विकास सम्बन्धी व्यय उसकी अपेक्षा गिरता जा रहा है। परन्तु कर जाच आयोग ने सिद्ध कर दिया है कि गैर विकास सम्बन्धी व्यय अब भी विकास व्यय की अपेक्षा अधिक है। अपने निष्कर्ष निकालते हुये आयोग ने बताया कि केन्द्रीय तथा अन्य राज्य सरकारो द्वारा किये गये कुल व्यय मे—एक रुपया मे से ६ आ० ६ पाई गैर विकास कार्यों पर व्यय किया जाता है, ३ आ० २ पाई सामाजिक सेवाओं पर और ३ आ० ४ पाई आर्थिक विकास पर। यदि प्रतिशत मे इस व्यय को व्यक्त करें तो यह प्रतिशत क्रमानुसार ६०, १९ और २१ होगा।[5] यह आकडे केवल उन व्ययो से सम्बन्धित है जो कि ऋण के अतिरिक्त आय मे से किये जाते है। प्राप्त किये गये ऋणों के व्यय सम्बन्धी आकड़े अलग है। इस प्रकार का व्यय सन् १९३८-३९ में १३४ करोड रुपये था जो बढकर सन् १९५३-५४ मे २५७ करोड रुपये और सन् १९५७-५८ में ८३३ करोड रुपये हो गया था। विकास कार्यो पर इस व्यय मे से सन् १९५३-५४ मे कुल १७१ करोड रुपये व्यय हुये थे और सन् १९५७-५८ मे ६१६ करोड रुपये व्यय किये गये थे।

उपर्युक्त विवरण तथा आकडो के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर सुगमता से पहुँच सकते है कि भारत मे विकास कार्यों पर राजकीय व्यय बढता जा रहा है और गैर विकास कार्यों पर कम होता जा रहा है, फिर भी यह बहुत अधिक है। सामाजिक कल्याण पर अब भी बहुत कम व्यय किया जाता है। आयो की असमानतायें अब भी पहले ही जैसी है। हमारे यहाँ राजकीय व्यय की एक बुरी विशेषता यह है कि प्रशासन मे भ्रष्टाचार और फिजूलखर्ची बहुत अधिक बढ गई है। इसका प्रमुख कारण यह है कि एक तो हमारे देशवासियो मे राष्ट्रीयता की भावना की बहुत कमी है और दूसरे, व्यय मे इतनी वृद्धि हुई है कि उस पर उचित नियन्त्रण रखने मे सरकार एव अधिकारीगण पूर्णतया असमर्थ रहे हैं। इस फिजूलखर्ची और अपव्ययता की कडी आलोचना कई बार भारतीय ससद मे की जा चुकी है। अनुमान समितियो (Estimates Committees) और राजकीय हिसाब समितियो (Public Accounts Committees) ने भी सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया है, परन्तु स्थिति मे सुधार होता नही दीखता।

यहाँ पर यह बताना अनुचित न होगा कि व्यय सम्बन्धी उपर्युक्त आकडो का भारत की आर्थिक नियोजन नीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रथम योजना के काल मे राजकीय क्षेत्र मे कुल व्यय २०१२ ४ करोड रुपयो का किया गया था। दूसरी योजना के भी उद्देश्य, राष्ट्रीय आय की वृद्धि, रोजगारो मे वृद्धि और आय की असमानताओ को कम करने है। आरम्भ मे इस अवधि (सन् १९५६-६१) मे कुल ४८०० करोड व्यय करने का निश्चय किया गया था परन्तु आवश्यक धन न प्राप्त होने के कारण योजना को सन् १९५८ मे दो भागो मे विभाजित कर दिया गया है—(अ) अति आवश्यक योजनायें—४५०० करोड रु०, और (ब) शेष योजनायें—३०० करोड रु०,

5 Ibid Page 39.

यदि धन प्राप्त हो जायें तो। इस प्रकार सन् १९५१ की तुलना में केन्द्रीय सरकार का व्यय सन् १९५८ में २७१ ४४ करोड रुपयों से बढकर ६७९ ३६ करोड रुपये होगया था।

राज्य सरकारों का व्यय भी इन काल में ३९२ ६ करोड रुपयों से बढकर ६९७ २४ करोड रुपये हो गया था।

अब हम सघ तथा राज्य सरकारों के व्यय की मुख्य मद्दा का अध्ययन सक्षेप म करेंगे और यह बतायेंगे कि समय समय पर इन मद्दों पर किए गए व्यय पर किन-किन बातों का प्रभाव पडा और इन व्ययों का देश पर क्या प्रभाव पडा। पहले हम सघ सरकार के व्यय की मुख्य मद्दा को लेंगे तत्पश्चात् राज्य सरकारों के व्यय की मुख्य मद्दों की विवेचना करेंगे।

भारत के संविधान में संघ. तथा राज्य सरकारों के बीच कार्यों का वितरण—हमारे देश के संविधान में मुख्य २ कार्यों का सघ एव राज्य सरकारो के बीच वितरण किया गया है। इसके अनुसार सघ सरकार के व्यय की मुख्य-मुख्य मद्दें—रक्षा, नागरिक प्रशासन, रेलें, डाक व तार इत्यादि हैं। इसी प्रकार राज्यों के व्यय की मुख्य मद्दें—शान्ति, पुलिस, स्थानीय सम्थायें, स्वास्थ एव सफाई इत्यादि हैं। कुछ मद्दो जैसे, आर्थिक एव सामाजिक नियोजन, श्रम कल्याण आदि पर दोनो सरकारें मिलकर व्यय करेंगी।

संघ सरकार के व्यय की मुख्य मद्दें—भारत में सघ सरकार का व्यय दो खातो द्वारा किया जाता है—प्रथम, आय सम्बन्धी खाता (revenue account) और दूसरा पूँजीगत खाता (capital account) प्रथम खाते में व्यय की पूर्ति, करो की आय, रेलों, डाक व तार और नागरिक कार्यों (civil works) के अशदानो द्वारा की जाती है। इस हिसाब मे व्यय की मुख्य मद्दें—रक्षा और नागरिक प्रशासन हैं। दूसरे खाते में व्यय की पूर्ति ऋणों द्वारा की जाती है। इसमें व्यय की मुख्य मद्दें—ऋणो का भुगतान करना, राज्यों को ऋण देना, रक्षा, बन्दरगाहों, हवाई यातायात, रेलों, डाक व तार, सिंचाई, जल-विद्युत तथा औद्योगिक विकास से सम्बन्धित पूँजीगत वस्तुओं का क्रय आदि हैं। अब हम इन मद्दों की ऐतिहासिक विवेचना करेंगे।

(१) रक्षा-व्यय (Defence Expenditure)

भारत सरकार के व्यय की मद्दों में रक्षा-व्यय का प्रथम स्थान सदैव ही रहा है। सन् १८६१ में यह कुल व्यय का ६३ २९% था, सन् १९२१ में ८२ ३१%, सन् १९४३-४४ में ८१ १%, सन् १९५८-५९ में ३४% और सन् १९५९-६० में इसका केवल २९% का ही अनुमान है। इन आंकडों से यह सिद्ध होता है कि भारत सरकार आरम्भ से ही रक्षा पर बहुत अधिक व्यय करती आ रही है। स्वतत्रता प्राप्ति के प्रारम्भिक वर्षों में तो निस्सदेह ही बहुत अधिक व्यय हुआ परन्तु धीरे-धीरे अब यह घटकर २९% रह गया है। प्रथम युद्ध काल को देखते हुए जबकि

रक्षा व्यय ८७% से भी अधिक था, आजकल बहुत कम है फिर भी व्यय की मदों में इसका प्रथम स्थान है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व, जैसा कि आँकड़ों से विदित ही है यह व्यय बहुत अधिक था। इसके कई कारण थे। प्रथम, भारत सरकार को केवल भारत की ही रक्षा नहीं करनी पड़ती थी बल्कि भारत के पास-पड़ोस के देशों में शान्ति स्थापित करनी पड़ती थी। बहुत बार भारत की फौजें विदेशों में युद्ध लड़ने के लिए भेजी गई थी और सेना का कुल खर्चा भारत सरकार को ही भुगतना पड़ा था। दूसरा कारण यह था कि अंग्रेजी सरकार भारत में इसलिए भी अधिक सेना रखती थी ताकि वह देश में उत्पन्न होने वाले किसी भी विद्रोह को आसानी से दबा सके। तीसरा कारण यह था, कि सेना में जो अंग्रेजी सिपाही और अफसर थे उनको बहुत अधिक वेतन दिया जाता था। चौथा कारण यह था, कि भारत को ब्रिटिश युद्ध दफ्तर (British War Office) को जो भारत की सेना के लिए सिपाही रखता था और उन्हें शिक्षा देता था, एक बड़ी रकम चुकानी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त भारत सरकार को अंग्रेजी अफसरों की अदला बदली पर आधा व्यय भी देना पड़ता था। इन्हीं सब कारणों से भारत का रक्षा व्यय बहुत अधिक था। उस समय में इसके विरुद्ध बड़ी कटु आलोचनायें की जाती थी। लोगों का कहना था कि भारतीय सेना में अंग्रेजी सिपाहियों तथा अफसरों के स्थान पर भारतीयों को रखा जाये क्योंकि वे देश के लिए अपव्ययी थे। प्रो० के० टी० शाह ने ठीक ही कहा था कि भारतीय सेना उतनी ही व्ययपूर्ण है जितनी कि बेकार है, और जो कुछ भी सेवा यह भारतीयों की करती है वह अपनी लागतों की तुलना में बहुत कम है।[6] इसके अतिरिक्त कुछ लोगों का यह भी कहना था कि भारत में जितनी सेना रखी जाती थी वह केवल देश की रक्षा के लिए नहीं बल्कि वह अंग्रेजी शासन को बढ़ाने के लिए रखी जाती थी। यू० के० के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री मैकडोनल्ड (*Macdonald*) ने इसी बात को एक बार कहा था "कि भारत में सेना का एक बड़ा भाग—निश्चय ही आधा—शाही सेना है जिसकी हमको भारत के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों के लिए आवश्यकता होती है और इसलिए उसका व्यय भारतीय कोषों से नहीं बल्कि शाही कोषों से पूरा होना चाहिए।" कुछ लोगों ने इस बात की भी आलोचना की थी कि भारतीय सेना तथा उससे सम्बन्धित नीति भारत सरकार द्वारा निर्धारित नहीं होती थी बल्कि ब्रिटिश युद्ध दफ्तर उसको निर्धारित करता था।

द्वितीय महायुद्ध के छिड़ते ही भारत को भी युद्ध में भाग लेना पड़ा और परिणामस्वरूप भारत का युद्ध व्यय हर वर्ष बढ़ता ही गया। जैसा कि निम्न आँकड़ों से विदित होता है:—

6 *Wealth and Taxable Capacity of India*, Page 276

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	रक्षा-व्यय	वर्ष	रक्षा-व्यय	वर्ष	रक्षा-व्यय
१९३९-४०	४९.५४	१९४१-४२	१०३.९३	१९४३-४४	३९५.८६
१९४०-४१	७३.६१	१९४२-४३	२६७.१३	१९४४-४५	४५८.३२

युद्ध छिड़ते ही भारत और यू० के० सरकार में एक वित्तीय समझौता हुआ जिसके अनुसार रक्षा-व्यय को दो भागों में विभाजित कर दिया गया था, अर्थात् एक वह भाग जो भारत को सहन करना था और दूसरा ब्रिटिश सरकार को। यहाँ पर हम इस समझौते का पूर्ण वृत्तान्त देना उचित नहीं समझते इसलिए केवल इतना ही कहते हैं कि व्यवहार में भारत को युद्ध पर इतना अधिक व्यय करना पड़ा था जिसकी कभी आशा भी नहीं की जा सकती थी।

देश के स्वतन्त्र होने पर यह आशा की जाती थी कि भारत का रक्षा व्यय कम हो जायगा क्योंकि युद्ध समाप्त हो ही चुका था और देश के विभाजन हो जाने से अब कम क्षेत्र की रक्षा का भार रह गया था और अंग्रेजी शासन काल में भारत को जो अनुचित खर्चे देने पड़ते थे वे भी अब समाप्त हो गये थे। परन्तु यह आशा पूरी न हो सकी और हमारा रक्षा व्यय बढ़ता ही गया। इसके कई कारण थे—

१ आरम्भ में भारत को बहुत अधिक सेना रखनी पड़ी थी क्योंकि अंग्रेजी सेना से पहले जैसी सहायता नहीं मिल रही थी।

२ स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर भारत में इतने आन्तरिक उपद्रव हुए जिनको ठीक करने के लिये भी एक बड़ी सेना रखनी पड़ी थी।

३ भारतवर्ष का सेना व्यय काश्मीर और हैदराबाद के कारण भी बहुत अधिक था। यद्यपि हैदराबाद सम्बन्धी व्यय तो अब समाप्त हो गया है फिर भी काश्मीर पर अब भी काफी खर्चा हो रहा है।

४. विभाजन के कारण भारतवर्ष की स्थल सेना बहुत बढ़ गई है। उसकी सीमा पाकिस्तान से मिली हुई है। पाकिस्तान ने अमेरिका, इगलैंड तथा मुसलमान देशों से समझौते कर रखे हैं। पाकिस्तान के सिपाही समय समय पर सीमाओं का उल्लंघन करते हैं। इन सब झगड़ों को शान्त करने के लिये तथा पाकिस्तानी आक्रमणों को रोकने के लिये सेना पर बहुत अधिक व्यय करना पड़ रहा है।

५ भारतवर्ष में उच्च प्रकार की सैनिक शिक्षा प्रदान करने के लिये कई केन्द्र खोले गये हैं जिन पर काफी व्यय होता है।

६ भारतवर्ष में युद्ध का समान बनाने के लिये भी कई कारखाने खोले गये हैं।

७. सेना के रहने के लिये स्थानों का प्रबन्ध करने के लिये भी सरकार को बहुत सा धन खर्च करना पड़ा।

८ सेनाओं को पूर्ण रूप से आधुनिक शस्त्रों और यन्त्रों से सुसज्जित किया गया। साथ ही समुद्री बेड़े को तैयार करने तथा वायु शक्ति का विकास करने पर भी काफी व्यय हुआ।

९ अनेक प्रकार की सहायक सैनिक सेवाओं जैसे—National Cadet Corps, Territorial Army के सगठन पर भी सरकार को काफी व्यय करना पड़ा।

इन्हीं सब कारणों से स्वतन्त्रता प्राप्ति के कई वर्षों के बाद तक रक्षा-व्यय म निरन्तर वृद्धि होती ही गई। परन्तु पिछले तीन चार वर्षो से हमारे रक्षा व्यय म कमी हो रही है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि रक्षा पर व्यय होने वाली धन राशि म कोई कमी हो रही है वरन् इसका अभिप्राय यह है कि केन्द्रीय सरकार के कुल व्यय म रक्षा-व्यय का अनुपात कम हो रहा है अर्थात् कुल व्यय म वृद्धि हो रही है परन्तु रक्षा-व्यय उस अनुपात म नहीं बढ रहा है जिसम कि केन्द्रीय सरकार का व्यय बढ रहा है। यह निम्न आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है —

(करोड़ रुपया म)

	१९५६–५७	१९५७–५८	१९५८–५९	१९५९–६० (अनुमानित)
कुल व्यय	४७३ ८३	६६६ ६१	७८८ १५	८३९ १८
रक्षा-व्यय	१९२ १५	२६६ ०५	२६६ ८७	२४२ ६८
रक्षा-व्यय का अनुपात	४० ५%	४०%	३४%	२९%

रक्षा-व्यय का लगभग तीन चौथाई सेना पर खर्च होता है और बहुत कम समुद्री बेड़े और वायु शक्ति पर व्यय किया जाता है। अभी हाल ही म (मार्च सन् १९५९) राजकीय हिसाब समिति (Public Accounts Committee) ने जाँच करने के पश्चात् यह बताया कि Ordinance Factories तथा अन्य सैनिक सम्बन्धी स्थानों पर बहुत सी मोटर गाड़ियाँ के इजन बेकार खरीद लिये गये और पूरी गाड़ी तैयार न हो पाने के कारण बेकार पड़े हुए खराब हो रहे हैं। स्पष्ट ही है कि भारत जैसे निर्धन देश के लिये विशेषकर जब कि उसको विदेशी विनिमय की इतनी अधिक कमी अनुभव हो रही है इस प्रकार के खर्चे देश के हित में नहीं हैं और उनको शीघ्र ही बन्द कर देना चाहिये। भविष्य में रक्षा-व्यय में कमी तो अवश्य की जाय परन्तु यह कमी उसी सीमा तक होनी चाहिये जब तक कि देश की स्वतन्त्रता और सुरक्षा जोखिम में नहीं पड़ती। कदाचित इसलिये सन् १९५९–६० के बजट में वित्त मन्त्री श्री देसाई ने, रक्षा सम्बन्धी व्यय में कमी कर दी है। पिछले वर्ष की तुलना में इस वर्ष में रक्षा पर ५% कम व्यय किया जायगा। यह कमी मुख्य रूप से सेना और वायु शक्ति के खर्चों में कमी होने के कारण हुई है। इस वर्ष माल (stores) भी कम खरीदा जायगा और विदेशों से कम वायुयान खरीदे जाने की आशा है।

(२) नागरिक व्यय (Civil Expenditures)

इस मद् पर सन् १९५७–५८ म ४५५ ५३ करोड रुपये व्यय हुए थे, सन् १९५८–५९ मे ५२१ २८ करोड और यह अनुमान है कि सन् १९५९–६० म ५९६ ५ करोड रुपयों का व्यय होगा । इस मद् म निम्न मद्दों के व्यय सम्मिलित किये जाते हैं —

(अ) नागरिक प्रशासन (ब) विकास एव सामाजिक सेवाऐ (स) आय पर प्रत्यक्ष मांगें और (द) ऋण सम्बन्धी सेवाऐ ।

सन १९०६ तक गवर्नर जनरल तथा उसके कर्मचारी वर्ग का वेतन, भत्ते इत्यादि, प्रान्तो के गवर्नर और उनके कर्मचारियो का वेतन तथा भत्ते, विधान सभाओ के खर्चे, इगलैंड म स्थित इण्डिया आफिस का व्यय, भारत मन्त्री का वेतन तथा भत्ते—यह सब खर्चे नागरिक प्रशासन के अन्तर्गत सम्मिलित थे । परन्तु सन् १९१९ से प्रान्तीय सरकारो का हिसाब अलग कर दिया गया और इस मद् म केवल केन्द्रीय सरकार का ही व्यय दिखाया जाने लगा । सन् १९३७ से इस मद् म निम्नलिखित व्यय सम्मिलित किये जाने लगे —

१ इण्डिया हाउस से सम्बन्धित व्यय ।
२ सरकारी विभागो का वेतन तथा अन्य व्यय ।
३. मत्री मडल का व्यय ।
४ केन्द्रीय विधान सभा का व्यय ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस मद् के अन्तर्गत अब निम्नलिखित व्यय सम्मिलित किये जाते हैं —

१ मत्री मडल का व्यय ।
२ लोक सभा का व्यय ।
३ सरकार के विभिन्न मन्त्रियो के दफ्तरो का व्यय ।

स्वतन्त्रता के पश्चात् यह आशा की जाती थी कि नागरिक प्रशासन पर व्यय कम हो जायगा परन्तु कम होने के स्थान पर यह व्यय और भी बढ गया । यह निम्न आँकडों से स्पष्ट होता है —

(लाख रुपयो मे)

वर्ष	व्यय	वर्ष	व्यय
१९३८–३९	१८७	१९५३–५४	६८१७
१९४६–४७	६१६	१९५८–५९	१९७७२
१९५१–५२	५६६६	१९५९–६०	२२२७३
१९५२–५३	५९२३		

उपर्युक्त आँकडो से स्पष्ट है कि हमारे देश म नागरिक प्रशासन पर व्यय बढता ही जा रहा है । ब्रिटिश काल मे तो इस व्यय के अधिक होने का कारण यह था कि सरकार को शाति स्थापित करने मे बहुत अधिक खर्चा करना पडता था और

भारतीय सिविल सर्विस तथा अन्य विभागों के कर्मचारियों के वेतन बहुत ऊँचे थे। साथ ही साथ विकास और सामाजिक सेवाओं को कोई भी महत्त्व नहीं दिया जाता था। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद हमारे देश म दृष्टिकोण ही बदल गया और अब हमारे देश म कल्याणकारी राज्य की स्थापना की ओर प्रयत्न हो रहे हैं। अत सरकार के कार्यों म बहुत वृद्धि हो गई है जिसके कारण नागरिक प्रशासन व्यय भी बढता जा रहा है। इस व्यय के बढने के निम्न कारण हैं —

१ बहुत से नये-नये मन्त्रालय स्थापित हो गये हैं।

२ मन्त्रियो की सख्या बढ गई है।

३ लोक सभा का व्यय पहले से अधिक हो गया है।

४ केन्द्रीय वेतन आयोग के सुझावो के अनुसार कर्मचारियो तथा अफसरों के वेतन बढ गये हैं।

५ कर्मचारियो और अफसरो की सख्या भी बढ गई है।

६ दूतावासो की स्थापना तथा उनकी सख्या में वृद्धि हो गई है।

इसम कोई सदेह नहीं कि दूतावासो की सख्या और उनसे सम्बन्धित खर्चों को कम किया जा सकता था परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत के स्थान को देखते हुए इस व्यय को कम करना सरल नहीं है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार को बहुत सी नई-नई राष्ट्रीय निर्माण विकास और सामाजिक सेवाओं जैसे शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सामाजिक कल्याण सगठन, पिछडी हुई जातियों का कल्याण, प्राकृतिक आपत्तियो से पीडित व्यक्तियो की सहायता, शरणार्थियों को फिर से बसाने का कार्य, राष्ट्रीय विकास सेवायें और सामुदायिक विकास योजनायें इत्यादि का व्यय भी नागरिक व्यय के अन्तर्गत ही आता है। इन सेवाओ पर भी व्यय के घटने की कोई आशा नहीं है। इसी प्रकार कर एकत्रित करने के व्यय म भी वृद्धि हुई है।

आर्थिक नियोजन कार्य के आरम्भ होने से भारत को विदेशो से भी बहुत ऋण लेने पड़े हैं और देश में भी आन्तरिक ऋणो को प्राप्त किया है। इसलिए ऋण सम्बन्धी सेवाओ पर भी खर्चा कम होने का प्रश्न नहीं उठता।

श्री मुरार जी देसाई ने २८ फरवरी सन् १९५९ को ससद म सन् १९५९-६० के बजट पर भाषण देते हुए घोषित किया कि अगले वर्ष नागरिक व्यय म ७५ २२ करोड रुपयो की वृद्धि की आशा है। उन्होंने इसके निम्नलिखित कारण दिये हैं —

(१) P L-४८० कार्यक्रम के अन्तर्गत प्राप्त की गई सहायतायें जो आरम्भ में आय मे सम्मिलित कर ली गई थीं उनको विशेष विकास कोष (Special Development Fund) को स्थानान्तरित की गई थी और उनका उपयोग बाद के खर्चों के लिये किया गया था। इस वर्ष एक करोड रुपये के स्थानान्तरण की व्यवस्था की गई थी और अगले वर्ष १५ करोड रुपये स्थानान्तरित किये जायेंगे।

(२) ऋण सेवाओ पर अगले वर्ष १५ ८२ करोड रुपये अधिक व्यय किये जायेंगे।

(३) प्रशासन सम्बन्धी सेवाओं (Administrative services) पर अगले वर्ष २ ५ करोड़ रुपये अधिक व्यय किये जाने की आशा है।

(४) विकास और सामाजिक सेवाओं पर अगले वर्ष कुल १६८ करोड़ रुपयों के खर्च किये जाने का अनुमान है जबकि इस वर्ष कुल १४५$\frac{3}{4}$ करोड़ रुपये खर्च हुए हैं सामुदायिक विकास पर ६·१७ करोड़ रुपये अधिक व्यय होने की आशा है।

(५) इस प्रकार अगले वर्ष में नागरिक व्यय मे कुल ७५ २२ करोड़ रुपया की वृद्धि होने की आशा है।[7]

(३) पूँजीगत व्यय (Capital Expenditure)—

भारत सरकार का व्यय इस मद पर सन् १९५०–५१ में ७१ ०३ करोड़ रुपया था परन्तु यह बढकर सन् १९५८–५६ मे ४६१·३५ करोड़ रुपये हो जाने का अनुमान था। पूंजीगत व्यय किसी भी प्रकार से भारत सरकार की आय पर भार नहीं होता और यह व्यय ऋण तथा अन्य कोषो द्वारा पूरा होता है। साधारणतया इसी सिद्धान्त का पालन किया जाता है परन्तु हमारे देश मे सन् १९४८–४६ से सरकार पूँजीगत व्यय का कुछ भाग आय बजट से प्राप्त करती है जिसका परिणाम यह हुआ है कि कर दाताओं पर कर भार बढता जा रहा है और देश में बचतो की मात्रा कम हो रही है और पूजी निर्माण की गति भी कम है।

इस मद् के अन्तर्गत पूँजीगत वस्तुओं को खरीदने के लिये सरकार जो व्यय करती है उस व्यय के अतिरिक्त वह ऋण भी सम्मिलित रहते हैं जो सरकार राज्य सरकारों तथा अन्य संस्थाओं को देती है। गत वर्षों में पूँजीगत वस्तुओं पर व्यय में बहुत वृद्धि हुई है। सन् १९५२–५३ में इस मद् पर ३९ १२ करोड़ रुपयो का व्यय हुआ था और १९५७–५८ मे यही व्यय बढकर ४६१ ८३ करोड़ रुपया हो गया। इस वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि सरकार को बहुत अधिक व्यय विकास कार्यों पर करना पड रहा है। भारत की अर्थ-व्यवस्था बहुत ही पिछडी हुई अवस्था मे है। राष्ट्रीय आय, उत्पादन, रोजगार और जीवन स्तर न्यूनतम स्तर पर हैं। इनमे वृद्धि की आशा उसी समय की जा सकती है जबकि सरकार अधिकाधिक पूँजीगत योजनाओं पर व्यय करे जैसे नदियो पर बाँध बधवाना, जलविद्युत शक्ति की उत्पत्ति की व्यवस्था करना, देश में यातायात व सम्वाद वाहन के साधनों का विकास करना तथा मशीन उद्योग को उन्नत करना। हमारी विकास योजनाओं में इन सभी के लिये प्रबन्ध किया गया है और इसीलिये हमारा पूँजीगत व्यय इतना बढ गया है। इसमें तो कोई सन्देह नही कि विकास कार्यक्रमों के कारण व्यय में वृद्धि हुई है। साथ ही साथ यह भी मानना पडेगा कि अपव्यय और लापरवाही के कारण भी व्यय में कोई कम वृद्धि नहीं हुई है। इसलिये यदि इस मद् में थोडी सी भी मितव्ययिता तथा होशियारी से काम लिया जाय तो खर्चे में काफी कमी हो सकती है।

7. *Hindustan Times* March 1 1959

सघ सरकार के व्यय में राज्यों को दिये गये ऋणो का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। देश में विकास कार्यक्रम के आरम्भ होने से इन ऋणों में और भी अधिक वृद्धि हुई है। सन् १६५२–५३ में कुल व्यय इस मद पर १११ ७६ करोड रुपये था जो सन् १६५७–५८ मे बढकर २८७ ८५ करोड रुपये हो गया था।

सन् १६५६–६० का बजट[8] भारतीय ससद में प्रस्तुत करते हुए वित्त मन्त्री श्रीदेसाई ने बताया कि अगले वर्ष पूँजीगत वस्तुओ में ४२० करोड रुपयो के व्यय की सम्भावना है। इस राशि में ६५ २४ करोड रुपयो की वह राशि सम्मिलित है जो भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के लिये अतिरिक्त चन्दे के रूप में देनी है। यह चन्दा इसलिये देना है क्योकि सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने सदस्यो के अभ्यन्शो (Quotas) में ५०% की वृद्धि कर दी गई है। वित्त मन्त्री ने बताया कि अगले वर्ष रेलों के लिये १२२ करोड रुपया की व्यवस्था की गई है जबकि इस वर्ष केवल १२१ करोड रुपये खर्चे किये गये है अर्थात इस मद पर भी एक करोड रुपया और अधिक व्यय होगा।

यह अनुमान है कि रक्षा सम्बन्धी मशीनो, यत्रो तथा अन्य पूँजीगत वस्तुओ पर इस वर्ष की अपेक्षा अगले वर्ष ५ करोड रुपए का अधिक व्यय होगा अर्थात् सन् १६५६-६० मे इस मद पर कुल व्यय ३२ ७४ करोड रुपया होगा। इसी प्रकार डाक व तार पर इस वर्ष की तुलना मे अगले वर्ष ४ २५ रुपयो का और खाद्य-अन्न खरीदने पर २ करोड रुपयो का और अधिक व्यय होगा। श्री देसाई ने बताया कि अगले वर्ष के बजट मे औद्योगिक सस्थाओ, नागरिक उड्डयन (Civil Aviation), नागरिक निर्माण कार्यों (Civil Works) तथा विकास सम्बन्धी अनुदानो (Development Grants) के लिए अधिक व्यवस्था की गई है।

जहा तक राज्यो को ऋण देने का सम्बन्ध है अगले वर्ष कुल ३१३ करोड रुपए के ऋण दिये जाने का अनुमान है। इसके अतिरिक्त पोर्ट ट्रस्टो, वैधानिक प्रमडलो, सहकारी कम्पनिया इत्यादि को २१२ करोड रुपयो के ऋण दिये जाने का अनुमान है जबकि इस वर्ष केवल १२३ करोड रुपए दिये गए हैं। हिन्दुस्तान स्टील को इस वर्ष ५२ करोड रुपयो का और सन् १६५६-६० में १२२ करोड रुपयो का ऋण दिए जाने की व्यवस्था की गई है। इसी प्रकार रेलो को इस वर्ष १० ६८ करोड रुपया का ऋण दिया गया है और अगले वर्ष १० ८८ करोड रुपयो की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार इस वर्ष की तुलना में अगले वर्ष पूँजीगत व्यय में कमी हो जाने की आशा है।

राज्यों के व्यय की मुख्य मद्दें–

पिछले पृष्ठो म हमने देखा कि सघ सरकार के पास व्यय की ऐसी मदें हैं जिनमें वृद्धि तो अवश्य हो रही है परन्तु इस वृद्धि की गति तीव्र नही है। साथ ही एक विशेष बात यह भी है कि जैसे जैसे उन मदो का विकास होता जाता है वह

8 *Hindustan Times* March 1, 1959

स्वावलम्बी होती जाती है और सघ सरकार का व्यय कम होता जाता है । दुर्भाग्य की बात यह है कि राज्यो को जो कार्य सौंपे गए हैं उनमे से अधिक पर खर्चा होने का ही प्रश्न है, आय का प्रश्न ही नही उठता, और यदि कोई आय होती भी है तो उसका कोई विशेष महत्त्व नही है । राज्यो पर शान्ति व व्यवस्था रखने का और राष्ट्रीय निर्माण कार्यों जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सेवा, सहकारिता आदि की व्यवस्था करने का दायित्व है । स्पष्ट ही है कि राज्यो के कार्य अधिक व्ययपूर्ण हैं । राज्यो के व्यय को निम्न दो भागो म बाँटा जा सकता है —

(अ) प्रारम्भिक कार्यो पर व्यय जैसे राज्य के सचालन का व्यय, शान्ति व्यवस्था तथा नियम अनुशासन का व्यय जिसमे न्यायालयो, जेलो और पुलिस का व्यय सम्मिलित है और ऋणो से सम्बन्धित व्यय । बजट में इन तीनो व्ययो को क्रमश 'आय पर प्रत्यक्ष माँग,' 'सुरक्षा सेवाए' ऋण दायित्व' लिखा जाता है ।

(ब) गौण कार्यो पर व्यय, जिसम शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य, सिचाई, कृषि, उद्योग, ग्रामीण विकास, सहकारिता आदि सम्मिलित है । इन सभी सेवाओ का बजट म सामाजिक तथा विकास सेवाएँ या राष्ट्रीय निर्माण सेवाओं के नामो से व्यक्त किया जाता है ।

राज्य सरकारो के व्यय का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है —

भारत मे राज्य सरकारो के आय खातो (Revenue Account) मे विकास एव गैर विकास सम्बन्धी व्यय

(अ) विकास सम्बन्धी व्यय की तालिका— **(करोड़ रुपयों में)**

व्यय की मद्दे	१६५१-५२	१६५५ ५६	१६५६-५७ (बजट)	१६५७ ५८	१६५८-५६ (बजट)
१. शिक्षा	६० ३०	१०५ ०४	११६ ६३	१३० ८०	१४२ ७८
२ चिकित्सा एव स्वास्थ्य	२६ २२	४८ ८३	५४ २७	५३ ००	६० ६४
३ कृषि, पशु चिकित्सा तथा सहकारिता	२५ ६०	४२ ३१	४६ ६६	५० ६८	५६ २६
४ सिचाई	१७ ६२	२५ ०२	२२ ६३	२३ ६१	२३ २१
५ बिजली योजनाए	४ ६१	७ १०	६ १४	८ ४५	७ ८२
६ ग्रामीण तथा सामुदायिक विकास योजनाए	० ८२	३० ५१	३२ ६७	३३ ७६	३६ ६१
७ नागरिक निर्माण कार्य	४० ६३	७० ६७	५६ ६२	५२ १०	५० ३४
८ उद्योग एव पूर्ति	५ ८१	१० ६७	१६ ७७	१६ ०२	२२ १०
६. अन्य विकास कार्य	११ ००	१६ ३१	२१ ५६	२६ ६०	३४ १६
कुल विकास व्यय	१६६ २१	३५६ ४६	३८७ १५	४०१·०२	४३४·२५

(ब) गैर विकास सम्बन्धी व्यय की तालिका—

१ आय पर प्रत्यक्ष मांगें	२६ ८४	४८ ५०	५५ ८१	५५ २३	५४ १७
२ ऋण सम्बन्धी सेवाएं	८ ४६	१८ ८४	२३ ०८	३७ ८१	४६ ८८
३ नागरिक प्रशासन	१०६ ६५	१२४ ५०	१२८ ०४	१३६ ४०	१३६ ३४
४ फुटकर व्यय	१७ ५३	२७ ५७	२६ १८	२८ ७४	३२ २८
५ अकाल	३ ९९	१८ ३१	३ ४९	९ ७१	९ ८४
६ अन्य गैर विकास सम्बन्धी व्यय	३२ ८७	३२ २५	३० ६४	३० ३३	३१ ९९
कुल गैर विकास सम्बन्धी व्यय	१९६ ४७	२६६ ९३	२६७ २४	२९६ २२	३११ ५०
कुल आय सम्बन्धी व्यय	२९२ ६८	६२६ ४३	६५४ ३९	६६७ २४	७४५ ७५

अब हम राज्य सरकारों की व्यय की मुख्य मुख्य मदों का विवरण संक्षेप में निम्न पृष्ठों में देंगे —

(१) **नागरिक प्रशासन**—जब तक भारत में विदेशी राज्य रहा उस समय तक राज्यों का मुख्य कर्त्तव्य देश में शान्ति एवं नियम अनुशासन की ही व्यवस्था करना था और इसलिये नागरिक प्रशासन जिसमें सरकारी दफ्तरों, जिलों में प्रशासन कार्य, पुलिस, जेल और न्यायालयों पर सबसे अधिक व्यय होता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी आशा के बिलकुल विपरीत इस व्यय में कमी होने के स्थान पर वृद्धि ही होती गई। इस वृद्धि के कदाचित दो कारण हो सकते हैं। एक तो सरकारी कार्य सचालन की वही परम्परागत विधि और दूसरे सरकार के कार्यक्षेत्र में वृद्धि होना। प्रारम्भिक वर्षों में तो कुछ वृद्धि इस कारण भी हुई क्योंकि देश के विभाजन से बड़ी गड़बड़ी हुई और सरकार को उन उपद्रवों को दबाने में बहुत अधिक व्यय करना पड़ा। इसके अतिरिक्त देश में ससदात्मक सरकार के विकास से सरकार के खर्चों में और भी वृद्धि हुई। इस प्रकार जबकि सन् १९३८–३९ में केवल २७ करोड़ रुपया इस मद पर खर्च होता था सन् १९५१–५२ में लगभग ८८ करोड़ रुपया खर्च हो रहा था। यह ध्यान रहे कि सन् १९३८–३९ में जबकि नागरिक प्रशासन व्यय राज्यों के कुल व्यय का ३३% था सन् १९५१–५२ में २९% रह गया था। सन् १९५७–५८ में नागरिक प्रशासन व्यय की कुल राशि १३६.४० करोड़ रुपया थी, अर्थात् कुल व्यय का १९%। इस प्रकार हमने देखा कि यद्यपि व्यय की राशि में तो वृद्धि ही रही है परन्तु नागरिक व्यय का राज्यों के कुल व्यय में प्रतिशत कम होता जा रहा है। यह एक अच्छा चिन्ह है।

(२) **शिक्षा**— हमारे देश में शिक्षा का स्तर तथा शिक्षित व्यक्तियों की मात्रा कितनी कम है इस सम्बन्ध में यहाँ पर वाद विवाद करना उचित न होगा। सरकारी अनुमानों के अनुसार भारत में शिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत केवल १६.६

है। हमारे देश के आर्थिक और सामाजिक उत्थान मे शिक्षा की कितनी आवश्यकता है हम सभी इससे परिचित हैं। इसी दृष्टि से भारत के सविधान मे भी इस बात का उल्लेख किया गया है कि सविधान लागू होने के १० वर्षो के अन्दर १४ वर्ष की आयु तक के बच्चो को नि.शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था राज्य की ओर से की जायगी। यद्यपि चारो ओर से यही प्रयत्न हो रहे हैं कि सविधान द्वारा निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति हो जाय परन्तु यह सम्भव नही है कि इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके। प्रथम योजना काल में सामान्य शिक्षा प्रदान करने के लिये प्रारम्भिक, माध्यमिक और यूनिवर्सिटी शिक्षा के विकास तथा वृद्धि के लिये राज्यों की ओर से १२५ करोड रुपयों की और सघ सरकार की ओर से ४४ करोड रुपयो की व्यवस्था की गई थी। यह भी स्पष्ट है कि हमारे देश मे केवल सामान्य शिक्षा से ही काम नही चलेगा। सामान्य शिक्षा के साथ साथ विशेष व्यवसायो के सम्बन्ध में भी शिक्षा प्रदान करनी होगी। प्रथम पँचवर्षीय योजना में यन्त्रात्मक तथा व्यावसायिक (Technical and Vocational) शिक्षा के विकास के लिये नय नये शिक्षालयों को खोला गया और शिक्षा प्राप्त करने वालो को आर्थिक सहायता देकर प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। इसी प्रकार द्वितीय पचवर्षीय योजना म भी शिक्षा के विकास पर काफी ध्यान दिया गया है और राज्यो की ओर से २१२ करोड रुपया और सघ सरकार की ओर से ६५ करोड रुपया खर्च किया जायगा।

(३) **स्वास्थ्य**—भारत मे स्वास्थ्य का स्तर भी न्यूनतम है। भारत मे प्रति हजार व्यक्ति सन् १९५० में मृत्यु दर १६ थी जा कि ससार मे सब से अधिक है। भारत में औसत आयु की मात्रा २७ वर्ष है जबकि स्वीडन मे ६८, इगलैंड मे ६६, सयुक्त राज्य अमेरिका मे ६४ और मिस्र मे ३९ है। आशा है कि इतने ही तथ्यो से यह स्पष्ट हो जायेगा कि भारत की स्वास्थ्य स्थिति बहुत शोचनीय है। प्रथम पचवर्षीय योजना मे इस मद पर राज्यों द्वारा ८३ करोड रुपयों के व्यय किये जाने की व्यवस्था की गई थी। इस कार्यक्रम में पानी तथा नालियों की व्यवस्था करना, मलेरिया को रोकना, ग्रामीण जनता के लिये स्वास्थ्य सुविधायें प्रदान करना, औरतों तथा बच्चो के लिये स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था करना, डाक्टरो, नर्सो इत्यादि के लिये प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना, दवाइयों के क्षेत्र में अनुसधान कार्य की व्यवस्था करना और Antibiotics बनाने का एक कारखाना तथा डी० डी० टी० बनाने के दो कारखाने स्थापित करने थे। इसी प्रकार की व्यवस्था दूसरी योजना मे भी की गई है।

(४) **कृषि, सिंचाई, ग्रामीण विकास इत्यादि**—भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां पर कृषि सम्बन्धी समस्याओ को सुलझाने की शक्ति कृषक में नही है इसीलिये भारतीय कृषि बहुत पिछडी हुई अवस्था में है। प्रथम पचवर्षीय योजना में कृषि विकास पर तथा सिंचाई योजनाओ पर सबसे अधिक धन व्यय किया गया था। दूसरी योजना मे औद्योगिक विकास की ओर अधिक ध्यान देने के कारण व्यय की

राशि कुछ कम हो गई है। दूसरी योजना में कृषि सम्बन्धी कार्यक्रमों पर ३०२ ६२ करोड रुपया और सिंचाई कार्यक्रमों पर ३८० ६७ करोड रुपयों का व्यय होगा।

हमारे देश मे ग्रामीण विकास कार्यक्रम की मुख्य विशेषता सामुदायिक विकास योजनायें हैं जिनके द्वारा ग्रामवासियों मे अपनी उन्नति आप करने की भावना उत्पन्न की जा रही है। दूसरी विशेषता यह है कि कृषि एव ग्रामीण विकास के लिये सहकारी आन्दोलन को बढाने की ओर सरकार बहुत अधिक ध्यान दे रही है। स्टेट बैंक की स्थापना से ग्रामो म बैंक की शाखाएँ ग्रामीण वित्त व्यवस्था में भाग लेना आरम्भ कर देगी। इसकी अब पूर्ण आशा हो गई है। इसके अतिरिक्त सरकार ने आर्थिक समानता स्थापित करने के लिये जमींदारी तथा जागीरदारी का उन्मूलन कर दिया है और भूमि की उच्चतम सीमा भी निर्धारित करने का विचार है। कुछ राज्यों मे यह सीमा निश्चित भी कर दी गई है। इस प्रकार राज्य क्रान्तिकारी भूमि सुधारो को अपना कर किसानो म स्वय सहायता (Self Help) की भावना उत्पन्न कर रहे हैं। इसीलिए इन कार्यक्रमों पर राज्यो को काफी खर्चा करना पड रहा है।

(५) **उद्योग**—अपने अपने राज्यो म स्थित उद्योगों को विकसित करने का दायित्व राज्य सरकारों पर है। राज्य सरकारों को विशेष रूप से कुटीर तथा लघु उद्योगों का विकास करना है और साधारणतया बडे और मध्यम उद्योगो को सहायता देना है। कुटीर तथा लघु उद्योगो के विकास के लिये प्रशिक्षण, वित्त और व्यय सम्बन्धी सुविधाओं की ओर ध्यान देना राज्य सरकारों का परम कर्त्तव्य है। प्रथम पचवर्षीय योजना म इस कार्य के लिये राज्यों के द्वारा १२ करोड रुपयों के व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। दूसरी योजना काल में राज्यों को बडे तथा माध्यम वर्ग के उद्योगो पर २१ ०६ करोड रुपये और ग्रामीण तथा लघु स्तरीय उद्योगो पर ११६ ६८ करोड रुपया का व्यय करना है। दूसरी योजना मे कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास के लिए राज्यों का मुख्य उद्देश्य यह होगा कि वे ऐसा प्रबन्ध करें कि छोटे पैमाने के उत्पादकों की प्रतियोगिता करने की शक्ति में वृद्धि हो, विकेन्द्रित क्षेत्र (De-centralised Sector) इतनी शक्ति प्राप्त करले कि स्वावलम्बी हो जाय और बडे पैमाने के उद्योग के साथ साथ उसका विकास भी होता जाय। इस प्रकार राज्यों को मुख्य रूप से चार प्रकार के काम करने हैं—(१) यत्रात्मक शिक्षा तथा अनुसधान सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध करना, (२) उत्पादन की पाईलट (Pilot) योजनायें इस उद्देश्य से चालू करना कि बाद में ये औद्योगिक सहकारी समितियों या निजी उपक्रमों में बदली जा सकें, (३) निजी संस्थाओं को ऋण देना, और (४) सचालन शक्ति की पूर्ति के लिए उचित योजनायें बनाना। इस कार्यक्रम की एक विशेषता यह है कि हर राज्य अपने यहाँ औद्योगिक क्षेत्र (Industrial Estates) स्थापित करेगा जहाँ पर पानी, बिजली, भाप, गैस, रेल इत्यादि की सामान्य सुविधायें प्रदान की जायेंगी। इन का खर्चा राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार से ऋण प्राप्त करके पूरा करेगी।

(६) सार्वजनिक निर्माण कार्य—इस मद मे मुख्यतया सडको के बनवाने का व्यय सम्मिलित है। हमारे देश मे जहाँ लगभग ८०% जनता ग्रामो मे रहती है सडको का जो महत्व है उसको हर कोई जानता है। परन्तु दुख की बात यह है कि भारत के स्वतन्त्र होने से पहले सडको की ओर कोई विशेष महत्व नही दिया गया। आर्थिक विकास कार्यक्रम की प्रगति के साथ साथ तो सडको का महत्व और भी अधिक होना जा रहा है। इसलिये प्रथम योजना मे राज्यो द्वारा ६३ करोड रुपयो के व्यय की व्यवस्था की गई थी और दूसरी योजना मे सब राज्यो को मिलकर १६२ करोड रुपये खर्च करने है। दूसरी योजना काल मे ग्रामीण सडको की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जायगा।

यदि राज्यो के व्यय का अध्ययन उसी प्रकार दो भागो मे विभाजित करके करे जैसे सघ सरकार के व्यय का अध्ययन हम पिछले पृष्ठो मे कर चुके है तो स्थिति का अधिक अच्छा स्पष्टीकरण हो सकेगा। अत राज्यो के खर्चे दो प्रकार के होते है, प्रथम, आय सम्बन्धी व्यय, और द्वितीय पूजीगत व्यय।

(१) आय सम्बन्धी व्यय—इस खाते मे कुल राज्यो का व्यय १९५१-५२ म ३९२ ६८ करोड रुपये था जो १९५८-५९ मे बढकर ७४५ ७५ करोड रुपये हो गया था। परन्तु विकास सम्बन्धी व्यय जो १९६ २१ करोड रुपयो से बढकर ४३४ २५ करोड रुपये हो गया था उसमे बहुत अधिक वृद्धि हुई अपेक्षाकृत गैर विकास सम्बन्धी व्यय के, जो १९६ ४७ करोड रुपयो से बढकर ३११ ५० करोड रुपये हो गया था। यह पृष्ठ ५३–५४ की तालिका से स्पष्ट होता है :—

इन तालिकाओ से स्पष्ट है कि यद्यपि गैर-विकास सम्बन्धी व्यय मे अनुपातिक कमी होती जा रही है फिर भी यह व्यय काफी अधिक है, जिसके परिणाम-स्वरूप राज्य सरकारे दूसरी पंचवर्षीय योजना के व्यय को पूरा करने मे असमर्थ है और जनता को सरकार के व्यय से पूरा लाभ प्राप्त नही हो रहा है। जितनी आशा की जाती थी, राज्य सरकारे अपने गैर-विकास सम्बन्धी व्यय मे उतनी कमी नही कर पाई है। गैर-विकास सम्बन्धी व्यय नागरिक सेवाओ तथा अन्य मदो पर बढता गया है किन्तु अकाल सम्बन्धी व्यय मे अपेक्षाकृत कम वृद्धि हुई है।

जहाँ तक विकास सम्बन्धी व्यय का प्रश्न है इन वर्षो मे सबसे अधिक वृद्धि ८२ ४८ करोड रुपयो की, शिक्षा सम्बन्धी व्यय में हुई है। इसके बाद ग्रामीण और सामुदायिक विकास योजनाओ, चिकित्सा एव जन स्वास्थ्य, कृषि, पशु सम्बन्धी तथा सहकारिता का नम्बर है, जिनमें क्रमानुसार ३६ ०६ करोड, ३१·४२ करोड और ३०·३९ करोड रुपयो की वृद्धि हुई है। उद्योग, सिंचाई और बिजली सम्बन्धी विकास क्षेत्रों में अधिक वृद्धि नही हुई है।

(२) पूंजीगत व्यय—राज्य सरकारो का विकास एव गैर-विकास सम्बन्धी मदो पर कुल पूंजीगत व्यय सन् १९५१-५२ में १२७ ५७ करोड रुपया था जो सन् १९५८-५९ मे २६५ ७२ करोड रुपए हो गया। पूंजीगत व्यय की मुख्य मदो में बहुउद्देशीय नदी घाटी योजनायें, सडक यातायात, औद्योगिक योजनायें, राजकीय

व्यापार और जल-कल (water works) सम्मिलित हैं। यदि हम पूँजीगत व्यय पर पूरी दृष्टिपात करें तो राज्य सरकारों द्वारा ऋणों, स्थायी ऋणों का भुगतान, केन्द्रीय सरकार को ऋणों का भुगतान इत्यादि मद्दों को मिला कर कुल पूँजीगत व्यय सन् १९५१-५२ में जो १८८.७२ करोड रुपए था वह बढ कर सन् १९५८-५९ में ४३६.०४ करोड रुपए (अनुमानित) होने की आशा थी।

द्वितीय पचवर्षीय योजना काल में राज्यों को कुल २२५ करोड रुपयों का व्यय करना था परन्तु अतिरिक्त करों के लगाने पर भी राज्य सरकारों की कुल आय का अनुमान १७३ करोड रुपयों का है, और इस प्रकार केन्द्रीय सरकार से करों का अधिक हिस्सा मिलने पर भी लगभग ५२ करोड रुपयों की कमी होगी। सितम्बर सन् १९५८ में दूसरी योजना के कुल व्यय में जो परिवर्तन हुए थे उनमें और अधिक परिवर्तन कर दिए गए हैं। पहले परिवर्तनों के अनुसार दूसरी योजना के व्यय को दो भागों में विभाजित कर दिया गया था। प्रथम आवश्यक योजनाओं पर ४५०० करोड रुपए और स्थगित की जाने वाली योजनाओं पर ३०० करोड रु०। परन्तु सितम्बर १९५८ में प्रथम भाग का व्यय ४५०० करोड रुपयों से बढा कर ४६५० करोड रुपए कर दिया गया और इनमें १४० करोड रुपयों का प्रबन्ध राज्य सरकारों को योजना के शेष दो वर्षों में करना है अर्थात् ६० करोड रुपए अतिरिक्त करारोपण से, ५० करोड रुपए ऋण तथा अल्प बचत द्वारा और ३० करोड रुपए गैर-विकास सम्बन्धी व्यय में मितव्ययिता द्वारा। स्पष्ट ही है कि राज्य सरकारों की स्थिति ऐसी नहीं है कि वे इतने रुपयों की व्यवस्था कर सकें और यदि वे अधिक करों द्वारा धन प्राप्त करने का प्रयत्न करती भी हैं तो जनता में अशान्ति फैलने का बहुत भय है।

भाग-३

राजकीय आय

अध्याय ५

राजकीय आय के स्रोत

(Sources of Public Revenue)

प्राक्कथन—

पिछले अध्यायो मे हम यह देख चुके है कि राज्य के कार्यक्षेत्र म कितनी तीव्र गति से पिछले वर्षों मे वृद्धि हुई है। अत राज्यकीय व्यय की राशि भी बढती गई। यदि हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन मे राजकीय व्यय महत्वपूर्ण है तो राजकीय आय का महत्व स्वय स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि आय के अभाव मे व्यय हो ही नहीं सकता। परिणामवश गत वर्षों म व्यय बढने के साथ साथ राजकीय आय का आकार भी बहुत विस्तृत हो गया है। राजकीय आय को प्राप्त करने के ढगो मे इतने तीव्र परिवर्तन हो गये है कि राजकीय आय के अध्ययन का महत्व दिन प्रति दिन बढता ही जाता है।

राजकीय आय के स्रोत—

राज्य अपनी आय निम्न स्रोतो से प्राप्त करता है —

(१) कर (Tax)—कर राज्य की आय का मुख्य स्रोत है। प्लैहन[1] (Plehn) के शब्दो मे, "कर धन के रूप मे दिया गया वह सामान्य अनिवार्य अशदान है, जो राज्य के निवासियो को सामान्य—लाभ पहुँचाने के लिये किये गये व्यय को पूरा करने के लिये, व्यक्तियो से लिया जाता है। कर सामान्य लाभ पहुँचाने के कारण न्याय सगत कहा जा सकता है, परन्तु उस से मापा नही जा सकता।" ठीक इसी प्रकार की परिभाषा सैलिगमैन[2] ने दी है। इनके अनुसार

1. *Introduction to Public Finance*, Page 59
2. *Essays in taxation* Page 432

पर एक व्यक्ति का, सरकार के लिये अनिवार्य अंशदान है, उन खर्चों को पूरा करने के लिये जो सब के सामान्य हित में किये जाते हैं, जिसका सकेत विशेष लाभों की प्राप्ति की ओर नहीं होता।" फिलिप्स. इ टेलर[3] ने भी ऐसा ही कहा है कि 'वे अनिवार्य भुगतान जो सरकार को, बिना करदाता को किसी प्रत्यक्ष लाभ की आशा के किये जाते हैं कर हैं।" इन परिभाषाओं में कर की निम्न विशेषताओं की ओर सकेत किया गया है —

(अ) कर एक अनिवार्य भुगतान है। प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी रूप में कर का भुगतान अवश्य ही करना होता है। कोई भी व्यक्ति, सरकार द्वारा लगाये कर का भुगतान करने को मना नहीं कर सकता है। देश में कदाचित ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिस पर कर न लगाया जाता हो। कोई अपाहिज या पागल व्यक्ति भी कर देने को मना नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष कर तो समाज के कुछ ही व्यक्तियों को देना पड़ता है परन्तु परोक्ष कर तो सब ही व्यक्तियों को वस्तुओं को खरीदते समय देना ही पड़ता है। कर का भुगतान मना करने पर या कर की चोरी करने पर व्यक्ति को सज़ा दी जाती है। प्राचीन समय में तो किसी व्यक्ति को यह भी अधिकार नहीं था कि वह किसी भी कर के विरुद्ध कुछ कह सके। आजकल प्रजातन्त्र का युग है और ससद के सदस्य, जो व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं करों की दर भुगतान की विधि और समय आदि की आलोचना कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप में भी व्यक्ति आलोचना करते हैं। यह ध्यान रहे कि सरकार के लिये यह कोई आवश्यक नहीं कि वह इन आलोचनाओं से प्रभावित हो। यदि सरकार किसी कर को उचित समझती है तो वह उसे अवश्य ही लगायेगी और फिर प्रत्येक व्यक्ति को उसका भुगतान अनिवार्य रूप से करना होगा चाहे उसकी इच्छा हो या नहीं।

(ब) कर की आय का उपयोग सामान्य लाभ के लिये किया जाता है। राज्य सब ही नागरिकों का प्रतिनिधित्व करता है। यह अधिकतर ऐसे कार्य करता है जिससे सब ही को लाभ हो। अत कर का उपयोग ऐसे ही कार्यों को सम्पन्न करने में किया जाता है। सरकार इन करों की आय को किसी व्यक्ति या किसी एक जाति या समूह पर व्यय नहीं कर सकती। वैसे तो आजकल इस विशेषता का उल्लेख करने का कोई विशेष लाभ नहीं क्योंकि राज्य कोई भी काम आजकल ऐसा नहीं करता जिससे सब ही व्यक्तियों को लाभ न होता हो।

(स) सरकार करदाता को कर के बदले में कोई विशेष लाभ प्रदान नहीं करती। प्रत्येक व्यय सामान्य लाभ के लिए किया जाता है। न तो करदाता को किसी प्रत्यक्ष लाभ की आशा ही करनी चाहिए और न सरकार ही किसी करदाता को विशेष लाभ प्रदान करने का प्रयत्न ही कर सकती है। प्रो० डाल्टन के शब्दों में, 'आय के अन्य स्रोतों की तुलना में कर का सार इसी बात में है कि राजकीय अधिकारी और करदाता के बीच में कोई प्रत्यक्ष' जैसे को तैसा' *(quid pro quo)*

3. *The Economics of Public Finance*, Page 240

के व्यवहार का अभाव होता है।'[4] परन्तु यह बात प्रत्येक कर के सम्बन्ध में सही नहीं है। कभी कभी कर की आय केवल व्यक्तियों के उस समूह पर ही व्यय कर दी जाती है जिन से वह प्राप्त की गई है, जैसे, पैट्रोल से वसूल किया गया कर यदि सड़कों को ठीक करवाने पर ही खर्च कर दिया जाये। परन्तु यह ध्यान रहे कि यह उदाहरण भी कर की उपर्युक्त विशेषता का अपवाद नहीं है। क्या सड़कों का केवल वे ही लोग उपयोग करते हैं जिनके पास मोटर गाड़ियाँ हैं? इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति पर कर की दर उस अनुपात में निश्चित नहीं की जाती जिसमें वह सड़क का उपयोग करता है। यदि ऐसा होता तो कर की उपर्युक्त विशेषता पर आपत्ति करना अनुचित नहीं होता। परन्तु पुराने अर्थशास्त्रियों एवं विचारकों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। प्राचीन लेखकों में से कुछ का तो विचार यह था कि कर का भुगतान राज्य की उस सेवा के लिए किया जाता है जो वह व्यक्तियों को सुरक्षित रखने के लिए करता है।[5] परन्तु हम सभी जानते हैं कि राज्य रक्षा के अतिरिक्त अन्य बहुत से कार्य और भी करता है और कर का भुगतान केवल राज्य को सामर्थ्य प्रदान करने के लिए किया जाता है ताकि वह इन सब कार्यों को उचित रूप से सम्पन्न कर सके। साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि राज्य को जो कुछ भी कर के रूप में दिया जाता है वह परोक्ष रूप से फिर व्यक्तियों को ही लौटा दिया जाता है। राज्य नागरिकों का ही सामूहिक रूप है। उसका अस्तित्व व्यक्तियों के अस्तित्व से अलग नहीं है। आधुनिक लेखकों ने भी इस विषय पर सोचने में त्रुटि की है। वे यह सोचते हैं कि राज्य और व्यक्तियों में कर का भुगतान एक प्रकार की विनिमय क्रिया है। व्यक्ति भुगतान करते हैं और राज्य उनको इस भुगतान के बदले में सेवायें प्रदान करती है। जैसे कि आधुनिक लेखक **प्रो० डि० मार्को** का विचार है कि "कर वह मूल्य है जो प्रत्येक नागरिक राज्य को, सामान्य राजकीय सेवाओं, जिनका वह उपभोग करेगा उनकी लागतों में अपने भाग को पूरा करने के लिए देता है।"[6] यह निष्कर्ष उसने इस आधार पर निकाला है कि आधुनिक राज्यों में करारोपण का नियम विनिमय सम्बन्धों की मान्यता पर आधारित है: अर्थात् राज्य को एक भुगतान का विनिमय, राज्य द्वारा प्रस्तुत की गई राजकीय सेवाओं की व्यवस्था के लिए।"[7] परन्तु साधारण से साधारण व्यक्ति इस बात को बता सकता है कि डि० मार्को के ये विचार केवल अनुचित ही नहीं बल्कि भ्रमपूर्ण भी हैं। प्रत्येक देश में अनेकों ऐसे बच्चे होंगे जिनको राज्य की सेवायें उपलब्ध होती हैं जिनका सम्पूर्ण भरण पोषण राज्य करता है परन्तु वह कोई भी कर नहीं देता जैसे लाखों अनाथ व्यक्ति, पागल, अपाहिज व्यक्ति, लाखों बेकार व्यक्ति, बूढ़े व्यक्ति, विधवा औरतें और नव-शिशु जिनको राज्य से सारी सेवायें

---

4 *Principles of Economics*, Page 485
5 Lutz, Public Finance, Page 262
6. *First Principles of Public Finance*, Page 113
7 *Ibid*. Page 112 113

प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त इन लेखकों को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि करारोपण का उद्देश्य केवल नागरिकों के लिए सेवायें उपस्थित करना ही नहीं है, बल्कि धन की असमानताओं को दूर करना भी है।

(२) **राजकीय सम्पत्ति तथा उद्योग**—आजकल राज्यों को उद्योगों के सचालन एव सम्पत्ति के उपयोग से भी काफी आय प्राप्त होती है। अब राज्यों को सम्पत्ति से इतनी आय प्राप्त नहीं होती जितनी पिछली शताब्दियों में होती थी। आजकल जगलों को ठेके पर देकर या भूमि और खानों को किराये पर देकर सरकार को कुछ आय प्राप्त अवश्य होती है।

गत वर्षों में राज्यों ने उद्योगों का सचालन भी अपने हाथ में लेना आरम्भ कर दिया है और धीरे-धीरे यह आय का एक बहुत बड़ा स्रोत बनते जा रहे हैं। यह ध्यान रहे कि उद्योगों के सचालन में राज्य का उद्देश्य आवश्यक रूप से आय प्राप्त करना नहीं होना। राज्य उद्योगों का सचालन अनेकों दूसरे महत्वपूर्ण कारणों से करता है।

कुछ उद्योग तो सरकार इसलिये चलाती है क्योंकि वे यदि निजी व्यक्तियों द्वारा चलाये जायें तो उनमें उपभोक्ताओं का शोषण होने का भय रहता है, जैसे जनोपयोगी सेवायें—यातायात, पानी, बिजली, डाक तार आदि की व्यवस्था। कुछ उद्योग राज्य इसलिये चलाता है क्योंकि निजी व्यक्ति उनको चलाना नहीं चाहते या उनमें सामर्थ नहीं होती, जैसे रेलों की व्यवस्था। कुछ उद्योग राष्ट्रीय महत्व के होते हैं या जिनकी सूचना गुप्त रखने की आवश्यकता होती है, यह आवश्यक होता है कि राज्य ही उनका सचालन करे जैसे युद्ध सम्बन्धी उद्योग। कुछ उद्योग राज्य केवल उपभोग को नियमित करने के उद्देश्य से चलाता है जैसे अफीम, गाजा इत्यादि का उत्पादन एव विक्रय। राज्य उद्योगों का सचालन सामाजीकरण की नीति के आधीन भी चलाता है। चाहे जो भी उद्देश्य हो राज्य को इस स्रोत से काफी आय प्राप्त होती है।

इस प्रकार के स्रोतों से "जैसे को तैसा" का अश होता है। नागरिक, राज्य से प्रत्यक्ष सेवाएँ और वस्तुएँ प्राप्त करते हैं और उनके लिये मूल्य चुकाते हैं। यह मूल्य सेवा की मात्रा के अनुसार उपभोक्ताओं को चुकाने पड़ते हैं। जैसे बसों और मोटरों के किराये मील के अनुसार लिये जाते हैं और बिजली की शक्ति का मूल्य प्रति १००० वाट की एक इकाई मान कर लिया जाता है। इस प्रकार की सेवाओं का मूल्य सुगमता से निश्चित हो सकता है। 'कर' और 'मूल्य' में यही अन्तर है।

राज्य को इन सेवाओं का कितना मूल्य लेना चाहिये? इस प्रश्न पर काफी मतभेद दीखता है। वास्तव में इसमें मतभेद की कोई गुन्जाइश नहीं है। मूल्य लागतों से न बहुत अधिक ऊँचे और न कम होने चाहियें। यदि मूल्य अधिक ऊँचे होंगे तो उपभोक्ताओं को शोषण से बचाने का उद्देश्य ही पूरा न होगा, और यदि कम होंगे तो सामान्य आय के स्रोतों पर यह उद्योग एक प्रकार का भार हो जायेंगे और उनके घाटे की पूर्ति सामान्य स्रोतों की आय में से करनी होगी। पहली स्थिति में तो उपभोक्ताओं को कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा और दूसरी स्थिति में वस्तुएँ तो

अवश्य ही सस्ती मिलेंगी पर देश में कर भार बढ जायेगा, क्योंकि उद्योगों के घाटों को पूरा करने के लिये कर की दर बढानी पडेगी। अत दोनों ही स्थितियाँ ठीक नहीं हैं। इसलिये सबसे उत्तम स्थिति यही होगी कि उद्योगों का सचालन इस प्रकार हो कि न लाभ हो और न हानि। यदि कुछ लाभ प्राप्त हो जाये तो इसमें कुछ हानि भी नहीं है। परन्तु किस प्रकार की नीति अपनाई जायें—यह परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। यदि दूरदर्शिता यह चाहती है कि देश के कल्याण में वस्तुओं को लागत से भी कम बेचा जाये तो सरकार को यह ही नीति अपनानी पडेगी। लाभ की अपेक्षा समाज का कल्याण अधिक स्वच्छ उद्देश्य है। परन्तु जनोपयोगी सेवाओं में एक नये प्रकार की समस्या उपस्थित होती है। इन सेवाओं की प्रकृति एकाधिकार की होती है इसलिये मूल्यों और करों में भेद करना सरल नहीं होता। ऐसी वस्तुओं के मूल्य के उस भाग में, जो लागतों से अधिक होता है, और ऐसी वस्तुओं के कर में—इन दोनों में भेद नहीं किया जा सकता।[8]

(३) प्रशासन सम्बन्धी आय—फीस, विशेष निर्धारण (Special assessments) जुर्माना व दण्ड, आदि स्रोतों से सरकार को जो आय प्राप्त होती है वह प्रशासन सम्बन्धी आय कहलाती है। वास्तव में इन सब आयों को मोटे तौर पर एक शीर्षक में सम्मिलित कर देना ठीक भी है क्योंकि ये सब आय सरकार के प्रशासन कार्यों के कारण उत्पन्न होती हैं।

(अ) फीस—जब किसी व्यक्ति से, सरकार द्वारा प्राप्त होने वाले किसी विशेष लाभ के बदले, पूरी अथवा आंशिक लागत ले ली जाती है, तो इस प्रकार के अनिवार्य भुगतान को फीस कहते हैं। फीस भी 'कर' की भांति एक अनिवार्य भुगतान है, परन्तु यह एक विशेष लाभ की लागत होती है, जबकि 'कर' के बदले में कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं होता। फीस किसी व्यापारिक सेवा का भुगतान नहीं वरन् प्रशासन सम्बन्धी या न्याय सम्बन्धी सेवाओं का भुगतान है। फीस के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह भी है कि यह सेवा के मूल्य से अधिक नहीं होती। जो फीस सेवा के मूल्य से अधिक होती है उसमें फीस तथा विशेष निर्धारण भी सम्मिलित होता है। सैलिगमैन के शब्दों में फीस, 'एक भुगतान जो सरकार द्वारा प्रदान की गई प्रारम्भिक रूप से जनहित में, परन्तु फीदाता को विशेष लाभ पहुँचाते हुए, बारबार उत्पन्न होने वाली प्रत्येक सेवा की लागत को पूरा करने के लिये दिया जाता है।"[9] प्लेहन के अनुसार, "फीस धन के रूप में वह अनिवार्य अशदान है जो कि किसी व्यक्ति को, चाहे वह प्राकृतिक हो या मिलकर बनाया गया हो, राजकीय अधिकारी की आज्ञा से सरकार के किसी कार्य में लगे खर्चे के किसी अश या सबका भुगतान करने के लिए देनी पड़ती है, यह जहाँ सामान्य लाभ पहुँचाती है वहाँ एक विशेष लाभ भी पहुँचाती है।"[10]

8 Dalton, *Public Finance* Page 27
9. *Op Cit* Page 432
10 *Op Cit* Page 60

(ब) लाइसेन्स फीस—कुछ लेखकों ने फीस और लाइसेन्स फीस में भेद किया है। साधारण बोल-चाल में और व्यवहारिक जीवन में भी इस प्रकार का भेद देखने में नहीं आता। इन लेखकों के अनुसार फीस उन मामलों में ली जाती है जबकि वास्तव में कोई सेवा सम्पन्न की जाती है अर्थात् जब वास्तव में सरकारी कर्मचारी कोई क्रिया करता है। और लाइसेन्स फीस उन मामलों में दी जाती है जबकि सरकारी अधिकारी स्वयं क्रिया न करके किसी व्यक्ति को आज्ञा दे देता है या अधिकार सौंप देता है।[11] लाइसेन्स फीस में नियमन एवं नियन्त्रण का अंश भी छिपा हुआ है। समाज हित में कुछ सेवाओं को सम्पन्न करने के लिए केवल कुछ ही व्यक्तियों को अधिकार दिया जाता है और लाइसेन्स द्वारा इन व्यक्तियों की क्रियाओं को नियमित किया जाता है जैसे मादक पेय एवं वस्तुओं के विक्रय के लिये या बन्दूक प्रयोग करने के लिये लाइसेन्स दिये जाते हैं और लाइसेन्स फीस ली जाती है। इसीलिए यदि कोई व्यक्ति लाइसेन्स फीस का भुगतान करना भूल जाय तब वह उन क्रियाओं को नहीं कर सकता जिनके लिए उसे अधिकार प्राप्त था।

(स) विशेष निर्धारण—जब किसी राजकीय अधिकारी की क्रियाओं के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति की सम्पत्ति या मूल्य बढ़ जायें तो ऐसी मूल्य वृद्धि को बिना कमाई हुई वृद्धि (unearned increment) कहेंगे। यदि राजकीय अधिकारी इस वृद्धि पर कर लगा दे तो उसे विशेष निर्धारण कहेंगे। **सैलिगमैन** के अनुसार विशेष निर्धारण, "एक अनिवार्य अंशदान है जो प्राप्त हुए विशेष लाभों के अनुपात में लगाया जाता है ताकि जनहित में सम्पत्ति पर विशेष सुधार करने की लागतें पूरी हो जायें।"[12] उदाहरणार्थ यदि किसी शहर में नगरपालिका कोई नई सड़क बना दे या पार्क बना दे तब व्यक्तियों को इससे विशेष लाभ प्राप्त होगा, जिसके लिए नगरपालिका विशेष निर्धारण करेगी।

विशेष निर्धारण और कर में कुछ मौलिक समानताएं हैं—दोनों में जनहित का अंश विद्यमान है और दोनों ही अनिवार्य हैं। इसके अतिरिक्त दोनों में कुछ महत्वपूर्ण भिन्नतायें भी होती हैं। कर से प्राप्त आय सामान्य लाभ में व्यय की जाती है, जबकि विशेष निर्धारण की आय केवल विशेष स्थानीय सुधारों के ही काम में आती है। विशेष निर्धारण से प्राप्त लाभ को आंका जा सकता है जबकि कर के लाभ को ज्ञात नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त कर का निर्धारण किसी निश्चित आधार पर होता है जैसे, आय, सम्पत्ति, उपभोग परन्तु विशेष निर्धारण लाभ के अनुपात में लगाया जाता है। इन दोनों में एक भेद यह भी है कि कर की आय को किसी प्रकार भी खर्च किया जा सकता है, परन्तु विशेष निर्धारण केवल समाज की स्थायी पूंजी की मात्रा बढ़ाने के लिये ही व्यय किया जा सकता है। अतः में, कर कोई विशेष लाभ प्रदान नहीं करता, जबकि विशेष निर्धारण करता है।

इसी प्रकार विशेष निर्धारण फीस से भी भिन्न है। प्रथम, निर्धारण केवल

11. Lutz Op Cit, Page 293
12. Op. Cit, Page 411

विशेष स्थानीय सुधारों के लिये लगाये जाते हैं परन्तु फीस प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के लिये ली जाती है। विशेष निर्धारण कुछ व्यक्तियों पर एक साथ किये जाते हैं, अर्थात्, जब अचल सम्पत्ति पर सुधार होने से एक स्थान पर रहने वाले लोगों को लाभ पहुँचता है तो सब ही पर विशेष निर्धारण होंगे, परन्तु फीस व्यक्तियों पर व्यक्तिगत रूप में लगती है और इसमें केवल व्यक्ति विशेष को होने वाले लाभ के अनुसार फीस का भुगतान करना होगा। इसके अतिरिक्त फीस की दर निश्चित रहती है परन्तु विशेष निर्धारण में सुधार से प्राप्त होने वाले लाभ के अनुपातों में भुगतान की राशि निर्धारित होती है। विशेष निर्धारण केवल सम्पत्ति के मूल्य में वृद्धि होने की स्थिति में ही देना होता है परन्तु फीस किसी भी प्रकार के प्रबन्ध से उत्पन्न होने वाले लाभों के लिये दी जाती है। विशेष निर्धारण केवल एक बार ही देना पड़ता है परन्तु फीस का भुगतान बार बार होता है।

विशेष निर्धारण बहुधा मन माना होता है। इसलिये विशेष निर्धारणके सम्बन्ध में कुछ समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इन समस्याओं को दूर करने के लिये कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं परन्तु उनका केवल सैद्धान्तिक महत्व ही है। व्यवहार में प्रत्येक देश में स्थानीय अधिकारियों ने अपनी अपनी सुविधानुसार नियम बना लिये हैं। प्रथम समस्या तो यह उत्पन्न होती है कि किस प्रकार और किस सीमा तक व्यक्तियों को विशेष निर्धारण का भुगतान करने के लिये बाध्य किया जा सकता है? इस प्रकार की सीमा का निर्धारण तो बहुत कठिन है परन्तु सामान्य रूप से विशेष निर्धारण में न्याय का अंश लाने के लिये, सुधार सम्बन्धी योजना के बारे में स्थान विशेष पर रहने वालों को बता दिया जाता है। यदि स्थान के अधिकांश व्यक्ति उस योजना, को स्वीकार कर लेते हैं तो योजना कार्यान्वित की जायेगी वरना नहीं। जिन व्यक्तियों की सम्पत्ति को हानि होती है उन्हें मुआवजा दिया जाता है और जिन को लाभ होता है उन पर विशेष निर्धारण कर दिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह है कि यदि सुधार सम्बन्धी किसी योजना से सारे नगरवासियों को भी लाभ होता है और सुधार होने वाले स्थान पर रहने वाले व्यक्तियों को विशेष लाभ प्राप्त होता है तब विशेष निर्धारण कैसे किया जाये? जैसे, यदि किसी स्थान पर पार्क बन जाये या किसी सड़क को पक्का मोटर चलाने योग्य बना दिया जाये तो ऐसी स्थिति में सुधार के खर्चों को कुछ तो स्थानीय अधिकारी सहन करेंगे और कुछ विशेष निर्धारण के रूप में लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्तियों से वसूल किया जायेगा। दोनों में क्या अनुपात होगा, यह निर्धारित करना कठिन है, और अधिकतर स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अन्तिम समस्या यह है कि कुल व्यय को व्यक्तियों में किस अनुपात में बाटा जाये? यह भी एक गम्भीर समस्या है और इस में मनमानेपन का अंश बहुत अधिक होता है। प्रत्येक स्थान पर अलग अलग आधार निश्चित कर लिये जाते हैं। कहीं पर लाभ प्राप्त करने वाली सम्पत्ति के मूल्यानुसार, कहीं पर सुधार विशेष से निकटतानुसार, कहीं पर लाभ की मात्रानुसार, इसी प्रकार के अन्य आधारों पर विशेष निर्धारण की मात्रा निश्चित

कर ली जाती है। यद्यपि विशेष निर्धारण में मनमानेपन का काफी अंश है, और कभी कभी तो केवल लालच में ही स्थानीय अधिकारी सुधार की सोचते हैं और अनावश्यक व्यय कर देते हैं, या कभी कभी स्वयं व्यक्ति भूमि खरीद कर विशेष निर्धारण द्वारा सुधार करवा कर ऊँचे मूल्यों पर लाभ कमाने के लालच में पेंच सकते हैं और इसी प्रकार की अन्य बुराइयाँ हैं। परन्तु आजकल विशेष निर्धारण का विशेष महत्व है और इसी को अनेकों प्रकार के नवीन स्थानीय सुधारों का श्रेय प्राप्त है।

(द) जुर्माना एवं सम्पत्ति को जप्त कर लेना—जब देश के नागरिक सरकार द्वारा बनाए हुए नियमों को तोड़ते हैं या उल्लंघन करते हैं तो सरकार उन पर जुर्माना लगाती है। यह आय का बहुत ही मामूली सा साधन है और इसका उद्देश्य लाभ कमाना होना भी नहीं है। यह तो केवल व्यक्तियों को कानून तोड़ने से रोकने के लिए लगाया जाता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति बिना उत्तराधिकारी के या बिना वसीयतनामा लिख मर जाता है तब ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति सरकार जप्त कर लेती है। सरकार इस अधिकार के अन्तर्गत अन्य प्रकार की सार्वजनिक सम्पत्ति जिसका कोई भी वारिस या देखभाल करने वाला न हो, भी जप्त कर लेती है। प्राय यह आय का स्रोत केवल नाममात्र ही है।

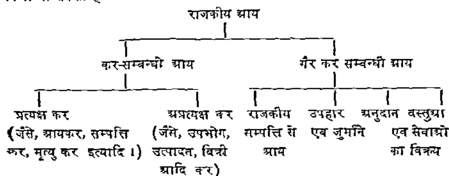
(४) उपहार एवं अनुदान (Gifts and Grants)—सरकार को कुछ आय उपहारों एवं अनुदानों से भी प्राप्त हो जाती है। प्रत्येक देश में कुछ उदार हृदय वाले व्यक्ति कुछ देश भक्त, कुछ सरकार में सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति होते हैं जो सरकार को उपहार भेंट करते रहते हैं। ये उपहार राजकीय कार्यों के लिए नहीं दिये जाते हैं वरन् विशेष कार्यों के लिए दिये जाते हैं—जैसे युद्ध सचालन अकालपीड़ितों की सहायता के लिए, स्कूल खोलने के लिए, अस्पताल बनवाने के लिए इत्यादि। यह उपहार स्वेच्छा से दिये जाते हैं और व्यक्तियों पर किसी प्रकार का दबाव नहीं होता। परन्तु युद्ध तथा अन्य राष्ट्रीय आपत्ति में इनमें दबाव का अंश विद्यमान होता है, चाहे ऊपर से देखने में यही मालूम हो कि उपहार देने वाला अपनी इच्छा से दान या उपहार दे रहा है। आधुनिक काल में इसका कोई भी महत्व नहीं है।

अनुदान एक सरकार को दूसरी सरकार से प्राप्त आर्थिक सहायता होती है। अनुदान देश की मुख्य सरकार आधीन या द्वितीय सरकार को भी दिये जाते हैं। इनका महत्व अधिकतर संघीय संविधान वाले देशों में अधिक है। अधिकांश देशों में यह स्थानीय सरकारों की आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। आजकल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसे अनुदानों का महत्व बहुत अधिक हो गया है। अधिकतर उन्नत देश अनुन्नत या कम विकसित देशों को अनुदानों के रूप में आर्थिक सहायता देते हैं। यह सैनिक सहायता, विकास सहायता, या अन्य रूपों में भी दी जाती है।

अब हम कुछ अन्य लेखकों के मतों का अध्ययन करेंगे।

राजकीय आय का वर्गीकरण—

राजकीय आय का वर्गीकरण भिन्न भिन्न प्रकार से किया गया है। हर लेखक ने अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाया है। सबसे सरल वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है —



प्रो० सेलिगमैन ने राजकीय आय को निम्न भागो मे बाटा है —

(अ) स्वय इच्छा से दी गई आय (Gratuitous Revenue) जैसे उपहार, चन्दे इत्यादि।

(ब) प्रसंविदिक आय (Contractual Revenue) जैसे भूमि, सम्पत्ति के किरायो की आय, व्यापार तथा उद्योगो के मुनाफो की आय अर्थात् रेल, डाक व तार, टेलीफून, नहरें, बिजली घर, लोहे, कपडे आदि के कारखाने, आदि के मूल्य एव मुनाफे।

(स) अनिवार्य आय (Compulsory Revenue) जैसे जुर्माने तथा दण्ड से, फीस, विशेष निर्धारण से प्राप्त आय।

बैस्टेबिल ने राजकीय आय के दो भाग किये है[13]—

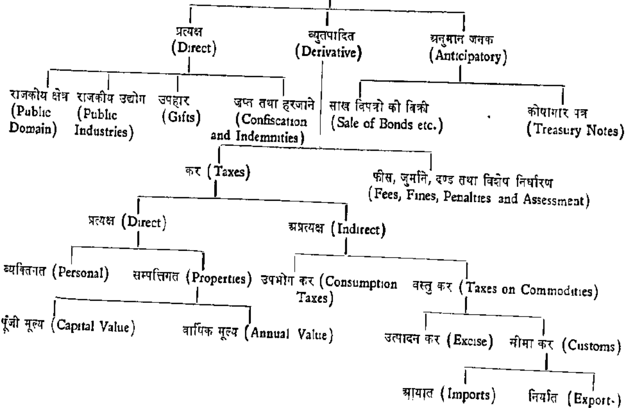
(क) वह आय जो राज्य को एक बडा प्रमण्डल होने के नाते तथा जनता को वस्तुएं अथवा सेवायें उपलब्ध करने के कारण प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त जब राज्य न्यायाधीश के रूप में कार्य करता है और इस कार्य से उसे जो आय प्राप्त होती है वह भी इसी के अन्तर्गत सम्मिलित है।

(ख) वह आय "जो राज्य अपनी सत्ता के कारण समाज की आय में से ले लेता है।"

एडम्स ने राजकीय आय को निम्न प्रकार विभाजित किया है —

---

13. *Op Cit*, Book 2, Page 154


राजकीय आय
प्रत्यक्ष (Direct)
व्युतपादित (Derivative)
अनुमान जनक (Anticipatory)
राजकीय क्षेत्र (Public Domain)
राजकीय उद्योग (Public Industries)
उपहार (Gifts)
जप्त तथा हरजाने (Confiscation and Indemnities)
साख विपत्रों की बिक्री (Sale of Bonds etc.)
कोषागार पत्र (Treasury Notes)
कर (Taxes)
फीस, जुर्माने, दण्ड तथा विशेष निर्धारण (Fees, Fines, Penalties and Assessment)
प्रत्यक्ष (Direct)
अप्रत्यक्ष (Indirect)
व्यक्तिगत (Personal)
सम्पत्तिगत (Properties)
उपभोग कर (Consumption Taxes)
वस्तु कर (Taxes on Commodities)
पूंजी मूल्य (Capital Value)
वार्षिक मूल्य (Annual Value)
उत्पादन कर (Excise)
सीमा कर (Customs)
आयात (Imports)
निर्यात (Export)

राजकीय आय के स्रोतों का वर्णन करते हुये डाल्टन ने निम्न वर्गों में राजकीय आय को विभाजित किया है —

(१) कर। (२) उपहार तथा हर्जाने (tribute and indemnity), जो युद्ध या अन्य कारणों से उत्पन्न होने हैं। (३) बलात्-ऋण (forced loans) जैसे कि प्राचीनकाल में राजा जनता पर दबाव डाल कर लेते थे। (४) न्यायालयों द्वारा लगाये हुये दण्ड। (५) सार्वजनिक सम्पत्ति, जैसे खेतों, मकानों आदि से प्राप्त आय (६) राजकीय उद्योगों से प्राप्त आय। (७) फीस तथा अन्य भुगतान जो उन सेवाओं के लिये दिये जाते हैं जो सरकार केवल व्यवसायिक दृष्टिकोण से ही नहीं करती वरन् जिनका सम्पन्न करना उसके लिये, एक प्रशासक के नाते आवश्यक होता है। (८) स्वेच्छा से दिये गये राजकीय ऋणों से प्राप्त आय। (९) ऐसे उपक्रमों की आय, जिनमें सरकार अपनी एकाधिकारी शक्ति का प्रयोग करके मूल्यों को स्पर्धा-स्तर से ऊँचा रखती है, जैसे मादक पेयों या वस्तुओं का उत्पादन एवं विक्रय, विद्युत शक्ति, एवं अणुशक्ति का उत्पादन एवं वितरण। (१०) विशेष निर्धारणों से प्राप्त आय। (११) छापेखानों का मुनाफा जबकि इनका उपयोग सरकारी खर्चों को पूरा करने के लिये पत्र मुद्रा छापने के लिये किया जाता है। (१२) अपनी इच्छा से दिये गये नज़राने (Voluntary gifts)

ऊपर हमने विभिन्न लेखकों द्वारा प्रस्तुत किये गये राजकीय आय के स्रोतों का अध्ययन किया, परन्तु सबही ने अधिकतर उन्हीं मुख्य स्रोतों का उपविभाजन कर दिया है, जिनका वर्णन हमने आरम्भ में किया था, अर्थात् जो टेलर ने प्रस्तुत किया है। हमने यह भी देखा कि इन सब ही स्रोतों में कर का प्रमुख स्थान है। हम कर सम्बन्धी अन्य बातों का अध्ययन अगले अध्यायों में करेंगे।

अध्याय ९

करारोपण के सिद्धान्त एवं रूप

(Principles and Forms of Taxation)

करारोपण के उद्देश्य—

पिछले अध्याय मे हमने यह देखा कि राज्य की आय के स्रोतों में से करो का प्रमुख स्थान है। राज्य करारोपण केवल आय प्राप्त करने के उद्देश्य से ही नही करता वरन् उसके और भी अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य होते है। करारोपण के निम्न तीन उद्देश्य होते है —

(अ) धन एकत्रित करना—इसमें तो किसी को भी सदेह नही होगा कि प्राचीन काल म कर मुख्यतया राजकीय कार्यो के लिये धन एकत्रित करने के उद्देश्य से लगाये जाते थे। अत कर लगाते समय इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था कि लगाये गये कर से कितनी आय राजकीय खजाने म आती है। सरकार केवल उसी कर को लगाती थी जिससे अधिक आय प्राप्त होने की आशा होती थी। परन्तु आधुनिक काल मे करारोपण रीतियाँ अधिक वैज्ञानिक हो गई हैं। सरकार कर विशेष लगाने से पहले उसके आर्थिक और नैतिक प्रभावों का अध्ययन करती है तत्पश्चात् कर लगाने का निश्चय करती है।

(ब) नियमन करना—कर लगाने का दूसरा उद्देश्य नियमन एव नियन्त्रण करना है। करो द्वारा लाभो, उपभोग, आयातो, निर्यातो आदि को नियन्त्रित किया जा सकता है। यदि सरकार तम्बाकू का उपभोग कम करना चाहती है तो वह तम्बाकू पर उत्पादन कर लगा देगी और यदि आयातो को कम करना चाहती है तो आयात की वस्तुओ पर आयात कर लगा कर उनके मूल्यों की वृद्धि करके उनको निरुत्साहित कर सकती है। यह याद रहे कि नियन्त्रण के हेतु जो कर लगाये जाते हैं उनका मुख्य उद्देश्य नियन्त्रण करना ही होता है, आय प्राप्त करना नही। यदि सरकार को इन करो से कुछ आय प्राप्त होती है तो ठीक है वरना सरकार के प्राथमिक उद्देश्य की पूर्ति तो हो ही जाती है।

(स) आय का वितरण समान करना—आजकल सरकार का किसी भी कर को लगाने म आय प्राप्ति के अतिरिक्त यह भी उद्देश्य रहता है कि देश मे आय की असमानताएँ दूर हो जाएँ। कर लगाने से व्यक्तियो की आय का एक भाग सरकारी खजाने म चला जाता है। उनकी क्रय शक्ति कम हो जाने से उनके उपभोग

तथा विनियोग की रूप रेखा ही बदल जाती है। इसीलिये समृद्धि काल में सरकार करों की दरों में वृद्धि कर देती है और नये कर लगाती है। इसके विपरीत अवसाद काल में करों को कम कर देती है।

करारोपण के सिद्धान्त—

इन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु प्रत्येक सरकार देश में करारोपण करती है। करारोपण, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, आजकल क्रमबद्ध और वैज्ञानिक हो गया है। इसीलिये कुछ सामान्य सिद्धान्तों की रचना हुई है। कोई कर उचित है या नहीं इसको इन्हीं सिद्धान्तों की कसौटी पर कसके देखा जा सकता है।

प्रथम चार सिद्धान्त एडम स्मिथ द्वारा प्रस्तुत किये गये थे—

एडम स्मिथ के सिद्धान्त—

(१) **समानता (Equality)**—स्मिथ का कहना था कि "हर राज्य की प्रजा को सरकार के पालन पोषण के लिये, जहाँ तक सम्भव हो अपना अंशदान, अपनी अपनी योग्यताओं के अनुपात में देना चाहिये, अर्थात् उस आय के अनुपात में जिसका आनन्द वे राज्य की संरक्षता में प्राप्त करते हैं।"[1] यद्यपि यह सबसे अधिक स्वीकृत सिद्धान्त है, फिर भी इसको व्यावहारिक रूप देना सरल नहीं है। स्मिथ के यह शब्द 'उस आय के अनुपात में जिसका आनन्द वे राज्य की संरक्षता में प्राप्त करते हैं' और 'अपनी अपनी योग्यताओं के अनुपात में' इस बात की ओर संकेत करते हैं कि हर व्यक्ति को अपने अपने धन के अनुपात में कर देना चाहिये, अर्थात् धनी व्यक्तियों को निर्धनों की अपेक्षा अधिक कर देना चाहिये। आगे चलकर स्मिथ ने इसको स्पष्ट करते हुये कहा है कि धनी व्यक्तियों को 'अनुपात से अधिक' देना चाहिये। एडम स्मिथ और चैपमैन दोनों ही समानता को करारोपण का सही सिद्धान्त मानते हैं। सैलिगमैन और कोहन इसे भी सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं और इससे उनका अभिप्राय प्रगतिशील (Progressive) करारोपण से है, परन्तु दूसरी ओर बास्टेबल तथा अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि समानता का आशय अनुपातिक (Proportional) करारोपण से है। कुछ भी हो, इस सिद्धान्त को सभी स्वीकार करते हैं।

(२) **निश्चितता (Certainty)**—स्मिथ के अनुसार करारोपण का दूसरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक कर की राशि, भुगतान का समय और भुगतान की विधि सब ही कुछ निश्चित हो और करदाता को स्पष्ट हो। एडम स्मिथ के शब्दों में "हर व्यक्ति को जो कर देना है, निश्चित होना चाहिये, मनमाना नहीं। भुगतान का समय, भुगतान की विधि, भुगतान की जाने वाली राशि, करदाता तथा हर दूसरे व्यक्ति को स्पष्ट और साधारण होना चाहिए ....करारोपण में इस बात की निश्चितता कि प्रत्येक व्यक्ति को क्या देना चाहिए इतने अधिक महत्व की है कि असमानता का एक बहुत बड़ा अंश, सभी राष्ट्रों के अनुभव से प्रतीत है,

1. *Wealth of Nations*, 1938, Book 2, Ch. II Page 307.

मुझे विश्वास है, इतनी बड़ी बुराई नहीं है जितनी कि अनिश्चितता का एक बहुत छोटा अंश है।'[2] हैडले ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वास्तव में कर की निश्चितता करदाता और राज्य दोनों ही के लिए लाभप्रद होती है। करदाता अपने बजट के बारे मे निश्चित रहता है और उसको कर भुगतान व्यय कम होता जाता है। इसी प्रकार राज्य अपने बजट के बारे म निश्चित रहता है और उसको कर एकत्रित करने का व्यय भी कम होता जाता है। इन सब बातों का परिणाम यह होना है कि आर्थिक कल्याण बढता जाता है।

(३) सुविधा (Convenience)—एडम स्मिथ के अनुसार करारोपण का तीसरा सिद्धान्त 'सुविधा' है। उनके कथनानुसार, प्रत्येक कर ऐसे समय पर या इस ढग म लगाया जाय, कि करदाता को भुगतान करने के लिए अत्यधिक सुविधा जनक हो।[3] दूसरे शब्दो मे कर का भुगतान करने की विधि या समय ऐसे होनी चाहिए कि कर देन वाला को कम से कम असुविधा हो। यदि कर ऐसे ढग से या ऐसे समय एकत्रित किया जाता है कि करदाता को भुगतान करने मे कठिनाई होती है तो वह कम से कम कर क भार को भी बहुत अधिक महसूस करेगा। इसी कारण कर को उसी समय पर वसूल किया जाये जबकि उसे आय प्राप्त होती हो।

(४) मितव्ययिता (Economy)—एडम स्मिथ द्वारा दिये गए करारोपण के सिद्धान्तो म मितव्ययिता का अन्तिम स्थान है। उनके अनुसार, "प्रत्येक कर की रचना इस प्रकार की जाए कि जो भी राजकोष खजाने को प्राप्त हो उसके अतिरिक्त व्यक्तियो की जेबो से कम से कम निकले।"[4] स्मिथ का आशय यह है कि कर वसूल करने का व्यय कम से कम हो। यदि कर एकत्रित करने मे बहुत अधिक व्यय होता है तो व्यक्तियो पर जितना कर भार पडता है उतने अनुपात में राज्य को आय प्राप्त नही होगी। स्मिथ के अनुसार कर एकत्रित करने मे अपव्ययिता के चार कारण हो सकते है—प्रथम, कर को एकत्रित करने में इतने अधिक व्यक्तियों को नौकर रखा जाए कि कर की राशि का अधिकांश भाग उन्ही के वेतनो पर खर्च हो जाए। दूसरा, कर व्यक्तियो को ऐसे व्यवसायो मे विनियोग करने के लिए प्रोत्साहित करे जिनसे बडी मात्रा म व्यक्तियों को रोजगार मिलता हो। तीसरा, कर की चोरी करने वाले व्यक्तियो पर जुर्माने लगने या उनकी सम्पत्ति जप्त कर जाने से, वे नष्ट हो सकते हैं और उनकी पूंजी के उपयोग से समाज को जो लाभ होते वे भी समाप्त हो जाते हैं। अन्त में, कर अधिकारियो के बार-बार चक्कर काटने से और पूछताछ करने से करदाताओं को बहुत परेशानी होती है, जो एक प्रकार का व्यय ही समझना चाहिए। हॉबसन, विकस्टीड, वैगनर और रोबर्ट जोन्स भी मितव्ययिता को करारोपण का उचित सिद्धान्त मानते हैं।

करारोपण के अन्य सिद्धान्त—एडम स्मिथ के पश्चात् अन्य अर्थशास्त्रियो

2 Ibid, Page 307 308
3 Ibid, Page, 308
4 Ibid, Page, 308

ने करारोपण के अन्य सिद्धान्तों का विश्लेषण और किया है। ये सिद्धान्त निम्न प्रकार है :—

(१) उत्पादकता (Productivity)—यह भी करारोपण का एक महत्व-पूर्ण सिद्धान्त है। किसी भी कर के उत्पादक होने का आशय यह है कि राज्य को कर से खूब आय प्राप्त होती रहे। उत्पादकता, वर्तमान और भविष्य दोनों दृष्टिकोणो से होनी चाहिये, अर्थात् वर्तमान की आय के अतिरिक्त भविष्य म भी आय का प्रवाह जारी रहे। इस सिद्धान्त को बैस्टेबिल ने प्रतिपादित किया था। कोई भी कर उत्पादक उमी समय समझा जायेगा जबकि उसको वसूल करने के ऊपर राज्य को खूब आय प्राप्त हो अर्थात् कर की वसूली अधिक हो और खर्चा कम हो। इसीलिये अनेकों छोटे-छोटे करो की अपेक्षा एक बडा कर अधिक अच्छा समझा जाता है। परन्तु क्या यह आवश्यक है कि जो कर राज्य को पर्याप्त आय दे वह अच्छा ही हो? वास्तव मे सदैव ऐसा नही होता। यदि कर भार करदाताओं की उत्पादन शक्ति को नष्ट कर देता है, उनके उपभोग का स्तर गिर जाता है और काम करने व बचत करने की शक्ति पर उलटा प्रभाव पडता है तब ऐसे कर को उत्पादक नही कह सकते, क्योकि ऐसा कर वर्तमान म तो उत्पादक होता है परन्तु भविष्य मे इसकी उत्पादकता कम होती जायेगी। इस प्रकार यदि ध्यान से देखा जाये तो यह सिद्धान्त, मितव्ययिता के सिद्धान्त की ही भाति है। रोबर्ट जोन्स ने इस सिद्धान्त पर बैस्टेबिल का बडा मजाक उडाया है। उसके अनुसार यह एक बेकार तथ्य है।

(२) लोच (Elasticity)—समाज की हर प्रगति के साथ-साथ राजकीय व्यय भी बढता जाता है। अत बढते हुय व्यय की पूर्ति करने के लिये राज्य की कर प्रणाली भी ऐसी होनी चाहिये कि आय म आवश्यकतानुसार उसमे वृद्धि की जा सके। कर प्रणाली की लोच का अभिप्राय यह ही है कि करो से प्राप्त होने वाली आय को परिस्थितियो के अनुसार बढाया और घटाया जा सके। यदि कर प्रणाली मे लोच का अभाव है तो सरकार को सदैव ही सकटो का सामना करना होगा। आय कर इस सिद्धान्त के पूर्णतया अनुकूल है।

(३) विविधता (Diversity)—कर प्रणाली मे हर प्रकार का कर होना चाहिये अर्थात् प्रणाली इतनी बडी हो और उसमे इतनी प्रकार के कर हो, जिससे हर व्यक्ति से अशदान प्राप्त किया जा सके। परन्तु विविधता का अभिप्राय यदि करो की सख्या को बढाते जाना है तो यह सिद्धान्त मितव्ययिता और उत्पादकता के सिद्धान्तो के विरुद्ध प्रभाव डालेगा, क्योकि अधिक करो से कर प्रणाली मे अपव्ययिता बढती जायेगी। इस प्रकार विविधता का प्रयोग केवल निश्चित सीमाओ के अन्तर्गत ही होना चाहिये।

(४) सरलता (Simplicity)—कर प्रणाली सरल होनी चाहिये अर्थात् कर प्रणाली में ऐसे कर हो जिनके निर्धारण सम्बन्धी उद्देश्यों तथा उनके प्रभावों को समझने में कठिनाई न हो और उनकी दरो तथा एकत्रित करने की मशीनरी को भी समझा जा सके। सरलता के अभाव में न तो करदाता सरकार से सन्तुष्ट हो

रहगे और न कर ही पूरी मात्रा मे वसूल हो पायगा।

एक अच्छी कर प्रणाली के गुण—एक अच्छी कर प्रणाली में, समानता, निश्चितता, सुविधा, मितव्ययिता उत्पादकता, लोच विविधता और सरलता होनी चाहिए। हम ऊपर इनकी विवेचना कर ही चुके ह। परन्तु कुछ लेखको का कहना है कि इनके अतिरिक्त एक अच्छी कर प्रणाली म कुछ और भी गुण होन चाहियें। जैसे फिनले शिराज ने कहा है कि लचक (Flexibility) और पर्याप्तता (Sufficiency) भी एक अच्छी कर प्रणाली के आवश्यक गुण ह। शिराज का अभिप्राय लचक से यह है कि कर प्रणाली इस प्रकार की हो कि बिना किसी उथल-पुथल के एक नय कर को प्रणाली म बढाया जा सके और पुराने कर को निकाला जा सके। हम ऊपर लोच के सिद्धान्त की विवेचना कर ही चुके ह वास्तव म लचक और लोच के सिद्धान्त म कोई विशेष भद नही है। जहाँ तक पर्याप्तता का प्रश्न है यह बडा ही अस्पष्ट गुण है क्योकि पर्याप्तता का सम्बन्ध आवश्यकताओं से है। दूसरे शब्दो मे आय पर्याप्त है कि नही, इस बात पर निश्चित करता है कि राज्य की आवश्यकताए कितनी ह। राज्य का कार्यक्षेत्र पिछले वर्षो म निरन्तर बढता ही रहा है। जो आय पिछले वष पर्याप्त थी यह आवश्यक नही है कि इस वष भी पर्याप्त हो क्योकि राज्य के कार्यो म वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। मूल्यो की वृद्धि आजकाल के आर्थिक जगत की एक साधारण घटना है। मूल्या की वृद्धि स आवश्यकताए समान रहते हुए भी राजकीय व्यय म वृद्धि हो सकती ह और पिछले वष की पर्याप्त आय इस वष अपर्याप्त हो सकती है। इसलिए पर्याप्तता एक निर्पेक्ष शब्द नही है। इसका सम्बन्ध अन्य परिस्थितियो से है। इसलिए जब तक उन परिस्थितियो का उल्लेख न किया जाय, तब तक यह गुण बकार है।

निटी और कोनार्ड (Nitty and Conard) का विचार है कि एकरूपता (Uniformity) या सामान्यता (generality) करारोपण का सही सिद्धान्त है इसलिए एक अच्छी कर प्रणाली म जितने भी कर हो उन सभी म एकरूपता होनी चाहिए। एकरूपता का अभिप्राय यह है कि सभी करो के लगान की विधि समान हो और उन सभी की दरो का निर्धारण सामान्य उद्देश्य से किया जाय। यह वांछनीय है कि कर प्रणाली में सामान्यता का गुण हो क्योकि कर प्रणाली अधिक साधारण हो जाती है और अधिक हिसाब किताब की जटिलताये भी समाप्त हो जाती ह।

इस प्रकार एक अच्छी कर प्रणाली म उपयुक्त गुण होने चाहिए। अब हम विभिन्न प्रकार की कर प्रणालियो का एव करो की विवेचना करगे—

एक तथा बहु कर प्रणाली
(Single and Multiple Tax System)—

प्राचीन समय से ही इस विषय पर बडा वाद विवाद चला आ रहा है कि किसी देश की कर प्रणाली में केवल एक ही कर हो या अनेक कर हो? निर्बाधा-

वादियों (Physiocrats) विशेषकर क्वेसने (Quesney) और तुर्गो (Turgot) का यह विचार था कि एक कर प्रणाली सर्वोत्तम होती है और इसी लिए वे केवल भूमि पर ही कर लगाने के पक्ष में थे। उनका विचार था कि सरकार को न्याय के किसी सिद्धान्त के आधार पर केवल एक ही वस्तु पर कर लगाना चाहिये। उनके अनुसार भूमि ही उत्पत्ति का एक मात्र साधन था, जिसकी अतिरिक्त (Surplus) उत्पत्ति से आय प्राप्त होती है और उसे लगान कहते हैं। इन लोगों का मत था कि क्योंकि सभी प्रकार के करों का भार अन्त में लगान ही पर पड़ता इसलिये केवल लगान पर ही कर लगना चाहिए। ऐसा करने से बहुत सी कठिनाइयां और गलत-फहमी दूर हो जायेंगी। इसी प्रकार रिकार्डो आदि लेखक लगान को बिना कमाई हुई आय (unearned income) मानकर केवल उसी पर कर लगाने का सुझाव देते थे। अमेरिकी लेखक हैनरी जार्ज (Henry George) ने लगान पर कर लगाने का प्रस्ताव एक और कारण से भी दिया था वह यह कि लगान पर कर लगाने से उद्योग भी हतोत्साहित नहीं होंगे। एक कर प्रणाली का पक्षपात करने वालों का विचार था कि ऐसी नीति से समाज में सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण किया जा सकता है।

केवल भूमि पर ही कर—परन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि केवल भूमि पर कर लगाने में एक तो आजकल सरकार के कार्यों में इतनी अधिक वृद्धि हो गई है कि केवल भूमि पर कर लगाने से इतनी आय प्राप्त नहीं हो सकती कि सारे कार्यों को वह सम्पन्न कर सके। दूसरे, यह न्याय-पूर्ण भी नहीं है, क्योंकि यह कर करदान योग्यता सिद्धान्त के विरुद्ध है। एक तो छोटी छोटी भूमि पर खेती करने वालों पर कर लगेगा जबकि लखपति और करोड़पति व्यापारी कर से विमुक्त रहेंगे, परिणामस्वरूप भूमि के मालिक अपनी भूमि बेच बेचकर अन्य सम्पत्ति खरीदते जायेंगे और एक स्थिति ऐसी आयेगी जबकि भूमि पर लगान प्राप्त होना बन्द हो जाएगा। तीसरे, यह कर लोचपूर्ण भी नहीं है। सरकार के खर्चों में वृद्धि के साथ साथ इसकी दर में वृद्धि नहीं की जा सकती। चौथे, यह निर्णय करना भी कठिन है कि भूमि से प्राप्त आय में से कितनी बिना कमाई हुई है और कितनी कृषक की दूरदर्शिता, परिश्रम और जोखिम के कारण प्राप्त हुई है। पाँचवे, इस प्रणाली में बहुत सी शासन सम्बन्धी कठिनाईयां उत्पन्न हो सकती हैं, जैसे मूल्य गिरने के साथ साथ या बढ़ने के साथ साथ कर की दरों में परिवर्तन करना, हिसाब किताब रखना, फसलों के ठप्प हो जाने पर कर वसूल करने की समस्या। अन्त में यह कर अनिश्चित भी है क्योंकि सरकार को कभी यह निश्चित ही नहीं हो पायेगा कि उसकी आय कितनी है। कृषि स्वयं एक अनिश्चित व्यवसाय है, इसलिए उसकी आय भी अनिश्चित रहती है। इस प्रकार यह कर हर दृष्टिकोण से उचित नहीं है।

केवल आय पर ही कर—समाजवादी विचारों की प्रगति के साथ साथ कुछ समाजवादियों का यह विश्वास है कि केवल आय पर ही कर लगाना चाहिये। क्योंकि एक तो सरकार को बड़ी मात्रा में आय प्राप्त हो सकेगी, दूसरे, विभिन्न प्रकार की

प्रगतिशील (Progressive), प्रतिगामी (Regressive) और अधोगामी (Degressive) । अब हम इनमें से प्रत्यक की विवेचना निम्न पृष्ठों म करेंगे ।

प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष कर (Direct and Indirect Taxes) — प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष करो का वर्गीकरण तो साधारण सी बात है परन्तु इन दोनों करो मे भेद करने के सम्बन्ध मे इतने मत हैं कि किसी एक को स्वीकार करना और दूसरे को स्वीकार न करना सरल कार्य नहीं है। प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जो पूर्णत उसी व्यक्ति द्वारा चुकाए जाते हैं, जिस पर वे लगाये जाते हैं, अर्थात् वह कर का भार (Incidence) किसी दूसरे पर नहीं टाल सकता। इस प्रकार कर का भुगतान करने का दायित्व (Impact) एव भार दोनों उसी व्यक्ति पर पड़ते हैं, जो आरम्भ में कर को चुकाता है। ऐसे कर के भार को दूसरे पर टाला नहीं जा सकता। दूसरी ओर अप्रत्यक्ष करो मे कर ऐसे व्यक्ति पर लगाया जाता है जो उसके भार को किसी दूसरे पर टाल सकता है। अत कर के भुगतान करने का दायित्व उस व्यक्ति के ऊपर है जिसके ऊपर कर लगाया गया है, परन्तु क्योकि वह कर की राशि किसी दूसरे व्यक्ति से वसूल कर लेता है इसलिए कर का अन्तिम भार दूसरे के ऊपर पड़ता है। अत करदाता, वस्तुओ एव सेवाओ के मूल्य म कर के अनुसार वृद्धि करके कर के भार को उपभोक्ताओं पर टाल देता है। वस्तुओं और सेवाओ पर लगाये गये कर अप्रत्यक्ष कर होते हैं।

कुछ लेखको ने प्रशासन सम्बन्धी मामलों को ध्यान मे रख कर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो में भेद किया है। इनम से कुछ के अनुसार प्रत्यक्ष कर वह है जो व्यक्तियों की आय पर उस समय भार डालता है जब कि उत्पादन हो रहा होता है और अप्रत्यक्ष कर व्यक्तियो के निजी उपभोग एव सम्पत्ति के हस्तान्तरण के समय भार डालते हैं। दूसरे शब्दो मे प्रत्यक्ष करो में उत्पत्ति के समय होने वाली आय पर कर लगता है और अप्रत्यक्ष कर उपभोग के समय व्यय किये जाने वाले धन पर लगते हैं। परन्तु कुछ कर ऐसे होते हैं जिनका भुगतान न तो उत्पादन के समय किया जाता है और न उपभोग के समय, तो इस परिभाषा के अनुसार, ऐसे कर कही भी नही रक्खे जा सकते—न तो प्रत्यक्ष करो में और न अप्रत्यक्ष करो मे ही। अत इस परिभाषा का दोष स्पष्ट ही है। दूसरे लेखको के अनुसार "प्रत्यक्ष कर वे हैं जो उन सूचियों के अनुसार एकत्र किए जाते हैं जिनमें करदाताओ के नाम होते हैं और जो निश्चित समय के अवकाश के बाद बार-बार उपस्थित होते हैं।" जबकि अप्रत्यक्ष कर वे हैं जो "कुछ विशेष निश्चित कार्यों के अवसर पर एकत्र किए जाते हैं जो निश्चित समय की अवधि के बाद बार-बार उत्पन्न नही होते और जो उस विधि के अनुसार नही एकत्र किए जाते, जिनमें नाम की सूचियों की आवश्यकता होती है।"[5]

बैस्टेबिल के अनुसार प्रत्यक्ष कर वे कर हैं "जो स्थायी तथा बार बार उत्पन्न

5. Antonio di vitti-de Marco, *First Principles of Public Finance*, Page 130.

होने वाले अवसरों पर लगते हैं और अप्रत्यक्ष कर वे कर हैं 'जो कभी-कभी उत्पन्न होने वाले विशेष अवसरों पर लगाये जाते हैं।'[6] परन्तु यह परिभाषा पूर्णत अस्पष्ट है क्योंकि इसका आधार ही स्पष्ट नहीं है अर्थात् बैस्टेबिल बार-बार उत्पन्न होने वाले और विशेष अवसरों से क्या समझते हैं स्पष्ट नहीं है।

कुछ लेखकों के अनुसार प्रत्यक्ष कर वह है जो उसी व्यक्ति पर लगाया जाता है, जिससे सरकार का इरादा कर वसूल करने का होता है या जिस व्यक्ति से चाहती है कि वह ही कर का भुगतान करे, और अप्रत्यक्ष कर वह है जब सरकार का इरादा यह हो कि पहला भुगतान करने वाला व्यक्ति कर की राशि को अंशत या पूर्णत किसी दूसरे व्यक्ति पर टाल दे। मिल का भी यही विचार है।[7] इस परिभाषा में भी पिछली परिभाषाओं की भाँति अस्पष्टता का दोष है। साथ ही साथ, यह भी कोई आवश्यक नहीं कि व्यक्तियों पर कर भार सरकार के इरादे या इच्छा के अनुसार ही पड़े। व्यवहार में यह भी देखा गया है कि सरकार के न चाहते हुए भी कर भार दूसरों पर टाल दिया जाता है और सरकार के चाहते हुए भी कर भार दूसरों पर टाला नहीं जा सकता। इस प्रकार की परिभाषा भी उपयुक्त नहीं है।

प्रो० डि० मार्को का विचार है कि प्रत्यक्ष कर वे होते हैं जो उस समय लगाये जाते हैं, जब कि व्यक्ति की आय का प्रत्यक्ष अनुमान लगाया जा सकता है और अप्रत्यक्ष कर वे होते हैं जो उस समय लगाये जाते हैं, जब कि व्यक्ति की आय का प्रत्यक्ष अनुमान सम्भव नहीं होता। उनका कहना है कि कुछ मौकों पर तो व्यक्ति की आय को सीधे ही पता लगाया जा सकता है और इन आयों को प्रत्यक्ष रूप से कर के क्षेत्र में लाया जा सकता है। परन्तु कभी कभी ऐसा होता है कि प्रत्यक्ष कर द्वारा आय पूर्ण रूप से कर के क्षेत्र में नहीं आ पाती अर्थात् कर की चोरी हो जाती है या आय का प्रत्यक्ष अनुमान सम्भव नहीं होता, इसलिये उस बची हुई आय को भी कर के क्षेत्र में लाने के लिये अप्रत्यक्ष कर लगाये जाते हैं।[8] परन्तु यह विचार भी उचित नहीं है क्योंकि सरकार के लिये यह सरल नहीं कि वह कर की चोरी को रोक सके। प्रत्येक कानून में ही कुछ न कुछ कमी अवश्य रहती है और बेईमानी करने वाले उसी कमी का लाभ उठाते हैं। सरकार कर की चोरी को रोकने के इरादे से कभी भी अप्रत्यक्ष कर नहीं लगाती है। यह विचार भी संतोषजनक नहीं है।

प्रो० शिराज के अनुसार प्रत्यक्ष कर वे हैं जो, 'सीधे ही व्यक्तियों की सम्पत्ति और आय पर लगाये जाते हैं और जिनका भुगतान उपभोक्ताओं द्वारा सरकार को सीधा ही होता है'। इस प्रकार, आय एवं सम्पत्ति कर, मृत्यु कर, व्यक्ति कर (Toll tax) और उपभोग कर जो सीधे सरकार को दिये जाते हैं प्रत्यक्ष करों के समूह के अन्तर्गत हैं, जब कि और सब कर अप्रत्यक्ष करों के समूह में रक्खे

6 *Public Finance*, Page 291

7 J S Mill *Principles of Economics*, Book V Ch 3

8 *Op cit*, Page 131

जायेंगे, अर्थात्, जो व्यक्ति की आय और सम्पत्ति तक उनके कार्यों तथा भोग द्वारा और वस्तुओं के उपभोग द्वारा भी पहुँचते है .... व्यवसाय पर कर, मनोरंजन पर कर, बिक्री कर इत्यादि।[9] इस परिभाषा मे भी वही कठिनाई है जो पिछली परिभाषाओं मे थी। एक तो उपभोग करो को दोनों ही करो मे सम्मिलित किया गया है। सभी उपभोग कर अप्रत्यक्ष कर होते हुये भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा मे केवल भुगतान करने की विधि के अनुसार ही प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करो मे भेद किया गया है, जो अवास्तविक है (क्योंकि प्रत्येक कर का भुगतान सीधे सरकार को ही होता है इसलिये प्रत्येक कर प्रत्यक्ष कर है)। कर भार की ओर कोई भी ध्यान नही दिया गया है।

वास्तव में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष करो के बीच भेद करना सरल नही है। उपर्युक्त विवरण से तो यह पूर्णत स्पष्ट हो ही गया है। हमारे विचार मे पहली परिभाषा ही सब से उपयुक्त है। एक तो वह व्यवहारिक है और दूसरे कर भार के आधार पर दोनो करो मे भेद करना सरल भी है और वैज्ञानिक भी क्योकि इसी बात का ज्ञान अधिक महत्त्वपूर्ण है कि कर का भार किस व्यक्ति पर पड़ता है, अपेक्षाकृत अन्य बातो के।

प्रत्यक्ष करों के गुण—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करो के तुलनात्मक महत्व का ज्ञान करने के लिए यह आवश्यक है कि इन दोनो के गुणो तथा अवगुणो की विवेचना पहले की जाये। प्रत्यक्ष करों के गुण निम्न प्रकार हैं —

(१) प्रत्यक्ष कर कर-दान योग्यता के अनुकूल होते हैं, क्योंकि इनको प्रगतिशील बनाया जा सकता है। अर्थात् इन को इस प्रकार लगाया जा सकता है कि कर का भार धनी व्यक्तियों पर अधिक पडे और निर्धन व्यक्तियों पर कम पडे। (२) ये कर मितव्ययी भी होते है, क्योंकि इनको इकट्ठा करने का व्यय बहुत कम होता है। बात यह है कि इन करो मे अधिकाश धन तो स्रोत पर ही इकट्ठा कर लिया जाता है। (३) ये कर निश्चित होते हैं। (४) ये कर उत्पादक भी हैं, क्योंकि देश की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ इन करो मे स्वय वृद्धि होती जाती है। (५) ये कर लोचदार भी होते हैं, क्योंकि इनकी दर, आवश्यकतानुसार बढाई-घटाई जा सकती है। (६) अन्त मे व्यक्तियों में जागृति तथा नागरिकता की भावना उत्पन्न होती है। क्योंकि हर व्यक्ति को यह पता रहता है कि वह सरकार के खजाने मे कितना धन दे रहा है, इस कारण वह अपने अधिकारों को प्राप्त करने की तथा कर्त्तव्यों को समझने की चेष्टा करता है।

प्रत्यक्ष करों के दोष—प्रत्यक्ष करो मे निम्न दोष बताये जाते हैं—

(१) प्रत्यक्ष कर असुविधाजनक होते हैं। कर दाताओं को अनेकों कठिनाइयो का सामना करना पडता है, जैसे, हिसाब-किताब का पूरा ब्यौरा तैयार करना, उसका निरीक्षण कराना, बार-बार कर दफ्तरों को आना जाना इत्यादि। इसके अतिरिक्त कर के भुगतान करने मे भी कठिनाई होती है, क्योकि आय तो थोडी-

9. *Science of Public Finance*, Page 119.

थोडी प्राप्त होती है परन्तु कर राशि का भुगतान एक दम करना होता है। (२) ऐसे करो में चोरी की सम्भावना बहुत अधिक होती है। वास्तव में यह कर व्यक्ति की ईमानदारी पर लगाया जाता है। परन्तु वास्तविक जीवन में बड़ी बेईमानी होती है और व्यापारी लोग झूठे बहीखाते बनाकर कर की चोरी कर लेते हैं। (३) ऐसे करों में करों की दरों का निर्धारण पूर्णत कर अधिकारी की इच्छानुसार होता है अर्थात् कर की दर मनमाने ढंग पर निर्धारित की जाती है। (४) अन्त में कुछ लोगों के अनुसार ये कर असुविधापूर्ण भी होते हैं क्योंकि कर अफसरों को व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक व्यक्ति के पास जाना पड़ता है।

अप्रत्यक्ष करों के गुण—अप्रत्यक्ष करों के गुण निम्नांकित हैं —

(१) ये कर न्यायपूर्ण होते हैं क्योंकि यह निर्धन तथा धनी, सभी प्रकार के व्यक्तियों पर ही लगाये जाते हैं और अपनी अपनी स्थिति अनुसार सभी इसका भुगतान करते हैं। यह कर वस्तुओं और सेवाओं पर लगाये जाते हैं, जिनको सभी व्यक्ति अपनी अपनी हैसियत के अनुसार खरीदते हैं और कर का भुगतान करते हैं। इस दृष्टि से तो ये कर अनुपातिक हुए परन्तु इनको प्रगतिशील भी बनाया जा सकता है यदि विलास की वस्तुओं पर अधिक ऊँचा कर लगाया जाय, और दूसरी वस्तुओं पर कम कर लगाया जाये। (२) इन करों से देश का कर आधार बहुत ही विस्तृत हो जाता है। (३) ये कर सुविधापूर्ण होते हैं। वास्तव में कर दाता को यह ज्ञान भी नहीं होता कि वह कर का भुगतान कर रहा है क्योंकि कर वस्तुओं के मूल्यों में ही मिला होता है। उपभोक्ता तो यह समझता है कि वह वस्तु के मूल्य दे रहा है परन्तु वह उसके साथ साथ कर भी देता रहता है। (४) इस प्रकार के करों की चोरी करना सरल नहीं होता क्योंकि कर दाता कर का भुगतान वस्तु के मूल्य के साथ साथ कर देता है। (५) इन करों को लोचपूर्ण भी बनाया जा सकता है क्योंकि आवश्यक वस्तुओं पर तनिक सा कर भी लग जाने पर बहुत आय प्राप्त हो जाती है। कुछ लोगों के अनुसार ऐसा करने से कर की न्यायशीलता कम हो जायगी क्योंकि आवश्यक वस्तुओं पर कर लगाने से कर का भार निर्धनों पर अधिक पड़ता है और कर प्रगतिशील होने के स्थान पर प्रतिगामी हो जायगा। परन्तु यह विचार भ्रमपूर्ण है। आवश्यक वस्तुओं पर कर लगने से प्रगतिशीलता में कोई कमी नहीं होती, उस समय तक जब तक कि विलास की वस्तुओं पर बहुत ऊँची दर से कर लग रहा है और आवश्यक वस्तुओं पर बहुत ही नीची दर से कर लगाया गया है। आवश्यक वस्तुओं पर कर लगने से निर्धन व्यक्तियों से भी कर लिया जा सकता है और इस प्रकार कर प्रणाली पूर्णरूप से कर-दान योग्यता के सिद्धान्त के अनुकूल हो जाती है। (६) अन्त में इन करों से हानिकारक वस्तुओं के उपयोग को रोका जा सकता है। हानिकारक वस्तुओं जैसे, मद्य तम्बाकू आदि पर कर लगाकर तथा विलासिता की वस्तुओं पर कर लगाने से मूल्य ऊँचे हो जाते हैं और उनका उपभोग भी कम हो जाता है।

अप्रत्यक्ष करों के दोष—अप्रत्यक्ष करों के निम्न दोष बताये जाते हैं :—

(१) ये कर समानता तथा कर-दान योग्यता सिद्धान्त का उल्लघन करते है। इन का भार अधिकतर निर्धन व्यक्तियो पर पडता है क्योंकि इनको अधिक उत्पादक बनाने के लिये जीवन तथा उपभोग की आवश्यक वस्तुओ पर लगाया जाता है। यह स्पष्ट ही है कि निर्धन व्यक्ति अपनी आय का अधिकाश भाग अनिवार्य वस्तुओ पर ही व्यय करते है, जबकि धनी व्यक्ति अपनी आय का बहुत थोड़ा प्रतिशत इन वस्तुओ पर खर्च करते हैं, इसलिये कर भार निर्धन व्यक्तियो पर अधिक और धनी व्यक्तियो पर कम पडता है। अत अप्रत्यक्ष कर अधिकतर प्रतिगामी होते है। (२) ये कर लोचपूर्ण भी नही होते, यदि ये केवल विलास की वस्तुओ पर ही लगाये जायें। (३) इसके अतिरिक्त ये कर कम उत्पादक होते है और इनमे निश्चितता का भी अभाव रहता है। सरकार यह निश्चय ही नही कर सकती कि उसको इन करो से कितनी आय प्राप्त होगी। (४) ये कर मितव्ययी भी नही होते। इनको इकट्ठा करने में बहुत खर्च करना होता है जबकि इनसे उतनी आय प्राप्त नही हो पाती। (५) अन्त मे, इनकी चोरी भी की जा सकती है, झूठे बहीखाते बनाकर इत्यादि।

यद्यपि काफी लम्बे काल से इस बात पर वाद विवाद होता चला आया है कि इन दोनो करो मे से कौन अच्छा है? फिर भी उपर्युक्त विवरण के पश्चात् यह स्पष्ट ही है कि किसी देश की कर प्रणाली को न्याय पूर्ण बनाने के लिये तथा कर प्रणाली को कर-दान योग्यता सिद्धान्त पर आधारित करने के लिये, दोनो ही करो को लगाना चाहिये। दोनो कर एक दूसरे के दोषो को दूर करते हैं। इनमे से किस कर का अधिक प्रयोग किया जाये यह देश विशेष की आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति पर निर्भर करता है। किसी देश मे प्रत्यक्ष कर अधिक अच्छे रहेंगे और किसी मे अप्रत्यक्ष कर। परन्तु दोनो का साथ साथ प्रयोग होना अनिवार्य है। ग्रेट स्काटमैन (Great Scottman) के शब्दो मे, "मैं प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करो के विषय म और कुछ नही सोच सकता, अतिरिक्त इसके कि मैं उनको दो आकर्षक बहिनो के समान मानूं जो कि लन्दन के सुन्दर ससार मे आई हैं। दोनों ही विपुल-भाग्य-शालिनी हैं, दोनों के माता-पिता एक हैं—मेरा विश्वास है कि दोनो के माता-पिता 'आवश्यकता' और 'आविष्कार' हैं—उनमे अन्तर केवल इतना ही हो सकता है कि जितना दो बहनो मे होता है......।"[10] हम स्काटमैन के विचार से सहमत नही हैं क्योंकि कर के रूप मे तो यह दो बहनों की भाँति हैं, परन्तु अपने भार की दृष्टि से दोनो एक दूसरे से पूर्णत भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त न्यायशीलता तथा व्यवहारिकता के लिये दोनो बहनो का होना इतना आवश्यक नही जितना कि इन दोनो करो का। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर गाड़ी के दो पहियो के समान है। कर प्रणाली की गाडी बिना दूसरे पहिये के चल ही नही सकती।

डिमार्को के विचार—प्रो० डिमार्को ने इन दोनो करो के सम्बन्ध मे दो बातें बताई हैं। प्रथम, यह कि अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष कर एक दूसरे के पूरक (Comp-

10. Quoted by Shirras, *Science of Public Finance* 1936, Page 297.

lementary) है[11] और दूसरे इससे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्यक्ष करो द्वारा उत्पन्न होने वाले रगडात्मक प्रभावो (frictional forces) को अप्रत्यक्ष कर कम करते है।[12] अत किसी भी कर प्रणाली में दोनो करो का समन्वय होना चाहिये।

डिमार्को का विचार है कि समाज में कुछ व्यक्तियों की आय तो इतनी प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट है कि उसको सही तौर पर मालूम किया जा सकता है जैसे, वेतनभोगी व्यक्ति तथा कुछ व्यक्तियो की आय ऐसी होती है जिसका अनुमान ही नही लगाया जा सकता जैसे व्यापारी। प्रत्यक्ष करो का भार पहले प्रकार के व्यक्तियो पर अधिक पैडता और दूसरे प्रकार के व्यक्तियो पर कम। करभार की इस असमानता को दूर करने के लिए अप्रत्यक्ष कर लगाए जाते हैं। धनी व्यक्तियो और व्यापारियो के पास कर रहा जग पान के कारण आय का बहुत अधिक भाग खर्च करने के लिए रह जायेगा। अप्रत्यक्ष कर आय के इस भाग पर भी कर वसूल कर लेंगे और सभी व्यक्तियो म कर भार समान रूप से बट जायगा। अत अप्रत्यक्ष कर, प्रत्यक्ष करो की इस कमी को दूर करते है और उनके पूरक है। एक दूसरी प्रकार से भी अप्रत्यक्ष कर प्रत्यक्ष करो के पूरक होते है। व्यक्तियो की आयो में थोडे थोडे समय बाद परिवर्तन होते रहते है जिन्हे निश्चित करना कठिन होता है। परन्तु इतना अवश्य है कि आय बढने से उपभोग बढ़ता है और आय घटने से उपभोग कम होता है। अप्रत्यक्ष कर आय में इस प्रकार के परिवर्तनो को भी अपने क्षेत्र मे ले लेते हैं।

इसी प्रकार प्रत्यक्ष कर भी अप्रत्यक्ष करो के पूरक होते है। एक तो अप्रत्यक्ष कर उन वस्तुओ पर नही लगाय जा सकते जिनका उपभोग स्वय उत्पादको द्वारा किया जाता है। दूसरे अप्रत्यक्ष कर सभी प्रकार की वस्तुओ और सेवाओ पर भी नही लगाय जा सकते और अन्त मे अप्रत्यक्ष करो मे भी कर की चोरी हो सकती है। इन सब कारणो से अप्रत्यक्ष करो के साथ साथ प्रत्यक्ष कर भी होने चाहिएँ।

डिमार्को के विचार म अप्रत्यक्ष कर एक महत्वपूर्ण कार्य और भी करते है, वह यह है कि य कर के एकत्र करने में और आय का अनुमान लगाने म जो रगडात्मक शक्तियां (Frictional forces) उत्पन्न होती है उनको न्यून करने में सहायता देते हैं। कर बडी ही अरुचिकर वस्तु है। कोई भी इसका स्वागत नही करता। अत कर लगते ही कुछ लोग इसका विरोध करते है और ऐसी क्रियाएँ आरम्भ हो जाती है जैसे कर भार दूसरे व्यक्तियो पर टालना (shifting), कर का सम्मिश्रण (diffusion), पूंजीकरण (capitalisation) और कर की चोरी (evasion)। ये सब क्रियाएँ उस समय तक चलती रहती हैं जब तक कि आयिक प्रणाली में कर द्वारा उत्पन्न होने वाला असतुलन दूर नही हो जाता और फिर से सतुलन स्थापित नहीं हो जाता। उसका विश्वास है कि इसी असतुलन द्वारा ये सब क्रियाएँ उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, यदि मजदूरी पर कर न लगकर उसी अनुपात

11 *Op cit* Page 132-136

12 *Ibid* Pages 136 137

में लाभों के ऊपर कर बढ जाता है तो वेतनभोगियो को कर से उसी समय तक छूट मिलेगी जब तक कि मजदूरियों और लाभों मे नया सतुलन स्थापित नही हो जाता ।[13] इसी प्रकार तीव्र प्रतिगामी कर द्वारा यदि सरकार बडी बडी सम्पत्तियो का अन्त करना चाहती है तो यह भी उसी समय तक हो सकेगा जब तक कि पुरानी स्थिति पुन स्थापित नही हो जाती अर्थात् बचत, नया उत्पादन, नये क्रेता इत्यादि सब पुरानी स्थिति म नही हो जाते ।[14] इसीलिए डिमार्को का विचार है कि, "पहले ही क्षण से, करो का बटवारा ऐसा होना चाहिए जिससे उपस्थित आर्थिक सतुलन या तो भग न हो या जहाँ तक सम्भव हो कम हो ।"[15] कर लगने से इस प्रकार का असतुलन उत्पन्न होना स्वाभाविक है । प्रत्यक्ष करो का भुगतान करते समय प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान होता है कि वह कर के रूप में कितने धन का भुगतान कर रहा है और जिसका भुगतान करने के लिए उसको अपनी कितनी आवश्यकताएँ कम करनी पडी है । इसीलिए वह सदैव यही प्रयत्न करता है कि किसी न किसी प्रकार उसको कम कर देना पडे । एक ओर सरकार कर द्वारा आय प्राप्त करना चाहती है, दूसरी ओर करदाता कर का भुगतान नही करना चाहते —ये दोनो ही कार्य एक दूसरे के विपरीत है । यह स्वाभाविक ही है कि आर्थिक प्रणाली मे कुछ रगड उत्पन्न हो, जिससे सरकार का उद्देश्य पराजित हो जाये । अप्रत्यक्ष करो के लग जाने से ये रगड बहुत कुछ कम हो जाती है । एक तो अप्रत्यक्ष करो का भुगतान करते समय करदाताओं के मस्तिष्क म वह विरोध की भावना उत्पन्न नही होती जो प्रत्यक्ष करो का भुगतान करते समय होती है । इसके दो कारण हो सकते है—पहला यह कि करदाता को यह ज्ञान हो नही हो पाता कि वह कर का भुगतान कर रहा है, क्योकि कर वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य के साथ ही मिला रहता है । दूसरा यह कि कर का भुगतान उस समय होता है जब कि उपभोक्ता अपने व्यय से कुछ सतुष्टि भी प्राप्त करता है । उपभोक्ता को प्रत्यक्ष रूप से अपनी आवश्यकताओ म कमी नही करनी पडती है, जैसा कि प्रत्यक्ष करो म होता है । साथ ही उपभोक्ता अपनी आवश्यकताओ को सतुष्ट करने के लालच मे कर का भुगतान करने के लिये बाध्य होता है, क्योकि वह यदि कर के भुगतान से बचना चाहे तो उसे आवश्यकताओ की सतुष्टि का त्याग करना होगा, जो कोई भी उपभोक्ता नही चाहेगा । उपभोक्ता के हृदय म विरोध करने की भावना इस कारण भी उत्पन्न नही होती क्योकि कर का भुगतान एकदम नही करना होता बल्कि धीरे धीरे थोडी थोडी मात्रा उसको देनी होती है । अन्त म आय का प्रत्यक्ष अनुमान भी नही लगाया जाता और इस प्रकार करदाता और सरकार म कोई मतभेद का प्रश्न ही नही उठता । इस प्रकार अप्रत्यक्ष कर उन बुराइयो को भी कम करते है जो प्रत्यक्ष करो द्वारा उत्पन्न होती है और जिनका वर्णन हम अभी कर चुके है । इसीलिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर दोनो एक दूसरे के पूरक होते है ।

13 *Op cit*, Page 163
14 *Ibid*, Page 163 164
15 *Ibid* page 165

अनुपातिक, प्रगतिशील, प्रतिगामी तथा अधोगामी करारोपण—करो को एक दूसरे प्रकार से चार भागो में बाँटा गया है—अनुपातिक, प्रगतिशील, प्रतिगामी और अधोगामी। यह वर्गीकरण मुख्य रूप से करो की दर और कर दाताओ की आर्थिक शक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित है। अनुपातिक कर वह है जिसकी दर सारे करदाताओ के लिए समान हो जैसे १०० रुपये की आय वाले व्यक्ति पर भी ५% की दर से कर लगाया गया है और १०००० रुपये की आय पर भी वही दर है। इस कर के गुणो का वर्णन करते हुए कुछ लोगो का कहना है कि कर मे एक तो गुण यह है कि यह धन के वितरण को पूर्ववत रखता है, दूसरे यह सरल बहुत है। इसका हिसाब कोई भी व्यक्ति लगा सकता है। इस सम्बन्ध मे जे० बो० से ने कहा है कि अनुपातिक कर की परिभाषा करने की आवश्यकता नही है, यह साधारण त्रैराशिक नियम (Rule of three) है।' परन्तु केवल सरलता पर कर प्रणाली की न्यायशीलता को बलि नही चढाया जा सकता। यह कर न्याय सिद्धान्त के बिलकुल विरुद्ध है। हमारे उदाहरण में १०००० रुपए की आय वाले व्यक्ति का मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता अपेक्षाकृत १०० रुपये वाले के बहुत ही कम होगी, इस कारण पहले व्यक्ति पर कर भार कम होगा और दूसरे व्यक्ति पर अधिक। अत यह कर न्यायपूर्ण नही है।

प्रगतिशील कर—आय बढने के साथ-साथ जब कर की दर भी बढती जाती है, तब ऐसे कर को प्रगतिशील कर कहते हैं। इसके अनुसार विभिन्न आयो को कुछ सामान्य वर्गों म बाँट दिया जाता है और वर्गों के अनुसार कर लगाया जाता है। आय के ऊँची होने के साथ-साथ कर की दर भी बढती जाती है, जैसे ३००० से ५००० रुपये तक दो पैसे प्रति रुपया, ५००० से १०००० रुपये तक ५ पैसे प्रति रुपया, १०००० से २०००० रुपये तक १० पैसे प्रति रुपया इत्यादि। आय को इस प्रकार के विभिन्न भागो मे बाटने और कर लगाने की विधि को प्रतिगामिता (Graduation) और ऐसे कर को प्रतिगामित कर (Graduated Tax) कहते हैं।

पक्ष में—ससार के लगभग सभी देशों ने प्रगतिशील कर को ही उचित और न्यायसगत माना है। इसके निम्न गुण बताए जाते हैं —

(१) प्रगतिशील करो द्वारा धन का वितरण अधिक समान किया जा सकता है। एक ओर तो समाज के धनी वर्गो की क्रय शक्ति कम हो जाती है और दूसरी ओर निधन वर्गो को विभिन्न प्रकार की सहायताओ को प्रदान करके उनकी क्रय-शक्ति को बढाया जाता है। आय पर भी सीमान्त उपयोगिता ह्रास-नियम लागू होता है। जैसे जैसे आय मे वृद्धि होती है प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता कम होती चली जाती है। इस प्रकार व्यक्तियो की सामान्य मनोवृत्ति तथा दृष्टिकोण यथास्थिर रहने की दशा म एक निधन व्यक्ति को आय की वृद्धि से अधिक सतुष्टि प्राप्त होगी अपेक्षाकृत एक धनी व्यक्ति के। यदि धनी व्यक्ति की आय मे से एक इकाई निकालकर निधंन व्यक्ति को दे दी जाये तो धनी

व्यक्ति को होने वाले नुकसान की तुलना में निर्धन व्यक्ति को प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि कही अधिक होगी और यदि इसी प्रकार हस्तान्तरण किये जाते रहे तो समाज की कुल सतुष्टि मे बहुत अधिक वृद्धि होगी। प्रो० मार्शल का भी यही विचार है।

(२) प्रगतिशील कर, कर-दान योग्यता के सिद्धान्त के अनुकूल है। हम ऊपर कह आये है कि धनी व्यक्ति को द्रव्य की सीमान्त इकाई की उपयोगिता अपेक्षाकृत एक निर्धन व्यक्ति के बहुत कम होती है। अत धनी व्यक्ति को निर्धन व्यक्ति की तुलना म कर देने से कम हानि होती है। धनी व्यक्ति कर भुगतान करने के लिए अपनी कम आवश्यक आवश्यकताओ को ही कम करेगा परन्तु निर्धन व्यक्ति को तो अपनी अनिवार्य आवश्यकताओ को कम करना पडेगा। इस कारण यह कर उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। परन्तु प्रो० पीगू का विचार है कि उपयोगिता ह्रास नियम से केवल इस बात का पता चलता है कि १००० पौंड वाली आय के अन्तिम पौंड की उपयोगिता १०० पौंड वाली आय के अन्तिम पौंड की उपयोगिता से कम है। परन्तु प्रगतिशील कर को न्यायसगत बनाने के लिये यह जानना आवश्यक है कि १००० पौंड वाली आय के अन्तिम १० पौंड की उपयोगिता १०० पौंड वाली आय के अन्तिम एक पौंड की उपयोगिता से कम है, जो उपयोगिता ह्रास नियम से पता नही लगता।

(३) उपर्युक्त दलील के आधार पर ही यह कहा जाता है कि ऐसे कर से समाज को सतुष्टि का ह्रास न्यूनतम होगा क्योकि धनी व्यक्तियो को ऊँचा कर देने पर भी इतनी असतुष्टि नही होगी जितनी कि निर्धन व्यक्तियो को। अत निर्धन व्यक्तियो को कर मुक्त कर के और धनी व्यक्तियो पर ऊँचा कर लगाकर समाज के बलिदान को न्यूनतम किया जा सकता है। साथ ही, जैसा पीगू ने कहा है कि बहुत से धनी व्यक्तियो को जो सतुष्टि प्राप्त होती है वह इसलिए नही कि वे धनी हैं वरन् इसलिए कि वे दूसरो से अधिक धनी हैं। इसलिए इन सभी धनी व्यक्तियो की आय को एक ही अनुपात म कम कर दिया जाये तो इन लोगो को सतुष्टि की कोई विशेष हानि नहीं होगी। वे निर्धन तो पहले की अपेक्षा हो जायेंगे परन्तु वे रहेंगे उतने ही धनी (दूसरो की तुलना में) जितना पहले थे और इस प्रकार इनको सतुष्टि की इतनी अधिक क्षति नहीं होगी।

(४) प्रगतिशील कर मितव्ययी होते है क्योंकि इनको एकत्र करने का व्यय अधिक नही होता। आय बढने के साथ साथ भी इकट्ठा करने का व्यय पूर्ववत रहता है। इस कारण यह कर मितव्ययी होते है।

(५) प्रो० हॉबसन ने प्रगतिशील कर को दूसरे ढग से उचित बताया है। उन्हाने प्रत्यक व्यक्ति की आय को दो भागो में विभाजित किया है—लागत का अग और बचत का अंग। पहले अग पर कर लगाना हानिकारक होगा क्योकि ऐसा करने से आय ही समाप्त हो जायेगी। इसलिए सब कर बचत के ऊपर ही लगने चाहिएँ। इनके अनुसार जितनी आय कम होगी उतना ही उसमे लागत अग अधिक होगा और

जितनी आय अधिक होगी उतना ही लागत अंग कम होगा और बचत अंग अधिक होगा। अत ऊँची आय पर प्रगतिशील कर लगाना चाहिये क्योंकि उनमें बचत अंग अधिक होता है। परन्तु हॉबसन ने यह स्पष्ट नहीं किया कि आय की लागतों का अनुमान किस प्रकार किया जाए और प्रत्येक आय में लागतों का अंग अधिक और बचतों का अंग कम या इसका उलटा किस प्रकार मालूम किया जा सकेगा, क्योंकि बिना इस के ज्ञान के करों की दर निर्धारित नहीं की जा सकती।

(६) आधुनिक काल में सरकारों के व्यय दिन प्रति दिन बढ़ते जा रहे हैं। प्रगतिशील सिद्धान्त द्वारा धनी व्यक्तियों पर ऊँचे कर लगाकर सरकार अपनी आवश्यकतानुसार आय बड़ी सरलता से प्राप्त कर सकती है।

(७) प्रगतिशील कर अधिक लोचपूर्ण होते हैं। सरकार अपनी आवश्यकता के समय केवल धनी व्यक्तियों पर कर की दर को बढ़ा कर आय प्राप्त कर सकती है। अनुपातिक प्रणाली में यह सम्भव नहीं है, क्योंकि उसमें कर की दर बढ़ाने से निर्धनों पर ही कर भार अधिक रहता है।

(८) कीन्स ने प्रगतिशील करों को पूर्ण रोजगार की दृष्टि से महत्वपूर्ण बताया है। अवसाद काल में यह आवश्यक है कि सरकार अधिक व्यय करे और व्यक्तियों पर कम कर लगाये ताकि स्वयं उनके पास भी कुछ क्रय-शक्ति रहे जिससे वे खर्च करते रहें और मूल्य ऊपर उठने लगें और रोजगार पहले ही जैसा रहे। यह ध्यान रहे कि केवल कम कर लगाने से ही रोजगार में होने वाले परिवर्तन नहीं रुक जायेंगे, क्योंकि धनी व्यक्तियों पर कर भार कम होते ही वह अपने धन को व्यय करने के स्थान पर उसको संचित कर सकते हैं। उपभोग करने की प्रवृत्ति (propensity) वैसे ही कम होती है। इसलिये कर को कम करने का ध्येय ही पराजित हो जायेगा। निर्धन व्यक्तियों की उपभोग की प्रवृत्ति अधिक होने से वे अपनी आय का अधिक भाग उपभोग पर ही व्यय करते हैं। अत यह आवश्यक है कि धनी व्यक्तियों से भारी कर लगा कर धन प्राप्त किया जाय, उसे निर्धनों पर खर्च किया जाय या उनको आर्थिक सहायता के रूप में दे दिया जाय। समाज में उपभोग की मात्रा पहले की अपेक्षा अधिक होगी और रोजगार बढ़ता जायेगा।

प्रगतिशील कर के विपक्ष में—आज कल प्रगतिशील करारोपण को सर्वमान्यता प्राप्त हो चुकी है परन्तु प्राचीन लेखकों को अवश्य ही इसके विरुद्ध कुछ आपत्तियाँ थीं। हम इन आपत्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन निम्न में करेंगे —

(१) कुछ लेखकों ने तो नियम के आधार की ही आलोचना की है। हम ऊपर बता आये हैं कि प्रगतिशील करारोपण निम्न मान्यताओं पर आधारित है— प्रथम, सामान्य रूप से आय की उपयोगिता सभी व्यक्तियों के लिये समान रहती है। दूसरे, आय की प्रत्येक वृद्धि के साथ साथ प्राप्त होने वाली आय की उपयोगिता घटती जाती है और विलास की वस्तुओं पर व्यय अधिक होता जाता है। और तीसरे, विलास की वस्तुओं की अपेक्षा अनिवार्य वस्तुओं पर किया गया व्यय कार्यक्षमता की वृद्धि के लिये अधिक आवश्यक है। परन्तु यह सारी मान्यताएँ भ्रमात्मक बताई

गई है। यह तो हो सकता है कि आय की वृद्धि किसी व्यक्ति विशेष को घटती हुई मात्रा में सतुष्टि प्रदान करे, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि एक व्यक्ति को प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा कम होगी या अधिक। सतुष्टि एक मानसिक स्थिति है, जिसका कोई माप नहीं किया जा सकता। अत. धनी व्यक्तियों से निर्धनों को धन के हस्तान्तरण से यह आवश्यक नहीं कि कुल सतुष्टि में वृद्धि हो ही जाये।[16] परन्तु इन लेखकों की त्रुटि यह है कि इन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि करारोपण में उपयोगिता ह्रास नियम को इस मान्यता पर प्रयोग किया गया है कि मानव व्यवहार समान परिस्थितियों में समान रहता है। इस मान्यता के अपवाद हो सकते हैं परन्तु साधारणतया यह ही देखा गया है कि व्यवहारिक जीवन में यह मान्यता सही उतरती है। यही कारण है कि प्रगतिशील कर ससार में सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं।

(२) कुछ लेखकों का विचार है कि प्रगतिशील करारोपण के कारण बचतें कम होने लगती हैं, पूंजी का प्रवाह देश के बाहर होने लगता है और देश में उत्पादन गिरने लगता है। व्यक्तियों को अधिक उत्पादन करके आय में वृद्धि करने के लिये कोई भी प्रेरणा नहीं मिलती, क्योंकि वे जानते हैं कि जो भी आय उन्हें प्राप्त होगी वह उनके पास नहीं रहेगी और कर के रूप में सरकार को चली जायेगी। परन्तु वास्तविकता यह है कि कर का प्रभाव प्रत्येक वर्ग पर समान नहीं पड़ता। कुछ व्यक्तियों की तो बचाने और कार्य करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ता है, कुछ पर बिलकुल भी प्रभाव नहीं पड़ता और कुछ को कर द्वारा अधिक बचत करने और कार्य करने के लिये प्रेरणा प्राप्त होती है। व्यक्ति बचाने और कार्य करने के लिये निरुत्साहित उसी समय होता है जबकि कर अति तीव्र प्रगतिशील होता है।

(३) कुछ लेखकों का यह विचार है कि प्रगतिशील कर एक प्रकार की चोरी है और ईमानदारी एवं बुद्धिमानी को सजा दी जाती है। वे लोग जो अपव्ययी हैं और बेकार हैं वे कर मुक्त रहते हैं, दूसरी ओर जो मेहनत और ईमानदारी से कार्य करते हैं, फिजूलखर्ची न करके बचत करते हैं और इस प्रकार समाज की सेवा करते हैं उन्हें सबसे अधिक कर भार सहन करना पड़ता है। मिल तो इस कर को अति अन्यायपूर्ण समझते थे और करों की प्रगतिशीलता उनके लिये प्रगतिशील चोरी थी।[17] यह आलोचना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि किसी भी कर को चोरी या डकैती कहना बुद्धिमानी नहीं। सरकार का कोई स्वयं का हित नहीं होता। वह सारे समाज के लिये ही धन का पुनर्वितरण करती है। इसके अतिरिक्त सारा धन मेहनत के कारण ही जमा नहीं होता। सरकार की ओर से जो सुविधायें प्राप्त होती हैं वह भी धनी व्यक्तियों को धन एकत्रित एवं सुरक्षित रखने में सहायता करती है।

(४) कुछ लेखकों का विश्वास है कि प्रगतिशील करों की दर निर्धारण में

16. Lionel Robbins *An Essay on the Nature and Significance of Economic Science* Page 141.

17. Stampe, *Fundamental Principles of Taxation* Pages 38 39

मनमाने ढंगों से काम लिया जाता है। प्रगतिशीलता का क्या आधार होना चाहिए ? इसका कोई निश्चित मापदण्ड तो है नहीं, इसी कारण अन्याय होने की गुन्जाइश भी बहुत है। इस सम्बन्ध में बहुधा मैंकक्लो (Mc Culloch) के कथन को दोहराया जाता है कि "जब आप साधारण सिद्धान्त (अनुपातिक करा) को छोड़ देते हैं तो आप समुद्र में बिना पतवार और कुतुबनुमा के होते हैं, और कोई भी मात्रा अन्याय की नहीं होगी, जो आप न उठा सकें।" परन्तु प्रश्न यह है कि करारोपण में दरों के निर्धारण में मनमाने काम किस स्थान पर नहीं होता ? हर कर में ही यह दोष निकाला जा सकता है क्योंकि दरों के निर्धारण के लिए कोई प्रमपीट्रत (Standard) माप तो अभी तक निश्चित नहीं किया जा सका है। रही न्याय और अन्याय की बात सो भी बड़ी विचित्र और हास्यप्रद है। एक व्यक्ति के साथ न्याय करने में किसी दूसरे के साथ अन्याय अवश्य ही होगा। न्याय और अन्याय की बात व्यक्ति सदैव व्यक्ति की दृष्टि से करते हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक लाभ अधिकतम करने में कुछ लोगों के साथ अन्याय होना कोई बुरी बात नहीं है।

(५) कुछ लेखक तो इस कर को व्यवहारिक ही नहीं मानते हैं। सैलिगमैन का कहना है कि, "यदि इस प्रकार हम सारे वाद विवाद का परिणाम निकालें, तो हम देखते हैं कि, जबकि प्रगतिशील कर को हम एक सिद्धान्त के रूप में किसी सीमा तक उचित कह सकते हैं और उचित की योग्यता के अनुसार कर नीति को बनाने की सैद्धान्तिक माग का कथन कह सकते हैं, यह बात निश्चय करनी अति कठिन होती है, कि किस सीमा तक और किस ढंग से इस सिद्धान्त को व्यवहार में कार्यान्वित किया जाये।

डिमार्को के विचार—डिमार्को के अनुसार करों में प्रगतिशीलता, आर्थिक कारणों से नहीं वरन राजनैतिक कारणों से स्थापित की जाती है। उनके अनुसार अनुपातिक और प्रगतिवान् करों सम्बन्धी विवेचना वस्तुगत (Objective) और भावात्मक (Subjective) दृष्टिकोणों से नहीं की जा सकती है।[18] डिमार्को का विचार है कि कर वह भुगतान है जो कोई व्यक्ति राजकीय सेवाओं का उपभोग करने के बदले में करता है। हर व्यक्ति राजकीय सेवाओं का उपभोग अपनी आय के अनुपात में करता है। जिस प्रकार व्यक्तिगत मूल्य निर्धारण में होता है कि जो व्यक्ति जितनी वस्तुएँ खरीद उतना ही मूल्य दे, उसी प्रकार यहाँ पर भी यह होना चाहिये कि जो व्यक्ति जितनी आय कमाता है उतना ही कर दे। अर्थात् करारोपण अनुपातिक होना चाहिये परन्तु क्योंकि राज्य एक एकाधिकारी की स्थिति में होता है इसलिये वह प्रत्येक व्यक्ति से भिन्न भिन्न मूल्य अपनी सेवाओं का ले सकता है। अतः राज्य धनी व्यक्तियों से अधिक मूल्य और निर्धन व्यक्तियों से कम मूल्य ले सकता है। 'इसलिये अनुपातिक करारोपण का आधार न तो उसका वस्तुगत महत्त्व (objective value) है और न आर्थिक समानता ही।'

ठीक इसी प्रकार डिमार्को प्रगतिशील करों की विवेचना करता है। वह

18 Op cit, Ch VI Pages 171 183

उन लेखकों से सहमत नहीं है जो बलिदान सिद्धान्त को प्रगतिशील करारोपण का आधार मानते हैं। उसके अनुसार विभिन्न व्यक्तियों की संतुष्टि या बलिदानों की तुलना नहीं की जा सकती। उसका मत है कि आय की वृद्धि के साथ आय प्राप्ति की लागत में भी वृद्धि होती जाती है, इस कारण यह आवश्यक नहीं कि एक धनी व्यक्ति की कुल सन्तुष्टि एक निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा अधिक हो। केवल यही नहीं, कि सीमान्त उपयोगिता कम होने के साथ साथ राजकीय सेवाओं की उपयोगिता भी कम होती जाती है। इसलिये सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम और बलिदान या भावात्मक सिद्धान्त प्रगतिशील करारोपण के उचित आधार नहीं हैं।

डिमार्को के विचार से इन दोनों प्रकार के करों की विवेचना राजनैतिक आधार पर होनी चाहिये।[19] फ्रांस की क्रांति से पहले विपरीत अनुपातिक करारोपण था, जिसके अनुसार उन वर्गों पर कोई कर न था जो प्रबल थे या कर भार केवल कृषकों और औद्योगिक धनी व्यक्तियों पर ही था। इसके बाद, तृतीय राज्य *(third estate)* में अनुपातिक कर उन सिद्धान्तों के अनुकूल बनाया गया जिनका प्रचार क्रान्ति में किया गया था। अन्त में प्रजातन्त्र स्थापित हो जाने से अब प्रगतिशील कर का पलड़ा भारी हो गया।

प्रो० मार्को ने अपने विचार प्रस्तुत करते समय प्रगतिशील करों के राजनैतिक इतिहास का विश्लेषण किया है। उनका दृष्टिकोण आर्थिक के स्थान पर ऐतिहासिक है। उनके विचारों को सिद्धान्त कदापि भी नहीं कहा जा सकता। इनके अतिरिक्त, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं कि मार्को करारोपण को तथा व्यय को केवल, राज्य और नागरिकों के बीच एक विनिमय सम्बन्ध के रूप में देखता है, जो विचार व्यवहारिक जीवन के अनुकूल नहीं है। स्पष्ट ही है कि जिस विचार का आधार ही उचित नहीं है विचार स्वयं ही अनुचित होगा। इसलिये डिमार्को के विचारों का हम समर्थन करने में असमर्थ हैं।

प्रतिगामी कर—यह कर प्रगतिशील कर का ठीक विपरीत है। इनके अनुसार अधिक आय वाले व्यक्तियों पर कर की दर कम होती है और कम आय वालों पर अधिक। यद्यपि यह कर अनुचित और अन्यायपूर्ण होते हैं, फिर भी आधुनिक समय में इनका प्रयोग करना ही पड़ता है। एक तो राज्य को अपना व्यय पूरा करने के कारण इन करों का सहारा लेना ही होता है, दूसरे यह कर जान बूझकर नहीं लगाया जाता वरन् करदाताओं द्वारा इसका भार दूसरों पर टल जाने के कारण यह कर ऐसे हो जाते हैं। आधुनिक समय में इन करों का कोई विशेष महत्व नहीं है। क्योंकि एक तो इन में न्यायशीलता नहीं है, दूसरे यह मितव्ययी नहीं है और उत्पादक भी नहीं हैं।

अधोगामी कर—इस प्रकार का कर आय के बढ़ने के साथ साथ बढ़ता है परन्तु कर की दर कम होती जाती है। एक निश्चित सीमा तक प्रगतिशील रहता

19 *Op cit*, Ch VII Pages 184 203

है इसके बाद अनुपातिक हो जाता है। इन चारों करों को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :—

आय	अनुपातिक		प्रगतिशील		प्रतिगामी		अधोगामी	
	दर	धनराशि	दर	धनराशि	दर	धनराशि	दर	धनराशि
३०,०००	५%	१५००	५%	१,५००	५%	१,५००	५%	१,५००
५०,०००	५%	२५००	७%	३,५००	४%	२,०००	६%	३,०००
१००,०००	५%	५०००	१०%	१०,०००	१½%	१,५००	६%	६,०००

अध्याय 6 / 7

करारोपण में न्याय की समस्या
(Problem of Justice in Taxation)

प्राक्कथन—

हमने पिछले अध्याय में करारोपण के सिद्धान्तों का अध्ययन किया था। समानता सिद्धान्त के अतिरिक्त बाकी जितने भी सिद्धान्तों की विवेचना की है, प्रबन्ध सम्बन्धी सिद्धान्त है। समानता का सिद्धान्त करारोपण का नैतिक सिद्धान्त है परन्तु कठिनाई यह है, कि इस सिद्धान्त को व्यवहार में किस प्रकार लागू किया जाये, अर्थात् कर प्रणाली को न्यायसंगत किस प्रकार बनाया जाय ? किसी भी कर प्रणाली को न्याय संगत होने के लिये यह आवश्यक है कि करारोपण का भार उन व्यक्तियों पर पड़े जो उसे सहन कर सके। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति पर कर उसकी आर्थिक दशा के अनुसार लगाया जाय। परन्तु आर्थिक दशा या कर दान योग्यता का क्या माप होना चाहिये ? इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गए हैं। निम्न में हम कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

वित्तीय सिद्धान्त (Financial Theory)—प्राचीन लेखकों और राजस्व सम्बन्धी विशेषज्ञों का मत था कि करारोपण का परम कर्तव्य आय प्राप्त करना होना चाहिये। इस सिद्धान्त के प्रतिपादिकों का कहना था कि कर इस प्रकार लगाया जाये कि जनता उसका विरोध कम से कम करे और राजकीय खजाने को अधिक से अधिक आय प्राप्त हो। फ्रान्सीसी वित्तमन्त्री कालबर्ट के अनुसार "बत्तख को इस प्रकार नोचो कि वह कम से कम विरोध के साथ चिल्लाये।" इन लोगों के अनुसार करारोपण का उद्देश्य यह देखना नहीं है कि कर भार का वितरण किस प्रकार हो रहा है, वरन् केवल अधिक से अधिक आय प्राप्त करना है। परन्तु यह उद्देश्य या तो केवल ऐकिक शासन में या विदेशी शासन में पूरा होना सम्भव है। प्रजातान्त्रिक शासन में सरकार का कभी भी यह दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से तो समाज का बहुत अहित होगा, क्योंकि कर भार मुख्यतः उन निर्धन और निःसहाय व्यक्तियों पर पड़ेगा, जिनमें विरोध करने की शक्ति बहुत कम होती है। आधुनिक सरकारें प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित हैं और वह न्याय तथा समाज कल्याण की ओर पूरा ध्यान देती है और करारोपण में वित्तीय

सिद्धान्त का पालन नहीं करती। यही कारण है कि आज इस सिद्धान्त का कोई भी व्यावहारिक महत्व नहीं है।

लाभ सिद्धान्त (Benefit Theory)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों के अनुसार कर की दर एवं राशि उस लाभ के अनुसार होनी चाहिये, जो कि प्रत्येक नागरिक को राज्य की सरक्षता में प्राप्त होता है। राजकीय सेवाओं से जिस व्यक्ति को जितना लाभ प्राप्त होता है उसको उसी अनुपात में राज्य के खर्चों को पूरा करने के लिए कर देना चाहिए। राज्य की कुछ सेवाएँ ऐसी होती हैं जिनसे, कुछ व्यक्तियों को विशेष लाभ प्राप्त होते हैं और कुछ सेवाओं से सम्पूर्ण समाज को समान लाभ प्राप्त होता है। कॉन (Cohn) ने इस मोटे सिद्धान्त के आधार पर राजकीय व्यय का वर्गीकरण किया है। परन्तु इस सिद्धान्त में भी अनेक दोष हैं। प्रथम यह कैसे निश्चित किया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति को कितना लाभ प्राप्त हुआ है? विशेष रूप से उन सेवाओं के सम्बन्ध में जहाँ समाज को सामान्य लाभ प्राप्त होता है। क्योंकि समाज को प्राप्त होने वाले कुल लाभ और किसी व्यक्ति विशेष के लाभ में क्या अनुपात है यह निश्चित किया ही नहीं जा सकता। सेलिगमैन के अनुसार सरकार कोई भी काम किसी व्यक्ति विशेष के लाभ के लिए नहीं करती वरन् व्यक्ति को समाज का एक भाग लेकर करती है। 'इस प्रकार विशेष लाभ सामान्य लाभ में विलीन हो जाता है।'[1] इसके अतिरिक्त राज्य की कुछ सेवायें ऐसी होती हैं जिनसे प्राप्त लाभों का आसानी से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जैसे सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी आर्थिक सहायता। परन्तु इन सेवाओं का मूल्य लेना एक मजाक होगा।

सेवा की लागत का सिद्धान्त (Cost of Service Theory)—उपर्युक्त सिद्धान्तों की भांति यह सिद्धान्त भी संकीर्ण व्यक्तिवादी विचारों पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य जो सेवायें नागरिकों के लिये प्रदान करता है उनकी वास्तविक लागत के अनुसार कर की दर निश्चित होनी चाहिए। ऊपर से देखने में तो यह सिद्धान्त बड़ा उचित जान पड़ता है, परन्तु इसका व्यावहारिक महत्व कुछ भी नहीं है। यह अवश्य है कि जब राज्य कुछ विशेष सेवायें करता है तब इस सिद्धान्त का उपयोग किया जा सकता है जैसे डाक महसूल निश्चित करने में, रेल का किराया निश्चित करने में, इस सिद्धान्त का पालन किया जा सकता है परन्तु अधिकांश करों में इस सिद्धान्त से काम नहीं लिया जा सकता है।[2] यह भी लाभ सिद्धान्त ही की भाँति है। जब सभी नागरिकों के लिए समान रूप से एक साथ सेवा की जाती है तब यह निश्चित करना कठिन होता है कि किस व्यक्ति को कितनी सेवा प्राप्त हुई और उसकी लागत कितनी हुई। आजकल आधुनिक सरकारें अधिकतर ऐसी सेवायें प्रदान करती हैं जिनसे निर्धनों को अधिक लाभ होता है जैसे निःशुल्क दूध वितरण, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा इत्यादि। यदि यह सिद्धान्त लागू किया जाये

1 *Essays in Taxation* Page 337
2 *Cf* Taylor P E *The Economics of Public Finance* P 285

तो इन व्यक्तियों को न केवल प्राप्त की हुई वस्तु का मूल्य ही चुकाना होगा, या प्राप्त की हुई धनराशि चुकानी होगी, वरन् उनकी व्यवस्था करने में जो व्यय हुआ है उसका भी भुगतान करना होगा।[3] इस प्रकार लाभ सिद्धान्त की भांति यह सिद्धान्त भी अव्यवहारिक है।

डिमार्को का आय सिद्धान्त[4] (De Marco's Income Theory)—डिमार्को ने अपना आय सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जो लाभ सिद्धान्त का ही एक दूसरा रूप है। यह तो पिछले अध्यायों में बता ही चुके हैं कि मार्को के अनुसार नागरिकों और राज्य में एक विनिमय सम्बन्ध रहता है—राज्य सामान्य सार्वजनिक सेवाओं का उत्पादक है और नागरिक इन सेवाओं के क्रेता एवं उपभोक्ता हैं। नागरिक इन सेवाओं का उपभोग अपनी-अपनी आय के अनुपात में करते हैं। उसके अनुसार राज्य की सेवाओं से निजी व्यक्तियों द्वारा वस्तुओं के उत्पादन में सहायता मिलती है। साथ ही ये सेवायें इन वस्तुओं के उपभोग को सम्भव करने के लिए भी आवश्यक होती है। ये सेवायें सभी व्यक्तियों को लाभ पहुँचाती हैं—प्रत्यक्ष रूप से, वस्तुओं की उत्पत्ति में सहायता करके और अप्रत्यक्ष रूप से, राज्य सहायता द्वारा उत्पादित वस्तुओं के उपभोग द्वारा। इसलिए जितनी अधिक आय किसी व्यक्ति की है उतना ही अधिक कर उसे देना चाहिए, क्योंकि उतनी ही अधिक राजकीय सेवायें उसने प्राप्त की हैं। एक तो आय के उत्पादन में राज्य ने उसे सहायता दी है और दूसरे उस आय के उपभोग में उसे राज्य सहायता प्रदान करेगा। इस प्रकार करारोपण प्रत्येक व्यक्ति की आय के अनुपात में होना चाहिए।

यदि देखा जाय तो डिमार्को का स्पष्ट संकेत प्रगतिशील आय कर की ओर है, परन्तु उनके सिद्धान्त को इसी कारण स्वीकार नहीं किया गया है,[5] क्योंकि उन्होंने बहुत अधिक बल इस बात पर दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य की सेवायें अपनी आय के अनुपात में प्राप्त करता है। उनके सिद्धान्त का यही पहलू उचित नहीं है, और इसी कारण यह करारोपण का आधार नहीं बनाया जा सकता। कल्याणकारी राज्य का विचार तो इसके बिलकुल ही विपरीत है। क्योंकि इन्होंने भी राज्य द्वारा प्रस्तुत की गई सेवाओं के लाभ की चर्चा की है, इसलिए, यह सिद्धान्त भी लाभ सिद्धान्त की ही भाँति है।

कर दान योग्यता सिद्धान्त (Ability to Pay Theory)—इस सिद्धान्त की चर्चा हम एडम स्मिथ के करारोपण सम्बन्धी नियमों का वर्णन करते समय कर चुके हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार कर भार, व्यक्तियों पर उनकी करदान योग्यता के अनुसार होना चाहिए। यह सिद्धान्त बहुत ही उचित और न्यायसंगत है परन्तु इसको व्यवहार में लाना इतना सरल नहीं है। पहली कठिनाई तो यह है कि करदान योग्यता कैसे तथा किस आधार पर निश्चित की जाए और दूसरी कठिनाई यह है

3 Cf. Dalton, *Public Finance* Page 62.
4 Cf. *First Principles of Public Finance* Pp. 114-117.
5. Cf Saxena and Mathur *Public Economics* Vol. II P. 61.

कि करदान योग्यता किस प्रकार मापी जाए ? व्यक्ति विशेष की करदान योग्यता जानने के लिए उचित आधार की खोज करने के लिए हमें दो दृष्टिकोणों से समस्या का अध्ययन करना होगा। एक तो भावात्मक (Subjectively) और दूसरा वस्तुगत (Objectively)। प्रथम दृष्टिकोण में हम करदाता विशेष का निजी दृष्टिकोण लेंगे और दूसरे में बाह्य पदार्थों की दृष्टि से अध्ययन करेंगे।

भावात्मक दृष्टिकोण (Subjective Approach)—यदि हम करदाता की व्यक्तिगत दृष्टि से कर भुगतान करने की समस्या पर विचार करें तो हमको कर भुगतान करने में छुपे हुए त्याग और बलिदान को दृष्टि में रखना होगा। अर्थात् करदाता पर कितना भार पड़ता है ? यह ज्ञात करना होगा। इस अध्ययन में हमें करदाता की मानसिक स्थिति का अध्ययन करना होगा। स्पष्ट ही है कि यह विधि कितनी कठिन है क्योंकि करदाता कर का कितना भार महसूस करता है, यह एक मानसिक क्रिया है। यह जानना अत्यन्त कठिन है—कि किसी व्यक्ति के मस्तिष्क में क्या विचार उठ रहे हैं या कितना कष्ट हो रहा है या कितनी प्रसन्नता हो रही है ? ये सभी मानसिक दशायें हैं और इनका निश्चित माप नहीं हो सकता। यह भी सम्भव नहीं कि विभिन्न व्यक्तियों की मानसिक दशाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके। इस सिद्धान्त को कार्यरूप प्रदान करने के लिए यह मान लिया जाता है कि एक ही वर्ग में रखे जाने वाले व्यक्तियों पर कर का लगभग समान प्रभाव पड़ता है। प्रो० पीगू ने कहा है कि "जीवन के साधारण कार्यों में, जबकि यह मानते हुए कि व्यक्तियों के स्वभाव और प्रवृत्ति में भिन्नता होती है, जातीय भिन्नतायें, आदतों, प्रशिक्षण आदि की भिन्नतायें होती हैं, हम सदैव ही यह मान लेते हैं कि प्रत्यक्षरूप से एक से ही व्यक्तियों के समूह पर समान परिस्थितियों का लगभग समान मानसिक प्रभाव पड़ेगा।"[6] यह ध्यान रहे कि यदि करारोपण पूर्णत इसी सिद्धान्त पर आधारित होगा तो वह करों के अच्छे और बुरे परिणामों की ओर कोई भी ध्यान नहीं देगा। जैसे, मादक पेयों पर कर से व्यक्तियों को अधिक त्याग करना होगा, इसलिए त्याग की दृष्टि से तो यह कर बुरा है, परन्तु जहाँ तक ये इन वस्तुओं के उपभोग को निरुत्साहित करेगा, यह अच्छा है। वास्तव में ऐसे करों के सम्बन्ध में, करों के अच्छे परिणामों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, अपेक्षाकृत त्याग के। प्रो० पीगू का भी यही विचार है। भावात्मक दृष्टिकोण से करारोपण के विभिन्न आधार बताये गए हैं—समान त्याग, समानुपातिक त्याग और न्यूनतम त्याग।

समान त्याग का सिद्धान्त (Principle of Equal Sacrifice)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए त्याग की मात्रा समान होनी चाहिए तभी करारोपण न्यायसंगत हो सकता है। मिल ने करारोपण में समानता का अर्थ बताते हुए लिखा है कि "राजनीति के एक सिद्धान्त के रूप में करारोपण की समानता का अर्थ है कि सरकार के व्यय में प्रत्येक व्यक्ति का भाग इस प्रकार निर्धारित करना ताकि उसे अपने भाग से, न तो अधिक और न कम ही असुविधायें अनुभव हों, अपेक्षाकृत

6. *A Study in Public Finance*, Page 40.

उसके जो कि हर व्यक्ति को अपने-अपने भाग से अनुभव होगी।"[7] सक्षेप में इसका अभिप्राय समानुपातिक करारोपण से है। इसकी अच्छाइयो और बुराइयो का अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर ही चुके हैं।

समानुपातिक त्याग का सिद्धान्त (Principle of Proportional Sacrifice)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी आर्थिक शक्ति के अनुपात में कर देना चाहिए। जिन व्यक्तियो मे अधिक त्याग करने की शक्ति है वे अधिक धनराशि कर के रूप मे दें, जिनमे तुलनात्मक कम शक्ति है वे कम धनराशि दें और जिनमे बिल्कुल नही है वे कर मुक्त रहे। इस सिद्धान्त के अनुसार करारोपण न्यायसगत होने के लिए प्रगतिशील होना चाहिए। इसके लाभ तथा हानियो की भी विवेचना हम पिछले अध्याय म कर चुके हैं।

न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त (Principle of Minimum Sacrifice)—यह सिद्धान्त कर भार की समस्या का अध्ययन व्यक्तियों को सामूहिक रूप में लेकर करता है न कि व्यक्तिगत रूप म। इसके अनुसार सम्पूर्ण समाज पर कम से कम कर भार होना चाहिए। इसके मुख्य प्रतिपादक ऐजवर्थ (Edgeworth) और कार्वर (Carver) थे। ऐजवर्थ इस सिद्धान्त को करारोपण का सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त मानते थे। यह अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अनुसार प्रत्येक करदाता का सीमान्त त्याग बराबर होना चाहिए अर्थात् कर इस प्रकार लगाया जाये कि प्रत्येक करदाता को मुद्रा की अन्तिम इकाई देने से समान त्याग का अनुभव हो। यह सिद्धान्त सम-सीमान्त त्याग सिद्धान्त भी कहलाता है। यह सिद्धान्त सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है, जिसके अनुसार आय बढने के साथ उसकी उपयोगिता कम होती जाती है। इस कारण यदि बड़ी-बडी आय वाले व्यक्तियो की अन्तिम इकाईयाँ कर के रूप मे ले ली जाएँ तो करदाता को कोई विशेष त्याग नही करना पड़ेगा। साथ ही न्यून आय वालो को कर मुक्त कर दिया जाय। सरकार को, इस प्रकार, हर व्यक्ति पर कर नही लगाना चाहिये, केवल बडी बडी आयो पर उस समय तक कर लगाते जाना चाहिए, जब तक कि सरकार की आवश्यकता पूरी न हो जाये। यह सच ही है कि अनिवार्य आवश्यकताओ का धनी और निर्धन व्यक्तियो के लिए समान महत्त्व होता है और दोनो ही वर्ग उनकी पूर्ति पहले करते हैं, परन्तु क्या यह सच नही कि एक निश्चित सीमा के बाद धनी व्यक्तियो की आय का अधिकांश भाग विलास सम्बन्धी वस्तुओं पर खर्च होता है ? इस कारण बढती हुई आय के साथ साथ अधिक कर देने म करदाता को कम त्याग करना पडता है। अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ऊची आयो पर कर लगा कर समान स्तर पर ले आया जाये और इस प्रकार प्राप्त धन को निर्धन व्यक्तियो की आय को ऊपर उठाने के लिए खर्च किया जाय ताकि समाज म सब व्यक्तियो की आय लगभग समान हो जाये। परन्तु इस प्रकार की विधि को व्यवहार में लाना सरल नहीं है। पीगू भी इस विचार से सहमत है, यद्यपि वह इस

7 *Principles of Political Economy*, Book V, Page 112

को करारोपण का अन्तिम सिद्धान्त मानते हैं।

यह ध्यान रहे कि त्याग सिद्धान्त में केवल वर्तमान त्यागों की ओर ही ध्यान दिया गया है। इसके भावी परिणामों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है। ये सिद्धान्त तीव्र प्रगतिशील करारोपण को महत्त्व प्रदान करते हैं, परन्तु इस प्रकार के करारोपण से बचत निरुत्साहित होती है। पूजी का एकत्रीकरण भी कम होगा और अन्त में देश में उत्पादन और रोजगार का स्तर भी अपेक्षाकृत गिर जायेगा। परिणामस्वरूप धनी व्यक्तियों को और भी अधिक त्याग करना पड़ेगा। केवल यही नहीं बेरोजगारी की स्थिति में निर्धन व्यक्तियों के त्याग की मात्रा भी बढ़ेगी। अत कुल त्याग की मात्रा भविष्य में वर्तमान की अपेक्षा अधिक हो जायगी और समाज का कल्याण भी अधिकतम होने के स्थान पर न्यूनतम हो जाएगा। सरकार का उद्देश्य ही इस प्रकार पराजित हो जाएगा। परन्तु यह सब विचार करने से पहले यह कठिनाई भी दूर करनी होगी कि इन त्यागों का माप कैसे किया जाए? भावात्मक दृष्टि से तो यह कठिनाई दूर नहीं होती इसलिए अर्थशास्त्रियों ने वस्तुगत दृष्टिकोण को अधिक उपयुक्त बताया है।

वस्तुगत दृष्टिकोण (Objective approach)—अभी तक हमने करदाता के भाव एवं भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए कर भार के उचित बटवारे की ओर ध्यान दिया था, परन्तु हम को अनेक कठिनाइयों के कारण वह दृष्टिकोण व्यवहारिक नहीं लगा। कुछ अर्थशास्त्रियों ने, विशेषकर अमेरिका में, करदान योग्यता का उचित आधार निश्चय करने के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अपनाया है। इस दृष्टिकोण से अध्ययन करने में वे मनुष्य की भावनाओं एवं त्याग की ओर ध्यान नहीं देते वरन् मनुष्य की करदान शक्ति उसकी बाह्य बातों से पता लगाते हैं। इन्होंने करदान योग्यता के स्थान पर करदान सामर्थ्य (faculty) शब्दों का प्रयोग किया है। इन लेखकों के अनुसार मनुष्य की करदान सामर्थ्य तीन बातों से जानी जा सकती है—

(अ) मनुष्य का उपभोग स्तर (ब) संपत्ति और (स) आय।

(अ) कुछ लेखकों के अनुसार उपभोग स्तर या व्यय को कर दान सामर्थ्य का अच्छा प्रमाण विचार किया गया है। इन लोगों का मत है कि जिस व्यक्ति का उपभोग स्तर ऊँचा है अर्थात् जो अधिक व्यय करे उसको अधिक कर देना चाहिये। स्पष्ट ही है कि उपभोग को आधार मान कर हम करारोपण को न्यायसंगत नहीं बना सकते। एक व्यक्ति जो बिल्कुल अकेला है दो सौ रुपये महावार कमा रहा है, परन्तु उसका उपभोग पर व्यय केवल सौ रुपया है। दूसरा व्यक्ति भी दो सौ रुपये कमा रहा है, उसे कुटुम्ब के छ सदस्यों का पट पालना पड़ता है और उसका महावारी व्यय दो सौ रुपये से अधिक है। सोचिये किस की करदान सामर्थ्य अधिक है—पहले की या दूसरे की? यदि उपभोग को स्तर मानते हैं तब तो दूसरे व्यक्ति को अधिक कर देना चाहिये, परन्तु वास्तव में पहले व्यक्ति को अधिक कर देना चाहिये। उपभोग को आधार मानने में यही त्रुटियाँ होंगी। वैसे भी उपभोग को आधार

मानने के बहुत बुरे परिणाम होंगे। उपभोग अनुसार कर लगाने से व्यक्तियों को अपना उपभोग कम करना पड़ेगा, जिसका प्रभाव यह होगा कि व्यक्तियों की कार्य-क्षमता कम होने लगेगी और देश के उत्पादन पर अन्त में बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसे न्यायसंगत नहीं कह सकते।

(ब) सम्पत्ति को, कुछ लेखकों ने कर दान सामर्थ्य का अधिक अच्छा आधार बताया है। सम्पत्ति के आधार पर किसी व्यक्ति की कर-दान सामर्थ्य तुरन्त ही पता लग सकती है। जिस व्यक्ति के पास अधिक सम्पत्ति है उसमें अधिक कर-दान सामर्थ्य है। परन्तु वास्तव में सम्पत्ति को भी उचित आधार नहीं मान सकते क्योंकि, समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी आय बहुत अधिक होते हुये भी वे अपने पास नकदी रखना अधिक पसंद करते हैं अपेक्षाकृत सम्पत्ति के, या जिन्हें सम्पत्ति एकत्रित करने की अपेक्षा ऊँचा जीवन स्तर रखना अधिक रुचिकर होता है। यदि सम्पत्ति के अनुसार कर लगाते हैं तब ऐसे व्यक्तियों पर कोई भी कर नहीं लगाया जा सकता। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य भी आँकना सम्भव नहीं है। फिर यह भी सम्भव है कि सम्पत्ति के आधार पर व्यक्ति की कर-दान सामर्थ्य का अनुचित अनुमान भी लग सकता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति के १० मकान हैं, जिनका माहवारी किराया १०० रुपये है, दूसरे व्यक्ति के पास केवल एक मकान है जिसका किराया १५० रुपये है। सम्पत्ति के आधार पर पहले व्यक्ति की अधिक कर-दान सामर्थ्य है और दूसरे की कम जब कि वास्तव में दूसरे व्यक्ति को अधिक कर देना चाहिये क्योंकि उसको सम्पत्ति से अधिक आय प्राप्त होती है। अन्त में इस प्रकार के आधार का एक परिणाम यह भी हो सकता है कि एक ओर तो करारोपण अन्यायपूर्ण हो जाये और दूसरी ओर व्यक्ति देश में सम्पत्ति एकत्रित करने के लिये हतोत्साहित हो। इस कारण यह आधार भी न्यायसंगत नहीं है।

(स) अन्त में आय को कर-दान सामर्थ्य का उचित आधार माना गया। आजकल करारोपण का यही आधार है। ऊँची आय वाले व्यक्तियों पर अधिक कर लगाया जाता है और नीची आय वालों पर या तो कर लगता ही नहीं और यदि कर लगता भी है तो बहुत कम। परन्तु मौद्रिक आय (money income) भी कर-दान सामर्थ्य का सन्तोषप्रद प्रमाण नहीं कहा जा सकता। दो व्यक्तियों की मौद्रिक आय बराबर होते हुये भी, कर-दान सामर्थ्य अलग अलग हो सकती है। एक के दायित्व दूसरे की अपेक्षा अधिक हो सकते हैं। एक को छोटे कुटुम्ब का जब कि दूसरे को एक बड़े कुटुम्ब का भार सहन करना पड़ रहा हो। अत क्या इन दोनों व्यक्तियों पर एक ही दर से कर लगाना ठीक होगा? कदापि भी नहीं। इसी प्रकार एक व्यक्ति को आय उसको उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति से प्राप्त हो रही हो, जब कि दूसरे व्यक्ति को अपने प्रयत्नों से आय प्राप्त करनी पड़ रही हो। दोनों व्यक्तियों पर भी कर की दर समान नहीं हो सकती है। इन्हीं कठिनाइयों को देखते हुये लार्ड स्टाम्प ने बताया है कि सामर्थ्य या योग्यता का उचित प्रमाण जानने के लिये व्यक्तियों की मौद्रिक आयों के अतिरिक्त हमें निम्न बातों पर भी विचार करना चाहिये —

(अ) आयकर उसी समय लगाया जाये जबकि आयकर्ता को आय प्राप्त हो रही है। यदि ऐसा नहीं होता तो करदाता को बहुत कष्ट होगा। सब ही देशों में साधारणत आयकर के सम्बन्ध में यह बात प्रचलित है कि पिछले वर्ष की आय पर अगले वर्ष में कर लिया जाता है। अब यदि इसी वर्ष करदाता को घाटा हो गया है तो उसकी भुगतान करने की शक्ति कम हो जाने से, पिछले वर्ष का भुगतान करने में बहुत कठिनाई होगी। कभी कभी तो यह भी देखा गया है कि कर की राशि लाखों करोड़ों की संख्या में होने के कारण, पिछले कर का भुगतान करने के लिये व्यक्तियों का दिवाला तक निकल जाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि कर आय प्राप्ति के समय ही वसूल कर लिया जाये।

(ब) आय का वास्तविक अनुमान लगाने के लिये यह आवश्यक है कि स्थायी पूंजी में जो घिसावट उस आय के प्राप्त करने के सम्बन्ध में होती है, उसकी ओर भी उचित ध्यान दिया जाय। अर्थात् कुल आय में से इस घिसावट के मूल्य को कम कर देना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो आय का अनुमान सर्वथा अवास्तविक होगा। साथ ही भविष्य में पूंजी के निर्माण पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि यदि स्थायी पूजी की टूट फूट की व्यवस्था उत्पादन के साथ ही साथ न होती जायेगी तब भविष्य में मशीनों को खरीदने के लिए नई पूंजी का विनियोग करना होगा। अन्त में इसका प्रभाव राष्ट्रीय आय पर भी पड़ेगा।

(स) आयकर निश्चित करते समय इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि करदाता को आय अपने निजी प्रयत्नों द्वारा प्राप्त हुई है या उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति में प्राप्त हुई है। यदि आय निजी परिश्रम से प्राप्त हुई है तो उस पर कर की दर कम होनी चाहिए और यदि आय सम्पत्ति से प्राप्त हुई है तो उस पर ऊँची दर से कर लगाना चाहिये।

(द) आयकर की दर निश्चित करते समय यह भी देखना आवश्यक है कि व्यक्ति के कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या कितनी है। यदि किसी व्यक्ति के कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या, दूसरे समान आय वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक है तो उस पर दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा ऊँची दर से कर लगाना चाहिये।

(य) अन्त में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आय में कुछ अतिरिक्त आय शामिल है या नहीं। यदि है तो अतिरिक्त आय पर ऊँची दर से कर लगाना चाहिए और शेष आय पर नीची दर पर कर लगाना चाहिये।

आधुनिक आयकर प्रणाली में इन सब बातों की ओर साधारणत ध्यान दिया जाता है।

कर-दान सामर्थ्य सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह करारोपण और कर-दान योग्यता के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए कोई उचित विधि नहीं प्रदान करता। इसी प्रकार न्यूनतम त्याग का सिद्धान्त भी इस दिशा में अपूर्ण है। दोनों ही सिद्धान्तों में यह कमी है परन्तु उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि ये दोनों सिद्धान्त एक बात की ओर अवश्य ही संकेत करते हैं—वह यह कि कर प्रणाली

प्रगतिशील होनी चाहिये अर्थात् कर भुगतान करने की शक्ति के बढने के साथ साथ कर की दर भी बढती जाये। आधुनिक कर प्रणालियो में सभी बातो की ओर ध्यान एक साथ दिया जाता है, अर्थात्, सम्पत्ति, व्यय और आय सभी पर कर लगाये जा रहे है। परन्तु सामान्य रूप से दो बातो की ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है। प्रथम, किसी भी एक कर के भार पर अकेले ही विचार नही करना चाहिए। समुचित कर प्रणाली की ओर ध्यान देना चाहिए क्योंकि कोई भी कर अपने व्यक्तिगत रूप में कभी भी उचित नही होता। एक कर की बुराई दूसरे कर से दूर होती है। अलग अलग करो मे असमानता हो सकती है किन्तु सम्पूर्ण कर प्रणाली में औचित्य हो सकता है। अत किसी नये कर को लगाते समय केवल उस कर के भार के वितरण की ओर ध्यान नही देना चाहिए, वरन् यह देखना चाहिए कि नये कर और पहले से लगे हुये करो के भार का एक साथ वितरण किस प्रकार किया जाये? करारोपण के भार का अनुमान उस समय तक ठीक प्रकार से नही लगाया जा सकता, जब तक कि राजकीय व्यय के परिणामो का अध्ययन न किया जाये। अतः दूसरी ध्यान देने वाली बात यह है कि करारोपण के प्रभावो का उचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये, राजकीय व्यय के परिणामो का भी अध्ययन करना चाहिए। कर प्रणाली की असमानताओं को राजकीय व्यय द्वारा दूर किया जा सकता है। सबसे अधिक कर भार सहन करने वाले व्यक्तियों को राजकीय व्यय द्वारा अनेक लाभ प्रदान करके कर भार को न्यूनतम किया जा सकता है। इस स्थिति मे लाभ सिद्धान्त और कर-दान योग्यता सिद्धान्त को एक साथ लागू किया जा सकता है। जहाँ तक व्यवहार में करारोपण नीतियों का सम्बन्ध है, वे किसी एक कर सिद्धान्त के आधार पर निर्मित नही की जाती। अलग अलग समय तथा स्थिति मे सरकारो को अलग अलग उद्देश्यो से काम करना पडता है। कही पर लाभ और करदान योग्यता को एक साथ मिला दिया जाता है। कही पर केवल आय प्राप्त करने के उद्देश्य को ही महत्त्व प्रदान किया जाता है और कर-दान योग्यता सिद्धान्त को पूर्णरूप से मुक्त कर दिया जाता है। अत व्यावहारिकता की दृष्टि से सभी सिद्धान्त उचित हैं और सभी अनुचित। हाँ एक बात और है वह यह कि किसी कर प्रणाली की न्यायशीलता केवल इसी बात पर आधारित नही होती कि कर भार का वितरण कैसा है वरन् इस बात पर भी निर्भर करती है कि करारोपण का उत्पत्ति, वितरण और देश में रोजगार के स्तर आदि पर कैसे प्रभाव पड़ रहे हैं।

अध्याय ८

करारोपण के आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Taxation)

प्राक्कथन—

डाल्टन के शब्दों में, "आर्थिक दृष्टिकोण से सब से उत्तम कर प्रणाली वही है जिसके सब से अच्छे या सब से कम बुरे आर्थिक प्रभाव होते हैं।"[1] करारोपण अच्छा है, या बुरा इसका निर्णय करने के लिये हम करों के आर्थिक परिणामों का अध्ययन करते हैं। यद्यपि किसी भी कर प्रणाली को न्यायसंगत होने के लिये यह आवश्यक है कि कर भार का वितरण प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता के अनुसार हो परन्तु अकेले कर भार के समान वितरण पर ही कर प्रणाली की न्यायशीलता निर्भर नहीं करती वरन् करारोपण के भावी तथा वर्तमान आर्थिक प्रभावों पर भी। इन प्रभावों का अध्ययन करना इसलिये आवश्यक है कि, व्यवहार में सरकार किसी भी एक सिद्धान्त का निश्चित रूप से पालन नहीं करती, बल्कि अधिकतर अपनी आवश्यकताओं के अनुसार कर नीति निर्धारित करती है। अतः करारोपण के प्रभावों में केवल व्यक्तिगत करों के प्रभाव ही सम्मिलित नहीं होते बल्कि कर सम्बन्धी नीतियों के प्रभाव भी सम्मिलित होते हैं। हमने पिछले अध्यायों में विभिन्न प्रकार के करों और करारोपण के न्यायशीलता सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन किया। इन विवेचनाओं में हमने समय-समय पर करों के आर्थिक प्रभावों की बात भी की है। करों के प्रभाव देश के उत्पादन, धन के वितरण तथा आर्थिक क्रियाओं की दिशाओं पर पड़ते हैं। करों की दरों तथा भावी करों के लगने की आशा से उपर्युक्त सभी आर्थिक क्रियाओं की दिशाओं में परिवर्तन होते रहते हैं। उत्पादन में कमी होती है और वृद्धि भी, धन का वितरण समान भी होता है और असमान भी, मूल्य स्तर ऊपर भी उठता है और नीचे भी गिरता है, रोजगार और उपभोग, बचतें तथा पूंजी में भी वृद्धि होती है और कमी भी। अतः संक्षेप में करारोपण के प्रभाव बुरे भी होते हैं और अच्छे भी। यदि अच्छे प्रभाव अधिक से अधिक हैं और बुरे प्रभाव कम से कम तो कर प्रणाली सब से अच्छी समझी जानी चाहिये—यही तो डाल्टन ने भी कहा है। करारोपण किसी भी उद्देश्य से क्यों न किया जाये इस प्रकार के प्रभाव तो अनिवार्य

1. Public Finance, 19_2, Page 102

ही है। परन्तु जैसा कि हम पिछले अध्याय में ही कह चुके हैं इस अध्ययन का केवल सैद्धान्तिक महत्व ही है। क्योंकि सभी व्यक्तिगत करों के प्रभाव एक दूसरे के प्रभावों पर आधारित रहते हैं और आपस में मिले होते हैं, और करारोपण के बुरे प्रभावों को राजकीय व्यय द्वारा कम किया जा सकता है, इसलिये इस प्रकार के अध्ययन से व्यवहार में लाभ तो प्राप्त किया जा सकता है परन्तु वास्तविक प्रभाव किन दिशाओं में होते हैं, इनका अनुमान लगाना कोई सरल काम नहीं। इसका सबसे मुख्य कारण यह है कि मनुष्य की मनोवृत्तियाँ समय-समय पर बदलती रहती हैं और मनोवृत्तियों के परिवर्तनों के साथ साथ किसी भी नीति में अच्छाई और बुराई उत्पन्न होना स्वाभाविक है जो कर पिछली शताब्दी में बुरा था वही कर आज अच्छा है। अतः हम यहाँ पर केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही कर भार के आर्थिक प्रभावों का अध्ययन करेंगे।

डाल्टन के अनुसार इन प्रभावों का निम्न तीन शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है[2] —(१) उत्पादन पर प्रभाव, (२) वितरण पर प्रभाव, और (३) अन्य प्रभाव।

करारोपण के उत्पादन पर प्रभाव—

डाल्टन ने उत्पादन पर पड़ने वाले करारोपण के प्रभावों को तीन भागों में विभाजित किया है —

(१) व्यक्तियों की काम करने तथा बचत करने की योग्यता पर प्रभाव;

(२) व्यक्तियों की काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव, और

(३) विभिन्न उपयोगों और स्थानों में आर्थिक साधनों के वितरण पर प्रभाव।

(१) व्यक्तियों की काम करने तथा बचत करने की योग्यता पर प्रभाव— साधारण रूप में करारोपण से व्यक्तियों के काम करने तथा बचत करने की योग्यता कम हो जाती है। यह दो प्रकार से होता है। एक तो कर लगने से व्यक्ति की आय का एक भाग कर के रूप में निकल जाता है। आय में कमी हो जाने से, व्यक्तियों की क्रय शक्ति कम हो जाती है। वे अपने उपभोग को कम करते हैं। पहले की अपेक्षा, अनिवार्य आवश्यकताओं, आराम की वस्तुओं और विलासयुक्त वस्तुओं पर कम व्यय करने लगते हैं। परिणामस्वरूप उनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि प्रतिष्ठा सम्बन्धी आवश्यक वस्तुओं पर कर लगाया जाये तो भी यही प्रभाव होगा क्योंकि इन वस्तुओं, जैसे, तम्बाकू, पान, सिगरेट के उपभोग के लिये तो मनुष्य अपनी कार्यक्षमता सम्बन्धी वस्तुओं तक को छोड़ देता है। निर्धन व्यक्तियों पर तो इसका बहुत ही अधिक बुरा प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार करारोपण विशेष कर, निर्धन वर्गों की कार्यक्षमता को गिराकर उनके कार्य करने की योग्यता पर बुरा प्रभाव डालेगा। अतः निर्धन व्यक्तियों पर कम से कम कर

2. Ibid

भार होना चाहिए और उन वस्तुओं पर जिनका उपभोग निर्धनों द्वारा किया जाता है कम से कम कर लगाना चाहिये ताकि उनका उपभोग का स्तर कम न हो और उनकी कार्यक्षमता स्वास्थ्य और काम करने की योग्यता पर बुरा प्रभाव न पड़े। दूसरे व्यक्तियों की बचत करने की योग्यता पर भी करारोपण के प्रभाव पड़ते हैं। करारोपण से वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। व्यक्ति को अपने उपभोग पर पहले की अपेक्षा अधिक खर्च करना पड़ता है परिणामस्वरूप उसकी बचत की मात्रा कम होने लगेगी। यद्यपि यह सच है कि करारोपण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर समान नहीं होगा। किसी का खर्च बहुत अधिक बढ़ेगा तो किसी का बहुत कम। निर्धन व्यक्तियों का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उनके पास तो करारोपण से पहले भी बचत करने की शक्ति नहीं थी। इस प्रकार करारोपण से धनी व्यक्तियों पर अधिक प्रभाव पड़ता। जितना अधिक धनी होगा उतनी ही अधिक उसकी बचत करने की योग्यता कम होगी।

(२) व्यक्तियों के काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव—किसी भी मनुष्य की इच्छा सम्बन्धी बातों का अध्ययन बड़ा ही कठिन होता है क्योंकि इच्छा एक मानसिक दशा है। यह तो अवश्य है कि करारोपण से व्यक्तियों की काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव तो पड़ता है परन्तु इन प्रभावों का निश्चित माप सम्भव नहीं है। साधारणतः यह अनुभव किया गया है कि कर की पूर्व आशा मात्र से ही व्यक्तियों की काम करने तथा बचाने की इच्छा कम होने लगती है। यह भी सम्भव है कि कर भुगतान करने की चिन्ता मनुष्य को अधिक बचत करने और कम विनियोग करने के लिये बाध्य करे क्योंकि उनको बचत के विनियोग करने से उतनी आय प्राप्त नहीं होगी जितनी कि पहले होती। व्यक्तियों के बचत करने तथा काम करने की इच्छा को किस सीमा तक करारोपण हतोत्साहित करेगा या प्रोत्साहित करेगा, यह एक तो करदाताओं की मानसिक प्रतिक्रियाओं और दूसरे लागू किये गये कर की प्रकृति पर निर्भर करेगा। हम इन दोनों बातों का अध्ययन क्रमानुसार निम्न पृष्ठों में करेंगे—

करारोपण से उत्पन्न होने वाली मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ (Psychological Reactions to Taxation)—करारोपण से किसी भी व्यक्ति के मन में क्या प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं बहुत सीमा तक उस व्यक्ति की आय की माँग की लोच पर निर्भर करती है अर्थात् वह अधिक आय प्राप्त करने के लिये कितने प्रयत्न करने को तैयार है? वह कितना इच्छुक है? यदि किसी व्यक्ति ने यह निश्चय कर लिया है कि उसे एक निश्चित आय प्राप्त करनी है चाहे उसे कितना भी परिश्रम क्यों न करना पड़े तब आय के लिये उसकी माँग बेलोच होगी। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति ने यह निश्चय कर लिया है कि उसे एक अच्छा जीवन स्तर जीवन भर बनाये रखना है और इसके लिये उसे ६०० रुपये माहवार की आवश्यकता होती है। अब यदि उसकी आय पर दस रुपये माहवार का कर लग जाता है तो वह अपने

जीवन स्तर को बनाये रखने के लिये अब ६१० रुपये कमाने का प्रबन्ध करेगा अर्थात् अधिक परिश्रम करेगा। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो वह अधिक बचत करेगा और उस बचत को विनियोग करेगा और इस प्रकार अपनी आय में वृद्धि करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति की भावी आय की माग बेलोच है, तब करारोपण से उसकी काम करने तथा बचाने की इच्छा कम नहीं होगी। दूसरी ओर यदि किसी व्यक्ति की आय की माग लोचदार है, अर्थात् वह इस बात के लिये इच्छुक नहीं है कि जो आय उसकी करारोपण से पूर्व थी वही रहे, या वह अपनी आय बढ़ाने के लिये अधिक परिश्रम नहीं करना चाहता, तो उसकी काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। वह यह जानते हुये भी कि कर लगने से उसकी वास्तविक आय में कमी हो गई है, परिश्रम नहीं करेगा और न अपनी आवश्यकताओं में और अधिक कमी कर के कुछ बचाने की ही चिन्ता करेगा, क्योंकि उसके मस्तिष्क में यह बात जम कर बैठ गई है कि इतनी मेहनत करके आय प्राप्त करने से भी कोई लाभ नहीं होगा।

प्रत्येक देश में ऐसे व्यक्तियों के समूह मिलते हैं। अधिकतर यह विश्वास है कि वह व्यक्ति अधिक संख्या में होते हैं जिनकी मांग आय के लिए लोचदार होती है। दूसरे शब्दों में सामान्य रूप से करारोपण से व्यक्तियों की कार्य करने की तथा बचाने की इच्छा कम ही हो जाती है। क्या वास्तव में यह बात सही है कि समाज में अधिकतर ऐसे ही व्यक्ति होते हैं जिनकी आय की माग लोचदार होती है? व्यवहारिक जीवन में तो यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि समाज में कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जिनको अधिक निर्भर कर्ताओं का पालन-पोषण करना पड़ता है, या जिनको भविष्य में एक निश्चित आय प्राप्त करने की आशा निरन्तर बनाते रहने के लिए बाध्य करती है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं जिसके लिए वे निरन्तर काम में लगे रहते हैं। कुछ को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक शान से रहने की जिज्ञासा होती है। कुछ प्रतिष्ठा एवं समाज में बड़े बनने के लालच से अधिकाधिक धन एकत्रित करना चाहते हैं—ऐसे व्यक्तियों पर करारोपण का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। अतः "आय-कर की दर की प्रत्येक वृद्धि से उन प्रयत्नों में वृद्धि हुई है, जो उन आयों को बढ़ाने में सफल हुए हैं, जिसमें से बढ़े हुए कर का भुगतान किया जाये।"[3] अतः समाज में अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनकी आय की माग बेलोच होती है। वे अधिक परिश्रम करके या बचत करके अपनी पुरानी आय और जीवन स्तर को बनाये रखना चाहते हैं। और यदि यह चक्र एक बार आरम्भ हो जाता है तो फिर चलता ही रहता है। जब एक व्यक्ति का एकत्रित धन, उस सीमा से अधिक हो जाता है जो उसके बच्चों की सुरक्षा के लिए आवश्यक है, तब और अधिक एकत्रीकरण का उद्देश्य ही बदल

3. Quoted from *The Six Hour Day and Other Essays* Page 248 by Dalton, Op. cit Page 108.

जाता है। तब वह काम करने तथा शक्ति प्राप्त करने के प्रेम से व्यवसायों में भाग लेना आरम्भ कर देता है। एकत्रित की हुई पूँजी तब इस खेल का एक औज़ार का रूप धारण कर लेती है। जब तक कि खिलाड़ी का इस औज़ार पर अधिकार है, और यदि वह खिलाड़ियों में से एक है तो वह एकत्रीकरण के लिए केवल इसी बात से हतोत्साहित नहीं होगा कि उसके मरने के बाद उत्तराधिकारियों की अपेक्षा राज्य को वह धन प्राप्त होगा।[4] अतः समाज के अधिकांश व्यक्तियों की काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर करारोपण का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। अन्त में कुछ लोग समाज में ऐसे भी होते हैं जिनकी आय की माँग की लोच इकाई पर होती है। दूसरे शब्दों में चाहे उनकी भावी आय की आशा कैसी ही हो, उनकी काम करने तथा बचत करने की इच्छा लगभग समान रहती है। इसके दो कारण होते हैं, प्रथम, कुछ व्यक्तियों की काम करने और बचाने की आदत ही हो जाती है। वे काम करते ही रहते हैं और बचाते ही रहते हैं चाहे कर लगें या न लगें, चाहे कर की दर नीची हो या ऊँची। उनके लिये करारोपण तनिक भी चिन्ता की वस्तु नहीं होती। वे कर कम रहने पर भी उतना ही कार्य करते हैं जितना कर लगने की अवस्था में। इसका दूसरा कारण यह है कि व्यक्ति म प्रकृति से प्रतियोगिता करने की आदत होती है। वह केवल उन्नति ही करना नहीं चाहता बल्कि दूसरों की अपेक्षा अधिक उन्नति करना चाहता है। वह हमेशा अपनी तुलना दूसरों से करता रहता है और दूसरों की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ प्राप्त करना चाहता है, अधिक महँगी वस्तुएँ खरीदना चाहता है। अतः वह केवल धनवान बनना ही नहीं चाहता बल्कि अपने समूह के अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक धन एकत्रित करना चाहता है। इसी कारण "धनी व्यक्तियों को अपनी निरपेक्ष (Absolute) आय की तुलना में सापेक्ष (Relative) आय की वृद्धि से सन्तुष्टि का अधिकांश भाग प्राप्त होता है। यदि सभी धनी व्यक्तियों की आयों को एक साथ कम कर दिया जाये तो सन्तुष्टि का यह भाग नष्ट नहीं होगा।"[5]

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध हो गया कि चाहे व्यक्तियों की आय के लिए माँग, बेलोच है या इकाई है उन पर करारोपण का बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। उनकी कार्य करने तथा बचाने की इच्छा पर कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं होगा। अपनी विवेचना को समाप्त करने से पहले एक बात बतानी और आवश्यक है। वह यह कि यदि कर की दर बहुत ऊँची है या करारोपण बहुत प्रगतिशील है तो मनुष्य की कार्य करने तथा बचाने की इच्छा अवश्य ही कम हो जायेगी, क्योंकि उनको पुरानी आय को बनाये रखने के लिए बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ेगा, जो उनके लिए रुचिकर नहीं होगा। अतः सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जब तक कर की दर अधिक प्रगतिशील नहीं होती, अधिकांश व्यक्तियों की काम करने और बचाने की शक्ति करारोपण से कम नहीं होती।

4 Cf Carver, *Essays in Social Justice*, Page 328.

5. Cf Pigou, *Economics of Welfare*, Page 90.

यह ध्यान रहे कि करारोपण किस सीमा तक करदाता की कार्य करने तथा बचाने की इच्छा को प्रभावित कर सकती है, इस बात पर निर्भर करता है कि करारोपण किन परिस्थितियों में किया गया है। यदि करारोपण समृद्धि काल में किया गया है तो व्यापारियों पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा यहां तक कि कर की ऊँची दर भी उनको काम करने से हतोत्साहित नहीं करेगी, क्योंकि उनको सदैव ही ऊँचा लाभ प्राप्त करने की आशा रहती है। इसके विपरीत मन्दीकाल में एक हल्का कर भी उनको उत्पादन करने तथा बचत करके विनियोग करने के लिए हतोत्साहित करेगा, क्योंकि उनको सदा हानि का ही भय रहता है। अन्त में यदि कोई कर केवल कुछ ही दिनों के लिए या थोड़े ही समय के लिए लगाया गया है तो भी व्यक्तियों की काम करने या बचाने की इच्छा कम नहीं होगी, क्योंकि वे जानते हैं कि कुछ समय बाद वह कर हट ही जायेगा।

करों की प्रकृति—अभी तक हमने करारोपण के प्रभावों को, मनुष्य के मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के दृष्टिकोण से देखा था, अब हम विशेष करों की प्रकृति के अनुसार करारोपण के प्रभावों का अध्ययन करेंगे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि क्योंकि सब करों की प्रकृति एक समान नहीं होती, इसीलिए सबके प्रभाव भी एकसे नहीं होते। कुछ कर व्यक्तियों के काम करने तथा बचाने की इच्छा को बहुत प्रभावित करते हैं, कुछ कम और कुछ बिल्कुल भी प्रभावित नहीं करते। हम इनका अलग-अलग वर्णन निम्न में करेंगे —

कुछ कर ऐसे होते हैं जो बचत करने तथा काम करने की इच्छा पर बिल्कुल भी प्रभाव नहीं डालते, जैसे, उन आयों पर कर जिनकी पहले से आशा न हो, या जो अकस्मात ही प्राप्त हो जायें (Windfalls), युद्ध काल में अतिरिक्त लाभ पर कर (Excess Profits Tax) या उत्तराधिकार में प्राप्त की हुई सम्पत्ति या भूमि के मूल्यों में वृद्धि होने पर कर इत्यादि। ये सब कर ऐसी वस्तुओं पर लगते हैं, जिनकी पहले से कोई भी आशा नहीं होती, इसीलिए कर-दाता को इन करों का भुगतान करना बुरा नहीं लगता। अतः ऐसे करों का व्यक्तियों के काम करने तथा बचत करने की इच्छा पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार एकाधिकारी लाभ पर कर या क्रय विक्रय कर भी व्यक्तियों के काम करने और बचत करने की इच्छा को कम नहीं करते। एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए, उतना उत्पादन करेगा कि जिससे कर का भुगतान भी कर सके और लाभ भी अधिकतम रहे। यदि वह अपना उत्पादन बन्द कर दे तो कभी भी अपने उद्देश्य (अपना लाभ अधिकतम करना) की पूर्ति नहीं कर पायेगा। ठीक इसी तरह क्रय कर तथा बिक्री कर से, उपभोग तो अवश्य कम हो जाता है, परन्तु काम करने तथा बचाने की इच्छा कम नहीं होती।

हम यह कह ही चुके हैं कि आयकर[6] उन व्यक्तियों की कार्य करने तथा

---

6 आयकर सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन एक अलग अध्याय में किया गया है।

बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव डालता है, जिनकी आय की माँग बहुत लोचदार होती है। इसी प्रकार यदि आयकर बहुत ही अधिक प्रगतिशील है तो सामान्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति की काम करने तथा बचाने की इच्छा कम हो जाती है, क्योंकि प्रत्येक अतिरिक्त प्रयत्न के बदले में बहुत कम मात्रा आय की प्राप्त होती है। इसीलिये व्यक्ति कार्य करने के लिए हतोत्साहित होते हैं।

सम्पत्ति कर कुछ दशाओं मे उत्पादन को प्रोत्साहित करता है और कुछ दशाओं मे हतोत्साहित करता है। धन कर (Wealth Tax) या सम्पत्ति कर बचतों को भी निरुत्साहित करते हैं, परन्तु आयकर की अपेक्षा इनके प्रभाव कम बुरे होते हैं। इसी प्रकार मृत्यु कर भी हर दशा म बचतो को हतोत्साहित नहीं करते। इसी प्रकार पूंजी कर (Capital leavy) जो किसी विशेष कार्य के लिए ही लगाया गया है, काम करने तथा बचाने की इच्छा पर बुरा प्रभाव नहीं डालता, क्योंकि करदाता जानता है कि उसे इसका भुगतान बार बार नहीं करना होगा।

वस्तुओं और सेवाओं पर जो कर लगाये जाते हैं, उनसे उपभोग कम हो सकता है और उत्पादन पर भी परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। वस्तुओं के मूल्य ऊँचे हो जाने से, उपभोक्ताओं की माग कम होती है और अन्त म उत्पादकों को भी अपना उत्पादन कम करना पड़ता। यही प्रभाव बिक्री करो का भी होता है। सीमा कर दूसरी ओर देशीय उद्योगों को संरक्षण द्वारा प्रोत्साहन देते हैं। परन्तु सीमा कर से हानि भी हो सकती है यदि संरक्षण अकुशल उद्योगों को प्राप्त हो जाता है। अत सीमा कर उसी समय हितकर सिद्ध हो सकते है जबकि देश के कुशल उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जाता है।

करारोपण का सामान्य प्रभाव नव स्थापित उद्योगों पर बुरा होता है और पुराने उद्योगों पर इसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि पुराने उद्योग तो कर के भार को सुगमता से सहन कर सकते हैं परन्तु नये उद्योगों की अपनी ही व्यवस्था कठिनाई से हो पाती है, व कर भार को क्या सहन कर सकते हैं। इसी प्रकार जब उपभिन्न उद्योगों का विकास करना है तब भी करारोपण अहितकर सिद्ध हो सकता है। इसीलिये व्यवहार म नये उद्योगों को कर की छूट देनी चाहिये और उन पुराने उद्योगों पर जिनका विकास करना है हल्का कर लगाना उचित होगा।

कुछ लोगों न करारोपण को पूर्णत भिन्न दृष्टिकोण से देखा है। इन लोगों के अनुसार करो से प्राप्त आय भी एक प्रकार की बचत है। यह सामूहिक बचत है। यदि नागरिक फिजूल खर्च है, देश म बचतो की मात्रा बहुत कम है, विनियोग बहुत कम है, देश में बेकारी बहुत है, औद्योगिक निम्न प्रगति स्तर पर है, तो करारोपण द्वारा सरकार आय प्राप्त कर सकती है और उसका विनियोग करके उद्योगों को प्रोत्साहन दे सकती है, या पूँजीगत वस्तुओं (Capital goods) के उत्पादन म उसका विनियोग कर सकती है। यह अवश्य है कि करारोपण से व्यक्तियों की कार्य करने तथा बचाने की शक्ति और इच्छा, दोनों ही कम होगी, परन्तु इसकी क्षतिपूर्ति, सरकार द्वारा उत्पादित पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन से हो जाती है, क्योंकि समाज की सामू-

हिक उत्पादन शक्ति में वृद्धि होती है, राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है और अन्त में व्यक्तियों के बचाने और काम करने की शक्ति और योग्यता, दोनों ही में वृद्धि हो जाती है। इसी कारण आर्थिक नियोजन के काल में इस नीति का इतना अधिक महत्व होता है।

(३) **करारोपण का आर्थिक साधनों के पुनर्वितरण पर प्रभाव**—अभी तक इस अध्याय में हम करारोपण के व्यक्तियों की कार्य करने तथा बचाने की शक्ति एवं योग्यता पर पड़ने वाले प्रभावों द्वारा उत्पादन पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनका अध्ययन कर रहे थे। अब हम उत्पादन पर साधनों के पुनर्वितरण से जो प्रभाव पड़ते हैं, उनका अध्ययन करेंगे। प्राचीन लेखकों का विश्वास था कि कोई भी साधन अपने 'प्राकृतिक उपयोगों' से निकलकर जब नये उपयोगों में प्रयोग किया जाता है तो वह इतना लाभप्रद नहीं रहता जितना कि वह पुराने उपयोग में था, क्योंकि उनका विश्वास था कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता और 'स्वयं हित' से साधनों का सदैव ही सर्वोत्तम उपयोग होता है। यदि इन उपयोगों में कृत्रिम उपायों से कोई भी उलटफेर कर दी जायेगी तब उत्पादन की मात्रा पहले की अपेक्षा अवश्य ही कम हो जायेगी। आधुनिक लेखकों में से अधिकांश की भी यही राय है, परन्तु अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जो इसको सिद्ध नहीं करते। वास्तविकता यह है कि साधनों का पुनर्वितरण या स्थानान्तरण न तो उत्पादन के लिए सदैव ही हानिकारक होता है और न लाभप्रद। कभी उत्पादन को हानि होती है तो कभी लाभ।

जहाँ तक साधनों का विभिन्न उपयोगों में स्थानान्तरण का सम्बन्ध है, कुछ कर ऐसे हैं जिनके पक्ष में यह कहा गया है कि वे किसी प्रकार का भी पुनर्वितरण नहीं करते, जैसे, आकस्मिक लाभ, भूमि की स्थिति पर कर, एकाधिकारी पर ऐसे कर जो न तो उनको उत्पादन और न विक्रय मूल्य में परिवर्तन करने के लिए प्रेरित करते हैं, और ऐसे कर जो सम्पत्ति के सभी उपयोगों में समान भार डालते हों।

कुछ कर ऐसे होते हैं जो साधनों का स्थानान्तरण इस प्रकार करते हैं कि उत्पादन में वृद्धि होती है, या समाज को सामान्य रूप से लाभ होता है। उपभोग की हानिकारक वस्तुओं पर लगे हुए करों की यही प्रकृति होती है। ऐसी वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से उनका उपभोग हतोत्साहित होता है और उसमें लगी हुई पूंजी व श्रम अन्य उद्योगों को स्थानान्तरित होने लगते हैं। इसी प्रकार जो धन उपभोक्ता इन वस्तुओं के उपभोग पर व्यय करता था, अब या तो उसे बचायेगा या अच्छी और लाभप्रद वस्तुओं पर खर्च करेगा। बचतों में वृद्धि होने से भी देश को लाभ होना है और अन्य लाभप्रद वस्तुओं का उपभोग बढ़ने से भी लाभ होगा। दोनों ही दशाओं में विनियोगों को प्रोत्साहन मिलेगा और देश की आर्थिक उन्नति होगी। साथ ही व्यक्तियों की कार्यक्षमता में वृद्धि होगी और देश की उत्पादन शक्ति बढ़ेगी। इस प्रकार यह स्थानान्तरण लाभप्रद है। ठीक इसी प्रकार यदि विलास की वस्तुओं पर कर लगाया जाये तो उससे भी साधनों का स्थानान्तरण समाज के हित में होगा। संरक्षण कर का भी यही प्रभाव होगा। अन्य उद्योगों से निकलकर साधन उस उद्योग में लगने लगेंगे

जिनका अभी तक विदेशी प्रतियोगिता के कारण विकास नहीं हो सका था परन्तु जिनका भविष्य संरक्षण प्राप्त होने से अब उज्जवल है।

यह ध्यान रहे कि साधनों का पुनर्वितरण हर स्थिति में देश या समाज के लिए लाभप्रद नहीं होता। कुछ ऐसे भी हस्तान्तरण हैं जो हानिकारक होते हैं। कभी कभी संरक्षण कर ही हानिकारक सिद्ध होता है। यदि संरक्षण कर से प्राप्त आय ऐसे उद्योगों को आर्थिक सहायता देने में उपयोग की जाती है जो अकुशल हैं या जो देश के लिए आवश्यक नहीं हैं या जिनके लिए देश की प्राकृतिक परिस्थितियाँ उचित नहीं हैं तो ऐसे उद्योगों से लाभ के स्थान पर हानि होती है। कर द्वारा जो साधनों का पुनर्वितरण होता है अर्थात् अप्रलाभप्रद उद्योगों से साधन निकलकर संरक्षित उद्योगों में जो लगने लगते हैं उससे देश का हित अग्रसर नहीं होता। ऐसे उद्योग कदापि भी अपने पैरों पर नहीं खड़े हो पावेंगे और जैसे ही उन पर से संरक्षण हटाया जायगा वह ठप्प हो जायेंगे। अतः जो साधन अधिक उपयोगी उद्योगों से निकलकर अकुशल संरक्षित उद्योगों में स्थानान्तरित हुये थे उनका अपव्ययी उपयोग ही हुआ जो संरक्षण के अभाव में कभी भी नहीं होता। इसी प्रकार अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं पर कर लगाने से यह सम्भव है कि ऐसे उद्योगों से पूंजी और श्रम निकलकर अनावश्यक उद्योगों में उपयोग में आने लगें। यदि ऐसा होता है तो भी साधनों का पुनर्वितरण हानिकारक होगा।

कुछ कर ऐसे होते हैं जो साधनों का स्थानान्तरण वर्तमान उपयोगों से भावी उपयोगों के लिये कर देते हैं। व्यक्ति अपने उपभोग को कम कर देते हैं और बचाने के लिए विवश हो जाते हैं। बचत द्वारा व्यक्ति को भविष्य में अपनी आय का उपयोग करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अतः व्यक्ति वर्तमान आवश्यकताओं पर खर्च न करके अपनी आय को भविष्य में खर्च करने के उद्देश्य से बचाकर रखता है। बिक्री कर, आयात निर्यात कर ऐसे करों के उदाहरण हैं। साधनों का स्थानान्तरण देश के हित में या अहित में यह बहुत कुछ सरकारी व्यय पर निर्भर करता है। यदि कर द्वारा प्राप्त राशि अनुत्पादक कार्यों में खर्च किया जाता है और देश की पूंजीगत वस्तुओं के बनाने के काम में नहीं लाया जाता तो साधनों का स्थानान्तरण जो वर्तमान से भावी उपयोगों के लिये हुआ उससे देश को तनिक भी लाभ नहीं हुआ।

करों से साधनों का पुनर्वितरण ऐसा भी होता है कि साधन एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित होने लगते हैं। यदि किसी देश में आय या मुनाफा कर बहुत ही प्रगतिशील है तो व्यक्ति उस देश से अपनी पूंजी निकाल कर किसी ऐसे देश में विनियोग करने लगेंगे जहां कर भार कम है। यदि देश के भिन्न भिन्न भागों में विशेष कर संघीय वित्त व्यवस्था (Federal Financial Administration) में करों की दर भिन्न भिन्न है तब तो पूंजी का स्थानान्तरण बड़ी ही सुगमता से होगा चाहे विदेशों में यह स्थानान्तरण इतना सरल न हो। संघीय वित्त व्यवस्था में इसकी सम्भावना इसलिए अधिक होती है कि उसमें अनेकों राज्य (States) होते हैं

और हर राज्य में अलग अलग सूद की दर हो सकती है। भारत में विभिन्न राज्यों में बिक्री कर की दरों के भिन्न-भिन्न होने से देश को काफी हानि हो रही है। यदि सब ही स्थानों पर कर की दरें समान हों तो सब ही क्षेत्रों का समान विकास होता है और देश को लाभ होता है।

करारोपण के वितरण पर प्रभाव—

१ इस अध्याय में हमने अभी तक करारोपण के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना की थी। अब हम यह अध्ययन करेंगे कि करारोपण के वितरण के क्षेत्र में क्या प्रभाव होते हैं। हम सभी, बढ़ती हुई धन की असमानताओं के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिणामों से भली भाँति परिचित हैं। वास्तव में धन के वितरण की असमानताओं के कारण ही आज राज्य (State) की रूपरेखा इतनी बदल गई है। मानव जीवन में राज्य का महत्व जितना आज है उतना पहले कभी न था। हम देख चुके हैं कि राज्य अपने व्यय को इस प्रकार सम्पन्न करता है कि धन की असमानतायें न्यूनतम हो जायें। यदि राजकीय व्यय का उद्देश्य धन की असमानताओं को कम करना है तो करारोपण का भी यही उद्देश्य होता है। प्राचीन लेखक इस विचार से बिलकुल भी सहमत न थे कि करारोपण द्वारा धन की असमानतायें दूर हो सकती हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि पुराने लेखक केवल यही मानते थे कि करारोपण आय प्राप्त करने का एक साधन है, और इसके अतिरिक्त न तो उसका कोई कर्तव्य है और न कोई लाभ ही। यदि देखा जाय तो एडम स्मिथ ने करारोपण सम्बन्धी जो अपने नियम दिये थे उनका भी यह उद्देश्य था कि राज्य को पर्याप्त आय बिना नागरिकों को तंग किये ही प्राप्त हो जाये। यही विचार रिकार्डो मिल वैस्टेबिल और एडम्स का भी था। ये लेखक करों को नागरिकों की जेबों से धन निकालने का एक साधनमात्र मानते थे। बैस्टेबिल ने कहा है कि करारोपण को 'धन की असमानताओं को ठीक करने का एक साधन मानना की एक बड़ी दृढ़ धारणा है। यह तो वित्तीय कला की शक्ति के अन्दर ही सम्भव है कि करों की दरों और रूपों को इस प्रकार चुना जाये कि बिना किसी वर्ग पर अनुचित दबाव के आवश्यक धन प्राप्त हो जाये, परन्तु यदि धन के वितरण के प्रभावों की ओर ध्यान देना है और इस दिशा में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कोई तरतीब करनी है तो इस कार्य की कठिनाइयाँ अत्यधिक हो जाती हैं। यदि उद्देश्य समाजवादी प्रणाली स्थापित करना है तो करारोपण में चालाकी से व्यवस्था करने की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष और प्रभावशाली विधियाँ उपस्थित हैं।'[7] परन्तु समय की प्रगति के साथ-साथ अब अधिकांश लेखकों का यही मत है कि राजकीय व्यय और करारोपण—दोनों ही धन की असमानताओं को दूर करने के शक्तिशाली अस्त्र हैं। यह समाजीकरण के अन्य प्रत्यक्ष उपायों की भाँति क्रान्तिकारी भी नहीं है और उद्देश्य की पूर्ति भी कर देता है। हम पिछले अध्याय में यह कह चुके हैं कि धन की असमानताओं को दूर करने के उद्देश्य से करारोपण की दरों में उलट फेर की जाती है। दरों की दृष्टि से हमने पहले, करों को

7. Quoted by Saxena and Mathur *Public Economics*, 1958, Page 103, Vol. II

अनुपातिक, प्रगतिशील, प्रतिगामी और अधोगामी करों मे विभाजित किया था।[8] यह तो स्पष्ट ही है कि प्रतिगामी करों से धन की असमानतायें और अधिक तीव्र होगी, क्योंकि इनका भार धनी वर्गों की अपेक्षा निर्धन वर्गों पर बहुत ही अधिक पड़ता है। जैसे व्यक्ति कर (Poll Tax) इसी प्रकार अनुपातिक कर भी असमानताओं को दूर नही कर पाते, और करो की दर समान रहने के कारण धन की असमानतायें पूर्ववत् ही रहती है। केवल प्रगतिशील करों से ही ये असमानतायें कम होती है, क्योंकि ऐसे करो का भार निर्धन व्यक्तियों की अपेक्षा धनी व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है। हम इसके बारे मे पहले भी कह चुके हैं कि धन की वृद्धि के साथ साथ द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता कम हो जाने से धनी व्यक्तियों की कर-दान योग्यता बढ़ती जाती है और धनी व्यक्तियों को कर भुगतान करना बुरा भी नही लगता। धन की असमानताओं को दूर करने के लिये यही सर्वोत्तम उपाय है। आयकर, सम्पत्तिकर मृत्युकर तथा अन्य विलास की वस्तुओं पर लगे हुए करो की दरें प्रगतिशील रक्खी जाती है। आयकरो को और सम्पत्ति करो को प्रगतिशील बनाना बड़ा ही सरल होता है। आय को विभिन्न खण्डो (Slabs) मे बाटकर, आय बढ़ने के साथ-साथ दर को बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार पूरी आय पर समान दर से कर नही लगता। कम आय पर कर की दर नीची होती है और ऊँची आय पर दर ऊँची हो जाती है। अधिकतर देशों मे यह ही प्रचलित है। कहीं कहीं पर कर को अधिक प्रगतिशील बनाने के लिये दो और उपाय किए जाते हैं। एक तो ऊँची आयो पर अतिरिक्त कर लगा दिए जाते है, जैसे अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profits Tax) या अति कर (Super Tax) लगा दिए जाते हैं और दूसरे न्यूनतम कर रहित सीमा को बहुत ऊँचा कर दिया जाता है और निम्न आय वाले व्यक्तियों को अनेक प्रकार की रियायतें दे दी जाती हैं जैसे, उन व्यक्तियों को जिनके निर्भरकर्ताओं की सख्या अधिक है उनको कुटुम्ब भत्तो (Family Allowances) के रूप मे कुछ सहायता देना। इसी प्रकार सम्पत्ति करों से भी धन की असमानताओं के कम होने म सहायता मिलती है। बड़ी बड़ी सम्पत्तियों के एकत्रित होने के कारण ही समाज मे असमानतायें उत्पन्न होती हैं। इन असमानताओं को दो प्रकार से दूर किया जाता है। प्रथम, केवल सम्पत्ति वालो पर ही कर लगाया जाता है, और दूसरे अधिक सम्पत्ति वालो पर ऊँची दर पर कर लगाया जाता है और कम सम्पत्ति वालो पर नीची दर से कर लिया जाता है। आधुनिक समय म व्यय कर को भी महत्व प्रदान किया जाने लगा है। यह स्वयं सिद्ध है कि निर्धनो की अपेक्षा धनी व्यक्ति अधिक व्यय करते है। अतः जितना जिस व्यक्ति का व्यय हो उसके अनुसार कर लगाया जावे। इसी प्रकार विलासयुक्त वस्तुओं पर कर लगने से भी धन की असमानतायें दूर होती हैं। परन्तु यदि आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुओं पर कर लगाया जाता है तो उससे धन की असमानतायें कम होने के स्थान पर और अधिक बढ जाती हैं। इसी कारण ये कर प्रतिगामी कहे जाते हैं, क्योंकि आवश्यक वस्तुओं पर निर्धनो को धनी व्यक्तियों की अपेक्षा

8 See Chapter, VI

अधिक खर्च करना पड़ता है, परिणामस्वरूप उन पर कर का भार अधिक पड़ता है। इसी तरह बिक्री कर भी सामान्य रूप से प्रतिगामी होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समान वितरण के लिये अति प्रगतिशील कर आवश्यक है, परन्तु हम यह भी देख चुके हैं कि ऐसे करों से उत्पादन हतोत्साहित होता है। इसलिये यह आवश्यक है कि करारोपण इस प्रकार किया जाये कि उत्पादन हतोत्साहित न हो क्योंकि यदि उत्पत्ति ही कम होती जायेगी तो वितरण किस वस्तु का होगा और फिर समान वितरण से क्या लाभ होगा ? अत कर प्रणाली का निर्माण इस प्रकार करना चाहिये कि दोनों उद्देश्यों की पूर्ति होती रहे अर्थात उत्पादन भी हतोत्साहित न हो और धन का वितरण भी समान रहे।

जो कर धन के पुर्नवितरण म सहायता करते हैं व आर्थिक जीवन को स्थायी बनाते हैं। मन्दी काल म जबकि वस्तुओं के मूल्य गिरते जाते हैं और बेकारी फैलने लगती है, उस समय निर्धन व्यक्तियों पर कर लगाना सामाजिक हित म होता है। हम सभी जानते हैं कि निधन व्यक्ति धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अपनी आय का एक बहुत बड़ा अनुपात उपभोग पर व्यय करते हैं। यदि निधनों पर कर लगायें जायें तो उनका उपभोग कम होने से जो कुछ वस्तुओं की माग बाजार में थी उसम भी कमी आयेगी और बेकारी और उत्पन्न होगी। इसलिये निर्धनों पर कोई भी कर नहीं लगाना चाहिये, बल्कि धनी व्यक्तियों से कर वसूल करके ऐसी सेवाओं पर खर्च करना चाहिये जिनसे निर्धन व्यक्तियों को लाभ पहुँचे और उनकी क्रय शक्ति में वृद्धि हो, उत्पादन बढ़े और बेकारी कम हो। अत कर, धन के पुर्नवितरण द्वारा, देश मे आर्थिक जीवन को स्थायी बनाते हैं।

करारोपण और उपभोग—

करारोपण व्यक्तियों के उपभोग को भी प्रभावित कर सकता है। साधारणत. आयकर व्यक्तियों के उपभोग स्तर को कम करता है, परन्तु यदि आयकर बहुत ही प्रगतिशील हो और प्रतिगामी भी हो तो इसके प्रभाव समाज के लिये बहुत घातक सिद्ध होते हैं। इसीलिये छोटी आय वाले लोगों की आय पर कोई भी कर नहीं लगाया जाता, क्योंकि इसका भार निर्धनों पर पड़ने के कारण अन्तिम दशा मे देश के उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। हम पहले भी कह चुके हैं कि आवश्यक और प्रतिष्ठा सम्बन्धी आवश्यकताओं की वस्तुओं पर कर लगाने का भी यही परिणाम होता है। ऐसी वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं, और उनकी माग बेलोच रहने के कारण, कर का भार गरीबों पर अधिक पड़ता है। उनको या तो अपना उपभोग कम करना होता है या ऋणग्रस्त रहना पड़ता है। ये दोनों स्थितियाँ खराब होती हैं। ठीक इसी प्रकार की स्थिति उस समय उत्पन्न होती है, जबकि उन वस्तुओं पर कर लगता है जो कार्यक्षमता बढ़ाती हैं। ऐसी वस्तुओं की माग की लोच अधिक होने के कारण, व्यक्ति मूल्य बढ़ने पर या तो उनका उपभोग कम कर देते हैं या उनका उपभोग बिलकुल बन्द ही कर देते हैं। इसीलिये ऐसी वस्तुओं पर कर लगाना बुरा समझा जाता है। दूसरी ओर विलासिता की वस्तुओं पर कर लगाना अच्छा समझा जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि करों से ऐसी

वस्तुओं का उपभोग कम नहीं होता। उपभोग कम तो होता है, परन्तु ऐसी वस्तुओं का उपभोग कम होने से समाज को लाभ होता है। व्यक्तियों की जो कार्यक्षमता इन वस्तुओं के उपभोग से कम होती थी वह अब नहीं होगी। दूसरे इसका भार धनी व्यक्तियों पर पड़ता है इसी प्रकार हानिकारक तथा नशीली वस्तुओं पर कर लगाने से भी समाज को लाभ होता है क्योंकि इनके मूल्य बढ़ने से जो उपभोग में कमी होती है वह व्यक्तियों के लिये लाभप्रद होती है।

यदि करारोपण के व्यक्तियों की सतुष्टि पर पड़ने वाले प्रभावों की ओर ध्यान दिया जाये तो यह ज्ञात होगा कि करारोपण द्वारा वस्तुओं का उपभोग कम होने से व्यक्तियों की सतुष्टि सदैव ही कम नहीं होती। यदि वस्तुओं की माँग लोचदार है तो कर लगने से वस्तुओं का जो उपभोग कम होगा, उसका अभिप्राय यह होगा कि या तो व्यक्तियों को उस वस्तु से सतुष्टि नहीं प्राप्त होती है या उस वस्तु के स्थान पर कोई दूसरी सस्ती वस्तु का उपभोग किया जा सकता है या उसका उपभोग आवश्यक नहीं है और भविष्य के लिये स्थगित किया जा सकता है। इसीलिये ऐसी वस्तुओं पर कर लगाने से व्यक्तियों की सतुष्टि कम नहीं होती। यह ध्यान रहे कि ऐसे करों से सरकार को कोई विशेष आय प्राप्त नहीं होती। वस्तुओं की माग लोचदार होने के कारण मूल्य बढ़ने के साथ साथ माग भी कम होती जाती है और बाजार में वस्तुओं की बिक्री की मात्रा भी कम होती जायेगी। यदि वस्तुओं की बिक्री पर कर लगा हुआ है तो बिक्री कम होते जाने से सरकार की आय भी कम होती जायेगी और यदि कर वस्तुओं के उत्पादन पर लगा है, तो उत्पत्ति कम होने से (क्योंकि बाजार में वस्तुओं की माग कम हो रही है) सरकार की आय भी कम होती जायेगी। अत जब सरकार लोचदार माँग वाली वस्तुओं पर कर लगाती है तो उसका उद्देश्य आय प्राप्त करना नहीं होता। सरकार को बेलोच माग वाली वस्तुओं पर कर लगाने से ही आय प्राप्त होती है। परन्तु इन वस्तुओं पर कर लगाने से व्यक्तियों की सतुष्टि बहुत कम हो जाती है। आयकर से व्यक्तियों की सतुष्टि इतनी कम नहीं होती जितनी वस्तुओं पर कर लगने से, क्योंकि आयकर से केवल आय ही कम होती है, वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि नहीं होती। व्यक्तियों की सतुष्टि मूल्यों की वृद्धि से अधिक कम होती है।

करारोपण और आर्थिक स्थिरता—

हम राजकीय व्यय के प्रभावों का अध्ययन करते समय यह स्पष्ट कर चुके हैं कि राजकीय व्यय द्वारा आर्थिक जीवन को स्थायी बनाया जा सकता है। राज्य करों द्वारा भी देश में आर्थिक क्रियाओं का नियमन कर सकता है और देश में रोजगार के स्तर को स्थायी बना सकता है और पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित कर सकता है। प्रो० लेरनर[9] (Lerner) का तो यह विचार है कि राज्य को आय के स्रोत के रूप में करों को देखना ही नहीं चाहिए वरन् करारोपण का एकमात्र उद्देश्य देश में आर्थिक क्रियाओं अर्थात् उत्पादन, वितरण एव उपभोग सम्बन्धी क्रियाओं के आकार को नियमित

9 *Cf The Economics of Control* Page 307

करना ही होना चाहिए। इनको विश्वास है कि आय तो अन्य नोतों से भी प्राप्त की जा सकती है, जैसे नोट प्रकाशित करके। कर द्वारा व्यक्तियों की क्रय शक्ति तथा व्यय शक्ति को कम करना चाहिए। सरकार का, करारोपण का कोई भी उद्देश्य क्यों न हो, यह निश्चित ही है कि आर्थिक क्रियाओं पर करारोपण का प्रभाव अवश्य ही पडेगा। करारोपण, व्यक्तियों के उपभोग और विनियोग करने की शक्ति को प्रभावित करके देश के व्यापार, उद्योग और रोजगार की स्थिति को प्रभावित करता है। यह तो स्पष्ट ही है कि देश में सभी आर्थिक क्रियाएँ, उपभोग के स्तर से निर्धारित होती हैं। वस्तु विशेष का उपभोग बढने से उसकी माग बढती है, मूल्य बढता है, उत्पादन बढता है और उस उद्योग विशेष में अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलने लगता है। उपभोग के कम होने से स्थिति बिल्कुल विपरीत हो जाती है। विनियोगों द्वारा पूँजीगत वस्तुओं की उत्पत्ति बढती है, जिनसे अन्य वस्तुओं का उत्पादन बढता है और इस प्रकार देश में रोजगार में वृद्धि होती है। अत जिन करो से उपभोग हतोत्साहित होता है और धन विनियोगों में लगने के स्थान पर सचित कोषों (Hoards) में जाने लगता है वे बेरोजगारी बढायेंगे और बुरे होते हैं।

मुद्रा स्फीति के काल में करारोपण का प्रभाव व्यक्तियों की क्रय शक्ति को कम करना होता है। मुद्रा स्फीति में मूल्यों की वृद्धि से समाज के अधिकाश वर्गों को हानि होती है। अत व्यक्तियों की क्रय शक्ति को कम करके मूल्यों को बढने की प्रवृत्ति को रोका जाता है। व्यक्तियों की अतिरिक्त क्रय-शक्ति व्यक्तियों के पास से करारोपण द्वारा सरकार के पास पहुँच जाती है। आय कर तथा व्यय कर इस सम्बध म अधिक प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। आय कर आय को कम करके क्रय-शक्ति को कम करता है और व्यय-कर व्यय करने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित करता है। मुद्रा-स्फीति मे आयो की अपेक्षा उत्पत्ति मे वृद्धि नही हो पाती है इसीलिए मूल्य बढते जाते हैं। उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए, कुछ करो की छूट भी लाभकारी सिद्ध होती है। नए उत्पादकों पर कोई कर न लगाया जाये ताकि उन्हे उत्पत्ति बढाने के लिए प्रोत्साहन मिले। वस्तुओं की मात्रा आयातो द्वारा भी बढाई जा सकती है। अतः मुद्रा-स्फीति मे आयात करो को कम करने से आयातो को प्रोत्साहन मिलेगा और देश में सामान्य मूल्य स्तर भी कम होगा। इस प्रकार करारोपण द्वारा, मुद्रा-स्फीति में, मूल्यस्तर में स्थिरता लाई जाती है।

मुद्रा सकुचन या मदी काल में आर्थिक स्थिति मुद्रा-स्फीति के बिलकुल विपरीत होती है। मदीकाल में विनियोगों में मन्दी आ जाती है, उत्पादन बन्द होने लगता है, और बेकारी बढने लगती है। चारो ओर निराशा की एक लहर दौड़ने लगती है। ऐसी स्थिति मे यदि नए कर लगाये जावेंगे तो वे क्रय-शक्ति और विनियोगों को हतोत्साहित करके स्थिति को और भी बिगाड देंगे। परिणामस्वरूप रोजगारो की स्थिति और भी अधिक खराब हो जायेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि कर की मात्रा पहले से कम कर दी जाए। राजकीय व्यय मे वृद्धि कर दी जाए और ऐसे उद्योगो को चालू किया जाये, जिनमे अधिक व्यक्तियों को नौकरी मिले।

ऐसी स्थिति में अधिकतर घाटे के बजट की व्यवस्था की जाती है। यह ध्यान रहे कि करों को इस प्रकार कम करना चाहिये कि कर भार निर्धनों पर कम हो जाए। जिन करों का भार धनी व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है, उनमें अधिक कमी करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि उपभोग की मात्रा में, केवल निर्धनों का कर-भार कम करने से ही, वृद्धि होगी। अत करों द्वारा जो धन का पुनर्वितरण होता है, वह भी मंदी को रोकने में सहायता करता है। कभी-कभी यह प्रस्ताव दिया जाता है कि उपभोग को बढ़ाने के लिए बचत और धन को संचित करने पर कर लगाना चाहिए। साथ ही उन करों को कम कर देना चाहिए, जिनसे विनियोग हतोत्साहित होते हैं। नए विनियोगों को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए कुछ प्रकार की रियायतें भी देनी चाहिए। मंदीकाल में करारोपण द्वारा इस प्रकार हम, आर्थिक क्रियाओं को स्थायीत्व प्रदान कर सकते हैं और रोजगार की स्थिति को सुधार सकते हैं।

अत संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुद्रा-स्फीति में नए करों को लगाकर और पुराने करों की दरों को बढ़ाकर व्यक्तियों की जेबों से अतिरिक्त क्रय-शक्ति को कम करना और मुद्रा संकुचन में करों को हटा कर या दर कम करके और नए करों का विचार स्थगित करके मूल्यों को स्थिर और रोजगार की स्थिति को स्थायी बनाया जा सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजस्व सम्बन्धी क्रियाओं का उपयोग आधुनिक सरकारों द्वारा किया जाता है और करारोपण हर सरकार की आर्थिक नीति का मुख्य अंग बन गया है। आधुनिक लेखक इसी को कार्य-सम्पादन सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था (functional finance) कहते हैं।[10] यही राजस्व का महत्व भी है। राजस्व विशेष रूप से करारोपण का, कार्य-सम्पादन सम्बन्धी महत्व (functional importance) को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। हलके और भारी कर लगा कर उत्पादन सम्बन्धी क्रियाओं को नियमित कर सकते हैं, कुछ हानिकारक एवं विलास की वस्तुओं पर कर लगाकर उनके उपभोग को नियमित किया जा सकता है। करों द्वारा वस्तुओं और सम्पत्ति के विनिमय को भी नियन्त्रित किया जा सकता है। धन, आय तथा सम्पत्ति पर कर लगाकर धन की असमानताओं को दूर किया जा सकता है। व्यक्ति तथा यात्री कर द्वारा, व्यक्तियों के आवागमन को नियन्त्रित किया जा सकता है और अन्त में करों द्वारा मूल्यों तथा रोजगारों को स्थायी रक्खा जा सकता है। इसी कारण करारोपण सरकार की नीति का एक कार्यसाधक अंग बन गया है।

अध्याय ९

कर भार एवं कर विवर्तन
(Incidence and Shifting of Taxes)

प्राक्कथन—

पिछले अध्यायों में हमने अनेकों बार 'कर-भार' शब्द का प्रयोग किया है। इस अध्याय में हम कर-भार सम्बन्धी समस्या का विस्तृत अध्ययन करेंगे। कर-भार की समस्या का अध्ययन व्यवहारिक दृष्टिकोण से नितान्त आवश्यक है, क्योंकि करारोपण की न्यायशीलता इसी पर निर्भर करती है कि कर-भार किस व्यक्ति को सहन करना पड़ता है? कर का भार उसी व्यक्ति पर पड़ता है जिस पर कर लगाया गया है या वह व्यक्ति किसी अन्य व्यक्तियों पर कर का भार डाल देता है? कर-भार सभी व्यक्तियों पर समान है या असमान? इन्हीं प्रश्नों से सम्बन्धित सैद्धान्तिक वाद विवाद की विवेचना हम इस अध्याय में करने जा रहे हैं।

कर-भार की मुख्य समस्या यह मालूम करना है कि 'कर का भुगतान वास्तव में कौन कर रहा है'? हम जानते है कि कर का भार सदैव ही उस व्यक्ति पर नहीं पड़ता, जिससे वह वसूल किया जाता है। अधिकतर वह अन्य व्यक्तियों को सहन करना पड़ता है। वित्त मंत्री के लिए यह जानना आवश्यक है कि कर का अन्तिम भार किस व्यक्ति को सहन करना पड़ रहा है। अत केवल यह ही मालूम करना आवश्यक नहीं है कि कर का भार आरम्भ में किस पर पड़ रहा है, वरन् यह जानना भी आवश्यक है कि अन्त में कर का भार किस व्यक्ति पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त इसका भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है कि कर का मौद्रिक भार (money burden) तथा अमौद्रिक भार (non-monetary burden) किस-किस पर पड़ रहा है। कर का प्रारम्भिक भार मालूम करना तो सम्भव है, किन्तु कर का अन्तिम भार निश्चित करना अत्यन्त कठिन होता है। कर के भार से हमारा अभिप्राय, प्रत्यक्ष मौद्रिक भार से है।

बहुधा कर-दबाव (Impact of tax), कर-भार (Incidence of Tax) और कर-विवर्तन (Shifting of Tax) में भेद किया जाता है।

जब किसी व्यक्ति पर कर लगाया जाए, और कर का भुगतान वह ही करे, अर्थात कर की राशि उसी व्यक्ति की आय में से सरकारी खजाने में जाये तो कर का दबाव उसी व्यक्ति पर पड़ता है। सरकारी रजिस्टरों में उसी का नाम करदाताओं की सूची में लिखा होता है। इसको एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता

है। अभी अभी भारत सरकार ने खण्डसारी शक्कर पर ५ ६०% का उत्पादन कर लगाया है। यह कर उत्पादित शक्कर के वजन के अनुसार उत्पादकों से ही वसूल किया जायगा इसलिए कर दबाव खण्डसारी उत्पादकों पर पड़ेगा। कर का भार उस व्यक्ति पर पड़ता है, जिसको अन्त में कर का मौद्रिक भार सहन करना पड़ता है। कर-भार मालूम करने के लिए हमको यह देखना होगा कि यदि कर न लगाया जाता तो कर के रूप में दी गई धन राशि किस की जेब में रहती। हमारे उदाहरण में यदि खण्डसारी उत्पादक शक्कर के मूल्य बढ़ाकर उपभोक्ताओं से कर वसूल कर लेने में सफल हो जाते हैं तो कर भार उत्पादकों पर न रह कर उपभोक्ताओं पर रहेगा, क्योंकि अन्त में कर का मौद्रिक भार उपभोक्ताओं को ही सहन करना पड़ता है। यदि उत्पादकों को अपने इस प्रयास में सफलता नहीं होती अर्थात यदि वे मूल्य बढ़ाने में सफल नहीं होते तो कर भार उत्पादकों पर ही रहेगा। अतः कर भार उसी व्यक्ति पर पड़ता है जो अन्त में उसका भुगतान करता है। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि उत्पादक मूल्य बढ़ाने में सफल तो हो जायें परन्तु इतना नहीं कि जिस कर राशि का उन्होंने भुगतान किया था वह पूरी हो जाए, तो कर का भार कुछ उत्पादकों पर पड़ेगा और कुछ उपभोक्ताओं पर। इस प्रकार यदि कर-दाता अपने कर भार को किसी अन्य व्यक्ति पर डालने में सफल हो जायें तो इस विधि को कर विवर्तन (Shifting of tax) कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण में खण्डसारी उत्पादक यदि उपभोक्ताओं से कर की राशि वसूल करने में सफल हो जाते हैं तो वह कर का भार उपभोक्ताओं पर डाल देते हैं।

है उत्पादक आरम्भ में ही कुल धन, कर के रूप में सरकार को दे देते हैं, जो कई वर्षों बाद, जबकि शक्कर का सारा स्टाक बिक जाता है, वसूल होता है, तो इस स्थिति में उन्हें पहले से ही दे दिये गये धन पर ब्याज की हानि होती है। यह हानि कर का परोक्ष मौद्रिक भार है जो उत्पादकों को ही सहन करना पड़ता है। इसको हम कर भार के अध्ययन के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं करते। करारोपण से मूल्य बढ़ जाने के कारण निर्धनों को धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अपनी आय का अधिक भाग खर्च करना पड़ता है और इस प्रकार उन पर कर का प्रत्यक्ष वास्तविक भार पड़ता है। यह भी कर भार के अध्ययन के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं होता। करारोपण के कारण मूल्य बढ़ जाने से या तो उपभोक्ता शक्कर का उपभोग कम कर देंगे और यदि ऐसा नहीं करते तो अन्य वस्तुओं का उपभोग उन्हें कम करना होगा। दोनों ही स्थितियों में उनका कुल सन्तोष कम होगा। यह कर का परोक्ष वास्तविक भार है और इसलिए कर भार के अध्ययन के क्षेत्र से बाहर है। अतः कर भार के अध्ययन में हम केवल प्रत्यक्ष मौद्रिक भार को ही सम्मिलित करते हैं।

श्रीमती उर्सला हिक्स ने औपचारिक (formal) कर भार तथा प्रभावयुक्त (Effective) कर भार के बीच भेद किया है। वह कहती हैं कि 'हम अर्थशास्त्र में करदाताओं पर पड़ने वाले करों या करों के भार के दो विचारों से सम्बन्धित हैं। प्रथम उस विधि की सांख्यिकीय गणना से जिसके द्वारा किसी विशेष अवधि (प्रायः एक वर्ष) में किसी विशेष कर से आय प्राप्त की जाती है, अर्थात्, वस्तु का बाजारू मूल्य, जिस पर कर निर्धारित किया जाता है और उसकी उत्पादन लागत, के बीच का अन्तर, नागरिकों के बीच विभाजित किया जाता है। या वैकल्पिक रूप से, व्यक्तियों की आयों का वह अनुपात, जो उन लोगों को आय प्रदान नहीं करता, जो उन्हें वस्तुएं अथवा सेवाएं प्रदान करता है, वरन् प्रशासक सस्थाओं (Governing bodies) की सामूहिक सेवाओं के अर्थ प्रबन्ध के लिए दिया जाता है। इस गणना के परिणाम को औपचारिक भार कह सकते हैं।"[2] संक्षेप में हम कह सकते हैं कि श्रीमती हिक्स के अनुसार कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार ही कर का औपचारिक भार है। परन्तु क्योंकि इस प्रकार के अध्ययन में करदाता पर कर की दरों के परिवर्तनों से जो प्रतिक्रियाएं तथा परिणाम उत्पन्न होते हैं उनका कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता इसलिए प्रभाव युक्त भार के अध्ययन की आवश्यकता होती है। श्रीमती हिक्स ने लिखा है कि "किसी कर के सम्पूर्ण आर्थिक परिणामों का पता लगाने के लिये, हमको दो चित्र बनाने और उनकी तुलना करनी होती है एक वह आर्थिक स्थिति (उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं तथा आयों का वितरण और साधनों का बटवारा) जो कर विशेष के लागू होने से उत्पन्न होती है, और दूसरी वह आर्थिक स्थिति जो कर के अभाव में उत्पन्न होती है। इन दोनों चित्रों के अन्तर को कर का प्रभावयुक्त भार कहना सुविधाजनक है।'[3]

2 *Public Finance*, Page, 158

3 *Ibid*, Page, 159

कर भार के अध्ययन का महत्व—

आधुनिक युग में कर भार का अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण है। आजकल करारोपण का उद्देश्य केवल राजकीय कर्तव्यों की पूर्ति के लिये धन इकट्ठा करना ही नहीं है वरन् समाज में धन का वितरण समान करना तथा उत्पत्ति पर पड़ने वाले बुरे प्रभावों को रोकना भी है। विभिन्न व्यक्तियों पर कर भार के न्यायपूर्ण वितरण पर ही करारोपण की न्यायशीलता निर्भर होती है। परन्तु यह पता लगाने के लिये कि कर का भार सभी वर्गों पर न्यायपूर्ण है या नहीं वित्तमन्त्री को यह पता लगाना होता है कि भिन्न-भिन्न वर्गों पर विभिन्न करों का मौद्रिक भार कितना पड़ रहा है, क्योंकि तभी यह निश्चित हो सकेगा कि कर प्रणाली कर दान योग्यता के सिद्धान्त के अनुकूल है। वास्तव में कर विवर्तन के कारण समस्या तनिक जटिल हो जाती है। सरकार का उद्देश्य किसी विशेष वर्ग पर कर भार डालने का हो सकता है परन्तु यदि इस कर का विवर्तन कर दिया जाता है, तो सरकार का उद्देश्य ही पराजित हो जायेगा। इसीलिये कर-भार और कर विवर्तन के अध्ययन का महत्व है। ऐसे अध्ययन से हम यह पता चल जाता है कि किस व्यक्ति पर किसी कर का कितना भार पड़ेगा और यह बात पता लग जाने के बाद कोई भी कर अनुचित रूप से नहीं लगाया जा सकेगा। प्रत्यक्ष करों का कर-भार तो आसानी से पता लग जाता है, परन्तु अप्रत्यक्ष करों का कर-भार पता लगाना इतना सरल नहीं होता, इसीलिये कर भार का अध्ययन आवश्यक है। यदि यह अध्ययन नहीं किया जायेगा तो सम्भव है कि ऐसी वस्तुओं पर कर लग जायें, जिनका उपभोग निर्धन व्यक्ति अधिक करते हैं। यदि सरकार किसी विशेष वर्ग पर कर भार डालना चाहती है तो उसे इस अध्ययन से उन विधियों का ज्ञान प्राप्त होगा, जिनको अपनाकर वह अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सके।

परन्तु कर-भार की समस्या का अध्ययन इतना सरल नहीं है जितना की ऊपर से प्रतीत होता है। इस प्रकार के अध्ययन में अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम, मूल्यों के निरन्तर उतार चढ़ाव के कारण सदैव ही कर-भार का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। करारोपण के अतिरिक्त मूल्य अन्य कारणों से भी बढ़ सकते हैं। अतः यह कैसे पता लगाया जाये कि मूल्य वृद्धि किस कारण का परिणाम है। यदि मूल्य वृद्धि अंशतः करारोपण का प्रभाव है और कुछ अन्य कारणों का तो यह कैसे निश्चित किया जाये कि करारोपण के कारण मूल्यों में कितनी वृद्धि हुई है। दूसरे कर-भार और कर प्रभावों के बीच भेद करना, व्यवहार में कठिन होता है। तीसरे कर-भार का अध्ययन एक तुलनात्मक अध्ययन है, अर्थात् कर-भार का सही अध्ययन उसी समय हो सकता है जबकि एक कर का भार अलग अलग व्यक्ति के सम्बन्ध में अलग अलग मालूम किया जाये और तब तुलनात्मक अध्ययन किया जाये और पता लगाया जाये कि किस पर कर का भार कम है और किस व्यक्ति पर अधिक। क्योंकि किसी एक वर्ग पर पड़ने वाले

कर-भार का अध्ययन यह सिद्ध नहीं कर सकता कि एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक कर भार सहन कर रहा है। "जो व्यक्ति कर का भुगतान करते हैं, उनको कर के लगने से कम चोट पहुँचती है अपेक्षाकृत उन व्यक्तियों के जो कर का भुगतान नहीं करते। एक व्यक्ति जो पुल पर लगे हुये व्यक्ति कर को बचाने के लिये रोज दो मील का चक्कर लगाकर जाता है, उसको इस कर के हटने से अधिक लाभ होगा अपेक्षाकृत उन व्यक्तियों के जो कर का भुगतान करते हैं।[4] अतः कर भार के अध्ययन से यह आवश्यक नहीं कि कर भार का वितरण न्यायपूर्ण हो ही जाय, परन्तु फिर भी इसका अध्ययन अन्य प्रभावों का ज्ञान कराने में सहायक हो सकता है।[5]

कर विवर्तन के सिद्धान्त—

कर विवर्तन उस क्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा कर का भार अन्य व्यक्तियों पर टाला जाता है। प्रायः सभी व्यक्तियों की कर भुगतान करने की इच्छा नहीं होती। हर व्यक्ति यही चाहता है कि उस पर कर भार न पड़े। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यही प्रयास रहता है कि वह कर को किसी दूसरे व्यक्ति पर ढकेल दे। कभी तो वह सफल हो जाता है और कभी वह असफल रहता है। वास्तव में कुछ कर होते ही ऐसे हैं कि उनको अधिक बार एक से दूसरे व्यक्ति पर नहीं टाल सकते, जैसे यदि एक स्थानीय दुकानदार पर कोई कर लगाया गया है तो वह उसको उपभोक्ताओं से वसूल कर लेगा परन्तु उपभोक्ता उसे किसी दूसरे व्यक्ति पर नहीं ढकेल सकते। इस प्रकार ऐसी स्थिति में कर विवर्तन केवल दो ही बिन्दुओं तक सीमित रहा। इसके विपरीत यदि किसी श्रमिक पर कर लगाया जाता है तो वह अपने मिल मालिक से ऊँची मजदूरी मांगेगा। यदि मिल मालिक मजदूर की मजदूरी बढ़ा देता है तो वह अपनी वस्तुओं के मूल्य बढ़ा कर थोक व्यापारियों से वसूल कर लेगा। थोक व्यापारी फुटकर व्यापारियों से वसूल करेंगे, जो अन्त में उपभोक्ताओं से वसूल करने का प्रयत्न करेंगे। इस उदाहरण में कर विवर्तन अनेकों बिन्दुओं पर किया गया है। कर भार के अध्ययन में प्रारम्भिक सीढ़ी कर विवर्तन का ही अध्ययन है। इस अध्ययन में कई बातों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है जैसे, कर विवर्तन किस दिशा में हो रहा है, उसका रूप क्या है और विवर्तन की माप किस प्रकार की जाय?

जहाँ तक कर विवर्तन की दिशा का सम्बन्ध है, यह आगे भी हो सकता है और पीछे भी। जब कोई व्यापारी अपने ऊपर लगे हुये कर को उपभोक्ताओं पर डाल देता है तो इसे कर को आगे ढकेलना कहते हैं। यदि व्यापारी ऐसा नहीं कर पाता, कदाचित उसे यह डर हो कि मूल्य बढ़ने पर वस्तु न बिके तब वह कर को पीछे ढकेलने की कोशिश करता है अर्थात् वह मिल मालिक से कर के अनुपात में

4 Cannan, quoted by Seligman *Shifting and Incidence of Taxation*, Page 13

5 Cf Seligman op cit Page 14

कम मूल्य देकर वस्तुएँ खरीदना चाहेगा। इस प्रकार कर को आगे (उपभोक्ताओं पर) ढकेला (Forward Shift) जा सकता है और पीछे ढकेला (Backward Shift) जा सकता है। कभी कभी यह भी सम्भव है कि कर विवर्तन बिल्कुल भी न हो सके। यह अधिकतर उन वस्तुओं में होता है जिनकी माँग लोचदार होती है। करदाता कर का विवर्तन दो प्रकार से कर सकता है, या तो वस्तुओं के मूल्यों को कर के अनुपात में बढ़ा कर या वस्तुओं के गुणों को कम करके। यही कर विवर्तन के रूप हैं। कर विवर्तन के माप से हमारा अभिप्राय यह है कि कर का कितना भार किस व्यक्ति पर पड़ रहा है, अर्थात् केवल उपभोक्ता पर या व्यापारी पर या दोनों पर।

कभी कभी लोग कर विवर्तन को कर से बचना (Evasion) समझ बैठते हैं। कर से बचने में तो कर की चोरी होती है। सरकारी खजाने में जो कर राशि पहुँचनी चाहिए थी वह व्यक्तियों की जेबों ही में रह जाती है अर्थात् व्यक्ति उसकी चोरी कर लेते हैं। इस स्थिति में सरकार की हानि होती है। दूसरी ओर कर विवर्तन में कर की चोरी नहीं होती अर्थात् कर की पूरी राशि सरकारी खजाने में पहुँचती है, परन्तु कर उस व्यक्ति की जेब में से नहीं निकलता, जिसकी जेब में से सरकार निकलवाना चाहती है बल्कि वह अन्य व्यक्तियों से उसका भुगतान करवा लेता है। इस प्रकार कर विवर्तन और कर से बचना एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं।

कर विवर्तन के सम्बन्ध में प्राचीन काल में दो सिद्धान्तों की रचना हुई थी। एक तो निर्बाधावादियों (Physiocrats) का केन्द्रीयकरण सिद्धान्त (Concentration Theory) और दूसरा फान्सीसी लेखकों का प्रसार सिद्धान्त (Diffusion Theory)। हम इन सिद्धान्तों की क्रमानुसार विवेचना करेंगे।

केन्द्रीयकरण सिद्धान्त—यह सिद्धान्त निर्बाधावादियों द्वारा प्रस्तुत किया गया था। उनके अनुसार सभी कर अन्त में भूमि पर गिरते हैं इसलिये केवल भूमि पर ही एक कर लगाना चाहिये। अन्य किसी भी वस्तु पर जो कर लगाया जायेगा उसका विवर्तन होगा, फिर विवर्तन होगा और अन्त में वह भूमि पर ही आकर टिकेगा। अनावश्यक कर विवर्तन असुविधाजनक होता है इसलिये केवल भूमि के मालिकों पर ही कर लगाना चाहिये। वास्तव में इन लोगों का यह विश्वास था कि केवल कृषि ही एक उत्पादक व्यवसाय था। निर्माण उद्योगों को वे अनुत्पादक मानते थे, क्योंकि यह किसी नई वस्तु को उत्पन्न नहीं करते हैं केवल पहले से ही स्थित वस्तुओं का रूप बदल देते हैं। केवल कृषि खान उद्योग मछली उद्योग इत्यादि ही नई वस्तुओं को उत्पन्न करते हैं। इन्हीं से उत्पादन लागत की अपेक्षा कुछ आधिक्य (Surplus) उपज के रूप में प्राप्त होता है, इसलिये यह कर दे सकते हैं और इन पर कर लगाना चाहिये। यही कारण था कि वे केवल एक कर अर्थात् भूमि पर ही कर लगाने के पक्ष में थे। इसको वे *Impot unique* कहते थे।

प्रसार सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार कर विवर्तन उस समय तक होता

रहता है, जब तक कि वह सारे समाज पर न छा जाये, अर्थात् धीरे धीरे कर का भार सारे समाज पर फैल जाता है और किसी एक या कुछ ही व्यक्तियों पर नहीं रहता। कदाचित फ्रान्सीसी अर्थशास्त्री कनार्ड (Canard) ने सर्वप्रथम इसकी विवेकशील विवेचना की थी। उनके अनुसार केवल भूमि ही में आधिक्य उत्पन्न नहीं होता, श्रम तथा व्यापारी भी यह आधिक्य उत्पन्न करते हैं। जब कभी भी कोई वस्तु बेची जाती है या खरीदी जाती है, कर का कुछ भार टाल दिया जाता है और जो एक वस्तु का क्रेता है वह दूसरी का विक्रेता होता है। इसीलिये कर सारे समाज पर फैलता है। सर हैमिल्टन ने ब्रिटिश संसद में कहा था कि, "प्रसार के आशावादी सिद्धान्त से भी कदाचित अधिक सच्चाई है, वह यह कि करों की प्रवृति फैलने तथा समान होने की होती है और यदि वे निश्चितता तथा एकसारिता से लगाये जाये तो वह प्रसारित होकर प्रत्येक सम्पत्ति पर ही अपना भार डालेंगे।"[6] इसी प्रकार लार्ड मेंसफील्ड ने कहा था कि, 'एक कर उस पत्थर के समान है जो झील में गिरने हुये एक गोला बनाता है, जो दूसरे गोल को बनाता है और गति प्रदान करता है और इस प्रकार सम्पूर्ण परिधि (Circumference) में हलचल उत्पन्न हो जाती है।" कनार्ड ने कर-प्रसार की तुलना कपिंग (Cupping) की चीर-फाड़ (Operation) से की है। उनके अनुसार "यदि मनुष्य के शरीर की किसी नस में से खून निकाल लिया जाये तो केवल उसी नस में ही खून की कमी नहीं होती बल्कि सारे शरीर में खून की कमी हो जाती है।"[7] अर्थात्, यदि समाज के केवल एक व्यक्ति से कर लिया जाये तो कर भार केवल उसी व्यक्ति पर ही नहीं पड़ेगा, बल्कि सारे समाज पर क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समाज के शरीर का एक अंग है। अतः इन लेखकों के अनुसार किसी वस्तु पर या कितनी ही वस्तुओं पर कर लगाया जाये, उसका भार सारे ही समाज पर पड़ेगा और किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं रहेगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दोनों ही सिद्धान्तों में कुछ समानता है। दोनों सिद्धान्त इस बात का स्वीकार करते हैं कि कर का भुगतान आधिक्य आय (Surplus income) में से किया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि निर्बाधावादी लेखक केवल भूमि की उपज को ही आधिक्य आय मानते थे, परन्तु फ्रान्सीसी लेखक यह मानते थे, कि प्रत्येक वस्तु से आधिक्य आय उत्पन्न होती है। इसीलिये निर्बाधावादी केवल भूमि पर ही अकेले कर के पक्षपाती थे और फ्रान्सीसी लेखक न एक कर के विपक्ष में थे और न अनेक कर के विपक्ष में थे। वे तो प्रत्येक कर को ही अच्छा मानते थे। यदि हम भूमि शब्द का प्रयोग केवल धरातल और उससे सम्बन्धित वस्तुओं के लिए ही करें, अर्थात् यदि हम भूमि का अभिप्राय उन्हीं वस्तुओं से लें जिनको पुराने लेखक समझते थे तब तो निर्बाधावादी लेखकों का विचार अतिसीमित था, परन्तु यदि हम भूमि का व्यापक अर्थ लें, अर्थात् सभी उत्पत्ति के साधनों में

6 Quoted by Mehta and Agrawal, *Public Finance—Theory and Practice*, Page 74

7 Quoted by Saxena and Mathur, *Public Economics*, Page 72.

है या बेलोच ? कर का कितना भाग क्रेता को देना होगा और कितना विक्रेता को ? इस बात पर निर्भर होगा कि इन दोनो के लिये माँग तथा पूर्ति की लोच कैसी है। यदि माग की अपेक्षा पूर्ति बहुत लोचदार है तो स्पष्ट ही है कि विक्रेता कर का एक बडा भाग क्रेताओ के ऊपर ढकेल देंगे, परन्तु जहा स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है, *विक्रेता कर का केवल एक छोटा सा भाग ही क्रेताओ पर ढकेल सकेंगे अर्थात् कर का* अधिक भार विक्रेताओं पर ही पडेगा। इस प्रकार कर भार वस्तुओं की माग तथा पूर्ति की लोच पर निर्भर करता है।

कर-भार वस्तुओ की माग एव पूर्ति की लोच पर निर्भर होता है—

यदि अन्य बाते समान रहे, तो वस्तुओ की माँग जितनी अधिक लोचदार होगी उतना ही अधिक कर भार विक्रेताओ पर पडगा और वस्तु की पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी उतना ही कर भार उपभोक्ताओं पर अधिक होगा। वस्तु की *माँग बेलोच होने का अभिप्राय यह है कि मूल्य घटने या बढने का वस्तु की माँग पर* राई प्रभाव नही पडता और उपभोक्ता लगभग पहले ही जैसी वस्तु की मात्रा खरीदता रहता है। इसलिये यदि करा द्वारा मूल्य बढ जाता है तो भी क्रेता उतनी ही वस्तुएँ खरीदना रहेगा जितनी पहले खरीदता था। इस प्रकार कर का अधिक भाग उपभोक्ता पर होगा। वस्तु की माग अधिक लोचदार होने का अभिप्राय यह है कि *मूल्य बढने के साथ साथ माग कम होगी और मूल्य घटने के साथ साथ माग बढेगी।* ऐसी परिस्थिति मे कर द्वारा जो वस्तु के मूल्य म वृद्धि होगी उससे माग कम हो जायगी। यदि क्रेता अपनी सारी वस्तुओ को बेचना चाहता है तो वह कर का भाग स्वय सहन करेगा और मूल्य नही बढायेगा। अत सामान्य रूप से माँग बेलोच होने *की दशा में कर का भार उपभोक्ताओं पर पडता है और माँग लोचदार है तो कर* का भार उपादकों पर पडता है।

अभी तक हम माँग की लोच की दृष्टि से कर भार का अध्ययन कर रहे थे अब हम पूर्ति की दृष्टि से कर-भार की विवेचना करेंगे। पूर्ति लोचदार होन का अभिप्राय यह है कि कर लगाने से माँग मे जो कमी होती है उसके अनुसार पूर्ति *को कम किया जा सकता है। इस स्थिति म विक्रेता कर का भार क्रेताओ पर ढकेलते* हैं। पूर्ति के निर्धारण पर समय की अवधि का भी प्रभाव पडता है। अल्पकाल म पूर्ति माँग के बराबर नही की जा सकती और मूल्य माँग से ही प्रभावित होता है। दीर्घकाल मे पूर्ति को माँग के अनुसार बढाया या घटाया जा सकता है, इसलिये मूल्य को *पूर्ति प्रभावित करती है। दूसरे शब्दो म अल्पकाल म वस्तु की पूर्ति साधारणतया* बेलोच होती है और दीर्घकाल म लोचदार होती है। अत अल्पकाल म कर-भार विक्रेताओ पर अधिक पडता है और दीर्घकाल में क्रेताओं पर। अत हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि कर-भार वस्तु की माँग तथा पूर्ति की सापेक्षिक लोचा पर *निर्भर होता है। यदि दोनो की लोच समान है तो कर भार दोनो पर समान पडेगा।* यदि पूर्ति की लोच माग की अपेक्षा अधिक है तो कर भार क्रेताओ पर अधिक होगा

और यदि माँग की लोच पूर्ति की अपेक्षा अधिक है तो कर भार विक्रेताओं पर अधिक होगा। यह उत्पत्ति की दशाओं पर निर्भर करता है, जिनका अध्ययन हम अब करेंगे।

पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में कर भार—पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में यह मान लिया जाता है कि विक्रेताओं और क्रेताओं में स्वतन्त्र प्रतियोगिता होती है और विक्रेताओं तथा क्रेताओं की सख्या इतनी अधिक होती है कि किसी भी एक व्यक्ति की अपनी क्रियाओं से मूल्य प्रभावित नहीं होता और हर व्यक्ति को बाजार में प्रचलित मूल्य पर ही कार्य करना होता है, अर्थात् क्रेताओं को प्रचलित मूल्य पर खरीदना पड़ता है और विक्रेताओं को प्रचलित मूल्य पर बेचना पड़ता है। किसी वस्तु विशेष पर लगे हुये कर का विवर्तन उत्पादक वस्तु के मूल्य को बढ़ाकर, कर सकते हैं। परन्तु मूल्य उसी समय बढ़ाया जा सकता है जब कि या तो वस्तु की पूर्ति कम की जा सके या माँग बढ़ाई जा सके। उत्पादक माँग को तो प्रभावित कर ही नहीं सकते इसलिए केवल पूर्ति ही को कम करके उत्पादक कर विवर्तन करने में सफल हो सकते है।

इस अध्याय के आरम्भ में हमने, खण्डसारी शक्कर पर लगे हुये कर का उदाहरण लिया था, उसी को लेकर हम उपर्युक्त विचारों का विश्लेषण करेंगे। सरकार इस कर को उत्पादकों से वसूल करेगी। इस कर के लगने से शक्कर की उत्पादन लागत बढ़ेगी। परन्तु शक्कर के उत्पादकों की सख्या बहुत है और स्पष्ट ही है कि प्रत्येक उत्पादक की कार्य कुशलता एक समान नहीं है। कुछ उत्पादक अधिक कुशल है और कुछ कम और कुछ तो ऐसे उत्पादक है कि उनकी उत्पादन लागत बहुत ही अधिक होने के कारण उनको कोई विशेष लाभ प्राप्त नहीं होता और बड़ी कठिनाई से ही वे उत्पादन कर रहे है। कर लगने से जो उनकी उत्पादन लागत में वृद्धि हुई है उसके कारण वह अपना उत्पादन बन्द कर देने के लिये बाध्य होंगे, क्योंकि वे प्रचलित मूल्य पर शक्कर नहीं बेच सकते। ऐसा करने से उन्हे लाभ के स्थान पर हानि होगी। अन्य उत्पादकों को भी अपना उत्पादन कम करना पड़ेगा। इस करारोपण का सामान्य प्रभाव यह होगा कि बाजार में शक्कर की पूर्ति कम हो जायेगी और मूल्यों में वृद्धि होने लगेगी (यदि यह मान ले कि उपभोक्ताओं के लिए खण्डसारी शक्कर की माँग की लोच कम है।) परिणामस्वरूप कर का अधिकांश भाग उपभोक्ताओं को देना पड़ेगा। जितनी अधिक पूर्ति लोचदार होगी उतना ही अधिक कर, उपभोक्ताओं को देना पड़ेगा। पूर्ति की लोच भी कई बातों पर निर्भर होती है। जिन उद्योगों में स्थायी तथा अचल सम्पत्ति बहुत अधिक होती है उनकी वस्तुओं की पूर्ति की लोच कम होती है। इतनी अधिक पूँजी लगी होने के कारण उत्पादक वस्तु का उत्पादन कुछ हानि पर भी करना पसन्द करेंगे। ऐसी स्थिति में वे कर विवर्तन नहीं कर पायेंगे। परन्तु दीर्घ काल में लगभग सभी वस्तुओं की पूर्ति लोचदार होती है, अर्थात् दीर्घकाल में सब ही वस्तुओं की पूर्ति अवश्य ही कम होने लगती है। फलस्वरूप मूल्य बढ़ते है और

कर भार उपभोक्ताग्रा को सहन करना पडता है। इसी कारण हमने पहले कहा था कि जितनी पूर्ति अधिक लोचदार होगी उतना ही कर विवर्तन अधिक हो सकेगा।

कर-भार और स्थानापन्न वस्तुएँ—कर-भार की समस्या के अध्ययन का एक पहलू यह भी है कि जिन वस्तुओं की स्थानापन्न वस्तुएँ होती हैं उनका कर भार कौन सहन करता है ? इसी का अध्ययन हम यहाँ करेंगे। यदि किसी वस्तु की स्थानापन्न वस्तुएँ मौजूद हैं और यदि उस पर कर लगने से उसका मूल्य बढ जाता है तो उपभोक्ता तुरन्त ही ऐसी वस्तु का उपभोग आरम्भ कर देंगे जिस पर कोई कर नहीं है या जिसका मूल्य कम है। ऐसी स्थिति म कर-भार विक्रेताओ पर पडेगा। परन्तु यह सदैव ही नही होता। कभी-कभी ऐसी वस्तुओं का कर भार उपभोक्ताओं को भी सहन करना पडता है। यह विशेषकर उन वस्तुओं के विषय म अधिक सत्य है, जिनका उपभोग करने की आदत व्यक्तियो म पडी हुई है। उपभोक्ता कर का भार उन समय तक सहन करते रहेंगे जब तक व स्थानापन्न वस्तुओं के उपयोग करने की आदत उत्पन्न नही कर लेते।

कर-भार और उत्पत्ति के नियम—किसी वस्तु की पूर्ति उन नियमों की कार्यशीलता के ऊपर निर्भर करती है, जिनके आधीन उसका उत्पादन हो रहा है। उत्पत्ति के तीन नियम होते हैं—क्रमागत-उत्पत्ति ह्रास नियम, क्रमागत-उत्पत्ति-समानता नियम और क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम। प्रथम नियम के आधीन वस्तु की पूर्ति बढाने के साथ-साथ उत्पादन व्यय बढता जाता है। दूसरे नियम के आधीन वस्तु का उत्पादन व्यय समान रहता है और यदि उत्पादन तीसरे नियम के आधीन होता है तो प्रति इकाई उत्पादन व्यय कम होता जाता है। जब किसी ऐसी वस्तु पर कर लगाया जाता है, जिसका उत्पादन क्रमागत-उत्पत्ति-ह्रास नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो कर लगने के कारण, मूल्य म जो वृद्धि होती है वह कर-राशि के अनुपात में नहीं होती, बल्कि कम होती है। अत कर का कुल भार क्रेताओं पर ही नही पडता। ऐसा इसलिये होता है कि वस्तु का मूल्य बढने से माग कम होने लगती है और उत्पादक को उत्पत्ति की मात्रा भी कम करनी पडती है, जिसके कारण प्रति इकाई उत्पादन व्यय, पहले की अपेक्षा कम होता जाता है। उत्पादन व्यय कम होन के कारण ही वस्तु का मूल्य कर की मात्रा के अनुपात म नहीं बढता। यदि कर लगी हुई वस्तु का उत्पादन क्रमागत-समानता नियम के अन्तर्गत हो रहा है तो कर का भार क्रेता को ही सहन करना होगा, क्योंकि मूल्य बढने से माग के कम होने पर उत्पादन व्यय म कोई परिवर्तन नही होता। उत्पादन व्यय पूर्ववत् ही रहता है। उत्पादक उत्पत्ति को कम करके, पूर्ति को माग के बराबर करने का प्रयत्न करता है और इसलिये उपभोक्ताओं को ही भार सहन करने के लिए बाध्य कर देता है। यदि कर उस वस्तु पर लगाया जा रहा है, जिसका उत्पादन क्रमागत-उत्पत्ति-वृद्धि नियम के आधीन हो रहा है तो वस्तु का मूल्य, कर की राशि से भी अधिक अनुपात म बढ जाता है और क्रेता पर कर भार, कर की राशि से भी अधिक पड़ता है। कर लगाने से वस्तु के मूल्य म जो वृद्धि होगी वह वस्तु की माग को कम कर देती है और उत्पा-

दन भी कम होने लगता है। परिणामस्वरूप प्रति इकाई उत्पादन व्यय घटने के स्थान पर बढ़ना शुरू हो जाता है और मूल्य कर के अनुपात से अधिक बढ़ जाता है।

अतः पूर्ण प्रतियोगिता में कर भार के सम्बन्ध में हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि, किसी भी वस्तु पर लगे हुए कर का प्रत्यक्ष मौद्रिक भार क्रेताओं और विक्रेताओं में उसी अनुपात में बट जाता है, जो कर लगी हुई वस्तु की पूर्ति की लोच अथवा उसकी माग की लोच द्वारा निश्चित होता है।[8]

एकाधिकारिक दशाओं में कर-भार—एकाधिकारी का केवल एक ही उद्देश्य होता है वह यह कि अधिकतम लाभ प्राप्त करेगा। क्योंकि वह अकेला उत्पादक होता है, इसलिये वह उत्पत्ति और मूल्य में ऐसा सन्तुलन स्थापित करने में सफल हो जाता है कि उसका उद्देश्य पूरा हो जाय। यदि एकाधिकारी उत्पादक पर एक मुश्त कर लगा दिया जाता है अर्थात् बिना किसी निश्चित आधार के एक निश्चित राशि निर्धारित कर दी जाती है तो इस कर का विवर्तन वह उपभोक्ताओं पर नहीं कर सकता। होता यह है कि एकाधिकारी का सदैव यही प्रयास रहता है कि वह अपना लाभ अधिकतम करे और इसी उद्देश्य से वह अपनी वस्तु की उत्पत्ति या उसके मूल्य को निर्धारित करता है। यदि वह वास्तव में एक एकाधिकारी है, तो कदाचित अपनी शक्ति का प्रयोग करके उसने कर लागू होने से पहले ही ऐसा मूल्य या उत्पादन निर्धारित किया होगा जिससे वह अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके। कर लागू होने के बाद यदि वह अपने उत्पादन को कम करता है या मूल्य बढ़ाता है तो उसका कुल लाभ कम हो जायेगा क्योंकि उसको कर की राशि अपने लाभ में से देनी पड़ेगी। इसके विपरीत यदि वह कर लागू होने से अपनी पूर्वनिश्चित योजना में कोई परिवर्तन नहीं करता और उसी प्रकार उत्पादन करता रहता है जैसा पहले कर रहा था और उसी मूल्य पर वस्तु को बेचता रहता है जिस पर उसने वस्तु को बेचना निश्चय किया था तो कर का भुगतान करने के बाद उसे अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। इसी प्रकार यदि कर एक एकाधिकारी के कुल लाभों या कुल बिक्री के अनुसार लगाया जाए तो उसका भी विवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि कर राशि तो कुल लाभ प्राप्ति या कुल बिक्री हो जाने के पश्चात् निर्धारित होगी, इसलिये वह उपभोक्ताओं पर कर विवर्तन कर ही नहीं सकता। ऐसी अवस्था में भी उसके लिये यह ही अच्छा होगा कि वह कर का भार स्वयं सहन करे।

परन्तु व्यवहार में पूर्ण एकाधिकार की अवस्था नहीं मिलती और एकाधिकारी के लिए अपनी एकाधिकारी शक्ति का प्रयोग करना कठिन ही होता है अर्थात् वह साधारणतया क्रेताओं से एकाधिकारी मूल्य से नीचा ही मूल्य लेता है, और जब कर लागू होता है तो एकाधिकारी अपने ग्राहकों को एकाधिकारी मूल्य पर वस्तु बेचना आरम्भ कर देता है। परन्तु यह कर विवर्तन नहीं है। यह तो उसे केवल एक अवसर प्राप्त हुआ है जबकि वह एकाधिकार मूल्य प्राप्त कर सके क्योंकि अब वह अपने ग्राहकों को यह समझा सकता है कि कर लगने के कारण मूल्य ऊंचे हो गये

8 Dalton, op cit 1932 P 50

है। हाँ कर विवर्तन उस अवस्था मे अवश्य हो सकेगा जबकि एकाधिकारी पर उसकी उत्पत्ति के अनुपात म कर लगाया जाता है। उत्पत्ति बढने के साथ साथ कर बढता जायगा और उत्पत्ति कम होने के साथ साथ कर की राशि भी कम होती जायेगी। अत कर, उत्पादन व्यय का एक भाग बन जाता है। यह स्पष्ट ही है कि कर लगने से प्रति इकाई उत्पादन व्यय बढ जाएगा। सीमान्त उत्पादन व्यय में वृद्धि होने से अब उसको पुरानी उत्पत्ति की मात्रा पर तथा पुराने मूल्य पर वस्तु को बेचने में अधिकतम एकाधिकारी लाभ प्राप्त नही होगा बल्कि उसे अपनी उत्पत्ति कम करके ऊचे मूल्य पर बेचने मे ही अधिकतम एकाधिकारी लाभ प्राप्त होगा। एकाधिकारी को अधिकतम लाभ उसी समय प्राप्त होता है जबकि उसका सीमान्त उत्पादन व्यय, सीमान्त लाभ के बराबर होता है और अब जबकि सीमान्त उत्पादन व्यय में वृद्धि हो गई है, एकाधिकारी का अपना सीमान्त लाभ, सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर करने के लिए मूल्य को बढाना ही होगा इस प्रकार एकाधिकारी कर का विवर्तन अपने ग्राहको पर कर देता है। एकाधिकारी कितनी मात्रा म या किस अश तक कर का विवर्तन कर सकेगा या अपने ग्राहको मे ले सकेगा, यह वस्तु की पूर्ति की लोच और माग की लोच के अनुपात पर निर्भर करेगा।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशाओ में कर-भार—एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशा म वस्तु का न तो केवल एक ही उत्पादक होता है और न पूर्ण प्रतियोगिता की भाति बहुत से उत्पादक होते हैं, वरन् यहाँ पर वस्तु के केवल दो चार उत्पादक होते हैं जो एक दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं। इनमें से प्रत्येक उत्पादक की उत्पत्ति की मात्रा और वस्तु की मूल्य सम्बन्धी नीति शेष उत्पादको की नीतियों से प्रभावित होती रहती है। अत ऐसी दशाओ म वैसे तो कर भार का विवर्तन साधारणतया वस्तु की माग तथा पूर्ति की लोचो के अनुपात पर तो निर्भर करेगा ही, परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी अपना प्रभाव डालेगी। हम एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशाओ में कर भार की समस्या का अध्ययन नीचे करेंगे।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशाओं म यदि फर्मो पर एक मुश्त कर लगा दिया जाय, तो जैसा एकाधिकार की दशाओ म हम देख चुके हैं, कि ऐसा कर लगाने से उत्पादको के सीमान्त उत्पादन व्यय म कोई भी वृद्धि नही होगी और इसलिए न तो वे अपनी उत्पत्ति ही कम करेंगे और न मूल्य ही बढायेंगे। यहाँ पर एक और बात का भी प्रभाव पडता है और वह है—फर्मो के पारस्परिक सम्बन्ध। फर्मो के पारस्परिक सम्बन्ध से दो सम्भावनाए उत्पन्न हो सकती हैं प्रथम, कुछ उत्पादक उत्पादन क्षेत्र से बाहर निकल जाए और दूसरे यह कि वे एक दूसरे प्रतियोगियो की नीतियो को ध्यान म रखकर, सभी मूल्य बढादें और कर विवर्तन करदें परन्तु ऐसा करने मे वे कहा तक सफल हो सकेगे, इस बात पर निर्भर करेगा कि वस्तु की माँग की लोच कैसी है। जहा तक पहली सभावना, अर्थात् कुछ उत्पादको द्वारा उत्पादन छोडे जाने का प्रश्न है, यदि ऐसा होता है तो जो फर्म बाहर चली जायेगी, उसके ग्राहक अपनी वस्तुए किसी दूसरी फर्म से खरीदेगे। परिणामस्वरूप

नही बढाया है, उनको कर का पूरा भार सहन करना होगा। तीसरे, कुछ उत्पादक उत्पादन क्षेत्र से बाहर जा सकते हैं अर्थात् अपनी वस्तु का उत्पादन ही बन्द करदे। इस स्थिति का अध्ययन हम अभी ऊपर कर आये हैं।

यदि कर वस्तु की बिक्री के अनुपात में लगाया जाता है, तब कर विवर्तन वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर करेगा। बेलोच माँग वाली वस्तुओं के मूल्य तो बढ जायेंगे, परन्तु लोचदार माँग वाली वस्तुओं के मूल्य बढाकर विवर्तन नही किया जा सकेगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कर विवर्तन, पूर्ण प्रतियोगिता और पूर्ण एकाधिकार की दशाओं की भांति एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे भी वस्तु की माँग और पूर्ति की लोचो के आपसी अनुपात पर ही निर्भर करता है। परन्तु यहाँ पर यह इतना निश्चित नही होता जितना अन्य दो दशाओं मे होता है, क्योंकि इस अवस्था में प्रतियोगी उत्पादकों की उत्पादन तथा मूल्य सम्बन्धी नीतियां भी एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि कर विवर्तन या तो आगे की ओर किया जा सकता है या पीछे की ओर। उपर्युक्त परिस्थितियों मे हमने देखा कि कर विवर्तन केवल आगे की ओर ही किया गया है। उदाहरणार्थ यदि फर्नीचर बनाने वालों की वस्तुओं पर कोई कर लगता है तो ये लोग यदि इस कर को उपभोक्ताओं से वसूल कर सकते हैं तो यह कर का विवर्तन आगे की ओर होगा और यदि ये लोग लकड़ी के उत्पादकों को मजबूर कर देते हैं कि वह अपनी लकड़ी कम मूल्य पर बेचे तो यह कर विवर्तन पीछे की ओर होगा। इस प्रकार यदि प्राप्त किये गये मूल्य को बढ़ाकर लिया जाये तो कर विवर्तन आगे की ओर होगा और यदि भुगतान किये जाने वाले मूल्यों को कम करके दिया जाये तो कर विवर्तन पीछे की ओर होगा। दूसरे शब्दो मे यूं भी कह सकते है कि यदि कर उत्पादकों से उपभोक्ताओं की ओर ढकेला जा रहा है तो कर विवर्तन आगे की ओर हो रहा है और यदि कर उपभोक्ताओं से उत्पादकों की ओर ढकेला जा रहा है तो कर विवर्तन पीछे की ओर हो रहा है।

आगे की ओर होने वाला कर विवर्तन, बेची जाने वाली वस्तु की माँग एवं पूर्ति की लोचो पर निर्भर करता है। उसी प्रकार पीछे की ओर होने वाला कर विवर्तन खरीदी जाने वाली कच्ची सामग्री या प्रारम्भिक सेवा की माँग एवं पूर्ति की लोचो पर निर्भर करता है। यदि कच्ची सामग्री की पूर्ति की लोच, माँग की अपेक्षा कम है तब उत्पादक वर्ग कर विवर्तन पीछे की ओर कर सकेगा, अर्थात् उत्पादक खरीदी हुई वस्तु के मूल्य कम दे सकेंगे। दूसरी ओर यदि कच्ची सामग्री की पूर्ति लोचदार है, अर्थात् यदि फर्नीचर वाली लकडी बेचने वाले लकडी को किसी और कार्य के लिए उपयोग मे ला सकें तो फर्नीचर बनाने वाले लकडी के मूल्य कम करवाने में सफल न हो सकेंगे अर्थात् कर विवर्तन पीछे की ओर नहीं हो सकेगा।

कर विवर्तन आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर करता है। यदि समृद्धि काल है

तो कर विवर्तन सरलतापूर्वक आगे की ओर किया जा सकेगा और यदि मंदी काल है तो कर विवर्तन या तो पीछे की ओर होगा या उत्पादक कर-भार स्वयं सहन करेंगे।

अभी तक हम कुछ सामान्य परिस्थितियों में कर विवर्तन की समस्या का अध्ययन कर रहे थे अब हम कुछ विशेष करों में कर विवर्तन की समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

भूमि पर लगाये गये कर का भार—भूमि पर कर यदि आर्थिक लगान के आधार पर लगाया गया है तो उसका भार जमींदारों पर पड़ता है, क्योंकि आर्थिक लगान भूमि की उपज के मूल्य में से उत्पादन व्यय निकाल कर बचता है। इस उत्पादन व्यय में केवल सामान्य लाभ (*normal profits*) ही होता है। किसान कर भार सहन करने को तैयार न होगा, क्योंकि उसे कोई भी आधिक्य (Surplus) प्राप्त नहीं होता। यदि जमींदार काश्तकार से पूरा लगान न ले रहा हो तब वह उसे कर के अनुपात में बढ़ाकर कर का भार काश्तकार पर डाल सकता है। यदि भूमि पर कर किसी एक विशेष फसल के अनुसार, जैसे कपास, गन्ना आदि पर लगाया जाय तो कर भार उस विशेष फसल के उपभोक्ताओं पर डाला जा सकता है क्योंकि यदि उपभोक्ता कर भार सहन करने को तैयार नहीं होंगे तब उस फसल के स्थान पर उत्पादक दूसरी फसल करने लगेंगे परन्तु यह भी कई बातों पर निर्भर करेगा। यदि कपास की माँग बेलोच है तो कर विवर्तन सरलता से हो जायगा और यदि पूर्ति बेलोच है तब कर विवर्तन नहीं हो सकेगा। यदि यह मान लिया जाय कि उत्पादक कर विवर्तन में सफल न होकर उस फसल को न करने का निश्चय करते हैं तो वे कौनसी फसल करने या दूसरी फसल करेंगे भी या नहीं, इस बात पर निर्भर करेगा कि उस भूमि में दूसरी फसल की कितनी मात्रा प्राप्त होगी तथा दूसरी फसल का मूल्य क्या है। यदि दूसरी फसल की कम मात्रा प्राप्त होती है तो किसान को हानि होगी और अप्रत्यक्ष रूप से पहली फसल पर लगाये गए कर का भार उन्हीं को सहन करना पड़ता है। यदि दूसरी फसल का मूल्य अधिक है तब उस फसल को करने वाले उत्पादकों की संख्या बढ़ने तथा उनकी पूर्ति बढ़ने से उसका मूल्य नीचा आ जायेगा और इस स्थिति में भी काश्तकारों को पहली फसल की अपेक्षा हानि होगी और इस प्रकार वह यही पसंद करेगा कि वह पहली ही फसल करते रहें और कर का भार स्वयं सहन करें। परन्तु क्योंकि काश्तकारों को कोई आधिक्य प्राप्त नहीं होता इसलिए वह कर भार सहन न करके खेती करना बन्द कर देंगे और इसलिए अन्त में जमींदारों को ही कर भार सहन करना होगा। यदि कर भूमि की उपज की मात्रा के अनुपात में लगाया जाता है तो उसका विवर्तन वस्तु की माँग तथा पूर्ति की लोचों के अनुपात पर निर्भर रहेगा। यदि माँग बेलोच है तो कर भार उपभोक्ता सहन कर लेंगे और यदि वे माँग लोचदार है तो उपभोक्ता उस वस्तु का उपभोग कम कर देंगे। काश्तकार माँग कम होने से उस भूमि पर खेती करना बन्द कर देंगे और इसलिए जमींदार उस कर का भार लगान में वृद्धि न करके स्वयं

सहन करेंगे परन्तु व्यवहार मे ये सब बातें एक कल्पना मात्र है।

आयात तथा निर्यात करों का भार—आयात तथा निर्यात करो का भार इस बात पर निर्भर करेगा कि व्यापार की जाने वाली वस्तुओ की माँग की लोच कैसी है अर्थात आयातकर्ता देश को निर्यातकर्ता देश की वस्तु की माँग कैसी है। यह तो हम जानते ही है कि जब दो देशों मे व्यापार होना है तो दोनों देश एक दूसरे की वस्तुएँ मँगाते हैं। इसलिये हमे दोनों देशो को एक दूसरे की वस्तुओ की माग की लोचो का तुलनात्मक अध्ययन करना होगा। यदि भारत और पाकिस्तान म व्यापार हो रहा है, और भारत को पाकिस्तान की कपास की माँग बेलोच है, परन्तु पाकिस्तान के लिये भारतीय कपडे की माँग लोचदार है तो इस प्रकार के करो का भार अधिकतर भारत के लोगो को सहन करना होगा। स्पष्ट है कि भारत को पाकिस्तान से कपास मगाना ही होगा चाहे पाकिस्तान कितना ही निर्यात कर क्यों न लगादे दूसरी ओर भारत कपडे पर आयात कर लगा नही सकता इसलिये भारत के लोगो को आयात करो से प्राप्त होने वाला लाभ प्राप्त नही होगा। यद्यपि कुछ लोग इस बात पर जोर देते हैं कि इन करो का भार सदैव ही उस देश पर पडता है जो उसे लगाता है और उस भार को विदेशी लोगो पर नही ढकेला जा सकता, किन्तु यह मत सही नही है। यदि कोई देश ससार में उत्पन्न होने वाली किसी एक वस्तु का अधिकाश भाग उत्पन्न करता है या किसी वस्तु के उत्पादन मे उसे एकाधिकार प्राप्त है तो यह देश उस वस्तु पर लगाये गये निर्यात कर के भार को विदेशी लोगो पर ढकेलने मे सफल होगा तथा विदेशी जो वस्तु इस वस्तु के बदले म निर्यात करेंगे उसका आयात कर भी विदेशी ही सहन करेंगे। यदि विदेशी भी किसी वस्तु का अधिकाश भाग उत्पन्न नही कर रहे है तो। वे देश जो अधिकतर पक्के माल का निर्यात करते है तथा कच्चे माल का आयात करते हैं और आयात तथा निर्यात कर लगाते है तो इनका कर भार भी इन्ही देशो पर पडेगा अर्थात कर का भार एक दूसरे पर नही पडेगा। यदि किसी वस्तु का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है तो उस वस्तु की पूर्ति किसी एक देश के लिये लोचदार होती है इसलिये ऐसी वस्तु पर लगाये गये आयात तथा निर्यात कर का भार उसी देश के लोगो पर होगा।

आय कर का भार—आय कर के भार के सम्बन्ध में मुख्यतया दो विचार-धारायें मिलती है। एक विचारधारा के अनुसार व्यापारी अपनी वस्तु का मूल्य निश्चित करते समय आय कर को ध्यान मे रखता है, और मूल्य इस प्रकार निश्चित करता है कि उपभोक्ताओ पर कर भार डाला जा सके। दूसरी विचार-धारा पहली के बिल्कुल विपरीत है। इसके अनुसार आय कर के भार का विवर्तन हो ही नही सकता। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में दीर्घकाल में कर विवर्तन नही हो सकता क्योंकि मूल्य की प्रवृत्ति सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होने की होती है, और सीमान्त उत्पादक को कोई लाभ प्राप्त नही होता, इसलिय मूल्य म आय कर सम्मिलित नही होता। यदि कोई उत्पादक ऐसा करता भी है तो उसके देशीय तथा

विदेशी प्रतियोगी, जो आय कर नहीं दे रहे हैं, उसे ऐसा नहीं करने देंगे, क्योंकि वे वस्तुओं को सस्ती बेचेंगे। प्रतियोगिता के भय के कारण व्यापारी कर को वस्तु के मूल्य में नहीं मिलाते और स्वयं ही सहन करते हैं। एकाधिकार में भी ऐसा ही होता है। एकाधिकारी पहले ही इस प्रकार का मूल्य निश्चित करता है जिससे उसका लाभ अधिकतम हो। यदि वह मूल्य बढ़ायेगा तो वस्तुओं की कम मात्रा बिकने से उसको लाभ कम प्राप्त होगा और इसलिये वह कर भार स्वयं ही सहन करेगा।

सम्पत्ति कर का भार—सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—एक तो वह जो प्रत्यक्ष उपभोग के कामों में आती है और दूसरी वह जो उत्पादन के काम में आती है। उपभोग में आने वाली सम्पत्ति जैसे रहने का मकान, जेवरात इत्यादि पर जब कर लगाया जाता है तब उसका विवर्तन आगे की ओर नहीं हो सकता क्योंकि उसका विनिमय नहीं हो सकता है और इसलिये मूल्य बढ़ाया नहीं जा सकता। इसलिये कर भार या तो सम्पत्ति के उपभोक्ता को सहन करना पड़ता है या उसका विवर्तन पीछे की ओर होता है। वास्तव में कर लगने से सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय घट जाती है जिसके कारण उसका मूल्य भी कम होता जाता है। इसलिये सम्पत्ति को खरीदते समय ही कर का विवर्तन सम्पत्ति के विक्रेता पर किया जा सकता है अर्थात् उस सम्पत्ति का कम मूल्य देकर भविष्य में दिये जाने वाले कर की क्षति पूर्ति पहले ही कर ली जाती है। संक्षेप में कर विवर्तन पीछे की ओर किया जाता है। इसको कर का पूंजीकरण (Tax Capitalisation) भी कहते हैं। पूंजीकरण, वार्षिक आय के पूंजीगत मूल्य की गणना है। वार्षिक आय को प्रतिशत दर से भाग देकर इसे मालूम किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, १०% की दर पर ८० रुपये वाली वार्षिक आय का पूंजीगत मूल्य $\frac{८० \times १००}{५}$ = १६०० रुपये होगा अर्थात् १६०० रुपये की पूंजी १०% वार्षिक दर से ८० रुपये की वार्षिक आय प्रदान करेगी। अब हम यह देखेंगे कि कर का पूंजीकरण किस प्रकार होता है। मान लीजिये एक मकान है जिसका मूल्य २००० रुपये है, जिसका वार्षिक किराया १०० रुपये है। इस मकान पर २० रुपये साल का कर लगा हुआ है। इस तरह मकान की शुद्ध आय कुल ८० रुपये हुई। यदि कोई व्यक्ति २००० रुपये लगाकर १०० रुपये की वार्षिक आय प्राप्त करना चाहता है तो वह इस मकान को २००० रुपये में नहीं खरीदेगा, क्योंकि इसमें तो उसे केवल ८० रुपये, अर्थात् २० रुपये कम, प्राप्त होते हैं और वह किसी अन्य व्यवसाय में अपनी पूंजी लगाने का निश्चय करेगा या कम मूल्य पर मकान खरीदेगा। परन्तु वह कितना मूल्य देगा? स्वाभाविक ही है कि वह उतना मूल्य देगा कि २० रुपये का वार्षिक कर देने के बाद उसे १०% प्राप्त होता रहे। यह उसी समय सम्भव होगा जब वह उस मकान का मूल्य केवल १६०० रुपये दे। यदि वह इस प्रयत्न में सफल हो जाता है तो वह सारा कर भार मकान के विक्रेता

पर डाल देता है। उसके लिये सम्पत्ति सदैव के लिये भार मुक्त हो जाती है।[9]

यह ध्यान रहे कि कर का पूँजीकरण इतना सरल नहीं होता जितना समझा जाता है। इसके लिये निम्न बातों की विशेष आवश्यकता होती है। इन बातों की अनुपस्थिति में कर का पूँजीकरण नहीं हो सकता। प्रथम, वस्तु टिकाऊ होनी चाहिये, तथा उसकी पूर्ति सरलता से न बढ़ाई जा सके और न घटाई जा सके जैसे भूमि। यदि ऐसा नहीं होगा तो कर भार उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। दूसरे, कर का पूँजीकरण केवल उसी समय हो सकता है, जब कर दीर्घ काल के लिये लगाया जाये। यदि कर केवल अस्थायी रूप से थोड़े से समय के लिये लगाया गया है तो सम्पत्ति का मालिक उसको नहीं बेचेगा और वह इसी इन्तजार में रहेगा कि कर हटे और वह सम्पत्ति को बेचे क्योंकि यदि वह सम्पत्ति को कर की उपस्थिति में बेचेगा, उसको सम्पत्ति का कम मूल्य प्राप्त होगा। इसलिये वह सम्पत्ति का पूरा मूल्य प्राप्त करने के लिये उसको उसी समय बेचेगा जब कि कर हटा दिया जायेगा। अतः कर का पूँजीकरण केवल तभी होगा जब कर दीर्घ काल के लिये लगाया गया है। तीसरे, कर का पूँजीकरण उसी समय होगा जब कर केवल किसी एक ही वस्तु पर लगाया गया है। यदि कर सभी वस्तुओं पर लगा हुआ है तब पूँजी का विनियोग करने वालों को सब स्थानों पर समान लाभ प्राप्त होगा। यदि कर केवल एक ही वस्तु पर लगा है तो उस वस्तु से अपेक्षाकृत कम लाभ प्राप्त होगा इसलिये इस वस्तु के स्वामी को पूँजीकरण करना होगा अर्थात् उसको कर के अनुपात में वस्तु का मूल्य घटाना होगा। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उस वस्तु को कोई नहीं खरीदेगा और सभी व्यक्ति अन्य वस्तुओं में अपनी पूँजी का विनियोग करेंगे। चौथे, उन्हीं वस्तुओं पर लगे हुये कर का पूँजीकरण हो सकता है जो बाजार में बेची और खरीदी जा सकें और अन्त में जिस वस्तु पर कर लगाया जाता है उसका स्वामित्व शीघ्र बदलते रहना चाहिये, बेचने और खरीदने में वस्तु का मूल्य कम होता रहे। इसी कारण सैलिगमैन ने भूमि कर के पूँजीकरण का पक्ष लिया।[10] परन्तु प्रश्न यह है कि पूँजीकृत कर का भार किस पर पड़ता है क्रेता पर या विक्रेता पर। साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि पूँजीकृत कर का भार विक्रेताओं पर पड़ता है क्योंकि उसको मूल्य कम करना पड़ता है, परन्तु दूसरी ओर डाल्टन का विचार है कि इस कर का भार क्रेता पर होगा क्योंकि उसे कर हटने के बाद लाभ होगा।

जिस सम्पत्ति का उपयोग उत्पादन कार्यों के लिये होता है उस पर लगे हुये कर के भार की प्रकृति ठीक उसी प्रकार होगी जैसे किसी व्यापार पर लगे हुये एक मुश्त कर के भार की होती है। यह भी उत्पादन व्यय का एक स्थायी अंग बन जाता है। परन्तु ऐसे कर से वस्तु का सीमान्त उत्पादन व्यय बढ़ता नहीं है। मूल्य उस समय तक नहीं बढ़ सकता जब तक कि माँग न बढ़े या पूर्ति कम न हो। सम्पत्ति कर से यह दोनों ही बातें नहीं हो पाती। मूल्य में भी वृद्धि नहीं होती और इसलिये कर

9 Phillips E. Taylor, *The Econom cs of Public Finance*, Page 276
10 Cf. *The Shifting and Inciaence of Taxation* Pp. 219 225.

का विवर्तन भी नहीं हो सकता है। बात यह है कि उत्पादकों को उत्पत्ति कम करने में तभी लाभ होता है जब कि उत्पत्ति बढ़ाने से प्रति इकाई उत्पादन व्यय बढ़ने लगता है। सम्पत्ति कर से उत्पादन व्यय में वृद्धि नहीं होती इसीलिये पूर्ति कम करने में सम्पत्ति के मालिकों को कोई लाभ नहीं होता। सम्पत्ति की माग बढ़ाना सम्पत्ति के मालिकों के वश की बात नहीं है। इसी कारण सम्पत्ति कर का विवर्तन नहीं हो पाता। हा यह अवश्य हो सकता है कि दीर्घ काल में सम्पत्ति के मालिक जब कर का भार अधिक हो जाय तो उत्पादन बन्द कर दें जिससे पूर्ति कम हो जायगी और मूल्य बढ़ने से कर का विवर्तन हो जायेगा। इस प्रकार सम्पत्ति करों का भार आगे की ओर ढकेलना इतना सरल नहीं है, यद्यपि इनका पूजीकरण अवश्य ही किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रत्येक कर का भार अलग अलग विधियों से तथा भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न रीति से ढकेला जाता है। कर भार की समस्या का अध्ययन यद्यपि बहुत ही महत्वपूर्ण है परन्तु व्यवहार में कदाचित इसकी ओर कम ध्यान दिया जाता है क्योंकि व्यवहार में वित्त मंत्री केवल सामाजिक उद्देश्यों से ही करारोपण नीति को निर्मित नहीं करता वरन् राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों का भी उसे ध्यान करना होता है। अतः इस प्रकार के अध्ययन का केवल सैद्धान्तिक महत्व ही है।

अध्याय १०

कर-दान क्षमता
(Taxable Capacity)

प्राक्कथन—

करारोपण राज्य की आय का आजकल मुख्य स्रोत है। राज्य के व्ययों में वृद्धि होने के साथ साथ करारोपण का क्षेत्र भी विस्तृत होता चला गया है। नित्य नये कर राज्य लगाता चला जा रहा है। जितना मनुष्य इन करों से दूर भागता है उतना ही उनमें वह जकड़ता जाता है। निष्पक्ष होकर यदि देखा जाय तो राज्य भी त्रुटि पर नहीं है। लगभग एक शताब्दी में राज्य का दृष्टिकोण ही बदल गया है। आज राज्य केवल सुरक्षा सम्बन्धी कार्य ही नहीं करता वरन् आजकल राज्य का मुख्य उद्देश्य एक कल्याणकारी समाज स्थापित करना है, नागरिक के कल्याण की प्रत्येक बात की ओर ध्यान देना है और आज राज्य नागरिक के जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बन्धित है। यदि राज्य को हम अपना सहयोग दान नहीं देंगे, अपना अंशदान नहीं देंगे राज्य हमारे कल्याण के लिये इतने सारे कार्य किस प्रकार पूरे करेगा। कर न देने का इस प्रकार यही अभिप्राय होगा कि या तो कुछ लोगों को मुफ्त शिक्षा या चिकित्सा या वृद्धावस्था पैंशन नहीं प्राप्त होगी। यदि सभी नागरिक ऐसा करते रहे तो कदाचित एक दिन ऐसा आयेगा जबकि धन की असमानतायें मुँह फाड़ कर निर्धनों को निगल जायेंगी। इसके अतिरिक्त कर देकर हम राज्य पर कोई एहसान नहीं करते। जो कुछ हम राज्य को देते हैं वह वास्तव में हम स्वयं को दे रहे हैं, क्योंकि राज्य सभी नागरिकों का एक सामूहिक रूप ही तो है और इस तरह करारोपण सामूहिक बचतें प्राप्त करने का एक साधन है। करारोपण द्वारा उन व्यक्तियों को भी बचत करनी पड़ती है जो कभी भी नहीं बचाते। फिर जो कुछ हम करों के रूप में राज्य को देते हैं वह राज्य की जेब में ही नहीं रह जाता। राज्य उसी को हमारे पास सेवाओं, बढ़ी हुई रोजगारी, बढ़ी हुई आय-निःशुल्क शिक्षा एवं चिकित्सा आदि के रूप में हमको वापिस कर देता है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि करारोपण आवश्यक है और हर व्यक्ति को कर देना चाहिये। परन्तु प्रश्न यह है कि करारोपण की कोई सीमा भी है या नहीं? किसी व्यक्ति को कितना कर देना चाहिये? निर्धन व्यक्ति कर कैसे दे? यह सब बातें केवल करारोपण के न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। करारोपण न्याय-

अध्यायों में कर ही चुके हैं, परन्तु इस प्रकार के परिणाम नकारात्मक हैं। यह सम्भव है कि किसी विशेष समय पर किसी राष्ट्र की कर-दान क्षमता का प्रतिनिधित्व करने के लिये एक निश्चित धनराशि या राष्ट्र की आय के सही अनुपात को निर्धारित किया जा सके।[2] इस बात को ध्यान में रखकर अब हम कर-दान क्षमता पर व्यक्त किये गये विभिन्न विचारों का अध्ययन कर सकते हैं। शिराज, जिन्होंने इन दोनों प्रकार की कर-दान क्षमताओं का वर्णन किया है, निर्पेक्ष कर-दान क्षमता के विचार को भी महत्व देते हैं। वह कहते हैं कि "जब किसी देश के आर्थिक ढाँचे का निरीक्षण इस बात को जानने के लिये किया जाये कि वह कर के भार के रूप में कितना बोझा सहन कर सकता है, तो ऐसी स्थिति में निर्पेक्ष कर दान क्षमता नापने का प्रयत्न किया जाता है।"[3] अत: निर्पेक्ष कर दान क्षमता कर लेने की अन्तिम सीमा होती है। कुछ व्यक्तियों ने सर्वोत्तम कर दान क्षमता के शब्दों का प्रयोग किया है। सर्वोत्तम कर दान क्षमता वह अधिकतम राशि है जो समाज के अधिकतम आर्थिक कल्याण के लिये उत्पन्न की जा सकती है। निर्पेक्ष तथा सर्वोत्तम कर दान क्षमताओं में भी अन्तर है। निर्पेक्ष कर दान क्षमता अतिरिक्त उत्पादन (additional production) से उत्पन्न होती है। अतिरिक्त उत्पादन का केवल वह ही भाग कर दान क्षमता को निर्धारित करते समय सम्मिलित करना चाहिये, जो मशीनों की घिसावट एवं टूट-फूट के व्यय को निकालने के बाद शेष रहता है। अर्थात् मशीनें इत्यादि पहले की ही अवस्था में रहते हुए जितनी अतिरिक्त आय प्राप्त होती है वह ही कर दान क्षमता को निर्धारित करेगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हम एक निश्चल अथवा अपरिवर्तित (Static) प्रणाली की बात कर रहे हैं। हम जानते हैं कि परिस्थितियां कभी भी स्थायी नहीं रहतीं, इसलिए एक परिवर्तनशील (Dynamic) प्रणाली की बात करना अधिक व्यवहारिक होगा। ऐसे समाज में लोग सदा ही उन्नति की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करते हैं। जीवनस्तर उच्च करने का प्रयत्न करते हैं। बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये भी प्रबन्ध करते हैं, इत्यादि। इन सब बातों के लिए, इस प्रकार यह आवश्यक है कि इस आधिक्य का कुछ भाग व्यक्तियों के पास ही छोड़ दिया जाये और इसके बाद जो कुछ भी बचे वही सर्वोत्तम कर दान क्षमता कहलायेगी।

निर्पेक्ष कर दान क्षमता का माप—शिराज निर्पेक्ष कर दान क्षमता के माप के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि कुल राष्ट्रीय लाभांश में से मशीनों की टूट-फूट, घिसावट आदि की व्यवस्था करने के पश्चात् जो शुद्ध आय शेष रह जाय, उसी पर कर दान क्षमता निर्भर होगी। शिराज के अनुसार, "हम वर्ष विशेष में उत्पन्न की गई तमाम वस्तुओं और सेवाओं के बाजार मूल्य का योग कर लेते हैं, उसमें से देश की वस्तुओं, (कच्ची सामग्री तथा पूंजीगत वस्तुओं) के उस भाग को घटा देते हैं, जिसका व्यय कुल उत्पादन में हो चुका है, जो शेष

2 *Ibid*, page 163

3. *The Science of Public Finance*, Page 227.

रहता है वही उस वर्ष की राष्ट्रीय आय है।"[4] परन्तु यह ध्यान रहे कि शिराज द्वारा बताई गई विधि के अनुसार राष्ट्रीय आय का अनुमान बहुत कुछ गलत और बढ़ा चढ़ा होगा क्योंकि उन्होंने इस उत्पत्ति के उस भाग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जो उत्पादक अपने उपभोग के लिये रख लेते हैं या वस्तुओं को बेचने से पहले ही जिसका उपभोग कर लेते है। इसलिये कुल राष्ट्रीय आय में से इस भाग को भी घटाना चाहिए। शिराज ने यह भी ध्यान में नहीं रक्खा कि जिस वर्ष में नये विनियोग होंगे उस वर्ष में कुल आय में कमी हो जायेगी। इसलिये कुल आय में से इन विनियोगों के मूल्य के योग को भी कम करना चाहिये। इसी प्रकार विदेशों से जो ऋण प्राप्त किये गये हैं उनके सूद तथा मूलधन का जो भुगतान किया जाता है उसको भी शुद्ध राष्ट्रीय लाभांश निकालते समय कम करना होगा और जो कुछ विदेशों से प्राप्त होता है उसे कुल आय में जोड़ना होगा। अत शुद्ध राष्ट्रीय आय मालूम करके कर दान योग्यता को ज्ञात किया जा सकता है। अधिक विकसित देशों में राष्ट्रीय लाभांश मालूम करने के लिये अधिकतर दो विधियाँ अपनाई हैं। प्रथम आय योगकरण विधि (Aggregating of Income Method) और दूसरी उत्पत्ति गणना विधि (Census of Production Method)।

विभिन्न परिभाषायें—वास्तव में क्षमता जैसी मनोवैज्ञानिक बातों का कोई निश्चित माप नहीं होता। इनका तो केवल सापेक्षिक अध्ययन ही किया जा सकता है। यही कारण है कि अधिकतर लेखकों को कर-दान क्षमता की परिभाषा करने में कठिनाई हुई है। वैसे तो अनेक परिभाषायें दी गई हैं परन्तु इनमें से अधिकांश अस्पष्ट है। हम कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं का अध्ययन यहाँ पर करेंगे —

सर जोसिया स्टाम्प (Sir Josiah Stampe) के अनुसार कर-दान क्षमता वह अधिकतम धन राशि है जो एक देश के नागरिक, राजकीय पदाधिकारियों के व्यय की ओर अपने अंशदान के रूप में, बिना आनन्दरहित तथा पददलित जीवन बिताये और आर्थिक संगठन में बिना बहुत अधिक उथल-पुथल किये," दे सकते हैं। इसी प्रकार ड्रमन्ड फ़ेज़र का कथन है कि "जब कर-दाताओं को कर का भुगतान करने के लिये बैंकों से उधार लेना पड़े तो कर-दान क्षमता की सीमा आ जाती है।"[5] प्रो० फिन्ले शिराज के शब्दों में, "कर दान क्षमता न्यूनतम उपभोग के ऊपर उत्पादन का वह कुल आधिक्य है जो उतने ही उत्पादन को प्राप्त करने के लिए चाहिये, यदि जीवन-स्तर पूर्ववत रहे।"[6] प्रो० शिराज ने कर दान क्षमता को "निचोड़ की सीमा" भी कहा है।

वास्तव में यह परिभाषायें बहुत ही अस्पष्ट और संदिग्ध हैं। स्टाम्प का यह कहना कि व्यक्ति आनन्द रहित एवं पददलित हुये बिना ही कर का भुगतान कर सकें, स्पष्ट नहीं है, क्योंकि कोई भी ऐसा माप नहीं है और न कोई कसौटी ही

4 *Op., cit.*, Page 238
5. Quoted by Dalton *Op. cit.* Page 165
6. *Wealth and Taxable Capacity* Page 134

ऐसी है जिसके आधार पर यह पता लगाया जा सके। आनन्द और पददलितता मानसिक परिस्थितियां है, जिनका कोई निश्चित माप नही। यह ही नहीं, यह सापेक्षिक भी है और इसलिये यह पता लगाना कि किस व्यक्ति की कौन सी सीमा है, जहाँ वह आनन्द रहित तथा पददलित नही होगा, असम्भव है। इस प्रकार यह केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से तथा दूर से ही उचित लगती है क्योंकि इस आधार पर कर-दान क्षमता का माप ही नही किया जा सकता। फ्रेजर का विचार तो और भी अस्पष्ट है। कदाचित उनका यह विचार था कि व्यक्ति बैंक से केवल उसी समय उधार लेता है, या बैंक उसे केवल उसी समय ऋण देता है जब कि उसकी कर-दान क्षमता समाप्त हो जाती है। क्योंकि यदि ऐसा नही था तो फ्रेजर ने इतनी निश्चिन्ताई से बैंक से उधार लेने को ही कर-दान क्षमता की अन्तिम सीमा क्यों माना है? हम सभी जानते है कि आज-कल जब कि पग-पग पर व्यापारियों को बैंकों की आवश्यकता होती है, जब व्यक्ति उनसे धन उधार लेते है, तब फ्रेजर के अनुसार कर-दान क्षमता की माप करना असम्भव ही नही वरन् हास्यप्रद सी भी दीखती है। इसके अतिरिक्त क्या यह सम्भव नही कि व्यक्ति कर भुगतान करने के लिए केवल बैंकों से ही ऋण प्राप्त करे और अन्य व्यक्तियों से न लें? यही कठिनाइयाँ शिराज की परिभाषा में भी मिलती हैं अर्थात् न्यूनतम उपभोग को किस प्रकार परिभाषित किया जाये? निर्पेक्ष कर-दान क्षमता को परिभाषित करते हुये शिराज एक स्थान पर कहते है कि "यह कर लेने की वह सीमा है और करारोपण की उस अधिकतम मात्रा को सूचित करती है जो समाज के अधिकतम कल्याण के दृष्टिकोण से उत्पन्न तथा व्यय की जा सकती है।" इस परिभाषा की अस्पष्टता के सम्बन्ध मे अधिक कहना उचित न होगा क्योकि समाज का अधिकतम कल्याण करारोपण की कितनी मात्रा के आय तथा व्यय पर निर्भर होगा, इसको निश्चित करने की विधि का शिराज ने कही भी वर्णन नही किया है। डा० डाल्टन ने ऐलिंगर के विचारो का भी विश्लेषण किया है। ऐलिंगर का जो वाक्य उन्होंने दोहराया है वह इस प्रकार है कि कर दान क्षमता की सीमा उस समय आ जाती है, "जब करदाताओं की जेब से इतना निकाल लिया जाये कि उनका उत्पादन करने का उत्साह कम हो जाय और जब क्षय की पूर्ति करने तथा बढती हुई जनसंख्या मे नये श्रमिकों को काम पर लगाने के लिए आवश्यक पूंजी उपलब्ध करने के लिये अपर्याप्त धन बचे।"[7]

परन्तु इन सभी परिभाषाओं में एक सबसे बडी कमी यह है कि राजकीय व्यय की ओर कोई भी ध्यान नही दिया गया है। कर दान क्षमता पर सम्पूर्ण वाद-विवाद निरर्थक होगा यदि हम राजकीय व्यय के महत्व को भुला दें, क्योंकि राजकीय व्यय से मनुष्यों की कर दान क्षमता बढती है और इस प्रकार करारोपण–राजकीय व्यय–कर दान क्षमता–अधिक कर–अधिक राजकीय व्यय–और फिर अधिक कर-दान क्षमता—क्रम यों ही चलता रहता है। डा० भार्गव ने इसी बात पर आधारित करके अपने विचार प्रकट किये हैं। उनके अनुसार "करारोपण की सीमा और राजकीय

7 *Ibid*, Page 164

व्यय की भी, राजस्व के सिद्धान्त से व्यक्त होती है और राजस्व का आदर्श कहा जा सकता है।"[8] डा० भार्गव के कहने का अभिप्राय यह है कि करारोपण का सीमान्त त्याग, राजकीय व्यय की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होना चाहिये। कदाचित उनके कहने का आशय यह होगा (यद्यपि उन्होंने इसे स्पष्ट नहीं किया है) कि जिस बिन्दु पर राजकीय व्यय की सीमान्त उपयोगिता करारोपण के सीमान्त त्याग के बराबर हो, वहीं कर दान क्षमता की सीमा होगी। अर्थात् जब करारोपण का त्याग व्यय से प्राप्त उपयोगिता से अधिक है, तब कर दान-क्षमता की ऊपरी सीमा का उल्लघन हो रहा है या करदान क्षमता समाप्त हो गई है और यदि व्यय की उपयोगिता करारोपण के त्याग की अपेक्षा अधिक है तो कर दान क्षमता की ऊपरी सीमा अभी प्राप्त नही हुई है। जब ये दोनो साम्य की स्थिति में हो तब राष्ट्र की कर दान क्षमता की ऊपरी सीमा पहुँच जाती है। यद्यपि यह विचार बडा ही विवेकशील दीखता है, किन्तु डा० भार्गव ने यह नही बताया कि कर-दान क्षमता का माप कैसे किया जावे ? उनके वर्णन से भी कुछ स्पष्ट नही होता, क्योंकि त्याग और उपयोगिता दोनों ही मानसिक परिस्थितियाँ हैं, जिनको मापा नही जा सकता। अत उनका विचार भी कर दान क्षमता को मापने मे सहायता नही करता।

कौलिन क्लार्क (Collin Clark) ने इगलैंड के सम्बन्ध मे बताया था कि, "करारोपण की सुरक्षित ऊपरी सीमा राष्ट्रीय उत्पादन का 25% भाग है।" हो सकता है कि यह इगलैंड के लिये उचित हो, परन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि यह सीमा प्रत्येक देश के लिये ठीक है। प्रत्यक देश की आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ पूर्णतया भिन्न होती हैं। जो सीमा एक देश के लिये अधिकतम हो सकती है वह दूसरे देश के लिये न्यूनतम भी हो सकती है, और तीसरे देश के लिये ऊपरी सीमा से भी ऊँची हो सकती है। इसके अतिरिक्त इगलैड के लिये भी यह क्या निश्चय है कि यह सीमा प्रत्येक समय के लिये ही सुरक्षित सीमा रहे। वास्तव म कर-दान शक्ति देश की आर्थिक परिस्थितियों पर अधिक निर्भर रहती है। और आर्थिक दशा किसी देश की सदैव ही समान नहीं रहती। इसलिये यह कैसे कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय उत्पादन का 25% भाग इगलैंड के लिये, सभी समयो के लिये सुरक्षित ऊपरी सीमा होगी।

इन सब विचारा का अध्ययन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी देश की कर-दान क्षमता मापने का विचार ही एक कल्पना है। हमने ऊपर जितने भी विचारो का विश्लेषण किया है वे सभी एक दूसरे से भिन्न हैं। वे अस्पष्ट और सदिग्ध है। डाल्टन ने ठीक ही कहा है कि यदि हम राजस्व सम्बन्धी विचार में स्पष्टता लाना चाहते हैं तो हमें कर-दान क्षमता के प्रश्न पर विचार नही करना चाहिये। डाल्टन निर्पेक्ष कर-दान क्षमता को तो एक कोरा भ्रम और धोखा मानते हैं। प्रो० एडारकर ने भी डाल्टन जैसे विचार प्रकट किये हैं। उनका कथन है कि अधिकाश अर्थशास्त्री कर-दान क्षमता का स्पष्ट अर्थ बताने मे असमर्थ

8 Quoted by Saxena and Mathur, *Public Economics* Page 132

रहे हैं। कर दान क्षमता वाक्य का दुरुपयोग किया गया है। यह वाक्य ही गलत है। डाल्टन कहते हैं कि 'मेरा साधारण निष्कर्ष यह है कि सापेक्षिक कर-दान क्षमता एक सच बात है जो उचित रूप से दूसरे शब्दों म व्यक्त की जा सकती है परन्तु निरपेक्ष कर-दान क्षमता एक कल्पना है जिससे भयानक भूल होने की सम्भावना है।'[9]

कर-दान क्षमता किन बातों पर निर्भर करती है—कर-दान क्षमता अनेकों कारणों पर निर्भर करती है।

(१) **कर प्रणाली का रूप एव प्रकृति**—किसी देश की कर दान क्षमता काफी अश तक इस बात पर निर्भर करती है कि उस देश म कर प्रणाली का रूप क्या है ? भिन्न-भिन्न प्रकार की कर प्रणालियो म व्यक्तियो की कर दान क्षमता भी भिन्न-भिन्न होती है। वास्तव मे प्रणाली का रूप समुचित होना चाहिये। उसमे बीच-बीच मे खाली स्थान न हो अर्थात् करो का मिश्रण इस प्रकार किया जाये कि प्रत्येक व्यक्ति पर किसी न किसी रूप म कर लग जाये। यदि किसी कर म व्यक्तियो के बच जाने की सम्भावना है तो दूसरा कर इस प्रकार लगाया जाय कि बचे व्यक्ति भी उसमें आजायें। इससे कर की चोरी बची रहेगी और सरकार को आय भी पर्याप्त प्राप्त होती रहेगी। साथ ही कर भार का वितरण भी न्यायपूर्ण होगा। आय कर सम्पत्ति या वस्तु करो की अपेक्षा बहुत ही उत्पादक होता है और राष्ट्रीय सकट काल में उससे आय भी खूब बढाई जा सकती है। परन्तु इससे यह आशय नही कि देश मे केवल एक ही कर—आय कर—लगाया जाये। एक या थोडे से करो पर निर्भर करना ठीक नही होता। कम कर हो या अधिक, आवश्यकता इस बात की है कि इन करो का मिश्रण एव व्यवस्था इस प्रकार हो कि सरकार को हानि भी न हो और व्यक्तियो मे कर भार का वितरण भी न्यायपूर्ण हो जाये। नागरिको को कर का भुगतान करना कष्टदायी न हो अर्थात उनको कर के भुगतान करने म असुविधायें न हो। अत हम कह सकते हैं कि एक देश जिसम कर प्रणाली का रूप अधिक समुचित है, उस देश की कर दान क्षमता अधिक होगी अपेक्षाकृत उस देश के जहाँ कर प्रणाली समुचित नही है। जितना कर का भार एकसार होगा या अधिक से अधिक व्यक्तियो पर प्रसारित होगा उतनी ही देर म कर-दान क्षमता अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँचेगी।

(२) **राजकीय व्यय का आकार एव उद्देश्य**—कर-दान क्षमता पर राजकीय व्यय का भी प्रभाव पडता है। राजकीय व्यय द्वारा करारोपण के दोषा को दूर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त करारोपण द्वारा जो धन व्यक्तिया की जबो से निकाला जाता है वह नष्ट नही हो जाता है या उसे कुएँ म नही डाल दिया जाता वरन् वह व्यक्तियो को ही लौटा दिया जाता है और उस पर फिर कर लगाया जाता है। यह धन राजकीय व्यय द्वारा लौटाया जाता है। जितना अधिक भाग, करारोपण की आय का उत्पादक कार्यो म लगाया जायेगा अर्थात् ऐसी योजनाओ म लगाया जायेगा जिनसे व्यक्तियो की उत्पादन शक्ति मे वृद्धि होती है, उतनी ही उस

9 Dalton Op Cit Pages 168—169

देश की कर-दान क्षमता अधिक होगी। इसी प्रकार यदि कोई देश विदेशी ऋणों का ब्याज चुकाने में बहुत अधिक व्यय करता है, व्यक्तियों की कर दान क्षमता कम हो सकती है। अतः जिस देश में जितनी अधिक मात्रा में राजकीय व्यय उत्पादक कार्यों पर लगाया जायेगा उतनी ही उस देश की कर दान क्षमता भी अधिक होगी। राजकीय व्यय की मात्रा से अधिक महत्व राजकीय व्यय के उद्देश्य का होता है। जब व्यय का उद्देश्य जनता का कल्याण होता है अथवा कष्टों का निवारण करना होता है, जैसे अकाल पीडितों की सहायता करना, नि शुल्क शिक्षा एवं चिकित्सा प्रदान करना तब व्यक्तियों की कर दान क्षमता में ही केवल वृद्धि नहीं होती वरन् व्यक्तियों में कर देने की इच्छा भी उत्पन्न हो जाती है और कर की चोरी भी रुक जाती है। परन्तु यदि व्यय अधिकारियों के वेतन में वृद्धि करने, विदेशियों को सहायता देने, सैनिकों पर खर्च करने के लिये किया जाता है तो एक तो जनता के कर देने की इच्छा कम होती जायेगी और दूसरे भविष्य में कर दान क्षमता भी कम हो जायगी। अतः राजकीय व्यय का उद्देश्य उसके आकार से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

(३) **करदाताओं की मनोवृत्ति**—करदान क्षमता करदाताओं की मनोवृत्ति पर भी निर्भर होती है। व्यक्ति कितना कर दे सकते हैं, इस बात पर निर्भर करता है कि सरकार के प्रति जनता की श्रद्धा कितनी है। अर्थात् जनता सरकार की नीतियों का समर्थन करती है या विरोध। यदि वह सरकार की नीतियों का समर्थन करती है तो सरकारी व्यय के लिये अपना करादान स्वेच्छा से देने को तैयार होगी और यदि वह सरकारी नीतियों का विरोध करती है तो सरकार की नीतियाँ केवल असफल ही नहीं होंगी और व्यय बेकार ही नहीं हो जावेगा वरन् भविष्य में करदान क्षमता में भी कमी होगी। विदेशी सरकार के होने से जनता की उसके प्रति इतनी श्रद्धा नहीं होती जितनी अपनी राष्ट्रीय सरकार के प्रति होती है। भारत से अच्छा उदाहरण संसार में और कहीं नहीं मिल सकता। अतः विदेशी राज्य में व्यक्तियों की करदान क्षमता अपेक्षाकृत उन देशों के जहाँ स्वराज्य होता है, कम होती है। सकटकाल में जैसे लडाई, प्लेग, अकाल इत्यादि से व्यक्ति अधिक कर देने के लिये तत्पर रहते हैं। इसी प्रकार मंदी काल की अपेक्षा समृद्धि काल में व्यक्तियों की कर दान क्षमता अधिक होती है और फिर उनको कर का भुगतान करने में संकोच भी नहीं होता, क्योंकि व्यापार में मुनाफे भी बढ़ते रहते हैं और व्यक्तियों को रोजगार भी प्राप्त होते रहते हैं। सच तो यह है कि मन्दी काल में वातावरण निराशाजनक होता है और समृद्धि काल में आशाजनक, इसीलिये व्यक्तियों की मनोवृत्ति में भी परिवर्तन होते हैं।

(४) **देश की जनसख्या और राष्ट्रीय आय का अनुपात**—कुछ लेखकों का विचार है कि जनसख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही उस देश की करदान क्षमता अधिक होगी।[10] परन्तु यह विचार भ्रमात्मक है। केवल जनसख्या के ही अधिक

10 Tandon and others, *Public Economics* (Hindi) P. 74

होने से करदान क्षमता अधिक नही होती। जनसख्या के बढने के साथ साथ राष्ट्रीय आय मे भी वृद्धि होनी चाहिये। सच तो यह है कि जनसख्या की अपेक्षा राष्ट्रीय आय जितनी अधिक तीव्रता से बढेगी उतनी ही करदान क्षमता अधिक होती जावेगी। इसके विपरीत यदि किसी देश की जनसख्या राष्ट्रीय आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ रही है तो करदान क्षमता कम होती जाती है। राष्ट्रीय आय स्थिर रहने की स्थिति मे जनसख्या की वृद्धि होने से करदान क्षमता कम होती जाती है। यह ध्यान रहे कि जनसख्या देश की श्रम शक्ति होती है जो देश के साधनो के अधिकतम उपयोग म सहायता करती है जिससे कि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है। परन्तु यदि जनसख्या के बढने के साथ-साथ देश मे साधन पर्याप्त मात्रा मे न हो तो, न तो राष्ट्रीय आय मे ही वृद्धि होगी और न करदान क्षमता ही अधिक होगी, अपेक्षाकृत उन देश के जहाँ प्राकृतिक साधन पर्याप्त मात्रा म है। अत किसी देश की करदान क्षमता जनसख्या और राष्ट्रीय आय के अनुपात पर निर्भर करती है। जब जनसख्या राष्ट्रीय आय से अधिक है, तो करदान क्षमता कम होगी, जब जनसख्या राष्ट्रीय आय से कम है तो करदान क्षमता अधिक होगी और जब दोनो साम्य की स्थिति म होगे तो करदान क्षमता निचोड़ की सीमा पर होगी या अपनी ऊपरी सीमा पर होगी। परन्तु इन अनुपातो का भी केवल सापक्षिक महत्व है।

(५) **देश में धन का वितरण**—देश की करदान क्षमता इस बात पर भी निर्भर करती है कि उस देश म धन का वितरण कैसा है। फिनले शिराज तथा अन्य लेखको के अनुसार देश म जितना असमान वितरण होगा उतनी ही करदान क्षमता अधिक होगी और जितना धन का वितरण समान होगा उतनी ही करदान क्षमता कम होगी। दूसरे शब्दो में इन लेखको के विचार को यो कह सकते है कि यदि देश म धन केवल थोड से ही व्यक्तियो के हाथो म केन्द्रित है तो सरकार अधिक धन एकत्रित कर सकेगी, क्योकि एक तो कर वसूल करने म व्यय कम होगा दूसरे खूब धनी व्यक्ति कर का भुगतान सरलता से कर देंगे, अत करदान क्षमता अधिक होगी। इसके विपरीत यदि धन का वितरण समान है अर्थात् सभी व्यक्तियो के पास धन की मात्रा समान है तो छोटी छोटी आय वाले व्यक्तियो से कर वसूल करने का व्यय भी अधिक होगा और कर के आधार के सम्बन्ध मे अधिक व्यक्तियो को सन्तुष्ट करना सरल नही होता और इसलिये विरोध होने की भी सम्भावना अधिक रहती है। परन्तु यह विचार तथ्यहीन है। धन के समान वितरण से यह ही अर्थ क्या लिया जाये कि देश म सभी व्यक्तियो की आय छोटी होगी। समान वितरण की स्थिति म आय बडी-बडी भी हो सकती है अर्थात् सभी व्यक्तियों की आय बडी मात्रा म प्राप्त हो रही हो। इसके अतिरिक्त धन के समान वितरण का तर्कपूर्ण अर्थ यही है कि देश मे आय प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर प्राप्त हो तथा उन्नति करने के लिये समान सुविधाये उपलब्ध हो। यदि सभी व्यक्तियो को राज्य की ओर से शिक्षा, चिकित्सा, रोटी, कपडे, मकान तथा कार्य करने के लिये समान सुविधायें प्राप्त हो रही हैं तो सभी व्यक्ति सन्तुष्ट रहेंगे

और अपनी स्वेच्छा से कर का भुगतान करने के लिये तैयार होंगे। ऐसी व्यवस्था में कोई भी पूंजी तथा सम्पत्ति एकत्रित नहीं करेगा क्योंकि सभी का भविष्य सुरक्षित रहता है। राज्य की अध्यक्षता में सभी समान होते हैं। ऐसी व्यवस्था को चलाने के लिये सरकार जो कुछ भी व्यय करेगी उसको पूरा करने के लिये प्रत्येक नागरिक अपना अंशदान देने को तैयार रहेगा। सरकार को कर वसूल करने के लिये अधिक कर्मचारी नहीं रखने पड़ेंगे और कर की चोरी भी नहीं होगी। ऐसी परिस्थितियों में देश की करदान क्षमता उन देशों की अपेक्षा जहाँ ऐसी व्यवस्था नहीं होगी, अधिक होगी। वास्तव में नागरिक जितने अधिक राज्य से सन्तुष्ट होंगे उतना ही कर देने को अधिक तैयार रहेंगे। यह समझ में नहीं आया कि यह लेखक इस निष्कर्ष पर किस प्रकार पहुँचे कि धन के असमान वितरण में करदान क्षमता अधिक होगी। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि धन के असमान वितरण से केवल कुछ ही व्यक्ति समृद्धिशाली होंगे, अधिकांश व्यक्ति निर्धन होंगे या बेकार होंगे। सरकार को उन मुट्ठी भर धनी व्यक्तियों से इतनी राशि भी प्राप्त नहीं होगी जितनी उसको निर्धन व्यक्तियों को सामाजिक सेवायें प्रदान करने में व्यय करनी पड़ेगी। देश के आर्थिक विकास की बात तो बिल्कुल अलग रही। क्या ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि देश की करदान क्षमता अधिक होगी? सच तो यह है कि राष्ट्रीय आय का ऊँचा स्तर और समान वितरण दोनों ही पर कर दान क्षमता निर्भर करती है। ऊँची राष्ट्रीय आय, परन्तु असमान वितरण से करदान क्षमता कम होगी अपेक्षाकृत ऊँची राष्ट्रीय आय और समान वितरण के। दूसरी ओर नीची राष्ट्रीय आय और असमान वितरण में करदान क्षमता अधिक होगी अपेक्षाकृत नीची आय और समान वितरण के। असमान वितरण में बहुत ऊँची दर पर कर लगाने पर भी उतनी आय प्राप्त नहीं होगी जितनी समान वितरण में नीची कर की दर से प्राप्त होगी।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि कर-दान क्षमता किसी एक कारण पर निर्भर नहीं होती। ऊपर के सभी या अधिकांश कारणों को किसी देश की करदान क्षमता का ज्ञान प्राप्त करते समय ध्यान में रखना होगा। करदान क्षमता का ज्ञान अकेले करारोपण के अध्ययन से या अकेले राजकीय व्यय के अध्ययन से प्राप्त नहीं हो सकता। यह भी ध्यान रहे कि, जैसा डाल्टन ने कहा है कि केवल सापेक्षिक कर-दान क्षमता ही का विचार व्यवहारिक है, निर्पेक्ष कर दान क्षमता तो केवल कल्पना मात्र है। डाल्टन ने इस प्रश्न के उत्तर में कि करदान क्षमता कैसे मापी जाये? केवल कैनन के शब्दों—कोई कैसे, नहीं (No how) का समर्थन किया है।[11] अर्थात् कैनन की भाँति डाल्टन भी इस बात से सहमत हैं कि करदान क्षमता को निश्चित रूप से मापा ही नहीं जा सकता इसलिए 'कैसे' का प्रश्न ही नहीं उठता और न कोई उत्तर ही दिया जा सकता है। इसीलिये तो डाल्टन ने निर्पेक्ष करदान क्षमता के विचार का विरोध किया है क्योंकि उसमें माप करने की आवश्यकता होती है।

11. Op. cit. Page 164

सापेक्षिक करदान क्षमता को हम विभिन्न देशों की करदान योग्यता की तुलना करके मालूम करते हैं।

भारत में करदान क्षमता—भारत की करदान क्षमता के सम्बन्ध में बहुधा यह कहा गया है कि वर्तमान करभार असहनीय है, क्योंकि भारत एक निर्धन देश है, और भारत की करदान क्षमता अपनी सीमा तक पहुँच गई है। वास्तव में यह विचार भ्रमात्मक है। यदि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से, धन के वितरण को ध्यान में रखकर, हम भारत की करदान क्षमता की बात करें तो यही कहना होगा कि अभी करदान क्षमता अपनी अन्तिम सीमा तक नहीं पहुँची है, क्योंकि भारत में धन का वितरण बहुत अधिक असमान है। भारत में स्वदेशी सरकार है, इसलिए लोगों को कर देने में भी कोई आपत्ति नहीं है और आजकल सरकार सामाजिक कल्याण सम्बन्धी कार्यों पर भी खूब व्यय कर रही है। इसके अतिरिक्त भारत में मुद्रा-स्फीति का भी काल चल रहा है और व्यक्तियों को खूब लाभ प्राप्त हो रहे हैं। इसलिये भारत की करदान क्षमता की अन्तिम सीमा अभी नहीं पहुँची है—इसी विचार से भारत में राज्य एव केन्द्रीय सरकारें नित नये कर लगाती जा रही हैं। पुराने करों की न्यूनतम कर-रहित सीमा को कम करती जा रही हैं और दरों को बढ़ाती जा रही हैं। पिछले कुछ ही वर्षों में राज्य सरकारों ने बिक्री कर के क्षेत्र को बहुत अधिक विस्तृत कर दिया है। यहाँ तक कि अनाज, मिट्टी का तेल आदि आवश्यक वस्तुओं पर भी कर लगना आरम्भ हो गया है। केन्द्रीय सरकार ने पिछले दो तीन वर्षों में चार नए कर लगाने आरम्भ कर दिये हैं। वास्तव में जैसे जैसे विकास सम्बन्धी व्यय में वृद्धि हो रही है कर का भार भी बढ़ता जा रहा है। दूसरी लड़ाई से अब तक के काल में भारत की सरकारों की आय में पाँच गुनी से भी अधिक वृद्धि हो गई है। भारत सरकार की जो आय सन् १९३८-३९ में ८४.४७ करोड रुपये थी वह सन् १९५८-५९ में ६८५ करोड रुपयों से अधिक थी, अर्थात् ८ गुनी से भी अधिक वृद्धि हो गई है। सन् १९५८-५९ में करों से कुल ५७२·३४ करोड रुपये प्राप्त हुए थे। इसी प्रकार भारत में राज्यों की कुल आय सन् १९३८-३९ में ४०५ करोड रुपयों से अधिक थी जिसमें करों से प्राप्त आय २८१ करोड रुपये थी और सन् १९५८-५९ में ७४२ करोड रुपयों की कुल आय में करों से प्राप्त आय की कुल राशि लगभग ४७७ करोड रुपये थी। इस प्रकार देश में करारोपण में वृद्धि राष्ट्रीय आय की तुलना में बहुत अधिक हो गई है और व्यक्तियों पर कर-भार बढ़ता जा रहा है। करारोपण की नई नीतियों का समर्थन करते हुए श्री देशमुख, भूतपूर्व वित्तमन्त्री ने एक बार संसद में कहा था कि भारत में करारोपण का कुल राष्ट्रीय-आय में प्रतिशत केवल ७% था जब फिलिपीन्स में ९.५%, ब्राजील में १४·४%, क्यूबा में १५.३%, मिस्र में १६% और लंका में २१·५% था। उनके कहने का अभिप्राय यह

की विवेचना कर चुके हैं जिन पर करदान क्षमता निर्भर करती है। उन्ही कारणो की विवेचना अब हम भारतीय परिस्थितियो को लेकर करेंगे।

(१) प्रथम, किसी भी देश की कर दान क्षमता देश की धन राशि अथवा राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय आय को उत्पन्न करने वाले साधनो पर निर्भर करती है। इसमें किसी को भी आपत्ति नही होगी कि भारत मे कुल धन की राशि बहुत कम है। बचतो और पूँजी निर्माण की गति बहुत धीमी है। प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। हमने ऊपर राष्ट्रीय आय की गणना के लिये दो विधियों का वर्णन किया है। भारत में क्योकि आँकडो की बहुत कमी है, इसीलिये किसी भी विधि का राष्ट्रीय आय को पता लगाने के लिये उपयोग नही किया जा सकता है। सन् १९४८-४९ मे भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिय 'राष्ट्रीय आय जाँच समिति' नियुक्त की थी। इस समिति न विश्वसनीय अनुमानो को प्राप्त करने तथा पूरे आर्थिक क्षेत्र का अध्ययन करने के लिय दोनों ही रीतियो का उपयोग किया था। समिति ने यह आरम्भ म ही स्पष्ट कर दिया है और लिखा है कि, "भारतीय आय का अनुमान लगाने के लिये, निश्चय ही, सभी रीतियों पर सूचनाओं की प्राप्ति के लिये निर्भर करना पडा है। इस कारण न तो तालिका प्रणाली (Inventory method) या बनाई हुई वस्तुओ के मूल्य की रीति का ही उपयोग सम्भव हो सका है और न 'आय रीति' (Income method) का ही उपयोग अर्थ-व्यवस्था के सम्पूर्ण क्षेत्र की जाच करने म किया जा सका है।"[12] समिति ने देश की कुल कार्यशील शक्ति का अनुमान लगाया है और यह भी मालूम किया है कि इस शक्ति का वितरण विभिन्न व्यवसायो में किस प्रकार किया गया है। यह वर्गीकरण देश में स्थापित उद्योगो के आधार पर किया गया है। उद्योगो में कृषि उद्योगो को भी सम्मिलित किया है। समिति ने अनुमानित युक्तियो तथा मान्यताओ का बहुत प्रयोग किया है। जिन क्षेत्रों में यह प्रणाली काम नही कर सकी है वहाँ 'आय प्रणाली' का प्रयोग किया है। प्रत्येक वर्ग के सदस्यो की सख्या 'व्यवसायिक वर्गीकरण' के अनुसार, इस प्रकार एकत्रित सूचनाओं के आधार पर मालूम की गई है और तब उनकी कुल आय का अनुमान लगाया गया है। इस योग में, विदेशो से प्राप्त आय को जोडकर राष्ट्रीय आय को निकाला गया है। समिति ने सन् १९४८-४९ में प्रत्येक व्यस्त व्यक्ति पर शुद्ध उत्पत्ति (Net output) की गणना को निम्न तालिका द्वारा प्रदर्शित किया है[13] —

12. Report, P. 26.
13. *Ibid* P. 31.

मदे	शुद्ध उत्पत्ति (अरब रुपयों में)	व्यस्त व्यक्तियों की संख्या (लाखों में)	प्रति व्यस्त व्यक्ति शुद्ध उत्पत्ति (हजार रुपयों में)
१ कृषि	४०५	६०५	० ५
२ खानें तथा फैक्ट्रियां	६ ४	३८	१·७
३. छोटे उपक्रम	८ ६	१४९	०·६
४. खानें, निर्माण उद्योगों तथा हस्त उद्योगों का योग	१५ ०	१८७	०·८
५. रेलें तथा सम्वाद वाहन	३ २	१२	१·९
६. बैंकिंग बीमा तथा अन्य वाणिज्य और यातायात	१४ ७	९५	१ ५
७. वाणिज्य यातायात तथा सम्वाद वाहन का योग	१७ ०	१०७	१ ६
८. व्यवसाय तथा उदार कलाएँ	३ २	५०	० ६
९. सरकारी नौकरियां	४ ६	३६	१ ३
१०. घरेलू सेवाएं	१ ५	४२	० ४
११. मकान सम्पत्ति	४५	—	—
१२. अन्य सेवाओं का योग	१३ ८	१२८	१ १
१३. शुद्ध गृह उत्पत्ति	८७ ३	१३२७	० ६६

ये आँकड़े देने के बाद समिति ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन आकड़ों के आधार पर, लम्बे चौड़े निर्णय लेना ठीक नहीं होगा, क्योंकि न तो वे प्रत्येक व्यवसाय में प्रति व्यक्ति उत्पादकता को ही ठीक ठीक व्यक्त करते हैं और न ही प्रतिव्यस्त व्यक्ति औसत आय को। समिति का अनुमान है कि सन् १९४८ की जन-संख्या के आधार पर प्रति व्यक्ति आय २५५ रुपये है।

सन् १९४८–४९ में जो जन-संख्या ३५ करोड़ से कुछ अधिक थी वह सन् १९५६–५७ में ३८ करोड़ ८० लाख के लगभग हो गई थी। इसी काल में राष्ट्रीय आय ८६५० करोड़ रुपयों से बढ़कर ११०१० करोड़ रुपये हो गई थी। अतः प्रति व्यक्ति आय २६७·९ रुपयों से २८४ रुपये हो गई। परन्तु क्या मौद्रिक आय के साथ साथ वास्तविक आय में भी वृद्धि हुई है? यदि प्रचलित मूल्यों के आधार पर अनुमान लगाया जाये तो राष्ट्रीय आय ८६५० से बढ़कर ११,४१० करोड़ रुपये हो गई है और यदि सन् १९४८–४९ के मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना

की जाये तो ८६५० करोड से बढकर ११०१० करोड रुपये हो गई है। वास्तविक आय का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमको मूल्यो और मौद्रिक आय की प्रवृत्ति की ओर ध्यान देना होगा। चालू मूल्यो के आधार पर प्रति व्यक्ति आय सन् १९५३-५४ मे २८१ रुपये होकर सन् १९५४-५५ में २५४ रुपये रह गई और १९५५-५६ म फिर २६१ रुपये और सन् १९५६-५७ में २९४ रुपये हो गई। इस प्रकार इन आकडो से सिद्ध होता है कि मूल्यो के बढने से सामान्य रूप मे आय का स्तर गिरता ही रहा है और इसलिये यह स्पष्ट है कि लोगो की वास्तविक आय मे वृद्धि नही हुई है। अत बढती हुई जन सख्या, ऊपर घढता हुआ मूल्यस्तर और स्थिर रहने वाला आय स्तर इस बात को स्पष्ट करता है कि व्यक्तियो की करदान क्षमता अपनी ऊपरी सीमा का उल्लघन कर चुकी है।

(२) कर दान क्षमता को प्रभावित करने वाला दूसरा महत्वपूर्ण कारण देश की जनसख्या होती है। देश का धन समान रहने की स्थिति मे जनसख्या बढने से व्यक्तियो की करदान क्षमता कम होगी। करदान क्षमता केवल जनसख्या के आकार पर ही निर्भर नही करती वरन् जनसख्या की प्रकृति पर भी निर्भर करती है। यदि जनसख्या में बच्चो, बुड्ढो तथा स्त्रियो की सख्या अधिक है तो लोगो की करदान शक्ति कम हो जायेगी, क्योंकि यह लोग एक तो कुछ कमाते ही नही और अगर कमाते भी हैं तो अपने भरण पोषण के व्यय से बहुत कम। बहुत से परिवार ऐसे है जहाँ कमाने वाला तो केवल एक है परन्तु खाने वाले एक दर्जन हैं। परिणाम स्वरूप उनकी करदान क्षमता कम होती है। भारत में सयुक्त परिवार प्रणाली के कारण करदान क्षमता बहुत कम है।

(३) व्यक्तियो म जाग्रति और राष्ट्रीयता की भावना भी उनकी करदान क्षमता को प्रभावित करती है। जितनी अधिक राष्ट्रीयता की भावना होगी, देश प्रेम होगा इतना ही व्यक्ति स्वदेशी सरकार को सहयोग देंगे। हमारा देश स्वतन्त्र होते हुए भी व्यक्तियों म राष्ट्रीयता की भावना इतनी कम है और नागरिकता की इतनी कमी है कि वह अपने देश के लिये त्याग नही करना चाहते और साथ ही कर की चोरी करते हैं। अत उनकी करदान क्षमता कम हो जाती है।

(४) हमारे देश में कर प्रणाली भी समुचित नही है। कैलडौर ने अपने प्रस्ताव इसी के लिये प्रस्तुत किये थे। परन्तु सरकार ने अभी तक उन प्रस्तावो को पूर्ण रूप से कार्यरोपित नही किया है और कर प्रणाली म जो कमी पहले थी, वह अब भी विद्यमान है। अब भी देश म प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों मे सन्तुलन नही हो पाया है। परिणामस्वरूप कर प्रणाली न्याय सगत नहीं है। हमारे देश में अधिकतर प्रतिगामी कर है, जिनसे आय भी उतनी प्राप्त नही होती, उल्टा कर भार अधिक पडता है। इसका भी हमारे देश की करदान क्षमता पर बुरा प्रभाव पडता है।

(५) हम पहले ही कह चुके हैं कि करदान क्षमता को केवल करारोपण के दृष्टिकोण से ही नहीं देखना चाहिए, वरन् राजकीय व्यय को भी दृष्टि मे

रखना चाहिए। यदि व्यक्तियों को उपयोगी सेवाओं के रूप में कुछ भी प्राप्त नहीं होता तो एक हलका कर भी बोझ मालूम होगा। इसके विपरीत यदि सरकार सामाजिक सेवायें तथा सामाजिक कल्याण की सुविधायें प्रदान करती है तो लोग भारी कर का बोझ सहन करने को तैयार रहते हैं। ऐसी स्थिति में केवल यही स्पष्ट होता है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि सामूहिक रूप से करना चाहते हैं इसी कारण तो वे ऊँचा कर भी सहन करने को तैयार हैं। यदि राज्य निःशुल्क शिक्षा तथा औषधिक सहायता प्रदान करता है, मृतक व्यक्तियों के निर्भरकर्ताओं के भरण पोषण का भार अपने ऊपर लेता है प्रत्येक युवक के लिये नौकरी का प्रबन्ध करता है तो वह नागरिकों की आय का अधिकांश भाग भी यदि कर के रूप में ले ले तो कोई भी चिन्ता नहीं करेगा। अल्प विकसित देशों में राज्य निर्धनों को सहायता प्रदान करता है बीमारी तथा बेकारी बीमा की सुविधायें प्रदान करता है वृद्धावस्था पैन्शन की व्यवस्था करता है उदार शिक्षा एवं चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करता है। इसी कारण बड़ा कर भार भी अधिक है, परन्तु व्यक्तियों को भार मालूम नहीं होता। भारत में सरकार की अधिकांश आय सैनिकों नागरिक प्रशासन, ऋण सम्बन्धी सेवाएँ आदि गैर-विकास सम्बन्धी कार्यों पर व्यय होती है। सामाजिक सेवाओं के लिये बहुत कम आय शेष रहती है इसी कारण उचित भार भी बहुत अधिक मालूम पड़ता है। पिछले दस वर्षों से स्थिति काफी सुधर रही है। हमारा व्यय सामाजिक सेवाओं पर बढ़ता जा रहा है और विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों पर भी सरकार का व्यय बहुत हो रहा है। परन्तु स्थिति पूर्ण रूप से सन्तोषजनक नहीं है। अब भी गैर-विकास कार्यों पर व्यय बहुत अधिक है। देश के आकार एवं जनसंख्या को देख कर सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी सेवाएँ बहुत कम हैं मूल्य स्तर ऊँचा है और जीवन स्तर बहुत नीचा है। जनसंख्या बढ़ती जा रही है और राष्ट्रीय आय में इतनी वृद्धि हो नहीं रही है। इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है कि भारत की करदान क्षमता की सीमा का उल्लंघन हो चुका है।

कर जाँच आयोग और कर-दान क्षमता—कर जाँच आयोग ने करारोपण सम्बन्धी जो सुझाव दिये हैं, यदि उनको कार्यरूपित कर दिया जाय तो भारत में सरकारों की आय में एकदम १०० से १५० करोड़ रुपया की वृद्धि हो जायगी और दीर्घ काल में तो और भी अधिक वृद्धि होगी। इस में तो कोई संदेह नहीं कि विकास कार्यक्रम को पूरा करने के लिये अधिक धन की आवश्यकता है। परन्तु यह भी एक निश्चित सीमा अर्थात् करदान क्षमता से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता। और यदि ऐसा किया जाता है तो व्यक्तियों को बहुत कष्ट होंगे। आयोग की रिपोर्ट से विदित होता है कि वह भी इससे सहमत है। परन्तु न जाने उनके मस्तिष्क में कौन सी लहर उठी कि बाद में उन्होंने अपने प्रारम्भिक मत की अवहेलना करते हुए लिखा कि (अ) राष्ट्रीय आय में करारोपण की आय का जो अनुपात है वह पाश्चात्य देशों में जिन में कुछ दक्षिणी पूर्वी एशिया के देश भी सम्मिलित हैं, भारत की अपेक्षा बहुत ऊँचा है; और (ब) गत वर्षों में भारत की करदान क्षमता में

मे बहुत वृद्धि हो गई है, क्योकि सामाजिक तथा विकास सम्बन्धी सेवाओं की ओर राजकीय व्यय बढता जा रहा है।

भारत मे जो स्थिति है, उसकी तुलना विदेशों से करना बिल्कुल बेकार होगा। उन देशों की करदान शक्ति बहुत ऊँची है। करदान क्षमता सोचने या कल्पना करने की बात नही है। यह इतनी मनोवैज्ञानिक दशा नही है जितनी भौतिक शक्ति है। हमारे देश म उपयोगी सेवाओं पर व्यय तो बढ गया है परन्तु धन का वितरण दोष पूर्ण होने के कारण इसमे व्यक्तियो की करदान क्षमता म कोई वृद्धि नही हुई है। व्यक्तियो की मनोवैज्ञानिक दशा पर परिस्थितियो का प्रभाव पडता है। जब तक वास्तविक परिस्थितिया नही सुधरती तब तक मनोवृत्ति भी व्यक्तिया की नहीं सुधरेगी। जहा तक भौतिक परिस्थितियो का सम्बन्ध है, भारत म इनम कोई भी सुधार नही हुआ है और इसीलिये व्यक्तियो की करदान क्षमता मे कोई वृद्धि नही हुई है। पाश्चात्य देशो म व्यक्तियो की वास्तविक आय, प्रति व्यक्ति औसत आय से कही अधिक होती है। इसीलिये उनकी करदान क्षमता अधिक है। भारत मे अधिकाश व्यक्तियों की वास्तविक आय प्रति व्यक्ति औसत आय से बहुत कम है। बहुत से व्यक्ति बेकार है। इसीलिये हमारी करदान क्षमता बहुत कम है और उस समय तक नये करो के लिए कोई गुन्जाइश नही है जब तक कि देश म बेकारी दूर न हो, प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि न हो और वास्तविक आय प्रति व्यक्ति औसत आय से अधिक न हो।

भाग-४

संघीय वित्त-व्यवस्था

अध्याय ??

संघीय वित्त-व्यवस्था के सिद्धान्त (Principles of Federal Finance)

प्राक्कथन—

राज्य व्यक्तियों के सामूहिक जीवन का प्रतिनिधि है और मनुष्यों के सुसंगठित जीवन का प्रतीक है। जब मनुष्य ने झगड़े और लड़ाईयां गुटबन्दी और असभ्यता का अन्त करके एक संगठित एवं व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया तो उन्होंने व्यवस्था एवं प्रबन्ध करने का कार्य सरकार को सौंप दिया। अतः सरकार ही राज्य को साकार बनाती है और वह नागरिकों की दास है परन्तु प्रबन्ध एवं प्रशासन में वह नागरिकों पर शासन भी करती है और नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वह उसके द्वारा बनाए हुये नियमों के अनुसार कार्य करें अन्यथा वह उन्हें सजा दे सकती है। राज्य केवल अपने नागरिकों की इच्छानुसार कार्य करता है और सरकार व्यक्तियों की इच्छाओं को साकार रूप प्रदान करती है। यह कहना अनुचित न होगा कि जितने भी नियम सरकार बनाती है और उनको कार्यान्वित करने के लिए जो प्रयत्न करती है वह एक प्रकार से व्यक्तियों के ही सामूहिक प्रयत्न होते हैं। इस प्रकार राज्य व्यक्तियों के सामूहिक जीवन का प्रतीक है, जिसको बनाये रखने के लिए वह एक संस्था बना लेते हैं, जिसे सरकार कहते हैं। एक ही राज्य के नागरिक, केवल एक सरकार द्वारा ही काम चला सकते हैं या अनेकों सरकारें बना सकते हैं। जब एक देश में केवल एक ही सरकार होती है तो उसे एकक शासन (Unitary Government) कहते हैं। जब एक से अधिक सरकारें—व्यवहार में अधिकतर तीन—होती हैं तब उसे संघीय शासन (Federal Government) कहते हैं। भारत में अन्य देशों की भांति संघीय शासन है और केन्द्रीय, राज्य तथा

स्थानीय सरकारें है। एकक शासन प्रणाली का यह अभिप्राय नही कि किसी एक स्थान पर बैठकर कोई शासक कुछ अफसरो के द्वारा शासन प्रबन्ध करता रहता है। हाँ यह सम्भव है कि राज्य को कुछ क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाये और हर क्षेत्र को एक शासक के आधीन छोड दिया जाये, जो सम्पूर्ण देश के शासक के आधीन रहे और उसकी इच्छानुसार उसके द्वारा बनाई हुई नीतियों का पालन करे। अकबर ने अपने राज्य को कई प्रान्तों म बाँट दिया था और प्रान्तीय शासक पूर्ण रूप से बादशाह के आधीन थे। इसके विपरीत, सघीय शासन म राज्य को जितने भागों म विभाजित किया जाता है, उन सभी को कुछ विषयों के अतिरिक्त अन्य मामलो म निर्णय लेने म पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। जैसे भारत म रक्षा, डाक व तार, मुद्रा व टकसाल के लिए राज्य पूर्ण रूप से केन्द्र के आधीन है। अन्य क्षेत्रों म राज्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते हैं। वे अपनी इच्छानुसार आय प्राप्त करते हैं और अपनी इच्छानुसार व्यय करते हैं। सन् १९३७ से पहले हमारे देश मे प्रान्तो को कर लगाने का अधिकार नही था। वे बडे बडे अधिकारी भी नियुक्त नही कर सकते थे और न वे किसी बडी योजना को अपने हाथ म ले सकते थे। सक्षेप म, प्रान्त, केन्द्र के आधीन थे।

सघीय शासन प्रणाली म अधिकतर तीन प्रकार की सरकारें होती हैं जो एक दूसरे के समानान्तर होती है। केन्द्रीय सरकार, जिसे सघ सरकार कहते हैं, के अधिकार प्रान्तीय सरकारों, जिन्हे राज्य सरकारे कहते हैं से किसी प्रकार भी उच्च नही होते। राज्यो की अपनी भौगोलिक सीमायें होती है और वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होते है। यदि देखा जाये तो विभिन्न सरकारो के अधिकारो एव कर्तव्यो में टक्कर होने की सम्भावना रहती है। इसीलिये इन सब सरकारो के अधिकारों और कर्तव्यो को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिया जाता है, और सरकार इन अधिकारो और कर्तव्यो की पूर्ति करने के लिये अपने अपने क्षेत्र म स्वतन्त्र होती हैं। वैसे तो एकक शासन प्रणाली तथा सघीय शासन प्रणाली, दोनो ही म राजस्व के सिद्धान्त लगभग समान होते है। परन्तु सघीय शासन प्रबन्ध म कुछ ऐसी विशेषतायें होती हैं जो एकक शासन प्रणाली म नही होतीं। इसलिए विभिन्न क्रियाओ को सघीय, राज्य और स्थानीय सरकारो म विभाजित कर दिया जाता है। सघ सरकार को वे विषय सौंपे जाते है जो अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं और जो सामान्य रूप से सभी राज्यो अर्थात् सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित होते हैं। जिन्हे अगर किसी एक राज्य को सौंप दिया जाये तो यह सम्भावना हो सकती है कि अन्य राज्यो का हित अग्रसर न हो। देश की आन्तरिक शान्ति को बनाये रखने तथा सामाजिक जीवन को उन्नत करने के काम राज्यो को सौंप दिये जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो विषय शेष रहते है उनमे से कुछ को सघ सरकार अपने हाथ मे ले लेती है और कुछ पर राज्यो को दे देती हैं। इस विभाजन का आधार भूत सिद्धान्त यही है कि कुछ कार्य तो ऐसे हैं जिन्हे सघ की इकाइयाँ सामूहिक रूप से मिलकर अधिक कुशलता से कर सकती हैं, और कुछ ऐसे होते हैं जिन्हे प्रत्येक इकाई स्वतन्त्र रूप से अच्छी तरह कर सकती है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर एकक शासन प्रणाली मे भी केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो मे कार्यों का विभाजन होता है। सघीय तथा एकक शासन प्रणाली मे कार्यों के विभाजन मे केवल इतना ही अन्तर है कि जबकि सघीय प्रणाली मे इकाइयो की स्वतन्त्रता होती है एकक प्रणाली मे इकाइयाँ स्थायी रूप से स्वतन्त्र नही होती। केन्द्रीय सरकार जब भी चाहे इकाइयो से स्वतन्त्रता छीन सकती है। इस भेद के अतिरिक्त शेष सब बाते समान होती है। सघ सरकार के कार्य, इस प्रकार, ऐसे होते है जिन्हे विभिन्न राज्य एक साथ मिलकर या आपसी सहयोग द्वारा करना अधिक पसन्द करते है जैसे डाक व तार व्यवस्था रेलो की व्यवस्था, देश की सुरक्षा इत्यादि। जिन कार्यों के लिए इस प्रकार के सामूहिक प्रयत्नो की आवश्यकता नही होती उन्हे राज्यो को सौप दिया जाता है। कुछ लोगो का विश्वास है कि जो सफलता सामूहिक प्रयत्नो से प्राप्त होती है वह स्वतन्त्र रूप मे कार्य करने मे नही होती और क्योकि सघ सभी राज्यो की इच्छाओ का प्रतिनिधित्व करता है इसीलिए सभी कार्य सघ सरकार के द्वारा ही होने चाहिये। परन्तु कार्यो का विभाजन केवल इसी उद्देश्य से नही किया जा सकता। कुछ बाते और भी है जिन्हे ध्यान मे रक्खा जाता है।

इस प्रकार के सामूहिक प्रयत्नो म यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य सघ सरकार के आधीन रहे। वह अपनी स्वतन्त्रता को देश के या अन्य राज्यो के हित मे समर्पित करदे और किसी भी क्षेत्र म वह स्वतन्त्र निर्णय न ले। तभी एक सघ सभी कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है। परन्तु इस ससार मे बहुत कम ही ऐसे होगे जो अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा न करे या दूसरो के आधीन रहकर कार्य करना पसन्द करे। हर कोई स्वतन्त्र रहना चाहता है। इसीलिये प्रत्येक कार्य सघ सरकार सफलतापूर्वक नही कर सकती, क्योकि सामूहिक प्रयत्नो से जो भी लाभ प्राप्त होगा वह राज्यो की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त होने की क्षति से समाप्त हो जायेगा। यह पूर्णतया सत्य है क्योकि राज्य सघ सरकार को प्रत्येक क्षेत्र मे अपना सहयोग प्रदान करने को तैयार न होगे। यही कारण है कि सरकार के सारे कार्य सघ सरकार को नही सौपे जाते। राज्यो को यह स्वतन्त्रता देश के सविधान द्वारा प्रदान की जाती है और स्थायी होती है। देश के शासन प्रबन्ध म इसी स्वतन्त्रता के कारण कुशलता आती है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सघ सरकार तथा राज्य सरकारो मे कार्यों का विभाजन करते समय दो बातो मे से किसी एक को आधार बनाना ही होगा। अर्थात्, या तो यह आधार मानना होगा कि सामूहिक प्रयत्न सदैव ही व्यक्तिगत प्रयत्नो की अपेक्षा अधिक अच्छे होते है या इस सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा कि पराधीनता से स्वाधीनता सदैव ही अच्छी होती है। यदि हम दूसरे सिद्धान्त को स्वीकार करते है तो यह निश्चित करना होगा कि कौन से कार्य ऐसे है जिनके लिये सामूहिक सहयोग या प्रयत्न आवश्यक है या जो सामूहिक प्रयत्नो मे सबसे अधिक कुशलता से सम्पन्न किये जा सकते है। यह निश्चय सघ की इकाइयो अर्थात् राज्यो

को ही करना होगा। इसमें कोई सन्देह नही कि ऐसा करने मे राज्यों को अपनी स्वतन्त्रता की कुछ बलि देनी होगी। परन्तु यदि सामूहिक प्रयत्न से अधिक लाभ प्राप्त हो जाता है तो इस त्याग की क्षति पूर्ति हो जायेगी। अतः यह निर्णय करना होगा कि किन क्षेत्रों में सामूहिक प्रयत्न से अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। सघ सरकार एक प्रकार का बड़े पैमाने का सगठन है। जिस प्रकार बड़े पैमाने के सगठन मे लाभ प्राप्त होते हैं उसी प्रकार सघीय शासन प्रणाली में भी बहुत से वह लाभ प्राप्त होते हैं, जो एकक प्रणाली मे प्राप्त नही हो सकते। सघ सरकार के स्रोत बहुत अधिक होते हैं। वह बहुत बडी बडी योजनाओं को अपने हाथ म ले सकती है। बड़े पैमाने की उत्पत्ति के लाभ प्राप्त हो सकते हैं, और व्यक्तिगत साधनों का अधिकतम उपयोग हो सकता है। केवल उत्पत्ति मे ही नही वरन् नियोजन तथा अन्य क्षेत्रों मे भी यह प्रणाली उपयोगी सिद्ध होती है। सघ सरकार के नेतृत्व तथा निर्देशन में, विभिन्न राज्यो द्वारा निर्मित योजनाओं मे समन्वय स्थापित हो सकता है, जैसे सडकों तथा रेलों मे इस प्रकार के समन्वय की बहुत आवश्यकता होती है। हर प्रान्त सडकों के विकास के लिये अपनी अपनी योजनाये बनाता है। यदि सघ सरकार उनको समचित (co ordinate) न करे तो वे सारी योजनायें देश के समुचित विकास मे सहायक सिद्ध नही होंगी। इसी प्रकार देश की सुरक्षा म भी राज्यों का सहयोग आवश्यक होता है। अत कुछ कार्य ऐसे होते है, जिनको राज्य स्वतन्त्र रूप से सम्पन्न नही कर सकते क्योंकि या तो उनका कोई एक सामान्य उद्देश्य नहीं होता या उनके व्यक्तिगत हित एक दूसरे से टकराते है। इसीलिये ऐसे कार्य सघ सरकार द्वारा किये जाते है।

कुछ लोगों का कहना है कि सघ सरकार तथा राज्यों म कार्यों का विभाजन इस कारण भी होता है कि सरकारी कार्य दो प्रकार के होते हैं—प्रथम वह कार्य जिनका महत्त्व सम्पूर्ण देश के लिये होता है और दूसरे वह कार्य जिनका केवल स्थानीय महत्व ही होता है। पहली प्रकार के कार्य सघ सरकार द्वारा किये जाने चाहिए और दूसरी प्रकार के कार्य स्थानीय एव राज्य सरकारो को करना चाहिए। परन्तु इस प्रकार का सरकारी कार्यों का वर्गीकरण एक अति सकीर्ण दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है। वास्तव मे सरकार जो भी काम करती है (चाहे वह, केन्द्रीय सरकार हो या राज्य सरकार) उसका प्रभाव सम्पूर्ण जनसख्या पर ही पडता है। इस दृष्टि से तो प्रत्येक कार्य सघ सरकार द्वारा ही होना चाहिए। यदि हम केवल वाद विवाद के क्षेत्र से परे हटा कर सत्यता के निकट आवें तो यह एक कटु सत्य है कि वास्तव में कुछ कार्य ऐसे हैं जिनका क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है और कुछ ऐसे है जिन का क्षेत्र अपेक्षाकृत सकुचित होता है। प्रत्येक कार्य के क्षेत्र में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य ही होगा। अत हम सामान्य रूप से कह सकते हैं कि जिन कार्यों का क्षेत्र अधिक विस्तृत है, अर्थात् जिनसे अधिक व्यक्तियों को लाभ होता है, उन कार्यों को केन्द्रीय सरकार को करना चाहिए और जिन का क्षेत्र अपेक्षाकृत सकीर्ण है उनको प्रान्तीय सरकारें करे।

वित्तीय स्रोतों का विभाजन—सरकारों को जो कार्य सौंपे जाते हैं उनको पूरा करने के लिये उन्हें साधनों की आवश्यकता होती है। ये साधन कई प्रकार से एकत्रित किये जा सकते हैं। एक विधि तो यह हो सकती है कि संघ सरकार सब धन को एकत्रित करे और राज्यों को उसका एक भाग दे दे। दूसरी विधि यह हो सकती है कि राज्य सरकारें सारे वित्तीय साधन जुटायें और प्राप्त आय का एक भाग संघ सरकार को दे दें ताकि वह अपने कार्यों को सम्पन्न कर सके। अन्तिम विधि यह हो सकती है कि अपने क्षेत्रों में दोनों सरकारें कर इत्यादि द्वारा आय प्राप्त करें और अपने कार्यक्रमों को पूरा करें। अन्तिम विधि में या तो यह हो सकता है कि दोनों सरकारें सभी प्रकार के कर इत्यादि लगायें और आय प्राप्त करें या यह हो सकता है कि वित्तीय स्रोतों को दोनों सरकारों के बीच बाँट दिया जाये और जो सरकार एक प्रकार का कर लगाये वह दूसरी सरकार न लगाये। अतः आय के स्रोत दोनों सरकारों के पूर्णतया अलग अलग हों, और कुछ कर ऐसे निश्चित कर दिये जायें जिनको दोनों सरकारें लगायें। जब दोनों सरकारों को कर लगाने का अधिकार हो तो वह या तो अपने अपने क्षेत्र में प्राप्त आय को अपने लिये रक्खे और अपने उपयोग में लायें या दोनों अपनी अपनी आय को एक स्थान पर इकट्ठा कर लें और फिर अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उसे बाँट लें या अपनी अपनी आय अपने पास रखकर किसी एक सरकार को अपनी आय में से दूसरी सरकार को दे दें। सरकारी वित्त व्यवस्था में एकरूपता लाने के लिये बहुधा यह प्रस्ताव दिया गया है कि आदर्श व्यवस्था वही होगी जिसमें सब सरकारें अपने क्षेत्रों में उन करों को लगायें तथा सेवाओं को प्रदान करें जिनके लिये उनमें कुशलता है और इस प्रकार एकत्रित आय को अपनी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बाँट लें। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था में अनेकों कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे यह कैसे निर्धारित किया जाये कि कोई सरकार किन किन करों को लगाने या सेवायें प्रदान करने में कुशल है? कौन सी सरकार कम कुशल है, और कौन अधिक? कुशलता का माप किस आधार पर किया जाये? राज्यों की कौन सी आवश्यकताएँ उचित हैं, और कौन सी अनुचित? आय के वितरण का क्या आधार हो? इत्यादि। यह भी सम्भव है कि जिस आधार पर हम यह निर्णय करें कि एक राज्य विशेष एक कर विशेष कुशलता से लगा सकता है, उससे वह राज्य सहमत न हो या उस कर को लगाने के लिये तैयार न हो। यह भी हो सकता है कि जिस राज्य को हम किसी कर को लगाने के लिये अकुशल समझते हों वह उसी कर को दृढता से लागू करके सबसे अधिक आय प्राप्त कर लें। कर एकत्रित करने की कुशलता इस बात पर निर्भर करती है कि उस कर से प्राप्त आय का उपयोग कौन करेगा? यदि प्राप्त आय को वही सरकार उपयोग में लायेगी जिसने उसको लागू कर रखा है तो वह बड़ी कुशलता से कार्य करेगी और यदि कोई दूसरी सरकार उस आय का उपयोग करती है तो कर लगाने वाली सरकार हतोत्साहित हो जायेगी और उसकी कुशलता ही कम हो जायेगी। इसीलिये प्रायः जो

सरकार कर लगाती है वह ही उसकी आय को अपने उपयोग मे लाती है। यह भी हो सकता है कि जब सघ तथा राज्य सरकारो मे आय के स्रोतो का विभाजन किया जाय तब उनकी आय आवश्यकताओं के अनुकूल न हो और फिर कुछ स्रोतो को दोनो सरकारो के बीच टुकडे करके बाँटना पडे। लगभग प्रत्येक सघ शासन प्रणाली में इसकी आवश्यकता अनुभव हुई है। यद्यपि किसी भी एक स्रोत को टुकडो मे विभाजित करना सरल नही होता फिर भी सभी सघ शासन प्रणालियो मे ही ऐसा करना होता है और इस स्थिति मे एक सरकार को दूसरी सरकार पर अपनी आय के थोडे से भाग के लिये निर्भर करना पडता है।

संघीय वित्त-व्यवस्था के सिद्धान्त—उपर्युक्त विवरण के पश्चात् हम सक्षेप मे कह सकते है कि सघीय वित्त की मुख्य रूप से दो समस्यायें होती हैं। प्रथम, विभिन्न सरकारो में आय के स्रोतो का विभाजन किस प्रकार हो ? और क्योकि यह सम्भव नही है कि प्रत्येक सरकार की आय उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल हो इसीलिए दूसरी समस्या इस बात की है कि प्रत्येक सरकार की आय और आवश्यकताओं मे सन्तुलन किस प्रकार किया जाय ? इन दोनो समस्याओ का अध्ययन करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम सघीय वित्त-व्यवस्था के सिद्धान्तो को बता दें वैसे तो हम इनका वर्णन कहीं-कहीं पर पहले कर ही आये हैं। यह सिद्धान्त निम्न प्रकार है —

(१) एकरूपता (Uniformity)—सघीय वित्त-व्यवस्था का पहला सिद्धान्त यह है कि सघ की प्रत्येक इकाई, सघ सरकार को, किसी सामान्य महत्त्व वाले भार को सहन करने में समानता के आधार पर अपना-अपना अंश दान दे। अर्थात् सघ सरकार द्वारा लगाये गए करो का भुगतान करने के लिए किसी एक राज्य के व्यक्तियो की दूसरे राज्य के व्यक्तियो की अपेक्षा कोई विशेष रियायतें या कटौतियाँ न की जायें। सभी नागरिको के साथ समान व्यवहार किया जाये। परन्तु व्यवहार में इस प्रकार की समानता स्थापित करना सम्भव नही होता क्योकि सघ की प्रत्येक इकाई के पास समान साधन नही होते और न ही उनका व्यय समान होता है। अपने ही देश में देखिये कि यदि आसाम से यह आशा की जाय कि वह उतना ही अंश दान दे जितना कि बम्बई राज्य देता है तो यह अन्यायपूर्ण होगा, क्योकि एक तो आसाम में बम्बई जैसे साधन नही हैं और दूसरे आसाम को बम्बई की अपेक्षा अपना विकास करने में अधिक धन का व्यय करना होता हैं। अतः राजकोषीय-नीति (Fiscal Policy) मे समानता स्थापित करना असम्भव ही होता है।

(२) स्वतन्त्रता (Independence)—सघीय वित्त-व्यवस्था का दूसरा सिद्धान्त यह है कि सघ म सम्मिलित होने वाली प्रत्येक इकाई आर्थिक क्षेत्र मे स्वतन्त्र हो। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक राज्य के पास अपने कामो को पूरा करने के लिए अपने-अपने साधन हो। वह अपनी इच्छानुसार कर लगा सके व ऋण उगा सके और आय को खर्च करने के लिये पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो। सघ की एक इकाई अपनी आय

के लिये किसी दूसरी इकाई पर निर्भर न हो। परन्तु व्यवहार में सम्पूर्ण स्वतन्त्रता सम्भव नहीं होती। यह तो सच है कि एक इकाई किसी दूसरी इकाई पर निर्भर नहीं होती, परन्तु प्रत्येक इकाई को संघ सरकार पर निर्भर रहना होता है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि अधिकतर संघ सरकार अपने लिए आय के अधिक स्रोत रख लेती है, साथ ही ये स्रोत लोचपूर्ण होते हैं। दूसरे कुछ स्रोत ऐसे होते हैं जिनको टुकड़ों में बाँटा नहीं जा सकता, इसलिए संघ सरकार उनको अपने पास ही रखती है और उनकी आय में से एक निश्चित प्रतिशत राज्यों को दे देती है। इसके अतिरिक्त राज्यों को संघ से कुछ आर्थिक सहायता भी प्राप्त होती रहती है। एक प्रकार से राज्यों को इस सहायता के लिये भी संघ सरकार का मुँह ताकना पड़ता है।

(३) **पर्याप्तता (Adequacy)**—संघीय वित्तव्यवस्था का तीसरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक सरकार को आय के जो भी स्रोत दिये जायें वह उनके कार्यों के पूरा होने के लिये पर्याप्त हों। साधनों की पर्याप्तता से केवल यही अभिप्राय नहीं है कि सरकारों की केवल वर्तमान आवश्यकताओं की ही पूर्ति हो सके वरन् भविष्य में उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओं की भी पूर्ति की जा सके। दूसरे शब्दों में, आय के साधन लोचपूर्ण होने चाहियें अर्थात भविष्य में आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ-साथ उन साधनों से प्राप्त आय भी बढ़ाई जा सके। बहुधा ऐसा होता है कि राज्यों को ऐसे मद दे दिये जाते हैं जिन पर भविष्य में खर्चा तो बढ़ता जाता है परन्तु उनके साधनों से उसी अनुपात में आय नहीं बढ़ती। भारत में बिल्कुल यही स्थिति है। राज्यों के पास शिक्षा, आन्तरिक शान्ति, सामाजिक सेवायें आदि ऐसी मदें हैं जिन पर व्यय प्रत्येक वर्ष बढ़ता जा रहा है परन्तु उनके आय के स्रोतों से प्राप्त आय में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार को ऐसी मदें दे दी जाती हैं जिन पर सामान्य परिस्थितियों में तो व्यय समान रहता है, परन्तु संकटकाल में व्यय में वृद्धि हो जाती है और उनके पास ऐसे साधन होते हैं जिनकी आय को आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में राज्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन हो जाता है। इसी कारण विभिन्न सरकारों में आय के स्रोतों का विभाजन इस प्रकार किया जाये कि (अ) विभिन्न सरकारों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये आय के ऐसे साधन दिये जायें कि साधारण परिस्थितियों में पर्याप्त आय प्राप्त होने के बाद भविष्य के लिये कुछ बचा कर रखा जा सके, विशेष रूप से केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में ऐसा होना चाहिये। राज्यों को आय के ऐसे स्रोत दिये जायें कि वे साधारण परिस्थितियों में अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लें और भविष्य में आवश्यकता होने पर उनको अतिरिक्त आय प्राप्त हो सके और (ब) वित्तीय ढांचा ऐसा हो कि आवश्यकता के समय साधनों में पुनर्वितरण या उलटफेर की जा सके।

(४) **प्रशासन की कुशलता (Administrative Efficiency)**—संघीय वित्त

व्यवस्था का अन्तिम सिद्धान्त यह है कि वित्तीय प्रशासन में कुशलता बनी रहे और करदाताओं का हित सुरक्षित रहे। कर इस प्रकार लगाये जायें कि उद्योग तथा व्यापार पर उनका बुरा प्रभाव न पड़े बल्कि वे उन्हें प्रोत्साहित करें। करों की व्यवस्था ऐसी की जाये कि कर की चोरी कम से कम हो, अर्थात् सरकारी खज़ाने में बिना व्यक्तियों पर करभार बढ़े अधिक धन एकत्रित हो और संघ की सभी इकाइयों पर करों का भार एकसा पड़े। ऐसा न होने पर कुछ राज्यों की औद्योगिक उन्नति अधिक हो जायेगी और कुछ पिछड़ी हुई अवस्था में ही रह जायेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि जो राज्य जिस कर को लगाये और वसूल करे वही उसकी आय का उपयोग करे। ऐसा न होने पर एक तो कर का प्रबन्ध करने में कुशलता नहीं आयेगी और दूसरे केवल खर्च करने वाले राज्य, दूसरे राज्यों द्वारा कमाई हुई आय को बड़ी लापरवाही से खर्च करेंगे।

प्रत्येक देश में साधनों को इसी प्रकार विभाजित करने की चेष्टा की जाती है परन्तु यह विभाजन एक टेढ़ी खीर है। यद्यपि साधनों के विभाजन से प्रत्येक सरकार स्वावलम्बी हो जाती है और अपनी कर प्रणाली को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने के लिये वह प्रत्येक प्रयत्न कर सकती है। साथ ही, कोई भी हस्तक्षेप न होने के कारण प्रत्येक सरकार कुशलता तथा पूरी ज़िम्मेदारी से काम करती है। परन्तु साधनों के विभाजन में सदैव ही कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं और इसका न्यायसंगत होना असम्भव हो जाता है। प्रथम, साधनों के बीच ऐसी कोई विभाजन रेखा खींचना कठिन है जिससे यह कहा जा सके कि ये साधन संघ सरकार के लिये ठीक रहेंगे और ये राज्य सरकार के लिये। दूसरे, राज्य तथा संघ सरकार के बीच सम्पूर्ण विभाजन, अर्थात् ऐसा विभाजन कि प्रत्येक सरकार को बिल्कुल अलग-अलग आय के स्रोत मिल जायें, सम्भव नहीं है। विभिन्न सरकारों को आय के जो भी साधन मिलें वह या तो उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल हो सकते हैं या उससे कम या अधिक। कुछ साधन तथा कार्य ऐसे होते हैं जिन्हें पूर्ण रूप से या तो राज्यों के क्षेत्र के लिये सौंपा जा सकता है या संघ सरकार के लिये और कुछ ऐसे होते हैं जिनमें दोनों सरकारों को ही काम करने या कानून बनाने का अधिकार है। संघ शासन प्रबन्ध में ऐसे कार्यों को समवर्ती (concurrent) कार्य कहते हैं, अर्थात् इनमें दोनों सरकारों को ही नियम बनाने का अधिकार होता है। कार्यों की भाँति स्रोत भी समवर्ती होते हैं। समवर्ती क्षेत्रों में बहुधा लड़ाई झगड़े होने का भय रहता और व्यवहारिक जीवन में तो यह झगड़े और मतभेद प्रायः उत्पन्न होते ही रहते हैं। यद्यपि ऐसी विधि से अधिकारों तथा शक्तियों में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु यह स्थिति को सन्तुलित बनाने के स्थान पर उसे बिगाड़ और देती है। एक ही क्षेत्र में जब दोनों सरकारों को कानून बनाने का अधिकार होता है, जब दोनों को कर लगाने का अधिकर होता है तो झगड़ा होना स्वाभाविक ही है। ऐसे झगड़ों को संविधान द्वारा तय किया जाता है। किसी देश में ऐसा भी

होता है कि संघ सरकार को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह राज्यों के लिये कानून बनाने की विधि, कानून की प्रकृति एवं स्वरूप निश्चित कर दे। इसी प्रकार कर का रूप, कर की विधि एवं व्यवस्था के लिये सामान्य शर्तें निर्धारित कर दे और राज्य उन शर्तों के अनुसार काम करें। अतः संघ सरकार ढाँचा तैयार करती है और राज्य सरकारें उसी के अन्तर्गत नियम बनाती हैं तथा कर निर्धारित करती हैं।

वैसे तो साधारणतया, प्रत्येक सरकार को अपने-अपने क्षेत्र में कर लगाने, कर की दर निर्धारित करने तथा वसूल करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रायः सरकारों की आवश्यकताओं और उनकी आय में सन्तुलन नहीं होता। इस सन्तुलन को स्थापित करने के लिये वित्तीय साधनों में विभिन्न प्रकार की उलट फेर तथा फेर बदल करनी होती है। अब हम उन विधियों का वर्णन करेंगे जिनका उपयोग साधनों की उलट फेर करके सन्तुलन स्थापित करने में किया जाता है।

वित्तीय साधनों में आवश्यकतानुसार फेर-बदल—वित्तीय साधनों की उलट फेर, संघ तथा राज्य सरकारों के बीच, कई प्रकार से की जा सकती है। कर से प्राप्त आय को संघ तथा राज्य सरकारों में बाँटा जा सकता है, राज्य सरकारों द्वारा लगाये हुये करों पर संघ सरकार अतिरिक्त कर लगा सकती है, या संघ सरकार द्वारा लगाये हुये करों पर राज्य सरकारें अपने अपने राज्य में अतिरिक्त कर लगा दें, राज्य अपना अंशदान संघ सरकारों को दें और संघ सरकार कुछ अनुदान राज्य सरकारों को दे।

(१) कर-आय का वितरण—जब एक सरकार (प्रायः यह संघ सरकार ही होती है) कर लगाती है और उसकी आय को अन्य सरकारों में विभाजित किया जाता है तो ऐसी व्यवस्था को समर्पण (assignment) की विधि कहते हैं। इस विधि को अपनाने से पहले यह निश्चित करना होता है कि आय का वितरण किस ढंग पर किया जाये? सिद्धान्त तो अनेक हैं और हरएक सिद्धान्त को व्यवहार में अपनाया गया है। प्रो० बी० पी० अडारकर ने इन विधियों की बड़े ही सुन्दर एवं रोचक ढंग से विवेचना की है। कर की आय का वितरण कई ढंगों से किया जा सकता है: (१) एक सरकार के लिये एक निश्चित धन राशि नियत करदी जाये और शेष को अन्य सरकारों में बाँट दिया जाय, (२) कुल आय को एक निश्चित अनुपात में विभिन्न सरकारों में बाँट दिया जाये, (३) एक सरकार को एक निश्चित धनराशि देकर शेष आय को अन्य सरकारों में एक निश्चित अनुपात में बाँट दिया जाये। आय का वितरण या तो जन-संख्या या क्षेत्र या दोनों के आधार पर किया जा सकता है, या उनकी अन्य स्रोतों से प्राप्त आय के अनुपात में किया जा सकता है।

प्रायः व्यवहार में समर्पण की विधि अधिक सफल नहीं हुई है। इसमें कई

कारण होते हैं जब तक उस सरकार को, जो कर इकट्ठा करती है, प्राप्त हुई आय को स्वय उपयोग में लाने की पूर्ण स्वतन्त्रता नही होती, उस समय तक वह कर इकट्ठा करने मे रुचि से काम नही लेती और जब उसका हिस्सा निश्चित कर दिया जाता है तब तो वह और भी लापरवाह हो जाती है। यदि यह वितरण विभिन्न सरकारो को अन्य स्रोतो से प्राप्त आय के अनुपात मे किया जाता है तो और भी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, अर्थात् कम आय वाली सरकार को कम और अधिक आय वाली सरकार को अधिक हिस्सा मिलेगा। जिसके दुष्परिणामो को भली भाँति सोचा जा सकता है। इसके विपरीत यदि कम आय वाली सरकार को अधिक और अधिक आय वाली को कम हिस्सा दिया जाता है तो अन्य प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होगी। अधिक आय वाली सरकारें विरोध करेंगी और कहेंगी कि उनका अशदान अधिक होते हुये भी उनको कम दिया जाता है, जैसे भारत म बम्बई और मद्रास को सदैव ही आय कर के वितरण पर आपत्ति रही है, और यह भी हो सकता है कि वह कर को इकट्ठा करने म पहले जैसी रुचि लेना बन्द करदे। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि कर आय का अधिक भाग प्राप्त करन के लिये वह अन्य स्रोतो से प्राप्त आय को लापरवाही से इकट्ठा करें और आय को कम करने का प्रयत्न करे, जिससे सम्पूर्ण देश का ही अहित होगा। किसी किसी देश में कर आय को विभिन्न सरकारों के व्यय तथा आवश्यकताओं या विभिन्न सरकार द्वारा इकट्ठी की गई कर राशि के अनुपात मे भी बाँटा जाता है। चाहे कोई भी विधि क्यों न अपनाई जाये सभी में कुछ न कुछ कठिनाईयाँ अवश्य ही दृष्टिगोचर होती हैं। इसलिये विभिन्न सरकारो को नैराश्य (frustration) से बचाने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि कोई स्थायी आधार या सिद्धान्त निश्चित कर दिया जाये, क्योंकि मनमाने ढग से विभिन्न सरकारो का हिस्सा नियत करना न्याय सगत नही है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ साथ विभिन्न सरकारो के हिस्सो मे भी परिवर्तन होते रहे। भारत मे वित्तीय व्यवस्था मे इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है। हर पाँच वर्ष बाद वित्त आयोग की नियुक्ति की जाती है, जो परिस्थितियो का अध्ययन करके, यदि आवश्यकता होती है, तो कुछ परिवर्तन कर सकता है।

(२) अतिरिक्त कर (Supplementary Taxes) — इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये, एक और विधि अपनाई जाती है, वह यह कि जब कि एक सरकार (प्राय सघ सरकार) को एक कर विशेष लगाने का अधिकार होता है, अन्य सरकारें उस करके ऊपर अतिरिक्त कर लगा सकती हैं। केन्द्रीय सरकार किसी कर विशेष को लागू करे और राज्य सरकारें उस पर अतिरिक्त कर लगाकर आय प्राप्त करें या विभिन्न राज्य सरकारें कोई कर लगायें तो उस पर सघ सरकार अतिरिक्त कर लगा कर आय प्राप्त करलें। दूसरी विधि अधिक रुचिकर नही होती, क्योकि राज्य सरकारो द्वारा लगाये गये करो की दरें प्राय असमान होती हैं। उन पर

यह निश्चित करना भी सरल नही होता। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि जिन राज्यों को अधिक धन की आवश्यकता है, वह सहायता प्राप्त करते ही अपनी आय के साधनों को बढाने के लिए उदासीन न हो जायें। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक राज्य का हिस्सा निर्धारित करते समय दो बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है—प्रथम राज्य विशेष की आय और दूसरे जनसख्या। यद्यपि इसके कई आधार हो सकते हैं, जैसे, प्राकृतिक साधनो का वितरण, क्षेत्र की आर्थिक उन्नति की दशा, जनसख्या का भौगोलिक घनत्व, प्रति व्यक्ति आय, उनकी आवश्यकतायें इत्यादि। किन्तु व्यवहार मे अधिकतर प्रथम दो रीतियाँ ही अपनाई गई हैं। राज्य विशेष के आकार एव जनस या से उसकी आवश्यकताओ का कुछ अनुमान लग सकता है और आय से यह पता लग सकता है कि राज्य की कितनी आवश्यकताएँ पूरी हो रही हैं और कितनी पूरी नही हो रही हैं। राज्य के आकार एव जनसख्या के साथ-साथ राज्य की भौगोलिक तथा वनस्पति सम्बन्धी परिस्थितियों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। आर्थिक सहायता की राशि इस बात पर भी निर्भर करेगी कि राज्य की औद्योगिक उन्नति की क्या स्थिति है? राज्य कृषि प्रधान है या औद्योगिक उन्नति के लिए अधिक गुजाइश है। इन सब कठिनाइयो को दूर करना सरल नही है। जहाँ तक दूसरी प्रकार की सहायताओ का सम्बन्ध है, इनमे सबसे बडा दोष यह है कि राज्य को सघ सरकार के आधीन रहना पडता है। वे न तो व्यय की मदों को ही और न व्यय करने की रीति को ही चुन सकती हैं। परन्तु ये सब आरोप केवल वादविवाद की दृष्टि से ही उपयुक्त हैं। व्यवहार मे सघ सरकार इतनी सतर्कता से काम नहीं लेती और न राज्य सरकारो द्वारा अनुदानो को व्यय करने के ढग पर ही कडी निगाह रक्खी जाती है।

यह ध्यान रहे कि इन अनुदानो और आर्थिक सहायताओ की राशि को मनमाने ढग से निश्चित नही करना चाहियें। इनमे प्रत्येक वर्ष परिवर्तन भी नही होने चाहियें, अन्यथा, राज्यो में आपस मे बडा द्वेष उत्पन्न होगा और बहुत अनिश्चितता भी रहेगी। राज्य असन्तुष्ट भी रहेगें। भारत म यह सहायताये वित्त आयोग की सिफारिशो के अनुसार दी जाती है, जिसकी नियुक्ति हर पाँच वर्षों के बाद होती है।

(४) **राज्यों का सघ सरकार के लिए अश दान**—जिस प्रकार सघ सरकार राज्यो को आर्थिक सहायता प्रदान करती है उसी प्रकार राज्य भी अपना-अपना अश दान सघ सरकार के व्यय मे देते हैं। यहाँ पर भी लगभग उसी प्रकार की कठिनाइयाँ अनुभव होती है, अर्थात् किस राज्य को कितना अश दान देना चाहिए? परन्तु सबसे बडा दोष इस प्रणाली मे यह है कि सघ सरकार को राज्यो पर निर्भर रहना पडता है। सघ सरकार को बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य करने होते हैं। यदि वह अपनी आय के लिए राज्यो पर निर्भर रहेगी तो बहुत अश तक उसकी कुशलता कम हो जायेगी। इसके अतिरिक्त राज्यों के पास अपने लिए ही आय के स्रोत कम होते हैं, यदि उनको भी अश दान देने पड़ें तो राज्यो की स्थिति और भी खराब हो जायेगी। यह

प्रथा सर्वप्रथम अमेरिका में चलाई गई थी। भारत म भी यह सन् १९१९ म चालू हुई थी परन्तु थोडे वर्ष बाद ही इसे समाप्त कर दिया गया।

अत उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सघीय शासन प्रणाली मे वित्त व्यवस्था का काय बडा ही कठिन काय है। आय के साधनो का विभाजन करना तथा सघ और राज्यो म आर्थिक सतुलन स्थापित करना पग-पग पर नई कठिनाइया उत्पन्न करता है। यह कठिनाइयाँ बहुत सीमा तक समाप्त हो जाये यदि सघ सरकार और राज्य सरकारे, एक दूसरे के सहयोग से कार्य करती रहे।

अध्याय १२

भारत में संघीय वित्त-व्यवस्था का उद्गम

(Evolution of the Federal Financial System in India)

प्राक्कथन—

भारत मे सघीय वित्त व्यवस्था के इतिहास को हम सन् १७६५ से आरम्भ करते हैं, जिस वर्ष ईस्ट इन्डिया कम्पनी को बगाल की दीवानी मिली थी। उस समय मालगुज़ारी ही राज्य की आय का सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्रोत था। जमीदार किसानों से मालगुजारी वसूल करते थे और सरकारी खज़ानों में जमा कर देते थे जिस कार्य के लिये उन्हे मालगुज़ारी का एक निश्चित प्रतिशत दे दिया जाता था। परन्तु मालगुजारी जमा करने मे एक तो कठिनाई बहुत होती थी दूसरे इसकी आय भी निश्चित न थी। अत इन कठिनाइयो को दूर करने के लिये लार्ड कॉर्नवालिस ने सन् १७९३ मे बगाल तथा बिहार के कुछ भागो में स्थायी बन्दोबस्त लागू किया जो आज तक चला आ रहा है। जमीदार प्राप्त की हुई मालगुजारी म से १/११ भाग अपने पास रखते थे और शेष १०/११ एक निश्चित तिथि तक सरकारी खजाने में जमा कर देते थे। मालगुज़ारी के अतिरिक्त ईस्ट इन्डिया कम्पनी, नमक कर, सीमा कर (customs) तथा वस्तुओ के आन्तरिक हस्तान्तरण पर कर लगाकर अपनी आय प्राप्त करती थी। परन्तु इन सब स्रोतो म से मालगुज़ारी ही कम्पनी की आय का सबसे बडा स्रोत था। उस समय कम्पनी की आय उसके व्यय की अपेक्षा बहुत कम थी और इसलिये उसको निरन्तर ब्रिटिश ससद से ऋण प्राप्त करने पडते थे। कम्पनी के व्यय अधिक होने के कई कारण थे। एक तो कम्पनी उस समय बहुत सी लडाइयाँ लड रही थी और दूसरे कम्पनी के कर्मचारियों में धन एकत्रित करने की लिप्सा बहुत अधिक थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश ससद ने यह समझना आरम्भ कर दिया कि कम्पनी का प्रबन्ध एव शासन बहुत ढीला है और अपव्ययी है। इसलिय उन्होंने कम्पनी पर धीरे धीरे अपना नियन्त्रण बढाना आरम्भ कर दिया। इसी उद्देश्य से सन् १८३३ म ब्रिटिश सरकार ने चार्टर अधिनियम (Charter Act) बनाया जो भारत के वित्तीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी और जिसने न केवल सरकार के चरित्र को ही बदल दिया

बल्कि सरकारी अर्थ प्रबन्ध को एकांगी बनाने की चेष्टा की। इस अधिनियम के अनुसार बंगाल के गवर्नर को भारत का गवर्नर जनरल बना दिया गया और उसको यह अधिकार दे दिया गया कि वह सम्पूर्ण भारत के लिये कानून बनाय तथा उसमें संशोधन कर सके। इस अधिनियम से पहले मद्रास और बम्बई के गवर्नर वित्तीय मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र थे परन्तु सन् १८३३ के बाद अब यह भारतीय गवर्नर जनरल के आधीन थे। इस अधिनियम से पहले ये लोग अपने अपने क्षेत्रों में स्वयं कर लगाते थे और लोगों के लिए शान्ति और न्याय की व्यवस्था करते थे। परन्तु इस अधिनियम के बाद से सारी आय भारत सरकार के नाम में जमा की जाती थी और उसी के नाम में व्यय की जाती थी। इसके अतिरिक्त मद्रास और बम्बई प्रान्तों ने जो ऋण सन् १८३३ से पहले लिए थे वे अब भारत सरकार के ऋण थे। इस प्रकार सन् १८३३ के अधिनियम से इतना अधिक केन्द्रीयकरण हो गया था कि किसी प्रान्त को कानून बनाने का पृथक अधिकार न था न ही अलग वित्तीय साधन थे या राजकीय सेवाओं के लिए व्यक्तियों को नौकरी देने का अधिकार ही था, और इस अन्तिम प्रबन्ध के आधीन भारत की सरकार से जो छोटी छोटी बातों के लिए पूछना पड़ता था उससे भारत सरकार को प्रान्तीय शासन प्रबन्ध की प्रत्येक बात में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त हो गया था।[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि शासन प्रबन्ध की कुशलता और मितव्ययिता की दृष्टि से तो अधिनियम बहुत ही अच्छा था परन्तु इसके कई दोष भी थे जैसे—

(अ) प्रान्तीय शासन प्रबन्ध में भारत की सरकार के निरन्तर हस्तक्षेप से प्रान्तीय शासक निरुत्साहित रहते थे क्योंकि उनको किसी क्षेत्र में भी निर्णय लेने की स्वतन्त्रता न थी। छोटी से छोटी बात के लिए भी उनको भारत सरकार से आज्ञा प्राप्त करनी होती थी।[2]

(आ) दूसरे प्रान्तों का शासन प्रबन्ध पहले से अधिक अपव्ययी हो गया था, क्योंकि अब प्रान्तों को केवल बजट बना कर भारत सरकार को भेज देना होता था। उनको अपनी आय के स्रोतों को ढूंढने की अब कोई आवश्यकता न थी। स्पष्ट ही है कि भारत सरकार किसी प्रकार भी स्थानीय परिस्थितियों का ज्ञान नहीं कर पाती थी और इस बात का पता लगाने में भी असमर्थ रहती थी कि प्रान्तों ने बजट में जो मांगें रक्खी हैं वे उचित भी थीं या नहीं। सच तो यह है कि इस अधिनियम से अधिनियम बनाने का दायित्व तो भारतीय सरकार पर था और उसके अनुसार प्रबन्ध करने की जिम्मेवारी प्रान्तीय सरकार की थी। यह स्पष्ट ही है कि ऐसे विभाजन से देश की वित्तीय व्यवस्था पर कितना बुरा प्रभाव पड़ा रहा होगा।

(इ) जैसे कि हम पहले कह चुके हैं उस समय मालगुजारी से सरकार को सबसे अधिक आय प्राप्त होती थी परन्तु यह कर बहुत ही प्रतिगामी (Regressive)

1. Report of The Royal Commission on Decentralisation in British India, Page 24

2. Sir John and Richard Strachey The Finance and Public Works in India, p 139

था और गरीबो पर इसका इतना भार था कि इसका भुगतान करने के बाद उनके पास कुछ भी नही बच पाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय कृषि की स्थिति दिन प्रति दिन खराब होती गई और जिसका प्रभाव भारत सरकार की आय पर भी इतना अधिक पडा कि लगभग २५ वर्षो मे भारत सरकार को १७ बार घाटे के बजट बनाने पडे। इसी प्रकार नमक कर भी प्रतिगामी था। वस्तुओं के आन्तरिक स्थानान्तरण पर जो कर लगा था उससे देश की औद्योगिक उन्नति को नुकसान पहुँच रहा था और सीमा कर से भी देश के उद्योगो को कोई लाभ प्राप्त नही हो पा रहा था।

(ई) इस पद्धति से प्रान्तो मे ईर्ष्या और आपसी प्रतिद्वन्द्वता भी बढ रही थी क्योकि सबसे अधिक लाभ उन्ही प्रान्तो को प्राप्त हो रहे थे जो खूब विरोध करते थे और घाटे के बजट बनाते थे। उन प्रान्तो की ओर कोई भी ध्यान नही दिया जा रहा था जो शान्तिमयी थे और ईमानदारी से अपनी मागो को प्रस्तुत करते थे। इसीलिए प्रान्तो मे आपसी भेदभाव बढ रहा था।

सघीय वित्त का विकेन्द्रीयकरण—

पहला प्रयास (सन् १८६०–१८७७)—एक तो भारत सरकार का वित्त सन् १८३३ के अधिनियम के बाद वैसे ही बहुत कम हो गया था दूसरे सन् १८५७ की क्रान्ति ने दशा को और भी अधिक बिगाड दिया था। इस क्रान्ति के पश्चात तो भारत सरकार के खर्चो में बहुत वृद्धि हो गई थी। सन् १८५८ मे भारत के राजनैतिक शासन प्रबन्ध में एक बहुत बडा परिवर्तन हुआ। इसी वर्ष ईस्ट इन्डिया कम्पनी का जीवन समाप्त हुआ और भारत का शासन ब्रिटिश सरकार के हाथो मे चला गया। कुछ लोगो ने इस अवसर का पूर्ण लाभ उठाते हुए फिर से पुरानी पद्धति को स्थापित करने की चेष्टा की। उन्होने नई पद्धति के विरुद्ध प्रभावशाली शब्दो मे आलोचना की और इस बात पर जोर दिया कि भारतीय वित्त व्यवस्था मे स्थानीय सरकारो को भी साझेदार बना लिया जावे ताकि उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त हो सके। उनका विचार था कि वित्तीय मामलो मे विकेन्द्रीयकरण ही उचित नीति रहेगी क्योकि कठिनाई के समय मे प्रान्त, भारत सरकार के लिए आय के नये नये स्रोत खोजने का प्रयत्न करेंगे। इसके अतिरिक्त प्रान्त अपने खर्चो को बडी सतर्कता से करेंगे और केन्द्रीय सरकार को पूरा सहयोग देंगे। उनके विचार मे सघीय वित्त व्यवस्था (Federal System of Finances) न्यायपूर्ण भी थी, क्योकि इसके अन्तर्गत प्रान्तो को समान व्यवहार प्राप्त हो सकेगा। यह दलीले मुख्य रूप से सर हैनरी मेन, सर विलियम्स मैंस फील्ड, जो कौंसिल के सदस्य थे और तत्कालीन वित्त मत्री विलसन द्वारा प्रस्तुत की गई थी। विलसन का विचार था कि जेल, चिकित्सा, शिक्षा तथा सडको आदि की व्यवस्था एव प्रबन्ध प्रान्तो को सौप देना चाहिये और इनका खर्चा पूरा करने के लिए कानून और न्याय से प्राप्त सारी आय

किसी प्रान्त की कितनी आवश्यकता थी यह निश्चय करना असम्भव ही था। और फिर यह सम्भावना भी तो थी कि प्रान्त अपनी आवश्यकताओं को बढा चढा कर दिखा सकते थे। इस योजना का एक दोष यह भी था कि साल के अन्त मे प्रान्तो के पास जो कुछ धन बचता था वह उनको भारत सरकार को लौटा देना होता था जिसका सबसे बुरा प्रभाव यह था कि एक तो प्रान्त किसी न किसी प्रकार उलटा सीधा खर्च करने का प्रयत्न करते थे और इस प्रकार मितव्ययिता की अपेक्षा अपव्ययिता पहले से भी अधिक हो गई थी।

विकेन्द्रीयकरण की ओर दूसरा प्रयास (सन् १८७७ से १८८२) —यद्यपि मेयो योजना से केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो के आपसी सम्बन्ध पहले की अपेक्षा अच्छे हो गये थे फिर भी प्रान्तीय सरकारो की यह व्यवस्था सतोषजनक न थी। इसका मुख्य कारण यह था कि इस योजना के आधीन प्रान्तो को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता की राशि तो निश्चित थी परन्तु उनका खर्चा दिन प्रतिदिन बढता जा रहा था। योजना की इस कमी का उस समय के वित्तमत्री सर जॉन स्ट्रेचे (Sir Johan Strachey) को भी ज्ञान था। इसलिये उन्होने प्रान्तो की आय बढाने के लिये एक योजना रखी, परन्तु सरकार ने उसको स्वीकार नहीं किया। तत्पश्चात सन् १८७७ मे जब लार्ड लिटन भारतवर्ष के वाइसराय हुए, उन्होने स्ट्रेचे की सहायता से विकेन्द्रीयकरण की ओर एक नया प्रयास किया। इस योजना के अनुसार उत्पादन कर, स्टाम्प, कानून और न्याय, सामान्य प्रबन्ध इत्यादि विषयो को प्रान्तो को सौंप दिया और कुछ मद्दो की आय को भी प्रान्तो को दे दिया। परन्तु इन मद्दों के मिलने पर भी प्रान्तो का व्यय पूरा नही हो सकता था, इसलिये सरकार ने प्रान्तो को ग्राट देना भी जारी रखा। अब प्रान्तीय सरकारो की आय के तीन स्रोत थे —

१ सन् १८७१ मे प्रान्तो को हस्तान्तरित किये गये मद्दो की आय।

२ नई योजना के आधीन प्रान्तो को हस्तान्तरित किये गये नये स्रोतो की आमदनी। और

३ केन्द्रीय सरकार से प्राप्त सहायता।

परन्तु सन् १८७० म ही एक प्रस्ताव के अनुसार प्रान्तीय सरकारो पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे जो निम्नाकित है —

१ प्रान्तीय सरकारें न तो कोई नया कर ही लगा सकती थी और न पुराने करो म कोई परिवर्तन ही कर सकती थी।

२ वे कोई भी नई योजना उस समय तक नही बना सकती थी जब तक कि उनके पास योजना को पूरा करने के लिये पर्याप्त धन न हो।

३ वे २५०) रुपयो से अधिक मासिक वेतन पाने वाले कर्मचारियो को नौकरी से नही हटा सकती थी और न उस नौकरी को ही समाप्त कर सकती थी।

४ राजकीय हिसाब किताब (Public Accounts) के रूप म वे कोई भी परिवर्तन नही कर सकती थी।

५. उनको सरकारी खजाने में एक न्यूनतम धन राशि रखनी पड़ती थी।

६. वे अपने खाते में जमा धन से अधिक राशि खजाने से नहीं निकाल सकती थी। लार्ड लिटन की योजना से यद्यपि भारत सरकार को बहुत लाभ हुआ परन्तु प्रान्तीय सरकारों को अब भी अपने खर्चों के अनुसार आय प्राप्त नहीं हो पा रही थी।

विकेन्द्रीयकरण की ओर तीसरा प्रयास (सन् १८८२ से १९१९) — भारत सरकार को इस बात का पूर्ण आभास हो गया था कि लिटन योजना से भारत की वित्तीय व्यवस्था की कठिनाइयाँ दूर होना असम्भव था। इसलिये लार्ड रिपन (Lord Ripon) के आते ही सन् १८८२ में एक नई योजना तैयार की गई। इस योजना की मुख्य विशेषतायें निम्न प्रकार थी :—

१ यह योजना सारे ही प्रान्तों के लिये एक ही तिथि और एक ही काल के लिये लागू की गई।

२ आरम्भ में यह केवल ५ साल के लिये ही थी परन्तु प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद इसमें आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते थे।

३ इस योजना के अनुसार आय की मदें तीन भागों में विभाजित करदी गई :—

(अ) पूर्ण रूप से केन्द्रीय—इसमें सीमा कर अफीम की आय, डाकखाने की आय, रेलों की आय, उपहार, तार की आय, सैनिक सार्वजनिक कार्य (Military Public Works) विनिमय से लाभ आदि सम्मिलित थे।

(ब) पूर्ण रूप से प्रान्तीय — इसमें प्रान्तीय कर, कानून और न्याय, शिक्षा, पुलिस, प्रान्तीय रेलें, स्टेशनरी और छपाई प्रान्तीय प्रतिभूतियों पर ब्याज आदि सम्मिलित थे। इनके अतिरिक्त कुछ विशेष प्रान्तों को आय के कुछ अन्य स्रोत और भी सौंप दिये थे जैसे बर्मा को मछलियों की आय, अवध की तराई, भाटर तथा दूटी सम्पत्ति की आय, बम्बई को आवागमन् सेवा से प्राप्त आय इत्यादि।

(स) प्रान्तीय तथा केन्द्रीय — इनमें मालगुजारी वन उत्पादन कर, स्टाम्प रजिस्ट्रेशन आदि सम्मिलित थे।

४ उपर्युक्त वर्गों में सम्मिलित की गई मदों को प्रत्येक प्रान्त के लिये समान रखा गया। पहले इस प्रकार की समानता न थी।

५ इस योजना में केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तों को मिलने वाली वार्षिक ग्रांट भी बन्द करदी गई और यह निश्चित कर दिया गया कि यदि आवश्यकता हो तो प्रान्त मालगुजारी में से कुछ भाग अपने लिये ले सकते थे।

योजना के अनुसार अब हर पाँचवें वर्ष नये प्रसंविदे (contracts) होने की प्रथा चालू हो गई थी। यह प्रसंविदे सन् १८८६–८७, १८९१–९२, १८९६–९७, १९०४–०५ में बदले गये। इनसे प्रान्तीय शासन विशेष रूप से असंतुष्ट था, क्योंकि इनके कारण उनकी आर्थिक नीतियों के सचालन में बड़ी अड़चनें उत्पन्न हो रही थी।

इसका कारण यह था कि केन्द्रीय सरकार प्रान्तों की सारी बचत ले लेती थी। इसके अतिरिक्त आय का बटवारा केवल केन्द्र और प्रान्तों के बीच ही असमान न था बल्कि प्रान्तो मे आपस मे भी असमान था। इसलिये प्रान्तों में भी आपस में बडी ईर्ष्या रहती थी। इन प्रसविदो से प्रान्तीय शासन मे एक बडा दोष यह उत्पन्न हो गया था कि प्रान्तीय शासन बडा अपव्ययी हो गया था। इसके दो कारण थे। पहला कारण यह था कि हर पाँच वर्ष बाद प्रान्तो को जो बचत होती थी वह केन्द्रीय सरकार के काम मे आती थी और प्रान्त उसका पूरा उपयोग नही कर पाते थे, इसलिये वे इस बचत को केन्द्र के पास जाने से रोकने के लिये उल्टा सीधा खर्च करते थे। दूसरे प्रत्येक ५ वर्ष के बाद जब प्रसविदा बदला जाता था तब पहले पाँच वर्षो मे किये गये खर्चों को ध्यान म रख कर ही दूसरे पाँच वर्षो के लिये उनको बचत का भाग दिया जाता था। जिसका परिणाम यह था कि जो प्रान्त अधिक खर्च करता था उसको बचत का अधिक भाग मिलता था और जो कम खर्च करता या उसको कम भाग मिलता था। इन दोषों के होते हुए भी यह मानना पडेगा कि प्रान्तो की निजी स्वतन्त्रता पहले से अधिक हो गई थी और वे अपने शासन प्रवन्ध मे पहले से अधिक दिलचस्पी लेने लगे थे।

सन् १६०४ के बाद इन प्रसविदो को आभास-स्थायी (Quasi-permanent) बना दिया गया। अब इनमे केवल उसी समय परिवर्तन हो सकते थे जब उनकी आवश्यकता हो। यह भी निश्चित कर दिया गया कि भविष्य म केन्द्र और प्रान्तो मे बटने वाली आय का लगभग आधा भाग उन प्रान्तो को उन्नत करने के लिये दिया जायेगा जो अविकसित और पिछडे हुए थे। सन् १६०५ तक प्रान्तो को भारत की कुल आय का लगभग ⅓ भाग प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त उन्हे आय को कुछ ऐसे मद्द भी मिले हुए थे जो लोचपूर्ण थे परन्तु फिर भी प्रान्त सन्तुष्ट नही थे उनके असतुष्टि के कई कारण थे। भारत सरकार का उन पर बडा कडा नियन्त्रण था। भारत सरकार उनके बजटो को केवल उसी समय मजूर करती थी जबकि वह अपनी इच्छानुसार उनमे परिवर्तन कर लेती थी। प्रान्तों को यह भी अधिकार नहीं था कि वे २५ हजार रुपया से अधिक की एक वर्ष मे कोई भी स्थायी स्थापना करले। प्रान्तीय सरकार बिना भारतीय सरकार की आज्ञा के नये कर नही लगा सकती थी। वह लोक कार्यो (Public works) मे १० लाख रुपयो से अधिक नहीं खर्च कर सकती थी और यदि वे ऋण द्वारा कोई ऐसा कार्य करना चाहती थी तो उसको भारत सरकार की अनुमति प्राप्त करनी होती थी।

विकेन्द्रीयकरण कमीशन (Decentralisation Commission)—सन् १६०६ मे केन्द्र और प्रान्तो के वित्तीय सम्बन्धो की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिये विकेन्द्रीयकरण कमीशन नियुक्त किया गया। इस कमीशन का प्रस्ताव था कि प्रान्तो को निश्चित ग्राट न दिये जाये। इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए भारत सरकार ने सन् १६१२ में प्रान्तीय प्रसविदो को स्थायी रूप दे दिया। आय के साधनो को पहले

के समान तीन भागों में ही विभाजित किया गया परन्तु इनमें कुछ परिवर्तन कर दिये गये थे। यह प्रबन्ध १९२१ तक रहा।

विकेन्द्रीयकरण की ओर चौथा प्रयास (सन् १९१९-१९३५ तक)—प्रथम महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सम्राट ने यह घोषणा की कि उनकी इच्छा थी कि भारत में स्वशासित संस्थाओं की उन्नति हो तथा भारतवासी प्रशासन की हर शाखा में अधिक से अधिक भाग लें जिससे उनको राज्य की जिम्मेदारियों का ज्ञान हो। इस उद्देश्य से उस समय के भारत मंत्री मि० मोन्टेगू तथा भारत के वाइसराय चैम्सफोर्ड ने भारत का भ्रमण किया और अपनी एक रिपोर्ट दी जिसमें उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्रान्तों को शासन प्रबन्ध में अधिक भाग और आर्थिक क्षेत्र में अधिक स्वतन्त्रता दी जानी ताकि वे उचित रूप में अपने दायित्वों को पूरा कर सकें। उनका विचार था कि इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये यह आवश्यक होगा कि केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के आय के मद एक दूसरे से पूर्णतया अलग कर दिये जायें। इसलिये उनका प्रस्ताव था कि पहले केन्द्रीय सरकार की आवश्यकताओं के लिये व्यय निश्चित होना चाहिये और इस व्यय की पूर्ति के लिये केन्द्रीय सरकार को पर्याप्त साधन मिल जाने चाहियें। बचे हुए साधनों को प्रान्तों को सौंप देना चाहिये और साथ ही साथ प्रान्तीय सेवाओं का दायित्व भी उन्हीं पर रहना चाहिये। विभाजित मदों में से कुछ तो पूर्णतया केन्द्रीय सरकार को दे दिये जायें और कुछ पूर्णतया प्रान्तीय सरकारों को मिल जायें। इस प्रकार आय के केवल दो ही वर्ग होंगे। एक केन्द्रीय और दूसरा प्रान्तीय। केन्द्रीय सरकार की आय के मदों में, सीमा कर आय कर नमक अफीम रेलें डाक और तार आदि थे। प्रान्तीय सरकारों की आय के मदों में मालगुजारी स्टाम्प रजिस्ट्री आबकारी कर, जंगल इत्यादि थे। इस प्रकार इन सुधारों के बाद भारत में जो वित्तीय प्रणाली स्थापित हुई वह न तो एकक (Unitary) और न संघीय (Federal) ही थी बल्कि इन दोनों के बीच की थी। जहाँ तक आय की मदों के बटवारे का सम्बन्ध था, वह पूर्णतया संघीय थी, क्योंकि इसमें केन्द्र और प्रान्तों की आय के मद एक दूसरे से पृथक् थे। यह ध्यान रहे कि अब भी प्रान्त हिसाब बनाने तथा जाँच कराने और ऋण प्राप्त करने आदि के सम्बन्ध में भारत सरकार पर ही निर्भर थे। इन सुधारों के परिणाम वश यह आशा थी कि भारत सरकार को १३६३ करोड़ रुपयों का घाटा होगा। रिपोर्ट में इस घाटे को पूरा करने के लिये यह सुझाव दिया गया था कि प्रान्त अपनी सामान्य बचत (Normal Surplus) के अनुसार भारत सरकार को अंशदान दें। इस व्यवस्था के अनुसार मद्रास और संयुक्त प्रान्त को क्रमशः ४२८ करोड़ तथा ३७४ करोड़ रुपया देना पड़ा था और बंगाल और बम्बई को क्रमशः ६९ लाख और ५६ लाख रकम देने पड़े थे।

मेस्टन एवार्ड (Meston Award)—उपर्युक्त योजना की बहुत आलोचना हुई। विशेष रूप से कृषिक प्रान्तों जैसे यू० पी० और मद्रास ने तो इसका बहुत ही कड़े शब्दों में विरोध किया क्योंकि इनका अंशदान शेष प्रान्तों के कुल अंशदान से

भी अधिक था। अत संसद की वित्तीय सम्बन्ध समिति नियुक्त करनी पडी जिसका मुख्य कार्य प्रान्तीय अशदानों को निर्धारित करना था और बम्बई प्रान्त द्वारा आय कर मे से अधिक भाग मागे जाने के सम्बन्ध मे सलाह देना था। इस समिति के अध्यक्ष लार्ड मेस्टन (Lord Meston) थे। मेस्टन रिपोर्ट मार्च सन् १६२० में प्रस्तुत की गई। इस समिति ने साधारणत मान्टेग्यू-चेम्स फोर्ड की सिफारिशों का ही समर्थन किया। यद्यपि इसने आयकर से प्राप्त आय के विभाजन का विरोध किया परन्तु साथ ही साथ यह भी बताया कि प्रान्तीय सरकारो को स्थायी रूप से बहुत दिनो तक प्रत्यक्ष करारोपण से वचित नही रखा जा सकता। अत इसका सुझाव था कि सामान्य टिकट कर (*Stamp duty*) को प्रान्तीय सरकारो की आय का एक स्रोत बना देना चाहिये। मेस्टन समिति ने यह स्वीकार किया कि प्रान्तो के अशदानो के सम्बन्ध मे न्याय नही हुआ है। समिति की उपर्युक्त सिफारिशो के अनुसार यह अनुमान था कि सन् १६२१-२२ मे केन्द्रीय बजट मे लगभग ६८३ करोड रुपयो का घाटा रहेगा जिसकी पूर्ति प्रान्तीय अशदानो द्वारा ही की जायेगी। इसलिये समिति ने भविष्य के अशदानों के लिये एक आदर्श आधार तलाश किया अर्थात् यह निश्चित किया कि प्रान्तों के अशदानो की राशि उनके व्यय करने की *शक्ति पर निर्भर होगी। प्रान्तो के व्यय करने की शक्ति को निर्धारित करते समय* दो बातों को ध्यान मे रखना होगा। एक तो यह कि प्रान्तो के पास काम चलाने के लिये एक न्यायोचित कोषो का आधिक्य रहे और दूसरा यह कि प्रान्तो के अशदानो की राशि इतनी अधिक न हो कि उन्हे नये कर लगाने के लिये विवश होना पडे। इस प्रकार बिहार और उडीसा को बिल्कुल मुक्त कर दिया गया था। आसाम और बर्मा के अशदानों की राशि बहुत थोडी थी और सबसे अधिक अशदान क्रमानुसार मद्रास, यू० पी०, पजाब, बगाल और बम्बई के थे। यह अशदान प्रारम्भिक वर्ष अर्थात् सन् १६२१-२२ के लिये थे जिनमें कि बाद में सशोधन किया जायेगा ताकि वे एक प्रमापीकृत अनुपातो के अनुकूल हो जाये। इस प्रकार प्रारम्भिक वर्ष सन् १६२१-२२ में प्रान्तीय अशदानो की स्थिति निम्न प्रकार थी[3] :—

प्रान्त	बढी हुई व्यय शक्ति (लाख रुपयो मे)	अशदान (लाख रुपयो मे)	बची हुई व्यय शक्ति (लाख रुपयो मे)
मद्रास	५७६	३४८	२२८
बम्बई	६३	५६	३७
बगाल	१०४	६३	४१
सयुक्त प्रान्त	३६७	२४०	१५७
पजाब	२८६	१७५	११४

3. Dr. P. J. Tomas, *Federal Finance in India*, page 326

बर्मा	२४६	६४	१८२
बिहार और उड़ीसा	५१	कुछ नहीं	५१
मध्य प्रदेश	५२	२२	३०
आसाम	४२	१५	२७
कुल योग	१,८५०	९८३	८६७

सन् १९२२-२३ के बाद इन अंशदानों में जो भी परिवर्तन होंगे उनका निर्धारण गवर्नर जनरल द्वारा होगा और निम्न प्रस्तावित अनुपातों में निर्णय के अनुसार परिवर्तन कर दिये जायेंगे —

प्रान्त	भार का अनुपात
मद्रास	१७/९० वाँ
बम्बई	१३/९० वाँ
बंगाल	१९/९० वाँ
संयुक्त प्रान्त	१८/९० वाँ
पंजाब	९/९० वाँ
बर्मा	६½/९० वाँ
मध्य प्रदेश और बरार	५/९० वाँ
आसाम	२½/९० वाँ
बिहार और उड़ीसा	कुछ नहीं

इन प्रमाणिक अंशदानों को निर्धारित करने के लिये समिति ने प्रान्तों की कर-दान योग्यता के बारे में पूरी जानकारी ज्ञात की जिसके लिये इन्होंने प्रान्तों की कृषिक सम्पत्ति, उनकी सामान्य आर्थिक स्थिति और उनमें अकालों की स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया। समिति ने कर-दान योग्यताओं के बारे में पूछ-ताछ केवल इसी दृष्टिकोण से नहीं की थी कि कर-दान योग्यता उस समय क्या थी और भविष्य में क्या हो जाने की आशा थी बल्कि इस दृष्टिकोण से कि प्रत्येक प्रान्त में खनिज पदार्थों और जंगलों इत्यादि को दृष्टि में रखते हुए कितनी औद्योगिक और कृषि विकास एवं विस्तार की गुंजायश थी। यह भी निश्चय किया गया कि जब केन्द्रीय सरकार की आर्थिक स्थिति सुधर जायेगी तो यह अंशदान समाप्त कर दिये जायेंगे।

मेस्टन समिति के सुझावों का भी बड़ा विरोध हुआ, विशेषकर मद्रास, बम्बई और बंगाल आदि प्रान्तों की ओर से। बम्बई प्रान्त का मुख्य अवरोध यह था कि उसके द्वारा केन्द्रीय खजानों में जो अप्रत्यक्ष ढंग से आय प्राप्त होती है

उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है। उन्होंने यह भी बताया कि यद्यपि बम्बई पर उच्च कोटि के औद्योगिक प्रान्तों के सारे ही दायित्व थे फिर भी उसे छोटे किसानों पर कर लगाकर प्राप्त आय के द्वारा ही अपनी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये छोड़ दिया गया था।। इसलिये उसने आय कर की आय म में एक बड़े भाग की माग की। बंगाल ने भी इसी प्रकार की माँग रखी और साथ ही साथ यह भी बताया कि स्थायी बन्दोबस्त के कारण मालगुजारी में वृद्धि न होने के कारण उसकी वित्तीय स्थिति बहुत खराब थी। उसका यह भी कहना था कि जूट जो कि उसकी मुख्य वस्तु थी उस पर भी केन्द्रीय निर्यात कर लगा हुआ था। अत बंगाल का यह कहना था कि वहाँ से प्राप्त आय कर को उसे ही दे दिया जाय और इसके अतिरिक्त उसको जूट निर्यात कर का भी कुछ भाग मिलना चाहिये।

मेस्टन समिति के इन सुझावों को ससद ने स्वीकार करके सन् १९१९ के अधिनियम म सम्मिलित कर लिया और इनको सुधारे हुए नियमों (Devolution Rules) का नाम दिया गया। इन नियमों के अनुसार निम्न बातें निश्चित हुई—

(अ) मेस्टन सिफारिशों के अनुसार केन्द्र और प्रान्तों म आय के स्रोतों का बटवारा।

(ब) मेस्टन सिफारिशों के अनुसार केन्द्र को प्रान्तों से प्राप्त होने वाले अंशदानों की राशि।

(स) आवश्यकता के समय म प्रान्तीय सरकारों को अधिक अंशदान देने पड़ेंगे।

(द) कुछ शर्तों म आय कर की आय का एक भाग प्रान्तों को दिया जायेगा।

(ह) गवर्नर जनरल कुछ सीमा तक प्रान्तीय वित्त पर नियन्त्रण रखेगा।

यद्यपि मेस्टन सुझाव बहुत ही महत्वपूर्ण थे परन्तु इनमें बहुत से दोष थे—

१ प्रान्तों को आय के जो स्रोत दिये गये थे वे पूर्णतया बेलोच थे। दूसरी ओर उनको जिन मदों पर खर्च करना था उनका आकार दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। इसके अतिरिक्त प्रान्तों को आयकर का जो भाग मिलना निश्चित हुआ था उनम अनेकों प्रकार की शर्तें थी।

२. इन सिफारिशों के परिणामस्वरूप विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले करभारों म भी असमानता थी। उदाहरणार्थ सार्वजनिक निर्माण कार्यों तथा शिक्षा आदि की प्रगति के लिए बंगाल मुकद्दमेबाजी से प्राप्त आय पर निर्भर था। बिहार और उड़ीसा शराब की आय पर निर्भर थे और बम्बई प्रान्त अत्यधिक ऋणग्रस्त कृषकों से प्राप्त की गई आय पर निर्भर था।[4]

३ प्रत्येक मद से प्राप्त आय भी एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त म भिन्न थी। फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तों म भी असमानता थी।

सन् १९२९ में व्यापारिक मंदी आरम्भ हुई जिसके कारण प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों को बहुत सी कठिनाइयाँ आरम्भ हुई। कृषि वस्तुओं का मूल्य गिरने

4. Dr. B. R. Misra. *Indian Federal Finance*, page 85.

प्रान्तीय सरकारो के आय को स्रोत निम्न प्रकार थे —

(१) शान्ति और न्याय (२) पुलिस (३) प्रान्तो का राजकीय ऋण (४) प्रान्तीय पेशनें (५) चिकित्सा (६) शिक्षा (७) सडक पुल अथवा छोटी छोटी रेलें (८) सिचाई (९) कृषि तथा उसकी शिक्षा और अनुसधान (१०) बाँध (११) खाने तथा तेल के क्षेत्र (१२) प्रान्तीय व्यापार (१३) उद्योगो की उन्नति (१४) नशीली वस्तुए (१५) जुआ (१६) मालगुजारी (१७) कृषि आय कर (१८) कृषि भूमि का उत्तराधिकारी कर (१९) विक्रय तथा विज्ञापन कर (२०) मनोरजन कर (२१) प्रान्तीय स्टाम्प कर आदि।

सगामी (Concurrent)—सगामी स्रोत निम्न प्रकार थे —

(१) कृषि-भूमि को छोड कर अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकारी कर (२) चैक बिल आदि पर कर (३) मुसाफिरो तथा वस्तुओ पर सीमा कर (४) किरायो तथा महसूल पर लगाये हुए कर—यह कर सघ द्वारा लगाय तथा एकत्रित किये जायेंगे परन्तु इनका कुछ भाग प्रान्तो को भी मिलेगा। इनके अतिरिक्त आयकर (कृषि आयकर को छोड कर) केन्द्रीय सरकार का उत्पत्ति कर और जूट निर्यात कर से प्राप्त होने वाली आय का भी विभाजन केन्द्र तथा प्रान्तो म होगा। केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार था कि यदि उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी न हो तो वह प्रान्तो को कोई भी हिस्सा न दे।

सन् १९३५ के विधान के अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तो को राजकीय ऋण प्राप्त करने का पहले से भी अधिक अधिकार मिल गया था। प्रान्तीय सरकारो को विदेशी ऋण प्राप्त करने के लिये केन्द्रीय सरकार से आज्ञा लेनी होगी। अब भारत मन्त्री भारत के आर्थिक मामलो मे हस्तक्षेप न कर सकेगा।

ओटोनीमियर रिपोर्ट (Otto Niemeyer Report)—सन् १९३५ के विधान के अन्तर्गत यह आवश्यक था कि सरकार एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त करे, जो आयकर, जूट निर्यातकर तथा उत्पादन-कर का केन्द्र तथा प्रान्तो मे बटवारे की विधि के सम्बन्ध मे अपनी राय देगी। अत भारत मन्त्री ने सर ओटोनीमियर को इस कार्य के लिय नियुक्त किया। अपनी रिपोर्ट मे नीमियर ने दो बातो पर विशेष *ध्यान दिया। प्रथम, यह कि भारत सरकार की आर्थिक स्थिति और साख को कोई* हानि न पहुँचे, दूसरे, यह कि प्रान्तो को ऐसी आर्थिक सहायता दी जाये जिससे कि वह स्व शासन की स्थापना के समय वित्तीय क्षेत्र म स्वावलम्बी रहें। नीमियर का विश्वास था कि भविष्य मे न तो भारत सरकार की आय मे वृद्धि होने की आशा थी और न उसके व्यय में ही कमी होने की गुन्जाइश थी इसलिये यह सम्भव नही था कि केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारो को कोई बडी आर्थिक सहायता दे सके। इसके अतिरिक्त कुछ प्रान्तो को तो आर्थिक सहायता की आवश्यकता भी न थी। केवल कुछ नये बने हुए प्रान्तो और कुछ पुराने निर्धन प्रान्तो को ही केन्द्रीय सहायता की आवश्यकता थी। इस प्रकार इन्होंने दो प्रकार की सहायता देने की सिफारिश की। पहले प्रकार की सहायता को *'प्रारम्भिक सहायता'* कहा, जो मद्रास, बम्बई

और पजाव को छोड कर अन्य सभी प्रान्तो को प्रदान की गई। यह सहायता मद्रास और बम्बई को भी प्राप्त हुई। मद्रास को कुछ सहायता इसलिये दी गई क्योकि उसम से उडिया भाषा बोलने वाला भाग अलग कर दिया गया था। और बम्बई को यह सहायता इसलिये प्राप्त हुई, क्योंकि उसमे से सिंध अलग कर दिया गया था। विभिन्न प्रान्तो को प्राप्त होने वाली प्रारम्भिक सहायता निम्न प्रकार थी —

प्रान्तो के नाम	प्रारम्भिक सहायता की राशि (लाख रुपयो में)
बगाल	७५
बिहार	२५
मध्य प्रान्त	१५
आसाम	४५
उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त	११०
बम्बई	२०
मद्रास	२०
उडीसा	५०
सिन्ध	१०५
सयुक्त प्रान्त	२५ (५ वर्षो तक)

उपर्युक्त प्रान्तो को यह सहायता प्रति वर्ष दी जाने की सिफारिश की गई थी। इसके अतिरिक्त उडीसा को १९ लाख और सिन्ध को ५ लाख रुपयो की अनावर्ती सहायता (Non-recurring Grant) भी दी गई थी।

प्रान्तो को सहायता देने के लिये रिपोर्ट मे तीन ढग बताये गये थे जो निम्नांकित हैं —

१ प्रान्तों द्वारा केन्द्र से लिये गये ऋण को समाप्त करके—रिपोर्ट मे सुझाव दिया गया था कि आसाम, बगाल, बिहार, उडीसा तथा उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त का अप्रैल सन् १९३६ के पहले का सब ऋण समाप्त कर दिया जाय। मध्य प्रान्त का सन् १९३६ के पहले का तथा सन् १९२१ के पहले का २ करोड रुपयो का ऋण समाप्त कर दिया जावे। इन ऋणो को समाप्त करने पर प्रान्तो को निम्नलिखित वार्षिक बचत होगी —

प्रान्त	वार्षिक बचत	प्रान्त	वार्षिक बचत	प्रान्त	वार्षिक बचत
बगाल	३३,००,०००	आसाम	१५.५ लाख	उडीसा	९.५ लाख
बिहार	२२,००,२००	उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त	१२,००,०००	मध्य प्रान्त	१५,००,०००

२ **जूट निर्यात कर का भाग**—जूट का उत्पादन करने वाले प्रान्तों को पहले ही से जूट निर्यात कर का ५० प्रतिशत भाग मिल रहा था। नीमियर का सुझाव था कि उनको ६२½ प्रतिशत भाग दिया जाये। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि यह सहायता इसलिए नहीं दी जा रही है कि इस पर प्रान्तों का कोई विशेष प्राकृतिक अधिकार था बल्कि इसलिये दी जा रही है कि उनको सहायता की आवश्यकता थी।

३ **आर्थिक सहायता**—ओटो नीमियर का सुझाव था कि उपर्युक्त दोनों सहायता के अतिरिक्त प्रान्तों को कुछ वार्षिक सहायता भी दी जाये। अत सयुक्त प्रान्त को ५ वर्षों तक २५ लाख, आसाम को ३० लाख, उडीसा को ४० लाख, उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त को १०० लाख, और सिन्ध को १०५ लाख रुपये (१० वर्षों के लिए) देने का सुझाव दिया गया।

अन्तिम सहायता—ओटो नीमियर की सबसे महत्त्वपूर्ण सिफारिश आयकर के वितरण के सम्बन्ध में थी। इस सिफारिश के अनुसार प्रान्तों को आयकर का ५० प्रतिशत भाग मिलना था। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि आयकर में कॉरपोरेशन कर सम्मिलित न था। यह सिफारिश करते समय उन्होंने केन्द्र को प्रान्तों की आयकर की आय का कुछ अथवा आंशिक भाग ५ वर्षों तक उस स्थिति में अपने पास रखने का अधिकार दिया जब तक केन्द्र का आयकर का भाग तथा रेला का भाग मिलाकर १३ करोड रुपया न हो जाये। इन ५ वर्षों के बाद अगले ५ वर्षों में केन्द्र प्रान्तों को अपने पास जमा किया हुआ आयकर का भाग धीरे धीरे लौटायेगा। इस प्रकार स्पष्ट ही है कि प्रान्तों को स्व शासन के ११वें वर्ष में अपनी आयकर का पूरा भाग मिल सकेगा।

आयकर के विभाजन के सम्बन्ध में उन्होंने इस बात को ध्यान में रखा कि प्रान्त विशेष से कितना आय कर इकट्ठा किया जाता है तथा उसकी जनसख्या कितनी है। इन बातों को ध्यान में रखकर उन्होंने हर प्रान्त को निम्नलिखित ढग से आयकर बाटने की सिफारिश की —

प्रान्त	प्रतिशत	प्रान्त	प्रतिशत	प्रान्त	प्रतिशत
मद्रास	१५	सयुक्त प्रान्त	१५	उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त	१
बम्बई	२०	बिहार	१०		
बगाल	२०	मध्य प्रान्त	५	उडीसा	२
पजाब	८	आसाम	२	सिन्ध	२

ओटो नीमियर रिपोर्ट पर एक दृष्टि—ओटो नीमियर की रिपोर्ट से कोई भी प्रान्त खुश नहीं था। लगभग सभी प्रान्तों ने अपनी अपनी शिकायत भारतमत्री के पास भेजी। बम्बई प्रान्त का दावा था कि अकेले बम्बई प्रान्त से ही आयकर का लगभग २५ प्रतिशत भाग जमा होता है, इसलिये उसको उसी अनुपात में आय-

कर का भाग भी मिलना चाहिए। उसका यह भी कहना था कि जिस प्रकार बगाल को जूट निर्यात कर म से आर्थिक सहायता दी जा रही है उसी प्रकार उसको कपास कर म स भी सहायता दी जाये। मद्रास प्रान्त भी चुप नही रहा। उसका कहना था कि आयकर का विभाजन जनसंख्या के आधार पर होना चाहिए और इस प्रकार उसको आयकर का २४ प्रतिशत भाग दिया जाये। बिहार ने भी मद्रास का समर्थन किया। वह आयकर का अधिक भाग इसलिये चाहता था क्योंकि वह सब से अधिक निधन था। सयुक्त प्रान्त का भी कहना था कि जब बम्बई और बगाल का आयकर का एक बडा भाग दिया जाता है तो उसको भी एक बडा भाग मिलना चाहिए। इस प्रकार लगभग प्रत्येक प्रान्त ने किसी न किसी आधार पर आयकर का अधिक भाग प्राप्त करने का प्रयास किया।

इसमे कोई सदेह नही कि प्रान्तो को राष्ट्रीय विकास सम्बन्धी मद्दो को सौंप दन के कारण अधिक आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी इसीलिए उनकी माँग न्यायोचित ही थी। इसके अतिरिक्त यह शर्त कि जब तक केन्द्र के पास आयकर और रेलो का लाभ मिलाकर १३ करोड रुपया न हो जाए, प्रान्तो को आयकर का भाग नही मिलेगा, भी अनुचित थी। यह भी सही है कि ओटोनीमियर ने आयकर का कम भाग प्रान्तो को बाटने की सलाह देकर, प्रान्तो के साथ घोर अन्याय किया था। परन्तु इन सब बातो के साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि केन्द्रीय सरकार का व्यय लगभग स्थायी रहने पर भी उसको धन की बहुत आवश्यकता थी, क्योंकि उसको समस्त देश की रक्षा करनी थी विदेशो म अपनी साख बढानी थी और देश म शान्ति स्थापित करनी थी तथा अन्य महत्त्वपूर्ण काय करने थे।

आर्थिक सहायता के कारण प्रान्तो का आपसी मत भेद बहुत बढ गया था। यदि निष्पक्ष होकर देखा जाये तो यह सहायता प्रान्तो की आवश्यकतानुसार दी गई थी। जो प्रान्त धनी और मितव्ययी थे उनको कम सहायता दी गई और जो फिजूल खच थे उनको अधिक सहायता प्राप्त हुई। यह सहायता प्रान्तो को केवल कुछ ही वर्षों तक दने के लिए सुझाव दिया गया था परन्तु ओटोनीमियर ने यह निश्चित नही किया था कि यदि इस अवधि म प्रान्तो की स्थायी रूप से उन्नति न हो पाई तब प्रान्तो को अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये कौन सा उपाय करना चाहिये। इसके अतिरिक्त पहले १० वर्षों म तो आयकर का कोई भाग मिलने की आशा थी ही नहीं और उसके बाद जो कुछ आशा थी भी वह केवल अधिविधि (Academic) ही थी। इस बीच म तो प्रान्त अपनी आर्थिक स्थिति को परिस्थितियो के अनुकूल कर ही लेंगे।

परन्तु इन सब आलोचनाओ के रहते हुए भी यह मानना पडगा कि ओटो-नीमियर का काय सरल न था। वह सब प्रान्तो को सतुष्ट नही कर सकते थे। जहाँ तक आर्थिक सहायता का सम्बन्ध है वह भी निष्पक्ष होकर ही निश्चित की गई थी और यह भी ध्यान रहे कि स्व शासन आरम्भ होने के पहले वष म ही केन्द्र की स्थिति इतनी सुधर गई थी कि प्रान्तो को आयकर का भाग मिलने लगा था। यह इस

प्रकार थाः—बम्बई २५ लाख रु०, मद्रास १८·७५ लाख रु०, बंगाल २५ लाख रु०, संयुक्त प्रान्त १८·७५ लाख रु०, पंजाब १० लाख रु०, बिहार १२·५० लाख रु०, मध्य प्रान्त ६·२५ लाख रु०, सिन्ध २·५० लाख रु०, आसाम २·५० लाख रु०, उड़ीसा २·५० लाख रुपये और उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त १·२५ लाख रु० । इस प्रकार कुल १२५ लाख रुपयों की राशि विभिन्न प्रान्तों में विभाजित की गई थी ।

द्वितीय महायुद्ध [3] :— द्वितीय युद्ध के आरम्भ होते ही देश के साधनों को युद्ध कार्यों की ओर संचालित किया गया । युद्ध संचालन के लिए सरकार को बहुत बड़ी मात्रा में वित्त की आवश्यकता अनुभव हुई । सन् १९३९ में आयकर से प्राप्त आय में भी वृद्धि हुई । सरकार ने युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक संशोधन किया जिसके अनुसार सरकार आयकर का प्रान्तों को मिलने वाले भाग में से ४½ करोड़ रुपया अपने पास रख सकती थी । सरकार ने आयकर, कारपोरेशन कर और सीमा कर की दर में वृद्धि करने के साथ साथ कुछ नये करों को भी लगाया, रेल के किरायों में भी वृद्धि की, और तार डाक इत्यादि की सेवाओं के मूल्य में भी सामान्य वृद्धि की । सरकार की धन सम्बन्धी आवश्यकतायें इतनी अधिक बढ़ गई थीं कि इतनी आय बढ़ने पर भी उनको और अधिक धन की आवश्यकता थी, जिसको पूरा करने के लिए सरकार ने ऋण प्राप्त किये और अधिक पत्र मुद्रा छापी । जिसके कारण अनेकों प्रकार की आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई । युद्ध काल में ही राजनैतिक परिस्थितियों में परिवर्तन होना आरम्भ हुआ जिसका विवरण अगले अध्याय में दिया गया है ।

३. युद्ध सम्बन्धी वित्त व्यवस्था का पूर्ण विवरण एक अलग अध्याय में दिया गया है ।

अध्याय १३

भारत में संघीय वित्त-व्यवस्था (क्रमशः)
(स्वतन्त्रता और उसके पश्चात्)
Federal Financial System in India (Contd.)
(Independence and After)

युद्ध काल में ही कांग्रेस ने सरकार को युद्ध संचालन में अपना सहयोग न देने की घोषणा की और सभी राजनैतिक दलों ने इस बात की माँग की कि केन्द्र पर एक जिम्मेदार सरकार की स्थापना की जाये। ब्रिटिश सरकार ने अनेकों प्रयत्न किये लेकिन उनकी नीति में ईमानदारी का अभाव था और इसलिए राजनैतिक स्थिति बिगड़ती गई। उधर ब्रिटेन में श्रम सरकार स्थापित हुई और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री ऐटली ने भारत को एक कैबिनेट मिशन भारत की राजनैतिक स्थिति का अध्ययन करने को भेजा। कैबिनेट मिशन भारत में ५ मई सन् १९४६ में आया जिसने विभिन्न राजनैतिक दलों के विचारों का अध्ययन करके एक योजना प्रस्तुत की, जो सभी दलों को माननीय न थी। तत्पश्चात् १६ मई को कैबिनेट मिशन ने प्रश्न नए प्रस्ताव प्रस्तुत किये जिनको सभी राजनैतिक दलों ने स्वीकार कर लिया। इन प्रस्तावों के अनुसार भारत ने १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्रता प्राप्त की।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत का संविधान बनाने के लिये (Constituent Astembly) डा० अम्बेदकर की अध्यक्षता में नियुक्त की गई और भारत का गणतन्त्र संविधान सन् १९५० से आरम्भ हुआ। इसी बीच देश के विभाजन के फलस्वरूप सिन्ध और उत्तरी, पश्चिमी सीमा प्रान्त पाकिस्तान को चले गये और बंगाल तथा पंजाब का भी विभाजन हो गया। अतः इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि प्रान्तों में आयकर के भाग को बाँटने के लिये एक नई योजना तैयार की जाये। १७ मार्च सन् १९४८ को एक नई योजना घोषित की गई जिसके अनुसार निम्नांकित परिवर्तन किये गये —

१. भविष्य में प्रान्तों को आयकर में से प्राप्त होने वाले भाग का बटवारा निम्न प्रकार होगा —

बम्बई २१%, पश्चिमी बंगाल १२% पूर्वी पंजाब ५%, मद्रास १८%,

विहार १३%, सयुक्त प्रान्त १६%, मध्य प्रदेश तथा बरार ६%, आसाम और उडीसा ३%।

२. ओटोनीमियर योजना के अनुसार जूट उगाने वाले प्रान्तों को जूट निर्यात कर का जो ६२½% भाग मिल रहा था उसको घटा कर २०% कर दिया गया।

३. केवल आसाम और उडीसा को ही आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया जो निम्न प्रकार थी:—

वर्ष	आसाम	उडीसा
१९४७–४८	१८.७५ लाख रुपय	२५ लाख रुपय
१९४८–४९	३० लाख रुपये	४० लाख रुपये

४ यह भी निश्चित किया गया कि आयकर की कुल आय का १% चीफ कमिश्नर के प्रान्तो को दिया जायेगा।

आयकर को जनसख्या के आधार पर विभाजित किया गया था। इस योजना से भी कोई प्रान्त प्रसन्न न था और पहले ही की भाँति उसम आपसी ईर्ष्या बनी रही।

सरकार समिति (Sarkar Committee)—मार्च सन् १९४८ की योजना केवल दो वर्षो के लिए ही थी इसलिए प्रान्तीय आयकर के भाग को किस प्रकार विभाजित किया जाय, यह निश्चित करने के लिए भारत सरकार ने श्री एन० आर० सरकार की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की। इस समिति के प्रस्ताव प्रान्तो के हित मे थे परन्तु सरकार ने इनको स्वीकार नही किया। तत्पश्चात् सरकार ने श्री देशमुख को नियुक्त किया। इनके सुझाव केवल १९५०–५१ और १९५१–५२ के ही लिए थे और सरकार ने इनको स्वीकार कर लिया था।

श्री देशमुख ऐवार्ड (Sri Deshmukh Award)—यह एवार्ड निम्न प्रकार था —

आयकर का विभाजन—देशमुख ने इस सम्बन्ध म अपना कोई नया सिद्धान्त प्रस्तुत नही किया था। क्योकि उन्हे ज्ञान ही था कि नये सविधान के अनुसार सन् १९५२ म वित्त आयोग (Finance Commission) नियुक्त ही होगा जो समस्या का विस्तृत अध्ययन करेगा, इसलिए उन्होन ओटो नीमियर एवार्ड मे उतने ही सशोधन किये जो देश के विभाजन हो जाने के कारण आवश्यक थे। उनके अनुसार आयकर का विभाजन निम्न प्रकार किया जाये —

बम्बई २१%, उत्तर प्रदेश १८%, मद्रास १७½%, पश्चिमी बगाल १३½%, विहार १२½%, मध्य प्रदेश ६% पूर्वी पजाब ५½%, आसाम और उडीसा ३%।

जूट निर्यात कर—नये सविधान के अनुसार जूट निर्यात कर पूर्ण रूप से केन्द्र के हिस्सो म था। केन्द्रीय सरकार, यदि चाहे तो, जूट उगाने वाले प्रान्तो को आर्थिक सहायता दे सकती थी। देशमुख ने इस आर्थिक सहायता की राशि को निम्न रूप दिया.—

पश्चिमी बंगाल १०५ लाख रुपए, आसाम ४० लाख रुपए, बिहार ३५ लाख रुपए और उड़ीसा ५ लाख रुपए।

देशमुख ऐवार्ड पर एक दृष्टि—इस ऐवार्ड का भी प्रान्तों ने कोई स्वागत नहीं किया। बम्बई, बिहार, बंगाल, मद्रास आदि प्रान्तों ने इसकी आलोचना की, क्योंकि उनको तो यह आशा थी कि इस नये ऐवार्ड से पुराने ऐवार्ड की कमियों को दूर किया जायगा। परन्तु जैसा कि हम कह ही चुके हैं देशमुख का काम किसी नए सिद्धान्त की रचना करना नहीं था बल्कि विभाजन से उत्पन्न होने वाली गड़बड़ी के कारण बचे हुए अतिरिक्त कोष का उचित वितरण करना था। इसके अतिरिक्त इन सुझावों को स्थायी रूप देने का तो इरादा था ही नहीं, इसलिए देशमुख ऐवार्ड को दोषपूर्ण ठहराना अनुचित होगा।

भारत के गणतन्त्रीय विधान के अन्तर्गत राज्य और संघ सरकार के पारस्परिक वित्तीय सम्बन्ध—

२६ जनवरी सन १९५० को नया संविधान लागू किया गया जिसके अनुसार भारत राज्यों का एक संघ था। भारत में तीन प्रकार के राज्य थे—अ, ब और स। 'अ' राज्य व थे जो संविधान लागू होने से पहले प्रान्त कहलाते थे। 'ब' प्रकार के राज्य वे थे जो पहले रियासतें कहलाती थीं और 'स' प्रकार के राज्यों में वे क्षेत्र थे जो पहले चीफ कमिश्नर के आधीन थे। इसमें अन्य क्षेत्र भी सम्मिलित थे। नए संविधान में प्रान्तों और संघ सरकार के बीच जो कार्यों का विभाजन किया गया था वह ठीक उसी प्रकार था जैसा कि सन् १९३५ के ऐक्ट में था।

आय स्रोतों का वितरण—नए संविधान की प्रमुख विशेषता यह है कि आय के स्रोतों का वितरण बड़े ही स्पष्ट ढंग से किया गया है और आय के स्रोतों को दो भागों में विभाजित किया गया है—संघ सम्बन्धी और राज्य सम्बन्धी। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि कुछ कर संघ सरकार द्वारा लगाए जायेंगे और वसूल किए जायेंगे परन्तु उनकी आय राज्यों को प्राप्त होगी। हमारे संविधान की तीसरी विशेषता यह है कि कुछ कर संघ सरकार द्वारा लगाये जायेंगे और वसूल भी किये जायगे परन्तु उनकी आय राज्यों और संघ दोनों ही में बाँटी जायेगी। आय के स्रोतों का बटवारा निम्न प्रकार किया गया है—

(अ) **संघ सरकार की आय के स्रोत**—रेलें, डाक व तार, टेलीफून, बे तार का तार (Wireless) प्रसारण (Broadcasting) तथा अन्य प्रकार के संवाद-वाहन, सीमा कर, कारपोरेशन कर इत्यादि संघ सरकार के आय के मुख्य स्रोत हैं।

(ब) **राज्यों की आय के स्रोत**—मालगुजारी, कृषि आय कर, नशीली वस्तुओं पर उत्पादन कर, विक्रय कर, मनोरंजन कर इत्यादि राज्यों की आय के मुख्य स्रोत हैं।

(स) व कर जो संघ द्वारा लगाए जायेंगे और जमा किए जायेंगे, परन्तु उनकी आय का बटवारा राज्य और संघ दोनों में ही होगा—इसके अन्तर्गत कृषि आय के अतिरिक्त आय पर कर और केन्द्रीय उत्पादन कर।

(द) वे कर जो सघ द्वारा लगाए जायेंगे और एकत्रित होंगे परन्तु उनकी सारी आय राज्यो को ही प्राप्त होगी—इनके अन्तर्गत मृत्यु कर, कृषि सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर, रेल, समुद्र तथा वायु मार्गो से जाने वाली वस्तुओ तथा यात्रियो पर कर।

(य) वे कर जो सघ द्वारा लगाये जायेंगे परन्तु जिन्हे राज्य वसूल करेंगे और जिनकी आय राज्यों को प्राप्त होगी—इनके अन्तर्गत स्टाम्प कर और दवाइया तथा शृङ्गार करने की सामग्री पर लगाए हुए कर सम्मिलित हैं।

यह निश्चय किया गया है कि सघ सरकार तथा राज्य सरकारो की आय अलग अलग सचित कोषो म जमा की जायगी। सघ सरकार की सारी आय को 'भारत के सचित कोष' (Consolidated Fund of India) में और राज्यो की सारी आय को 'राज्य के सचित कोष (Consolidated Fund of the State) म जमा किया जायगा।

अब हम इस स्थिति म है कि सन् १९३५ के ऐक्ट में सघ सरकार और प्रान्तीय सरकार के वित्तीय साधनो के बटवारे की जो व्यवस्था की गई थी उसकी तुलना उस व्यवस्था से कर सकें जो कि सन् १९५० के भारतीय सविधान में की गई है। सन् १९३५ के ऐक्ट के आधीन केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो म आयकर का बटवारा, जूट निर्यात कर की आय का जूट उगाने वाले प्रान्तो को हिस्सा देने और प्रान्तो को केन्द्र से प्राप्त होन वाली आर्थिक सहायता देन की व्यवस्था की गई थी। सन १९५० के सविधान म तीन बातो के द्वारा सतुलन स्थापित किया गया है अर्थात, प्रथम गैर कृषि आयकर और सघ उत्पादन करो की बाँट कर। दूसरे सघ द्वारा राज्यो को आर्थिक सहायता देकर—यह आर्थिक सहायता भारत के सचित कोष में से उन राज्यों को दी जायगी जिनको कि उसकी आवश्यकता है और भिन भिन राज्यों के लिए भिन भिन्न राशि निश्चित की जा सकती है। राज्यो को यह सहायता उन योजनाओ को पूरा करने के लिए भी दी जा सकती है जिनका उद्देश्य अनुसूचित जातियो (Scheduled Tribes) के कल्याण की वृद्धि करना है। सविधान म जूट उगाने वाले राज्यों को जूट निर्यात कर म से कोई भी हिस्सा देने की व्यवस्था नही की गई है। परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इसके बदले मे उनको आर्थिक सहायता प्रदान की जा सकती है। भारतीय सविधान में अन्तिम व्यवस्था यह की गई है कि सघ सरकार राज्यों की सूची म निश्चित किय गए करो पर अधिभार (Surcharge) लगा सकती है। इन अधिभारो से जो आय प्राप्त होगी वह पूर्णतया केन्द्रीय सरकार की होगी।

विधान म दो वर्ष के भीतर ही एक वित्तीय आयोग नियुक्त करने का निश्चय किया गया था। इसके पश्चात यह आयोग हर पाँचवे वर्ष या यदि राष्ट्रपति चाहे तो पहले भी नियुक्त किया जा सकता है। यह आयोग इन बातो पर अपना मत प्रगट करेगा—(अ) सघ और राज्यो म आय कर के बटवारे की विधि (ब) भारत के सचित कोष म से राज्यो को आर्थिक सहायता देने के सिद्धान्त (स) भारत

सरकार तथा 'ब' श्रेणी के राज्यों में हुए समझौते को वैसा ही बनाये रखा जाये या उनमें कोई परिवर्तन किया जाये।

देशी रियासतों का एकीकरण
(Integration of Native States)—

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ५०० से अधिक देशी रियासतों के एकीकरण की घटना बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस घटना से पूर्व इन रियासतों में विभिन्न प्रकार की वित्तीय प्रणालियां प्रचलित थीं। एकीकरण के पश्चात् मुख्य समस्या एक ऐसी वित्तीय प्रणाली स्थापित करने की थी जो देश के सभी भागों में समान हो। इन रियासतों की वित्तीय और कर प्रणाली में जांच करने के लिये भारतीय रियासतों के वित्त सम्बन्धी जांच समिति (Indian State Finance Enquiry Committee) नियुक्त की गई थी। इसकी रिपोर्ट सन १९४९ में तैयार हो गई थी। इस समिति ने तीन निष्कर्ष निकाले थे। प्रथम, संघ सरकार को रियासतों में भी उतने ही क्षेत्रों में अधिकार होना चाहिये जितने कि प्रान्तों में हैं। दूसरे संघ सरकार अपनी शक्तियों का संचालन अपनी ही प्रशासन संस्थाओं द्वारा रियासतों में भी उसी प्रकार करे जिस प्रकार प्रान्तों में करती है। और तीसरे, संघ सरकार और रियासतों में वैसे ही वित्तीय सम्बन्ध हों जैसे कि प्रान्तों से हैं।

इस समिति के सुझावों के अनुसार संघ सरकार ने राज्यों से वैसे ही वित्तीय सम्बन्ध स्थापित कर लिये जैसे कि प्रान्तों से थे। अतः सभी रियासतों से १ अप्रैल १९५० से संघ सरकार ने आयकर, संघ उत्पादन कर, रेलें इत्यादि जितने भी संघीय आय के स्रोत थे ले लिये। इसी प्रकार संघ सरकार ने व्यय की मदें भी स्वीकार कर लीं। 'ब' श्रेणी की रियासतों को प्रान्तों की भांति अनुदान और आर्थिक सहायता सम्बन्धी सुविधायें देने की व्यवस्था भी की गई और संघीय करों के बटवारे की भी उसी प्रकार व्यवस्था हुई। इस प्रकार के परिवर्तनों से बहुत से राज्यों में वित्तीय गड़बड़ी उत्पन्न हुई और धीरे धीरे स्थिति सन्तुलित होती गई। इस प्रकार देशी रियासतों के एकीकरण से अनेकों लाभ देश को प्राप्त हुए। प्रथम सम्पूर्ण देश के लिये एक सी ही वित्तीय प्रणाली की स्थापना हो सकी। दूसरे, संघ सरकार सम्पूर्ण देश पर एक सी ही कुशलता से नियन्त्रण रख सकेगी। तीसरे, देशी रियासतों को भी संघ सरकार के व्यय से उतने ही लाभ प्राप्त हो सकेंगे जितने कि प्रान्तों को होंगे।

प्रथम वित्त आयोग
(First Finance Commission)—

नये संविधान के अनुसार सन् १९५२ में श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में स्वतन्त्र भारत के प्रथम वित्त आयोग की नियुक्ति हुई। हम पिछले पृष्ठों में वित्त आयोग की नियुक्ति के उद्देश्यों की गणना कर ही चुके हैं। यहाँ पर हम आयोग के सुझावों की ओर ही ध्यान देंगे। आयोग ने जांच पड़ताल के बाद यह निष्कर्ष प्राप्त किया था कि राज्यों को आय की बहुत आवश्यकता है और यह अति आवश्यक है कि

उनकी आय में वृद्धि हो। आयोग ने इस बात पर भी ध्यान दिया कि केन्द्र किस सीमा तक राज्यों को अपनी आय में से सहायता दे सकता है। आयोग ने मुख्य रूप से तीन बातों को ध्यान में रखा था। प्रथम, केन्द्र के क्षेत्र में से आय के जो अतिरिक्त स्रोत राज्यों को दिये जायेंगे वह ऐसे होने चाहियें जिनके अलग होने से केन्द्र की वित्तीय स्थिति बिगड़ने न पाये, क्योंकि उस पर देश की सुरक्षा और अर्थ-व्यवस्था के स्थायीत्व जैसी महत्वपूर्ण बातों की जिम्मेदारी है। आयोग ने दूसरी बात जो ध्यान में रखी वह यह थी कि आर्थिक सहायता के वितरण सम्बन्धी सिद्धान्तों का 'अ' और 'ब' श्रेणी के राज्यों में समान रूप से लागू किया जाये। अन्तिम महत्वपूर्ण बात यह थी कि वितरण की ऐसी योजना तैयार की जाये, जिससे राज्यों में असमानताएं न्यूनतम रहें।

वित्त आयोग की सिफारिशें—वित्त आयोग की मुख्य सिफारिशें निम्न प्रकार हैं —

१. आयकर की आय का वितरण—अभी तक प्रान्तों को आयकर का ५०% भाग ही प्राप्त होता था, परन्तु कमीशन का सुझाव था कि अब प्रान्तों को आय कर की आय का ५५% भाग दिया जाना चाहिये, क्योंकि एक तो उनकी आवश्यकताओं में काफी वृद्धि हो गई थी और दूसरे, 'ब' श्रेणी के राज्य भी अब हिस्सा बटाने वाले हो गये थे। आयोग ने, पिछले वर्षों में आयकर की आय में से एक बड़ा भाग प्राप्त करने के लिये राज्यों ने जो अपनी अपनी दलीलें दी थी, उन सभी का अध्ययन किया। उसके अनुसार आयकर का वितरण निम्न बातों पर आधारित होना चाहिये —

(अ) जनसंख्या द्वारा प्रस्तुत की गई आवश्यकतायें।

(ब) प्रत्येक राज्य से एकत्रित की गई आयकर की राशि।

आयोग का प्रस्ताव था कि आयकर की आय का जो भाग राज्यों में बाटना था उसका ८०% भाग जनसंख्या के आधार पर बाटा जाय और २०% भाग एकत्रित किए गये आयकर की राशि के अनुपात में बाटा जाय। आयोग के अनुसार विभिन्न राज्यों में आयकर का बटवारा निम्न प्रकार होना चाहिये —

राज्य	राज्यों को आय कर में से प्राप्त होने वाला प्रतिशत	राज्य	राज्यों को आयकर में से प्राप्त होने वाला प्रतिशत
बम्बई	१७ ५०	राजस्थान	३ ५०
उत्तर प्रदेश	१५·७५	पंजाब	३ २५
मद्रास	१५ २५	ट्रावनकोर-कोचीन	२ ५०
पश्चिमी बंगाल	११ २५	आसाम	२ २५
बिहार	६ ७५	मैसूर	२ २५
मध्य प्रदेश	५ २५	मध्य भारत	१·७५
हैदराबाद	४ ५०	सौराष्ट्र	१ ००
उड़ीसा	३ ५०	पटियाला तथा पूर्वी पंजाब रियासती यूनियन	० ७५

संघ के उत्पादन करों का वितरण—यद्यपि आयोग को संघ उत्पादन करों के वितरण के लिए अपने प्रस्ताव नहीं देने थे परन्तु उसने राज्यों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिये जो योजना प्रस्तुत की थी उसमें उसने उत्पादन करों के वितरण के लिये भी अपने प्रस्ताव दिये। आयोग ने तीन उत्पादन करों—तम्बाकू, दियासलाई, और वनस्पति—को राज्यों में बांटने के लिये उपयुक्त समझा, क्योंकि यह वस्तुयें सामान्य उपयोग की हैं और इनसे आय भी बहुत प्राप्त होती है। आयोग की सिफारिश थी कि इन उत्पादन करों की शुद्ध प्राप्ति (Net Proceeds) का ४० प्रतिशत भाग राज्यों में जनसंख्या के अनुपात में बांटा जाय। आयोग का यह भी प्रस्ताव था कि विभिन्न राज्यों में इन वस्तुओं के उपभोग सम्बन्धी आंकड़े जमा किये जायें ताकि दूसरा वित्त आयोग उपभोग के आधार पर उत्पादन करों का वितरण कर सके। आयोग के अनुसार उत्पादन करों में राज्यों का भाग इस प्रकार होना चाहिए :—

राज्य	राज्यों को प्राप्त होने वाले उत्पादन करों के भाग का प्रतिशत	राज्य	राज्यों को प्राप्त होने वाले उत्पादन करों के भाग का प्रतिशत
उत्तर प्रदेश	१८ २३	उड़ीसा	४ २२
मद्रास	१६ ४४	पंजाब	३ ६६
बिहार	११ ६०	ट्रावनकोर-कोचीन	२ ६८
बम्बई	१० ३७	मैसूर	२ ६२
पश्चिमी बंगाल	७ १६	आसाम	२·६१
मध्य प्रदेश	६ १३	मध्य भारत	२ २६
हैदराबाद	५ २६	सौराष्ट्र	१ १६
राजस्थान	४ ४१	पटियाला तथा पूर्वी पंजाब रियासती यूनियन	१·००

जूट निर्यात कर के स्थान पर आर्थिक सहायता (Grants-in-aid in lieu of Jute export duty)—सन् १९५० के संविधान में जूट उगाने वाले राज्यों को जूट निर्यात कर के वितरण के सम्बन्ध में कोई भी व्यवस्था नहीं की गई है। परन्तु इसके स्थान पर आर्थिक सहायता देने का प्रबन्ध किया गया है। आयोग ने निम्न चार प्रान्तों को वार्षिक आर्थिक सहायता देने की सिफारिश इस प्रकार की है :—

पश्चिमी बंगाल	१५० लाख रुपए	बिहार	७५ लाख रुपए
उड़ीसा	७५ लाख रुपए	आसाम	७५ लाख रुपए

आर्थिक सहायता (Grants in aid)—आयोग ने केन्द्र द्वारा राज्यों को आर्थिक सहायता दिए जाने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। इसने आर्थिक

सहायता देने के विभिन्न कारणो का विश्लेषण किया और उन सिद्धान्तो की विवेचना की है जिनके आधार पर ऐसी सहायता दी जाए। आयोग के अनुसार शर्त सहित और शर्त रहित दोनो ही प्रकार की आर्थिक सहायता दी जा सकती हैं। शर्त रहित सहायता का मुख्य उद्देश्य राज्य सरकारों की आय मे वृद्धि करना होना चाहिए और राज्यो को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे इस सहायता को जिस प्रकार चाहे उपयोग मे लायें। शर्त सहित सहायता केवल विशेष प्रकार की सेवाओ के विस्तार को प्रोत्साहन देने के लिए ही दी जायें।

आयोग ने विभिन्न राज्यो को आर्थिक सहायता किस सीमा तक दी जाये। इसके लिए कुछ आधार बताए हैं। इनमे से मुख्य आधार निम्न प्रकार हैं —

(अ) राज्य किस सीमा तक अपनी सहायता स्वय करने का प्रयत्न करते हैं। यह बडा ही उपयुक्त आधार है, क्योकि यदि राज्य सरकारो को यह विश्वास दिला दिया जायगा कि केन्द्र उनके बजट के घाटो को पूरा करने के लिये प्रत्येक वर्ष इसी प्रकार की सहायता देता रहेगा तो यह निश्चित ही है कि राज्य सरकारो की फिजूल खर्ची तथा अपव्ययीता बढ जायगी।

(ब) प्रारम्भिक सामाजिक सेवाओं के स्तरो को समान करने के लिये। आयोग ने कुछ सामाजिक सेवाओ के विस्तार के लिये और सभी राज्यो मे समान स्तर प्राप्त करने के लिये विशेष आर्थिक सहायता देने का सुझाव दिया है। इस प्रकार की सामाजिक सेवाओ मे प्रारम्भिक शिक्षा का एक उपयुक्त उदाहरण है।

(स) सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित विशेष जिम्मेदारियाँ। ऐसी समस्यायें, यद्यपि पूरे देश से ही सम्बन्धित क्यो न हो, कुछ विशेष राज्यो के अपने क्षेत्रों में ही उत्पन्न हो सकती हैं—उदाहरणार्थ देश के विभाजन से उत्पन्न होने वाली समस्यायें। ऐसी विशेष समस्याओ के लिये विशेष आर्थिक सहायता प्रदान की जाय।

(द) प्रारम्भिक महत्त्व की उपयोगी सेवाओ की व्यवस्था के लिये भी कम उन्नत राज्यो को राष्ट्रीय हित मे आर्थिक सहायता दी जा सकती है।

आयोग का यह भी सुझाव था कि एक ऐसी सस्था स्थापित की जाय जो राज्यो की अर्थ व्यवस्था का निरन्तर अध्ययन करे ताकि यदि भविष्य मे वित्त आयोग नियुक्त किये जायें तो उन्हे अपनी जांच के आरम्भ म ही आवश्यक आँकडे प्राप्त हो जायें।

वित्त आयोग की रिपोर्ट पर एक दृष्टि—वित्त आयोग की सभी सिफारिशें भारत सरकार ने स्वीकार कर ली थी। यह भी स्वाभाविक है कि वित्त आयाग द्वारा प्रस्तुत की गई आय के वितरण की योजना से सभी राज्य सतुष्ट नही हो सकते थे। फिर भी अधिकतर राज्यों ने अपनी सतुष्टि प्रकट की और सामान्य रूप से आयोग की सिफारिशों का हार्दिक स्वागत हुआ। आयोग का मुख्य उद्देश्य राज्यो की आय के स्रोतो मे वृद्धि करना था जो कि उसने बडे ही सुन्दर ढग से किया। जिन उत्पादन करो की आय को बाँटने के लिये आयोग ने चुना था वे भी अनुचित न थे। जनसख्या के आधार पर आयकर का बटवारा भी सरल और उपयुक्त था।

आयोग की सिफारिशों में सबसे उत्तम बात यह थी कि उसने राज्यों और केन्द्र दोनों ही की स्थिति को ध्यान में रखकर अपने सुझाव दिये थे। परन्तु न्याय की दृष्टि से इतना कहना ही पड़ेगा कि आयोग ने राज्यों को प्राप्त होने वाली वित्तीय सहायता में जो वृद्धि की थी उसका बुरा प्रभाव यह भी हो सकता है कि राज्य अपने आय के साधनों को बढ़ाने के लिए स्वयं कोई प्रयत्न करने के लिये उदासीन हो जायें और अपने खर्चों को कम करने का प्रयत्न ही नहीं करें। वास्तव में बहुत से राज्य केन्द्रीय सहायता पर ही निर्भर करते चले आये हैं और उन्होंने अपने स्रोतों को बढ़ाने का कोई प्रयत्न ही नहीं किया। कभी कभी अधिक उदारता भी स्थिति को बिगाड़ देती है। इसलिये ऐसा हो सकता है कि राज्यों के लिये भी यह उदारता हानिकारक सिद्ध हो। फिर भी यह सम्भावना तो हर एक योजना में ही रहेगी, जब तक कि केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों की नीतियों में बलपूर्वक हस्तक्षेप करने का अधिकार न हो।

दूसरा वित्त अयोग
(Second Finance Commission)—

मई सन् १९५६ में श्री के० सन्थानम की अध्यक्षता में दूसरा वित्त आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग का कार्यक्षेत्र पहले आयोग की अपेक्षा अधिक विस्तृत था। इसको संघ और राज्य सरकारों के बीच वितरण होने वाले करों के बटवारे में हर राज्य को मिलने वाला भाग और केन्द्र से राज्यों को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अपने सुझाव देने के अतिरिक्त निम्न बातों पर भी अपने सुझाव देने थे :—

१ आसाम, बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल को जूट निर्यात कर के भाग के बदले में आर्थिक सहायता की राशि।

२ राज्यों को दूसरी पंचवर्षीय योजना सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आर्थिक सहायता।

३ गैर कृषिक सम्पत्ति पर लगे हुए मृत्यु कर से प्राप्त वास्तविक आय (Net Proceeds) को राज्यों में बांटने के लिये सिद्धान्तों की रचना।

४ भारत सरकार द्वारा राज्यों को सन् १९४७ और सन् १९५६ के बीच के ऋणों की सूद की दरों और भुगतान की शर्तों में संशोधन (यदि आवश्यकता हो तो)।

५ राज्य सरकारों द्वारा बिक्री कर हटाये जाने पर भारत सरकार ने कपड़े, चीनी और तम्बाकू पर जो अतिरिक्त उत्पादन कर लागू किया था उसकी आय के बटवारे के लिये उचित सिद्धान्त का निर्माण करना।

६ रेल किरायों पर लगे हुए कर की वास्तविक आय के बटवारे के लिए सिद्धान्त बनाना।

आयोग ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट सितम्बर सन् १९५७ में प्रस्तुत की थी।

आयोग ने मुख्य रूप से इस बात की ओर ध्यान दिया कि राज्यों के पास आय के इतने साधन हो जाये कि वह अपने सामान्य खर्चों को पूरा कर ले और अपनी दूसरी पचवर्षीय योजना सम्बन्धी आवश्यकताओं की भी पूर्ति कर सकें। आयोग ने राज्यों की आधारभूत आवश्यकताओं और विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को साथ-साथ ध्यान में रख कर अपने सुझाव दिये थे, क्योंकि उनका विचार था कि पचवर्षीय योजनाओं के, सघ और राज्यों के बजटों का एक मुख्य अग बन जाने के, कारण राज्यों की आधारभूत आवश्यकताओं की ओर अलग ध्यान नहीं दिया जा सकता। आयोग के मुख्य सुझाव निम्न प्रकार थे —

(१) **आयकर का वितरण** —आयोग का सुझाव था कि आयकर की आय में से ६०% भाग राज्यों में बाटा जाय। यह ध्यान रहे, कि प्रथम वित्त आयोग के अनुसार यह प्रतिशत ५५ था। दूसरे आयोग ने ५% की वृद्धि केवल इसीलिए की कि राज्य सन्तुष्ट हो जाये। आयकर के वितरण के सम्बन्ध में वित्त आयोग ने जनसख्या को ही मुख्य आधार माना। पश्चिमी बगाल और बम्बई का जो यह प्रस्ताव था कि आयकर का वितरण प्रत्येक राज्य से एकत्रित की गई राशि के अनुपात में होना चाहिये इस सुझाव पर वित्त आयोग ने अपने विचार प्रकट करते हुये कहा कि देश का आर्थिक एकीकरण हो जाने के कारण अब अन्तर-क्षेत्रीय व्यापार पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं थे, इसलिये व्यापारिक आया पर लगे हुये कर से जो आय प्राप्त होती है वह सारे ही देश से प्राप्त होने वाली आय समझी जानी चाहिये चाहे वह किसी भी राज्य से एकत्रित क्यों न की गई हो। इसके अतिरिक्त बिक्री कर, मोटर गाडियो पर लगे हुए कर, मनोरजन कर, बिजली कर इत्यादि की आय ने अब औद्योगिक दृष्टिकोण से उन्नत राज्यों की वित्त स्थिति को पहले की अपेक्षा अधिक बलपूर्वक बना दिया है। इसलिए अब राज्यों से एकत्रित की गई राशि के आधार पर आयकर के वितरण का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी इस विचार से कि तार एक दम न टूट जाये आयोग ने यह सुझाव दिया कि, राज्यों को आयकर का १०% भाग तो एकत्रित की गई धनराशि पर बाटा जाय और ९०% भाग जनसख्या के आधार पर बाटा जाय। राज्यों को आयकर का हिस्सा निम्न प्रकार दिया जाये[1] —

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	८ १२	मैसूर	५ १४
आसाम	२ ४४	उडीसा	३ ७३
बिहार	९·९४	पजाब	४·२४
बम्बई	१५·९७	राजस्थान	४ ०९
केरल	३ ६४	उत्तर प्रदेश	१६ ३६
मध्य प्रदेश	६ ७२	पश्चिमी बगाल	१०·०८
मद्रास	८·४०	जम्मू तथा काश्मीर	१ १३

1. Report, 1957, Page 41.

(२) सघ उत्पादन करो का वितरण—आयोग का यह विचार था कि भविष्य मे आयकर की आय मे कोई विशेष वृद्धि होने की आशा नही थी। इसलिए राज्यो का सघ उत्पादन करो मे से अधिक भाग मिलना चाहिये। गत वर्षो मे उत्पादन करो के क्षेत्र और उनकी आय मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। उत्पादन करो की आय पिछले ५ वर्षों की तुलना मे ३ गुना अधिक हो गई है। सन १९५२-५३ मे जो आय ८३ ०३ करोड रुपया था वह सन् १९५७ ५८ मे २५६ ५७ करोड़ रुपए हो गई।

आयोग के अनुसार सभी उत्पादन करो की आय का वितरण करना तो अभी सम्भव न था, परन्तु इनकी मात्रा मे पहले की अपेक्षा वृद्धि अवश्य होनी चाहिये। इसलिए उसने सुझाव दिया कि दियासलाइ, तम्बाकू और वनस्पति के उत्पादन करो के अतिरिक्त चानी चाय कहवा, कागज और वनस्पति कम आवश्यक तेलो (Vegetable non-essential Oils) के उत्पादन करो की आय का भाग भी राज्यो को दिया जाय। आयोग के अनुसार यह भाग २५% होना चाहिए। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि प्रथम वित्त आयोग ने यह भाग ४०% निर्धारित किया था, परन्तु १५% की जो कमी हुई है उसको उत्पादन करो की सख्या मे वृद्धि करके पूरा कर दिया गया है। उत्पादन करो के वितरण के लिए प्रथम वित्त आयोग ने जनसख्या को आधार मानते हुए यह प्रस्ताव दिया था कि भविष्य मे जनसख्या के स्थान पर उपभोग को आधार बनाना अधिक उपयुक्त रहेगा। दूसरे वित्त आयोग का यह विचार था कि उपभोग सम्बन्धी सही आकडे मिलना एक तो कठिन है दूसरे जनसख्या ही अधिक उपयुक्त आधार है क्योकि उपभोग के आधार पर वितरण करने मे नागरीकृत राज्यो (Urbanised States) को अधिक लाभ प्राप्त होगे। अत आयोग के अनुसार उत्पादन करो का बटवारा राज्यो मे निम्न प्रकार किया जाय[2] —

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आध्र प्रदेश	९ ३८	मैसूर	६ ५२
आसाम	३ ४६	उडीसा	४ ४६
बिहार	१० ४३	पजाब	४ ५९
बम्बई	१२ १७	राजस्थान	४ ७१
केरल	३ ८३	उत्तर प्रदेश	१५ ६४
मध्य प्रदेश	७ ४६	पश्चिमी बगाल	७ ५९
मद्रास	७ ५६	जम्मू तथा काश्मीर	१ ७५

(३) जूट निर्यात कर के बदले में आर्थिक सहायता—भारत के सविधान के अनुसार जूट उगाने वाल प्रान्तो को जूट निर्यात कर का जो भाग सन १९३५ से प्राप्त हो रहा था वह बन्द कर दिया गया और उसके स्थान पर राज्यो की आय मे

2 Ibid, Page 44

होने वाली कमी को पूरा करने के लिये सन् १९६० तक आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की गई है। आयोग के अनुसार आर्थिक सहायता की राशि प्रत्यक राज्य के लिए निम्न प्रकार थी —

आसाम	७५ लाख रुपए	उडीसा	१५ लाख रुपए
विहार	७२ ३१ ,, ,,	पश्चिमी बगाल	१५२ ९९ ,, ,,

(४) **राज्यों को आर्थिक सहायता**—राज्यो की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओ को ध्यान मे रख कर आयोग ने यह सिफारिश की कि राज्यो को पहले की अपेक्षा अधिक आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। साथ ही साथ उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह राशि केवल दूसरी पचवर्षीय योजना के कारण बढाई गई थी और इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि य राज्यों की स्थायी आवश्यकताए थी। प्रत्येक राज्य की आवश्यकताओ को ध्यान म रख कर आयोग ने निम्न आर्थिक सहायताओ की सिफारिश की —

राज्य	१९५७-५८	१९५८ ५९	१९५९-६०	१९६०-६१	१९६१-६२	कुल योग
आध्र प्रदेश	४००	४००	४००	४००	४००	२० ००
आसाम	३ ७५	३ ७५	३ ७५	४ ५०	४ ५०	२० २५
विहार	३ ५०	३ ५०	३·५०	४ २५	४ २५	१९ ००
केरल	१ ७५	१ ७५	१ ७५	१ ७५	१ ७५	८ ७५
मध्य प्रदेश	३ ००	३ ००	३ ००	३ ००	३ ००	१५ ००
मैसूर	६ ००	६ ००	६ ००	६ ००	६ ००	३० ००
उडीसा	३ २५	३ २५	३ २५	३ ५०	३ ५०	१६ ७५
पजाव	२ २५	२ २५	२ २५	२ २५	२ २५	११ २५
राजस्थान	२ ५०	२ ५०	२ ५०	२ ५०	२ ५०	१२ ५०
पश्चिमी-बगाल	३ २५	३ २५	३ २५	४ ७५	४ ७५	१९·२५
जम्मू तथा काश्मीर	३ ००	३ ००	३ ००	३ ००	३ ००	१५ ००
कुल योग	३६ २५	३६ २५	३६ १५	३९ ५०	३९ ५०	१८७ ७५

बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश को आयोग ने आर्थिक सहायता देने की सिफारिश नहीं की थी। क्योकि उसका विचार था कि इन राज्यो के पास अपने खर्चों को पूरा करने के लिए काफी आय थी। आसाम, विहार, उडीसा और पश्चिमी बगाल को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता मे तीन वर्षो बाद वृद्धि होनी थी, क्योकि सन् १९५९ ६० के बाद उनको जूट निर्यात कर का भाग मिलना बन्द हो

वित्तीय सम्बन्धो के समन्वय म बहुत सी जटिलतायें उत्पन्न हो गई थी। अतः आयोग का विचार था कि यदि इन सब ऋणो को एक साथ मिला दिया जाय और सूद की दरो और भुगतान की शर्तो का उचित नियन्त्रण हो जाय तो अनेको कठिनाइया से छुट्टी मिल जायेगी। १५ अगस्त १६४७ और ३१ मार्च सन् १६५६ के बीच में केन्द्र ने जो ऋण राज्यों को दिये थे उनके सम्बन्ध म आयोग ने निम्न सुझाव दिये थे —

(अ) राज्यो को जो ऋण शरणार्थियो को देने के लिये दिये गये थे उनम से राज्य केवल उन्ही ऋणो को लौटायेंगे और उतना ही सूद देंगे जोकि उन्हे शरणार्थियो से वापिस मिलेंगे अर्थात शरणार्थियों ने जिन ऋणो का भुगतान नही किया है राज्यो को उन ऋणो का भुगतान केन्द्रीय सरकार को नही करना होगा। यह सुझाव १ अप्रेल सन् १६५७ से लागू होगा।

(ब) जो सूद रहित ऋण राज्यो को शिक्षालयो की इमारतें बनवाने करघा उद्योग तथा कुटीर उद्योगो इत्यादि के लिये दिये गये थे उनकी सूद की दर या भुगतान की शर्तो म किसी प्रकार का परिवर्तन नही होना चाहिए।

(स) शेष ऋणों को दो भागो म विभाजित कर दिया था—(१) ऐसे ऋण जो १ अप्रेल सन् १६७७ को या उसके बाद भुगतान किये जाने योग्य हो जायेंगे, अर्थात दीर्घकालीन ऋण। (२) वे ऋण जो ३१ मार्च सन १६७७ को या उससे पहले भुगतान करने योग्य होगे अर्थात मध्य-कालीन ऋण। आयोग का सुझाव था कि सब दीर्घकालीन ऋण जिनकी सूद की दर ३% या अधिक है एक अकेले ऋण में परिवर्तित हो जाने चाहिये, जिन पर सूद की दर ३% ही रहेगी और जिसका भुगतान ३१ मार्च सन् १६८७ को हो जाना चाहिये। जिन दीर्घ कालीन ऋणो की सूद की दर ३% थी उनको भी मिलाकर एक ऋण कर दिया जाय और सूद की दर २½% कर दी जाये, और उनका भुगतान भी ३१ मार्च सन १६८७ को हो जाना चाहिए। इसी प्रकार सारे मध्यकालीन ऋणो को जिनकी सूद की दर ३% या ३% से अधिक है उनको तीन प्रतिशत की सूद की दर वाले केवल एक ही ऋण म मिला दिया जावे जिसका भुगतान ३१ मार्च सन् १६७२ म होना चाहिये और ३ प्रतिशत से कम सूद की दर वाले सारे ऋण मिलाकर केवल एक ही २½ प्रतिशत की सूद के ऋण में मिला दिये जाये जिनका भुगतान भी ३१ मार्च सन् १६७२ को हो जाना चाहिये। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि भावी ऋणो के लिए भी यही योजना अपनाई जाय। आयोग का सुझाव था कि राज्यो को नियमित रूप से ऋण नही दिये जायें और उनको आवश्यकता के समय कुछ धन वैसे ही सहायता के रूप म दे दिया जाये। प्रत्येक वर्ष के अन्त म इन सब धन राशियो को मिलाकर २ ऋणो म बाँट दिया जाय—दीर्घकालीन व मध्यकालीन और उन पर वही सूद की दर ली जाय जो ऊपर बताई जा चुकी है।

(७) **अतिरिक्त उत्पादन करों का बटवारा**—केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारो के परामर्श से यह निश्चय किया था कि यदि राज्य सरकारें बिक्री कर हटा

दें तो केन्द्रीय सरकार मिल के बने हुए कपडा, चीनी और तम्बाकू पर अतिरिक्त उत्पादन कर लगा देगी और उनसे प्राप्त वास्तविक आय को राज्यों में बांट देगी। वित्तीय आयोग को इन अतिरिक्त उत्पादन करों के वितरण के लिए अपने सुझाव देने थे। आयोग ने इस सम्बन्ध में दो प्रकार के सुझाव दिए हैं अर्थात तीनों वस्तुओं की आय को अलग अलग बाटने के सम्बन्ध में और एक साथ बाटने के सम्बन्ध में। जम्मू और काश्मीर राज्य में इन वस्तुओं पर कोई बिक्री कर लागू नहीं किया गया था फिर भी वहाँ की जनता को अतिरिक्त उत्पादन कर का भार सहन करना पड़ेगा। इसलिए आयोग का सुझाव था कि इस राज्य को भी इसमें से भाग मिलना चाहिए और उसका भाग १½% निश्चित किया। इसके अतिरिक्त सघ क्षेत्रों (Union Territories) को प्राप्त होने वाला भाग सघ सरकार अपने पास रखेगी। आयोग ने पहले तो प्रत्येक राज्य को विक्रीकर से प्राप्त होने वाली आय को मालूम किया और उसके बाद प्रत्येक राज्य का भाग निश्चित किया।

विभिन्न राज्यों को इन वस्तुओं पर बिक्रीकर से प्राप्त होने वाली वर्तमान आय निम्न प्रकार थी —

(लाख रुपयों में)

राज्य	मिल का बना हुआ कपडा	चीनी	तम्बाकू	योग
आंध्र प्रदेश	१२०	४०	७५	२३५
आसाम	४०	१५	३०	८५
बिहार	८०	३०	२०	१३०
बम्बई	६००	२४५	११५	९६०
केरल	३८	२०	३७	९५
मध्य प्रदेश	८३	४०	३२	१५५
मद्रास	१६८	६०	५७	२८५
मैसूर	४८	२५	२७	१००
उडीसा	५०	२०	१५	८५
पंजाब	९५	५०	३०	१७५
राजस्थान	५०	२५	१५	९०
उत्तर प्रदेश	४००	११२	६३	५७५
पश्चिमी बंगाल	२०४	३६	४०	२८०
योग	१९७६	७१८	५५६	३२५०

यदि कुछ शेष बचे तो उसका बटवारा निम्न प्रतिशतो के अनुसार किया जाय — (प्रतिशत)

राज्य	सारी वस्तुओ को एक साथ मिला कर	हर एक वस्तु को अलग अलग लेकर		
		मील का बना हुआ कपडा	चीनी	तम्बाकू
आंध्र प्रदेश	७ ८१	७ ३८	६ ६५	१० ४७
आसाम	२ ७३	२ ७२	२ ५५	२·९८
बिहार	१० ०४	११ १९	८ २०	८·९०
बम्बई	१७ ५२	१६ ४६	२० १७	१७·४१
केरल	३ १५	३ १०	३ ०३	३ ४३
मध्य प्रदेश	७ १६	६ ९७	७ ६७	७·१०
मद्रास	७ ७४	७ २६	७ ४३	९ ५३
मैसूर	५ १३	४ ९८	५·१३	५·५८
उडीसा	३ २०	३ ३२	२ ८७	३·२१
पंजाब	५ ७१	५ ५६	७·२१	४ ३६
राजस्थान	४ ३२	४ ३६	४ ८१	३ ५९
उत्तर प्रदेश	१७ १८	१८ १९	१५ ·३	१६ १३
पश्चिमी बगाल	८ ३१	८ ५१	८ ६५	७ ३१

(८) **रेल किरायो पर लगे हुए कर का वितरण**—रेल यात्रियो के किरायो पर सन् १९५७ म कर लगाया गया था। यह कर सघ सरकार द्वारा लगाया गया है और वही उस एकत्रित करती है परन्तु इसकी सम्पूर्ण आय राज्यो म विभाजित कर दी जाती है। आयोग का विचार था कि इस कर की आय का बटवारा प्रत्येक राज्य म स्थित रेलो पर व्यक्तियो द्वारा की गई वास्तविक यात्रा के आधार पर होना चाहिये। इसकी उत्तम विधि यह होगी कि प्रत्येक राज्य म रेल मार्गों की लम्बाई के अनुसार प्रत्येक टिकट से प्राप्त किये गये कर को बाट दिया जाय। परन्तु क्योंकि यह व्यावहारिक नही था इसलिये आयोग ने एक दूसरी विधि निर्मित की। छोटी और बडी लाइनो को अलग अलग लेकर प्रत्येक राज्य म स्थित रेल मार्गों की लम्बाई के अनुसार प्रत्येक क्षेत्रीय रेल (Zonal Railway) की आय को भी बाँट दिया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा की गई यात्रा से प्राप्त आय को मालूम किया जा सकता है और कर की आय को भी, इस प्रकार, प्रत्येक राज्य की मालूम की गई कुल आय के अनुपात में बाँटा जा सकता है। आयोग ने पिछले ३ वर्षो की आय को मालूम करके, ऊपर बताये हुए आधार पर प्रत्येक राज्य का भाग निश्चित

किया। इन भागों को निश्चित करते में पहले कुल आय का ½% संघ क्षेत्रों के लिये निकाल लिया गया था। राज्यों को इस कर से प्राप्त होने वाले भाग का प्रतिशत निम्न प्रकार है —

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आंध्र	८ ८६	मैसूर	४ ४५
आसाम	२ ७२	उड़ीसा	३ ७८
बिहार	९ ३६	पंजाब	५ ११
बम्बई	१६ २८	राजस्थान	६ ७७
केरल	१ ८२	उत्तर प्रदेश	१८ ७६
मध्य प्रदेश	८ ३१	पश्चिमी बंगाल	६ ३१
मद्रास	८ ४६		

क्योंकि राज्य वित्त व्यवस्था में अकाल, बाढ़ आदि जैसी प्राकृतिक आपत्तियाँ बहुत सी गड़बड़ी उत्पन्न कर देती हैं इसलिये आयोग का विचार था कि राज्यों को इन आपत्तियों से बचने के लिये नियमित रूप से कुछ कोष अलग रखने चाहियें। आयोग ने इस प्रथा का भी विरोध किया कि विकास योजना के अतिरिक्त अन्य कार्यक्रमों को पूरा करने के लिये जितने धन की आवश्यकता हो उस धन में यदि राज्य भी हिस्सा बटायें तो केन्द्रीय सरकार सहायता देगी। क्योंकि राज्यों में इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वह योजना से बाहर के कार्यक्रमों को पूरा कर सकें इस लिये यदि वे ऐसा करेंगी तो उनको घाटा अवश्य होगा। आयोग का यह भी विचार था कि विभिन्न राज्यों में हिसाब किताब रखने की विधि भी समान ही होनी चाहिये। आयोग को समय समय पर उचित और पर्याप्त आँकड़े न मिलने में बड़ी कठिनाइयाँ अनुभव हुई। इसलिये उसने सभी सम्बन्धित संस्थाओं से यह सिफारिश की कि पर्याप्त आँकड़ों को जमा करने की तरफ वे अधिक ध्यान दें और वित्त मंत्रालय को यह सुझाया कि वह आँकड़े एकत्रित करने तथा अन्य अनुसंधान कार्यों के लिये उचित व्यवस्था करे क्योंकि भावी वित्त आयोगों को इन आँकड़ों की बहुत आवश्यकता होगी। आयोग के सुझावों के अनुसार एक वर्ष में लगभग १४० करोड़ रुपयों का बटवारा राज्यों में किया जायगा जबकि पहले वित्त आयोग के अनुसार यह राशि केवल ९३ करोड़ रुपये थी। निम्न तालिका में उन राशियों को दिखाया गया है जिनको प्राप्त करने की आशा प्रत्येक राज्य कर सकता है। इस तालिका में करों का भाग केवल अनुमानित है और इसमें समय समय पर परिवर्तन हो सकते हैं —

(करोड रुपयो मे)

राज्य	करो के भाग	आर्थिक सहायता	जूट निर्यात करो के बदले म आर्थिक सहायता	योग
आध्र प्रदेश	८ ५०	४ ००	—	१२ ५०
आसाम	२ ७५	४ ०५	०·४५	७ २५
बिहार	१० ००	३ ८०	० ४३	१४ २३
बम्बई	१४ ७५	—	—	१४ ७५
केरल	३ ७५	१ ७५	—	५ ५०
मध्य प्रदेश	७ ००	३ ००	—	१० ००
मद्रास	८ २५	—	—	८ २५
मसूर	५ ५०	६ ००	—	११ ५०
उडीसा	४ ००	३ ३५	० ०९	७ ४४
पजाब	४ २५	२ २५	—	६ ५०
राजस्थान	४ २५	२ ५०	—	६ ७५
उत्तर प्रदेश	१६ २५	—	—	१६ २५
पश्चिमी बगाल	९ ५०	३ ८५	० ९१	१४ २६
जम्मू और काश्मीर	१ २५	३ ००	—	४ २५
योग	१०० ००	३७ ५५	१ ८८	१३९ ४३

इसके अतिरिक्त राज्यो को अतिरिक्त उत्पादन करो और रेल किरायो पर लगे हुए कर की आय म से लगभग १५ करोड रुपया प्रतिवर्ष और प्राप्त होगा।

दूसरे वित्त आयोग की रिपोर्ट पर एक दृष्टि—दूसरे वित्त आयोग की सभी *सिफारिशें सरकार ने स्वीकार कर ली। केवल उस सिफारिश को ही अस्वीकार किया* है जो कि केन्द्र से राज्यो को दिये गये ऋणो के भुगतान के सम्बन्ध म थी। आयोग ने राज्यो की आवश्यकताओ पर बडी उदारता से विचार किया है। यद्यपि बम्बई और पश्चिमी बगाल अब भी सतुष्ट नही है फिर भी अन्य राज्यो ने इसका हार्दिक स्वागत किया। इसके अतिरिक्त आयोग ने आर्थिक सहायताओ सम्बन्धी शर्तो को अधिक उदार बना कर केन्द्र और राज्यो के बीच म निरतर उत्पन्न होने वाले मनमुटाव को कम कर दिया। आयोग ने जनसख्या को कर वितरण का आधार मान कर समस्या को बहुत ही सरल बना दिया है। बम्बई और पश्चिमी बगाल ने आयोग के सुझावो की निंदा की है और उन्होने अपनी पुरानी दलीलो को ही दुहराया है। परन्तु यहाँ पर इतना कह देना ही उचित होगा कि कोई भी योजना सभी

व्यक्तियों को प्रसन्न नहीं कर सकती और कोई न कोई व्यक्ति ऐसा अवश्य होगा जिसको उसके विरुद्ध आपत्ति होगी।

कुछ लोगों का कहना था कि आयोग ने राज्यों के पास जो केन्द्रीय ऋण थे उनका एकीकरण करके ठीक नहीं किया। ऋणों की सूद की दर, अवधि, भुगतान की शर्तें आदि सभी भिन्न भिन्न होती हैं और हर ऋण एक निश्चित उद्देश्य से लिया जाता है। आलोचकों के अनुसार यह भिन्नतायें राजकीय ऋण नीति की मुख्य विशेषता है और स्वाभाविक गुण है। बहुत अधिक सरलता भी लाभप्रद नहीं होती। इसके अतिरिक्त पुराने समझौतों और वायदों को इतनी सरलता से नहीं बदलना चाहिए। इन आलोचनाओं के विरुद्ध और वित्त आयोग के पक्ष में केवल इतना ही कहना उचित होगा कि ऋणों के भुगतान के सम्बन्ध में वित्त आयोग ने जो भी सुझाव दिये हैं वह राज्यों और केन्द्र की स्थिति को ध्यान में रखकर दिये हैं, जिनसे दोनों पक्षों में से किसी को हानि नहीं होगी।

यह ध्यान रहे कि वित्त आयोग ने बड़ी ही असाधारण परिस्थितियों में अपने काम को पूरा किया है। देश में नियोजन कार्य के आरम्भ हो जाने से राज्यों को जो कुछ भी सहायता दी जाती है उसमें अन्तिम निर्णय नियोजन आयोग (Planning Commission) का होता है और यह आवश्यक नहीं कि वित्त आयोग ने जो सिफारिशें की हैं वे पूरी की पूरी नियोजन आयोग द्वारा स्वीकार कर ली जायें और उनमें कोई संशोधन न हो। इसके अतिरिक्त केवल इस कटु सत्य से (नियोजन आयोग के हस्तक्षेप की बात) क्या वित्त आयोग को अपने काम करने में अड़चनें उत्पन्न न हुई होंगी या वित्त आयोग बेखटके काम कर सका होगा? स्पष्ट ही है कि इन प्रश्नों का उत्तर नहीं में होगा। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी थी कि राज्यों को संघ सरकार से जो सहायता प्राप्त होती है उसके एक छोटे से ही भाग के वितरण के सम्बन्ध में ही वित्त आयोग की सिफारिशें माँगी गई थीं। अतः यह केवल एक प्रकार का दिखावा है और देश को वित्त आयोग की सहायता का पूरा लाभ नहीं मिल पाता। स्वयं वित्त आयोग ने इन कठिनाइयों को अपनी रिपोर्ट में व्यक्त किया है और अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि जब तक वित्त आयोग और नियोजन आयोग को एक ही क्षेत्र में काम करना है तब तक सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों के कार्यों में उचित समन्वय स्थापित हो।

भाग ५

भारतीय कर प्रणाली और उसके मुख्य अंग

अध्याय १४

भारतीय कर प्रणाली

(The Indian Tax System)

पिछले अध्याय म हमने भारत म सघीय वित्त व्यवस्था के इतिहास पर एक दृष्टिपात की थी। अब हम भारतीय कर प्रणाली की मुख्य विशेषताओ और मुख्य-मुख्य करो का अध्ययन करें। इसमे पूर्व कि हम भारत म केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो के मुख्य-मुख्य करा की व्याख्या करें हम भारतीय कर प्रणाली के दोषो तथा कर प्रणाली को सुधारने के लिए समय-समय पर दिय गए प्रस्तावा की विवेचना करेंगे। इस अध्याय की यही विषय सामग्री है।

भारतीय कर प्रणाली की विशेषतायें अथवा दोष—*भारत एक अर्ध-विकसित* देश है। हमने अपना विकास कार्यक्रम आरम्भ कर दिया है और आज आठ वर्ष हो चुके है। पहली योजना म तो आय के साधनो की ओर अधिक ध्यान नही दिया जा सकता था। इसके कई कारण हो सकते हैं। प्रथम, पहली योजना मे व्यय राशि बहुत अधिक निश्चित नही की गई थी, इसलिए कोई चिन्ता नही थी। स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद ही साम्यवादी तथा पूंजीवादी, दोनो ही क्षेत्र भारत को सितुलत केन्द्र बनाना चाहते थे। स्वय भारत की भी अपनी नीति ऐसी ही है। ऐशिया का नेता होने के नाते भारत दोनो ही क्षेत्रो का मित्र बनकर रहना चाहता है। अत हर देश उसको नियोजन कार्य म अपना सहयोग देना चाहता था और इसीलिए उसे आशा से भी अधिक विदेशी सहायता प्राप्त हुई। दूसरे भारत के स्वय अपने साधन भी बहुत थे। उसके पौडपावने एकत्रित थे ही, इसलिए विदेशी मुद्रा की उसे कोई चिन्ता था नही। युद्ध काल म प्राप्त किये हुए लाभ व्यक्तियो के पास एकत्रित थे और कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रो मे मूल्य वृद्धि के कारण लाभ का अश निरन्तर बढता ही जा रहा था। इसलिए सरकार को देश के भीतर से ही करो, अल्प-

बचतों तथा ऋणों द्वारा काफी धन प्राप्त होने की आशा थी। हुआ भी यही, सरकार को ऋणों तथा अन्य स्रोतों से आशा से भी अधिक धन प्राप्त हुआ। तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विश्व बैंक तथा मुद्रा कोष की स्थापना और उनकी सदस्यता प्राप्त कर लेने के बाद भारत को यह आशा हो ही गई थी कि विश्व बैंक से देश के आन्तरिक विकास के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से व्यापार सन्तुलन की असमताएं दूर करने में सहायता प्राप्त हो ही जायगी। अन्तिम एवं सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत को उस समय तक आर्थिक नियोजन की आर्थिक कठिनाइयों का स्पष्ट ज्ञान भी नहीं था। नियोजन आयोग ने अधिकतर सैद्धान्तिक बातों के आधार पर और विभिन्न धारणाओं पर ही अपना कार्यक्रम आधारित किया था। उस समय हर दिशा में स्फूर्ति तथा आशावादी दृष्टिकोण था और व्यक्ति नियोजन का फल की आशा समझे हुए थे उन्हें गुलाब के कांटों का ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि दूसरी योजना में सरकार ने काफी सावधानी बरती है फिर भी योजना अत्यन्त आशावादी है। दूसरी योजना को सफल बनाने के लिए सरकार को धन चाहिए किन्तु वह आवश्यक मात्रा में प्राप्त नहीं हो पा रहा है। पिछली योजना की अपेक्षा यह योजना अधिक विशाल है। कदाचित पहली योजना की सफलताओं से फूलकर ही नियोजन आयोग ने इतना आशावादी दृष्टिकोण अपनाया होगा। हम आन्तरिक ऋण प्राप्त नहीं हो पा रहे हैं। अल्प बचतों में प्राप्त होने वाली राशि प्रतिवर्ष कम होती जा रही है। करारोपण से भी आशातीत आय प्राप्त नहीं हो रही है और विदेशी सहायता में पहले ही कमी हो गई है। इसलिए अब केवल अनिवार्य बचतें प्राप्त करनी होंगी अर्थात करारोपण को ही अपनाना होगा। किन्तु करारोपण में वृद्धि करने के लिए कर प्रणाली में उचित संशोधन करने होंगे और आर्थिक विकास के उद्देश्यों के अनुकूल कर प्रणाली को बनाना होगा। हमारी वर्तमान कर प्रणाली का जो ढांचा है उसमें विकास कार्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक धन प्राप्त होने की आशा करना निरर्थक होगा। भारतीय कर प्रणाली में इस समय निम्न दोष हैं —

(१) भारतीय कर प्रणाली बहुत ही छितरी बिखरी है अर्थात इसका विकास वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं हो पाया है। भारत की जैसी स्थिति है उसमें कर प्रणाली को आय प्रदान करने वाली भी होनी चाहिये और सामाजिक असमानताओं को दूर करने वाली भी होनी चाहिये। किन्तु हमारी कर प्रणाली में यह दोनों गुण ही अनुपस्थित हैं। वर्तमान प्रणाली का जन्म एवं विस्तार केवल समय समय पर उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से किया जाता रहा है विशेष रूप से बजट को सन्तुलित करने के उद्देश्य से। विभिन्न करों के भार एवं उत्पादन और उपभोग पर पड़ने वाले प्रभावों की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है। यही कारण है कि विभिन्न करों में न तो समन्वय ही है और न वे एक दूसरे के सहायक ही हैं। वास्तव में हमारी कर प्रणाली का अभ्युदय तथा विस्तार प्राचीन विचारधारा के अनुसार हुआ है। अब हमारा मुख्य कार्य यह है कि इसको नवीन विचारधारा के अनुकूल बनाना है।

(२) हमारी कर प्रणाली की दूसरी विशेषता यह है कि इससे प्राप्त होने वाली आय देश की वर्तमान आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत कम है और विकास के लक्ष्यों के लिये अपर्याप्त है। साथ ही वर्तमान कर बेलोच भी है। यही कारण है कि गत वर्षों में जब हमारा व्यय शिक्षा, स्वास्थ, सार्वजनिक निर्माण कार्य आदि सामाजिक सेवाओं तथा विकास कार्यों पर बढ़ता रहा है सरकार अपनी आय में पर्याप्त वृद्धि करने में असमर्थ रही है।

(३) भारतीय कर प्रणाली का तीसरा दोष यह है कि, यहाँ पर करारोपण से प्राप्त कुल आय में प्रत्यक्ष करों का भाग अधिक नहीं है, अर्थात् अप्रत्यक्ष करों से अधिकांश आय प्राप्त होती है। विकसित देशों में स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। सन् १९३८–३९ में केन्द्रीय सरकार तथा 'अ' राज्यों की आय में प्रत्यक्ष करों में केवल १२% प्राप्त होता था, सन् १९४४–४५ में यह प्रतिशत ४५ हो गया और सन् १९५३–५४ में केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों और स्थानीय सरकारों की करारोपण से प्राप्त कुल आय में यह प्रतिशत केवल २४ था। इसके विपरीत इग्लैण्ड में यह प्रतिशत ५५ था, कनाडा में ६१ से अधिक, न्यूजीलैण्ड में ६५, जापान में ७०, संयुक्त राज्य अमेरिका में ८८, लंका में ४०, पाकिस्तान में २४ और अर्ध-विकसित देशों में २० से भी कम था।[1]

(४) हमारी कर प्रणाली का चरित्र प्रतिगामी है। इसमें न्यायशीलता का पूर्ण अभाव है। इसका भार निर्धन और निम्न आय वाले लोगों पर अधिक होता है। यदि हम व्यक्तिगत करों को लें तो ज्ञात होगा कि आय-कर, सम्पत्ति-कर, व्यय-कर, उपहार-कर, मृत्यु-कर और पूँजीकर को छोड़कर शेष जितने भी कर हैं, वे सभी प्रतिगामी हैं। प्रो० के० टी० शाह के शब्दों में, 'धनी वर्गों पर अपेक्षाकृत बहुत कम कर भार है, यद्यपि उनकी कर भार सहन करने की शक्ति बहुत अधिक है जबकि निर्धन व्यक्तियों को कर भार में शेर का भाग सहन करना पड़ता है, यद्यपि उनकी भार सहन करने की शक्ति पेट के बच्चे से भी कम है।"

(५) नियोजन आयोग के अनुसार हमारी कर प्रणाली का एक दोष यह भी है कि यह केवल बहुत थोड़े से व्यक्तियों को ही प्रभावित करती है, अर्थात् जनसंख्या की दृष्टि से बहुत थोड़े से ही व्यक्तियों को कर का भुगतान करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष कर देश की कार्यशील शक्ति (working force) के केवल ३% को ही छूते हैं।

(६) कुछ लोगों के अनुसार भारत में करों द्वारा प्राप्त आय कुल राष्ट्रीय आय का केवल ७ प्रतिशत है जब कि इङ्गलैण्ड में ३५, आस्ट्रेलिया में २२, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान में २३, कनाडा में १९, लंका में २०, मिस्र में १६, बर्मा में १५.५, चिली में १४.४ तथा ब्राजील में १४.४ प्रतिशत है। अतः इस से स्पष्ट है कि यहाँ पर जितने कर लगने चाहिये उतने नहीं लगे हुए हैं और कर बढ़ाने की अभी बहुत गुन्जायश है।

[1] Taxation Enquiry Commission Report Page 12

(७) आधुनिक लेखकों के अनुसार कर प्रणाली के अध्ययन के साथ साथ राजकीय व्यय का भी अध्ययन करना आवश्यक होता है। बात यह है कि कर प्रणाली के दोष राजकीय व्यय द्वारा दूर किए जा सकते हैं। यदि हम इस दृष्टिकोण से भारतीय कर प्रणाली की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें और भी असंतोष होता है। व्यय के क्षेत्र में अधिकांश आय नागरिक प्रशासन और सुरक्षा पर खर्च की जाती है। केन्द्रीय सरकार के व्यय में से तो सब से बड़ी मद कुल आय का लगभग ५०% भाग रक्षा पर होती है और राज्य सरकारों के व्यय में लगभग ३०%। दूसरी ओर राष्ट्रीय निर्माण सेवाओं पर बहुत कम खर्च किया जाता है। इस प्रकार राजकीय व्यय से भी हमारी कर प्रणाली के दोषों से उत्पन्न होने वाली क्षति की पूर्ति नहीं होती।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हमारी कर प्रणाली करारोपण के आधुनिक सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं है। हमारी कर प्रणाली में प्रगतिशीलता का अंश अधिक न होकर प्रतिगामिता का अंश अधिक है। प्रगतिशीलता का अंश बढ़ाने के लिए सबसे पहला उपाय यह किया जाय कि कुल करारोपण में प्रत्यक्ष करों के अनुपात को बढ़ाया जाय। यह संतोषप्रद है कि पिछले दो तीन बजटों में प्रत्यक्ष करारोपण में बहुत वृद्धि हो गई है, जैसे उपहार कर, सम्पत्ति कर, पूंजी लाभ कर, व्यय कर आदि लागू कर दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त आयकर के क्षेत्र में न्यूनतम कर रहित सीमा को कम करके अधिक व्यक्तियों को सम्मिलित कर लिया गया है तथा कर की दरों को भी बढ़ा दिया गया है। आयकर में अब अधिक वृद्धि होने की गुंजायश नहीं है। वैसे भी वर्तमान दरें अमेरिका और कनाडा से तो ऊँची हैं और इंगलैण्ड से भी कुछ अधिक नीची नहीं हैं। इस समय कर की चोरी की भी बहुत बड़ी समस्या है किन्तु यदि प्रो० कालडार के प्रस्तावों को पूर्ण रूप से कार्यान्वित कर दिया जाता तो कर चोरी की समस्या समाप्त हो जाती और हमारी कर प्रणाली भी समन्वित तथा समुचित हो जाती। अब भी समय है सरकार को इस ओर पूरा ध्यान देना चाहिए। यदि आयकर की दरों में भी प्रगतिशीलता लाई जा सकती है। पिछले वर्षों में जो नए वस्तु कर लागू किए गए हैं, उनसे हमारी कर प्रणाली की प्रतिगामिता और भी अधिक हो गई है। वास्तव में जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर जैसे, वनस्पति घी, तेल, चीनी, अनाज आदि वस्तुओं पर किसी कर लगाने से निर्धन व्यक्तियों पर ही कर भार और अधिक हो गया है। ठीक यही स्थिति व्यापारिक सेवाओं की मूल्य वृद्धि के कारण उत्पन्न हुई है। पिछले वर्षों में रेलों के, किरायों में, पोस्टकार्ड, तार, शुल्क तार इत्यादि के मूल्य बहुत बढ़ गए हैं। सरकार को कर प्रणाली में प्रगतिशीलता का अंश लाने के लिए और करारोपण को धन के वितरण समान करने का एक अस्त्र बनाने के लिए विलासिता की वस्तुओं पर अधिकाधिक मात्रा में कर लगाने चाहिए। इस उद्देश्य से उत्पादन कर तथा बिक्री कर में उचित परिवर्तन करना अति आवश्यक है।

भारतीय कर प्रणाली का सुधार—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने यह अनुभव किया कि कर प्रणाली में सुधारों की बहुत अधिक आवश्यकता थी। उनका विश्वास था कि कर प्रणाली के ढाँचे को जब तक पूर्णतया बदला नहीं

दिया जायेगा उस समय तक यह विकास सम्बन्धी आर्थिक नियोजन के योग्य नही बन पायेगी। इसीलिए अप्रैल सन् १९५२ मे श्री जॉन मथाई की अध्यक्षता मे कर जॉच आयोग नियुक्त किया गया।

कर जांच आयोग की सिफारिशें—कर जांच आयोग, निम्न समस्याओं का निरीक्षण करने के लिये नियुक्त किया गया था —

(अ) भारत म कर प्रणाली का भार। (ब) देश के विकास कार्यक्रमों के लिये आवश्यक वित्त जुटाने तथा आय एव धन की असमानताओ को कम करने के उद्देश्य से कर प्रणाली का औचित्य। (स) पूजी निर्माण तथा उत्पादक उपक्रम पर आयकर के प्रभाव, और (द) मुद्रा सकुचन तथा मुद्रा स्फीति को रोकने मे करारोपण का उपयोग। आयोग की रिपोर्ट फरवरी सन् १९५५ मे प्रकाशित हुई थी जो तीन पुस्तकों मे विभाजित की गई थी—प्रथम पुस्तक मे भारतीय कर प्रणाली के सम्बन्ध म सामान्य सिफारिशें थी, दूसरी पुस्तक म केन्द्रीय करारोपण और तीसरी पुस्तक में राज्यो तथा स्थानीय सस्थाओ की सरकारो के करो से सम्बन्धित सिफारिशे थी।

आयोग का विचार था कि यद्यपि युद्ध के पहले ही से सरकार की आय में वृद्धि होनी आरम्भ हो गई थी, किन्तु यह वृद्धि केवल मुद्रा स्फीति के कारण थी। यद्यपि करारोपण से प्राप्त कुल आय, राष्ट्रीय आय की ७% ही चली आ रही है, किन्तु यदि लडाई से पहले के वर्षों मे कर आय और राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकडो को प्राप्त करके अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि पहले की अपेक्षा इस अनुपात में बहुत कमी हो गई है। किन्तु कठिनाई यह है कि विश्वसनीय आँकडे उपलब्ध नही हैं। इसलिये इस निष्कर्ष की पुष्टि करना कठिन है। यद्यपि आयोग ने राष्ट्रीय आय मे करारोपण के अनुपात के सम्बन्ध मे यह नही बताया कि यह कितना होना चाहिये? किन्तु आयोग ने उन देशो के उदाहरण अवश्य दिए हैं जहाँ पर यह अनुपात बहुत ऊँचा है और ऐसा प्रतीत होता है कि आयोग को इसमे कोई आपत्ति नही होगी यदि यह अनुपात ९½%से १०½% हो जाये। यद्यपि भारत की कुल कर आय म प्रत्यक्ष करों का प्रतिशत सन् १९३८–३९ मे १२ से १९४४–४५ मे ४५ हो गया था, किंतु सन् १९५३–५४ में फिर घट कर २४ रह गया। उस वर्ष वस्तु करो तथा ऐसे करो से, जिनका भार मुख्यतया घरेलू उपभोग पर पडता है, प्राप्त आय कुल कर आय मे लगभग ४५% थी। राज्य सरकारों द्वारा बिक्री कर लागू होने तथा केन्द्रीय उत्पादन करो में वृद्धि होने से भारतीय कर ढाँचे मे अप्रत्यक्ष करो का प्रमुख स्थान हो गया है।

भूतकाल में भारतीय कर प्रणाली का एक बहुत गम्भीर दोष यह था कि राज्यो की आय बहुत अपर्याप्त और बेलोच थी। किन्तु जब से राज्य सरकारो को केन्द्रीय आय में से एक बडा भाग प्राप्त होने लगा है और केन्द्र से काफी अनुदान प्राप्त होने लगे हैं, केन्द्रीय सरकार की आय में उनकी दिलचस्पी बढती जा रही है। इसलिए अब राजकीय वित्त के समुचित अध्ययन की आवश्यकता बहुत बढ गई है। यह ध्यान रहे कि इन परिवर्तनो के कारण राज्यो की आय पहले की अपेक्षा अधिक

लोचपूर्ण और पर्याप्त हो गई है। किन्तु यह बात स्थानीय सरकारों के विषय में सच नहीं है। स्थानीय वित्त की प्रमुख विशेषता यह है कि उनकी प्रगति बहुत धीमी हो रही है और जबकि नगरपालिकाओं तथा नगर कार्पोरेशनों की आय के मुख्य स्रोत सम्पत्ति कर, सीमा कर और चुंगी कर हैं, जिला बोर्डों की आय का मुख्य स्रोत भूमि उपकर (cess) है। इसी कारण स्थानीय संस्थाओं की आय अपर्याप्त और बेलोच है।

आर्थिक नियोजन के कारण अब भारत के राजकीय व्यय में उत्पादक व्यय का भाग अनुत्पादक व्यय की अपेक्षा अधिक हो गया है। सन् १९३८–३९ से सन् १९५३–५४ तक आयोग ने बताया कि केन्द्रीय व्यय में सुरक्षा व्यय ५४% से ४८% रह गया था और नागरिक प्रशासन सम्बन्धी व्यय १३% से ९% रह गया था। आज भी यही स्थिति है कि राजकीय व्यय में गैर विकास सम्बन्धी कार्यों पर व्यय का प्रमुख हाथ है और यदि हम केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के कुल व्यय को देखें तो आय सम्बन्धी व्यय (revenue expenditure) में प्रति रुपया गैर विकास कार्यों पर व्यय लगभग १३ आने, सामाजिक सेवाओं पर ३ आने २ पाई और आर्थिक विकास पर ३ आने ४ पाई है। किन्तु यदि हम पूंजीगत व्यय की ओर ध्यान दें तो स्थिति सतोषजनक है। राजकीय व्यय का राष्ट्रीय आय से अनुपात इतना कम है कि उससे यह आशा करना कि आय की असमानताएं तुरन्त ही कम हो जायेंगी बेकार होगी। भारत में सभी सरकारों का व्यय सन् १९५३–५४ में कुल ११७० करोड़ रुपया था जो कुल राष्ट्रीय आय का ११% था और इसमें सामाजिक कल्याण पर किए जाने वाले व्यय का महत्त्व तो बहुत ही कम था।

कर भार के सम्बन्ध में आयोग का विचार था कि यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरे महायुद्ध के आरम्भ से अब तक आय का कोई विशेष स्थानान्तरण शहरों से गाँवों को या गाँवों से शहरों को हुआ है। हाँ इतना अवश्य है कि अपने अपने क्षेत्रों में एक वर्ग से दूसरे वर्ग को यह स्थानान्तरण अवश्य हुआ है। इसके अतिरिक्त आयोग का यह भी विचार था कि (अ) यद्यपि शहरी क्षेत्रों में ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा लगभग सभी प्रकार की आयों पर कर भार अधिक है किन्तु मध्यम तथा निम्न वर्ग की आयों पर कर भार में इतना अधिक अन्तर नहीं है। (ब) शहरों में गाँवों की अपेक्षा अप्रत्यक्ष कर कुछ अधिक प्रगतिशील है। (स) गाँवों में शहरों की अपेक्षा ऊँची आयों पर कर लगाने की अभी काफी गुंजायश है। (द) मालगुजारी का भार अब कोई विशेष नहीं है। (ह) ग्रामीण क्षेत्र में एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है जहाँ मुद्रा का प्रयोग होता है जो करारोपण की सीमाओं का द्योतक है और इस बात का सूचक है कि इस क्षेत्र में करारोपण में वृद्धि करने का अभी काफी क्षेत्र बाकी है।

भावी करारोपण नीति के सम्बन्ध में आयोग ने अपने विचार प्रकट करते हुए बताया कि कर प्रणाली का उपयोग धन और आय की असमानताओं को दूर करने के लिये किया जाय। इसके लिये उन्होंने प्रत्यक्ष करों को अधिक प्रगतिशील

बनाने और कर लागू करने म अधिक कठोरता लाने की सिफारिश की है। उनका सुभाव है कि सम्पूर्ण कर प्रणाली को ही अधिक गहरा तथा विस्तृत बनाने की आवश्यकता है और इस उद्देश्य से उन्होने विकास युक्त वस्तुओं की एक बहुत बडी सख्या पर और अर्ध विकास युक्त वस्तुओं पर अतिरिक्त कर लगाने का प्रस्ताव दिया है और करारोपण के आधार को और अधिक बडा बनाने के लिये सामान्य उपभोग की वस्तुओ पर नीची दरों पर कर लागू करने का सुभाव दिया है। आयोग का विचार था कि विकास कार्यों के लिये आवश्यक धन प्राप्त करने के उद्देश्य से सभी प्रकार की आय वाले व्यक्तियों के उपभोग को कम करना आवश्यक है। किन्तु यह कमी ऊँची आय वाले वर्ग के उपभोग में अधिक हो और निम्न आय वाले वर्गो म कम।

आयोग ने अपने निष्कर्ष निकालते हुये बताया कि (अ) उपभोग की वर्तमान असमताओं से श्रमिकों पर बहुत अनैतिक प्रभाव उत्पन्न होता है और अतिरिक्त करारोपण से ऊँची आय वाले व्यक्तियों पर विनियोग निरोधक प्रभाव नही पडेगा। इसलिये आयोग का विचार था कि व्यक्तिगत आया की एक अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाये, जो करों का भुगतान करने के बाद वर्तमान प्रति परिवार आय की ३० गुनी से अधिक न हो। किन्तु इसको कार्यान्वित करने म धैर्य से काम लेना होगा। अतिरिक्त आय इन स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है —(१) आय कर मे वृद्धि करके तथा कार्पोरेशन कर म कुछ थोडी सी कमी करके और बचतो तथा विनियोगो को प्रोत्साहित करने के लिये कुछ अतिरिक्त रियायतें करके, (२) उत्पादन करों म वृद्धि करके, (३) गैर कर आय मे एक उचित मूल्य निर्धारण नीति द्वारा वृद्धि करके, (४) मालगुजारी पर एक मामूली सा उपकर लगा कर (५) कृषि आयकर की दरों तथा क्षेत्र म वृद्धि करके (६) सम्पत्ति करारोपण के उपयोग को अधिक विस्तृत करके (७) स्थानीय संस्थाओं द्वारा सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर लगा कर और (८) बिक्री कर की दरों तथा क्षेत्र म वृद्धि करके।

आय कर के क्षेत्र में आयोग का विचार था कि आय कर और अति कर दोनो ही के नीचे खडों मे करदाताओं की सख्या बहुत अधिक थी इसलिए कर भार म अधिक समानता उत्पन्न करने के लिए खन्डों की सख्या और बढा देना चाहिये और खण्डों की दरों तथा राशियों में उचित संशोधन करने चाहियें। आयोग का प्रस्ताव था कि न्यूनतम कर रहित सीमा को ३ हजार रुपयों पर निश्चित करने के अतिरिक्त निम्न आय वाले वर्गो पर प्रत्यक्ष करारोपण के भार में वृद्धि करने का प्रयास नही करना चाहिए। इसके अतिरिक्त आयोग ने आयकर की दरों के सम्बन्ध मे और भी बहुत से सुझाव दिय थे जिनका वर्णन हम विस्तार म बाद मे चल कर एक अलग अध्याय म करेंगे। आयोग ने कर चोरी की महत्त्वपूर्ण समस्या पर भी अपने विचार प्रगट किये थे और उनके प्रस्ताव थे कि :—(१) जनता को यह समझाया जाये कि कर चोरी से ईमानदार करदाता पर पडने वाले कर-भार मे

वृद्धि हो जाती है। इसलिये उनको कर की चोरी नहीं करना चाहिये (२) विशेष क्षेत्र (Special Circle) सम्बन्धी प्रणाली म इस प्रकार विस्तार किया जाये कि आय कर सम्बन्धी कठिन मुकदमों, जिनको आय कर कमिश्नरों को तै करना है, वे चुने हुए अफसरों द्वारा तै किये जायें (३) आयकर अफसरों को यह शक्ति होनी चाहिये कि वे कमिश्नरों से आज्ञा प्राप्त करके कर दाताओं के व्यापार सम्बन्धी स्थानों म घुस कर हिसाबों की जाच पड़ताल कर सकें (४) जुर्माने की अधिकतम सीमा चोरी की गई राशि की तिगुनी होनी चाहिए। (५) करदाताओं के लिये यह अनिवार्य कर दिया जाये कि वे तीन वर्षो बाद अपने आदेयों तथा दायित्वों का एक ब्यौरा आय कर विभाग को भेजते रहें। (६) कर चोरी सम्बन्धी मामलों को तै करने के लिये आय कर जाच आयोग नियुक्त कर दिया जाय जिसको कुछ विशेष शक्तियाँ दे दी जाये।

इसी प्रकार आयोग ने केन्द्रीय कर प्रणाली में कई प्रकार से उत्पादन करों मे वृद्धि करने की सिफारिशें की थीं तथा आयात करों म कमी करने के सुझाव दिये थे।[1]

राज्य करारोपण के क्षेत्र म आयोग ने बिक्री कर का विस्तृत अध्ययन किया था और अपनी सिफारिशें दी थीं। आयोग ने मोटरगाड़ियो तथा मोटर स्प्रिट सम्बन्धी करारोपण तथा स्टाम्प कर, मालगुजारी, कृषि आय कर, मनोरंजन कर तथा उपकर पर भी अपने विचार प्रकट किये थे।[2] इसके अतिरिक्त स्थानीय करारोपण तथा वित्त की समस्याओं का अध्ययन करने के पश्चात्, आयोग ने अपने सुझाव स्थानीय सरकारों की आय के स्रोतों मे वृद्धि करने के सम्बन्ध मे भी दिये हैं।[3]

आलोचना—आयोग ने आय को बढ़ाने के सम्बन्ध मे अपने जो सुझाव दिये थे, उन पर देश के आर्थिक विकास से उत्पन्न होने वाली विभिन्न आवश्यकताओं का बहुत प्रभाव पड़ा था। भारत एक पिछड़ा हुआ देश है और विनियोग म तथा पूंजी निर्माण में वृद्धि करने के लिये बजट के स्रोतों से अधिक आय प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। इसी उद्देश्य से आयोग ने अपने सुझाव दिये थे। इसमें कोई सन्देह भी नहीं कि जैसा अनुमान था यदि आयोग की सारी सिफारिशों को कार्यरोपित कर दिया जाता तो तुरन्त ही भारत म केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की आय में १०० से १५० करोड रुपयों की वृद्धि हो जाती और दीर्घकाल म यह वृद्धि और भी अधिक हो जाने की आशा थी। देश के आर्थिक साधनो का विकास करने के महत्व का कोई भी विरोध नहीं कर सकता। किन्तु भारत जैसे पिछड़े हुये देश मे करारोपण द्वारा विकास कार्यों के लिये आवश्यक धन प्राप्त करना सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोणों से अन्यायपूर्ण समझा जाता है। करारोपण की एक सीमा होती है, अर्थात् व्यक्तियों की करदान क्षमता, किन्तु करदान क्षमता की सही परिभाषा देते

1. See Chapters on *Central Finances*
2. See Chapters on *State Finances*
3. See Chapter on *Local Finance*

हुये और यह स्वीकार करते हुये भी कि करदान क्षमता वह सीमा है, "जिसके बाद करारोपण में वृद्धि करने से उत्पादक प्रयत्न और क्षमता दोनों ही गिरने लगते है।" उन्होंने भारतवासियों की करदान क्षमता की ओर कोई भी ध्यान नही दिया है, जो आयोग की सिफारिशो का सबसे बडा दोष है।[4] इसके अतिरिक्त आयोग का यह विचार कि उपभोग मे कमी होने से जो बचतें होगी उनसे विनियोगो मे वृद्धि होगी, भ्रमपूर्ण था। वास्तव मे यह पुराने लेखको के विचारो से तो उपयुक्त था किन्तु कीन्स आदि नये विचारको ने अब सिद्ध कर दिया है कि बिना उपभोग बढे विनियोगों मे वृद्धि हो ही नही सकती। इस दिशा मे भी आयोग ने बहुत बडी त्रुटि की थी। कुछ लोग यह पूछ सकते हैं कि फिर आर्थिक विकास के लिये सरकार को आवश्यक पूँजी कहाँ से प्राप्त होगी ? कीन्स ने यह सिद्ध कर दिया है कि सस्ती मुद्रा नीति स्वय अपने लिये आवश्यक बचतें प्राप्त कर लेती है (कीन्स का गुणक सिद्धान्त)।[5] इसके अतिरिक्त आयोग ने एक और बडी हास्यप्रद बात कही है। उन्होंने यह नही सोचा कि विनियोगों से जो वस्तुओं का उत्पादन बढेगा, यदि उपभोग कम कर दिया गया, तो उसकी खपत कैसे होगी ? यद्यपि आयोग ने चेतावनी दी है कि व्यक्तिगत की उपक्रम शक्ति तथा काम करने की इच्छा में किसी प्रकार भी कमी न आने पायें, किन्तु उन्होंने अपने ही करारोपण सम्बन्धी प्रस्तावो से अपने ही विचारो को काट दिया है। उनका यह सुझाव कि मालिक अपने नौकर को जो लाभ पहुँचाये, उस को भी आय कर क्षेत्र मे सम्मिलित कर लेना चाहिये, और अनिवार्य बचत योजना मे अतिकर लागू करना इत्यादि लोगो में काम करने की जिज्ञासा एव दिलचस्पी को समाप्त नही करेगा तो क्या उसको बढायेगा ?

इस प्रकार स्पष्ट है कि आयोग ने अपनी सिफारिशो द्वारा एक रूढिवादी तथा प्रतिगामी करारोपण प्रणाली पुन स्थापित करने की चेष्टा की है। आयोग ने जो विकास कटौती (Development Rebate) और 'कर छुट्टी' (tax holiday) की सिफारिशें दी है उनसे निजी उपक्रम को बहुत प्रोत्साहन मिलेगा। इसी प्रकार आय कर मे थोडी सी रियायतें देने से भी निजी उपक्रम प्रोत्साहित होगा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि विकास काल मे होने वाले हीनार्थ प्रबन्धन के आकार के सम्बन्ध में आयोग के विचार बहुत ही अनिश्चित एव अस्पष्ट थे। ऐसा होना सभव है क्योंकि आयोग दूसरी योजना की प्रकृति एव आकार से पूर्णतया अनभिज्ञ था। आयोग का यह कथन कि अल्प काल मे थोडा सा हीनार्थ प्रबन्धन का पक्ष लिया जा सकता है, दूसरी योजना में जो नीति निर्मित की गई है, उसके पूर्णतया विरुद्ध है, क्योंकि दूसरी योजना मे तो हीनार्थ प्रबन्धन को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। फिर भी आयोग की सिफारिशें विकास सम्बन्धी वित्त व्यवस्था के लिये बहुमूल्य रत्न है। "आयोग के प्रस्ताव समानता दृष्टिकोण (equality approach), प्रोत्साहन दृष्टिकोण (incentive approach) और विकास दृष्टिकोण (development

4. See Chapter on '*Taxable Capacity*'.

5. See Chapter on '*Fiscal Policy and Full Eomployment*'.

approach) पर आधारित है, जो उचित दिशा में है, यद्यपि इनसे उत्पन्न होने वाली नीति में आवश्यकता अनुसार समय पर परिवर्तन किए जा सकते हैं।"[6] यदि इन सिफारिशों को थोड़े से संशोधनों के साथ कार्यान्वित किया जाये तो हमारी विकास सम्बन्धी वित्तीय कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर हो जायेंगी।

प्रो० कलडौर के कर सुधार सम्बन्धी प्रस्ताव—जनवरी सन् १९५६ में भारत के वित्त मन्त्रालय ने कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के प्रो० निकोलस कलडौर को भारतीय कर प्रणाली में दूसरी पंचवर्षीय योजना की वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार आवश्यक सुधार सम्बन्धी प्रस्ताव देने के लिए निमन्त्रित किया था। कर जाँच आयोग ने विकास सम्बन्धी नियोजन की सामान्य आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर अपने प्रस्ताव रक्खे थे, किन्तु क्योंकि दूसरी योजना विशालकाय थी और उसके लिए एक बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी चाहिये थी इसलिये यह आवश्यक था कि करारोपण सम्बन्धी नये स्रोत पता किये जायें और पुराने स्रोतों में इस प्रकार सुधार किये जायें कि दूसरी योजना की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। कलडौर ने करारोपण के हर क्षेत्र में अपने प्रस्ताव नहीं दिये हैं केवल प्रत्यक्ष करारोपण पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित की थी और अनेकों आवश्यक परिवर्तनों की सिफारिश की थी। कलडौर रिपोर्ट के अनुसार, भारत में प्रत्यक्ष करारोपण की वर्तमान प्रणाली अकुशल और अन्यायपूर्ण, दोनों ही है। यह अन्यायपूर्ण इसलिए है कि करारोपण आय का आधार, जैसा वैधानिक दृष्टि से परिभाषित किया जाता है, कर दान क्षमता के एक माप के रूप में दोषपूर्ण और पक्षपाती है और करदाताओं के कुछ विशेष वर्गों द्वारा उसमें अपने हित के लिये फेर बदल हो सकती है। क्योंकि करदाताओं द्वारा दी गई सूचना बहुत सीमित होती है, इसलिए यह अकुशल है, और सम्पत्ति सम्बन्धी सौदा तथा आय के सम्बन्ध में एक विस्तृत सूचना प्रणाली के अभाव के कारण, या तो छुपाकर या लाभों और सम्पत्ति आय को कम बताकर एक बड़ी मात्रा में कर की चोरी करना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।' इस निष्कर्ष के आधार पर और हमारी कर प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए कलडौर ने निम्न सुझाव दिये थे —

(१) कलडौर का मुख्य उद्देश्य भारत में प्रत्यक्ष करारोपण के आधार को चौड़ा करना था, जिसकी पूर्ति के लिए उसने सम्पत्ति पर एक वार्षिक कर, पूँजी लाभ कर, सामान्य उपहार कर और एक व्यक्तिगत व्यय कर (जो अंशतया उस क्षति की पूर्ति करेगा जो आय कर पर लगा हुआ अति कर हटा देने के कारण होगी) लागू करने के प्रस्ताव दिए थे। पाँच करों—आय कर और ऊपर बताये गये चार करों का निर्धारण, एक विस्तृत हिसाब किताब लेखे के आधार पर, एक साथ किया जाना चाहिए किन्तु आयकर की अधिकतम दर ४५% से अधिक नहीं होनी चाहिए।

(२) कलडौर ने व्यक्तिगत आय पर करारोपण के क्षेत्र में काफी विस्तृत सुधार करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने व्यक्तिगत व्यय पर प्रगतिशील कर लागू

6 *Cf* A Ghosh *Indian Economy Its Nature and Problems*, Page 333

करने का प्रस्ताव दिया है। यह कर २५% से आरम्भ होकर धीरे-धीरे ३००% तक बढ़ता जायेगा। इसके अतिरिक्त पूंजी लाभों को उन्होंने करारोपित आय में सम्मिलित कर लिया है। शुद्ध सम्पत्ति या धन पर एक वार्षिक कर, जिसकी दर $\frac{1}{3}$% से १$\frac{1}{2}$% तक होगी और उपहारों तथा उत्तराधिकार पर कर लगाने के प्रस्ताव दिये हैं। साथ-साथ उन्होंने आय कर की अधिकतम दरों को केवल ७ आने प्रति रुपया पर निर्धारित करने की सिफारिश की है ताकि उपर्युक्त करों में होने वाली क्षति दूर हो जाये। व्यापार करारोपण के क्षेत्र में भी उन्होंने काफी परिवर्तनों के लिये सुझाव दिये हैं। उनका प्रस्ताव था कि कम्पनियों के वितरित एवं अवितरित, सभी प्रकार के लाभों पर, बिना लौटाये जाने वाले, ७ आने प्रति रुपया की समान दर से कर लागू होने चाहियें और व्यापार पर लगे हुये अन्य प्रत्यक्ष करों को हटा दिया जाये। यदि यह परिवर्तन कार्यान्वित कर दिये गये तो सन् १९५४-५५ के आधार पर कर आय में ६० से १०० करोड़ रुपये तक वार्षिक वृद्धि हो जायेगी।

(३) अति प्रतिगामी आयकर से काम करने, बचत तथा विनियोग करने की इच्छा एवं शक्ति पर जो बुरा प्रभाव पड़ेगा उसको एक व्यक्तिगत व्यय कर और धन पर वार्षिक कर दूर करेंगे। इस प्रकार व्यय तथा धन पर केवल अधिक आय प्रदान करने में ही सफल नहीं होंगे, वरन् अति प्रतिगामी आयकर से बचतों, विनियोगों तथा काम करने की इच्छा एवं शक्ति को हतोत्साहित करने वाले प्रभावों को भी दूर करेंगे।

(४) कर की चोरी को रोकने के लिये प्रो० कलडौर का प्रस्ताव है कि ५०,००० रुपयों से अधिक व्यापारिक आयों की, और १ लाख रुपयों से अधिक की व्यक्तिगत आयों की अनिवार्य जाच पड़ताल होनी चाहिये। इस प्रकार कर चोरी को रोकने से दूसरी योजना के लिये अधिक धन प्राप्त हो सकेगा।

प्रो० कलडौर के कर सुधार सम्बन्धी प्रस्तावों का सावधानी से अध्ययन करने से यह ज्ञात हो जाता है कि उनका उद्देश्य एक ऐसी कर प्रणाली का निर्माण करना था जिससे बचतों को प्रोत्साहन मिले और साथ ही कर सम्बन्धी असमानताओं को बढ़ावा न मिले तथा उन व्यक्तियों पर कर का भार अधिक पड़े जो बड़ी बड़ी सम्पत्तियों के मालिक हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि १$\frac{1}{2}$% की दर से वार्षिक धन कर ८०% की अधिकतम दर का उपहार कर तथा मृत्यु कर सब मिलकर सम्पत्ति वाले व्यक्तियों की गर्दन ही तोड़ देंगे और उनकी विनियोग करने की इच्छा को पूर्णतया नष्ट कर देंगे। यह भी क्या ठीक है कि आयकर की अधिकतम दरों को ७ आने प्रति रुपया पर गिराने से उस क्षति की पूर्ति हो जायेगी। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारी कर प्रणाली में पूंजी लाभ कर और उपहार कर के लिये कोई स्थान नहीं है। एक बढ़ती हुई अर्थ-व्यवस्था में दिन प्रतिदिन पूंजीगत वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि होगी, इसलिये पूंजी लाभ कर के अभाव में हमारा प्रत्यक्ष करारोपण का ढांचा पूर्णरूप से प्रतिगामी हो जायेगा। भारत में मुद्रा स्फीतिक प्रवृत्तियों के कारण अधिकतर पूंजीपति पूंजीगत वस्तुओं में ही विनियोग करेंगे और उनका क्रय विक्रय करके लाभ

कमायेंगे। यदि इन लाभो को कर द्वारा उनकी जेबा से निकाल नही लिया जायेगा तो उनके पास अतिरिक्त क्रय शक्ति रहने से मुद्रा स्फीति को और भी प्रोत्साहन मिलेगा। इसके अतिरिक्त आय की असमानताये भी और अधिक हो जायेगी। इस प्रकार पूजी लाभ कर से हमको वास्तविक लाभ होने की आशा है, विशेष कर वर्तमान मुद्रा स्फीतिक परिस्थितियों मे तो यह अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगा। इसी प्रकार मृत्यु कर से सम्बन्धित कर चोरी को रोकने के लिये उपहार कर भी नितान्त आवश्यक है। जहाँ तक व्यापारिक करारोपण का सम्बन्ध है, कलडौर के प्रस्तावों को कार्यरोपित करने से निजी विनियोगो को प्रोत्साहन नही मिलेगा, इसके साथ-साथ कुछ कर सम्बन्धी कटौतियाँ भी करनी होगी, कर छूटें तथा कर सम्बन्धी छुट्टियाँ भी देनी होगी, कुछ घिसाई सम्बन्धी छूटे देनी होगी तथा इसी प्रकार के अन्य उपाय करने आवश्यक होंगे।

प्रथम योजना काल में बजटो की मुख्य प्रवृत्तियाँ— प्रथम योजना बहुत सीधी साधी और कम जटिल थी तथा उसका प्राथमिक उद्देश्य वित्तीय स्थायित्व बनाये रखना था। इस कारण उसको कार्यारोपित करने म कोई विशेष कठिनाई नही हुई। पहली योजना काल मे जो बजट प्रस्तुत किये गये थे वे बहुत ही सीधे साधे थे और इसलिये राजकीय विनियोग सम्बन्धी नीति म करारोपण को उचित महत्त्व प्रदान नही किया गया था। इन बजटो म केन्द्रीय उत्पादन करो और निर्यात करो मे कुछ मामूली उलट फेर होती रही थी तथा कुछ प्रति करो को लागू किया गया था और इधर उधर कुछ कर सम्बन्धी रियायते की गई थी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि योजना के अन्तिम वर्ष म सरकार राष्ट्रीय आय के ८% भाग को करो के रूप मे एकत्रित कर लेने से ही सन्तुष्ट थी। योजना काल म भारतीय कर प्रणाली के सयुक्तिकरण की ओर कोई गम्भीर प्रयत्न नही किये गये और परिणामस्वरूप करारोपण और आर्थिक नियोजन म सामजस्य स्थापित करना कठिन हो गया। इन बजटो का निर्माण अधिकतर परम्परावादी विचारो के आधार पर हुआ था और इसलिये इनमे उस निश्चितता तथा उस विचारशीलता का अभाव था जो विकास सम्बन्धी नियोजन काल म बजट बनाने के लिय आवश्यक है। अतिरिक्त करारोपण से जो आय प्राप्त हुई थी उससे केवल गैर विनियोग सम्बन्धी कार्यक्रमो को ही पूरा किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि सरकारी क्षेत्र मे जितने भी विनियोग किये गय उन सबकी व्यवस्था बजट के घाटो द्वारा की गई और इन घाटो का स्तर इतना ऊँचा था कि योजना बनाते समय इसका विचार करना भी असम्भव था। परन्तु बजट के घाटा तथा मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने से जो मुद्रा स्फीति उत्पन्न हुई थी उसको अच्छी फसलो के हो जाने से आसानी से टाला जा सका था। इसीलिये चालू उपभोग को कम करने के लिये नये प्रकार के करो को लागू करने की आवश्यकता अनुभव नही हुई। अत प्रथम योजना काल म जो बजट प्रस्तुत किय गये उनमे निश्चितता तथा साहस का अभाव था और उनकी बनावट समचित भी न थी, जो केन्द्रीय नियोजन की अवधि म तीव्र प्रगति के लिये

आवश्यक है तथा विकास सम्बन्धी वित्तीय व्यवस्था के आधार स्तम्भ माने जाते हैं।

दूसरी योजनाकाल म बजट— योजना के प्रथम वर्ष मे आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में अधिक निश्चित तथा सतुष्ट होने के कारण सरकार ने सीधा साधा परम्परागत बजट प्रस्तुत किया। आय मे वृद्धि करने के लिय मील के बने हुए कपडे पर उत्पादन कर में वृद्धि कर दी गई, पूजी लाभ कर लागू किया गया। फिर भी २४० करोड रुपयो का घाटा बजट मे था। योजना का दूसरा वर्ष आरम्भ होते ही कठिनाइयाँ आरम्भ होने लगी और अर्थ व्यवस्था पर भिन्न भिन्न प्रकार के दबाव भिन्न भिन्न दिशाओं म पडने लगे जिनका मुख्य कारण विभिन्न प्रकार की वस्तुओ की कमी थी। विकास कार्यक्रम की तीव्र गति से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों के बीच श्री कृष्णामाचारी ने बजट प्रस्तुत किया। वित्त मत्री के सामने दूसरी योजना के वित्तीय साधन की कमी को पूरा करने की विषम समस्या थी। इसीलिये उन्होंने पुराने सिद्धान्तो को त्याग कर करारोपण के क्षेत्र में उपभोग को कम करने तथा व्यक्तियों की जेबों से क्रय शक्ति को निकालने के लिय अत्यधिक कडे उपाय अपनाय। थोक मूल्यों का सूनक अक जो सन् १९५५ म ३४१ था वह मार्च सन् १९५७ मे ४२० के लगभग हो गया था। इससे स्पष्ट होता है कि देश मे मुद्रा स्फीतिक प्रवृत्तियाँ काफी प्रबल थीं। सन् १९५७ मे जो अन्तरिम (Interim) बजट प्रस्तुत किया गया था उसमे ३६५ करोड रुपयो का घाटा था और मई सन् १९५७ मे जो नई निर्वाचित ससद के सम्मुख दूसरा बजट प्रस्तुत किया गया उसमें नये कर प्रस्तावो से घाटे को ९० करोड रुपयो से कम करके केवल २७५ करोड रुपये कर दिया था। बजट म सामान्य रूप से सभी वर्गो पर काफी कर दबाव डाला गया था और कर प्रस्ताव बहुत कडे थे। किन्तु इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता था ही नही। इस बजट म शक्कर, वनस्पति तेल, मोटर स्प्रिट, सीमेंट, तम्बाकू, दियासलाई, कागज और डिजिल तेल पर उत्पादन कर बढा दिये गये थे। इसके अतिरिक्त धन तथा व्यय करो को भी लागू किया गया था जो भारत के लिये बिलकुल नये थे। यद्यपि नये करो को लागू करके श्री कृष्णामाचारी ने विकास सम्बन्धी कार्यों के लिये आवश्यक धन एकत्रित करने के लिये उपाय निकाल लिये थे, किन्तु इन्होंने धन तथा व्यय कर लागू करते समय कलडौर के प्रस्तावों की ओर पूरा ध्यान नही दिया था। कलडौर का प्रस्ताव था कि आय कर की अधिकतम सीमा ४५% कर दी जाये। श्री कृष्णामाचारी ने कलडौर के प्रस्तावो में से धन तथा व्यय करो को लागू करने का प्रस्ताव तो अपना लिया किन्तु आय कर को केवल ९२% से घटा कर, बिना कमाई हुई आय पर ८४% और कमाई हुई आय पर ७७% ही किया, जबकि कलडौर का प्रस्ताव दोनो प्रकार के करो की दर अधिक से अधिक ४५% निश्चित करने का था।

कलडौर के प्रस्तावों के विपरीत अतिरिक्त करारोपण म अप्रत्यक्ष करारोपण को अधिक महत्त्व दिया गया था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कलडौर योजना के अनुसार अप्रत्यक्ष करारोपण मे दूसरी योजना में अतिरिक्त कर आय

का केवल २०% भाग ही एकत्रित होना था किन्तु बजट में अतिरिक्त कर आय का ७० से भी अधिक प्रतिशत भाग अप्रत्यक्ष करारोपण से एकत्रित करने का प्रस्ताव रखा गया था। सन् १९५७–५८ के बजट में भी उत्पादन करों को उतना ही महत्व प्रदान किया गया था जितना पिछले वर्षों में किया जा रहा था। कदाचित इसलिए कि ऐसे करों से अल्प काल में अच्छी आय प्राप्त होती है और उपभोग में भी कमी हो जाती है। यद्यपि इस वर्ष से पहले रेलों का बजट अलग हुआ करता था किन्तु इस वर्ष वित्त मन्त्री ने परम्परा को तोडकर रेल के किराया में स्वयं वृद्धि की। यह वृद्धि १५ मील से ३० मील तक के फासलों के किरायों पर ५% थी। ३१ मील से ५०० मील तक के फासलों पर १५% थी और इससे अधिक लम्बे फासलों पर १०% थी। वित्त मन्त्री की यह क्रिया बडी ही अजीब थी और सबसे अजीब तो यह बात थी कि उन्होंने रेल के किराया में वृद्धि द्वारा प्राप्त होने वाली अतिरिक्त आय में से ८ करोड रुपए राज्यों में विभाजित कर दिए थे। इसके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण पहलू उनके इस कार्य से उत्पन्न होता है कि भविष्य में वाणिज्यिक सेवाओं का संचालन एवं व्यवस्था उनके असली रूप में ही की जायेगी या उनका उपयोग करारोपण के एक अस्त्र के रूप में किया जायगा।

श्री कृष्णामाचारी ने अपने बजट में करारोपण तथा आय वृद्धि के सम्बन्ध में जो अन्य प्रस्ताव रखे थे उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं —

(अ) आय कर के आधार को अधिक विस्तृत बनाने के लिए न्यूनतम कर रहित सीमा को ४२४० रुपयों से घटा कर ३००० रुपए कर दिया। (ब) कम्पनियों की आय पर कर की दर को ४ आने प्रति रुपया से बढा कर ३०% कर दिया गया और कार्पोरेशन कर को २¾ आने प्रति रुपया से बढा कर २०% कर दिया। (स) अन्तर्देशीय पत्रों तथा तारों के मूल्यों में वृद्धि कर दी। (द) बोनस निर्गमियों पर कर की दर को १२½% से बढा कर ३०½% कर दिया। यद्यपि बजट प्रस्ताव अत्यन्त कठोर थे किन्तु योजना को बचाने के लिए इस प्रकार के उपाय अनिवार्य थे।

सन् १९५८-५९ में प० नेहरू ने अपना बजट प्रस्तुत किया जिनका विचार था कि नए करारोपण के लिए नए प्रस्तावों की कोई अधिक गुंजायश नहीं थी और यह कुछ अंश तक ठीक भी था क्योंकि मुख्य काम तो पिछले वर्ष श्री कृष्णामाचारी ने कर ही दिया था। नेहरू जी ने उपहार कर एक नया कर लागू किया। यद्यपि क्लडौर का प्रस्ताव उपहार कर को मृत्यु कर के स्थान पर लगाने का था किन्तु नए उपहार कर का उद्देश्य इस समय केवल मृत्यु कर की चोरी को रोकना था। यह बात इसमें भी स्पष्ट हो जाती है कि नए उपहार कर की दरें भी मृत्यु कर की दरों के समान हैं और केवल सरकारी कम्पनियों को कर मुक्त रखा गया है। साथ ही साथ मृत्यु कर की न्यूनतम कर रहित सीमा को एक लाख रुपया से घटा कर ५०००० रुपए कर दिया गया है और मृत्यु कर की दरों में उचित संशोधन भी कर दिये गये। ऐसा करने से अब मृत्यु कर का क्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया था। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष करारोपण के क्षेत्र में दो और दिलचस्प प्रस्ताव रखे गये

थे। प्रथम, कम्पनियों के अत्यधिक लाभ कर में कुछ रियायतें प्रदान करी गई थी तथा जहाजी कम्पनियों की विकास छूट की दर २५ प्रतिशत से बढ़ा कर ४० प्रतिशत कर दी गई थी। अप्रत्यक्ष करारोपण के क्षेत्र में सीमेंट पर उत्पादन कर की दर को २० रुपये प्रति टन से बढ़ा कर २४ रुपए प्रति टन कर दिया गया था। साथ ही साथ राजकीय व्यापार प्रमण्डल द्वारा लगाये जाने वाले अति कर को हटा दिया गया था और इस प्रकार सीमेंट के मूल्यों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए थे। सीमेंट पर उत्पादन कर की वृद्धि से जो अतिरिक्त आय प्राप्त होगी उसको एक विशेष कोष में जमा कर दिया जायगा जिसका उपयोग सड़कों के विकास के लिए किया जायगा। इसके अतिरिक्त शक्ति से सचालित करघों के लिए कुछ रियायतें कर दी गई थी, वनस्पति वस्तुओं के उत्पादन कर में कुछ कमी कर दी गई थी तथा सीमा करों में कुछ मामूली से परिवर्तन किये गये थे। किन्तु करारोपण सम्बन्धी इन नए प्रस्तावों का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। यह इससे स्पष्ट होता है कि नए प्रस्तावों से कुल ६ करोड़ रुपयों की अतिरिक्त आय प्राप्त होने की आशा थी जब कि उपहार कर से इस अतिरिक्त आय की आधी से भी अधिक राशि प्राप्त होने की आशा थी। बजट की मुख्य विशेषता यह थी कि एक तो विकास सम्बन्धी व्यय में वृद्धि कर दी गई थी किन्तु साथ ही साथ सुरक्षा व्यय में भी वृद्धि की गई थी। इसके अतिरिक्त एक और विशेषता यह थी कि बजट के नये प्रस्तावों से औसत व्यक्ति की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था।

सन् १९५९-६० का बजट—इस वर्ष का बजट श्री देसाई ने संसद में प्रस्तुत किया था और इसका मुख्य उद्देश्य देश के आर्थिक विकास के लिये आय के नये साधनों को निर्मित करने तथा जुटाने का था। किन्तु इस दृष्टिकोण से भी बजट में कोई खास बात नहीं थी और ऐसा प्रतीत होता है कि केवल पिछले वर्षों में किए गए प्रयत्नों में समन्वय स्थापित करने का ही प्रयास किया गया है। इस बजट में भारतीय करारोपण के ढांचे को सरल बनाने का प्रयत्न किया गया है किन्तु खेद यह है कि दूसरी योजना के लिए यह बजट नए साधन जुटाने में अधिक सफल नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त पिछले वर्ष की तुलना में आय सम्बन्धी खाते में केवल ८१·६७ करोड़ रुपयों का ही घाटा रखा गया है। करारोपण सम्बन्धी नए प्रस्तावों से केवल २६ करोड़ रुपयों की ही अतिरिक्त आय प्राप्त होगी जिससे घाटे की राशि का केवल २५% भाग ही पूरा हो पायेगा। पिछले वर्षों में जो निम्न तथा मध्यम आय वाले वर्गों पर कर का दबाव बढ़ता जा रहा था नए बजट में उसको कम करने के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया। यह ही नहीं देश के करारोपण ढांचे के आधार को भी अधिक चौड़ा करने की ओर कोई प्रयास नहीं किया गया है। भारत में कृषि आय कुल आय की लगभग ५०% है किन्तु इस क्षेत्र में कोई भी प्रत्यक्ष कर लागू नहीं किया गया। कम्पनियों पर धन कर को समाप्त कर दिया गया है तथा बोनस निकासियों पर जो कर लगा हुआ था उसमें भी संशोधन कर दिये गये हैं। हिन्दू संयुक्त परिवारों पर लगे हुए धन कर के प्रत्येक खण्ड में ३% की वृद्धि कर दी गई

है और व्यक्ति पर धन कर की दरें इस प्रकार होगी २ लाख से अधिक और १२ लाख से कम के धन पर १% १२ लाख से अधिक और २२ लाख से कम वाले धन पर १½% और इससे अधिक धन पर २%। व्यय कर से जो आय प्राप्त हुई थी वह सन्तोषजनक नहीं थी इसलिए नए बजट में कुछ छूटो को समाप्त कर दिया गया है और अब पति-पत्नि तथा नाबालिग बच्चे ३० हजार रुपया की कर रहित सीमा के लिए केवल १ ही इकाई माने जायेंगे। अप्रत्यक्ष करारोपण के क्षेत्र में जो नए प्रस्ताव रखे गये हैं उनका मुख्य कार्य पुराने उत्पादन करों की दर में केवल उलट फेर ही करना है। वनस्पति वस्तुओं पर उत्पादन कर ७ रुपये प्रति हन्ड्रेडवेट से बढ़ा कर ८.७५ रुपये कर दिया गया है। इससे ९८ लाख रुपया की अतिरिक्त आय प्राप्त होगी। खंडसारी शक्कर पर ५.६० रुपए प्रति हन्डरवेट की दर से उत्पादन कर लागू किया गया है तथा बिक्री कर के स्थान पर ७० नए पैसे की दर से अतिरिक्त कर लागू कर दिया गया है। इन प्रस्तावों से क्रमशः १.८२ करोड़ तथा २९ लाख रुपये प्राप्त होंगे। चाय उद्योग को कुछ अधिक सुविधाएं दी गई हैं तथा कुछ क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाली चाय के उत्पादन करों को कम कर दिया गया है और निर्यात कर को २६ नये पैसे प्रति पौंड से घटा कर २४ नये पैसे कर दिया गया है।

अध्याय १५

भारत में संघ सरकार की आय के स्रोत—आय कर
(Sources of Revenue of the Union Government in India—Income Tax)

भारत में राजकीय आय की मुख्य प्रवृत्तियाँ—राजकीय व्यय की भाँति राजकीय आय भी किसी देश में आर्थिक दशा तथा सरकार की आर्थिक नीति के उद्देश्यों पर निर्भर करती है। राजकीय आय का आकार एवं प्रकृति देश की आर्थिक दशा पर निर्भर करते है। एक पिछड़े हुए देश में अपेक्षाकृत विकसित देशो के, राजकीय आय का आकार बहुत ही कम होता है। इसी प्रकार युद्ध काल में राजकीय आय के आकार को बहुत विस्तृत करना पड़ता है। राजकीय आय पर सबसे अधिक प्रभाव राजकीय नीति तथा उनके उद्देश्यों का पड़ता है। भारत म भी राजकीय आय पर इन सभी बातो का प्रभाव पड़ा है। भारत एक पिछड़ा हुआ देश है। कृषि यहाँ का मुख्य व्यवसाय है। बहुत थोड़ी सी जनता उद्योगो से सम्बन्धित है और इसमें से भी अधिकाश छोटे पैमाने के उद्योगों म व्यस्त हैं। यहाँ की बैंकिग प्रणाली पिछड़ी हुई अवस्था म है और मुद्रा बाजार अभी तक पूर्ण विकसित नही है। व्यक्तियों की आय तथा जीवन स्तर न्यून है। बेरोज़गारी अपनी चरम सीमा पर है। भारत के स्वतन्त्र होने से पहले सरकार निर्बाधावादी नीति की पक्षपाती थी, इसीलिए वह जनता के कल्याण के लिए कोई कार्य करना पसन्द नही करती थी और आय भी इसी दृष्टि से एकत्रित की जाती थी। करारोपण का रूप तथा ढांचा भी इसी उद्देश्य से निर्मित किया गया था। आर्थिक समानता स्थापित करना सरकार की करारोपण नीति का उद्देश्य नही था। देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होते ही सरकार की आर्थिक नीति के उद्देश्य पूर्णतया बदल गये और अब राज्य का मुख्य उद्देश्य एक कल्याणकारी समाज स्थापित करना हो गया। स्वतन्त्रता से पहले हमारी आर्थिक नीति की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार थी—बजटों को सतुलित करना, सामाजिक सेवाओं तथा विकास कार्यों पर सीमित व्यय और आवश्यक सेवाओं के लिए आवश्यक धन प्राप्त करना, तथा धन की असमानताओं को दूर करने की ओर कोई ध्यान न देना। आय सम्बन्धी मुख्य प्रवृत्तियाँ दूसरी लड़ाई तक निम्न प्रकार थीं[1]—निम्न तालिका में

1 M H Gopal, *Indian Public Finances*, in Commerce Annual Number 1950

आय की केवल मुख्य मुख्य मदों को ही लिया गया है। (प्रतिशत)

	१९००–०१	१९१३–१४	१९२०–२१	१९२९–३०	१९३९–४०
प्रत्यक्ष कर					
आय कर	१६	२८	२०७	१६०	१६३
भूमि कर	२२०	२०३	२२९	२९४	२६६
अप्रत्यक्ष कर					
सीमा कर	४७	१०८	३१८	५०३	४८४
उत्पादन कर	५६	१२७	१९२	१८२	१८८
बिक्री कर	—	—	—	—	०६
नमक कर	८४	४७	५८	६५	१०८
गैर कर सम्बन्धी आय					
स्टाम्प	—	७७	१०२	१११	६९
जंगल	०८	१६	१८	७३	४०
रेलें	०६	३२	५६	६१	३१०
डाक एवं तार	०३	—	०२	०१	१६
सिंचाई	२७	५०	९७	६९	६१
अफीम	५४	०६	२३	२६	०४

राजकीय व्यय की भाँति, जैसा कि उपर्युक्त तालिका में स्पष्ट है राजकीय आय भी बहुत कम थी। आय कर से प्राप्त आय अपेक्षाकृत कम थी। इसके अतिरिक्त आय कर प्रगतिशील भी नहीं था। भूमि कर बेलोच तथा प्रतिगामी था। करारोपण के क्षेत्र में आय की दृष्टि से उत्पादन तथा सीमा कर सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे। किन्तु समय समय पर परिस्थितियों के प्रभाव में राजकीय आय के आकार व स्रोतों में भी परिवर्तन होते ही रहे। दूसरे महायुद्ध काल में राजकीय व्यय प्रतिवर्ष बढ़ता ही गया और इसीलिये राजकीय आय में वृद्धि होना स्वाभाविक ही थी। जहाँ तक करारोपण से प्राप्त होने वाली आय का सम्बन्ध था आय कर को अधिक प्रधानता दी गई। आय कर, अतिकर तथा कारपोरेशन कर की दरों को बढ़ा दिया गया। अधिक लाभ कर लागू कर दिया गया और सीमा करों तथा उत्पादन करों में वृद्धि कर दी गई। परिणामस्वरूप आय करों तथा उत्पादन करों से होने वाली आय बढ़ती गई। विदेशी व्यापार के कम हो जाने से सीमा करों का महत्व कुछ कम हो गया। यद्यपि करारोपण से प्राप्त होने वाली आय में काफी वृद्धि हो गई थी किन्तु यह बढ़ते हुए व्यय के अनुपात में बहुत कम थी और युद्ध सम्बन्धी वित्तीय व्यवस्था में करारोपण से प्राप्त आय का महत्व बहुत ही

कम था। कृषि आय कर तथा मृत्यु कर के लागू होने के लिये कर प्रणाली में अभी काफी क्षेत्र था। युद्ध काल में जो विभिन्न करारोपण सम्बन्धी उपाय किय गय उनस भारतीय कर प्रणाली पहले की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील हो गई। गैर कर सम्बन्धी आय के स्रोतो में रेलो का भाग सराहनीय था। इसके अतिरिक्त युद्ध काल की प्रमुख विशेषता हीनार्थ प्रबन्धन थी और युद्ध के छ वर्षो में नोटों की मात्रा में ६६४ ५१ करोड रुपयो की वृद्धि हो गई थी। इसका परिणाम भीषण मुद्रा स्फीति थी।

युद्ध समाप्त होने से पहले सरकार को अपना दृष्टिकोण बदलना पडा। सरकार ने निर्बाधावादी नीति को त्यागकर अब व्यक्तियो के आर्थिक जीवन म हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। देश म अर्थ-व्यवस्था के नियोजित विकास तथा पुनर्निर्माण के हेतु योजनायें बनाई। देश में राष्ट्रीय सरकार के स्थापित होते ही राजकीय व्यय तथा आय का वास्तविक रूप ही बदल गया। नये सविधान मे आर्थिक नीति के लक्षणो को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया। आर्थिक नियोजन की ओर एक सुदृढ पग उठाने के लिय, सरकार न एक नियोजन आयोग नियुक्त किया और देश म कल्याणकारी राज्य स्थापित करने का निश्चय किया और औद्योगिक क्षेत्र म अधिकाधिक भाग लेना आरम्भ किया। युद्धोत्तर काल म केन्द्रीय सरकार की आय का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है।[2]

मद्दें	१९३८–३९		१९४४–४५		१९५३–५४		१९५७–५८	
	करोड रु० में	प्रतिशत	करोड रु० म	प्रति-शत	करोड रु० म	प्रतिशत	करोड रु० में	प्रति-शत
आय सम्बन्धी कर								
आय कर (शुद्ध)	१३ ७४	१९ ६	८० ५२	२४ १	६५ ५५	१९ ४	८२ ९७	१२ २
कार्पोरेशन कर	२ ०४	२ ५	८४ ७२	२५ २	४१ ५४	१० ४	५० ५०	७ ८
वस्तुओ तथा सेवाओ पर कर								
सीमा कर	४० ५१	४८ ९	३९ ७७	११ ९	१५८ ७१	३९ २	१८३ ००	२७ २
उत्पादन कर	८ ६६	१० ५	३८ १४	११ ४	७९ ४३	१९ ८	२२४ ३३	३३ ०
रेल किरायों पर कर	—	—	—	—	—	—	० ०३	० ०४
नमक कर	८ १७	९ २	९ २९	२ ८	—	—	—	—
विविध	—	—	—	—	० २४	० ०६	४ ७३	० ७
सम्पत्ति तथा पूंजीगत कर								
मृत्यु कर (शुद्ध)	—	—	—	—	—	—	० १२	० ०२
धन कर	—	—	—	—	—	—	९ ००	१ ३
स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन	—	—	—	—	१ ५०	० ४	२ ९०	० ४
मालगुजारी	—	—	—	—	० ७६	० २	० ५२	० ०८
कुल कर आय	—	—	—	—	२४७ ७३	८६ ९	५५७ ६०	८३ ०
प्रबन्ध सम्बन्धीआय	—	—	—	—	१२ ०९	३ २	५९ ५६	८ ९

2 Based on the *Reports of the Reserve Bank of India on Currency and Finance*

मद	१९३८–३९		१९४४–४५		१९५३–५४		१९५७–५८	
	करोड रु० में	प्रति शत	करोड रु० में	प्रति शत	करोड रु० में	प्रति शत	करोड रु० में	प्रति शत
राजकीय सेवाओं से प्राप्त आय								
रेल	१ ३०	१ ७	३२ ००	३९	६ ६६	१ ७४	६ ७३	० ९
डाक एवं तार	० ११	० २	१० २५	३१	२ ४०	० ६	१ २४	१ ८
मुद्रा एवं टकसाल	० ५८	—	—	—	१३ १४	३ ३	२९ ४९	४ ४
विविध	—	—	—	—	० ८६	—	० ३५	० ०६
आय के अन्य साधन	—		—	—	१२ ८०	३ २	१७ ०९	२ ५
कुल आय	८० ००	१००	८२ ९०	१००	३९६ २५	१००	६७१ ६६	१००

इस तालिका से स्पष्ट है कि पिछले बीस वर्षों में केन्द्रीय सरकार की आय में अत्यधिक वृद्धि हुई है। सन् १९३८–३९ में ८० करोड़ रुपयों से बढ़कर कुल आय १९५७–५८ में ६९१ ३४ करोड़ हो रुपए गई। यह वृद्धि कुछ तो मूल्यों के बढ़ने से उत्पन्न होने वाले लाभों के कारण और कुछ सरकार की आवश्यकताओं के कारण हुई थी। किन्तु इस वृद्धि का मुख्य कारण देश में विकास योजनाओं का आरम्भ होना था। आज भी सरकार को अपनी आय का अधिकांश भाग करारोपण से ही प्राप्त होता है। पिछले वर्षों में व्यक्तिगत करों के सापेक्षिक महत्व में कुछ कमी अवश्य हो गई है। जबकि आय कर से प्राप्त आय का कुल कर आय में प्रतिशत सन् १९३८ ३९ में ११ १ था सन् १९४४ ४५ में ४६ ३ सन् १९५३–५४ में २७ ३ और सन् १९५७–५८ में २० के लगभग था। यद्यपि युद्ध के पहले तथा बाद के वर्षों में सीमा कर से प्राप्त होने वाली आय तो लगभग समान ही है किन्तु कुल कर आय में अब इनका स्थान उत्पादन करों ने ग्रहण कर लिया है। उत्पादन करों का कुल भाग में प्रतिशत सन् १९३८–३९ में १९ ८ से बढ़कर १९५७–५८ में ३३ ३ हो गया। सन् १९५६ से अर्थात् दूसरी पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होते ही भारतीय कर प्रणाली में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पिछले तीन वर्षों में प्रत्यक्ष करों की संख्या एवं आय में वृद्धि करने के सचेत प्रयत्न किए गए हैं। सन् १९५६ में पूंजी लाभ कर सन् १९५७ में धन कर तथा व्यय कर और सन् १९५८ में उपहार कर लागू किए गए। इन करों को लागू करने के तीन मुख्य उद्देश्य थे प्रथम दूसरी योजना के लिये अधिक आय प्राप्त करना। दूसरे कर ढांचे को अधिक प्रगतिशील करना और तीसरे कर की चोरी को नियन्त्रित करना। पिछले वर्षों में उत्पादन करों में भी बहुत वृद्धि हुई है तथा अनेकों नई वस्तुओं पर उत्पादन कर लागू कर दिए गए हैं परिणामस्वरूप अब केन्द्रीय सरकार को सबसे अधिक आय अकेले उत्पादन करों से ही प्राप्त होती है। इनमें वृद्धि करने के मुख्य कारण—उपभोग को कम करना मध्यस्थों के लाभों को कम करना तथा सरकार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त धन प्राप्त करना इत्यादि हैं।

राज्यों की आय का अनुमान निम्न तालिका से किया जा सकता है[3] —

3 Based on the *Reports of the Reserve Bank of Ind a on Cu ency and Finance*

	१९३८–३९		१९४४–४५		१९५३–५४		१९५७–५८	
	करोड़ रु० मे	कुल आय मे प्रतिशत	करोड़ रु० मे	कुल आय मे प्रतिशत	करोड़ रु० मे	कुल आय मे प्रतिशत	करोड़ रु० मे	कुल आय मे प्रतिशत
आय सम्बन्धी कर—								
आय कर म भाग	१ ४९	१ ९	२५ ७५	१३·३	५६·९९	१२ १	७२ ३६	१० ३
कृपि आय कर					३ ७७	० ८	६ ७७	० ९
व्यवसाय कर					० ०८	० ०१	० २४	० ०३
सम्पत्ति तथा पूंजीकर								
सम्पत्ति कर							२ ४३	० ३
मालगुजारी	२५ ४०	३३ १	३०·२१	१५ ६	७० ७३	१५ ०	८७ ६९	१२·५
स्टाम्प तथा रजिस्ट्रेशन	१० ६२	१३ ८	१७ ५९	९ ०	२७ ७०	५ ९	३० ६२	४ ४
शहरी अचल सम्पत्ति कर					१ ७८	० ४	२ ०९	० ३
वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर								
केन्द्रीय उत्पादन कर का भाग					१५·९५	३ ४	३७ ४२	५ ४
„ जूट कर „	२ ५१	३ ३	१·४८	० ८	—	—	—	—
राज्य उत्पादन कर	१३ ०८	१७·०	४३ ४२	२२ ४	४४·६६	९ ५	४३ २०	६ २
सामान्य बिक्री कर			७ ९१	४ १	५८ ३३	१२ ४	९७ २६	१३ ९
मोटर स्प्रिट पर कर					७ ३५	१ ५	१० ०३	१ ४
मनोरंजन कर					५ ८८	१ ३	८ ०२	१ १
बिजली कर					४ ७६	१ ०	६ ४३	९ २
मोटर गाडी कर					१३ ६७	२ ९	१८ ९५	२ ७
रेल किरायो पर कर							५ ०८	० ७
अन्य.					१८ ६५	३ ९	२० ४८	२ ९
कुल कर आय	५९ ०२	७३ ७			३३० ३०	७० ३	४४९ ०७	६४ १
शासन प्रबध सम्बधी आय					४४ १४	९ ४	८१ ८२	११ ७
राजकीय उद्योग की आय								
जगल	० ६३	० ८	४ ५८	२·४	११ ३५	२ ४	१७ ४२	२ ५
सिंचाई	७ ५७	९ ९	१०·१४	५·२	१० ५३	२ २	९ ४७	१ ४
विद्युत योजनाये					४ ३४	० ९	५ ४६	० ८
सड़क तथा जल यातायात					१ ६२	० ३	२ ९९	० ४
उद्योग तथा अन्य साधन					० ६०	० १	० ३७	० ०५
आय के अन्य साधन					२९ ६५	६ २	४६ ५२	६ ६
अनुदान तथा अन्य अशदान	६ ४५	८·४	३६ ८१	१९ १	३६ ४१	७ ८	७८ १८	११ १
कुल आय	७६ ४२	१००	१९३·८७	१००	४६८ ९४	१००	६९१ ३४	१००

राज्यों की आय भी सन् १९३८–३९ में ७९ ४२ करोड़ रुपया से बढ़कर सन् १९५७–५८ में ६६१ ३४ करोड़ रुपय हो गई थी। यह वृद्धि वास्तव में सराहनीय है। यह वृद्धि भी कुछ तो मूल्य स्तर की वृद्धि के कारण और कुछ सरकारी आवश्यकताओं की वृद्धि के कारण हुई थी। पिछले वर्षों में आय के भिन्न भिन्न स्रोतों के सापेक्षिक महत्व में कुछ फेर बदल अवश्य हुई है। यद्यपि मालगुजारी से प्राप्त राशि तो लगभग उतनी ही है किन्तु कुल आय में उसका प्रतिशत सन् १९४४ में १५ ६ से गिर कर सन १९५७–५८ में केवल १२ रह गया था। इसी प्रकार आबकारी कर की आय का प्रतिशत भी सन १९४४–४५ में २२ ४ से गिरकर सन १९५७–५८ में ६ ३ रह गया था। आय की वृद्धि के मुख्य स्रोत बिक्री कर, केन्द्रीय अनुदान तथा केन्द्रीय करों में से प्राप्त होने वाले भाग हैं। बिक्री कर का महत्व दूसरे युद्ध के बाद ही अधिक हुआ है। इसका अनुपात कुल आय में सन् १९४४–४५ में ४ १ से बढ़कर सन १९५७–५८ में १५ ८ हो गया था और यह करारोपण की सबसे महत्वपूर्ण मद थी। आज इस का महत्व मालगुजारी की अपेक्षा बहुत अधिक है। पिछले वर्षों में राज्यों की आय में सबसे महत्वपूर्ण मद केन्द्रीय सरकार से अंशदान है जो अनुदानों तथा केन्द्रीय करों की आय के कुछ भागों के रूप में प्राप्त होते हैं। सन् १९८३–५४ में इनका कुल आय में प्रतिशत ५० ६ था। पिछले वर्षों में यद्यपि इनसे प्राप्त कुल राशि में वृद्धि हो गई है किन्तु राज्यों की आय बढ़ने के कारण इनका अनुपात सन १९५७–५८ में ४५ २ % था।

स्थानीय सरकारों की आय में भी वृद्धि हुई है। इनकी कुल आय सन् १९२१–२२ में २३ ८९ करोड़ रुपया से बढ़कर सन् १९५१–५२ में ८६ ७८ करोड़ रुपय हो गई थी।[4] यह वृद्धि मुख्य रूप से मूल्य वृद्धि तथा स्थानीय संस्थाओं की संख्या की वृद्धि के कारण हुई है।

यदि हम तीनों प्रकार की सरकारों की संयुक्त स्थिति का विचार करें तो इनकी कुल कर आय जो सन १९३८ ३९ में १४३ ४४ करोड़ रुपय थी वह बढ़ कर सन् १९५३–५४ में ७११ ६८ करोड़ रुपय हो गई थी और कुल आय सन् १९३८-३९ में १७९ ०२ करोड़ रुपया से बढ़कर सन १९५४–५५ में ८६७ ९१ करोड़ रुपय हो गई थी।

यह ध्यान रहे कि राजकीय आय सम्बन्धी जो तथ्य पिछले पृष्ठों में हमने दिये हैं तथा जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख हम ने किया है उनका घनिष्ठ सम्बन्ध हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यारोपण से है। हम अब केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की आय के मुख्य मुख्य स्रोतों का वर्णन अगले पृष्ठों में करेंगे।

4 Report of The Taxation Enquiry Commission, Page 30

आयकर
(Income-Tax)

प्राक्कथन—

आय-कर के अन्तर्गत व्यक्तियों तथा कम्पनियों की शुद्ध आयों (Net income) पर लगने वाला कर सम्मिलित किया जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि शुद्ध आय किसे कहते हैं ? करारोपण के उद्देश्य से शुद्ध आय की एक सही परिभाषा देना उतना सरल नहीं है, जितना ऊपर से देखने पर प्रतीत होता है। शुद्ध आय का माप भी व्यवहारिक कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। सच तो यह है कि शुद्ध आय पर कर लगाने की बात केवल एक सैद्धान्तिक सत्य ही है। अर्थशास्त्र में 'आय' शब्द का अभिप्राय उन सतुष्टियों के 'प्रवाह' (flow of satisfactions) से है जो श्रम अथवा पूँजी से उत्पन्न होता है। वास्तव में व्यक्तिगत हित या कल्याण के दृष्टिकोण से आय का यह सब से सही अर्थ है। परन्तु करारोपण के उद्देश्य से हम 'आय' शब्द का उपयोग इस अर्थ में नहीं कर सकते। इस अर्थ को मानने में कई कठिनाइयाँ हैं, जैसे पहली कठिनाई तो यह है कि सतुष्टियों का मौद्रिक माप किस प्रकार किया जाए ? जो करारोपण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम सतुष्टियों को मुद्रा में नापने का प्रयत्न करते हैं तो एक कठिनाई यह है कि वास्तविक आय (real income) और मौद्रिक आय (money income) में सही सही भेद नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि, यदि वास्तविक आय सतुष्टियों का प्रवाह है, तो मौद्रिक आय इन सतुष्टियों को प्रदान करने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं का बाजार मूल्य है। परन्तु इस बात का क्या विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति को मुद्रा की समान मात्रा खर्च करने से समान सतुष्टि प्राप्त होगी ? इसलिए समान आय वाले व्यक्तियों से एकसी राशि कर के रूप में ले लेने से हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि इनमें से हर व्यक्ति ने सतुष्टि की समान मात्रा का त्याग किया है। यदि सतुष्टियों का कोई वस्तुगत या भौतिक (Objective) माप होता, तो करारोपण का उससे अधिक उचित आधार मिलना सम्भव नहीं था। परन्तु ऐसे माप के अभाव में हम को उनके निकटतम आधार को अर्थात् मौद्रिक आय को ही आय-करारोपण का आधार मानना पड़ता है, यह जानते हुए भी कि यह एक उचित आधार नहीं है।

यदि हम शुद्ध आय को वास्तविक आय के अर्थ में लेते हैं तो दूसरी कठिनाई यह है कि करारोपण के लिये इसका माप किस स्थिति (stage) पर किया जाय ? इसको हम उस समय तो नाप नहीं सकते, जबकि यह प्राप्त होती है, क्योंकि उस समय तो सतुष्टि का अनुमान ही नहीं लग सकता। सतुष्टि तो उपभोग करने के पश्चात् प्राप्त होती है। परन्तु उपभोग कर लेने के बाद फिर व्यक्ति के पास क्या रहेगा जिससे वह कर का भुगतान कर सके। यदि हम मौद्रिक आय को आधार मानते हैं तो प्रश्न यह है, कि क्या हम उसका माप उस समय करें जबकि उसका उपयोग, उपभोग कार्यों के लिये किया जाता है ? कुछ लेखकों का मत है कि यदि

हम वास्तविक आय को करारोपण का आधार बनाने में वास्तविक कठिनाइयाँ हैं तो हम मौद्रिक आय का माप कम से कम एक बिन्दु पर करें जो वास्तविक आय प्राप्ति के निकटतम हो। अतः हमारी वास्तविक आय का अनुमान उसी समय लग सकता है जब हम उन वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य मालूम कर लें, जिससे वास्तविक आय प्राप्त होता है। यदि हम थोड़ा सा ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि किसी भी व्यक्ति को अपनी सन्तुष्टि केवल वर्तमान उपभोग से ही प्राप्त नहीं होती, वरन् भविष्य के उपभोग के लिये बचत करके एवं दूसरे व्यक्तियों को मौद्रिक आय का कुछ भाग देकर भी, सन्तुष्टि प्राप्त होती है। अतः मौद्रिक आय का सर्वोत्तम माप उसी समय होगा, जबकि व्यक्ति उसे प्राप्त करता है—जिसके पश्चात वह उसको उपभोग तथा बचत में बाँटने का निश्चय करता है। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि बचतें आय नहीं होती। यह हमारी वास्तविक आय की परिभाषा पर निर्भर करता है कि आय में बचत आती है या नहीं। यदि हम वास्तविक आय को केवल उपभोग से प्राप्त आनन्द के रूप में स्वीकार करते हैं तब तो बचत आय नहीं हैं परन्तु यदि हम इसका अर्थ मौद्रिक आय से प्राप्त सारी ही सन्तुष्टियाँ में लगाते हैं तब बचतें आय के अन्तर्गत ही आयगी। कीन्स ने भी बचतों को भविष्य में आय के उपभोग करने का अधिकार बताया है। अतः आय की यह विस्तृत परिभाषा अवश्य है परन्तु यह ही प्रत्येक व्यक्ति की कर दान योग्यता का उचित माप है। यह ध्यान रहे कि यह तो व्यक्ति की कुल आय (Gross Income) है। शुद्ध आय प्राप्त करने के लिये इसमें से कुछ राशि निकालनी पड़ेगी अर्थात इस आय को प्राप्त करने में पूँजीगत वस्तुओं का जो ह्रास हुआ है वह भी काटना चाहिये जो कुछ शेष रहे वह शुद्ध आय होगी। उस पर कर निर्धारित करना चाहिये। कुल राष्ट्रीय आय (Gross National Income) में से शुद्ध राष्ट्रीय आय (Net National Income) या राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) मालूम करने के लिये हमको कई प्रकार की कटौतियाँ करनी पड़ती हैं—जैसे, करों का भुगतान पूँजी की ह्रास पूर्ति की राशि तथा विदेशियों को उनकी पूँजी का उपयोग करने का शुद्ध भुगतान।[5] जिस विधि से देश की शुद्ध राष्ट्रीय आय का अनुमान हम लगाते हैं उसी प्रकार हमें व्यक्तियों की शुद्ध आय का पता लगाना चाहिये। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो व्यक्ति की उत्पादन करने की पूँजीगत वस्तु अर्थात कार्यक्षमता का ह्रास होता रहेगा। इस दृष्टि से बचतें पूँजी हैं और राष्ट्रीय आय का भाग नहीं हैं। करारोपण के उद्देश्य से हम हिक्स (Hicks J R) की परिभाषा को ही उचित मान सकते हैं। 'एक व्यक्ति की आय वह है जिसका वह एक सप्ताह में उपभोग कर सकता है और तब भी सप्ताह के अन्त में वह उतना ही समृद्धिशाली रहने की आशा कर सकता है जितना वह आरम्भ में था।'[6]

किसी व्यक्ति की आय पर कर निर्धारित करते समय यह भी आवश्यक

5 Philipe E Taylor, *The Economics of Public Finance* Page 85
6 *Value and Capital* Page 176

है कि केवल व्यक्ति की आय की राशि को ही ध्यान म न रख कर यह भी देखना चाहिये कि उस आय का उपयोग करने वाले व्यक्तियों की सख्या कितनी है। अन्य बात समान रहने पर एक अकेले व्यक्ति की एक परिवार वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक कर-दान योग्यता होगी।

व्यक्ति को आय एक दम ही प्राप्त नहीं होती। उसको थोडी थोडी करके एक निश्चित अवधि में आय प्राप्त होती है। आय प्राप्ति की अवधि तथा राशि लगभग निश्चित ही होती है (अधिकतर वेतन भोगी व्यक्तियो को) परन्तु कभी कभी उसम परिवर्तन भी होते रहते है (व्यापारियो के लिये)। अत यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित अवधि के अन्दर की आय पर ही कर लगाया जाय। यह काल अधिकतर एक वर्ष होता है। सयुक्त राज्य अमेरिका म कोई भी बारह महीनो की आय का ब्यौरा दिया जा सकता है। यह आवश्यक नही है कि कलण्डर (Calendar) वर्ष ही एक वर्ष हो।

आयकर साधारणतया प्राप्त की हुई नकद आय पर लगाया जाता है और भविष्य म जितनी आय के प्राप्त होने की आशा हो उस पर नहीं लगाया जाता। वास्तव म आय वही है जो प्राप्त हो गई हो। वेतन भोगी व्यक्तियों के लिये तो यह बात सच है परन्तु व्यापारियो के लिये यह ठीक नही है क्योकि आरम्भ म तो अपनी ख्याति स्थापित करने के लिये बहुत खर्च करना पडता है इसलिए कुछ भी लाभ नहीं होता। जब उसे कुछ वर्षों बाद बहुत लाभ होता है तो उसे एक दम कर चुकाना होता है जबकि उसे यह आय कई वर्षों के परिश्रम के बाद प्राप्त हुई है। इस तरह उसको कर भी अधिक देना पडता है। यदि पिछले सब वर्षों का औसत निकाल कर कर लगाया जाता तो उसको बहुत कम कर देना होता। परन्तु आयकर अधिनियम कही पर भी कर-दान योग्यता की इन भिन्नताओं की ओर ध्यान नही देते।

भविष्य में जिस आय के प्राप्त होने की आशा है यदि कर उस आय के अनुसार लगाया जाय तो भी ठीक नही होगा। एक तो यह निश्चित रूप से कहा ही नहीं जा सकता की भविष्य म कितनी आय प्राप्त होगी। दूसरे यह कि प्रारम्भिक वर्षों म करदाता का कर भुगतान करना इतना सुविधाजनक नही होता क्योकि आय प्राप्त होने से पहले ही उसको कर का भुगतान करना पडता है। इसके अतिरिक्त आय में परिवर्तन भी होते रहते है। एक वकील की जो आय एक महीने म होगी यह आवश्यक नहीं कि उतनी ही आय दूसरे महीने म भी प्राप्त हो। इन सब कठिनाइयो को कम करने के लिए प्राप्त आय को या तो पीछे के वर्षों म बाटा (Carry back) या आगे के वर्षों को ले जाया जा सकता है (Carry over)। पहली विधि के अनुसार आय को पिछले वर्षों (जितने वर्षों तक उस आय को प्राप्त करने के लिये निरंतर प्रयत्न किये गए है) म ऐसे बाट दिया जाय जैसे कि वह बराबर बराबर किश्तो म पिछले वर्षों मे प्राप्त होती रही है तत्पश्चात उस पर कर निर्धारित किया जाय। दूसरी विधि म एक वर्ष की हानि को दूसरे वर्ष के लाभ म से काट कर

तब कर लगाया जाय। इसमे तो कोई सदेह नही कि किसी एक वर्ष की हानि सदैव अगले वर्ष की आय में से ही पूरी की जाती है। यदि हानि नही भी होती है तो भी प्रवृत्ति यही होती है कि अधिक आय वाले वर्ष की आय को वाद के कम आय वाली वर्षों में उपयोग किया जाता है। अत दोनो ही स्थिति म कर निर्धारण के लिए एक वर्ष की अवधि न्यायसगत नही है। आय कर की न्यायशीलता के लिए यह आवश्यक है कि कर निर्धारित करते समय कई वर्षों की हानि और लाभो का उचित ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय।

आय कर को न्यायसगत बनाने के लिए अधिकाश देशो मे शुद्ध आय का अनुमान लगाते समय कुल आय में कुछ रियायत तथा कटौतियाँ कर दी जाती हैं। यह छूटें तथा कटौतियाँ या तो कर दान याग्यता क विचार से या प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से की जाती हैं। प्रत्येक देश मे ही न्यूनतम कर रहित सीमा निश्चित की जाती है — केवल प्रशासन की सुविधा के लिए क्योकि छोटी छोटी आयो पर कर वसूल करने मे कठिनाई भी बहुत होती है और उनका पता लगाना भी इतना सरल नही होता। इसी प्रकार करदान योग्यता को उचित आधार बनाने के लिए, सभी व्यक्तिगत कठिनाइयो की ओर भी ध्यान दिया जाता है और कुल आय मे से उचित कटौतियाँ कर दी जाती हैं जैसे व्यक्ति विशेष के बच्चो या निभरकर्ताओं की सख्या शिक्षा एव चिकित्सा व्यय आदि। इन सब कटौतियो के बाद ही शुद्ध आय मालूम की जाती है और उस पर कर लगाया जाता है।

आयकर के भार के सम्बन्ध म साधारणतया यही विश्वास किया जाता है कि यह किसी दूसरे व्यक्ति पर नही डाला जा सकता और उसी व्यक्ति को करभार सहन करना पडता है जिसकी आय पर कर लगाया गया है। हम पहले भी कह चुके हैं कि करभार उसी समय दूसरे व्यक्ति पर डाला जा सकता है जब करदाता की व्यापार सम्बन्धी लागतो मे वृद्धि हो जाती है। परन्तु आयकर तो शुद्ध आय पर लगाया जाता है। व्यापारी अपनी वस्तुओ का मूल्य कर का भुगतान करने की पूर्व आशा म बढा भी नही सकता क्योकि मूल्य तो माग और पूर्ति की शक्तियो द्वारा निर्धारित होता है। यदि कोई व्यापारी अपनी वस्तुओ को ऊँचे मूल्य पर बेचता है तो वह ऐसा उसी समय कर सकता है जब कि बाजारो मे मूल्यो की सामान्य प्रवृत्ति बढने की हो — चाहे आयकर लगा हो या नही। यदि वह मूल्य बढाने की स्थिति मे है तो अवश्य ही मूल्य बढायेगा। अत आयकर का भार कर दाता के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति पर नही पडता क्योकि आयकर वस्तुओ की उत्पादन लागतो को प्रभावित नही करता।

आयकर, कर दान योग्यता के भी अनुकूल बनाया जा सकता है। इस कर की दरो को प्रगतिशील करके कुल आय मे से कटौती करके या कुछ छूट देकर, अतिकर (Super Tax) लगाकर इत्यादि उपायो द्वारा।

हम ऊपर देख चुके हैं कि एक निश्चित स्तर से नीचे की आयो को कर मुक्त कर दिया जाता है, जिससे कम आय वाले व्यक्तियो पर कर का भार कम

पड़े। इसी प्रकार कर को कर-दान योग्यता सिद्धान्त के अनुकूल बनाने के लिये, दरों को प्रगतिशील बनाया जाता है। ऊँची आयों पर ऊँची दरों से कर लिया जाता है और नीची आयों पर नीची दरों से कर लगाया जाता है और बहुत नीची आयों को कर से मुक्त कर दिया जाता है। कर की दरों में प्रगतिशीलता लाने के लिये भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न भिन्न रीतियाँ अपनाई गई हैं। अधिकतर देशों में खण्ड प्रणाली (Slab System) प्रचलित है। आयकर पर अति कर (Super-tax) लगाकर भी ऊँची आय वालों पर कर का भार अधिक डाला जाता है। अतिकर, एक निश्चित स्तर से ऊपर वाली आयों पर साधारण आयकर के अतिरिक्त लगाया जाता है। अतिकर भी प्रगतिशील होता जाता है। जब आय बहुत अधिक होती जाती है और लाभ की दरें बहुत ऊँची होती जाती हैं, तब सरकार अधिक लाभकर (Excess Profits Tax) भी लगा देती है। यह कर अत्यधिक ऊँची आयों पर लगाया जाता है। यह कर अधिकतर युद्धकाल में अत्यधिक लाभों पर लगता है, क्योंकि युद्धकाल में व्यापारियों को ऊँचे मूल्यों से अतिरिक्त लाभ बहुत ऊँची दरों से प्राप्त होते हैं। आयकर को छूट देकर तथा कटौतियाँ आदि कर के भी न्यायसगत बनाया जाता है। जैसे बिना कमाई हुई आयों (Unearned incomes) पर ऊँची दर से कर लगाना और कमाई हुई आयों पर नीची दर से कर लेना। श्रम द्वारा प्राप्त आय और सम्पत्ति द्वारा प्राप्त आय में भी भेद किया जाता है। श्रम एवं प्रयत्नों से जो आय प्राप्त होती है, वह उसी समय तक मिलती है जब तक व्यक्ति कार्य करने योग्य रहता है अर्थात् बीमारी, चोट, बेकारी आदि की अवस्था में उसे कोई आय नहीं प्राप्त होती, जबकि सम्पत्ति द्वारा प्राप्त आय नियमित रूप से प्राप्त होती रहती है। माता पिता की मृत्यु के बाद श्रमिक के बच्चे भूखे भी मर सकते हैं, परन्तु सम्पत्ति वालों के बच्चों को सम्पत्ति से आय सदा ही प्राप्त होती रहती है। श्रमिक को भविष्य के लिये अधिक बचाना पड़ता है, जबकि सम्पत्ति वालों को भविष्य की कुछ भी चिन्ता नहीं होती। आयकर निर्धारित करते समय करदाता की व्यक्तिगत परिस्थितियों का भी ख्याल रक्खा जाता है जैसे व्यक्तियों की, करारोपण के लिये, शुद्ध आय का अनुमान लगाते समय बच्चों की संख्या के अनुसार कुल आय में से कटौती कर दी जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो चिकित्सा सम्बन्धी व्यय भी काट दिये जाते हैं।

आयकर का प्रशासन भी सरलतम रक्खा गया है। व्यवहार में दो रीतियाँ अपनाई गई हैं—पहली विधि में, आयकर आय के स्रोत (Source) पर ही एकत्रित कर लिया जाता है और दूसरी विधि में करदाता स्वयं अपनी आय का ब्यौरा प्रत्येक वर्ष आयकर विभाग को भेजता है। पहली विधि के अन्तर्गत सेवायोजक (Employers) अपने सेवकों को, वेतन में से कर की राशि की कटौती करके भुगतान करते हैं और सम्मिलित पूँजी कम्पनियाँ लाभ बाँटते समय प्रत्येक हिस्सेदार के लाभ में से कर की सारी राशि काट लेती है। दूसरी विधि में करदाता को स्वयं अपनी आय का हिसाब भेजना पड़ता है। कुछ देशों में यह दोनों विधियाँ साथ साथ चलती हैं

अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठों में हम कह चुके है कि वास्तव में आय कर को न्यायशील बनाने के लिय आय से प्राप्त मनुष्टियों के अनुसार कर निर्धारित होना चाहिए। परन्तु इस प्रकार के आधार में जो कठिनाइयाँ होती हे उनका भी वर्णन हम कर चुके हैं। इसी कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि व्यक्ति की मौद्रिक आय पर ही कर लगाना चाहिय, क्योंकि मतुष्टियों तथा वास्तविक आय को उचित रूप से मापा नहीं जा सकता।

कारपोरेशन कर—व्यापारियों, कम्पनियों तथा प्रमडलों की आय पर जो कर लगाया जाता है उसे कारपोरेशन कर कहते हैं। यह कर उस कर से बिलकुल भिन्न होता है जो कि कम्पनी के हिस्सेदार अपनी आयों पर देते हैं। कारपोरेशन कर भी बिलकुल व्यक्तिगत आय कर के समान ही है और इसके सिद्धान्त इत्यादि आयकर जैसे ही हे। कभी कभी इस विषय पर बडा वाद-विवाद होता है कि कम्पनियों की आय पर दो वार कर लगता है। एक तो कम्पनी की आय पर दूसरे हिस्सेदारों द्वारा प्राप्त आय पर। बहुत से लोगों का विचार है कि व्यापारिक कम्पनी हिस्सेदारों की ही सस्था होती है जो हिस्सेदारों की ओर से व्यापार करती है और जो कुछ आय प्राप्त करती है वह हिस्सेदारों की ही होती है। अत इस मत के अनुसार हिस्सेदारों को दो बार कर का भुगतान करना पडता है जो अन्यायपूर्ण है। इसलिय आवश्यकता इस बात की है कि इन दोनों करों में से केवल एक ही कर लिया जाय, या तो कारपोरेशन कर या आयकर। परन्तु यह तर्क आधारहीन है। व्यापारिक कम्पनी हिस्सेदारों की ओर से अवश्य काम करती ह परन्तु उसका अपना अस्तित्व होता है। इसलिये कारपोरेशन कर कम्पनी की आय पर लगता है और आयकर हिस्सेदारों की आय पर लगाया जाता है। न्यायालयों ने भी यह स्वीकार किया है कि कारपोरेशन कर से हिस्सेदारों पर दुबारा कर नहीं लगता।

भारत मे आय कर—

भारतीय सविधान के अनुसार सघ सरकार द्वारा निम्न कर लगाये जा सकते ह—

गैर कृषिक आय पर कर, सीमा शुल्क, वस्तुओं पर उत्पादन कर, कार्पोरेशन कर, पूजी कर कृषिक भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियों पर जायदाद कर, रेल के किराये तथा भाड़े पर स्टाम्प कर, समाचार पत्रों की बिक्री इत्यादि पर कर इत्यादि। परन्तु इन करों की आय का एक बहुत थोडा भाग ही सघ सरकार को प्राप्त हो सकता अर्थात् केवल आय कर दवाइयों तथा शृगार सम्बन्धी वस्तुओं के अतिरिक्त वस्तुओं पर लगे हुए उत्पादन कर की आय का ही एक भाग प्राप्त हो सकेगा। शेष करों की आय राज्य सरकारों को प्राप्त होगी।

भारत में आय कर का इतिहास—भारत म सबसे पहले सन् १८६० म आय कर लागू किया गया था। सन् १८५७ की अशान्ति मे भारत सरकार को धन की बहुत ही आवश्यकता थी, इसलिय सरकार ने इस कर का आश्रय लिया।

प्रारम्भिक वर्षों म यह केन्द्रीय सरकार की आय का स्रोत था, परन्तु बाद म इसकी आय केन्द्र और राज्यों के बीच विभाजित होने लगी। सन् १९१९ के विधान सम्बन्धी सुधारो के आधीन यह केन्द्रीय सरकार की ही आय का स्रोत बना रहा परन्तु यह निश्चित हुआ कि इसका एक भाग राज्य सरकारा को भी दिया जाय। इसी प्रकार सन् १९३५ के अधिनियम के आधीन भी आय कर की आय का कुछ भाग राज्य सरकारा को प्राप्त होता रहा। यह केवल औटोनीमियर की सिफारिशो का ही परिणाम था कि आय कर का राज्या का मिलने वाला प्रतिशत पहली बार निश्चित रूप से निर्धारित किया गया। औटोनीमियर क सुझावो के अनुसार आय कर की आय का ५० प्रतिशत भाग राज्या मे बाँटा जाने लगा। सन् १९५२ के वित्त आयोग ने इस प्रतिशत को बढ़ा कर ५५ कर दिया और दूसरे वित्त आयोग न ६० कर दिया।

सन् १८६० म २०० से ५०० रुपये माहवार तक की आय पर २% की दर स और ५०० रुपये से ऊपर की सब आया पर ४% की दर स कर लगाया गया था। ५ वर्ष के पश्चात इसको समाप्त कर दिया गया। परन्तु १८६६ म फिर लागू किया गया। इसी प्रकार उलट फेर होते होते सन् १८८६ म इसको स्थायी रूप प्रदान किया गया। यह जान कर आश्चर्य होगा कि सन् १८६० स सन १८८६ तक लगभग २६ वर्षो क अन्दर २३ कानून बनाये गये थे। सन १८८६ का नियम भारतीय आय कर के इतिहास मे पहला महत्वपूर्ण पग था। इसम कृषि आया पर कोई कर नहीं लगाया गया था। यह नियम भारत म लगभग ३२ वर्षो तक लागू रहा। सन् १९१८ म भारतीय आय कर म बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस नियम का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत करदाताओ के बीच म उत्पन्न होने वाली उन असमानताओ को दूर करना था जो कि सन १८८६ के नियम से उत्पन्न हो गई थी। इसका उद्देश्य यह भी था कि आय तथा लाभो को मालूम करने की विधि को पूणतया स्पष्ट कर दिया जाय क्योकि विभिन्न प्रान्तो के करारोपण सम्बन्धी प्रमापो (standards) म बहुत सी भिन्नताएँ उत्पन्न हो गई थी। सबसे पहली बार इसी नियम म यह व्यवस्था की गई थी कि सभी स्रोतो से प्राप्त कुल आय पर ही कर निर्धारित किया जाय। इसके अतिरिक्त कर वर्तमान वर्ष की आय पर ही लिया जाने लगा। यह अवश्य था कि पिछले वर्ष की आय के आधार पर कर की दर निर्धारित कर दी जाती थी परन्तु वर्तमान वर्ष की शुद्ध आय का पता लगने के बाद इस दर म परिवर्तन कर दिया जाता था। यह नियम सभी प्रकार की आय पर लागू होता था।

सन् १९२१ म आय कर नियम की जाच करने के लिये अखिल भारतीय आय कर समिति के सामने नियम को रखा गया। समिति के सुझावो के अनुसार सन् १९२२ म वर्तमान आय कर बनाया गया और सन् १९३९ म इसम बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। इस अधिनियम के अनुसार भारत के निवासियो की विदेशो से प्राप्त आय पर भी कर लगना आरम्भ हो गया। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी

परिस्थितियो का वर्णन भी किया गया था जिनके अनुसार कर के दृष्टिकोण से करदाताओ को तीन वर्गों मे विभाजित कर दिया गया था अर्थात् भारत के निवासी, गैर निवासी और वे व्यक्ति जो निवासी तो हैं परन्तु साधारणतया निवासी नही हैं। अन्तिम वर्ग पर पहले वर्ग की अपेक्षा कर का भार अधिक रखा गया। इस नियम में पहली बार व्यापारिक कम्पनियो की ६ साल तक की हानि को अगले वर्षों तक ले जाने की आज्ञा प्रदान की। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से परिवर्तन किये गये थे। परन्तु इस नियम मे बराबर सशोधन होते ही रहे। दूसरे महायुद्ध छिड़ने के कारण आय कर के समुचित ढाचे म और परिवर्तन किये गये। अर्थात् आय कर तथा अति कर पर अतिरिक्त कर (surcharge) लगाय गये। कर रहित सीमायें नीची कर दी गई। कौरपोरेशन करो की दरो को बढा दिया गया और अत्यधिक लाभ कर भी लगा दिये गये। साथ ही अनिवार्य बचत योजना भी चालू कर दी गई। कर की दरें बहुत अधिक प्रगतिशील कर दी गई थी। सबसे ऊँची दर ५००० रुपयो से अधिक वार्षिक आय पर थी अर्थात् १५३ आने प्रति रुपया। आय कर की दरो की प्रगतिशीलता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आय कर से जो आय सन् १९३९ में १५ २४ करोड रुपये थी वह सन् १९४६ मे ६१ १२ करोड रुपयें हो गई थी। इसी अवधि में कारपोरेशन कर २ ०४ करोड रुपयो से बढ कर ७ ४० करोड रुपये हो गया था। यह ध्यान रहे कि यह वृद्धि केवल कर की ऊँची दरो के कारण ही नही थी बल्कि युद्धकाल म आयो म वृद्धि भी बहुत हुई थी। युद्ध के बाद आय कर की दरो को कम कर दिया गया और विभिन्न प्रकार की रियायतें भी दे दी गई। अत्यधिक लाभ करो को समाप्त कर दिया गया और कर रहित सीमाओ को ऊँचा कर दिया गया। सन् १९४७ म एक नया कर अर्थात् पूँजी लाभ कर लगाया गया था। परन्तु यह सन् १९४९ मे समाप्त कर दिया गया।

आय कर का वर्तमान ढाँचा निम्न प्रकार है —

अविवाहित व्यक्तियो, हिन्दू सयुक्त परिवार और उन कम्पनिया के लिये जो पजीकृत (Registered) नही है आयकर की दरे निम्नाकित है —

आयो के विभिन्न वग	दर
कुल आय के प्रथम १,०००) रुपयो पर	कुछ नही
,, ,, अगले ४,०००) ,, ,,	३ प्रतिशत
,, ,, ,, २,५००) ,, ,,	६ ,,
,, ,, २,५००) ,, ,,	९ ,,
,, ,, ,, २,५००) ,, ,,	११ ,,
,, ,, ,, २,५००) ,, ,,	१४ ,,
,, ,, ,, ५,०००) ,, ,,	१८ ,,
,, ,, ,, शेष भाग पर	२५ ,,

इसके अतिरिक्त निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं —

(१) विवाहित व्यक्तियों के लिये कुल आय के पहले ३ ०००) रुपयों पर कोई कर नहीं है, अगले २ ०००) रुपयों पर ३% कर है और शेष खण्डों पर उपयुक्त तालिका के अनुसार ही कर की दरें हैं।

(२) इसके अतिरिक्त दो बच्चों तक ३००) रुपयों प्रति बच्चे की दर से कुल आय में से कटौती की जाती है। विवाह और बच्चे सम्बन्धी कटौतियाँ केवल उसी समय की जाती हैं जबकि व्यक्ति की आय २० ०००) रुपयों से कम होती है।

(३) हिन्दू संयुक्त परिवारों के लिये भी यह कटौतियाँ की जाती हैं। इनके लिये ६ ०००) रुपयों से नीचे की आयों पर कोई कर नहीं लिया जाता।

(४) पंजीकृत फर्मों के लिये कर की दर निम्न प्रकार है —

कुल आय के प्रथम ४० ०००) रुपयों पर	कुछ नहीं
अगले ५ ०००)	५ प्रतिशत
७५ ०००)	६
शेष भाग पर	९

(५) कम्पनियों के लिये कुल आय पर कर की दर ३० प्रतिशत है।

(६) १ लाख रुपयों से नीची आयों पर सामान्य रूप से ५ प्रतिशत और १ लाख से ऊपर की आयों पर १० प्रतिशत की दर से अतिरिक्त कर लगाया जाता है। बिना कमाई गई आयों पर इन करों के अतिरिक्त एक विशेष अतिरिक्त कर १५ प्रतिशत की दर से लगाया जाता है। ये अतिरिक्त कर उन्हीं आयों पर लगते हैं जो हिन्दू सम्मिलित परिवारों के सम्बन्ध में १५ ०००) रुपयों से अधिक होती हैं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में ७ ५००) रुपयों से अधिक होती हैं। सामान्य अतिरिक्त कर की आय संघ सरकार को प्राप्त होती है परन्तु विशेष अतिरिक्त कर (Special Su charge) से प्राप्त आय राज्य और संघ सरकारों के बीच में बट जाती है।

(७) कम्पनियों के आय कर पर ५ प्रतिशत की दर से अतिरिक्त कर लगाया जाता है। २० ०००) रुपयों से अधिक आयों पर आय करके अतिरिक्त अति कर (Super Tax) भी लगाया जाता है जिसकी दर निम्न प्रकार है —

आयों के विभिन्न वर्ग	दर
कुल आय के प्रथम ० ०००) रुपयों पर	कुछ नहीं
अगले ५ ०००)	५ प्रतिशत
५ ०००)	१५
१० ०००)	२०
१० ०००)	३०
१० ०००)	३५
१० ०००)	४०
शेष भाग पर	४५

एक लाख रुपया से नीचे की आयों पर अति कर के अतिरिक्त ५ प्रतिशत की दर से और एक लाख से, ऊपर की आय पर १० प्रतिशत की दर से अतिरिक्त कर (Surcharge) लगाया गया है। इसके अतिरिक्त बिना कमाई हुई आय पर १५ प्रतिशत पर विशेष अतिरिक्त कर (Special Surcharge) भी लगाया गया है।

भारतीय आय कर की मुख्य विशेषतायें—उपयुक्त विवरण के बाद हम इस स्थिति म ह कि भारत म आय कर की मुख्य विशेषताओं की गणना कर सकें। यह विशेषतायें निम्न प्रकार हैं —

भारत में आय के सबसे ऊँचे खण्ड पर कर का दर बिना कमाई हुई आय के लिए ८४% है और कमाई हुई आय पर ७७%। सन १९५५ म कर जाच आयोग ने भारत म आय कर की दरों की तुलना अन्य देशों से करते हुए बताया कि भारत म प्रारम्भिक दरें अन्य देशों की तुलना म नीची थी और प्रगतिशीलता का अंश बहुत ऊँचा था। उदाहरण के लिए १०,०००) १५,०००) और २५,०००) रुपयों तक के खण्डों पर कर की दर बहुत से देशों की तुलना म बहुत कम थी परन्तु २५,०००) के बाद एक दम बढ़ना आरम्भ हुई और ४०,०००) रुपया पर बहुत ऊँची हो गई और यहा तक कि ७०,०००) रुपयों तक कर की दर इतनी ऊँची हो गई कि यू० के० के पश्चात् भारत का ही स्थान था। कर जाच आयोग का यह सुझाव था कि आय कर ढाचे को अधिक न्यायसंगत करने के लिए आय को अधिक खण्डों म विभाजित किया जाय, क्योंकि प्रारम्भिक खण्डों म करदाताओं की संख्या सबसे अधिक थी। इस सुझाव को मानते हुए सन १९५७ तक आय को ८ खण्डों म विभाजित कर दिया गया। आयोग ने अपनी खोज करने के बाद यह भी पता लगाया कि भारत म व्यक्ति उस समय तक आय कर के क्षेत्र म नहीं आता जब तक कि उसकी आय, राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय स्तर (National Per Capita Income Level) से लगभग १५ गुनी नहीं हो जाती और इस स्तर से ५०० गुनी अधिक आय पर कर की दर सबसे ऊँची हो जाती है जबकि दूसरे देशों म यह गुणक (Multiples) बहुत नीचे है। इसके अतिरिक्त भारत में केवल १½% व्यक्ति ही आय कर का भुगतान करते हैं। इन कारणों से आयोग ने आय कर को, उपस्थित असमानताओं (जो कि आय कर का भुगतान करने वाले व्यक्तियों तथा उन व्यक्तियों में जिन पर आय कर नहीं लगता उपस्थित हैं) को दूर करने का एक शक्तिशाली अस्त्र बताया है। आयोग ने इस बात पर भी जोर दिया कि प्रारम्भिक खण्डों पर कर की दर न बढ़ा कर न्यूनतम कर रहित सीमा को नीचा कर दिया जाय। आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार करके सरकार ने सन १९५७ में कर रहित सीमा को कम करके ३०००) रुपया पर निश्चित कर दिया था। यह ध्यान रहे कि कर रहित सीमा को कम करने से प्रारम्भिक खण्डों के अन्तर्गत आने वाले करदाताओं को बहुत अधिक मात्रा म कर भार सहन करना पड़ रहा है। साथ ही कर रहित सीमा को नीचा करके छोटी छोटी आय वाले व्यक्तियों से कर इकट्ठा

करने का खर्चा भी बढ़ जायगा। अतः इस उपाय से कोई भी लाभ नहीं होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रारम्भिक स्तर पर आय को और अधिक खण्डों में विभाजित कर दिया जाय। आयोग ने यह भी बताया कि क्योंकि ऊँचे खण्डों में ८५% की दर से अधिक कर लगाने का विचार उचित नहीं है इसलिये मध्यम खण्डों या बीच के खण्डों की आय पर कर की दरों को बढ़ाया जा सकता है। आयोग का इस सम्बन्ध में अन्तिम सिफारिश यह थी कि आय कर की दरों को बढ़ाने के अतिरिक्त २५०००) रुपया से अधिक की आयों के लिए एक विशेष कर एवं अनिवार्य बचत योजना (Surchage cum Compulsory Deposit Scheme) चालू की जाय। इस योजना की पहली विशेषता तो यह है कि २५०००) रुपया से अधिक आयों पर प्रगतिशील दरों से विशेष कर लागू किया जाय। परन्तु करदाता को यह अधिकार होगा कि वह सरकार से एक दीर्घकालीन ऋण बहुत नीची सूद की दरों पर प्राप्त कर सके और उसका विनियोग सरकार द्वारा स्वीकृत उपयोगों में कर सके। इस योजना की दूसरी विशेषता यह होगी कि २५०००) रुपया से अधिक आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों से प्रगतिशील दरों पर अनिवार्य रूप से जमा प्राप्त की जाय जिसका भुगतान ५० वर्षों के बाद बांड के रूप में किया जाय और यह बांड अगले २५ वर्षों के बाद भुनाए जा सकें। इस योजना में आयोग का यह उद्देश्य था कि धनी व्यक्तियों की खर्च करने की शक्ति कम हो जाए जिससे वर्तमान बढ़ते हुए मूल्य कम होने लगें और आय की असमानताएं भी कम हो जायें।

हम पहले कह चुके हैं कि आय कर के भार को समान बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की कटौतियां तथा रियायतें दी जाती हैं। भारत में भी शुद्ध आय की गणना करते समय इस प्रकार की कटौतियां की जाती हैं। सबसे पहले सन् १९४५ में बिना कमाई हुई आय और कमाई हुई आय के बीच भेद किया गया था। कर जांच आयोग का (सन् १९५५) यह राय थी कि क्योंकि आय बढ़ने के साथ साथ आयों के बीच में इस प्रकार का भेद करना कठिन हो जाता है और इसका महत्व भी नहीं रहता इसलिये एक निश्चित सीमा जैसे २४०००) रुपये से कम की आय पर एक कमाई हुई आय का भत्ता (Earned Income Allowance) दे दिया जाय। इन सिफारिशों के बाद सन् १९५५ में ४५०००) रुपया से नीचे की आय पर यह भत्ता दिया गया था। परन्तु कमाई हुई तथा बिना कमाई हुई आय के बीच का भेद फिर आरम्भ कर दिया गया। आयोग की यह भी सिफारिश थी कि विदेशों की भाँति भारत में भी नियमित रूप से कुटम्ब भत्ता (Family Allowances) की व्यवस्था ३ वर्षों के अन्दर होनी चाहिए। उसका प्रस्ताव था कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवाहित व्यक्तियों के लिये कर रहित सीमा २०००) रुपये और अविवाहित व्यक्तियों के लिये १०००) रुपये कर दी जाय। सन १९५५ में इन सिफारिशों को व्यावहारिक रूप प्रदान कर दिया था परन्तु सन १९५७ में विवाहित व्यक्तियों के लिये कर रहित सीमा को पुनः बढ़ाकर ३०००) रुपये कर दिया गया। साथ ही दो बच्चों तक ३००) रुपये प्रति बच्चे की दर से बच्चों का भत्ता (Children

Allowance) भी दिया जाने लगा।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि आयकर का बचतों और पूंजी निर्माण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिये आयकर के बुरे प्रभावों को कम करने के लिये अन्य प्रकार की कटौतियाँ भी की जाती हैं जैसे प्रावधान कोष और बीमा सम्बन्धी भत्ते (Provident Fund and Insurance Allowances) इत्यादि। भारत में कुछ ऐसी व्यवस्था है कि जो भुगतान प्रावधान कोष में किये जाते हैं या बीमा सम्बन्धी किश्तों में किये जाते हैं (यदि यह कुल आय का ⅙ या ८,००० रुपयों, इन दोनों में से जो भी कम हो, तक है) उनको कर निर्धारित करने के लिये व्यक्ति की आय में नहीं जोड़ा जाता। इसी प्रकार की अन्य कटौतियाँ सन् १९४६ के आयकर अधिनियम में भी प्रस्तुत की गई थी। मशीनों इमारतों आदि की घिसावट आदि की कटौतियाँ भी फर्मों तथा कम्पनियों की शुद्ध आय की गणना करते समय कुल आय में से कर दी जाती हैं। इसी प्रकार की कुछ विशेष कटौतियाँ की सन् १९४६ से १९५१ तक के काल में आज्ञा दी गई थी। कर जाँच आयोग ने उत्पादन तथा पूंजी निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिये एक सामान्य योजना प्रस्तुत की थी। इस योजना के अनुसार उपक्रमों को ३ भागों में रक्खा गया था। प्रथम भाग में सभी उद्योगों में काम करने वाली कम्पनियों को सम्मिलित किया गया था। दूसरे वर्ग में कुछ चुने हुए उद्योगों को सम्मिलित किया गया था। यह उद्योग या तो राष्ट्रीय विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने चाहिये या ऐसे उद्योग हों जिनका विकास स्वयं अपने प्रयत्नों से न हो सके। यह उद्योग उत्पादकों की वस्तुओं या पूंजीगत वस्तुओं से सम्बन्धित होने चाहिये और इनका चुनाव आयकर विभाग द्वारा न हो कर किसी अन्य संस्था द्वारा हो। तीसरे वर्ग में केवल वही थोड़े से उद्योग लिये जायें जिनका चुनाव सरकार समय-समय पर राष्ट्रीय महत्व की दृष्टि से करती रहे। कमीशन की सिफारिश थी कि पहले वर्ग के उद्योगों को जो अभी तक लाभ दिया जा रहा है वही भविष्य में भी दिया जाये, अर्थात् बिना बाँटे हुए लाभों पर १ आना प्रति रुपये की दर से कटौती। दूसरे वर्ग के उद्योगों को एक विकास कटौती (Development Rebate) की सुविधा प्रदान की जाये। इस वर्ग की सभी कम्पनियों को यह सुविधा स्थायी पूंजी की वस्तुएँ खरीदने के लिये दी जानी चाहिये और तीसरे वर्ग में चुने हुए उद्योगों में स्थापित होने वाली नई कम्पनियों से उत्पादन आरम्भ होने वाले वर्ष से ६ वर्षों तक कोई भी कर नहीं लिया जाये। इसके बाद ५ वर्षों तक साधारणतया घिसावट या दुगने तक की कटौती की सुविधा दी जाये। इन रियायतों के प्रभावों का हर ५ वर्षों के बाद अध्ययन किया जाय और जो भी स्थिति हो उसे भारतीय संसद के सामने रक्खा जाये। इन सब सुझावों से उद्योगों को मशीनें आदि खरीदने के लिये मशीनों की कुल लागतों का २५% तक का एक विकास कटौती का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

कर जाँच आयोग ने आयकर विभाग की प्रशासन सम्बन्धी कुशलता को बढ़ाने के लिये भी अपने सुझाव दिये थे। कमीशन का सुझाव था कि आयकर

विभाग के अफसरों को जनता के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिये और कर भुगतान की राशि निर्धारित करने में तथा प्राप्त किये हुए धन को लौटाने में अनावश्यक देरी नहीं करनी चाहिये इत्यादि इत्यादि। उनका प्रस्ताव था कि इस काम के लिये विशेष अफसर नियुक्त किये जाय।

पिछले कुछ वर्षों में आयकर से प्राप्त आय की राशि इस प्रकार है —

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आय	वर्ष	आय	वर्ष	आय
सन १९५१–५२	१४६ १८	सन १९५४–५५	१२२ २६	सन १९५७–५८	१५५ ६०
१९५२–५३	१४१ ४३	१९५५–५६	१३१ ३५	१९५८–५९	१६१ ५०
१९५३–५४	१२२ ८४	१९५६–५७	१५१ ७४		

आयकर की चोरी भारत के लिए कोई अनोखी बात नहीं है। यह तो प्राय सभी देशों में प्रचलित है। कर जाँच आयोग के अनुसार यह चोरी लगभग ३० और ४० करोड़ रुपये का होती होगी। परन्तु प्रो० कलडौर का अनुमान था कि भारत में २०० से ३०० करोड़ रुपया के बीच में आय कर की चोरी की जाती है। कुछ भी हो इतना अवश्य है कि आय कर की चोरी की जाती है और इस चोरी को रोकना आवश्यक है क्योंकि इससे केवल सरकारी आय ही कम नहीं होती बल्कि ईमानदार कर दाताओं पर कर का भार भी अधिक हो जाता है। कर जाँच आयोग ने इसको रोकने के लिए बहुत सी रीतियां बताई हैं जिनमें से एक यह भी है कि एक आय कर पूछ ताछ आयोग जैसी स्थायी संस्था स्थापित की जाय जिसका अध्यक्ष हाईकोर्ट के जज से नीची हैसियत का व्यक्ति न हो। इसने यह भी सुझाव दिया कि आयकर निरीक्षकों को अधिक शक्ति प्रदान की जाए ताकि वे व्यापारियों के दफ्तरों पर छापा मार सकें और उचित आयकर सम्बन्धी कागजों को बरामद कर सकें।

कारपोरेशन कर — कम्पनियों की आय पर जो अतिकर (Super Tax) लगता है उसे कारपोरेशन कर कहते हैं। आजकल कम्पनियों पर अतिकर की दर कुल आय पर ५०% है। इसके ऊपर कोई अतिरिक्त कर (Surcharge) नहीं लिया जाता है। कुछ शर्तें पूरा कर लेने पर कटौतियां भी दी जाती हैं। कर जाँच आयोग के अनुसार कारपोरेशन कर की दरें इस प्रकार हैं —प्रथम २५००० रुपया पर एक आना प्रति रुपया और शेष आय पर २ आने ६ पाई प्रति रुपया। इस कर से सन् १९५७–५८ में ५०½ करोड़ रुपए प्राप्त हुए थे और सन १९५८–५९ में ५५½ करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा थी।

अधिक लाभ कर (Excess Profit Tax)— सन १९४० में एक अधिक लाभ कर लागू किया गया था। इसके अनुसार सामान्य वर्षों की अपेक्षा प्राप्त होने वाले अधिक लाभों पर ५०% की दर से कर लिया जाता था। सरकार ने सन १९३५–३६ या सन १९३६–३७ या सन १९३५–३६ से सन १९३७–३८ का औसत या सन् १९३६–३७ व १९३७–३८ के औसत—को अधिक लाभ का अनुमान लगाने

के लिय सामान्य काल घोषित कर दिय थ और व्यापारियो को यह स्वतन्त्रता थी कि वे इन अवधियों से जिसको चाह चुन ल। सन १६४१ म कर की दर को बढाकर ६६⅔% कर दिया गया था। सन १६४२ म यह घोषित किया कि यदि कोइ व्यक्ति कर के अतिरिक्त अपन लाभा का १३⅓ भाग सरकार के पास जमा करा देगा तो सरकार उस पर अपनी ओर से अधिक लाभों का ६⅔% देगी और यह दोना (अर्थात १३⅓% व्यापारियो द्वारा दिया हुआ और ६⅔% सरकार का अन्दान) युद्ध के बाद वापिस कर दिय जायेंगे। साथ ही करदाता जो धन राशि जमा करेगा उस पर २% की दर से सूद भी दिया जाएगा। सन १६४३ म जमा करने की योजना को अनिवार्य घोषित कर दिया गया और अन्त म एक ऐसी अवस्था पहुँची जबकि कम्पनियो का कुल अधिक लाभ किसी न किसी कर के रूप म सरकारी खजानों म जमा होने लगा यद्यपि इसका कुछ भाग युद्ध के बाद लौटाया जाना था। यह कर केवल युद्ध के वर्षो म ही लागू किया गया था और इसलिए सन १६४६ म युद्ध समाप्त होने ही इसको भी समाप्त कर दिया गया।

सन १६४७ म श्री लियाकत अली खा ने व्यापारिक लाभो पर कर लगा दिया था परन्तु यह भी सन १६५० म समाप्त कर दिया गया।

प्रो० कलडौर ने भारतीय कर प्रणाली पर अपने सुधार सम्बन्धी विचार प्रकट करते हुए यह प्रस्ताव दिया था कि भारत म आय कर और अति कर के स्थान पर केवल आय कर ही लागू किया जाय जो व्यक्तियो और साझेदारो इत्यादि के लिये २५ ०००) रुपया की वार्षिक आय तक प्रगतिशील हो और उसके ऊपर का सभी आयो पर कर ७ आने प्रति रुपए की दर म समान हो। इस प्रकार कर का सबसे ऊँचा दर ४५% होगा। प्रो० कलडौर का प्रस्ताव था कि कम्पनियो पर वर्तमान आय कर और कारपोरेशन कर के स्थान पर केवल एक ही कर उनकी कुल आय पर लगाया जाय जिसकी दर प्रत्येक आयो के लिए ७ आने प्रति रुपया हो। प्रो० कलडौर के यह प्रस्ताव उनके द्वारा प्रस्तुत की गई करारोपण की समुचित योजना का ही एक मुख्य अग था। परन्तु जब कि सरकार ने उनके द्वारा प्रस्तावित सभी नये करो को लागू कर दिया है आय कर की दरो को अभी तक कम नही किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि आय कर की दरो को कम करने से जो आय की हानि होगी वह नये करो द्वारा पूरी नही हो सकेगी। इसके अतिरिक्त प्रो० कलडौर की समुचित योजना के अनुसार सारे करो (पूँजी लाभ कर, वार्षिक धन कर व्यय कर और उपहार कर) से सम्बन्धित हिसाब किताब एक साथ ही देना पडेगा। परन्तु क्योकि यह सब होना इतनी जल्दी सम्भव नही था इसलिय प्रो० कलडौर द्वारा प्रस्तुत आय कर सम्बन्धी सुझावो की ओर अभी तक कोई भी ध्यान नही दिया गया। आशा है कि तीसरी पचवर्षीय योजना के अन्त तक कर प्रणाली को प्रो० कलडौर के प्रस्तावों के अनुसार सुधारा जावेगा।

अध्याय १६

संघ सरकार की आय के स्रोत (क्रमशः)–

सम्पत्ति करारोपण–(मृत्यु-कर)

Sources of Revenue of the Union Government (Contd.)—

Property Taxation—(Death-Duties)

प्राक्कथन—

आजकल पूंजीगत वस्तुओं पर कर लगाने की प्रथा सामान्य रूप से संसार के प्रत्येक देश में ही प्रचलित है। आर्थिक शब्दों में पूँजी धन के उस भाग को कहते हैं जो अधिक धन की उत्पत्ति करता है अर्थात मशीनें इत्यादि। परन्तु करारोपण की दृष्टि से पूंजी शब्द का अर्थ काफी विस्तृत है और इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की वस्तुओं के बिन बिके कोषों (Stock) को सम्मिलित किया जाता है। इसके अन्तर्गत अचल सम्पत्ति जैसे भूमि तथा इमारत और चल सम्पत्ति जैसे फरनीचर, जेवर आदि प्रतिभूतियां (Securities) और मुद्रा सम्मिलित होती हैं।

प्राचीन समय से ही यह एक विवादग्रस्त विषय चला आ रहा है कि पूंजी पर कर लगाया जाय या नहीं। प्राचीन लेखकों का कुछ ऐसा विचार था कि पूंजी की अपेक्षा आय पर कर लगाना अधिक लाभप्रद होगा क्योंकि पूंजी कर एक तो उपस्थित पूंजी की मात्रा को कम कर देता है और दूसरे भविष्य में पूंजी के विकास में बाधा उत्पन्न करता है। परन्तु कुछ लेखकों का विचार है कि पूंजी कर हानिकारक नहीं होता है क्योंकि यह अन्य करों की भांति समाज की चालू उत्पत्ति में से ही दिया जाता है।[1] परन्तु क्योंकि चालू उत्पत्ति का कुछ भाग बचतों में चला जाता है और कुछ भाग उपभोग में आता है इसलिए प्रश्न यह है कि पूंजी कर का भुगतान कुल उत्पत्ति के बचता वाले भाग में से होगा या उस भाग में से जिसका उपयोग उपभोग कार्यों में होता है, यह कई बातों पर निर्भर करेगा, जैसे कर की प्रकृति अर्थात् कर बार बार उत्पन्न होने वाला है या केवल एक बार ही उत्पन्न होने वाला है, करदाता की मनोवृत्ति इत्यादि। यदि कर का भुगतान केवल एक बार ही करना है तो वह बचतों में से किया जा सकता है और यदि कर का भुगतान बार बार होना है तो भविष्य में करदाता की आय सम्बन्धी मांग पर निर्भर करेगा। यदि आय सम्बन्धी

1 Pigou *Economics of Welfare* Page 20

मांग लोचपूर्ण है तो बचतों में से भुगतान किया जायगा अन्यथा उपभोग को कम करके कर का भुगतान किया जायगा। प्राचीन लेखकों का यह विचार, कि सम्पत्ति कर उत्पादन को कम करेगा उचित नहीं है क्योंकि उत्पादन विनियोगों द्वारा प्रोत्साहित होता है और सम्पत्ति कर केवल बचतों को ही निरुत्साहित करता है। इसलिये उत्पादन पर कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा।

व्यक्तियों की कर दान योग्यता को आकने के लिए भी सम्पत्ति केवल आय को छोड़कर अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक अच्छा आधार है, क्योंकि सम्पत्ति से करदाताओं की तुलनात्मक आर्थिक शक्ति का अनुमान भली भांति लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति कर द्वारा समाज में धन के वितरण को अधिक सामान्य किया जा सकता है। अधिकतर देशों में जो सम्पत्ति कर लगाये गये हैं उनमें मुख्य मृत्यु कर, पूँजीगत वस्तुओं पर कर, धन पर कर और उपहार कर हैं। हम इनमें से प्रत्येक का वर्णन निम्न पृष्ठों में करेंगे —

मृत्यु कर—

मृत्यु कर वह कर है जो मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाया जाता है। अत यह कर मृतक व्यक्तियों के उत्तराधिकारियों से प्राप्त किया जाता है। इस कर के साधारणतया दो रूप होते हैं। प्रथम भू-सम्पत्ति कर (Estate duty) और दूसरा उत्तराधिकार कर। भू-सम्पत्ति कर मृतक व्यक्ति द्वारा छोड़ी गई कुल सम्पत्ति चल हो या अचल के उत्तराधिकारियों में बाट जाने से पहले ही कर वसूल कर लिया जाता है। इसमें इस बात को कोई *महत्त्व नहीं दिया जाता कि मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति किसको प्राप्त हो रही है,* इस व्यक्ति का मृतक व्यक्ति से क्या सम्बन्ध है इत्यादि। दूसरी ओर उत्तराधिकार कर में मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति का बटवारा हो जाने के बाद सम्पत्ति प्राप्त करने वाले उत्तराधिकारियों पर अलग अलग कर लगाया जाता है। अत इसमें केवल यही नहीं देखा जाता कि किसी विशेष उत्तराधिकारी को कितनी सम्पत्ति मिली है वरन यह भी देखा जाता है कि सम्पत्ति प्राप्त करने वाले व्यक्ति का मृतक व्यक्ति से कैसा सम्बन्ध है—निकट का या दूर का उत्तराधिकारी की अपनी निजी सम्पत्ति तथा प्राप्त की हुई सम्पत्ति का सामूहिक मूल्य क्या है इत्यादि। व्यवहार में उत्तराधिकारी का सम्बन्ध मृतक व्यक्ति से जितना दूर का होता है उतनी ही कर की दर अधिक होती है और जितना निकट का होता है उतनी ही कम होती है। प्रबन्ध के दृष्टिकोण से मृत्यु कर का पहला रूप दूसरे की अपेक्षा अधिक सरल तथा मितव्ययी होता है। साथ ही साथ उत्पादक भी अधिक होता है। कारण यह है कि उत्तराधिकार कर में सम्पत्ति के हिस्सों का मूल्य निर्धारित करने तथा उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में पूछताछ करने में अधिक व्यय होता है और कर की दरें निश्चित करने में भी अधिक मनमाने ढंग से काम लिया जाता है। साथ ही साथ उत्तराधिकार कर में करदान योग्यता को अधिक महत्त्व दिया जाता है जिसका सही रूप से पता लगाना मामूली काम नहीं

लेती है इसलिये उसको अधिकार है कि वह सभी जायदादो के वितरण मे से हिस्सा प्राप्त करे।[3] अत मृत्यु कर न्यायसगत है। परन्तु इस सिद्धान्त के आधार पर आधुनिक मृत्यु करारोपण को उचित सिद्ध करना ठीक न होगा। प्रथम, जिस प्रकार यह सिद्धान्त मृत्यु कर के सम्बन्ध मे लागू किया जाता है उसी प्रकार यह आय कर के सम्बन्ध मे भी लागू किया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जब किसी देश मे आय कर लागू कर दिया गया है तो उसके साथ-साथ मृत्यु कर नही लगाया जा सकता। परन्तु व्यवहार मे ऐसा नही होता। यदि ऐसा किया जाये तो आधुनिक सरकारो को पर्याप्त आय भी प्राप्त नही होगी। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने मे एक कठिनाई यह भी है कि छोटी बडी सभी जायदादो के हस्तान्तरण पर कर लागू किया जाये। क्योकि सरकार सभी प्रकार की जायदादो की उत्पत्ति मे सहायता करती है। इस प्रकार यह समझ मे नही आता कि यह सिद्धान्त, मृत्यु कर की प्रगतिशीलता और छोटी जायदादो के कर मुक्त रहने के तथ्यो का स्पष्टीकरण किस प्रकार करता है। साथ ही यह इस को भी स्पष्ट करने मे असमर्थ रहता है कि जब सरकार व्यापारिक लाभो मे से हिस्सा बटाती है तो व्यापारिक हानियो मे हिस्सेदार क्यो नही होती।[4]

(३) **पिछला-कर सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के प्रतिपादको का विश्वास है कि मृत्यु कर एक ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा उन करो को एकत्रित कर लिया जाता है जिनका भुगतान मृतक व्यक्ति ने अपने जीवनकाल मे नही किया था।[5] इस सिद्धान्त को स्वीकार करने मे पहली कठिनाई तो यह है कि यह कैसे निश्चित किया जाये कि उपस्थित जायदाद का कितना भाग पिछले करो के भुगतान न करने के कारण जमा हुआ है। इसके अतिरिक्त यदि मृत्युकर केवल चोरी किये गये करो को एकत्रित करने का एक साधन मात्र है, तो फिर यह सम्पूर्ण जायदाद और सभी प्रकार की सम्पत्तियो पर क्यो लगाया जाता है? यह केवल उसी सम्पत्ति पर क्यो नही लगाया जाता जो करो की चोरी के कारण उत्पन्न हुई है। यह सोचना भी मूर्खता है कि इतनी बडी सम्पत्ति करो की चोरी करके जमा की जा सकती है और यह भी अनुमान इसलिये उचित नही है कि सम्पत्ति का होना इस बात का प्रमाण है कि भूतकाल मे करो की चोरी की गई थी।[6]

(४) **करदान योग्यता सिद्धान्त**—बहुधा मृत्यु कर का समर्थन इस आधार पर किया गया है कि यह कर व्यक्तियो की करदान योग्यता के सिद्धान्त के अनुकूल है। यह सिद्धान्त इस बात की ओर ध्यान दिलाता है कि व्यक्तियो मे अन्य करो के भुगतान करने की योग्यता म सम्पत्ति के हस्तातरण से जो अतिरिक्त करदान योग्यता

3 Seligman *Essays in Taxation*, 1913, P. 129.
4 Philipe. E Taylor *Op. cit*. P 496.
5 Seligman *Op. cit*, P, 135
6. Philipe E. Taylor *Op cit.*, P. 497

उत्पन्न होती है उस योग्यता पर मृत्यु कर लगाया जाता है। दूसरे किसी व्यक्ति के अधिकार में सम्पत्ति होने की बात स्वयं यह सिद्ध करती है कि उसकी आर्थिक शक्ति उन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक है जिनके पास कोई भी सम्पत्ति नहीं है। इसलिये उनकी कर देने की योग्यता अधिक है। तीसरे, मृत्यु कर ऐसे समय पर एकत्रित किया जाता है जब कि व्यक्ति को सम्पत्ति प्राप्त होती है और उस व्यक्ति में उस समय कर का भुगतान करने की सामर्थ्य होती है। अन्त में मृत्यु कर, विशेष रूप से उत्तराधिकारी करों को प्रगतिशील बनाया जा सकता है और करभार का उचित वितरण किया जा सकता है।

योग्यता सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु करों की दरों को दो दिशाओं में प्रगतिशील बनाया जा सकता है। प्रथम जायदाद के आकार के विस्तार के अनुसार और दूसरे मृतक व्यक्ति और वारिसों के आपसी सम्बन्ध की दूरी के अनुसार। जायदाद के आकार के अनुसार दरों को प्रगतिशील निम्न प्रकार से बनाया जा सकता है —

(१) प्रथम, मृतक व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार, अर्थात् ऊँचे मूल्य वाली सम्पत्तियों पर ऊँची दर और कम मूल्य वाली सम्पत्तियों पर नीची दर और एक निश्चित सीमा से नीची सम्पत्ति को कर मुक्त करके। इस प्रकार की प्रगतिशीलता भू-सम्पत्ति कर (Estate Duty) में स्थापित की जाती है। परन्तु एक ही सम्पत्ति के विभिन्न वारिसों में कर की दर को प्रगतिशील नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि सम्पूर्ण सम्पत्ति का मूल्य एक साथ ही आँका जाता है और कर की राशि का बटवारा विभिन्न वारिसों में प्राप्त की हुई सम्पत्ति के अनुपात में कर दिया जाता है। इस प्रकार भू-सम्पत्ति कर अनुपातिक होता है।

(२) दूसरे, कर की दरों को वारिस विशेष द्वारा प्राप्त की गई सम्पत्ति के अनुसार प्रगतिशील बनाया जा सकता है। जिन वारिसों को बड़ी सम्पत्ति प्राप्त हो उन पर छोटी सम्पत्ति प्राप्त करने वालों की अपेक्षा ऊँची दर पर कर लगाया जाये। उत्तराधिकार कर की दरों में इसी प्रकार प्रगतिशीलता लाई जाती है। इस प्रकार के कर की प्रगतिशीलता अधिक न्याय सगत है, क्योंकि यह पूर्णरूप से करदान योग्यता के अनुकूल होती है। परन्तु जायदाद कर की अपेक्षा इस कर का प्रबन्ध करना सरल नहीं होता। कभी-कभी उत्तराधिकार कर को अधिक न्याय सगत बनाने के लिये उस सम्पत्ति को भी सम्मिलित कर लिया जाता है जो कि किसी व्यक्ति के पास उत्तराधिकार में प्राप्त हुई सम्पत्ति के पहले से उपस्थित थी। अतः किसी धनी व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली छोटी सी सम्पत्ति पर ऊँची दर से कर लगाया जा सकता है और कर को अधिक प्रगतिशील बनाया जा सकता है।

मृतक व्यक्ति और उत्तराधिकारी के आपसी सम्बन्धों की निकटता या दूरी के अनुसार भी मृत्युकर की दरों को प्रगतिशील बनाया जा सकता है। विभिन्न देशों में उत्तराधिकारों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। प्रथम वर्ग में प्रत्यक्ष उत्तराधिकारियों जैसे, पति अथवा पत्नी, बच्चे, माता, पिता, दादा अथवा दादी और पोता अथवा पोती। दूसरे वर्ग में अप्रत्यक्ष (Collateral) उत्तराधिकारी सम्मिलित

किये जाते हैं जैसे भाई, बहन, सम्बन्धित भाई बहन, चाचा, चाची, मामा, माई इत्यादि। और तीसरे वर्ग में वे सभी व्यक्ति सम्मिलित किये जाते हैं जिनका मृतक व्यक्ति से कोई खून का सम्बन्ध नही होता। प्रथम वर्ग के व्यक्तियो के सम्बन्ध में कर रहित सीमा ऊँची रहती है और कर की दर अपेक्षाकृत नीची होती है। दूसरे वर्ग के व्यक्तियों के लिये कर रहित सीमा नीची होती है और ऊँची प्रगतिशील दरें होती हैं और तीसरे वर्ग के व्यक्तियों के लिये न्यूनतम कर रहित मीमायें होती हैं और उच्चतम प्रगतिशील कर की दरें होती हैं।

अन्त मे मृत्यु कर को इस आधार पर भी प्रगतिशील बनाया जा सकता है कि एक ही सम्पत्ति कितने उत्तराधिकारियों के हाथो मे से निकल चुकी है। यदि कोई सम्पत्ति १० पुश्तो से उत्तराधिकारियो को प्राप्त होती चली आ रही है तो पुश्तों की संख्या बढने के साथ साथ मृत्यु कर की दर भी प्रगतिशील होती जायेगी।

(५) धन का पुर्नवितरण—मृत्यु कर मृत्यु के कारण होने वाले सम्पत्ति हस्तान्तरण के समय लगाये जाते हैं। स्वय सम्पत्ति ही कर का आधार होती है और कर की दर प्राय सम्पत्ति से प्राप्त होने वाली आय से अधिक होती है। इसलिए स्पष्ट ही है कि मृत्यु कर का उद्देश्य धन पर कर लगाना है। गत वर्षों में निजी सम्पत्ति के विरुद्ध काफी आलोचनाएँ हुई हैं। सबसे महत्वपूर्ण आलोचना यह है कि निजी सम्पत्ति के अधिकार मे धन और आय का वितरण बहुत असमान हो गया है, जिसके कारण सामाजिक कल्याण दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त अधिकतर सम्पत्ति उन व्यक्तियों द्वारा एकत्रित की गई है जिनको अधिक आय प्राप्त होती है परन्तु जिनकी उपभोग करने की प्रवृत्ति कम होती है। इसलिए लगभग सभी व्यक्ति इस बात से सहमत हैं कि निजी सम्पत्ति प्रणाली को नियन्त्रित करके दूर किया जाए। परम्परागत विचारधारा के अनुसार सरकार को धन का वितरण इसलिए भी समान करना चाहिये क्योंकि समाज के अधिकाश व्यक्ति पूर्ण रूप से निजी सम्पत्ति द्वारा ठुकरा दिये जाते हैं और उनका आर्थिक कल्याण नही हो पाता। इन व्यक्तियों के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि करने के लिये एक न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाये, काम के घण्टे कम कर दिय जाये, सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की जाये, आदि प्रस्ताव दिये गए हैं। पिछले वर्षों में आर्थिक आधारों पर भी आय की असमानताओं की आलोचना की गई है। नई विचारधारा के अनुसार व्यापार चक्रों की उत्पत्ति, उपभोग का नीचा स्तर और नीची राष्ट्रीय आय तथा बेरोजगारी, सभी बातें निजी सम्पत्ति के कारण उत्पन्न हुई हैं। निर्धनता केवल सामाजिक दृष्टिकोण से ही बुरी नही है वरन् आर्थिक दृष्टि से भी दोषपूर्ण है, क्योंकि नीचे जीवन स्तर द्वारा यह आर्थिक प्रगति में बाधक होती है। इस प्रकार आर्थिक प्रगति के लिये विनियोग और आय का स्तर ऊँचा होना चाहिए। यह उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि उपभोग का स्तर ऊँचा हो। यह एक नग्न सत्य है कि जब उपभोग का स्तर बढना बन्द हो जाता है तो बडी आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की बचतें सचित कोषों (Hoards) मे चली जाती हैं और आर्थिक प्रगति

स्थिर हो जाती है।[7]

उत्तराधिकारी प्रथा उन बहुत से कारणों में से एक कारण है जो धन की असमानताओं को जन्म देते हैं और धन की असमानताओं से आय की असमानतायें उत्पन्न होती हैं। उत्तराधिकारी प्रथा की बुराइयों को दूर करने की इच्छा से प्रेरित होकर ही जायदादों और सम्पत्तियों पर प्रगतिशील करारोपण की ओर ध्यान दिया गया है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मृत्यु करों के ही कारण उत्तराधिकारी प्रथा का अन्त हो जायगा। हाँ इतना अवश्य है कि आय की असमानताएँ कुछ सीमा तक अवश्य ही कम हो जायगी। धन के पुनर्वितरण के उद्देश्य और कर दान योग्यता के अनुसार करारोपण के उद्देश्य जिन दोनों पर मृत्यु कर आधारित है एक दूसरे से किसी प्रकार भी टकराते नहीं हैं। साधारणतया उत्तराधिकार में जितना अधिक प्राप्त होता है उतनी ही व्यक्ति की कर दान योग्यता बढ़ती है और सामान्य रूप से उत्तराधिकारी सम्पत्तियों पर प्रगतिशील दरों से कर लगाना कर दान योग्यता सिद्धान्त के भी अनुकूल है और साथ ही धन के असमान वितरण की बुराइयों को भी दूर करता है।

(६) मृत्यु कर और बचतें—बहुत बार यह कहा गया है कि मृत्यु कर देश में बचतों को निरुत्साहित करते हैं। परिणामस्वरूप देश में पूँजी का एकत्रीकरण कम होता जाता है। देश की बचतों पर मृत्यु कर द्वारा पड़ने वाले प्रभावों का दो दिशाओं में अध्ययन किया जा सकता है एक तो मृत्यु कर के प्रभाव देश में उपस्थित पूजी के स्टाकों पर और दूसरे मृत्यु कर के प्रभाव पूंजी के विकास एवं एकत्रीकरण पर।

कुछ लोगों का विचार है कि मृत्यु करों से देश की किसी समय विशेष पर उपस्थित पूंजी का ह्रास होता है। बहुत से व्यक्तियों को कर का भुगतान करने के लिए अपनी सम्पत्ति बेचनी पड़ती है। थोड़ा सा ध्यान देने पर यह जाना जा सकता है कि यह तर्क कितना खोखला है। अपनी दलील देते समय आलोचक यह भूल जाते हैं कि जबकि व्यक्तिगत अधिकार में सम्पत्ति की मात्रा कम हो जाती है उस समय देश की कुल पूँजी में कोई भी कमी नहीं आती है। जब कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति किसी दूसरे को बेचता है तो यह अवश्य है कि उसके अधिकार से सम्पत्ति निकल गई परन्तु वह पूंजी देश में ही रही। केवल स्वामित्व व अधिकार के हस्तान्तरण से ही पूँजी नष्ट नहीं हो जाती। इसलिए यह कहना कि मृत्यु कर देश की पूंजी में कमी करते हैं अनुचित है। मृत्यु करों से देश की पूंजी तो पहले ही जैसी रहती है परन्तु व्यक्तिगत अधिकारों में पूंजी की मात्रा अवश्य कम हो जाती है और यही तो मृत्यु कर का उद्देश्य भी है। वास्तव में इस विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोगों ने धन और धन के स्वामित्व को एक ही समझ लिया है[8] और यही इनकी त्रुटि है।

---

7 Philips E Taylor Op cit P 501

8 Ibid Page 502

मृत्यु कर की इस आधार पर भी आलोचना की गई है कि इससे भविष्य मे पूंजी का एकत्रीकरण निरुत्साहित होता है। इन लोगो के अनुसार जो धन राशि कर के भुगतान मे दी जाती है यदि मृत्यु कर न लगे तो वही बचाई जाती और पूंजी का एत्रीकरण होता। यह विचार भी पूर्णतया सत्य नही है। क्योकि इसका क्या प्रमाण है कि जो धन राशि कर के रूप में दी जाती है वह कर न लगने पर बच ही जाती। वास्तव में इस धन राशि का कुछ भाग तो उपभोग में खर्च हो जाता और कुछ बचाया जाता। इसके अतिरिक्त करो से प्राप्त आय को सरकार निरर्थक कार्यो पर व्यय नही करती। आजकल सरकार का अधिकाश व्यय पूंजीगत योजनाओ पर होता है और परिणामस्वरूप जो धन व्यक्तियो से इकट्ठा किया गया है उसको केवल देश मे पूंजी की मात्रा को बढाने के ही काम मे लाया जाता है। इस प्रकार मृत्यु कर से देश म पूंजी की मात्रा किसी प्रकार भी कम नही होती। मृत्यु कर व्यक्तियो की बचाने की इच्छा पर मनोवैज्ञानिक परिवर्तनो द्वारा भी प्रभाव डाल सकता है। यह भी सर्वथा सत्य नही होता। किसी व्यक्ति विशेष के बचाने की इच्छा पर किस सीमा तक बुरा प्रभाव उत्पन्न होगा इस बात पर निर्भर करता है कि भावी आय के लिए उसकी मांग की लोच कैसी है। यदि किसी व्यक्ति की मांग को लोच भावी आय के लिए कम है तो उसके बचत करने की इच्छा गिरने के स्थान पर बढ जायेगी अर्थात् यदि व्यक्ति की यह इच्छा है कि वह अपनी मृत्यु के बाद एक निश्चित आय देने वाली एक निश्चित आकार की सम्पत्ति छोडे तब वह मृत्यु कर लगने के बाद अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए पहले से अधिक बचायेगा। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्तियो की आदत ही बचाने की होती है और जो मृत्यु कर की तनिक भी चिन्ता नही करते। इस प्रकार मृत्यु कर बचतो को बहुत अधिक निरुत्साहित नही करता। परन्तु उन व्यक्तियो की बचत करने की इच्छा अवश्य ही कम हो जाती है जितनी भावी आय की माग की लोच ऊँची होती है। परन्तु इन व्यक्तियो की बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव न पडने देने के लिए प्रो० रिगनानो ने अपनी योजना प्रस्तुत की है जिसका वर्णन निम्नांकित है —

रिगनानो योजना[9]
(Rignano's Plan)—

रिगनानो एक इटेलियन अर्थशास्त्री था जिसने मृत्यु करो का दो दृष्टिकोणो से अध्ययन किया था। प्रथम, बचत करने की इच्छा पर पडने वाले बुरे प्रभाव और दूसरे, धन के वितरण पर पडने वाले प्रभाव के दृष्टिकोणो से। रिगनाना ने मृत्यु करो के लिए एक ऐसी याजना प्रस्तुत की है जिसके द्वारा तीन पीढियो के अन्दर ही सम्पत्ति पूर्णतया सरकार के अधिकार मे आ जाती है। उनका मत है कि सम्पत्ति के हर अगले हस्तान्तरण के साथ-साथ मृत्यु कर की दर भी बढती जानी चाहिए। इस योजना के अनुसार यदि 'अ' ने अपनी सम्पत्ति स्वय अपनी मेहनत से बचाई है तो उसकी मृत्यु के

9 Cf. Rignano. *The Social Significance of Death Duties.*

पश्चात 'ब' को, जो 'अ' का उत्तराधिकारी है, 'अ' की सम्पत्ति का केवल दो तिहाई मिलना चाहिए और शेष एक तिहाई सरकार को ले लेना चाहिए। 'ब' इस सम्पत्ति को अपने प्रयत्नों से बढ़ा सकता है परन्तु 'ब' की मृत्यु पर 'स' को उत्तराधिकार में जो 'ब' की सम्पत्ति प्राप्त होती है उसमें से 'अ' की सम्पत्ति (जो 'ब' को प्राप्त हुई थी) दो तिहाई सरकार को ले लेनी चाहिए और जो सम्पत्ति 'ब' ने स्वयं अपने प्रयत्नों से उत्पन्न की थी उसका केवल एक तिहाई भाग सरकार को लेना चाहिए। इसी प्रकार 'स' की मृत्यु के पश्चात 'अ' वाली शेष सारी सम्पत्ति सरकार को ले लेनी चाहिए, 'ब' वाली सम्पत्ति का दो तिहाई भाग और यदि 'स' ने स्वयं कोई सम्पत्ति उत्पन्न की है तो उसका एक तिहाई भाग सरकार को ले लेना चाहिए। इस प्रकार तीन पीढ़ियों बाद एक व्यक्ति की उत्पन्न की हुई सम्पत्ति सरकार के हाथ में पहुँच जायेगी।

रिगनानो योजना पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—रिगनानो योजना के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। पहले हम योजना के औचित्य पर ध्यान देंगे तत्पश्चात् योजना की बुराइयों की विवेचना करेंगे —

रिगनानो योजना में सबसे पहली अच्छी बात यह है कि इसमें सम्पत्ति को उत्पन्न करने और एकत्रित करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि स्वयं उत्पन्न की हुई सम्पत्ति का केवल एक तिहाई भाग ही सरकार को मृत्यु कर के रूप में प्राप्त होता है। परन्तु जो सम्पत्ति पुरानी है और एक उत्तराधिकारी से दूसरे को और दूसरे से तीसरे को मिलती जाती है उसमें से सरकार दो तिहाई भाग लेती है। साधारणतया मनुष्य की यह मनोवृत्ति भी होती है, कि वह दूसरे से प्राप्त की हुई वस्तु को अधिक महत्व नहीं देता इसलिए उसको उत्तराधिकार में प्राप्त की हुई सम्पत्ति का अधिक भाग मृत्यु कर के रूप में देने में कोई भी आपत्ति न होगी। इस प्रकार पूंजी का एकत्रीकरण निरुत्साहित नहीं होगा। दूसरे योजना एक मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित है। मनुष्य प्रकृति से ही दूर के सम्बन्धियों से उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली सम्पत्तियों के लिये चिन्ता नहीं करता और उनके बारे में सोचता तक नहीं है। इस कारण यदि निकट सम्बन्धियों को उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर कम मृत्यु कर लगाया जाय और दूर के सम्बन्धियों की चाहे पूरी ही सम्पत्ति ले ली जाय तो इसका सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले की इच्छा तथा शक्ति पर कोई भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा। तीसरे, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से रिगनानो ने अपनी योजना में यह भी स्वीकार किया है कि सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार है और एक निश्चित अवधि के बाद सारी सम्पत्ति सरकार के ही पास जानी चाहिये। इस प्रकार रिगनानो निजी सम्पत्ति की प्रथा को क्रान्तिकारी ढंग से समाप्त नहीं करना चाहता बल्कि वह उसका अन्त धीरे धीरे करना चाहता है। अन्त में रिगनानो ने स्वयं अपनी योजना के बारे में बताते हुए कहा है कि उनकी योजना में सम्पत्ति उत्पन्न करने तथा एकत्रित करने को प्रोत्साहन देने की ओर काफी ध्यान दिया गया है। क्योंकि पहले उत्तराधिकारी को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई सम्पत्ति का अधिक भाग नहीं लिया जाता इसलिए हर व्यक्ति इस बात की चेष्टा करेगा कि वह सम्पत्ति

को इतना एकत्रित कर ले कि उसके उत्तराधिकारी का जीवन स्तर ठीक रहे और उसको मृत्यु कर से कोई हानि न हो।

रिगनानो योजना के मुख्य दोष निम्न प्रकार बताये गये है :—

प्रथम, कुछ व्यक्तियो का विश्वास है कि रिगनानो योजना अव्यवहारिक है। एक तो सम्पत्ति का मूल्य पता लगाना ही सरल नही है और दूसरे इसके प्रशासन मे अनेको प्रकार की कठिनाइया उत्पन्न होगी। यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि इग्लैंड की आय समिति के विचार मे यह योजना अव्यवहारिक नही है। दूसरे, कुछ लोगो ने यह भी बताया है कि यदि कोई व्यक्ति यह जानता है कि उसके मरने के बाद उसकी सारी सम्पत्ति सरकार के पास चली जायेगी तो वह एक तो सम्पत्ति बचाने का प्रयत्न ही नही करेगा और दूसरे जो कुछ सम्पत्ति उसने बचा भी ली है तो उसको अपने जीवन काल मे ही समाप्त करने का प्रयत्न करेगा। अत योजना का उद्देश्य ही पराजित हो जायेगा। इस कमी को दूर करने की दृष्टि से डाल्टन ने रिगनानो योजना को सशोधित करने के लिये अपना एक सुझाव दिया है। उनके अनुसार जब कोई सम्पत्ति किसी ऐसे व्यक्ति को उत्तराधिकार मे प्राप्त हुई है जिसका कोई उत्तराधिकारी नही है तो सरकार को चाहिये कि वह उस व्यक्ति की सारी सम्पत्ति उसके जीवन काल में ही ले ले और उसके बदले मे उसके लिये वार्षिक वृत्ति (Annuity) निश्चित कर दे। तीसरे, कुछ व्यक्ति इस योजना का बहिष्कार नैतिकता के आधार पर भी करते हैं। उनका कहना है कि कोई भी मनुष्य अपनी सम्पत्ति इसलिये एकत्रित नही करता है कि मृत्यु के पश्चात उसके उत्तराधिकारियों को उसकी मेहनत से लाभ उठाने का अवसर भी प्राप्त न हो। हर व्यक्ति यही प्रयत्न करता है कि उसके द्वारा बचाई हुई सम्पत्ति की सहायता से उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अच्छा जीवन व्यतीत कर सकें। यदि सरकार मृत्यु कर के रूप मे उस सम्पत्ति को हडप कर लेती है तो मृतक व्यक्ति तथा उसके उत्तराधिकारियों के प्रति घोर अन्याय होगा। वास्तव मे यह आलोचना रिगनानो योजना के विरुद्ध ही नहीं है बल्कि मृत्यु करो के विरुद्ध है।

आश्चर्य की बात है कि अभी तक किसी भी देश मे रिगनानो योजना को व्यवहारिक रूप प्रदान नही किया गया है।

इस प्रकार, जहाँ तक उत्तराधिकारियो की मनोवृत्ति का सम्बन्ध है मृत्यु कर उनमें काम करने और बचत करने की इच्छा को बढाते ही हैं। क्योकि एक तो यह जानते है कि उत्तराधिकार मे प्राप्त होने वाली सारी सम्पत्ति उन्हे नही मिलेगी, क्योकि कुछ सम्पत्ति कर के रूप मे सरकार को दे दी जायेगी, इसलिए उन्हे अधिक काम करने और बचत करने के लिए प्रेरणा मिलती है। मृत्यु कर के अभाव मे उनको सारी सम्पत्ति प्राप्त होने का विश्वास होने के कारण वह काम करने और बचाने की चेष्टा नही करेंगे। इस प्रकार सामान्य रूप से हम कह सकते है कि मृत्यु करो का व्यक्तियो की बचत करने पर बुरा प्रभाव नही पडता। सच तो यह है कि आय कर की अपेक्षा मृत्यु कर, करारोपण का एक अच्छा रूप है।

मृत्यु कर का भार—कर भार के सम्बन्ध में वैसे तो बहुत से सिद्धान्त है, परन्तु मृत्यु कर के सम्बन्ध में अधिक स्वीकृत सिद्धान्त यह है कि, मृत्यु कर का भार उत्तराधिकारियों पर पड़ना चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार क्योंकि कर सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले की मृत्यु के बाद लगाया जाता है और इकट्ठा किया जाता है और मृतक व्यक्ति कर भार को सहन नहीं कर सकता, और क्योंकि उत्तराधिकारी से आगे कर भार को डालने की कोई विधि नहीं है, इसलिए कर का सारा भार उत्तराधिकारी को ही सहन करना पड़ता है। मृतक व्यक्ति की इच्छानुसार कुल सम्पत्ति कर का भुगतान करने के बाद उत्तराधिकारियों में बाटने के लिये उपलब्ध हो जाती है। यदि इस सम्पत्ति पर कोई भी कर नहीं लिया जाता तो प्रत्येक उत्तराधिकारी के हिस्से में वृद्धि हो जाती। इसलिए यह तो स्पष्ट ही है कि उत्तराधिकारी कर का भुगतान अपने अपने हिस्सा में से करते हैं।

इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में कोई भी कठिनाई न होती यदि यह मान सकते कि सम्पत्ति उत्पन्न करने वाले एक तो मृत्यु कर की ओर कोई ध्यान ही नहीं देते और दूसरे अपने जीवन काल में सम्पत्ति बनाने के लिए जो कुछ भी बचा पाते हैं, निरन्तर बचाते रहते हैं। व्यवहार में अनेकों उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिनमे यह सिद्ध हो जाता है कि सम्पत्ति एकत्रित करने पर मृत्यु कर का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। समाज में कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जो मृत्यु कर के बारे में पूर्णतया अनजान होते हैं और जिनका एक निश्चित आकार की सम्पत्ति जमा करने का उद्देश्य होता है और वह इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपने निर्भरकर्त्ताओं की ओर अपने कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में निरन्तर सोचते रहते हैं और उनके लिए अधिक सम्पत्ति बनाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति अपनी इच्छाओं का दमन करते है और वास्तव में जितना वह बचा सकते हैं बचाते हैं और मृत्यु कर के भार से सम्पत्ति का आकार कम नहीं हो पाता। ऐसी स्थितियों में कर का केवल एक ही प्रभाव होता है वह भी यह कि कर का भुगतान उत्तराधिकारियों के हिस्से में से होता है।

बहुत से उदाहरणों में यह भी देखने में आया है कि सम्पत्ति एकत्रित करने का कार्यक्रम मृत्यु कर की पूर्व आशा (Anticipation) पर निर्भर करता है। यदि सम्पत्ति उत्पन्न करने का उद्देश्य यह है कि उत्तराधिकारियों को कर भुगतान करने के बाद एक निश्चित आकार की सम्पत्ति प्राप्त हो तब यह सोचना उचित ही होगा *कि मृतक व्यक्ति ने अपने जीवन काल में उस स्थिति की अपेक्षा अधिक बचाया है* जबकि मृत्यु कर नहीं था। मृतक व्यक्ति ने अपने उत्तराधिकारी के लिये केवल सम्पत्ति ही एकत्रित नहीं की बल्कि कर भुगतान करने की भी व्यवस्था की। अतः कर भार मृतक व्यक्ति पर ही रहा। इसलिये यह कहना पूर्णतया सत्य नहीं है कि कर भार मृतक व्यक्ति पर नहीं पड़ता। इस प्रकार सरलता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मृत्यु कर का भार मृतक व्यक्ति और उत्तराधिकारी दोनों पर ही पड़ता है। परन्तु मृत्यु कर का भार निश्चित करना कोई सरल बात नहीं है और

वास्तव में भार किस व्यक्ति पर पडा है पूँछ-ताँछ करके यह निश्चित करना भी सम्भव नही है।[10] सक्षेप मे मृत्यु कर के भार के सम्बन्ध मे हम कह सकते है कि मृत्यु कर का भार सम्पत्ति एकत्रित करने वाले व्यक्ति या उसके उत्तराधिकारी, या दोनो पर ही पडता है। यदि कर भुगतान की पूर्व आशा से सम्पत्ति एकत्रित करने की गति पहले से अधिक तीव्र हो जाती है तब मृत्यु कर का भार सम्पत्ति बचाने वाले पर पडता है। यदि सम्पत्ति उतनी ही है जितनी कि मृत्यु कर की अनुपस्थिति मे होती तब मृत्यु कर का भार उत्तराधिकारियो पर पडता। जब सम्पत्ति बचाने वाले को मृत्यु कर की पूर्व आशा तो हो जाती है परन्तु वह उसका उचित प्रबन्ध नही कर पाता है तो मृत्यु कर का भार दोनो को ही अर्थात् सम्पत्ति बचाने वाल और उत्तराधिकारी, को ही सहन करना पडता है। अत मृत्यु कर के भार को सहन करने की बात पूर्णतया सम्पत्ति बचाने वाले की इच्छा पर निर्भर करती है।

मृत्यु कर के पक्ष और विपक्ष में एक सक्षिप्त अध्ययन—उपर्युक्त विवरण के पश्चात् हम इस स्थिति मे है कि मृत्यु कर के पक्ष एव विपक्ष में कुछ कह सकें। मृत्यु कर के पक्ष मे निम्न तर्क दिय जाते हैं —

१ मृत्यु कर का भार किसी दूसरे व्यक्ति पर नही टाला जा सकता और इस प्रकार उन्ही व्यक्तियो पर पडता है जिन पर भार डालने का उद्देश्य होता है, अर्थात् उन व्यक्तियो पर जिनके पास बडी सम्पत्ति होती है। वास्तव मे यह सही भी है क्योकि चाहे कर भार उत्तराधिकारी पर पडे या सम्पत्ति एकत्रित करने वाले पर पडे, दोनो ही, धनवान व्यक्ति होते हैं। इस प्रकार यह कर न्यायपूर्ण है।

२ दूसरे, मृत्यु करो द्वारा धन के वितरण की असमानताये सरलता से कम की जा सकती है। इसके विषय में हम ऊपर काफी कह चुके है।

३ तीसरे, मृत्यु कर एक उत्पादक कर है।

४ मृत्यु कर कर-दान योग्यता सिद्धान्त के अनुकूल है। यह उन्ही व्यक्तियो पर लगाये जाते हैं और ऐसे समय पर एकत्रित किये जाते है जबकि उनमे करदान योग्यता होती है।

मृत्यु कर के विपक्ष में निम्न तर्क दिये जाते है —

१ यह कर देश मे पूँजी के सचय को हतोत्साहित करते हैं। परिणामत देश की उत्पादन शक्ति कम होती जाती है और आर्थिक विकास तथा आर्थिक सम्पन्नता की गति शिथिल हो जाती है। परन्तु यह आलोचना पूर्णतया उचित नही है। इसका निरीक्षण हम ऊपर विस्तार मे कर ही आये हैं।

२ कुछ लोगों का यह भी विरोध है कि यदि उत्पादन कार्य केवल एक ही व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है तो उसको मृत्यु कर का भुगतान करने के लिये अपनी सम्पत्ति को आशिक या पूर्ण रूप से बेचना होगा। इस प्रकार देश म केवल सम्पत्ति की मात्रा ही कम न होगी बल्कि उत्पत्ति की मात्रा भी कम हो

10. Philipe E Taylor: *Op cit*, Page 506.

जायगी। इस सम्बन्ध में अभी हम देख चुके हैं कि सम्पत्ति को बेचने से व्यक्तिगत सम्पत्ति अवश्य ही कम हो जाती है, राष्ट्रीय सम्पत्ति कम नहीं होती।

३ यह भी कहा जाता है कि मृत्यु कर होशियार मेहनती मितव्ययी तथा बुद्धिमान व्यक्तियों के लिये एक दण्ड है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सम्पत्ति का एकत्रीकरण केवल बुद्धिमानी एवं मितव्ययिता के कारण ही उत्पन्न नहीं होता। उसकी उत्पत्ति में सामाजिक आर्थिक राजनैतिक एवं वैधानिक परिस्थितियाँ भी सहायक होती हैं। इसलिये मृत्यु कर को बुरा बताना उचित न होगा।

४ यह भी कहा जाता है कि मृत्यु कर का भार सबसे अधिक विधवाओं बच्चों तथा निर्भरकर्ताओं पर पड़ता है। परन्तु यह भी पूर्णतया ठीक नहीं है। क्योंकि मृत्यु कर की दर मृतक व्यक्ति और उत्तराधिकारी के सम्बन्ध की निकटता या दूरी के अनुसार निर्धारित की जाती है।

५ मृत्यु कर के विपक्ष में एडम स्मिथ ने यह तर्क दिया है कि जिस कुटुम्ब में थोड़े थोड़े समय के बाद मृत्यु के कारण सम्पत्ति का हस्तान्तरण होता रहता है उस कुटुम्ब पर मृत्यु कर का भार एक ऐसे कुटुम्ब की अपेक्षा अधिक पड़ता है जिसमें मृत्यु देर से होती है। अतः मृत्यु कर न्यायसंगत नहीं है। इस तर्क का अनुसरण फिनले शिराज ने भी किया है। यह ध्यान रहे कि आधुनिक समय में मृत्यु कर सम्बन्धी ढाँचे में इसके विरुद्ध उचित प्रबन्ध कर दिया जाता है।

६ मृत्यु कर में इस बात की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाता कि सम्पत्ति किस प्रकार प्राप्त की गई है अर्थात सम्पत्ति को प्राप्त करने में व्यक्ति को अधिक कठिनाई अनुभव करनी पड़ी है या सम्पत्ति आसानी से ही खरीद ली गई है। इस तर्क में वैज्ञानिकता का अभाव है। सम्पत्ति खरीदने में यह निश्चित करना कि खरीदने वाले व्यक्ति ने आसानी से सम्पत्ति खरीदी है या कठिनाई से असम्भव है क्योंकि यह मानसिक दशायें हैं जिनको माप करना सम्भव नहीं होता।

७ मृत्यु कर लगाने के लिये सम्पत्ति का मूल्य उस समय आंका जाता है जबकि व्यक्ति की मृत्यु होती है जो उचित नहीं है। हो सकता है कि उस समय सम्पत्ति के मूल्य ऊँचे हों और उत्तराधिकारी को कर की अधिक राशि का भुगतान करना पड़े। स्थिति इसके विपरीत भी हो सकती है और सरकार को हानि हो सकती है। यह तर्क इस आधार पर दिया गया है कि सम्पत्ति के मूल्यों में साधारणतया उतार चढ़ाव होते ही रहते हैं और मृत्यु के समय सम्पत्ति के मूल्य आंकने में सरकार को भी हानि हो सकती है और करदाता को भी। इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले व्यक्तियों ने यह नहीं बताया कि सम्पत्ति के मूल्य किस समय स्थायी हो सकते हैं ताकि उसी समय सम्पत्ति का मूल्य आँका जाये। दूसरे उनको कर की राशि की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये बल्कि मुद्रा इकाई के वास्तविक मूल्य की ओर ध्यान देना चाहिये। यदि देश में मूल्य स्तर ऊँचा है तो कर की राशि अधिक होते हुए भी सरकार के खजाने में कम कर एकत्रित होगा और यदि सामान्य मूल्य स्तर ऊँचा है तब कर की

राशि कम होते हुए भी सरकारी खजाने में वस्तुओं के रूप में अधिक कर एकत्रित होगा। इसलिये इन लोगों की मृत्यु कर के विरुद्ध यह आपत्ति बिलकुल निराधार है।

८. अन्त में कुछ लोगों ने यह भी बताया है कि मृत्यु कर की चोरी बहुत होती है। सबसे अधिक चोरी उपहार तथा दान के रूप में होती है। परन्तु यह सोच लेना कि सभी प्रकार के उपहार कर को चुराने की दृष्टि से दिये जाते हैं उचित न होगा। क्योंकि जो उपहार व्यक्ति अपने जीवनकाल में ही देता है उसमें चोरी का अंश बिलकुल भी नहीं होता। परन्तु जो उपहार मृत्यु के समय दिये जाते हैं या मृत्यु की पूर्व आशा में दिये जाते हैं इनमें कुछ सीमा तक चोरी का अंश छुपा हुआ हो सकता है। परन्तु इस प्रकार की कर की चोरी को रोकना सरल नहीं है और फिर चोरी और बेईमानी तो व्यक्ति के अपने चरित्र के ऊपर निर्भर करती है, किसी कानून द्वारा इसको नहीं रोका जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि व्यक्ति के जीवन काल में जो उपहार दिये जाते हैं उनके लिये एक समय की अवधि निश्चित की जा सकती है जिसके अन्दर दिये जाने वाले उपहारों पर कर लगाया जा सकता है। इसी लिए बहुत से देशों में आजकल उपहार कर लागू कर दिया है।

भारत में मृत्यु कर—

भारत के सविधान के अनुसार कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्तियों पर जायदाद कर लागू किया जा सकता है। भारत में जायदाद कर सन् १९५३ से पहले लागू नहीं था। वैसे तो हमारे देश में पहले से कुछ ऐसे कर चले आ रहे थे जिनकी प्रकृति मृत्यु करो जैसी थी जैसे उत्तराधिकारी प्रमाण पत्र कर, तथा उत्तराधिकारी प्रमाण पत्र शुल्क (Probate Duties And Fees on Succession Certificates)। परन्तु यह न्यायशील नहीं थे, क्योंकि यह सभी उत्तराधिकारियों पर नहीं लगाए जा सकते थे और दूसरे, यह केवल एक प्रकार की फीस थी, कर नहीं थे। सन् १९२४ में भारतीय कर जाँच समिति ने सर्वप्रथम मृत्यु कर लगाने की सिफारिश की थी। सन् १९४४ में भारत सरकार के वित्त मंत्री ने यह घोषणा की थी कि सरकार का इरादा मृत्यु कर लागू करने का था और सन् १९४६ में एक बिल पेश भी किया गया परन्तु वह पास न हो सका। इसके बाद सन् १९४७-४८ में श्री लियाकत अली खाँ ने अपने बजट भाषण में इस कर की ओर संकेत किया था परन्तु कर के विषय में विस्तृत अध्ययन करने का काम एक समिति को सौंप दिया गया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् १९४६ में प्रस्तुत की, परन्तु कुछ कारणों से उस समय उस रिपोर्ट पर विचार नहीं किया जा सका। सन् १९५२ में श्री देशमुख ने एक नया बिल लोकसभा में प्रस्तुत किया जो आवश्यक संशोधनों के बाद सितम्बर सन् १९५३ में पास हुआ।

यद्यपि भारत में मृत्यु कर की आवश्यकता बहुत लम्बे काल से अनुभव हो रही थी, परन्तु कुछ कठिनाइयों के कारण यह लागू नहीं किया जा सका। प्रथम, भारत में हिन्दू मुसलमान आदि सभी जातियों की उत्तराधिकारी प्रणालियाँ भिन्न-

भिन्न थी। इसके अतिरिक्त, भारत एक निर्धन देश होने के कारण यह भी विचार किया जाता था कि मृत्यु करों से उचित आय प्राप्त न हो सकेगी। परन्तु धीरे-धीरे यह सब विचार समाप्त होते गये और अन्त में भारत में भी जायदाद कर लागू हो ही गया।

भारतीय जायदाद कर अधिनियम—इस अधिनियम की विशेषतायें निम्न प्रकार है :—

१ जायदाद कर मृतक व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई कुल सम्पत्ति के मूल्य पर लगाया जायेगा। यह कर जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़कर समस्त भारत में लगेगा।

२ यह कर सम्पत्ति की वास्तविक कीमत पर लगाया जायेगा और मृतक व्यक्ति के ऋणा तथा दाह संस्कार सम्बन्धी खर्चों को सम्पत्ति के मूल्य में से निकाल दिया जायेगा। सम्पत्ति का मूल्य बाजार भाव पर ही निर्धारित किया जायेगा।

३ यह कर उन सभी व्यक्तियों द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति पर लगाया जाएगा जो १५ अक्तूबर सन १९५३ के बाद मरेंगे। यह कर केवल मनुष्य द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति पर लगाया जाता है और कम्पनी, फर्म तथा प्रमण्डल द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर नहीं लगाया जाता। सम्मिलित परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु पर केवल मृतक व्यक्ति के हिस्से की सम्पत्ति पर कर लागू किया जाएगा। अधिनियम में उत्तराधिकारियों की संख्या पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है और मृत्यु कर सम्पूर्ण सम्पत्ति पर लगाया जाता है। इसी कारण यह जायदाद कर है उत्तराधिकार कर नहीं है।

(४) मृतक व्यक्ति के सभी उत्तराधिकारी कर चुकाने के उत्तरदायी होते हैं।

(५) भारत में मृत्यु कर एक प्रगतिशील कर है। न्यूनतम कर रहित सीमा सम्मिलित परिवार सम्पत्ति के लिए ५०,०००) रुपया है और अन्य सम्पत्तियों के लिए १,००,०००) रुपया निश्चित की गई है। कर की दरों का विवरण निम्न प्रकार है :—

आय वर्ग	कर की दर	
	सम्मिलित परिवार सम्पत्ति	अन्य सम्पत्ति
१ प्रथम ५०,००० रु०	शून्य	शून्य
२ अगले ५०,००० रु०	५ प्रतिशत	शून्य
३ „ ५० ००० रु०	७½ „	७½ प्रतिशत
४. „ ५०,००० रु०	१० „	१० „
५ „ १ लाख रु०	१२½ „	१२½ „
६ „ २ लाख रु०	१५ „	१५ „
७ „ ५ लाख रु०	२० „	२० „
८ „ १० लाख रु०	२५ „	२५ „
९ „ १० लाख रु०	३० „	३० „
१० „ २० लाख रु०	३५ „	३५ „
११ „ शेष पर	४० „	४० „

(६) अधिनियम मे सम्पत्ति सम्बन्धी मुख्य बाते निम्न प्रकार हैं :—

(१) सम्पत्ति शब्द मे चल या अचल पूजी सम्मिलित है। (२) इस सम्पत्ति या उसके किसी हिस्से की बिक्री से प्राप्त राशि (३) यह राशि या उसमें से पहले ही विनियोग की गई राशि (४) किसी भी प्रकार से एक सम्पत्ति से बदली गई दूसरी सम्पत्ति (५) किसी व्यक्ति का ऋण या उसकी मर्जी से उसके द्वारा श्रोटा हुआ ऋण (६) कोई और ऐसा अधिकार जिसका मूल्य द्रव्य मे आँका जा सके।

अधिनियम मे कुछ ऐसी सम्पत्तियो की भी गणना की गई है जो वास्तव मे मृत्यु के पश्चात हस्तान्तरित नहीं होती किन्तु उनको ऐसा समझ कर ही उनके लिए व्यवस्था कर दी गई है। यह निम्न प्रकार है —

(१) वह सम्पत्ति जिसे मृतक व्यक्ति वैधानिक रूप से बेच सकता था। (२) वह सम्पत्ति जिसमे मृतक का हिस्सा हो और जो उसकी मृत्यु पर समाप्त हो जाता हो (३) वह सम्पत्ति जो किसी अन्य व्यक्ति को मृतक की मृत्यु के बाद दान म प्राप्त हो (४) मृतक की मृत्यु के ६ महीने पहले से दो साल तक की अवधि मे जो सम्पत्ति उपहार स्वरूप दी गई है उस पर कर लगेगा। विवाह के लिए ५,००० रुपयों तक कोई कर नही लगेगा (५) वह सम्पत्ति जिसको मृतक ने अपनी कुल सम्पत्ति का बटवारा करने के बाद, उसको जीवन काल के लिए अपने वास्ते रख लिया हो। (६) बीमा पालिसी (७) मृतक की मृत्यु के समय तक जमा वार्षिक वृत्ति (८) ऐसी कम्पनी की लेनदारी जिसका प्रबन्ध ५ से अधिक व्यक्तियो के हाथ म न हो और जिसमे मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति लगी हो और जहाँ से मृतक को मृत्यु से पहले के तीन वर्षो मे लाभ प्राप्त हुआ हो या लाभ प्राप्त करने का अधिकार उस के पास रहा हो।

कर रहित सम्पत्ति—निम्न प्रकार की सम्पत्तियो को कर के क्षेत्र मे सम्मिलित नही किया गया है।

(१) वे सभी अचल सम्पत्तिया जो भारत के बाहर स्थित हैं तथा वे चल सम्पत्तियाँ जो विदेशो मे लगी है, यदि मृतक मृत्यु के समय भारत का नागरिक नहीं था।

(२) ऐसी पुस्तकें जिन्हे मृतक ने बेचने के लिए एकत्रित नहीं किया था।

(३) वह सम्पत्ति जिस पर मृतक का अधिकार केवल ट्रस्टी के रूप मे था।

(४) घरेलू सामान तथा औजार केवल २५०० रुपयो तक के मूल्य के।

(५) पहनने के कपडे, परन्तु गहने और बहुमूल्य पत्थर यदि इन कपडो मे लगे हुए हैं तो वे कर रहित नहीं हैं।

(६) चित्र तथा अन्य प्रकार के व्यक्तिगत सचय जो केवल शौक के उद्देश्य से किये गये हो बिक्री के लिए नही।

(७) ऐसी सम्पत्ति जिस पर हिन्दू विधवा का अधिकार है।

(८) ऐसी सम्पत्ति जिस पर ३ महीने पहले ही मृत्यु कर दिया जा चुका हो परन्तु दूसरी मृत्यु के कारण अब फिर कर लगाया जा रहा हो।

(६) वे समस्त दान तथा उपहार जो मृतक द्वारा दिए गए हैं परन्तु केवल ५,०००) तक ही।

अधिनियम मे कुछ ऐसी सम्पत्तियो की गणना की गई है जो कर रहित तो हैं परन्तु जिनको सम्पत्ति का कुल मूल्य मालूम करते समय सम्मिलित कर लिया जाता है और फिर कर की दर निश्चित कर ली जाती है।

(१) उन राज्यो मे स्थित कृषि भूमि जिन्होने सघ सरकार को कृषि भूमि पर जायदाद कर लगाने का अधिकार नही दिया है।

(२) मृत्यु के ६ महीने पहले तक २५०० रुपए के मूल्य के उपहार जो किसी सार्वजनिक कार्य के लिए दिए गए हो।

(३) बीमा पालिसियो द्वारा प्राप्त हुआ रुपया केवल ५,०००) रुपए तक।

सम्पत्तियो के मूल्य में से कुछ कटौतियाँ—मृत्यु कर के लिये सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य आँकते समय कई प्रकार के ऋणों एव खर्चों की राशियों को छोड दिया जाता है जैसे—

(१) क्रिया-कर्म का खर्च, १००० रुपये तक, (२) वास्तविक ऋण जिसका भुगतान करना है, (३) पति की सम्पत्ति मे पत्नी का भाग, (४) विदेशों में स्थित सम्पत्ति के प्रबन्ध या आय की वसूली मे होने वाला खर्च, जो सम्पत्ति के मूल्य के ५ प्रतिशत से अधिक नही होना चाहिए।

कभी कभी ऐसा होता है कि किसी कुटुम्ब मे निरन्तर कई मृत्यु हो जाने के कारण सम्पत्ति कुछ ही समय में बहुत से व्यक्तियों के हाथो में से गुजरती है। यदि हर बार मृत्यु कर दिया जाये तो सम्पत्ति बहुत थोडे ही समय मे सरकार के हाथ म चली जायेगी और यह अन्यायपूर्ण भी होगा। इस कारण अधिनियम मे इसके लिये भी व्यवस्था कर दी गई है। यदि दूसरी मृत्यु, पहली मृत्यु के एक वर्ष के अन्दर ही हो जाती है तो मृत्यु कर ५०% रह जाएगा यदि दो वर्षो के अन्दर होती है तो ४०%, अगर तीन वर्षो के अन्दर होती है तो ३०% यदि चार वर्षो के अन्दर होती है तो २०% और यदि ५ वर्षो के अन्दर होती है तो १०% की कमी हो जायेगी। यदि पहली मृत्यु के तीन महीने के अन्दर ही दूसरी मृत्यु हो जाती है तो कोई भी मृत्यु कर नही लिया जायगा।

मृत्यु कर का प्रशासन—मृत्यु कर का प्रशासन केन्द्रीय आय बोर्ड (Central Board of Revenue) को सौप दिया गया है जिसके आधीन नियन्त्रक (Controlers), सहायक उप नियन्त्रक (Dy Controlers) और सहायक नियन्त्रक (Assistant Controlers) नियुक्त कर दिये गए हैं। आयकर विभाग के अफसरो को ही नियन्त्रक नियुक्त कर दिया गया है। नियन्त्रक सम्पत्ति का मूल्य निश्चित करता है और सम्पत्ति का उतना ही मूल्य निश्चित किया जाता है जितना कि मूल्य बाजार मे बेचने से प्राप्त हो सकता हो। मूल्य आँकते समय सभी प्रकार की सावधानियाँ बर्ती जाती हैं। यदि नियन्त्रक आवश्यक समझे तो सम्पत्ति का मूल्य आँकने के लिये मूल्य आँकने वालो को नियुक्त कर सकता है। मूल्य आँकने वाले

ऐसे व्यक्ति होंगे जिनका इस विभाग से कोई सम्बन्ध नहीं होगा। करदाता को अधिकार है कि वह नियन्त्रक द्वारा लगाये गए कर के विरुद्ध अपील कर सके। यदि सम्पत्ति के मूल्यांकन के सम्बन्ध में कोई मतभेद है तो उसके निपटारे के लिये आय बोर्ड उस झगड़े को दो मूल्य आंकने वालों को फैसले के लिये सौंप सकता है जिनमें से एक तो बोर्ड द्वारा और दूसरा करदाता द्वारा नियुक्त किया जायेगा। यदि इन दोनों मूल्य आंकने वालों में कोई मतभेद है तो झगड़े को तीसरे मूल्य आंकने वाले के सुपुर्द किया जायेगा, परन्तु हर दशा में मूल्य आंकने वालों (*valuers*) का ही फैसला अन्तिम रहेगा। यदि कानून के विषय में कोई मतभेद है तो उसकी अपील हाईकोर्ट या सुप्रीम कोर्ट में की जा सकती है।

मृत्यु कर का भुगतान करने से बचने के लिये कई प्रकार के प्रयत्न किये जा सकते हैं जैसे मृत्यु से पहले उपहार के रूप में सम्पत्ति को देना आदि। भारतीय अधिनियम में कर की इस प्रकार चोरी के विरुद्ध भी व्यवस्था की गई है। उदाहरणार्थ यदि कोई उपहार मृत्यु की पूर्व आशा में ही दिया गया है तो उस पर कर लगाया जायेगा। इसी प्रकार यदि मृत्यु से दो वर्षों के अन्दर यदि कोई सम्पत्ति उपहार के रूप में दी गई है तो भी उस पर कर लागू किया जायेगा। यदि मृत्यु के छः महीने के अन्दर कोई सम्पत्ति दान के रूप में दी गई है तो उस पर भी कर लिया जायेगा। करारोपण जाँच समिति की यह सिफारिश थी कि जीवन काल में दिये गये उपहार, जो मृत्यु से पहले ५ वर्ष के अन्दर दिये गये हैं उनको, भी कर क्षेत्र में सम्मिलित कर लेना चाहिये।

भारतीय अधिनियम में सन् १९५८ में किये गये संशोधन—अधिनियम में सन् १९५८ में कुछ महत्वपूर्ण संशोधन किये गये थे जिनका मुख्य उद्देश्य कुछ तो कर की चोरी को रोकना था और कुछ कर से प्राप्त आय को बढ़ाना था। यह संशोधन निम्न प्रकार हैं —

१ न्यूनतम कर रहित सीमा सभी के लिये ५०,००० रुपये कर दी गई।

२ कर की दरों में निम्न प्रकार परिवर्तन किये गये हैं—५०,००० रुपयों से १ लाख रुपयों तक की सम्पत्ति पर कर की दर ५% से घटाकर ४% कर दी गई है, १००,००० रुपये से १,५०,००० रुपयों तक की सम्पत्ति पर ७½% के स्थान पर ६% कर दी गई है। २,००,००० से ३,००,००० रुपयों तक सम्पत्ति पर १२½% से घटा कर १२% कर दी गई थी।

३ पहले मृत्यु कर का भुगतान ८ वार्षिक या १६ छमाही किश्तों में किया जा सकता था परन्तु अब ४ वार्षिक या ८ छमाही किश्तों में ही किया जा सकेगा।

४. विवाह सम्बन्धी उपहारों के मूल्य की सीमा ५००० रुपया से बढ़ाकर १०,००० रुपये कर दी गई है।

५. अपील करने की विधि में भी परिवर्तन कर दिये गये हैं और सब आय-कर धन या सम्पत्ति कर, और व्यय कर तथा मृत्यु कर इन सभी की अपील करने

है। वास्तव में हिन्दू संयुक्त परिवार के सम्बन्ध मे तो यह कठिनाई मुख्य रूप से अनुभव होती है। परन्तु अधिनियम मे इस कठिनाई को दूर करने की व्यवस्था की गई है। एक तो उत्तराधिकार कर के स्थान पर जायदाद कर लागू किया गया है और मृतक व्यक्ति द्वारा छोडी गई पूरी सम्पत्ति पर ही कर लिया जाता है। इसमे तो कोई सदेह नही कि यह उतना न्यायशील नही है जितना कि उत्तराधिकार कर होता है। परन्तु फिर भी कुछ समानता अवश्य प्राप्त हो जाती है। तीसरे भारतवर्ष में औद्योगिक सगठन अधिकतर एकाकी उत्पादन प्रणाली के रूप मे किया जाता है। यहाँ पर सम्मिलित पूंजी कम्पनियाँ बहुत कम स्थापित हुई हैं अतः अन्य उन्नत देशो की अपेक्षा यहाँ पर मृत्यु कर बचतो और कार्य करने की शक्ति को अधिक हतोत्साहित करेगा। सम्मिलित पूंजी कम्पनी मे यह सुविधा रहती है कि किसी भी अंशधारी (Share holder) की मृत्यु के बाद मृत्यु कर का भुगतान कम्पनी के हिस्सा को बेचकर प्राप्त किया जा सकता है परन्तु एकाकी उत्पादन प्रणाली या साझेदारी मे मृत्यु कर का भुगतान करने के लिए व्यक्ति की सम्पत्ति को बेचना पडता है। अत जबकि सम्मिलित पूंजी कम्पनी का जीवन स्थायी बना रहता है साझेदारी या एकाकी उत्पादन व्यवस्था का शीघ्र ही अन्त हो जाता है जिससे उत्तराधिकारियो को भी हानि होती है और देश में व्यापार तथा उद्योगो को बहुत धक्का पहुँचता है। चौथे, जब कि अधिनियम मे जीवन बीमा से प्राप्त धन पर कर नही लिया जाता, फिर भी कर की दर को निश्चित करते समय उस राशि को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। यह बिलकुल भी न्यायपूर्ण नही है। एक तो परोक्ष रूप से बीमा की राशि पर कुछ न कुछ कर तो इस प्रकार लग ही जाता है दूसरे जीवन बीमा से प्राप्त राशि को पूरी छूट न देकर जीवन बीमा के महत्त्व को ही समाप्त कर दिया गया है। यद्यपि अन्तिम क्रियाकर्म के खर्चो को भी कर के क्षेत्र से बाहर रखा गया है परन्तु एक बडी कमी अधिनियम मे यह है कि बच्चो की शिक्षा आदि के व्यय पर किसी प्रकार की भी छूट नही दी गई है। अन्त मे अधिनियम की इस बात पर भी आलोचना की गई है कि कर रहित सीमा बहुत ही नीची है जिसमे मध्यम वर्ग के व्यक्तियों को बहुत अधिक कर का भार सहन करना पडता है, परन्तु दूसरी ओर कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनके अनुसार कर रहित सीमा बहुत ऊँची है। इन विरोधात्मक विचारो को यूही छोडकर हम कह सकते हैं कि समय की प्रगति के साथ जैसे जैसे अनुभव बढते जायेंगे वैसे ही मृत्यु कर प्रणाली म उचित संशोधन होते जायेंगे। वास्तव मे मृत्यु कर को लगे हुए अभी इतना थोडा समय हुआ है कि उसके बारे म किसी भी प्रकार की आलोचना करना ठीक नहीं होगा।

इस प्रकार भारत मे मृत्यु कर के लागू होने से एक ऐसी आवश्यकता की पूर्ति हुई जो एक बहुत लम्बे समय से अनुभव हो रही थी। भारत मे धन की असमानताएँ बहुत अधिक होती जा रही थी और इसलिए यह आवश्यक था कि इन असमानताओं को कम करने के लिए मृत्यु कर लगाया जाय। साथ ही मृत्यु कर आय

कर की अपेक्षा बचतों को भी कम हतोत्साहित करता है। इसके अतिरिक्त मृत्यु कर से राज्यो को अपनी विकास योजनाओं को पूरा करने के लिए अतिरिक्त आय भी मिल जाती है। अतः भारत में मृत्यु कर परिस्थितियो को देखते हुये ठीक समय पर ही लागू किया गया है।

अध्याय १७

संघ सरकार की आय के स्रोत (क्रमशः)—

सम्पत्ति-कर, उपहार-कर, पूंजी लाभ-कर और धन-कर

Sources of Revenue of the Union Government (Contd.)—

(Property Taxation, Gifts-Tax, Capital Gains Tax and Wealth-Tax)

पिछले अध्याय में हमने सम्पत्ति करो के वश का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण कर—मृत्यु कर—का अध्ययन किया था। इस अध्याय में हम सम्पत्ति कर के तीन और रूपो का अध्ययन करेंगे। ये उपहार कर, विशेष पूँजी कर, और धन कर हैं। इनकी विवेचना हम इसी क्रम से करेंगे।

उपहार कर (Gifts Tax)—उपहार कर उस सम्पत्ति पर लगाया जाता है जिसको व्यक्ति अपने जीवन काल में उपहार के रूप मे दूसरे व्यक्तियों को देता है। हमने मृत्यु कर का अध्ययन करते समय मृत्यु कर सम्बन्धी इस कठिनाई की ओर सकेत किया था कि मृत्यु कर की चोरी सम्पत्ति को उपहारों के रूप में देकर की जा सकती है। वास्तव म मृत्यु कर की चोरी को बचाने के लिये ही उपहार कर लगाया जाता है। अत उपहार कर इस दृष्टि से मृत्यु कर का पूरक है। इस प्रकार यदि मृत्यु कर आवश्यक है तो उपहार कर भी उतना ही आवश्यक हो जाता है। भारत में उपहार कर सर्वप्रथम १९५८ म लागू किया गया था और इसलिये यह अभी एक नया कर ही है। यद्यपि कर जाँच समिति ने उपहार कर लागू करने के प्रस्ताव को स्वीकार नही किया था परन्तु अग्रेजी अर्थशास्त्री प्रो० कलडौर (Kaldor) ने बडे ही प्रभावशाली शब्दों में इसको लागू करने का सुझाव दिया था और भारत में यह कर उन्ही के सुझावो का परिणाम है। उस समय कर जाँच समिति का यह मत था कि पहले मृत्यु कर के कार्य सचालन मे उचित मात्रा म अनुभव प्राप्त किये जायें तत्पश्चात् उपहार कर लगाया जाय। अनुभवो के अभाव में उपहार कर का सफल होना असम्भव सा ही प्रतीत होता था। समिति के अनुसार उपहार कर के लिये यह भी आवश्यक था कि मृत्यु कर की दरें बहुत अधिक प्रगतिशील हो और क्योंकि उस समय मृत्यु कर की दरें बहुत नीची थी इसलिये समिति ने

उपहार कर सम्बन्धी प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था।

भारत सरकार ने प्रो० कलडोर को भारतीय कर प्रणाली में आवश्यक सुधार करने के लिये निमंत्रित किया था। प्रो० कलडोर ने अपने प्रस्तावों में एक यह भी प्रस्ताव रक्खा कि भारत में उपहार कर लगाया जाय। उनका प्रस्ताव था कि १० हजार रुपयों से अधिक मूल्य के उपहार पाने वालों पर यह कर लगाया जाये और धीरे धीरे मृत्यु कर के स्थान पर सारे देश में उपहार कर सामान्य रूप से लागू किया जाय, क्योंकि मृत्यु कर का विचार बहुत ही पुराना है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार जीवन काल में दिये गये उपहारों और उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति में कोई भी अन्तर नहीं है, इसलिये प्रगतिशील उपहार कर ही काफी होगा।

प्रो० कलडोर के प्रस्ताव के अनुसार सन् १६५८ में उपहार कर लागू कर दिया गया। वास्तव में प्रत्यक्ष करारोपण में जो महत्वपूर्ण कड़ी गायब थी वह उपहार कर के लगने से प्राप्त हो गई। साथ ही मृत्यु कर की चोरी भी अधिक कठिन हो जायगी और कर भार का वितरण भी अधिक समान हो सकेगा। यह कर प्रत्येक प्रकार के उपहारों पर लागू किया जायेगा और उपहार देने वाले व्यक्ति से कर वसूल किया जायगा। यह कर उन सभी उपहारों पर लगाया जायगा जो कि पिछले वर्ष में दिये गये थे। परन्तु कर की दर निर्धारित करने के लिये पिछले पाँच वर्षों के उपहारों को जोड़ कर जो दर उस राशि के लिये लागू की जायेगी वही उस वर्ष की दर भी होगी जिसका भुगतान होना है।

उपहार कर की दरें बिल्कुल मृत्यु कर जैसी ही हैं। केवल इतना अन्तर है कि जब कि प्रथम खण्ड पर मृत्यु कर प्राप्त किया नहीं जाता, उपहार कर लिया जाता है। यह दरें निम्न प्रकार हैं –

पिछले वर्ष में दिये गये उपहारों का कुल मूल्य	उपहार कर की दर (प्रतिशत)
पहले ५०,००० रुपयों पर	४ प्रतिशत
अगले ५०,००० ,,	६ ,,
५०,००० ,,	८ ,,
५०,००० ,,	१० ,,
१,००,००० ,,	१२ ,,
२,००,००० ,,	१५ ,,
५,००,००० ,,	२० ,,
१०,००,००० ,,	२५ ,,
१०,००,००० ,,	३० ,,
२०,००,००० ,,	३५ ,,
५० लाख रुपयों से अधिक राशि पर	४० ,,

कर से छूट—किसी भी वर्ष में १०,००० रुपया के मूल्य के उपहारों तक

कोई भी कर नही लिया जायेगा। यदि राशि १०,००० रुपयों से अधिक हो जाती है तो जितनी राशि अधिक होगी उतनी पर ही कर लिया जायेगा। यदि किसी एक व्यक्ति को ३,००० रुपयो से अधिक मूल्य के उपहार प्राप्त होते हैं तब कर रहित सीमा १०,००० रुपयों के स्थान पर ५,००० रुपये होगी। केन्द्रीय तथा राज्य सम्बन्धी सरकारा, स्थानीय पदाधिकारी और दान सम्बन्धी संस्थाओं (Charitable Institutions) को दिए गए उपहार किसी निर्भरकर्ता स्त्री की शादी के अवसर पर १०,००० रुपयो तक के मूल्य के उपहार, धर्मपत्नी को १ लाख रुपयों तक के उपहार, निर्भरकर्त्ताओं को; बीमा पालिसियों के उपहार (१०,००० रुपये प्रति निर्भरकर्त्ता के हिसाब से); विदेशों में स्थित अचल सम्पत्ति के उपहार, विदेशियों द्वारा ऐसी चल सम्पत्ति के उपहार जो विदेशों में स्थित हैं, वसियतनामों द्वारा दिये गये उपहार, सरकारी कम्पनियों द्वारा दिए गए उपहार, सरकारी प्रमडलों द्वारा दिए गए उपहार, जनता द्वारा प्रबन्धित ऐसी कम्पनियों के उपहार जिनका नियन्त्रण ६ से कम व्यक्ति नहीं करते हैं तथा दान सम्बन्धी संस्थाओं द्वारा दिए गए उपहारों पर कोई भी कर नहीं लिया जाएगा। यदि कोई व्यक्ति कर लागू होने वाले उपहार को देने के १५ दिन के अन्दर ही अन्दर स्वेच्छा से कर की राशि का पूर्णत या अशत भुगतान कर देता है तो उसको कर की राशि में कुछ छूट प्रदान कर दी जावेगी। यदि एक पति कोई उपहार अपनी पत्नी को देता है और पत्नी उस उपहार को किसी दूसरे व्यक्ति को दे देती है तो ऐसा माना जायेगा कि वह उपहार पति द्वारा ही दिया गया है और उस पर कर ले लिया जायेगा। इसी प्रकार यदि कोई सम्पत्ति बाजार म प्रचलित मूल्य से कम पर बेची गई है तो उसके वास्तविक मूल्य की राशि और प्राप्त की गई राशि में जो अन्तर होगा उस राशि पर सरकार उपहार कर ले लेगी। उपर्युक्त दोना उपाय इसलिए किए गए हैं कि जिससे कर की चोरी न होने पाए।

कर का प्रबन्ध आयकर विभाग द्वारा किया जायेगा और सभी बातों में यह आयकर के समान होगा। कर की राशि निश्चित करते समय सम्पत्ति का मूल्य बाजार में प्रचलित मूल्य के हिसाब से लगाया जायेगा।

आशा है कि उपहार कर भारत की अर्थव्यवस्था म एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेगा। इस कर से कई लाभ प्राप्त होगे जैसे मृत्यु कर तथा आयकर की चोरी कम हो जायगी। अन्य सम्पत्ति करो के साथ साथ उपहार कर भी धन के वितरण की असमानताओं को कम करने में सहायता करेगा। यह ध्यान रहे कि यद्यपि उपहार कर भारत में कलडौर के प्रस्ताव के आधीन लगाया गया है परन्तु यह कलडौर योजना से पूर्णतया भिन्न है। उसके अनुसार कर उपहार पाने वाले व्यक्ति पर लगना था और कर की दर उपहार के मूल्य के अनुसार नहीं वरन् उपहार प्राप्त करने वाले के वास्तविक धन (उपहार को सम्मिलित करके) के अनुसार प्रगतिशील होनी थी। इसके अतिरिक्त उसका प्रस्ताव था कि भारत में मृत्यु कर के स्थान पर सामान्य उपहार कर लागू किया जाये। परन्तु भारतीय उपहार कर मृत्यु कर के अतिरिक्त लागू किया गया है। यह कर उपहार देने वाले व्यक्ति पर लगाया गया

है और इसकी दर का उपहार के मूल्य के अनुसार प्रगतिशील बनाया गया है।

अधिकतर व्यक्तियों का यही विचार है कि भारत में उपहार कर की सफलता की सम्भावना कम ही है। इसके कई कारण बताये जाते हैं। प्रथम, यह पता लगाना ही कठिन हो जायेगा कि उपहार किस किस रूप में और कब दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रचलित बाजारी दरों के हिसाब से सम्पत्ति का मूल्यांकन भी कठिन होगा और इसमें मुकदमेबाजी को भी प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु यह कठिनाइयाँ तो सम्पत्ति करों की विशेषतायें हैं जिनको किसी प्रकार भी दूर नहीं किया जा सकता। अनुभव प्राप्त होने के साथ-साथ इनको कम तो किया जा सकता है परन्तु पूर्णतया दूर नहीं किया जा सकता।

धन या सम्पत्ति कर (Wealth Tax)—यह कर एक व्यक्ति की सम्पत्ति या पूंजी के कुल मूल्य पर लगाया जाता है। यह वार्षिक होता है और व्यापारिक कम्पनियों तथा प्रमण्डलों की सम्पत्ति के मूल्य तथा धन पर लागू किया जाता है। यह कर बहुत ही पुराना है। अन्य सम्पत्ति करों से यह कर इस बात में भिन्न है कि जबकि अन्य सम्पत्ति कर कुछ विशेष अवसरों पर ही लागू किये जाते हैं धन कर प्रत्येक वर्ष ही लागू किया जाता है। यह एक सामान्य कर है क्योंकि यह सभी प्रकार की सम्पत्तियों पर लगाया जाता है और इसीलिये इसकी दरें अन्य सम्पत्ति करों की अपेक्षा अधिक नीची रहती हैं।

इस कर को लागू करने में दो मुख्य समस्यायें उत्पन्न होती हैं अर्थात् सभी प्रकार की सम्पत्तियों का पता लगाना और उनका मूल्य आँकना। करदाता की सम्पत्ति के अनेक रूप हो सकते हैं और यह सम्भव नहीं है कि वह अपनी सभी प्रकार की सम्पत्ति के बारे में पूर्ण सूचना दे दे। जेवर इत्यादि को तो बड़ी सरलता से ही छुपाया जा सकता है। फिर सम्पत्ति के आकार में भी समय-समय में परिवर्तन होते ही रहते हैं। धन कर दाता की वास्तविक सम्पत्ति का मालूम करना बहुत ही कठिन होता है। सम्पत्ति के मूल्य आँकने के सम्बन्ध में एक दूसरी कठिनाई और उत्पन्न होती है। यदि सम्पत्ति का मूल्य बाजार में प्रचलित दरों के अनुसार मालूम करना है तो बाजारी दरों के निरन्तर उतार चढ़ाव से समस्या और भी विषम हो जाती है। यह भी सम्भव है कि आरम्भ में जिस मूल्य पर सम्पत्ति खरीदी गई थी या बनवाई गई थी उसी मूल्य को स्वीकार कर लिया जाये और कर लगा दिया जाये। परन्तु यहाँ यह कठिनाई होगी कि समय के साथ-साथ सम्पत्ति के प्रारम्भिक मूल्य में से कुछ कटौती की जाये या नहीं। क्योंकि समय बीतने के साथ-साथ सम्पत्ति पुरानी होती जाती है और उसका मूल्य कम होता जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ सम्पत्तियाँ ऐसी भी होती हैं जिनके मूल्य आँकने सरल नहीं होते। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि धन या पूँजी पर कर लगाते समय किसी न किसी सीमा तक कर अधिकारी मन माने ढंग से काम करेंगे। उपहार कर सम्बन्धी अधिनियम में अपील इत्यादि की भी व्यवस्था करनी होगी और जिन सम्पत्तियों का मूल्य आँकना सरल नहीं है उन पर कर की छूट भी देनी होगी।

यह विश्वास किया जाता है कि वार्षिक सम्पत्ति करो से बचतो की मात्रा देश मे कम होने लगेगी। यह अवश्य है कि अन्य सम्पत्ति करों की प्रवृत्ति बचतो पर बुरा प्रभाव डालने की नही होती परन्तु क्योकि यह कर प्रत्येक वर्ष लगाया जाता है और पूजी की प्रत्येक वृद्धि से वार का भार बढता जाता है इसलिये यह सम्भव है कि बचत हतोत्साहित हो। परन्तु यह आवश्यक नही है कि उत्पत्ति पर इसका बुरा प्रभाव अवश्य ही पड़े। उत्पादन किसी भी देश म विनियोगो की मात्रा पर निर्भर करता है और विनियोगो की मात्रा लाभ की दरो द्वारा निर्धारित होती हैं। इसलिये जब तक लाभ की दर ऊँची रहेगी विनियोग बढते ही रहेगे और उत्पादन भी बढता ही जायेगा। अत वार्षिक सम्पत्ति कर का इतना बुरा प्रभाव नही होता जितना आय कर का, क्योंकि आय कर की दरे बहुत ही प्रगतिशील होती हैं, जबकि इस कर की दर बहुत नीची होती है। यह कर वितरण की असमानताओ को दूर करने का अस्त्र है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि कर दाता की सम्पत्तियों मे जो वार्षिक वृद्धियाँ होती हैं वे भी कर के क्षेत्र मे आ जाती हैं जबकि अन्य प्रकार के सम्पत्ति कर ऐसा नही कर पाते हैं। यह कर करदान योग्यता को ज्ञात करने का भी एक अच्छा आधार है। इसके अतिरिक्त इस कर को प्रगतिशील भी बनाया जा सकता है। यह कर अन्य सम्पत्ति करो की अपेक्षा अधिक क्रियात्मक है, क्योंकि यह बार-बार उत्पन्न होता है। भारत मे यह कर सन् १९५७ में लागू किया गया था। इसका प्रस्ताव भी प्रो० कलडौर ने दिया था। उन्होंने इसका पक्ष समानता के आधार पर आर्थिक प्रभावो तथा प्रशासन सम्बन्धी कुशलता के आधार पर लिया था। उनका विश्वास था कि अकेली आय ही किसी व्यक्ति की कर दान योग्यता का अच्छा माप नही है। यदि आय करो के साथ-साथ सम्पत्ति करो को लागू कर दिया जाय तब कर प्रणाली करदान योग्यता के पूर्णतया अनुकूल होगी। इसके अतिरिक्त जो कर सम्पत्ति के मूल्यो पर लगाये जाते हैं वे जोखिम वाले विनियोगो और जोखिम रहित विनियोगो के बीच उस प्रकार भेद नही करते, जैसा कि आय कर द्वारा होता है। अर्थात् सम्पत्ति करो से बचत हतोत्साहित नहीं होती और जोखिम वाले उपक्रमो की भी प्रगति होती रहती है। आय कर मे, जोखिम वाले उद्योगो मे आय की मात्रा अधिक होने के कारण अधिक कर वसूल किया जाता है परन्तु सम्पत्ति करो मे यह दर लगभग समान ही रहती है। आय कर और सम्पत्ति कर दोनो की उपस्थिति मे कर प्रणाली की व्यवस्था अधिक कुशल हो जाती है और कर की चोरी भी बच जाती है। इन्ही कारणो से प्रो० कलडौर ने अपनी समुचित योजना (Integrated Scheme) मे धन कर को सम्मिलित किया था।

भारत में धन कर सन् १९५७ में लागू किया गया था। यह व्यक्तियो, कम्पनियों तथा हिन्दू सयुक्त परिवारो के वास्तविक धन पर एक वार्षिक कर है। प्रो० कलडौर के प्रस्तावो और भारतीय धन कर अधिनियम मे यह अन्तर है कि भारतीय अधिनियम में कम्पनियां भी कर क्षेत्र में सम्मिलित कर ली गई हैं। कर की दरें, प्रो० कलडौर के प्रस्ताव के अपेक्षा नीची हैं और कर की छूटें भी अधिक

उदार हैं। न्यूनतम कर रहित सीमा व्यक्तियों के लिए दो लाख रुपए हैं और हिन्दू सम्मिलित परिवारों के लिए चार लाख रुपए हैं। व्यक्तियों के लिए कर की दरें निम्न प्रकार हैं:—

कर रहित सीमा के बाद प्रथम १० लाख रुपए पर ½ प्रतिशत
अगले १० लाख रुपयों पर ... ... १ प्रतिशत
शेष पर ... ... १½ प्रतिशत

हिन्दू संयुक्त परिवारों के लिए कर की दरें निम्न प्रकार हैं.—

कर रहित सीमा के ऊपर ६ लाख रुपयों पर ½ प्रतिशत
अगले १० लाख रुपयों पर .. .. १ प्रतिशत
शेष पर ... . १½ प्रतिशत

कम्पनियों के लिए ५ लाख रुपयों के आदेयों (Assets) पर कोई कर नहीं है, शेष पर ½ प्रतिशत की सामान्य दर से कर लगाया है। धन कर का प्रशासन भी आय कर विभाग को सौंप दिया गया है। व्यक्तियों और हिन्दू सम्मिलित परिवारों की सम्पत्ति का मूल्य बाजारी दरों के अनुसार आंका जाता है। व्यापारिक संस्थाओं तथा कम्पनियों पर कर का निर्धारण उनके हिसाब के चिट्ठों (Balance Sheets) के आधार पर किया जाता है।

कर से छूटें—कुछ सम्पत्तियाँ कर से मुक्त हैं, जैसे कृषि सम्पत्तियाँ, ग्रामों में रहने के मकान, धार्मिक तथा दान सम्बन्धी संस्थाओं की सम्पत्तियाँ, कला कौशल की वस्तुएँ, व्यक्तिगत सम्पत्ति जैसे फरनीचर, गहने केवल २५ हजार रुपयों के मूल्य तक के, और प्रावधान कोष (Provident Fund) और बीमा पालिसियों की राशि इत्यादि। यदि कोई कम्पनी नई स्थापित हुई है और जो पहले से स्थित व्यापार सम्बन्धी इमारतों मशीनों इत्यादि के हस्तान्तरण तथा रूप परिवर्तन द्वारा स्थापित नहीं की गई है तो उसके आदेयों पर पहले ५ वर्षों पर कोई धन कर नहीं लगाया जायगा। यदि किसी वर्ष में हानि होती है तो उस वर्ष में कोई कर नहीं लिया जायेगा। यदि किसी वर्ष लाभ इतने कम हुए हैं कि हिस्सेदारों को लाभांश घोषित नहीं किया गया है तब कर केवल लाभ की राशि तक ही सीमित रहेगा। यदि किसी कम्पनी के कुछ आदेय भारत में हैं और कुछ विदेशों में हैं तब विदेशों में स्थित आदेयों पर ५० प्रतिशत की समानुपातिक कटौती कर दी जायेगी। इसी प्रकार यदि विदेशियों की पूँजी भारत में लगी हुई है तो उस पर भी ५० प्रतिशत की कटौती की जायेगी। इस कर का पक्ष लेते हुए भूतपूर्व वित्त मन्त्री श्री कृष्णामाचारी ने कहा था कि वर्तमान आय कर सम्बन्धी नियम तथा व्यवस्था इस योग्य नहीं है कि व्यक्तियों की कर दान क्षमता का सही माप कर सके और आयकर की चोरी को बचाने के लिए यह आवश्यक है कि किसी न किसी प्रकार का धन या सम्पत्ति कर लागू किया जावे। उनके अनुसार यह विनियोगों को भी कम हतोत्साहित करेगा।

वित्त मन्त्री के आश्वासनों के पश्चात् ही बहुत से व्यक्तियों ने धन कर की आलोचनाएँ कीं। इसके विरुद्ध पहली आलोचना यह की गई है कि क्योंकि यह वार्षिक

कर है और प्रगतिशील है इसलिए यह बचतो को हतोत्साहित करेगा। परन्तु जैसा कि हम पहले कई बार कह चुके हैं आयकर की तुलना में इसके प्रभाव कम बुरे होंगे। कर के विरुद्ध दूसरी आलोचना इस आधार पर की गई है कि जब विदेशों में यह कर केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं धन पर लगाया जाता है, भारत में कम्पनियों के आदेयों पर भी लागू किया गया है। परन्तु यह ध्यान रहे कि भारत में अधिकतर कम्पनियाँ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में होने के कारण इस कर का लगना आवश्यक था। कुछ लोगों ने आलोचना इस आधार पर भी की है कि धन कर के लगने से भारत में विदेशी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। परन्तु इस समस्या को दूर करने के लिए विदेशी कम्पनियों तथा व्यक्तियों के लिए कुछ रियायतें कर दी गई हैं। अन्त में सम्पत्ति के मूल्य आँकने के सम्बन्ध में जो कठिनाइयाँ हम पिछले पृष्ठों में अन्य सम्पत्ति करों के सम्बन्ध में दे आये हैं उन कठिनाइयों के आधार पर इस कर की भी आलोचना की गई है, और जो वास्तविक भी हैं। सन् १९५९–६० का बजट प्रस्तुत करते हुए श्री देसाई, वित्त मन्त्री, ने घोषित किया कि अगले वर्ष धन कर से सम्बन्धित सभी खण्डों पर $\frac{1}{2}$ प्रतिशत की दर से कर में वृद्धि कर दी गई है।

पूँजी लाभ कर (*Capital Gains Tax*)—*मूल्यों में वृद्धि के कारण सम्पत्ति के क्रय विक्रय से जो लाभ प्राप्त होता है उस लाभ पर जो कर लगाया जाता है उसे पूँजी लाभ कर कहते हैं* अर्थात् यह कर उन लाभों पर लगाया जाता है जो किसी व्यक्ति को कम मूल्य पर सम्पत्ति खरीद कर अधिक मूल्य पर बेचने से प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यदि किसी व्यक्ति ने ५०,०००) रुपयों में भूमि खरीद कर १,००,०००) रुपयों में बेची है तो उसको ५०,०००) रुपयों का पूँजी लाभ प्राप्त हुआ। यह ध्यान रहे कि यह लाभ कभी कभी ही प्राप्त होते हैं और अनिश्चित या आकस्मिक होते हैं। साथ ही साथ यह व्यक्ति विशेष के मुख्य व्यवसाय से प्राप्त नहीं होते। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति का व्यवसाय यही है कि वह भूमि खरीदे और बेचे और जो लाभ प्राप्त हो उनसे जीविका उपार्जन करे तो इस प्रकार के कर, इस कर के अन्तर्गत नहीं आयेंगे। दूसरी ओर यदि कोई शिक्षक भूमि को बेचता है तो जो लाभ उसे प्राप्त होगा अवश्य ही उस पर कर लिया जायेगा। सम्पत्ति के विभिन्न रूप होते हैं जैसे अचल सम्पत्ति तथा चल सम्पत्ति जैसे इमारतें, भूमि, जेवरात, बॉड, प्रतिभूतियाँ इत्यादि।

व्यक्तियों में इस बात पर बड़ा मतभेद है, कि पूँजी लाभ सम्पत्ति से प्राप्त लाभ नहीं है वरन् आय है और कुछ लोगों का विचार ठीक इसके विपरीत है। विभिन्न देशों में इस कर को लागू करने के लिये विभिन्न रीतियाँ अपनाई गई हैं। अमेरिका में इसको आय कर का ही एक भाग माना गया है। इस कर के सम्बन्ध में मुख्य कठिनाई यह है कि जब लाभों पर कर लिया जाता है, तो क्या हानि के समय सरकार व्यक्तियों को कुछ आर्थिक सहायता देगी ताकि हानि की क्षतिपूर्ति हो सके। अभी तक तो व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाया है।

भारत मे यह कर सन् १९५७ मे लागू किया गया था। प्रारम्भ में यह कर सन् १९४७ में लगाया गया था और यह एक प्रगतिशील कर था जो १५,०००) रुपयों की न्यूनतम मूल्य से अधिक की सम्पत्ति पर लगाया गया था। १५,०००) रुपयों से ५०,०००) रुपयों तक कर की दर एक आने प्रति रुपया थी और १० लाख रुपया से अधिक के लाभों पर कर की दर ५ आने प्रति रुपया तक थी। व्यापार की वस्तुओं के विक्रय, व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुए और कृषि भूमि पर कोई कर नहीं था। जो हानि होती थी वह ६ वर्षों तक वे लाभो म से पूरी की जा सकती थी और कर उस लाभ पर लगता था जो हानि को पूरा करने के बाद बचता था। यह कर केवल इसीलिये लगाया गया था कि उस समय युद्ध के कारण सम्पत्ति के मूल्यों म बहुत वृद्धि हो गई थी और सम्पत्ति के विक्रय से व्यक्तियों को बहुत लाभ प्राप्त हो रहे थे। परन्तु सन् १९४९ मे ही इसको हटा लिया गया था।

कर जाँच आयोग इस कर के महत्व से भली भाँति परिचित था परन्तु उसने उस समय इस कर को लगाने की इसलिए सिफारिश नही की थी क्योंकि उसके विचार मे विनियोगों को प्रोत्साहित करने के लिये एक अच्छे वातावरण की आवश्यकता थी, जिसको इस कर के लगाने मे भंग होने का भय था। साथ ही उसने यह भी बताया कि विकास सम्बन्धी कार्यों के प्रभाव म जब सामान्य मूल्य—स्तर, लाभो तथा पूँजी के मूल्यो मे वृद्धि होगी तब इस कर को लगाना अधिक लाभप्रद होगा। प्रो० कलडोर ने अपनी कर सुधार योजना म इस कर को लगाने का प्रस्ताव दिया था। उनका विचार था सभी प्रकार के लाभो तथा आयों पर जो कम्पनियों को प्राप्त होते हैं, ७ आने प्रति रुपया की समान दर से कर लगाया जाय (यदि यह राशि २५,००० रुपयों से अधिक है तो)। यदि व्यक्तियों की आय तथा पूँजी लाभ २५,०००) रुपया से कम है तो उन पर नीची दरों से कर लगना था।

भारत मे पूँजीगत वस्तुओं के असाधारण विक्रय, विनिमय तथा हस्तान्तरण से प्राप्त होने वाले लाभों पर यह कर लगाया गया है। पूँजीगत वस्तुओं के अन्तर्गत साधारण व्यापार सम्बन्धी वस्तुएँ उपभोग की वस्तुएँ या कच्ची सामग्री जो व्यापारिक कार्यों के लिये होती है, व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुए और कृषि भूमि के *अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्तियाँ सम्मिलित* की गई है। कुछ प्रकार के पूँजीगत लाभो को कर-क्षेत्र मे सम्मिलित नही किया गया है जैसे उपहार मे सम्पत्ति के हस्तान्तरण के कारण प्राप्त होने वाले लाभ या हिन्दू सम्मिलित परिवार की सम्पत्ति के बटवारे से उत्पन्न होने वाले लाभ रिहाइश के मकान को बेचने से प्राप्त होने वाले लाभ आदि को कर मुक्त रखा गया है। हमारे यहाँ यह कर आय कर का ही एक भाग है। कर की दर आय कर के दरा के ही समान है। केवल उन्ही पूजी लाभो पर कर लगता है जो ५,०००) रुपयों से अधिक होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि पूँजी लाभों को सम्मिलित करके कुल लाभ १०,०००) रुपयों से अधिक नही है तब कुछ भी कर नही लिया जायेगा।

वास्तव मे इस कर के लगने से व्यक्तिगत करारोपण (Personal Taxation)

का ढाँचा भारत में अब पूरा हो गया है। निरन्तर बढ़ते हुए मूल्यों की स्थिति में वह कर बहुत ही उचित है। यह कर प्रो० कलडौर के प्रस्तावों के अनुकूल भी नहीं है। क्योंकि उन्होंने तो चार करो को एक साथ लगाने की एक समुचित योजना प्रस्तुत की थी। फिर भी यह विकास सम्बन्धी व्ययो के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले मूल्य वृद्धि को रोकेगा और आय की असमानताओं को भी कम करेगा।

अध्याय १८

संघ सरकार की आय के स्रोत (क्रमशः)
(वस्तु तथा व्यक्तिगत व्यय करारोपण)
Sources of Revenue of the Union Government (Contd.)
(Commodity and Personal Expenditure Taxation)

वस्तु करारोपण

प्राक्कथन—

वस्तु करारोपण के अन्तर्गत हम उन करो का अध्ययन करेंगे जो वस्तुओं के उत्पादन, क्रय एवं विक्रय, आयात, निर्यात आदि पर लगाए जाते हैं। इस अध्याय में हम केवल उन्हीं वस्तु करो का अध्ययन करेंगे जो भारत सरकार की आय के स्रोत हैं, अर्थात् उत्पादन कर (Excise duties) और सीमा शुल्क (Custom duties)। यद्यपि बिक्री कर (Sales Tax), चुगी कर (Octroi duty) और मार्गान्त कर (Terminal taxes) भी वस्तु कर है, किन्तु हम बिक्री कर का अध्ययन राज्यों की वित्त व्यवस्था (State Finances) का अध्ययन करते समय करेंगे और अन्तिम दो करो का अध्ययन हम स्थानीय वित्त व्यवस्था (Local Finances) के अध्ययन के साथ करेंगे।

वस्तुओं पर जो कर लगाये जाते हैं वे अप्रत्यक्ष कर (Indirect taxes) होते हैं। आधुनिक कर प्रणालियों मे इनका प्रमुख स्थान है और लगभग प्रत्येक देश के वित्तीय साधनो मे इनका विशेष महत्त्व है। ये कर सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी के समान हैं। सरकार को इनसे बहुत आय प्राप्त होती है। करारोपण के सिद्धान्तो अथवा न्याय की दृष्टि से तो इन करो का इतना महत्त्व नही है जितना कि इनका आर्थिक एवं सामाजिक महत्त्व है। आर्थिक दृष्टिकोण से सरकार को इनसे आय प्राप्त होती है और सामाजिक दृष्टिकोण से इनके द्वारा हानिकारक वस्तुओं का उपभोग नियमित किया जा सकता है। परन्तु ऐसे कर देश मे वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित नही करते, क्योंकि मूल्यो मे वृद्धि होने के कारण वस्तुओ का उपभोग कम होता जाता है। ये कर प्रतिगामी भी होते है, यदि ये ऐसी वस्तुओ पर लगाये

जाते हैं जिनका उपभोग अधिकतर किया जाता है। निम्न में हम इन करों का विस्तार में अध्ययन करेंगे :—

उत्पादन कर (Excise Duties)—

यह कर देश में उत्पन्न की हुई वस्तुओं पर लगाया जाता है। यह कर या तो उस समय लगाया जाता है जबकि वस्तुएँ बन रही होती हैं, या यह उनके उपभोक्ताओं तक पहुँचने से पहले ही लगा दिया जाता है। यह एक अप्रत्यक्ष कर है और क्योंकि यह वस्तुओं तथा सेवाओं पर लगाया जाता है, इसलिये इसका भार उपभोक्ताओं पर पड़ता है। इस उद्देश्य से कि इसका भार निर्धन व्यक्तियों पर कम पड़े, यह कर अधिकतर विलासयुक्त या प्रतिष्ठा सम्बन्धी वस्तुओं पर लगता है। यह कर जीवन की परम आवश्यक वस्तुओं पर नहीं लगता। विलासयुक्त वस्तुओं में सबसे उपयुक्त, मोटर गाड़ियाँ तथा उनसे सम्बन्धित वस्तुएँ, रेडियो इत्यादि वस्तुएँ हैं। प्रतिष्ठा सम्बन्धी वस्तुओं पर जैसे, तम्बाकू, सिगरेट, अफीम, मादकपेय आदि पर केवल इसीलिए कर लगाया जाता है ताकि व्यक्ति इन वस्तुओं का उपभोग कम कर दें और सयमी, सदाचारी और गम्भीर बनें। हमारे देश में लगभग सभी धर्मों में नशीली वस्तुओं के उपभोग को बुरा बताया गया है और आध्यात्मिकता को बल प्रदान किया गया है, इसीलिए तो प्राचीन समय से ही इन वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाया जा रहा है।

यह कर कई प्रकार से लगाया जा सकता है। प्रथम रीति, तो यह हो सकती है कि वस्तु विशेष की वास्तविक उत्पत्ति की मात्रा पर लगाया जाये। परन्तु इस रीति में कर की चोरी होने की बहुत सम्भावना है। यदि कर की चोरी कम करना है तो बहुत ही लम्बी चौड़ी व्यवस्था करनी होगी। वस्तु के उत्पादन की हर दशा में तथा हर स्थिति पर निगाह रखनी होगी और प्रत्येक दिन के उत्पादन का ब्यौरा रखना होगा, ताकि उत्पत्ति की मात्रा में किसी प्रकार की उलट फेर न हो सके। यदि एक ही वस्तु के बहुत से छोटे छोटे उत्पादक हैं और सरकार को वास्तविक उत्पादन का पता लगाना कठिन हो तथा अपव्ययी भी हो, तो दूसरी रीति यह होती है कि सरकार यह अनिवार्य करदे कि व्यक्तियों को उस वस्तु के उत्पादन के लिये लाइसेन्स लेने होंगे और लाइसेन्स जारी करते समय इनसे कुछ पैसा ले ले। इसकी अन्तिम रीति यह होती है कि सरकार किसी वस्तु का उत्पादन स्वय एकाधिकारी के रूप में करे और कर को वस्तु के मूल्य में मिलाकर उपभोक्ताओं से वसूल कर ले।

उत्पादन कर का भार उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है, जिसका परिणाम यह होता है कि उपभोग का स्तर नीचा होता जाता है। इसीलिए ये ऐसी वस्तुओं पर अधिक लगाया जाता है, जिनके उपभोग को सरकार कम करना चाहती है। यदि बिना सोचे समझे, बिना कर के प्रभावों की ओर ध्यान दिए ही उत्पादन कर लगा

दिए जायेंगे तो उपभोग कम होने से व्यक्तियों की कार्यक्षमता गिरती जायेगी। साथ ही उत्पादन भी कम होता है और वस्तुओं का उत्पादन व्यय बढ़ने लगता है। विदेशी वस्तुओं के आयात ऐसी स्थिति में प्रोत्साहित होते हैं। इसीलिए देश के उद्योगों को हानि से बचाने के लिए विदेशी वस्तुओं पर आयात कर लगा दिए जाते हैं। जो उत्पादन कर विलासयुक्त वस्तुओं पर लगाए जाते हैं वे प्रगतिशील भी होते हैं और धनी व्यक्तियों पर उनका भार पड़ने के कारण धन की असमानताओं को भी कम करते हैं। अतः देश के औद्योगिक विकास पर बुरा प्रभाव न पड़ने देने के लिए यह भी आवश्यक है कि कर का भार सहायक वस्तुओं पर न पड़कर उपभोग की वस्तुओं पर पड़े। इसी प्रकार यह उत्पादन की अन्तिम अवस्था में ही लागू किया जाय ताकि इसका भार उद्योगपतियों पर न पड़े। इसका एक लाभ यह भी होगा कि वस्तुओं में गुणात्मक भेद भाव (qualitative differentiation) किया जा सकेगा — अर्थात् अधिक गुण वाली वस्तुओं पर अधिक कर और कम गुण वाली वस्तुओं पर कम कर। अब हम इस स्थिति में हैं कि उत्पादन करों के लाभ तथा अवगुणों की संक्षेप में गणना कर सकें। उत्पादन कर के निम्न लाभ हैं —

करदाताओं को इन करों का भार मालूम नहीं पड़ता क्योंकि ये वस्तुओं के मूल्य में ही मिले होते हैं इसलिए ये अति सुविधाजनक होते हैं। दूसरा लाभ यह है कि यदि ये विलासयुक्त वस्तुओं पर लगाए जायें तो यह आय की असमानताओं को भी दूर कर सकते हैं। तीसरे ये कर उत्पादक होते हैं और अन्त में ये हानिकारक वस्तुओं के उपभोग को नियमित करने में सफल होते हैं। इनके विरुद्ध ये तर्क दिए जाते हैं —प्रथम क्योंकि ये अधिकतर सामान्य उपभोग की वस्तुओं पर लगाए जाते हैं इसलिए इनका भार निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है। इस प्रकार यह कर प्रतिगामी होते हैं। दूसरे ये देश में वस्तुओं के उत्पादन को हतोत्साहित करते हैं और कभी कभी तो देशी वस्तुओं के लिए यह असम्भव हो जाता है कि वे विदेशी वस्तुओं से प्रतियोगिता कर सकें। अन्त में इन करों में न्याय और लोचपूर्णता के सिद्धान्तों का पालन एक ही समय पर नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि ये न्याय की दृष्टि से लोचदार माग वाली वस्तुओं पर लगाए जाते हैं तो इनमें लोचपूर्णता नहीं रहती और यदि ये लोचपूर्णता की दृष्टि से बेलोच मांग वाली वस्तुओं (जो अधिकतर सामान्य उपभोग वाली वस्तुएं होती हैं) पर लगाए जाते हैं तो निर्धनों पर इनका भार अधिक पड़ने से इनकी न्यायपूर्णता समाप्त हो जाती है।

भारत में संघ सरकार द्वारा लगाए गये उत्पादन कर — हमारे देश में उत्पादन कर का इतिहास मुसलमानी शासन से आरम्भ होता है जबकि मादक पदार्थों पर उत्पादन कर लागू किया गया था। उस समय नशीली वस्तुओं की बिक्री का अधिकार उस व्यक्ति को दिया जाता था जो नीलाम में सबसे अधिक बोली बोलता था। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद उत्पादन कर प्रणाली में बहुत से परिवर्तन कर दिए गए। सन् १९०९ में नशीली वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाने का अधिकार प्रान्तों को सौंप दिया गया। आजकल जो भारत सरकार के उत्पादन कर हैं उनका

इतिहास सन् १९१९ के एक्ट से आरम्भ होता है। इस एक्ट के आधीन उत्पादन कर दो भागों में विभाजित किए गए थे। प्रथम, प्रान्तीय उत्पादन कर और दूसरे केन्द्रीय उत्पादन कर। यह विभाजन किसी प्रकार भी वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया गया था वरन् इसका मुख्य उद्देश्य प्रशासन सम्बन्धी सुविधा को प्राप्त करना था। मादक पेयों के उत्पादन तथा विक्रय पर कर लगाने और वसूल करने का अधिकार प्रान्तों को सौंप दिया गया था और अफीम, आयात की हुई स्प्रिट, शकर, दियासलाई पर उत्पादन कर लगाने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को दिया गया था। सन् १९३५ के एक्ट में इन वस्तुओं की संख्या में और भी अधिक वृद्धि कर दी गई थी और नए संविधान के अनुसार संघ सरकार, एलकोहल सम्बन्धी शराबों और अफीम, भारतीय भाँग और अन्य निद्राकारक औषधियों (Narcotic Drugs) के अतिरिक्त सभी वस्तुओं पर कर लगा सकती है। उपर्युक्त वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारों को ही होगा। प्रथम वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार तम्बाकू, दियासलाइयों और वनस्पति वस्तुओं पर लगाए हुए उत्पादन करों की आय का बटवारा केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के बीच होगा। दूसरे वित्त आयोग ने इन वस्तुओं की संख्या को और बढ़ा दिया और अब शकर, चाय, कहवा, कागज और वनस्पति अनावश्यक तेलों की आय भी राज्यों और केन्द्रीय सरकारों में बँटेगी।

आजकल केन्द्रीय सरकार निम्न वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाती है:—तम्बाकू, रूई और उससे उत्पादित वस्तुएं, चाय, कोयला, दियासलाई, चीनी, टायर, सिगरेट, सुपारी, साबुन, वनस्पति वस्तुएं, वनस्पति अनावश्यक तेल, मोटर, स्प्रिट, कागज, स्पात पिंडक, रेशमी कपड़ा, सीमेंट, जूते आदि। सन् १९५३ में कपड़े पर ३ पाई फी गज की दर से उपकर (Cess) लागू किया गया था जिससे प्राप्त आय में से करघा तथा खादी उद्योग को आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी।

अन्य करों की भाँति उत्पादन करों की दरों में समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। सन् १९५७ में उत्पादन करों में बहुत अधिक परिवर्तन किये गये थे। सन् १९५५ में कर जाँच आयोग का प्रस्ताव था कि मिट्टी का तेल, चीनी, दियासलाई, चाय, कपड़े पर करों की दरें बढ़ा दी जायें। आयोग ने तम्बाकू, सिगरेट, मोटर, स्प्रिट, स्पात पिंडक (Steel Ingots), टायर, वनस्पति वस्तुओं पर कर की दर न बढ़ाने का सुझाव दिया था। आयोग का यह भी सुझाव था कि कपड़ा सीने की मशीनें, ऊनी कपड़ा, बिस्कुट, कागज, बैट्रियाँ, पेन्ट और वार्निश, बिजली के पंखे, लैम्प तथा चीनी के बरतनों पर भी उत्पादन कर लागू कर दिया जाय। आयोग का विश्वास था कि काँच और चीनी के बरतनों के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओं पर नीची दर से उत्पादन कर लगाना उपयुक्त होगा।

सन् १९५७ का बजट प्रस्तुत करते हुए वित्त मंत्री ने यह घोषित किया था कि योजनाबद्ध आर्थिक विकास से सम्बन्धित करारोपण नीति का मुख्य उद्देश्य उपभोग को नियन्त्रित करना होना है ताकि मूल्यों के बढ़ने की प्रकृति कम हो और विनियोगों की प्रवृत्ति में वृद्धि हो। स्पष्ट ही है कि इस उद्देश्य की पूर्ति केवल

अप्रत्यक्ष करारोपण द्वारा ही हो सकता है। इसलिए कुछ उपभोग की वस्तुओं जैसे मोटर स्प्रिट वनस्पति तेल बना हुआ तम्बाकू तथा दियासलाइयों आदि वस्तुओं पर उत्पादन करों की दर बढ़ा दी गई। इसके अतिरिक्त पैकेजगत वस्तुओं तथा कच्चा सामग्री जैसे सीमेंट स्टील पिन्क पर भी उत्पादन कर बढ़ा दिया गया। यद्यपि वित्त मंत्री ने यह विश्वास दिलाया कि उपभोग की वस्तुओं पर बढ़ाये हुए उत्पादन कर का भार विक्रेताओं पर ही पड़ेगा और व्यापारियों तथा व्यवसायियों के लाभ की दर कम हो जायगी परन्तु यह कहना कठिन हो जाता कि वित्त मंत्री की आशा किस सीमा तक पूरी हो सकेगी। बस तो इसका भार उपभोक्ताओं पर ही अधिक पड़ेगा। वास्तव में आजकल हमारे देश में परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हैं कि उत्पादन करों की वृद्धि की आलोचना करना ठीक नहीं लगता। हमारे देश में आर्थिक विकास के लिए सरकार को बहुत अधिक धन की आवश्यकता है। विदेशों से हमको आजकल ऋण नहीं प्राप्त हो पा रहे हैं। अतः यदि देश के सभी व्यक्ति कुछ बलिदान करने को तैयार नहीं होंगे तो देश का आर्थिक विकास कदापि भी सम्भव न हो सकेगा और हमारा देश कभी भी समृद्धिशाली नहीं बन सकेगा। इसलिए इन करों को बलिदान का ही एक रूप समझकर सहन करना चाहिए। दूसरे हम आवश्यक धन अल्प बचतों से भी प्राप्त हो सकता है। परन्तु जब तक लोग अपनी आय को उपभोग पर खर्च करते रहेंगे उस वक्त तक वे कुछ भी नहीं बचा सकेंगे। इसलिए यह आवश्यक है कि करों द्वारा वस्तुओं के उपभोग को कम किया जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके विरुद्ध भी काफी आलोचना की जा सकती है क्योंकि एक तो उपभोक्ता पहले से ही ऊँचे मूल्यों के दबाव से मरे रहे हैं उनका उपभोग का स्तर पहले ही काफी गिर चुका है और करों की इस वृद्धि के बाद तो और भी अधिक कमी हो जायगी। यह सब कुछ सच है परन्तु जैसा कि वित्त मंत्री ने स्वयं बताया था इन वृद्धियों से कर भार में कोई विशेष वृद्धि नहीं होगी। उनका अनुमान है कि ग्रामीण क्षेत्रों में ०.७८% की और शहरी क्षेत्रों में १.५% की वृद्धि होगी। हम तो इस वृद्धि से घबराना ही नहीं चाहिए वरन हमें सभी में बलिदान करने की भावना उत्पन्न होना चाहिए ताकि हमारा देश अनिश्चित कठिनाइयों में बच सके। परन्तु यह ध्यान रहे कि व्यवहार में इन करों की वृद्धि से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। क्योंकि एक ओर तो फुटकर मूल्यों में वृद्धि होती चली जा रही है और दूसरी ओर सीमेंट तथा स्टील के मूल्य बढ़ जाने से मकानों तथा अन्य योजनाओं की लागत बढ़ती चली जा रही है। सन् १९५८—५९ में सीमेंट और शक्ति द्वारा मशीनों से बने हुए कपड़ा पर उत्पादन कर और बढ़ा दिया गया और वनस्पति वस्तुओं पर उत्पादन कर को कम कर दिया गया। यहाँ पर यह बताना अनुपयुक्त न होगा कि भारत सरकार को कर स्रोतों में सबसे अधिक आय उत्पादन करों से ही प्राप्त होता है और इन करों से प्राप्त आय प्रत्येक वर्ष बढ़ती ही जा रही है। यह निम्न आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है। निम्न तालिका में राज्यों का हिस्सा निकालने के बाद केन्द्रीय सरकार को जो आय प्राप्त होती है उसके आंकड़े दिये गये हैं —

(करोड रुपयों में)

वर्ष	आय	वर्ष	आय	वर्ष	आय
१९५३–५४	७६.४३	१९५५–५६	१२८.६८	१९५७–५८	२२४.३२
१९५४–५५	६३.११	१९५६–५७	१७२.२१	१९५८–५९	२३५.७६

सन् १९५९-६० का बजट प्रस्तुत करते हुए श्री देसाई ने यह घोषित किया कि रेशमी कपड़े पर पुराने ६ पाई के स्थान पर नये ६ नये पैसे प्रति गज की दर से उत्पादन कर लगेगा और रेशमी सूत पर ७ प्रतिशत की दर से उत्पादन कर में वृद्धि की जावेगी। इसी प्रकार खड़सारी शकर पर ५.६०% के उत्पादन कर के अतिरिक्त बिक्री कर के स्थान पर ७० नये पैसों की दर से उत्पादन कर में वृद्धि कर दी गई। विशेष क्षेत्रों में उत्पादित चाय पर उत्पादन कर कम कर दिया गया है। डीजल तेल पर उत्पादन कर की दर ४०) रुपये प्रति टन से बढ़ाकर ५०) रुपये प्रति टन कर दिया गया है।

नमक कर—नमक उपभोग की एक आवश्यक वस्तु है। इसलिए इस पर कर लगाने से प्रत्येक देश की सरकार को बहुत आय प्राप्त होती है। अन्य देशों की भाँति भारत में भी बहुत प्राचीन समय से नमक पर कर लगता आया है। ब्रिटिश साम्राज्य काल में तो नमक करारोपण की मुख्य वस्तु थी। परन्तु सन् १९४७ में नमक कर समाप्त कर दिया गया। नमक कर की समय समय पर बहुत कड़ी आलोचना होती रही है। नमक उपभोग की एक आवश्यक वस्तु है। भारत के निवासी अत्यधिक निर्धन होने के कारण कर का भार उन पर बहुत अधिक पड़ता है। यह केवल व्यक्तियों के लिये ही नहीं वरन् जानवरों के लिये भी आवश्यक है। बहुत से रासायनिक उद्योग भी इस पर आधारित हैं। नमक पर कर लगने से न केवल मनुष्यों और जानवरों को ही हानि होती है बल्कि उद्योगों को भी क्षति पहुँचती है। इसी कारण देश के प्रमुख नेताओं ने इसका बड़ा विरोध किया था। दादा भाई नौरोजी, गोखले, महात्मा गाँधी आदि सभी नेताओं ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई थी। महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन में नमक कर नियम को तोड़ने का निश्चय एक मुख्य अंग था। महात्मा गांधी के शब्दों में यह कर 'निर्धन व्यक्तियों के दृष्टिकोण से सबसे अधिक अन्याय पूर्ण है।" महात्मा गाँधी की डंडी यात्रा चिरस्मरणीय रहेगी। इन्हीं सब का परिणाम यह हुआ कि सन् १९४७ में स्वतन्त्रता के पश्चात् इस कर को हटा दिया गया।

भावुकता को परे रखकर यदि हम सत्यता और व्यवहारिकता की दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि नमक कर का भार जितना अधिक बुरा समझा जाता है उतना अधिक है नहीं। यह अनुमान लगाया गया था कि एक वर्ष में एक व्यक्ति को तीन से चार आने देने पड़ते थे। इस प्रकार नमक कर को हटाने से एक व्यक्ति को अधिक से अधिक चार आने का लाभ पूरे एक वर्ष में प्राप्त होता था। इसके

अतिरिक्त चार आनों का यह लाभ कभी भी किसी एक समय पर प्राप्त नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति नमक को समय समय पर थोड़ी थोड़ी मात्रा में खरीदता है। इस तरह नमक कर के हटाने से न तो व्यक्तियों के पास चार आने बचने से बहुत लाभ प्राप्त होगा और न नमक कर के लगने से व्यक्तियों की जेब में से एक वर्ष में चार आने निकल जाने से उनको कोई हानि ही होगी, साथ ही सरकार को बहुत अधिक नुकसान होता है। आजकल जब कि सरकार को विकास कार्यों के लिये धन की इतनी अधिक आवश्यकता है नमक कर को फिर से लागू करना अनुचित न होगा विशेष कर जब कि कपड़ा साबुन, अनाज और मिट्टी का तेल आदि आवश्यक वस्तुओं पर उत्पादन और बिक्री कर लगे हुये हैं। देखा जाय तो इन वस्तुओं पर कर लगने से नमक कर की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों पर अधिक भार पड़ता है। क्योंकि निर्धन व्यक्ति इन वस्तुओं पर अपनी आय का बहुत बड़ा भाग खर्च करते हैं। नमक कर से उद्योगों को भी कोई विशेष हानि नहीं होगी। उद्योग सम्बन्धित बहुत सी ऐसी वस्तुओं पर कर लगे हुये हैं जो नमक की अपेक्षा अधिक आवश्यक हैं। इसलिये यह समझ में नहीं आता कि नमक कर लगने से ही उद्योगों को कौन सी बड़ी हानि पहुँचने की सम्भावना हो सकती है। अत नमक कर का विरोध केवल भावुकता के आधार पर ही किया जा सकता है वरन् आर्थिक दृष्टिकोण से इस प्रकार के विरोध में कोई भी तथ्य नहीं है।

सीमा-शुल्क (Custom Duties) —

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सीमा शुल्क संसार में सबसे पुराना कर है। आरम्भ में यह कर व्यापारियों के व्यापारिक लाभों पर लगाया जाता था, परन्तु आजकल, उत्पादन कर की भांति यह कर वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। सीमा शुल्क दो प्रकार के होते हैं—आयात कर, जो उन वस्तुओं पर लगाये जाते हैं जो देश की सीमाओं के अन्दर विदेशों से आती हैं, और निर्यात कर, जो उन वस्तुओं पर लगाये जाते हैं जो देश की सीमाओं से बाहर विदेशों को भेजी जाती हैं।

निर्यात कर—आरम्भ में यह कर बहुत ही लोकप्रिय था क्योंकि अधिकतर यही विचार था कि उनका भार आयातकर्त्ताओं पर पड़ता है। परन्तु सदैव ही ऐसा नहीं होता, क्योंकि जैसा कि हम कह चुके हैं कर भार, आयातकर्ता एवं निर्यातकर्ता देशों की वस्तुओं की मांग एवं पूर्ति की सापेक्षिक लोचों पर निर्भर करता है। निर्यात-कर सर्वप्रथम ऊन और खालों पर इंगलैण्ड में सन् १२७५ में लगने आरम्भ हुये थे। १७ वीं शताब्दी तक निर्यात कर योरोपीय देशों में बड़े ही लोकप्रिय रहे, क्योंकि इनको देश में अनाज की पूर्ति को बनाये रखने का एक साधन समझा जाता था। वाणिकवादी नीतियों (Mercantilistic Policies) की प्रगति एवं विकास के साथ साथ, इनका सूर्य भी अस्त होता गया, क्योंकि यह विदेशी व्यापार में बाधा समझी जाने लगी। स्वतन्त्र व्यापार की नीति ने तो इनके महत्व को पूर्णतया समाप्त कर दिया।

परन्तु यह स्थिति बहुत वर्षों तक न चल सकी और समय ने भी करवट ली। निर्यात करों का महत्व फिर बढ़ने लगा। संरक्षा सम्बन्धी विचारों तथा राष्ट्रीयता की भावना की उन्नति के साथ साथ और प्रथम महायुद्ध के बाद निर्यात करों का प्रयोग फिर आरम्भ हुआ। आजकल यह अधिकतर पिछड़े हुये देशों में कच्ची सामग्री, खनिज पदार्थों और देश के प्राकृतिक साधनों को सुरक्षित रखने के लिये इन्हीं वस्तुओं के निर्यात पर लगाये जाते हैं। यह उन वस्तुओं पर भी लगाये जाते हैं, जिनकी माग बेलोच होती हैं, परन्तु इन वस्तुओं पर निर्यात कर लगाने का उद्देश्य इनको सुरक्षित रखने का नहीं होता, बल्कि अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन करना होता है। कभी कभी यह केवल आय प्राप्ति के उद्देश्य से ही लगाये जाते हैं, जबकि ये उत्पादन पर लगाये जाते हैं और केवल उसी भाग पर लगाये जाते हैं जिसका निर्यात होता है। यह ध्यान रहे कि इस प्रकार के कर बड़ी सावधानी और सोच-विचार के बाद लगाने चाहिये, क्योंकि इनके लगने से देशीय उत्पादक इस स्थिति में नहीं रहते कि विदेशियों से प्रतियोगिता कर सकें।

आयात कर—जब से लोगों का यह भ्रम दूर हुआ और उन्हें यह मालूम हुआ है कि निर्यात करों का भार आयातकर्ताओं पर नहीं पड़ता तब से आयात करों का बहुत अधिक प्रयोग होने लगा है। इनका उपयोग विदेशी आयातों को रोकना और देशीय उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से सुरक्षित रखने के लिए किया जाता है। जब से सरकारों ने नागरिकों के आर्थिक कल्याण के लिए नियोजन कार्य आरम्भ किया है और नागरिकों के आर्थिक जीवन में अधिक मात्रा में हस्तक्षेप करना आरम्भ किया, उस समय से आज तक इनका उपयोग निरन्तर बढ़ता ही गया है। इनका उपयोग भी प्रथम महायुद्ध के बाद बहुत बढ़ा है। सन् १९३० के मन्दी काल तथा रूस में आर्थिक नियोजन की सफलता ने तो आयात करों के गुणों को और भी अधिक प्रदर्शित कर दिया और यह सिद्ध कर दिया कि ये देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के लिये एक शक्तिशाली अस्त्र हैं। इन करों को लगाने के मुख्यतया दो उद्देश्य होते हैं—प्रथम संरक्षण और दूसरा, आय प्राप्त करना। कुछ लोगों का विश्वास है कि आयात करों द्वारा विदेशी प्रतियोगिता को भी रोका जा सकता है और साथ ही आय भी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु यह केवल एक भ्रम है, क्योंकि संरक्षात्मक करों से विदेशी आयातें कम होंगी और सरकार की आय भी कम होगी। अत या तो संरक्षण ही प्रदान किया जा सकता है या आय प्राप्त की जा सकती है। दोनों उद्देश्यों की पूर्ति एक साथ नहीं की जा सकती है। है तो यह बात सही, परन्तु सत्य यह भी है कि परोक्ष रूप में दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति होती है। यह असम्भव है कि संरक्षण हेतु जो सीमा शुल्क लगाये जायें उनमें आय प्राप्त न हो या आय के उद्देश्य से सीमा शुल्क लगाये जायें और उनके फलस्वरूप उद्योगों की रक्षा न हो। व्यवहार में सीमा शुल्क इन दो उद्देश्यों के अतिरिक्त और भी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लगाये जाते हैं। उत्पादन करों के बुरे प्रभावों को कम करने के उद्देश्य से भी सीमा शुल्क लगाये जाते हैं। इसमें तो कोई सन्देह हो नहीं कि उत्पादन करों के फलस्वरूप वस्तुओं के मूल्य

बढ़ ही जाते हैं, जिसके कारण देशीय व्यापारियों एवं उत्पादकों को विदेशों से प्रतियोगिता करना असम्भव हो जाता है। विदेशी वस्तुओं पर कोई कर जो नहीं होता इसीलिये वह सस्ती होती है। सरकार इस भेद-भाव का अन्त करने के लिए विदेशी वस्तुओं पर आयात कर लगाकर उनके मूल्यों को देशीय वस्तुओं के मूल्य के बराबर ले आती है। इसके अतिरिक्त सीमा शुल्क द्वारा सरकार देश के मूल्य-स्तर को भी प्रभावित कर सकती है। आयात कर कम करके सरकार आयातों को प्रोत्साहित करके देश के मूल्य स्तर को नीचा कर सकती है और गिरते हुए मूल्य स्तर को बहुत कुछ सीमा तक आयात करों को बढ़ा कर ऊँचा कर सकती है। इसके विपरीत निर्यात करों की वृद्धि द्वारा निर्यातों में कमी हो जाने से मूल्य स्तर गिरने लगता है, और निर्यात करों की कमी द्वारा निर्यातों के प्रोत्साहित होने से मूल्य स्तर को ऊँचा किया जा सकता है। अतः आधुनिक कर प्रणालियों में सीमा शुल्क का बहुत महत्व है।

सीमा शुल्क या मूल्यानुसार लगाये जाते हैं या परिमाणानुसार। जब ये मूल्यानुसार लगाये जाते हैं तो इन्हें यथा मूल्य (Advalorem) कहते हैं और जब ये परिमाणानुसार लगते हैं तो इन्हें परिमाणिक (Specific) कहते हैं। प्रथम प्रकार के सीमा शुल्क की दरें वस्तुओं के मूल्यों पर निर्भर करती हैं और ये प्रगतिशील होते हैं। दूसरी प्रकार के सीमा शुल्क वस्तुओं की मात्रा, संख्या, आकार एवं भार के अनुसार लगते हैं और प्रतिगामी होते हैं क्योंकि जो कर वस्तुओं की मात्रा एवं भार के अनुसार लगाये जाते हैं वे उपभोक्ताओं से वसूल कर लिये जाते हैं। प्रथम प्रकार के करों को निश्चित करना सरल नहीं होता, क्योंकि अधिकांश वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका मूल्य नहीं आँका जा सकता। इसीलिये इनकी व्यवस्था भी बहुत कठिन होती है। दूसरी ओर प्रमाणिक सीमा शुल्क बड़ी सुगमता से निश्चित किये जा सकते हैं और इनकी व्यवस्था भी इतनी जटिल नहीं होती। साथ ही इनकी दरें भी निश्चित होती हैं।

सीमा-शुल्क का भार (Incidence of Custom Duties)—सीमा शुल्क का भार, वस्तुओं पर लगे हुए अन्य करों की भाँति, आयात कर्ता एवं निर्यात कर्ता देशों की वस्तुओं की माँग और पूर्ति की सापेक्षिक लोचों पर निर्भर करता है। यदि ऐसी वस्तुओं पर सीमा शुल्क लगाये जाते हैं जिनका उत्पादन *कम नहीं किया जा* सकता अर्थात् जिनकी पूर्ति बेलोच होती है तो इसका भार उत्पादकों पर पड़ता है। कर भार निश्चित करते समय यह देखना होगा कि किन वस्तुओं पर निर्यात कर या आयात कर लगाये जा रहे हैं। कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनकी उत्पत्ति बेलोच होते हुए भी उनकी पूर्ति किसी अन्य देश विशेष के लिये लोचदार होती है। यदि आयात कर्ता देश ऐसी वस्तुओं पर आयात कर लगाते हैं तो निर्यात कर्ता देश की निर्यातें कम हो जायेंगी और आयात करों का भार आयात कर्ता देश के उपभोक्ताओं पर पड़ेगा, क्योंकि आयातें कम होने से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जायेंगे। कर भार आयात कर्ता देशों के उपभोक्ताओं पर और भी अधिक पड़ेगा यदि निर्यात कर्ता

देश ऐसी वस्तुओं का उत्पादन कर रहा है जिनके उत्पादन में उसे एकाधिकार प्राप्त है।

इसी प्रकार यदि किसी देश के लिए, किसी वस्तु विशेष की माँग बेलोच है, तो सीमा शुल्क का भार आयात कर्ता देश के उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। अधिकतर खाद्य-पदार्थ एवं कच्चे माल पर लगे हुए करों का यही परिणाम होता है, चाहे ये सीमा शुल्क आयात कर्ता देश द्वारा लगाये जायें या निर्यात कर्ता देश द्वारा, इनका भार सदैव ही उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। यह ध्यान रहे कि जब कि साधारणतया आयात कर्ता देश को किसी वस्तु की माग बेलोच होती है, किन्तु किसी विशेष निर्यातकर्ता देश के सम्बन्ध में उसकी माँग लोचदार भी हो सकती है, अर्थात्, यदि कोई देश निर्यात कर लगा देता है तो आयात कर्ता देश को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह उन वस्तुओं को किसी अन्य देश से मगा सकता है। उदाहरणार्थ, भारत अनाज, कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों से मगा सकता है पर वह कनाडा से ही मगाता है। यदि कनाडा यह समझकर कि भारत के लिए अनाज की माँग बेलोच है निर्यात कर लगा देता है, जिससे अनाज के मूल्य ऊँचे हो जाते है तो भारत कनाडा से अनाज मगाना बन्द करके आस्ट्रेलिया तथा अन्य देशों से मगा सकता है। इस प्रकार जब कि भारत के लिये अनाज की माँग बेलोच है, किन्तु कनाडा के सम्बन्ध में या किसी भी देश विशेष के लिए भारत की माग लोचदार है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सीमा शुल्क का भार प्रत्येक देश के सौदा करने की शक्ति पर निर्भर करता है। अत सक्षेप म हम कह सकते है कि, यदि किसी देश की माग दूसरे देशों की वस्तुओं के लिए, अपनी वस्तुओं के लिए विदेशों की माग की अपेक्षा, अधिक लोचदार है तो सीमा शुल्क का भार दूसरे देशों पर पड़ेगा और यदि बेलोच है तो इसी देश पर पड़ेगा।

भारत में सीमा शुल्क (Custom Duties in India) — मुस्लिम काल मे हमारे देश म सीमा शुल्क की दर बहुत ही नीची थी और साधारणतया यह कहा जा सकता है कि यह दर मूल्यानुसार ५% थी। जब अंग्रेज़ हिन्दुस्तान म आये तो उन्होंने तत्कालीन प्रणाली म कोई भी परिवर्तन नहीं किया। उन्होंने केवल कुछ वस्तुओं के लिए सीमा शुल्क की दरें बढ़ा दी और अंग्रेजी वस्तुओं तथा गैर अंग्रेजी वस्तुओं के बीच में इस प्रकार भेद भाव करना आरम्भ कर दिया कि अंग्रेजी वस्तुओं को लाभ प्राप्त हो। सन् १८५७ की अशान्ति तथा विद्रोह को दबाने के लिए सरकार ने जो व्यय किया था उसकी पूर्ति करने के उद्देश्य से सीमा शुल्क की दर ५ से बढ़ा कर १०% कर दी। विलासिता की वस्तुओं पर तो २०% तक की दर थी। १९ वी शताब्दी के बाद के वर्षों में स्वतन्त्र व्यापार की प्रगति से सीमा शुल्क को समाप्त करने की प्रवृत्ति आरम्भ हुई, परन्तु सन् १८९४ में सरकार की वित्तीय क्षेत्रों म इतनी कठिनाइयाँ आरम्भ हुई कि उसने सीमा शुल्क की दरों को फिर से बढ़ाना आरम्भ कर दिया। उस समय सीमा शुल्क भारतीय कपड़ा व सूत, लोहा तथा इस्पात पर लगे हुए थे। इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर तट

(Tariff duties) कर लगे हुए थे। प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होते ही सरकार को सीमा शुल्क की दरों को बढ़ाना पड़ा। परन्तु इस वृद्धि का मुख्य उद्देश्य आय प्राप्त करना था, संरक्षण प्रदान करना नहीं था। अभी तक भारतीय सरकार के मस्तिष्क में संरक्षण प्रदान करने की बात नहीं उत्पन्न हो पाई थी। सन १९२२ के बाद भारतीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की योजना का श्रीगणेश हुआ। और साधारणतया आयात करों में ४% की वृद्धि कर दी गई। ओटावा व्यापार समझौते की स्वीकृति से भारत को सन १९ २ में शाही अधिमान (Imperial preference) की नीति अपनानी पड़ी। फलस्वरूप भारत को अपनी सीमा शुल्क की दरों में कुछ विशेष परिवर्तन करने पड़े जो इंग्लैंड के पक्ष में थे। इसी प्रकार सन् १९३५ और ३९ में भी ब्रिटेन से समझौते हुये तथा जापान, ब्रह्मा आदि देशों से भी व्यापारी समझौते हुये। ब्रिटेन से जो समझौता सन १९ ९ में हुआ उसमें भारतीय तट कर नीति की घोषित स्वतन्त्रता केवल दिखावटी ही थी। दूसरी लड़ाई में सामान्य रूप से सभी वस्तुओं पर सीमा शुल्क बढ़ा दिये गये थे। सन १९४७ में हमारे देश के सीमा शुल्क में फिर से परिवर्तन हुए। शराब, सुपारी, सोना, चाँदी इत्यादि वस्तुओं पर सीमा शुल्क बढ़ाए गए और मिट्टी के तेल इत्यादि वस्तुओं पर कम कर दिये गए। सन १९४८-४९ में भी बहुत सी वस्तुओं पर सीमा शुल्क की दरें कम कर दी गई। परन्तु अगले वर्ष ही बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने के लिए सीमा करों को फिर से बढ़ा दिया गया। कुछ वस्तुओं पर नये निर्यात कर लगाये गये और कुछ पर नये आयात कर लगाये गये।

यह ध्यान रहे कि सन १९३७-३८ से पहले सीमा शुल्क से जो आय दिखाई जाती थी उसमें केन्द्रीय उत्पादन करों की आय भी सम्मिलित होती थी। दूसरी लड़ाई में सीमा शुल्क से आय गिरती ही गई क्योंकि दूसरे युद्ध काल में भारतीय निर्यात और आयात भी बहुत कम हो गये थे। परन्तु लड़ाई खत्म होते ही इस आय में फिर से वृद्धि होने लगी और जब कि देश के विभाजन से भारतवर्ष को जूट निर्यात कर से बहुत कम आय प्राप्त हो रही थी तब भी सीमा शुल्क से आय बढ़ती ही गई। सीमा शुल्क से इस बढ़ती हुई आय का मुख्य कारण यह है कि इन वर्षों में सीमा शुल्क की दरों में विशेषकर विलासिता की वस्तुओं में सामान्य वृद्धि हुई थी। परिणामस्वरूप सरकार को सीमा शुल्क से काफी आय प्राप्त होती गई और आज भी भारत सरकार को सीमा शुल्क से बहुत आय प्राप्त हो रही है। सन १९४२-४३ में सीमा शुल्क से प्राप्त आय कुल आय की केवल २१% थी जो सन १९५१-५२ में ४२% हो गई थी। पिछले वर्षों में इस आय में कमी होती रही है और सन १९५७-५८ में यह केवल २८.२ प्रतिशत थी। आजकल हमारी सामान्य आयात कर लगभग २५% है। यह सभी वस्तुओं पर लागू होता है परन्तु कुछ विलासिता की वस्तुओं पर कर की दर अधिक है। कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जिन पर ऊंची दर से संरक्षण के उद्देश्य से आयात कर लगाये जाते हैं और कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जिन पर आयात कर नहीं लगाये जाते हैं। विलासिता की वस्तुओं पर कर की

दर ७५% से १००% तक है। आजकल सीमा शुल्क मुख्य रूप से इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लगाये जा रहे हैं। प्रथम, आय की प्राप्ति, दूसरे, मुद्रा स्फीति को रोकना, तीसरे, देश की प्रमुख निर्यातों पर देश के भीतर तथा विदेशी मूल्यों के अन्तर से लाभ प्राप्त करना और चौथे आवश्यक कच्चे माल को देश से बाहर जाने से रोकना ताकि देशीय उद्योगों की माँग पूरी हो सके। यद्यपि सीमा शुल्क भारत सरकार के बजट में आय का प्रमुख स्रोत रहे हैं परन्तु पिछले वर्षों में आयातों पर कड़े नियन्त्रण लग जाने से इनकी आय कम होती जा रही है और संघ सरकार के बजटों में इनका स्थान उत्पादन करों ने ग्रहण करना आरम्भ कर दिया है। पिछले वर्षों में सीमा शुल्क से इस प्रकार आय प्राप्त हुई थी —सन १९५३-५४ में १८८.७१ करोड़, १९५४-५५ में १८४.८६ करोड़, सन् १९५५-५६ में १६६.७० करोड़ सन् १९५६-५७ में १७३.२३ करोड़ सन् १९५७-५८ में १८३ करोड़ रुपये और सन् १९५८-५९ में १७० करोड़ रुपये का अनुमान था।

सीमा शुल्क के सम्बन्ध में कर जाँच आयोग ने निम्न सिफारिशें दी थी[1] —

(अ) आयात करों की दरों को बढ़ा कर अधिक आय प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

(ब) आयात नियन्त्रण नीति में निरन्तर परिवर्तन होते रहने चाहिये ताकि उनसे अधिक आय प्राप्त हो सके।

(स) विदेशों से व्यापारिक समझौते करते समय सरकार को चाहिये कि वह केवल व्यापारिक दृष्टिकोण को ही सामने न रक्खे बल्कि आय पर भी विचार करे।

(द) निर्यातों में विविधता उत्पन्न करके निर्यात करों से प्राप्त आयों को बढ़ाया जा सकता है।

(ह) निर्यात करों को निर्यातों के नियन्त्रण के साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है और विदेशी मूल्य वृद्धि से देशी अर्थव्यवस्था को बचाया जा सकता है।

(य) निर्यात करों से प्राप्त आय को सरकार केवल कुछ विशेष उद्योगों के विकास के लिये ही उपयोग न करे।

व्यय-कर
(*Expenditure Tax*)—

व्यय कर लागू करने का विचार कोई नया नहीं है। पिछली शताब्दी से भी इसकी चर्चा हॉब्स, मिल, मार्शल आदि लेखकों ने की थी किन्तु उनको व्यय कर की व्यावहारिकता के बारे में सन्देह था। मार्शल तो प्रगतिशील व्यय कर को अन्य करों की अपेक्षा सबसे अच्छा समझते थे।[2] कीन्स भी इस को सैद्धान्तिक दृष्टि-

1 Cf Report of the *Taxation Enquiry Commission* Vol. II Pages 276 278
2 Cf *Principles of Economics* 1949, Appendix G Page 661.

कोष में अच्छा समझते थे परन्तु उनका विश्वास था कि इसको व्यवहारिक रूप देना असम्भव था। गत वर्षों में प्रो० कालडोर ने व्यय कर का बहुत पक्ष लिया है और आजकल व्यय कर की ओर ध्यान आकर्षित करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।

व्यय कर, जैसा इसके नाम से ही विदित है व्यक्ति विशेष द्वारा किये गये कुल व्यय पर लगाया जाता है। इस कर के पक्षपाती व्यक्तिगत व्यय को आय की अपेक्षा करारोपण का अधिक उचित आधार मानते हैं। उनके अनुसार व्यय कर, आयकर की अपेक्षा अधिक न्यायपूर्ण है और इसके प्रभाव उत्पादन पर इतने बुरे नहीं होते जितने कि आय कर के। प्रो० कालडोर ने आय को करारोपण का उचित आधार मानने में आपत्ति की है। वह आय को व्यक्ति की कर-दान योग्यता का माप नहीं मानते। उनके विचार में व्यक्ति कितना कर दे सकता है इस बात से निश्चित नहीं किया जा सकता कि उसकी आय कितनी है वरन् इस बात से निश्चित हो सकता है कि वह वास्तव में कितना व्यय करता है। कालडोर ने तर्क देते हुये बताया कि इसके बारे में लेखक एकमत नहीं हैं कि करारोपण के लिये कौन कौन से स्रोतों से प्राप्त आय को व्यक्ति की कुल आय में सम्मिलित किया जाय क्योंकि एक व्यक्ति अपनी आय अनेक स्रोतों से प्राप्त करता है। कुछ आय ऐसी होती है जो आय कर क्षेत्र में सम्मिलित नहीं की जाती जैसे पूँजी लाभ (capital gains)। इसीलिये भिन्न भिन्न स्रोतों से प्राप्त करने वाले व्यक्तियों पर भिन्न भिन्न रूप से कर लगाया जाता है, चाहे उनकी कुल आय समान हो और उनकी व्यय शक्ति भी समान क्यों न हो। यही नहीं वरन् एक व्यक्ति की व्यय करने की शक्ति इस बात पर भी निर्भर करती है कि उसके पास सम्पत्ति कितनी है। यदि एक व्यक्ति के पास दूसरे की अपेक्षा अधिक सम्पत्ति है तो उसकी व्यय करने की शक्ति भी अधिक होगी। अतः उस धन में जिसे मनुष्य खर्च करता है और वह धन जिसके आधार पर कर लगाया जाता है बहुत बड़ा अन्तर होता है। परिणामस्वरूप कुछ व्यक्तियों को अपनी कुल मौद्रिक आय पर कर देना पड़ता है और कुछ को अपनी कुल मौद्रिक आय के केवल एक भाग पर ही कर देना पड़ता है। उदाहरणार्थ वेतन भोगी व्यक्तियों को अपनी कुल आय पर कर देना होता है जबकि बड़ी बड़ी सम्पत्ति वालों को केवल अपने व्यापारिक लाभों पर ही कर देना पड़ता है (सम्पत्ति के क्रय विक्रय से जो लाभ होता है वह आय कर में सम्मिलित नहीं किया जाता)। क्योंकि सभी प्रकार की आय अन्त में खर्च की जाती है इसलिये आय की अपेक्षा व्यय करारोपण का अधिक न्यायसंगत आधार है।

व्यय कर का पक्ष इस आधार पर भी लिया जाता है कि यह उत्पादन, बचतों तथा विनियोगों को इतना हतोत्साहित नहीं करता जितना आय कर करता है। पिछले अध्यायों में हम यह कह ही चुके हैं कि आय कर बचतों और विनियोगों को हतोत्साहित करता है। व्यक्तियों की रुचि विनियोग करने की इसलिये नहीं होती, क्योंकि वे जानते हैं कि विनियोगों से जो आय प्राप्त होगी उस पर भी कर देना पड़ेगा। इस प्रकार जब विनियोगों की ओर उनकी उदासीनता बढ़ती जाती है

वे बचत भी कम करते जाते हैं और अपना खर्चा बढ़ाते जाते हैं। यदि व्यय के ऊपर कर लगाया जाये, तो व्यक्तियों में व्यय कम करने की रुचि उत्पन्न होगी, वे बचायेंगे परिणामस्वरूप बचतों को प्रोत्साहन मिलने से विनियोग भी बढ़ेंगे। अत आयकर जब कि बचतों और विनियोगों को हतोत्साहित करता है व्यय कर उन्हें प्रोत्साहित करता है। व्यय कर जोखिम सहन करने की शक्ति को भी कम नहीं करता। जब कि आयकर की उपस्थिति में व्यक्ति नये उद्योग स्थापित करना नहीं चाहते, क्योंकि वे जानते हैं कि यदि आय होगी तो सरकार कर तो ले लेगी, परन्तु हानि होने की स्थिति में कोई मुआवज़ा नहीं देगी। दूसरी ओर व्यय कर से इस तरह की भावना व्यक्तियों में कभी भी उत्पन्न नहीं होगी, क्योंकि व्यय कर तो व्यक्तिगत व्यय पर लगता है। व्यक्ति जितनी चाहे आय प्राप्त करे, कर केवल उसी धन राशि पर लगेगा, जिसका वह व्यय करेगा। इसी कारण व्यय कर से व्यक्ति कार्य करने के लिये भी हतोत्साहित नहीं होता।

व्यय कर के समर्थकों का यह भी विचार है कि व्यय कर व्यक्तिगत उपभोग को नियमित करता है। यह शृंगार, सजावट, विलासयुक्त तथा बेकार सी वस्तुओं के उपभोग को नियन्त्रित करता है। धनी व्यक्ति अधिकतर ऐसी वस्तुओं पर अपनी आय का बहुत बड़ा भाग व्यय करते हैं क्लबों और नाचघरों में, घुड़दौड़ों आदि में धन बर्बाद करते हैं। व्यय कर इस प्रकार के सभी अनार्थिक व्ययों को कम करेगा और व्यक्तियों को सदाचारी बनायेगा। साथ ही बचे हुये धन का उपयोग अधिक उपयोगी तथा उत्पादक कार्यों में होने लगेगा। आयकर तो इन खर्चों को प्रोत्साहित करता है। जब व्यक्ति यह देखते हैं कि सबसे ऊँचे खण्ड पर उनको रुपये में तेरह या पन्द्रह आने कर के रूप में देने पड़ेंगे तो वह कर की चोरी करते हैं और इस धन को उल्टा सीधा खर्च करते हैं। इस प्रकार व्यय कर में कर की चोरी भी नहीं होगी। प्रो० कलडौर ने तो इस बात पर बहुत ज़ोर दिया है।

व्यय कर के विपक्ष में बहुधा यह कहा जाता है कि इस कर का प्रबन्ध एवं व्यवस्था एक टेढ़ी खीर है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यय का पूर्ण ब्यौरा रखना सरल नहीं है। बहुत से व्यय जो मनुष्य करता है, वे इतने मामूली होते हैं कि याद ही नहीं रहते, कुछ व्यय ऐसे होते हैं जिनको व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को बताना नहीं चाहता। अत पूरे खर्चों को लिखना और उनका हिसाब रखना व्यक्ति के बस की बात नहीं। इसके अतिरिक्त कर अधिकारियों को भी व्यक्तियों के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने का अनुचित अवसर प्राप्त होगा जिसका वे दुरुपयोग भी कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो० कलडौर आदि अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि व्यक्तिगत व्यय का विस्तृत ब्यौरा तैयार करना आवश्यक नहीं है। यदि हम व्यक्ति की कुल आय में से उसकी बचतों को घटा दें (जो साल के अन्त में उसके पास होंगी) तो हमको उस व्यक्ति के कुल व्यय का अनुमान हो जायेगा। इस अनुमान को प्राप्त करने के लिये हमको एक तो, व्यक्ति की सारे स्रोतों से प्राप्त कुल

आय को पता करना होगा और दूसरे इस आय में से उस धन राशि को घटाना होगा जिसका उपयोग व्यक्तिगत व्यय के लिये नहीं हुआ है जैसे पूंजीगत वस्तुओं पर व्यय और साल के अन्त में बैंक जमा तथा नकदी। यह उस व्यक्ति का कुल व्यय होगा। इस व्यय में से कुछ वह कटौतियां करनी होंगी जिनकी सुविधा सरकार ने प्रदान कर रखी है। इस प्रकार जो धन राशि आयेगी उस पर व्यय कर लगाया जायेगा। यह ध्यान रहे कि चाहे जो विधि भी अपनाई जाय करारोपण के लिये व्यय की राशि का पता लगाने के लिये व्यक्तियों के हिसाबों की जाँच पड़ताल करनी होगी जो कर अधिकारियों और करदाताओं दोनों के लिये असुविधाजनक होगी। अन्य करों की भाँति इस कर में भी एक न्यूनतम कर रहित सीमा निश्चित की जाती है। यदि किसी व्यक्ति का व्यय इस सीमा से अधिक है तब ही उसे कर का भुगतान करना होगा अन्यथा नहीं। कर को न्यायसंगत बनाने के लिए उन कारणों की ओर भी ध्यान देना होगा जो व्यक्ति के व्यय को बढ़ाने में सहायता करते हैं, अर्थात् परिवार में सदस्यों की संख्या, बीमारी, दुर्घटना आदि पर व्यय। ऐसे—व्ययों को भी कर मुक्त करना होगा। यह भी देखना होगा कि यदि कोई व्यक्ति स्थायी पूंजी पर व्यय करे तब उस व्यय पर कर लगाया जाय या नहीं। यदि उस पर कर लिया जाता है तब व्यक्ति पर बहुत अधिक कर भार पड़ेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि इस प्रकार के व्यय को कई वर्षों में विभाजित कर दिया जाये और जो औसत राशि आये उसे कुल व्यय में सम्मिलित करके व्यय कर निर्धारित किया जाये।

भारत में व्यय कर — सर्व प्रथम व्यय कर भारत में ही लागू किया गया है। इसलिये भारत ही को व्यय कर को व्यवहारिक रूप देने का श्रेय प्राप्त हुआ है। इसका प्रस्ताव प्रो० कलडोर ने दिया था। सन १९५६ में एक व्यय कर अधिनियम बनाया गया जो जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़कर पूरे देश में १ अप्रैल सन् १९५८ से लागू हो गया। इस प्रकार सन् १९५८–५९ व्यय कर का प्रथम वर्ष है। यह कर केवल व्यक्तियों और हिन्दू सम्मिलित परिवारों पर ही लगाया गया है और इसके अन्तर्गत वह कम्पनियां, फर्में इत्यादि जिन पर आय कर लागू है नहीं सम्मिलित की गई है। यह कर व्यक्तियों और हिन्दू सम्मिलित परिवारों पर भी उसी समय लागू होगा जबकि उनकी वार्षिक आय सब करों का भुगतान करने के बाद ३६,०००) रुपयों से अधिक होगी। व्यय कर अधिनियम के पांचवें भाग में उन कटौतियों की *गणना की गई है जो कर लगने योग्य व्यय राशि को निर्धारित करते समय की जाती* है। इनके अन्तर्गत ऐसी मदें सम्मिलित की गई हैं जैसे व्यापारिक खर्चे सम्पत्ति सम्बन्धी खर्चे, विनियोग, करों का भुगतान, उपहार भुगतान की हुई बीमा किश्तें। अधिनियम के छटे भाग में कुछ ऐसी कटौतियों की गणना की गई है जो कि उस कुल व्यय राशि में की जाती है जिन पर कर लगाया जाता है। व्यक्तियों के लिये ३०,०००) रुपयों से अधिक के व्यय पर कर लगेगा और हिन्दू सम्मिलित परिवारों के लिये, केवल परिवार के 'कर्ता' उसकी पत्नी और बच्चों के लिये ३०,०००) रुपयों की कर रहित सीमा निश्चित की गई है और इसके अतिरिक्त प्रति सम्पत्ति के

साझेदार (Copartner) के लिय ३ ०००) रुपया की छूट दी गई है और एक परिवार क लिय अधिक से अधिक ७ ०००) रुपया की छूट दी जा सकती है। कर की दर निम्न प्रकार ह —

कर लगने योग्य व्यय के प्रथम १० ०००) रुपया पर	१० प्रतिशत
अगले १० ०००)	२०
१० ०००)	४०
१० ०००)	६०
, १० ०००)	८०
शेष भाग पर	१००

कुछ अन्य प्रकार की कटौतिया भी सम्मिलित की गइ ह जैसे भुगतान किये हुए कर विवाह सम्बन्धी व्यय जिसकी प्रत्यक निभर कर्त्ता की दादा के लिय अधिकतम सीमा ५ ०००) रुपया की होगी माता पिता के पालन पोषण के लिय कटौती की अधिकतम सीमा ४ ०००) रुपय होगी चिकित्सा सम्बन्धी व्यय का कटौती की अधिकतम सीमा ५ ०००) रुपय विदेशी शिक्षा के व्यय क लिय कटौती की अधिकतम सीमा ८०००) रुपय प्रति वष इत्यादि निर्धारित की गइ ह। अत पाचवे भाग म जिन कटौतिया के लिय आना दी गई है और कर के छट भाग म मे जो जा कटौतिया लागू होती ह उनको काट क० जो व्यय की राशि होती है उस पर उपयुक्त दरो से कर लगाया जायगा। उपयक्त कर की दरा स स्पष्ट है कि पहले १० ०००) रुपया पर १०% से लकर कर की दर ५० ०००) रुपया से ऊपर के व्यय पर शत प्रतिशत हो जाती है।

भारत म व्यय कर को लागू करन के लिय प्रो० कलडौर ने जो अपनी रिपोट दी थी उसम उन्होन कर के पक्ष म यह तक दिय ह। प्रथम जसा कि उन्होन स्वद ही बताया है करारोपण म समानता स्थापित करन के लिय तथा उसका न्याय पूण बनाने के लिय व्यय एक अधिक अच्छा आधार है क्याकि यह आय तथा धन की असमानताओ के स्थान पर उपभाग की असमानताओ को ध्यान म रखता है दूसरे यह कर बचत को प्रोत्साहित करेगा क्याकि कर केवल उसी राशि पर लगगा जो व्यय का गई है और इस प्रकार भारत के औद्योगिक विकास के लिय अधिक धन उपलब्ध हो सकेगा और अन्त म यह कर की चोरी को कम करेगा क्योकि इसस कर सम्बन्धी ढाचा अधिक समुचित हो जायगा और कर अधिकारी का क्षत्र विस्तृत हो जायगा।

व्यय कर के विरुद्ध भी तक दिय गय है। यह तक निम्न प्रकार ह — प्रथम व्यय कर केवल उन्ही थोड से व्यक्तियो द्वारा दिया जायगा जो इस समय आय कर का भुगतान कर रहे ह। सरकार के लिय यह सम्भव नहा हो सकता है कि वह आय और अति करो पर ४५% की कमी करदे जैसा कि प्रो० कलडौर न कहा था। अब भी इन करो की अधिकतम दर बिना कमाई हुइ आय पर ८४% और कमाई हुई आय पर ७७% है और क्योकि सरकार के लिय यह भी सम्भव नही हो

सकता है कि यह उत्पादन कर, आयात करो, बिक्री कर, आदि अप्रत्यक्ष करों को कम कर सके। इसलिए कर का भार केवल थोड़े से ही व्यक्तियों पर बहुत अधिक हो गया है और इसलिए अन्यायपूर्ण है। दूसरे यदि यह निश्चित है कि व्यय कर बचतों को प्रोत्साहित करेगा तो यह केवल सबसे ऊँची आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की ही बचतों को बढ़ायेगा, निर्धन व्यक्तियों की बचतें इस कर के प्रभाव से नहीं बढ़ पायेंगी। अतः यह कर एक कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों के अनुकूल नहीं है और अन्त में व्यय कर अनेकों प्रबन्ध सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न करेगा। यह कठिनाइयाँ विशेष रूप से उन व्यक्तियों को अधिक होंगी जिनको कर अधिकारियों को सन्तुष्ट करने के लिये अपने व्यय का पूरा ब्यौरा रखना पड़ेगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में व्यय कर से जब कुछ कठिनाइयाँ दूर होंगी तो कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न भी होंगी। इसमें कोई संदेह नहीं कि आरम्भ में इन कठिनाइयों की तीव्रता कुछ अधिक होगी किन्तु जैसे जैसे समय बीतेगा अनुभव बढ़ते जायेंगे और प्रो० कलडोर द्वारा बताई हुई समुचित योजना जो व्यवहारिक रूप प्राप्त होता जायेगा, व्यय कर देश के लिये हितकर सिद्ध होगा।

अध्याय १९

संघ सरकार के गैर-कर सम्बन्धी आय के स्रोत

(Non-Tax Sources of Revenue of the Union Government)

प्राक्कथन—

अभी तक हमने भारत सरकार के कर सम्बन्धी आय के स्रोतो से प्राप्त होने वाली आय तथा उसके महत्व का अध्ययन किया है। इस अध्याय मे हम भारत सरकार के गैर कर सम्बन्धी आय के स्रोतो का अध्ययन करने जा रहे है। गैर-कर सम्बन्धी आय के साधनो मे आधुनिक सरकारो की उस आय को सम्मिलित किया जाता है जो उन्हे विभिन्न औद्योगिक उपक्रमो को सचालित करने से प्राप्त होती है। अर्थात् आधुनिक समय मे सरकारो को जो आय व्यापार, औद्योगिक उपक्रमो, डाक व तार रेलो तथा यातायात के अन्य साधनो आदि के स्वामित्व से प्राप्त होती है उसी को गैर कर सम्बन्धी आय कहते हैं। आय के इन स्रोतो का महत्व पिछली शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ से, विशेषकर प्रथम महायुद्ध के बाद बढना आरम्भ हुआ है। १९वी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ तक बल्कि उसके बाद के थोडे से वर्षो तक आर्थिक क्षितिज मे निर्बाधावादी विचारो की गूंज विलीन नही हो पाई थी और व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र मे स्वतन्त्र था। व्यक्तिगत मामलो मे राजकीय हस्ताक्षेप की बात किसी को भी नही भाती थी। फिजिओक्रेट्स का अनुकरण करते हुए एडम स्मिथ ने घोषित किया कि, 'व्यापारी और राजा दोनो चरित्र एक दूसरे के असगत थे।'[1] उसके अनुसार सरकार औद्योगिक केन्द्रो से इतनी दूर स्थित है कि वह उन पर पूरा ध्यान नही रख सकती और इसलिए स्मिथ ने सरकार के लिए केवल तीन कार्य करने का ही सुझाव दिया था अर्थात्—न्याय रक्षा और कुछ विशेष सार्वजनिक कार्यों तथा संस्थाओ की स्थापना। परन्तु २०वी शताब्दी के आरम्भ होते ही इन विचारो की शक्ति का ह्रास आरम्भ हो गया और प्रथम महायुद्ध विशेषकर १९३० के महामन्दी काल के पश्चात तो इन विचारो का पूर्ण अन्त हो गया। व्यक्तिगत उपक्रम द्वारा उत्पन्न बेकारी, व्यापार चक्रो तथा धन के वितरण की घोर असमानताओ के कारण निजी उपक्रम की निन्दा दिन प्रति दिन बढती ही गई। चारो ओर राज्य हस्तक्षेप के पक्ष मे आवाजें गूंज उठी और राज्य ने

औद्योगिक उपक्रमों की व्यवस्था करनी भी आरम्भ कर दी। आजकल सभी देशों में सरकार जनोपयोगी सेवाओं की व्यवस्था कर रही है। रेलों, सिंचाई, जंगल, डाक व तार, खान उद्योग, विदेशी व्यापार इत्यादि की व्यवस्था एवं नियन्त्रण कर रही है। इन स्रोतों से सरकारों को बहुत आय प्राप्त होती है। इसी प्रकार राज्य अपने पास वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण का भी एकाधिकार रखता है, जैसे इटली में तम्बाकू, नमक, सिगरेट, दियासलाई आदि वस्तुओं का उत्पादन एवं विक्रय सरकार द्वारा होता है, भारत सरकार अफीम के उत्पादन एवं विक्रय पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। ऐसे एकाधिकार आजकल सरकारों की आय का मुख्य अंग बन गये हैं। इन स्रोतों का सरकारों की आय में जो महत्व है वह निम्न आंकड़ों से स्पष्ट होता है। निम्न तालिका में हम कुछ देशों की कुल आय में इन स्रोतों द्वारा प्राप्त आय के प्रतिशत को देते हैं —

देश	प्रतिशत	देश	प्रतिशत	देश	प्रतिशत
भारत	३७ ६	जापान	३५ ३	फ्रांस	२७ ७
संयुक्त राज्य	३६ १	द० अफ्रीका	३० ७	कनाडा	२४ २

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि लगभग सभी देशों में गैर-कर सम्बन्धी आय की बहुत बड़ी राशि सरकारों को प्राप्त होती है। भारत में सरकारों को कुल आय का ३७ ६% इन स्रोतों से प्राप्त होता है। भारत सरकार को यह आय जनोपयोगी सेवाओं जैसे रेल, डाक तार, टकसाल तथा अन्य औद्योगिक उपक्रमों से प्राप्त होती है। स्वीडन में यह आय झरनों, रेलों, डाक व तार तथा कुछ औद्योगिक कम्पनियों के अंशों से प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार हालैंड में तथा अन्य देशों में भी लगभग यही गैर-कर सम्बन्धी आय के स्रोत हैं। अतः स्पष्ट है कि आजकल सरकारों को इनका बहुत महत्व है। परन्तु यह महत्व सापेक्षिक है और हर देश में भिन्न-भिन्न है। आधुनिक राज्यों के प्रारम्भिक काल में शाही भूमि तथा सम्पत्ति राजकीय आय का मुख्य स्रोत थी किन्तु समय तथा समाज की उन्नति के साथ-साथ इनका महत्व कम होता गया। भारत में जमींदारी तथा ताल्लुकेदारी लगभग सभी राज्यों में समाप्त हो गई है और भूमि फिर से आय का एक महत्वपूर्ण स्रोत बनती जा रही है। भारत में सरकार को जंगलों से भी काफी आय प्राप्त होती है, इसीलिए सरकार वन क्षेत्र दिन प्रति दिन बढ़ाने का प्रयत्न कर रही है और प्रत्येक वर्ष वन-महोत्सव सप्ताह मनाया जाता है और पेड़ लगाये जाते हैं। इसी प्रकार सरकारों को सिंचाई के साधनों, नहरों इत्यादि से भी बहुत आय प्राप्त होती है। भारत में सरकार औद्योगिक उपक्रमों की व्यवस्था से भी आय प्राप्त करती है। खानें तो आरम्भ से ही सार्वजनिक सम्पत्ति रही हैं। सरकार कुछ आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन भी करती है तथा कुछ महत्वपूर्ण जनोपयोगी सेवाएँ भी प्रदान करती है, जैसे डाक व तार, रेलें, हवाई जहाजों तथा पानी

के जहाजों की व्यवस्था इत्यादि। भारत में भी सरकार को इन स्रोतों से बहुत आय प्राप्त होती है। आधुनिक सरकारें कुछ अन्य प्रकार की सेवाएँ भी अपने नागरिकों को प्रदान करती हैं, जिसके लिए भी वह शुल्क (Fees) वसूल करती है। ये शुल्क उन्हीं व्यक्तियों को देना पड़ता है जो सरकार से उन सेवाओं को प्राप्त करना चाहते हैं। ये शुल्क कई प्रकार के होते हैं, जैसे बन्दूकों के प्रयोग करने का शुल्क, सम्पत्ति के वैधानिक स्वामित्व को निश्चित करने का शुल्क इत्यादि। इनसे भी आजकल सरकारों को बहुत आय प्राप्त होती है। भारत में यह राज्य सरकारों की आय के स्रोत हैं। आजकल अधिकतर सरकारें अपनी आय के गैर-कर स्रोतों को बढ़ा रही हैं, क्योंकि व्यक्ति नए करों का विरोध करते हैं और अधिक करारोपण के प्रभाव भी बुरे होते हैं।

संघ सरकार की आय के गैर-कर सम्बन्धी स्रोत—भारत सरकार को व्यवसायिक सेवाओं, जिन्हें जनोपयोगी सेवाएँ भी कहते हैं, रेलों, डाक व तार, करेंसी, टकसाल आदि से बहुत बड़ी मात्रा में आय प्राप्त होती है। सन् १९३८–३९ में इन स्रोतों से कुल आय केवल २ करोड़ रुपये थी, परन्तु सन् १९४५–४६ में यह आय एक दम ६० करोड़ रुपये हो गई थी। इस वृद्धि के मुख्य कारण ये थे—(१) युद्ध-काल में रेल यात्रा में बहुत वृद्धि हो गई थी, और (२) डाक व तार शुल्क भी बहुत बढ़ गये थे। गत वर्षों में इन स्रोतों से आय लगभग २० करोड़ रुपये के निकट ही रही है, क्योंकि वेतनों तथा कच्ची सामग्री के मूल्यों में बहुत वृद्धि हो गई है। यद्यपि इन सेवाओं की दरें भी पहले से अधिक हो गई हैं, किन्तु यह वृद्धि उतनी नहीं हुई है जितनी कि इन सेवाओं की लागतें बढ़ गई हैं। फिर भी सन् १९५५–५६ से इनकी आय फिर से बढ़नी शुरू हो गई है। सन् १९५४–५५ में इनसे कुल आय २७ करोड़ रुपये थी, जो सन् १९५५–५६ में २९ करोड़ रुपये, सन १९५६–५७ में ३१$\frac{3}{4}$ करोड़, सन् १९५७–५८ में ३७$\frac{1}{2}$ करोड़ और १९५८–५९ (बजट अनुमानों के अनुसार) में ३६$\frac{3}{4}$ करोड़ हो गई थी। भविष्य में इन स्रोतों से और भी अधिक आय प्राप्त होने की आशा की जा सकती है। हम निम्न में इन तीनों स्रोतों की पृथक-पृथक विवेचना करेंगे —

रेलें—प्रारम्भिक वर्षों में, हमारे देश में देसी पूँजी न मिलने के कारण रेल बनाने का काम अंग्रेजी कम्पनियों को सौंपा गया था। यह ठेका सन् १८५३ में दिया गया था और शर्त यह थी कि चाहे कम्पनियों को कोई लाभ हो या न हो, सरकार उनको लगी हुई पूँजी पर ५% की दर से भुगतान करेगी। इस आश्वासन से निश्चिन्त होकर कम्पनियों ने रेलों की व्यवस्था में बड़ी लापरवाही से काम किया। असन्तुष्ट होकर सरकार ने सन् १८६९ में स्वयं छोटी लाइनों की रेलों के विकास करने का काम अपने हाथ में ले लिया। आर्थिक कठिनाइयों के कारण दस वर्ष बाद पुनः सरकार ने निजी कम्पनियों को रेलें बनाने का काम सौंप दिया। सन् १९०५ में रेलवे बोर्ड, रेलों की उचित व्यवस्था के लिये स्थापित किया गया और सन् १९०० से १९१४ के काल में सरकार ने मैके कमेटी के सुझावों के अनुसार

रलो के विकास पर बहुत सा धन खर्च किया। भारतीय रेलों को सर्व प्रथम सन् १९०० में लाभ प्राप्त हुए और केवल सन १९०८–९ को छोडकर यह लाभ निरन्तर बढते ही गये। इस वर्ष रेलों को बहुत हानि हुई और उसका मुख्य कारण यह था कि इस वर्ष कृषि फसलें बहुत बुरी तरह नष्ट हुई थी। प्रथम महायुद्ध और उसके बाद के वर्षों में रेलों को बहुत अधिक लाभ हुए परन्तु सन १९२०–२१ से स्थिति फिर बदली और रेलों के लाभ पुन हानि में बदल गए। रेलों की आर्थिक स्थिति की इस अनिश्चितता से तंग आकर एक वर्थ कमेटी के सुझावों पर भारतीय बजट से रेलों के बजट को सन् १९२४ में अलग कर दिया गया। वास्तव में उस समय भारत सरकार के बजट का आधिक्य या घाटा रेलों के लाभ तथा हानियों पर निर्भर करता था। भारत सरकार की आर्थिक स्थिति भी बडी अनिश्चित सी रहती थी। साथ ही रेलों की आर्थिक उन्नति तथा विकास भी भारत सरकार के बजट में बधी हुई थी। एक व्यवसायिक उपक्रम के अपने स्रोत होने चाहिये और उसको पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपने साधनों का जैसे चाहे उपयोग करे। इसीलिए सन १९२४ में रेलवे बजट को सामान्य बजट से अलग कर दिया गया। यद्यपि इसकी ओर पहले भी कई बार ध्यान दिलाया गया था परन्तु सरकार ने इस नीति को केवल इसी वर्ष स्वीकार किया। सन १९२४ में केन्द्रीय सरकार और रेलवे विभाग के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार रेलवे अर्थ प्रबन्ध को सामान्य अर्थ-प्रबन्ध से अलग कर दिया गया। इस समझौते की मुख्य बातें इस प्रकार थी —

(१) रेल उद्योग ने व्यवसायिक लाइनों पर लगी हुई कुल पूंजी पर १% की दर से सामान्य आय को अपना अंशदान देने का निश्चय किया तथा यह भी स्वीकार किया कि बचे हुए आधिक्य का ⅕ भाग भी सरकार को देगा।

(२) यदि किसी वर्ष इतने लाभ न हो कि रेल उद्योग लगी हुई पूंजी पर १% की दर से सामान्य आय को अपना अंशदान दे सके तो इसकी पूर्ति अगले वर्षों के लाभों में से की जायेगी।

(३) ऐसी रेलवे लाइनों को चालू रखने में जिनका फौजी महत्त्व है यदि कोई हानि होगी तो उसको सरकार सामान्य आय में से पूरा करेगी और उसकी कटौती रेलों के अंशदान में से की जायगी।

(४) एक घिसाई कोष (Depreciation Fund) भी स्थापित किया जायेगा, जिसमें वास्तविक लागत और रेलों के सामान्य जीवन अवधि के आधार पर लाभों का एक भाग एकत्रित किया जायेगा। इसे भी एक प्रकार का रेलों का खर्चा समझा जायेगा।

(५) जो कुछ आधिक्य बचेगा उसमें से ⅔ भाग रेलवे सुरक्षित कोष को और ⅓ भाग सामान्य बजट को दिया जायगा।

(६) एक रेलवे सुरक्षित कोष स्थापित किया जायगा जिसमें ३ करोड रुपयों तक की राशि ही (यदि उपयुक्त भुगतान करने के बाद बचे) स्थानान्तरित की जायगी।

इस समझौते के बाद सन् १९३०–३१ तक रेलों को निरन्तर लाभ होते रहे और उनकी आर्थिक स्थिति ठीक रही। वे बराबर अपने लाभों का एक निश्चित भाग सामान्य आय में देती रहीं, परन्तु सन् १९३०–३१ से रेलों के भाग्य ने फिर पलटा खाया और लाभ पूर्ण हानि में बदलने लगे। आरम्भ में सुरक्षित कोष, फिर घिसाई कोष से ऋण ले लेकर रेलों ने सामान्य आय में अपने अंश दिये। इन घाटों के मुख्य कारण ये थे कि मन्दी के कारण मूल्य गिर गये थे और रेलों का प्रयोग कम हो रहा था, सड़क यातायात से प्रतियोगिता आरम्भ हो गई थी और श्रम लागत बढ़ रही थी। फलस्वरूप सन् १९३१–३२ से १९३६–३७ तक सामान्य आय में रेलों ने कोई अंशदान नहीं दिया। वह इस काल में ३२.४१ करोड़ रुपये के भारतीय सरकार की ऋणी हो गई थी। साथ ही १७.९६ करोड़ रुपये, उन्होंने सुरक्षित कोष से उधार ले रक्खे थे और अब केवल ४७ लाख रुपये सुरक्षित कोष में रह गये थे। परन्तु दूसरी लड़ाई प्रारम्भ होते ही स्थिति फिर बदली और सन् १९३९–४० में रेलों को १०२.७३ करोड़ रुपयों की कुल प्राप्ति हुई जो सन् १९४५–४६ में बढ़ कर २२५ करोड़ रुपये हो गई। इस अवधि में रेलों की आय में ११९ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इसी अवधि में रेलों का आधिक्य ४.३३ करोड़ रुपयों से बढ़ कर ५०.८४ करोड़ रुपये हो गया था। इस प्रकार रेलों को इतने लाभ हुए कि सामान्य बजट के जो पिछले अंशदान उन्हें देने थे वह भी उन्होंने चुका दिये और सुरक्षित कोष से जो ऋण ले रक्खे थे उनका भी भुगतान कर दिया और साथ ही सामान्य बजट में १५८.४३ करोड़ रुपयों के अंशदान और दिए। सन् १९४६–४७ में एक रेलवे उपकारी कोष (Railway Betterment Fund) स्थापित किया गया जिसमें ३ करोड़ रुपये जमा किये गये।

सन् १९४३ में लड़ाई के कारण रेलों को जो लाभ हो रहे थे उनके कारण यह आवश्यक समझा गया कि सन् १९२४ के समझौते में समयानुसार परिवर्तन किये जायें, और यह निश्चय किया गया कि सामान्य बजट से रेलों के अंशदान का निर्णय रेलों तथा सामान्य बजट की सापेक्षिक आवश्यकताओं को प्रतिवर्ष ध्यान में रखते हुए किया जाये। सन् १९४६ में एक अन्तर्वर्ती (*ad hoc*) व्यवस्था की गई और यह निश्चय किया गया कि रेलें सामान्य बजट को व्यवसायिक लाईनों (Commercial Lines) में लगी हुई पूँजी पर १% देंगी, और यदि फौजी महत्त्व वाली लाईनों (Strategic Lines) पर कोई हानि होती है तो उसको इस राशि में से घटा कर भुगतान करेंगी। इसके अतिरिक्त वह रेलवे उपकारी कोष में ३ करोड़ रुपयों को जमा करायेंगी और उसके बाद जो कुछ भी बचेगा उसका आधा भाग सामान्य बजट को देंगी। इस समझौते के अनुसार केवल १९४६–४७ में ५.६१ करोड़ रुपया सामान्य बजट को दिया गया था। तत्पश्चात् १९४७–४८ में घाटा हो जाने के कारण रेलों ने सामान्य बजट में कोई भी अंश दान नहीं दिया और न कोई अंश दान उपकारी तथा सुरक्षित कोषों को ही दिये। सन् १९४९ में डा० जॉन मथाई ने रेलवे बजट प्रस्तुत करते समय घोषित किया कि उन्होंने श्री मतलॉकर की

अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसका कार्य सामान्य बजट मे रेलो के अशदान सम्बन्धी प्रश्न की जाच पडताल करनी होगी और रेलो के विभिन्न कोषो की व्यवस्था की भी जाँच करनी होगी। इस समिति के सुझावो के अनुसार सन् १६५०–५१ म एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार —

१ जबकि रेल तथा सामान्य बजट अलग अलग रहेग रेलें सामान्य बजट को ५ वर्षों तक लगी हुई पूंजी पर ४ प्रतिशत की दर से अपना अशदान देगी और उसके बाद यह दर ससद द्वारा नियुक्त एक समिति द्वारा सशोधित की जायगी। यह अनुमान था कि रेलो को लगभग २६ करोड रुपए प्रति वष सामान्य बजट म देने होंगे।

२ घिसाई कोष जिसका नाम अब प्रतिस्थापन तथा पुन निर्माण कोष (Replacement and Renewal Fund) कर दिया गया था, मे कम से कम १५ करोड रुपए जमा किये जायगें।

३ इन भुगतानो को करने के बाद जो कुछ शेष रहेगा वह रेलवे सुरक्षित कोष तथा विकास कोष म बट जायगा। रेलवे सुरक्षित कोष का नाम केवल आय कोष (Revenue Reserve) रख दिया गया था और यह केवल आर्थिक सन्तुलन स्थापित करने के लिए उपयोग म लाया जायगा। उपकारी कोष को विकास कोष में मिला दिया गया था और विकास कोष का प्रयोग यात्रियो को अधिक सुविधायें प्रदान करने, श्रमिक कल्याण आदि के कामो मे किया जायगा।

४ आय और पजी म व्यय के बटवारे के सम्बन्ध मे जो पुरान नियम थ उनको सशोधित कर दिया गया था।

५ रेलो की व्यवस्था करने के लिए एक वित्त समिति और एक केन्द्रीय सलाहकार समिति की नियुक्ति की गई।

यह समझौता रेल वित्त के विकास की ओर एक महत्वपूण पग था। सामान्य बजट को जो आय प्राप्त होगी उसको निश्चित कर दिया गया। रेलों और सामान्य बजट के पारस्परिक सम्बन्धो को स्थायित्व प्रदान कर दिया गया था और रेलो के भावी विकास के लिए उचित व्यवस्था कर दी गई थी।

सन् १६४६ का समझौता ५ वष बाद सन् १६५४ मे समाप्त हुआ। इस वर्ष एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार पुराने समझौते मे केवल नाममात्र को ही परिवतन हुए। यह परिवतन निम्न प्रकार ह —

१ रेलो का वार्षिक अशदान पूववत रहा।

२ घिसाई कोष म रेलो का वार्षिक अशदान ३० करोड रुपया से बढाकर ३५ करोड रुपए कर दिया गया जो दूसरी पचवर्षीय योजना म रेलो की आवश्यकताओ को ध्यान म रखते हुए बाद में ४५ करोड रुपया कर दिया गया।

३ विकास कार्यों के क्षेत्र म ऐसी व्यवस्था कर दी गई कि सभी प्रकार के यात्रियो के लिए सुविधा प्रदान की जायगी। तीसरे दर्जे के कर्मचारियो के लिए मकानो का प्रबन्ध किया जायगा। यदि आवश्यकता होगी तो रेलो को सामान्य

बजट से ऋण भी दिये जायेंगे।

४ नये रेल मार्गों के निर्माण की लागत, पूँजी में से पूरी होगी और उसका भुगतान विकास कोष में से नहीं होगा।

५ जिन मार्गों से कोई लाभ नहीं हो रहा है और जिन पर लगभग ३ लाख रुपयों का व्यय हो रहा है उसकी पूर्ति विकास कोष में से की जायेगी।

रेलो की वर्तमान स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट होती है[1] —

(करोड रुपयों में)

	१६५७–५८	१६५८–५६	१६५६–६० (अनुमानित)
१ कुल प्राप्ति (*Gross Receipts*)	३७६ ७८	३६४ ३८	४२२ ०३
२ कुल व्यय :—			
(अ) साधारण कार्यशील व्यय	२६४ १८	२७४ २२	२८३ ७१
(ब) शुद्ध अन्य व्यय	१२ ५६	१२ ०३	१७ ६१
(स) घिसाई कोष को अंशदान	४५ ००	४५ ००	४५ ००
(द) Worked Lines पर व्यय	२६	१०	११
कुल व्यय योग	३२२·००	३३१ ३५	३४६ ४३
३ शुद्ध आय	५७ ७८	६३·०३	७५ ६०
४ सामान्य आय को अंशदान	४४ ४०	५० ०३	५४ ४१
५ शुद्ध आधिक्य (Surplus)	१३ ३८	१३ ००	२१ १६

डाक व तार—भारत सरकार का यह दूसरा महत्त्वपूर्ण व्यवसायिक विभाग है। रेलो के विकास, व्यापार और उद्योग की उन्नति तथा जनता में शिक्षा के प्रचार के साथ साथ डाक-तार विभाग का निरन्तर विकास होता रहा है। सन् १६१२ से पहले यह दोनों विभाग अलग अलग थे और हर विभाग की व्यवस्था एक डाइरेक्टर जनरल द्वारा की जाती थी। सन् १६१२ में इन दोनो विभागो को मिला दिया गया और इन दोनों की देख रेख तभी से केवल एक ही अफसर द्वारा होती है, जिसे डाक तार विभाग का डाइरेक्टर जनरल कहते हैं। पहले यह विभाग उद्योग तथा वाणिज्य मंत्रालय के आधीन था किन्तु अब यह संवादवाहन मंत्रालय के आधीन है।

डाक व तार की दरों में समय समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। जब सबसे पहली बार पोस्टकार्ड व लिफाफे चालू किए गये थे तब इनका मूल्य क्रमशः एक व दो पैसे था। इसके बाद इनका मूल्य बढकर क्रमशः दो पैसे और एक आना हो गया। महा मंदी काल में लिफाफे का मूल्य ५ पैसे हो गया। दूसरे महायुद्ध में पोस्टकार्ड का मूल्य ३ पैसे और लिफाफे का मूल्य ६ पैसे हो गया। सन् १६४६–५० में लिफाफों का मूल्य २ आने हो गया। परन्तु सन् १६५०–५१ में इन मूल्यों में कमी

1 Hindustan Times Feb. 19 1959

कर दी गई थी। सन् १६५७ म मुद्रा के दशमलवीकरण में पोस्ट कार्ड तथा लिफाफों दोनों ही के मूल्य म वृद्धि हो गई और इनका मूल्य ५ नये पैसे और १५ नये पैसे क्रमशः हो गया है। यह विभाग अपने खर्चों को प्राप्त आय में पूरा करता है। जो कुछ बचत होती है वह सामान्य बजट में चली जाती है। साधारणतया यह बचत २ से ४ करोड रुपये प्रति वर्ष रही है। सबसे अधिक बचत सन् १६४३-४४ और १६४४-४५ म हुई थी जबकि इसकी राशि १० से १२ करोड रुपयों के बीच में थी। गतवर्षों म इस विभाग के खर्च बढ जाने के कारण आय म बहुत अधिक वृद्धि नहीं हो पाई है। सन् १६५३-५४ म इसकी कुल बचत २ ४० करोड रुपये सन् १६५४-५५ में २ ६० करोड, सन् १६५५-५६ म ३ ५७ करोड, और सन् १६५७-५८ म ४ ३४ करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान था। वैसे तो बचत म वृद्धि ही हुई है, परन्तु जिस हिसाब से इनके मूल्यों म वृद्धि की गई है यह बचत उस अनुपात म नहीं हो पाई। जिसका मुख्य कारण यह है कि शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों म बहुत से नए डाकखाने खोल दिये गए हैं।

मुद्रा और टकसाल—सन् १८३५ म पहले भारत म विभिन्न हिन्दू तथा मुसलमान राजाओं द्वारा निकाले हुये लगभग १००० सिक्के चलन म थे जिससे देश के आन्तरिक व्यापार के विकास म बहुत बाधा उत्पन्न हुई। इस वर्ष ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चादी के रुपए को प्रमाणिक सिक्के के रूप में चालू किया। उस समय भारत में स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई की व्यवस्था थी। सन् १८६३ म हर्शल कमेटी की सिफारिशों पर स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। सन् १८६६ में फौलर आयोग के सुझाव पर देश में स्वर्ण विनिमय मान चालू किया गया और सन १६३१ से स्वर्ण मान जाने से आज तक भारत में पत्र मुद्रा का चलन है। सन् १८६६ से भारत सरकार को टकसालों से निरन्तर आय प्राप्त होती रही है। प्रारम्भिक वर्षों में तो यह आय कोई विशेष नहीं थी परन्तु सन् १६३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना से इस आय में वृद्धि होती रही है। रिजर्व बैंक प्रारम्भिक वर्षों में हिस्सेदारों का बैंक था, इसीलिए इस मद्द म सामान्य आय में बहुत अधिक अंशदान प्राप्त नहीं हो रहे थे। परन्तु सन् १६४६ म रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप इस आय में निरन्तर वृद्धि हो रही है। क्योंकि अब रिजर्व बैंक को जो कुछ भी लाभ प्राप्त होते हैं वह सब सरकारी खजाने में ही जाते हैं। सन् १६५३-५४ में इस मद्द से कुल आय १५ ७४ करोड, सन् १६५४-५५ में १० ६५ करोड, सन् १६५५-५६ में २३ ०६ करोड, सन् १६५६-५७ म २४ ४८ करोड रुपये प्राप्त हुई थी और सन् १६५७-५८ में ३६ ०२ करोड (बजट) रुपये प्राप्त होने की आशा थी।

उपर्युक्त मद्दों के अतिरिक्त भारत सरकार की आय की अनेक छोटी छोटी मद्दें और भी हैं किन्तु इनका महत्व कम होने के कारण हम इनका विवरण बिना दिए ही भारत सरकार की आय के स्रोतों सम्बन्धी वृत्तान्त को समाप्त करते हैं।

अध्याय २०

राज्य सरकारों की आय के स्रोत—मालगुज़ारी तथा कृषि आय-कर

(Sources of State Revenues—Land Revenue and Agricultural Income-Tax)

प्राक्कथन—

हमारे संविधान के अनुसार राज्य सरकारें निम्न मुख्य करों को लगा सकती हैं और उनकी आय को जमा कर सकती है —

(१) मालगुजारी, (२) कृषि आय कर, (३) कृषि भूमि सम्बन्धी उत्तराधिकार कर तथा जायदाद कर, (४) भूमि तथा इमारतो पर कर, (५) खानों से सम्बन्धित अधिकारों पर कर, (६) अफीम, भांग, निद्राकारक दवाइयो (दवाइयों तथा शृंगार वस्तुओं के अतिरिक्त) तथा ऐलकोहल वाली शराबों पर उत्पादन कर, (७) मार्गात कर, (८) बिजली के क्रय एवं उपभोग पर कर, (९) समाचार पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर क्रय, विक्रय कर, (१०) समाचार पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर, (११) व्यक्तियों तथा वस्तुओं के यातायात पर कर, (१२) गाड़ियों, जानवरों तथा नावों पर कर, (१३) व्यवसायों व्यापारों आदि पर कर (१४) विलासयुक्त वस्तुओं पर कर जिसमें मनोरंजन और जुआ भी सम्मिलित है (१५) स्टाम्प कर, इत्यादि।

अब हम इन करों में से कुछ मुख्य मुख्य करों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

मालगुज़ारी (Land Revenue)—मालगुजारी संसार के सबसे प्राचीन करों में से एक है। कहा जाता है कि यह ईसा के जन्म से २,००० वर्ष पहले चीन और मिश्र में लागू किया गया था।[1] आजकल मालगुजारी लगभग प्रत्येक देश में ही ली जाती है। भूमि पर कर लगाने की कई रीतियाँ हो सकती हैं जैसे, भूमि के पूँजीगत मूल्य के अनुसार जो भूमि के बाजारी मूल्य द्वारा निश्चित होता है। दूसरा, भूमि पर प्राप्त होने वाले वार्षिक लगान के अनुसार और तीसरा, भूमि के मूल्यों में बिना कमाई हुई वृद्धि (Unearned increment) के अनुसार। संयुक्त राज्य

1 Mehta and Agarwal, *Public Finance : Theory and Practice*, 1951 Page 393.

अमरिका म प्रथम रीति के अनुसार भूमि पर कर लगाया जाता है। इस रीति का सबसे बडा लाभ कर है कि यह भूमि की उपजाऊ पन और स्थिति, दोनों ही को ध्यान मे रख कर निर्धारित किया जाता है। इसका दूसरा लाभ यह है कि इसम कमाई हुई तथा बिना कमाई हुई मूल्य वृद्धि क बीच भेद करने की आवश्यकता नहीं होती। इग्लैंड में दूसरी रीति अपनाई जाती है और भूमि के वार्षिक लगान पर २५% की दर स कर लगाया जाता है। परन्तु यह रीति इतनी अच्छी नहीं है जितनी कि पहली रीति है। क्योंकि यह सम्भव है कि मालगुजारी सदैव ही आर्थिक लगान के बराबर न हो। अर्थात् मालगुजारी आर्थिक लगान से अधिक भी हो सकती है। इस प्रकार इस रीति से भूमि पर लगाया हुआ कर अन्यायपूर्ण भी हो सकता है। तीसरी रीति आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड म अपनाई गई है। स्थानीय सुधारा के कारण भूमि के मूल्य मे वृद्धि होती है जिसका लाभ भूमि क मालिक को बिना किसी प्रयत्न के ही प्राप्त होता है। इस प्रकार क लाभ का प्रकृति बिना कमाई हुई मूल्य वृद्धि की भाति होती है। इसलिए राज्य या स्थानीय सरकारो का इस प्रकार की मूल्य वृद्धि पर पूर्ण अधिकार होता है। वास्तव म इस आधार पर भूमि पर कर लगाना कृषि आय कर की अपेक्षा अधिक न्यायसगत है क्योंकि इस लाभ को प्राप्त करने क लिए भूमि के मालिक को कोई भी व्यय नहीं करना पड़ता और कर का भुगतान करने में उसकी भावनाओ को कोई भी ठेस नहीं लगना चाहिए। भूमि की बिना कमाई हुई मूल्य वृद्धि पर जो कर लगाया जाता है वह पूजी लाभ कर (Capital Gains Tax) के ही समान है और इसलिए जो तर्क पूजी लाभ कर क पक्ष में दिए जाते ह वे ही इस आधार पर भूमि पर लगाए हुए कर के पक्ष म दिए जाते हैं। उपर्युक्त तीनों रीतियों क अनुसार भूमि करों को अलग अलग नाम स पुकारा जाता है। प्रथम रीति के अनुसार इसको मालगुजारी कहते है दूसरी रीति क अनुसार इस कृषि आय कर कहते हं और तीसरी रीति क अनुसार इस भूमि पर पूजी लाभ कर कहते ह।

भारत में मालगुजारी का सक्षिप्त इतिहास—जहा तक भारत का सम्बन्ध है मालगुजारी बहुत प्राचीन कर है। हिन्दू काल म यह कर वस्तुओ क रूप म एकत्रित किया जाता था और इसकी दर कुल पैदावार की $\frac{1}{6}$ स लेकर $\frac{1}{12}$ तक थी। हिन्दू राजा इस कर को युद्ध तथा सकट काल म बढाकर कुल उपज का $\frac{1}{4}$ तक कर देते थे। मुसलमानों के शासन काल के आरम्भिक वर्षों में मालगुजारी कृषि वस्तुओं के रूप म ही एकत्रित होती रही। परन्तु जैसे जैसे उनके राज्य का विस्तार हुआ मालगुजारी भी द्रव्य के रूप म वसूल की जाने लगी। भारत म जब अंग्रेज आये, उन्होंने भी इसको द्रव्य के रूप म वसूल किया। प्रारम्भिक काल मे वारेन हेस्टिंग्स ने पच-वर्षीय बन्दोबस्त किया, किन्तु लार्ड कार्नवालिस ने सन् १७९३ म स्थायी बन्दोबस्त की बुनियाद रखी जो बगाल, बिहार, आसाम तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों म लागू हुआ। स्थायी बन्दोबस्त म जमींदारों को भूमि का स्वामी मान लिया गया और उन पर सदा के लिये मालगुजारी निश्चित कर दी गई। यह ध्यान रहे कि इस

व्यवस्था में किसानों का लगान स्थायी रूप से निश्चित नहीं किया गया था। जिसका परिणाम यह हुआ कि किसानों पर तो लगान बढ़ता गया परन्तु ज़मीदारों के लिये मालगुजारी पूर्ववत् रही। उत्तर-प्रदेश के अधिकांश भागों में तथा पंजाब, मध्य-प्रदेश आदि में अस्थायी बन्दोबस्त प्रचलित रहा। उत्तर-प्रदेश तथा पंजाब में ४० वर्ष बाद और मध्य-प्रदेश में २० वर्षों के बाद मालगुजारी में परिवर्तन होते रहे हैं। बम्बई में यह ३० वर्षों के बाद बदला जाता था। इसके अतिरिक्त मालगुजारी निर्धारित करने की विधि तथा उसकी दरें भी भिन्न भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न रही है। हमारे देश में मालगुज़ारी की मुख्य विशेषताये निम्न प्रकार हैं —

(१) भारत में मालगुजारी निश्चित करने की विधि सन्तोषजनक नहीं है। भारत के सभी भागों में वास्तविक सम्पत्ति का अर्थ अलग अलग लिया जाता है और इसका निर्धारण मालगुजारी निश्चित करने वाले की इच्छा पर रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि मालगुजारी निश्चित करते समय सरकार भूमि, जलवायु, स्थिति, सिंचाई सुविधाओं इत्यादि को ध्यान में रखती है फिर भी मालगुज़ारी निश्चित करने का ढंग बहुत अंशों तक मन माना तथा अनुचित होता है।

(२) प्रारम्भिक वर्षों में मालगुजारी भूमि की कुल उत्पत्ति के अनुसार ली जाती थी। परन्तु आजकल इसका निर्धारण शुद्ध आदेयों (Net Assets) के आधार पर किया जाता है। शुद्ध आदेयों को मालूम करते समय कुल उत्पत्ति में से उत्पादन लागत घटा दी जाती है। यद्यपि यह ढंग सैद्धान्तिक रूप से अधिक अच्छा है, किन्तु इसमें एक दोष तो यह है कि यह कर व्यक्ति पर न होकर वस्तु पर होता है और इसीलिये यह प्रतिगामी है। भारतीय कर जाँच समिति (सन् १९२४) ने कहा था कि "यदि मालगुजारी को करारोपण की योजना के रूप में देखा जाये तो यह केवल अप्रगतिशील ही नहीं है बल्कि वास्तव में उसके विपरीत है।"[2]

(३) अस्थायी बन्दोबस्त वाले भागों में सरकार शुद्ध आदेयों का जो भाग मालगुजारी के रूप में लेती है वह निरन्तर घटता जा रहा है।

(४) जिन भागों में मालगुजारी घटती जा रही है किसानों पर लगान बढ़ता जा रहा है।

(५) १९ वी शताब्दी के अन्त तक मालगुजारी भारत सरकार की आय का मुख्य साधन था जैसे, देश को करों से प्राप्त होने वाली आय का सन् १७९३-९४ में ६९%, १८५०-५१ में ६९.५%, १८९१-९२ में ४१.३% मालगुजारी से प्राप्त होता था परन्तु २० वी शताब्दी के आरम्भ से ही इसका महत्व घटता गया है। जैसे १९०१–०२ में भारत की कुल आय का ४१.८%, १९१९–२० में २७.८%, १९३९–४० में १९.९% भाग मालगुजारी से प्राप्त होता था। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के आरम्भ होते ही मालगुजारी की आय फिर से बढ़ने लगी। इसकी राशि सन् १९५१–५२ में लगभग ४८ करोड रुपयें थी, १९५५–५६ में ८० ३३ करोड रुपये थी और सन् १९५८–५९ में ९५ करोड रुपयों का अनुमान था।

2. Report, Page, 77

(६) हमारे देश म भूमि की आय का एक बहुत बडा भाग जमींदारों की जेब में जाता है जो कि उन्हे बिना कमाई हुई वृद्धि के रूप म मिलता है। जमींदारों की इस आय पर पहले कोई कर नहीं लिया जाता था। गत वर्षों में कुछ राज्यों ने इस आय पर कर लगाना आरम्भ कर दिया।

(७) हमारे देश मे कृषकों के पास भी ऐसे कानूनी अधिकार नहीं थे जिनसे वे जमींदारों द्वारा होने वाले शोषण को रोक सकते और अधिकतर काश्तकारों का शोषण ही हुआ करता था। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात जमींदारों के विरुद्ध काफी आवाज उठनी आरम्भ हुई और बहुत से राज्यों में जमींदारी प्रथा का अन्त भी कर दिया गया है। धीरे धीरे भारतवर्ष में स्थायी बन्दोबस्त पूर्ण रूप से समाप्त हो जायगा।

मालगुजारी तथा करारोपण के सिद्धान्त—मालगुजारी में निश्चितता का गुण पाया जाता है। जितने समय के लिये मालगुजारी निश्चित की जाती है उससे पहले मालगुजारी की दरों मे कोई भी परिवर्तन नहीं होते। इस प्रकार किसान को यह पता रहता है कि उसको कितना भुगतान करना है और सरकार को भी यह पता रहता है कि मालगुजारी से कितनी आय प्राप्त होगी। मालगुजारी में सुविधा का भी गुण पाया जाता है क्योंकि लगान किसान से उस समय वसूल किया जाता है जबकि वह अपनी फसल को बेचता है और इसलिये उसको लगान देने में कोई असुविधा नहीं होती। मालगुजारी का प्रबन्ध एवं व्यवस्था अपव्ययी है क्योंकि इसको एकत्रित करने के लिये एक बहुत बड़ा कर्मचारी वर्ग रखा जाता है। यद्यपि कुछ लोगों का यह कहना है कि मालगुजारी एकत्रित करने के व्यय को अधिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि मालगुजारी जमा करने वाले कर्मचारियों को इसके अतिरिक्त और भी बहुत से काम करने पडते हैं। कुछ भी हो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मालगुजारी वसूल करने का व्यय बहुत अधिक है। अन्त में लगान किसान की भूमि से प्राप्त आय के अनुसार नहीं लगाया जाता और इसलिये यह काश्तकार की योग्यता के अनुकूल नहीं होता। इसके विपरीत यह प्रतिगामी होता है।

मालगुजारी कर है या लगान ?—हमारे देश में इस विषय पर काफी लम्बे समय से वाद विवाद होता आ रहा है कि मालगुजारी कर है या लगान ? यह निश्चित करने के लिये कि यह लगान है या कर हमको यह देखना होगा कि भूमि का मालिक कौन है किसान या सरकार। यदि भूमि का मालिक सरकार है तब तो मालगुजारी लगान के रूप में दी जाती है और यदि भूमि का मालिक किसान है तब यह कर हो जाती है। इस प्रकार भूमि का स्वामित्व इस समस्या का केन्द्रीय बिन्दु है और इसके विरुद्ध तथा इसके पक्ष में बोलने वाले व्यक्ति अपने अपने राग अलापते है। वे लोग जो इसको लगान बताते हैं उनका कथन है मालगुजारी लगान इसलिए है कि सरकार इसकी दर को आवश्यकतानुसार नहीं बदल सकती। साथ ही किसानों को मकान बनवाने के लिए भूमि मुफ्त दी जाती है और उनको सम्मिलित भूमि में पशुओं को चराने का अधिकार भी है। परन्तु यह ध्यान रहे कि सरकार के

ऊपर कोई ऐसा नियन्त्रण नहीं है कि वह मालगुजारी को न बढा सके। सरकार तो मालगुजारी की दर को केवल इसीलिए नहीं बदलती क्योंकि ऐसा करने में बड़ी कठिनाई होगी और कहीं कहीं तो जमीन के अधिकार भी हर वर्ष बदले जाते हैं। जहाँ तक किसानों को मकानों के लिए मुफ्त भूमि मिलने का सम्बन्ध है तो इसका भी कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि सरकार भूमि में अपना महत्व स्थापित किये बिना ही किसानों को इस प्रकार की सुविधायें प्रदान कर सकती है। इन लोगों का दूसरा तर्क यह है कि चाहे आरम्भ में जो भी स्थिति रही हो परन्तु अब तो मालगुजारी लगान ही है क्योंकि भूमि के बार बार बेचे और खरीदे जाने से मालगुजारी के रूप में की गई सरकारी माँग का पूँजीकरण (Amortisation) हो गया है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि कर कभी बढ़ाया नहीं जा सकता, बल्कि इसका अर्थ केवल यही है कि कर भार सम्पत्ति के बेचने वाले पर पड़ता है, क्योंकि उसको खरीदने वाला कर का धन निकाल कर भूमि का मूल्य चुकाता है। यह भी ध्यान रहे कि पूरे कर का पूँजीकरण भी बहुत कठिन है क्योंकि सरकार की माँग का पहले से पता नहीं किया जा सकता।

भारतीय कर जाँच आयोग ने मालगुजारी को कर माना है और इसके पक्ष में निम्न लिखित तर्क दिये हैं —

(१) सरकार ने स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में जमींदारों को भूमि का स्वामी माना है और रैयतवारी क्षेत्रों में भी भूमि के बेचने तथा खरीदने पर कोई पाबन्दी नहीं लगाई है।

(२) सरकार ने अपने आप को भूमि का स्वामी घोषित नहीं किया है।

(३) भारत में लगान आर्थिक लगान से ऊँचा है और उसका भुगतान कर की भाँति अनिवार्य रूप से करना होता है।

(४) लगान राष्ट्रीय आय का एक अंग है।

सच तो यह है कि इस वाद विवाद का अन्त करना सरल नहीं है। इसीलिए सरकार ने जमींदारी उन्मूलन करके इस प्रकार के वाद विवाद का अन्त ही कर दिया है।

लगभग सभी राज्यों में मालगुजारी वसूल करते समय कुछ रियायतें तथा कटौतियाँ कर दी जाती हैं विशेष कर जब अकाल और बाढ़ के कारण फसलें पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं। कभी कभी मंदी के समय भी मूल्यों के गिरने के कारण यह कटौतियाँ की जाती हैं। यद्यपि विभिन्न राज्यों में इन रियायतों को प्रदान करने के नियम अलग अलग हैं परन्तु अधिकतर सन् १६०१ के अकाल आयोग की सिफारिशों का ही पालन किया जाता है। मालगुजारी में रियायतें होने के साथ साथ लगान में भी कमी कर दी जाती है।

यह सब कुछ होते हुये भी भारत की मालगुजारी प्रणाली की सभी ओर से आलोचना हुई है। इसका भार धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन कृषकों पर अधिक पड़ता है, क्योंकि यह तो शुद्ध आदेयों या वार्षिक लगान के अनुसार निश्चित की जाती

है और भूमि के मालिक या किसान की कर दान योग्यता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। अत यह अनुपातिक है प्रगतिशील नहीं और कृषकों के विभिन्न वर्गों पर इसका भार भी असमान है। कर जाँच आयोग ने इस प्रणाली को सुधारने के लिये निम्न सुझाव प्रस्तुत किये हैं —

कर जाँच आयोग की सिफारिशें—कर जांच आयोग का विचार है कि पिछले वर्षों म विशेष रूप से दूसरी लड़ाई के बाद भूमि व मूल्यों म इतनी वृद्धि हो गई है कि मालगुजारी का भार दिन प्रति-दिन कम होता जा रहा है। इसलिये आयोग का विश्वास था कि मालगुजारी व्यवस्था का पूर्ण संगठन होना चाहिये। आयोग ने इसके निम्न कारण दिये हैं —

(१) प्रथम मालगुजारी व्यवस्था का तथा बन्दोबस्त का काम इतना विस्तृत और विशेष प्रकृति का है कि समय समय पर भिन्न २ जिलों म भिन्न २ प्रकार से बन्दोबस्त किये गये हैं। परिणामस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों म मालगुजारी के भार का वितरण असमान है। इसके अतिरिक्त बहुत से राज्यों म मालगुजारी की दरें अभी तक नहीं बदली गई हैं और पहले ही जैसी चली आ रही है।

(२) बन्दोबस्त की जो वतमान विधि है उसके द्वारा मालगुजारी म मूल्यों के परिवर्तनों के साथ साथ हेर फेर नहीं किया जा सकता है। बन्दोबस्त की अवधि बहुत लम्बी है और इसकी दरों म परिवर्तन करने का ढंग अत्यधिक विस्तृत है।

(३) वतमान प्रणाली म मालगुजारी को प्रगतिशील बनाने के लिये कोई भी विधि प्रस्तुत नहीं की गई है।

(४) कुछ क्षेत्रों म तो बन्दोबस्त अभी तक वैज्ञानिक नीतियों के अनुसार नहीं हो पाये हैं। इसलिये आयोग ने निम्न सिफारिशें दी हैं —

(१) आयोग की पहली सिफारिश यह थी कि राज्य के सभी भागों म मालगुजारी की दर समान तथा प्रमापीकृत होनी चाहिये। उसका प्रस्ताव है कि दरों की असमानता वर्तमान विधि का प्रयोग करने से दूर नहीं हो सकती, क्योंकि इसके लिये एक बड़ी संख्या म कर्मचारियों की आवश्यकता होगी और समय भी अधिक लगेगा। इसलिये उनका सुझाव है कि जिन क्षेत्रों म मालगुजारी पिछली बार सन् १८८० १८६० के काल में प्रचलित मूल्यों के अनुसार निश्चित हुई थी उसकी दरों म २५% की वृद्धि होनी चाहिये। जिन क्षेत्रों म पिछला बन्दोबस्त सन १६०० और १६१६ के बीच के मूल्यों के आधार पर हुआ था उसमें १२½% की और जिन क्षेत्रों म सन १६२०-१६३६ के मूल्यों के अनुसार हुआ था उसम ६¼% की वृद्धि होनी चाहिये थी और यदि पिछला बन्दोबस्त १६४० के बाद के मूल्यों पर आधारित था उसम कोई भी परिवर्तन नहीं होना चाहिये।

(२) आयोग का दूसरा प्रस्ताव था कि मालगुजारी की दरों म प्रत्येक १० वर्ष बाद परिवर्तन होना चाहिये। वतमान अवधि जो २० से ४० वर्षों तक है, बहुत लम्बी है और मालगुजारी की दरें वतमान मूल्यों के अनुकूल नहीं हैं। यह तो सम्भव नहीं है कि प्रत्येक १ २ या ३ वर्षों के बाद मालगुजारी की दरों में

परिवर्तन किये जा सके क्योंकि एक तो इसमे प्रबन्ध सम्बन्धी अनेको कठिनाइयाँ उत्पन्न होगी और दूसरे इससे किसानों को भी बहुत कष्ट होगा। इसके अतिरिक्त मालगुजारी की दरो में परिवर्तन करने की विधि भी ऐसी होनी चाहिये जिसमे वर्तमान प्रणाली की भाँति विस्तृत पूँछ ताँछ करने की आवश्यकता न हो। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि मालगुजारी की दरें सम्पूर्ण राज्य मे एक साथ निश्चित की जायें, क्योंकि प्रत्येक जिले या तहसील में अलग अलग मालगुजारी निश्चित करना सुविधाजनक नही होता। इसलिये आयोग ने यह सुझाव दिया कि मालगुजारी की नई दरें राज्य की मुख्य फसलों के मूल्य सूचक अंक के अनुसार निर्धारित की जायें।

(३) आयोग का तीसरा सुझाव यह था कि मालगुजारी की दर म मूल्यो के परिवर्तनों के अनुपात मे परिवर्तन नही होना चाहिये बल्कि मूल्यो के परिवर्तनो के अनुपात से कम परिवर्तन किये जायें।

(४) *विशेष परिस्थितियो मे मालगुजारी की दरें किसी समय भी बदली* जा सकती हैं अर्थात् जब सूखी भूमि में सिंचाई की व्यवस्था हो जाये या सिंचाई वाली भूमि सूखी भूमि हो जाये या भूमि की उपजाऊ शक्ति कम हो जाये या प्राकृतिक कारणो से भूमि खेती के योग्य न रहे।

(५) आयोग की यह भी सिफारिश थी कि मालगुजारी पर स्थानीय सरकारें जैसे जिला बोर्ड, पंचायतें, अतिरिक्त कर (Surcharge) भी लगा सकती हैं और जो आय प्राप्त हो वह पूर्ण रूप से स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उपयोग की जा सकती है। यह अतिरिक्त कर या तो मालगुजारी की राशि से अनुसार या किसान द्वारा बोई गई फसल के अनुसार निर्धारित की जा सकती है।

(६) *आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र में एकत्रित की गई मालगुजारी का कम से कम १५% उस क्षेत्र की स्थानीय सरकारो को दिया जाय। यदि मालगुजारी की नई दरो से किसी क्षेत्र म आय की वृद्धि हो जाती है तब इस बढी हुई आय का कुछ भाग स्थानीय सरकारो को भी दिया जाय। यह या तो आर्थिक सहायता के रूप में या किसी विशेष स्थानीय योजना को कार्यान्वित करने के लिये राज्य सरकारों की ओर से अनुदान के रूप मे दिया जा सकता है।*

(७) आयोग का प्रस्ताव था कि मालगुजारी के भार की असमानताओं को कम करने के लिये कृषि आय कर लागू होना चाहिये।

कृषि आय कर—भारत म कृषि आय कर राज्यों की आय का एक स्रोत है। आजकल यह कर विहार, आसाम, बंगाल, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, मद्रास, राजस्थान और केरल में लगा हुआ है। सबसे पहले इसको बिहार ने सन् १९३८–३९ मे लगाया था। इसके एक वर्ष बाद आसाम में लगाया गया। बंगाल और उड़ीसा में सन् १९४४ मे और उत्तर प्रदेश मे सन् १९४८–४९ मे लगाया गया। यद्यपि कृषि आय कर हमारे देश में पिछले २० वर्षों स ही राज्य सरकारों ने

लगाना आरम्भ किया है परन्तु यह भारत के लिए कोई नया कर नहीं है। इसका इतिहास लगभग १ शताब्दी पुराना है। यह कर सन १८६० में सामान्य आय कर का ही एक भाग था जो सन १८८६ तक लगाया जाता है। ब्रिटिश साम्राज्य में यह इसलिए हटा दिया गया था क्योंकि अंग्रेजों ने राजनैतिक तथा शासन सम्बन्धी सुविधायें प्राप्त करने के लिए एक नए वर्ग का निर्माण किया था जिसे जमींदार कहा जाता है। जमींदार भूमि का स्वामी बनाया गया और क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य बहुत अंश तक जमींदारों की सहायता पर निर्भर था इसलिए उसने कोई भी ऐसा काम करना उचित नहीं समझा जिससे इस वर्ग को रुष्ट होना पड़े। इसीलिए कृषि आय कर कभी भी नहीं लगाया गया। सन १८८६ के आयकर के नियम में तथा सन् १९१९ के सुधारों में भी कृषि आय को कर मुक्त रखा था। परन्तु सन १९३५ के एक्ट ने प्रान्तों को कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार दिया। इस एक्ट में भी कृषि आय को सामान्य आय कर से अलग समझा गया और यहाँ तक कि हमारे नए संविधान में भी इस भेद को बनाये रखा गया यद्यपि सरकार कमेटी तथा सन् १९५४ के भारतीय कर जाँच आयोग ने भी अपना मत प्रकट करते हुए कह दिया था कि आय स्रोतों से प्राप्त आय और भूमि से प्राप्त आय में कोई भी अन्तर नहीं है। सन १९५५ में कर जाँच आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि आय कर में से कृषि से प्राप्त आयों के कर मुक्त रहने का कोई भी ऐतिहासिक या सैद्धान्तिक औचित्य नहीं है। और सुझाव दिया था कि एक व्यक्ति की अन्य आयों पर कर की दर निर्धारित करते समय कृषि आयों को भी सम्मिलित करना चाहिए यदि यह प्रबन्ध के दृष्टिकोण से उचित हो और व्यवहारिकता के दृष्टिकोण से उचित हो। परन्तु खेद की बात यह है कि अभी तक कृषि आय को अन्य प्रकार की आयों से अलग समझा जाता है।

कृषि आय कर को निर्धारित करते समय कुछ विशेष कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जैसे कृषि भूमि में लगी हुई सम्पत्ति जैसे मकान से प्राप्त आय को कृषि आय में सम्मिलित किया जाय या नहीं। वास्तव में मकान का किराया कृषि आय नहीं है क्योंकि उसमें भूमि का लगान पूँजी का सूद जोखिम का लाभ और श्रम की मजदूरी सम्मिलित है। परन्तु जो आय जमींदार दूसरों को खेती के लिए अपनी भूमि देकर प्राप्त करते हैं और स्वयं कृषि नहीं करते ऐसी आय अवश्य ही कृषि आय है। अतः कृषि आय को मालूम करने की एक सरल विधि यह है कि उन सभी भूमियों से जिन पर मालगुजारी दी जाती है जो भी आय प्राप्त होती है वह कृषि आय है। इसके अतिरिक्त एक समस्या यह भी है कि कृषि आय पर कर लगाने का आधार क्या होना चाहिए? क्या यह कर आय प्राप्ति के स्रोत पर लगना चाहिए या करदाता के रहने के स्थान पर? आय कर में दोनों ही आधार अपनाये जाते हैं। परन्तु कृषि आय कर में ऐसा नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से एक सो दो बार करारोपण होने का भय रहता है और दूसरे अन्तप्रान्तीय झगड़े होने की सम्भावना रहती है। उदाहरणस्वरूप यदि कोई व्यक्ति उत्तर प्रदेश में रहता है

जिसकी भूमि बंगाल मे है तब बंगाल सरकार तो आय के स्रोत के आधार पर कर लगायेगी और उत्तर प्रदेश की सरकार रहने के स्थान के आधार पर कर लगायेगी। इसीलिये इन सब झगड़ों को दूर करने के उद्देश्य से सभी राज्य सरकारें केवल एक ही आधार मानती है, अर्थात् आय के प्राप्त होने का स्रोत। इसके अतिरिक्त भारत मे इस प्रकार की भी व्यवस्था की गई है कि केवल उसी भूमि से प्राप्त आय को कृषि आय मे सम्मिलित किया जायेगा जो भारत मे स्थित है। यह भी प्रश्न उठता है कि कर किस आय पर लगाया जाये? प्राप्त होने वाली वास्तविक आय पर या अनुमानित आय पर? भारत मे सन् १६३६ से पहले आय कर केवल उसी आय पर लगता था जो प्राप्त होती थी। परन्तु क्योंकि इसमे कर की बहुत चोरी होती थी इसलिये अब आय कर अनुमानित आय के आधार पर लगाया जाता है। परन्तु कृषि आय कर वास्तविक प्राप्त आय पर ही लगाया जाता है क्योंकि कर केवल भूमि की स्थिति के अनुसार लगाया जाता है और कर दाता को किसी अन्य स्रोत से आय प्राप्त ही नही होती, इसलिये कर को बचाने या कर को चुराने का प्रश्न ही नही उठता। कृषि आय कर मे भी खण्ड प्रणाली (Slab system) अपनाई गई है। मद्रास मे कर रहित न्यूनतम सीमा ३,०००) रुपये है तथा उड़ीसा मे ३,०००) रुपये है और शेष प्रान्तों मे १५००) रुपये है। साधारणतया कर की न्यूनतम दर ६ पाई या ९ पाई प्रति रुपया है परन्तु उत्तर प्रदेश मे यह दर १२ पाई है। सबसे ऊँचे खण्ड पर यह दर साधारणतया ४ आने प्रति रुपया है परन्तु राजस्थान मे २८ पाई है और उड़ीसा मे १२$\frac{1}{2}$ आने है। बिहार, उत्तर प्रदेश, केरल, मद्रास और राजस्थान मे अति कर भी लगाया जाता है। राजस्थान मे ३०,०००) रुपयों से अधिक आय पर अति कर लगाया जाता है और शेष राज्यों मे अति कर २५,०००) रुपयों से अधिक आयों पर लगता है। मद्रास और केरल मे अति कर की दर ६ आने है और अन्य राज्यों मे ५$\frac{1}{4}$ आने।

भारत मे कृषि आय कर कृषि एवं कृषि से सम्बन्धित क्रियाओं से प्राप्त आयों पर लगाया जाता है। कर निर्धारित करने से पहले कुल आय मे से कुछ कटौतियाँ कर दी जाती है जैसे, राज्य सरकार को दी गई मालगुजारी या जमींदारों को दिया गया लगान, स्थानीय करों का भुगतान, सिंचाई शुल्क, कुँए, तालाब इत्यादि सिंचाई के साधनों की मरम्मत आदि का व्यय, कृषि कार्यों के लिये प्राप्त किये गये ऋणों का सूद, खेती करने के सम्बन्ध मे किये गये खर्चे जैसे बीज, खाद्य इत्यादि का मूल्य, कृषि सम्बन्धी पशु तथा औज़ारों की व्यवस्था तथा अन्य बातों पर व्यय और बीमा सम्बन्धी अंश दान। कृषि आय कर के आधीन करदाताओं के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वे अपनी आयों और कृषि सम्बन्धी खर्चों का विस्तृत हिसाब रखें। परन्तु अधिकाश कृषकों के लिये यह सम्भव नही है कि वह अपना पूरा हिसाब रख सकें। इसलिये कुछ सरकारों ने भूमि से प्राप्त लगान के आधार पर आय मालूम करने की विधि अपनाई है जैसे, उत्तर प्रदेश मे जिस व्यक्ति पर कर लगाया गया है उसको यह स्वतन्त्रता है कि वह कर का भुगतान या तो

अपने हिसाबों के आधार पर करें या अपने लगान के १२½ गुने की दर से करें। करदाता जो भी विधि पर आय चुन लेता उससे उस समय तक नहीं बदल सकता जब तक कि आय बोर्ड (Board of Revenue) से आज्ञा प्राप्त न कर ले। बिहार और बंगाल राज्यों में इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं दी गई है। निम्न तालिका में कृषि आय कर से प्राप्त आय का विवरण दिया गया है। कुल आय में कृषि आय कर की आय के प्रतिशत को कोष्ठकों (Brackets) में दिखाया गया है —

(लाख रुपयों में)

राज्य	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६
आसाम	६१ (८.१)	१०८ (७.८)	६३ (६.४)	८७ (५.४)	१०६ (८.०)
बिहार	४५ (२.०)	४६ (१.५)	४१ (१.२)	२४ (०.६)	३३ (०.८)
हैदराबाद	१० (०.२)	२ (०.१)	२ (०.१)	२ (०.१)	५ (०.२)
मद्रास	—	—	—	—	१४२ (२.१)
मैसूर	—	—	—	—	१ (०.१)
उड़ीसा	१३ (१.१)	६ (०.४)	४ (०.४)	३ (०.२)	२ (०.१)
राजस्थान	—	—	—	४ (०.३)	४ (०.२)
ट्रावनकोर-कोचीन	६६ (४.४)	६० (४.८)	८३ (५.२)	१४६ (८.१)	१९८ (९.०)
उत्तर प्रदेश	१०० (१.६)	७१ (१.२)	४८ (०.७)	६२ (०.६)	७० (०.६)
पश्चिमी बंगाल	६४ (१.७)	४१ (१.६)	७२ (१.९)	१२६ (३.०)	११४ (३.१)
भोपाल	—	—	—	१ (०.४)	२ (०.३)
कुर्ग	३ (४.५)	१४ (१६.१)	२१ (२०.२)	१८ (१६.८)	२६ (२१.०)
विन्ध्य प्रदेश	—	—	१ (०.०)	१ (०.१)	२ (०.४)
कुल	४२६ (१.१)	४०१ (०.६)	३७७ (०.८)	४२६ (०.६)	७६४ (१.४)

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि राज्यों को कृषि आय कर से कोई विशेष आय प्राप्त नहीं हो रही है। इस कर के विरुद्ध बहुत से आरोप लगाये जाते हैं जैसे, कृषि आय कर से कृषकों को दो बार कर देना होगा। क्योंकि वे पहले से ही मालगुजारी दे रहे हैं। परन्तु यह आलोचना ठीक नहीं है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि किसी भी व्यक्ति पर एक ही आधार के अनुसार दो बार कर नहीं लगना चाहिए। परन्तु यदि कोई व्यक्ति एक कर का भुगतान करता है तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह किसी दूसरे कर का भुगतान न करे। मालगुजारी कृषि उत्पादन के अनुसार ली जाती है और कृषि आय कर कृषि से प्राप्त आय के अनुसार। अतः यह स्पष्ट

ही है कि एक ही आधार पर दो कर नहीं लगाये जाते है। यह गडबडी इस कारण भी उत्पन्न होती है कि बहुधा लोग करापात (Impact) और कर भार (Incidence) के भेद को ठीक प्रकार से नहीं समझ पाते। मालगुजारी का करापात तो जमीदारो पर है परन्तु कर भार जमीन जोतने वालो या उपभोक्ताओ पर पडता है। केवल कृषि आय कर में ही कर भार जमीदारों पर पडना। यदि यह भी मान लिया जाये, जो कि सही नही है, कि मालगुजारी का भार जमीदारों को ही सहन करना पडता है क्योकि वे इस स्थिति में नहीं है कि इसका विवर्तन कर सकें और इसलिये मालगुजारी का भार जमीदारो पर पडता है। परन्तु यह तर्क भी कम से कम वर्तमान जमीदारो के सम्बन्ध मे सही नही है। पूंजीकरण की विधि द्वारा यह भार भूमि को बेचते समय पहले जमीदारो पर अवश्य ही पडा होगा और क्योकि वर्तमान जमीदार प्रारम्भिक जमीदार नही हैं इसलिए मालगुजारी का भार उन पर नहीं पडता और इसलिए दो बार करारोपण का तर्क निराधार है। इसके विरुद्ध दूसरी आलोचना यह की जाती है कि इस कर से कृषकों का कर भार बहुत अधिक हो जायेगा। परन्तु यह तर्क भी ठीक नही है क्योंकि, कृषि आय कर केवल उन्ही कृषको पर लगाया जाता है जिनकी आय निश्चित न्यूनतम सीमा से अधिक होती है। वास्तव में इस कर से कृषको की आय की असमानतायें दूर होगी। साथ ही प्रगतिशील कृषि आय कर का भार बडी बडी आयो पर अधिक पडेगा और छोटी छोटी आयो पर कम पडेगा। अन्तिम आलोचना इस कर के विरुद्ध यह की जाती है कि, इसका प्रबन्ध एव व्यवस्था सरल नही होती। अधिकाश कृषक अपनी आय और व्यय का पूरा हिसाब नही रख पाते और यह भी सम्भावना है कि कर अधिकारी अशिक्षित कृषको को परेशान करे। इस सम्बन्ध में इतना बता देना उचित होगा कि गैर कृषि आय के सम्बन्ध में भी यह आरोप लगाया जाता है। परन्तु अनुभव यह बताता है कि धीरे धीरे लोगो को अपना उचित हिसाब बनाने का ज्ञान बढ़ता जा रहा है और आरम्भ में जो कठिनाइयाँ थी वे अब बहुत कुछ दूर होती जा रही है। कृषि आय कर की व्यवस्था में जो कठिनाइयाँ आज अनुभव हो रही है वह धीरे धीरे कम होती जायेगी।

कृषि आय कर के पक्ष में यह तर्क दिये जाते है: प्रथम यह कर मालगुजारी की असमानताओ को दूर करता है। हम कह चुके हैं कि मालगुजारी की दर करदाता की कर दान योग्यता के अनुसार निश्चित नही की जाती। यह तो वार्षिक लगान या उपज के अनुसार निश्चित की जाती हैं और निर्धन तथा धनी के लिए एक ही दर रहती है। मालगुजारी से कृषको में कर भार की जो असमानताएँ उत्पन्न होती हैं उनको कृषि आय कर दूर कर देगा। दूसरे, इस कर की अनुपस्थिति में कृषको और गैर कृषको के बीच की असमानतायें भी उपस्थित रहगी। एक व्यापारी को एक निश्चित आय पर जबकि एक प्रगतिशील दरो मे आय कर का भुगतान करना होता है उतनी ही आय वाले भूमि के मालिक को मालगुजारी के रूप में एक बहुत ही हलका भार सहन करना होगा। परन्तु यह स्थिति न्यायसगत नही है। इसलिए इस असमानता को दूर करने का एकमात्र साधन कृषि आय कर ही है।

अध्याय २१

राज्य सरकारों की आय के स्रोत (क्रमशः)

(उत्पादन-कर तथा मदिरा निषेध नीति)

Sources of State Revenues (Contd)

(Provincial Excise and Prohibition Policy)

प्राक्कथन—

राज्य सरकारों को निम्न वस्तुओं पर प्रतिबन्धक उत्पादन कर लगाने का अधिकार प्राप्त है। (१) देशी शराब, (२) ताड़ी जो नारियल, खजूर आदि वृक्षों का रस होता है, (३) चावलों या जौ की शराब, (३) देशी पेड़ों की नशीली पत्तियाँ जैसे चर्स, भाँग, गाँजा और (५) अफीम। हमारे देश मे प्रान्तीय उत्पादन करों का इतिहास अनेकों प्रयोगों और खोजों से परिपूर्ण है जिसका विस्तृत वृत्तान्त यहाँ पर देना सम्भव नहीं है। सामान्य रूप से सरकार का केवल यही उद्देश्य रहा है कि वह हानिकारक दवाइयों और मदिरा के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाए। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न सरकारों ने कई प्रकार की योजनाओं को अपनाया जैसे (१) नियन्त्रण के उद्देश्य से ऐसी वस्तुओं के उत्पादन का केन्द्रीयकरण, (२) लाइसेन्स तथा बिना लाइसेन्स द्वारा ऐसी वस्तुओं की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगाना, (३) बिक्री के क्षेत्र को सीमित रखना, (४) बिक्री के घन्टों को सीमित रखना, (५) उन दुकानों की संख्या को कम करना जहां पर ऐसी वस्तुओं की बिक्री होती है और (६) व्यक्तियों में ऐसी वस्तुओं के उपभोग के प्रति अरुचि उत्पन्न करना।

ब्रिटिश साम्राज्य के आरम्भ होने से पहले यह कर बंगाल में जमींदारों द्वारा एकत्रित किया जाता था। परन्तु इस प्रथा को सन् १७६० में समाप्त कर दिया गया। तत्पश्चात १० वर्षों के लिए शराब बनाने और बेचने के लिए लाइसेन्स प्रणाली की स्थापना हुई और केन्द्रीय शराब बनाने के कारखाने कुछ बड़े-बड़े शहरों में स्थापित किये गए। यद्यपि यह बीच में बन्द कर दिए गए थे परन्तु सन् १८८३ से यह फिर चालू कर दिए गए जो आज तक चल रहे हैं। मद्रास में भी व्यक्तिगत आधार पर प्रारम्भिक काल में ठेकेदारी प्रणाली स्थापित थी। सन् १८२० में एक एक्ट बनाया गया जिसके अनुसार ताड़ी का उत्पादन एवं विक्रय केवल अधिकृत व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता था। २० वर्षों के बाद शराबों पर उत्पादन कर

प्राप्त करने की आवश्यकता अनुभव हुई और इसलिए नियोजन आयोग ने सन् १९५४ में श्री श्रीमन्नारायण की अध्यक्षता में एक मदिरा निषेध जांच समिति नियुक्त की जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १९५६ में दी थी। इसका अध्ययन हम बाद में करेंगे।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मदिरा निषेध नीति को इतनी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है जितनी कि आशा की जाती थी। इस नीति से एक ओर तो राज्य सरकारों की आय कम हो गई और दूसरी ओर राज्य सरकारों को मदिरा निषेध कार्यक्रम पूरा करने के लिए खर्चा भी अधिक करना पड़ रहा है। जो नशे के आदी हैं उनकी आदत अभी तक कम नहीं हुई। गैर-कानूनी शराब बनाने तथा गीले क्षेत्रों (Wet Areas) से शराब की चोरी करने की बुराइयों में और अधिक वृद्धि हो गई है। जहाँ तक राज्य सरकारों को इस कर से आय प्राप्त होने का सम्बन्ध है तो यह आय सन् १९५१-५२ और सन् १९५५-५६ के काल में लगभग ४५ करोड़ रुपयों के आस-पास हो रही है और सन् १९५६-५७ में २२.७६ करोड़ रुपये, सन् १९५७-५८ में ४१.७८ करोड़ रुपये हो गई और सन् १९५८-५९ में ४३.५६ करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा थी। राज्य सरकारों ने अपनी आय की इस कमी को पूरा करने के लिए बिक्री कर लागू किये हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा तम्बाकू, चीनी और कपड़ा पर लगाये गए अतिरिक्त उत्पादन करों से जो आय प्राप्त होगी वह काफी अंश तक इस कमी को पूरा कर देगी, क्योंकि इन करों से प्राप्त आय में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी। सन् १९५८-५९ में यह अनुमान था कि इन करों से राज्य सरकारों को ६७.४० करोड़ रुपए प्राप्त होंगे जबकि सन् १९५७-५८ में ३७.४२ करोड़, सन् १९५५-५६ में १६.६० करोड़ और सन् १९५१-५२ में ०.७० करोड़ रुपए प्राप्त हुए थे।

मदिरा निषेध नीति—मदिरा पीना सामाजिक, धार्मिक नैतिक और आर्थिक—सब दृष्टिकोणों से ही बुरा बताया गया है। कुछ धर्मों में तो इसके उपयोग को पाप बताया गया है और कुछ देशों में यह एक सामाजिक बुराई समझी जाती है। भारत जैसे निर्धन देश में जहाँ व्यक्तियों को पेट भर भोजन प्राप्त नहीं होता मदिरा पीने के विचार का समर्थन कोई भी व्यक्ति नहीं करेगा। लगभग सभी बुद्धिमान व्यक्तियों तथा विचारकों ने इसको बुरा बताया है। प्राचीन समय में एक बार एक राजा ने कहा था कि 'मेरे राज्य में न कोई चोर है न वस्तुओं में मिलावट करने वाला और न शराब पीने वाला।" इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय के राजा मदिरा पीने को कितना बुरा समझते थे और इसलिये यह तो भारत की सभ्यता का प्रमुख लक्षण है। अभाग्यवश प्राचीन परम्परा टूटते देर नहीं लगी और मुग़ल राजाओं के काल में आनन्दमयी तथा भोगविलासी जीवन व्यतीत करने की जिज्ञासा ने तथा अंग्रेज़ी शासन काल में विदेशी सभ्यता की छाप लगने से हमारे देश में मदिरा पान करने का शौक बढ़ता गया और आज बढ़ते बढ़ते उसने, अधिकांश व्यक्तियों के लिये एक आदत का सा रूप धारण कर लिया। विदेशों की तो बात ही दूसरी है। वहाँ की जलवायु अपेक्षाकृत ठण्डी है और वहाँ पर मदिरा पान करना

कुछ अंश तक आवश्यक भी है। परन्तु हमारे देश में तो यह केवल पाश्चात्य सभ्यता की नकल करने का ही परिणाम है और विदेशियों की ही देन है। भारत जैसे देश के लिये विलासयुक्त वस्तुओं का उपभोग कदापि भी लाभप्रद नहीं हो सकता।

मदिरा निषेध का शब्दार्थ कानून द्वारा मादक पयों के उत्पादन एवं विक्रय को रोकना है। परन्तु व्यावहारिक जीवन में सभी प्रकार की नशीली वस्तुओं के विक्रय एवं उत्पादन को रोकने की बात मदिरा निषेध के क्षेत्र में सम्मिलित कर ली जाती है। मदिरा निषेध की नीति पाश्चात्य देशों में भी अपनाई गई है और अब हमारे देश के लिये तो यह एक स्थायी नीति बन गई है। परन्तु व्यक्तियों को इसकी सफलता विशेषकर भारत में के बारे में बहुत संदेह है। यहाँ तक कि एक शिक्षित और सभ्य व्यक्ति जो मदिरा नहीं पीता है उसको भी मदिरा निषेध नीति की न्यायशीलता तथा इसकी योग्यता के बारे में संदेह है। वह इसको एक प्रकार का दबाव समझता है। उसके अनुसार यह कार्य निर्दयतापूर्ण और असभ्य है क्योंकि उसके विचार में प्रत्येक व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में सोचने तथा कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यह तो उसका जन्माधिकार है। एक क्षण के लिये हम इस विचार से सहमत हो सकते हैं परन्तु जरा गम्भीरता से सोचने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य सम्बन्धी कार्य केवल आदर्शवादी तथा अव्यावहारिक अधिकारों के आधार पर ही नहीं चलते। स्वतन्त्रता को केवल एक अधिकार ही नहीं समझना चाहिये। इसके साथ कुछ कर्त्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है। हममें से हर एक को अपने सम्बन्ध में सोचने और कार्य करने का अधिकार तो अवश्य प्राप्त है परन्तु कुछ सीमाओं के अन्दर। हमारे लिये स्वतन्त्रता का अधिकार उसी समय तक सुरक्षित है जब तक हम उसका उपयोग ठीक प्रकार से करते हैं। अर्थात् हम अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिये समाज या किसी अन्य व्यक्ति का अहित नहीं करते। शराब पीना एक सामाजिक बुराई है और इसमें अनेकों प्रकार के शारीरिक, नैतिक और मानसिक दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं। इसलिये मदिरा निषेध को यह समझना कि यह व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप है ठीक नहीं है वरन इसके द्वारा व्यक्ति और उसके परिवार को नष्ट होने से बचाया जाता है। गांधी जी ने एक बार कहा था कि हम चोरों को चोरी करने के लिये सुविधायें नहीं प्रदान करते। मैं शराब पीने को चोरी और कदाचित वैश्यावृत्ति (Prostitution) से भी अधिक निन्दनीय समझता हूँ।

भारत में मद्य निषेध नीति प्राथमिक रूप से निर्धनों के हित में निर्मित की गई है। हम में से कोई भी यह प्रश्न पूछ सकता है कि निर्धनों के शराब पीने में क्या बुराई है? आखिरकार उनका जीवन भी मुसीबतों और कठिनाइयों से परिपूर्ण है। हमको उनके शराब पीने से द्वेष नहीं करना चाहिए क्योंकि उनके पास अपने शुष्क और प्रसन्नतारहित जीवन से बचने के लिए यही तो एक मात्र साधन है। शराबी के दृष्टिकोण से तो यह विचार पूर्णतया सत्य है। परन्तु उसकी पत्नि, बच्चे तथा अन्य निर्भरकर्त्ताओं का क्या होगा? क्या हमारा यह कार्य उचित है कि हम

उसको एक ऐसी आदत डालने मे प्रोत्साहन दे जिसके प्रभाव में वह उनके इतना आधीन हो जावे कि वह अपने बच्चो तथा पत्नि को भूल जाए और उनको वीरान कर दे। यदि मद्य निषेध उन हज़ारा दु खी औरतो तथा निस्सहाय बच्चो को प्रसन्नता प्रदान कर सकता है और निर्धनो को जीवन की अच्छी दशायें दे सकता है तो इसके विरुद्ध कुछ भी कहना एक मूर्खता होगी। इसके द्वारा न केवल शराबी को ही शराब का त्याग करना पडता है बल्कि उसके परिवार के भरण-पोषण का अधिकार भी सुरक्षित रहता है। अत राज्य उस स्वतन्त्रता को रोकने म पूर्ण रूप से ठीक है जिसके उपयोग से समाज का अहित हो।

कभी कभी मद्य निषेध के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि क्या हम कानून के बल पर व्यक्तियो का नैतिक स्तर ऊँचा करने म सफल हो सकते हैं ? हम पूछते हैं कि इस सम्बन्ध म अर्थात अफीम जैसी नशीली वस्तुओं के सम्बन्ध में अमेरिका तथा यूरोप के अन्य देशो की क्या नीति है ? क्या वहाँ पर इन वस्तुओ की बिक्री पर नियन्त्रण नही है ? सभी देशो म ऐसी वस्तुओ का विक्रय एव उत्पादन कानून द्वारा नियमित किया जाता है परन्तु कही भी यह बात सुनने म नहीं आती कि व्यक्ति कानून द्वारा नैतिक नही बन सकते। मदिरा भी अब, सभी डाक्टरो और वैज्ञानिको द्वारा अफीम की भाति एक निद्राकारक (Narcotic) वस्तु स्वीकार कर ली गई है। इतना सब होते हुए भी पाश्चात्य देशो म शराब पीने को रोकना सम्भव नही हो सका है, क्योकि उन देशो म शराब सामाजिक जीवन का एक मुख्य अग बन गई है। हमारे देश म जहा बहुत थोडे से व्यक्ति शराब पीते हैं और जहाँ अधिकाश जनमत शराब पीने के विरुद्ध है मदिरा निषेध करना अधिक सरल है।

इसके अतिरिक्त शराब या नशीली वस्तुओ के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग के विरुद्ध कानून बनाने का अभिप्राय यह नही है कि व्यक्तियो का नैतिक स्तर ऊँचा किया जा रहा है। उसका केवल एक ही उद्देश्य होता है कि, जिन लोगो म शराब पीने की आदत उत्पन्न नही हो पाई है उनम शराब पीने की आदत न पडे। हम लोग अपने वातावरण से ही बनते और बिगडते हैं। खुले हुए शराब घर एव दुकानें उन व्यक्तियो को खुला निमन्त्रण देती हैं जो शराब के स्वाद तक को नही जानते और उनमे धीरे धीरे शराब पीने की आदत उत्पन्न कर देती हैं। यदि उन दुकानो को कानून की सहायता से बन्द कर दिया जाए तो अनेको व्यक्तियो को शराब पीने की बुराइयो से बचाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य पर भी यह दायित्व है कि वह ऐसा वातावरण उत्पन्न करे जिससे उसके नागरिको का हित अग्रसर हो। अत राज्य को वातावरण सुधारने म उन हानिकारक बातो का अन्त करना होगा जो व्यक्तियो मे ऐसी आदत उत्पन्न करती हैं जिनके प्रभाव म वह अपने को भूल जाता है। यही मद्य निषेध का उद्देश्य है। मदिरा निषेध शराब की खुली बिक्री का रोक कर शराब पीने की बीमारी को रोकता है। क्योकि शराब की खुली बिक्री की अवस्था म शराब विक्रेता विज्ञापनो द्वारा अधिकाधिक व्यक्तियो को फासने का प्रयत्न करते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका में सन् १६४४ मे ४,५५,६१,

७८८ डालर शराब पीने से सम्बन्धित विज्ञापनों तथा प्रचार पर खर्च हुए थे। इस व्यय मे केवल वही विज्ञापन सम्मिलित हैं जो विभिन्न पत्र एवं पत्रिकाओं मे दिए गए थे। इसके अतिरिक्त सडकों तथा बाजारा म जो प्रचार की विभिन्न रीतियाँ अपनाई गई थी तथा रेडियो द्वारा प्रचार करन म जो व्यय हुआ था वह इससे अलग था। डा० मारटिन (Dr R H Martin) जिन्होने कुछ वर्षो पहले अमेरिका मे शराब बनाने तथा बेचने वाली फर्मों के विज्ञापन सम्बन्धी खर्चो का विस्तृत अध्ययन किया था, उनका अनुमान है कि शराब सम्बन्धी विज्ञापनों पर लगभग १० करोड डालर प्रतिवर्ष खर्च होते हैं। व्यापारी वर्ग बडा ही चालाक होता है और वह एक भी डालर उस समय तक खर्च नही करता जब तक कि उसको उस डालर के बदले म और बहुत से डालर प्राप्त नही हो जाते और यही कारण था कि गाँधी जी ने सन् १९३१ मे यंग इन्डिया म लिखा था कि "यदि मैं सम्पूर्ण भारत के लिए केवल एक घंटे को एकक शासक (Dictator) नियुक्त कर दिया जाऊँ तो पहला काम जो मैं करूगा वह यह होगा कि सब शराब की दूकानो को बिना किसी मुआवजे के बन्द कर दूं।"

कुछ लोगों का विचार है कि हम व्यक्तियो के निजी जीवन के सम्बन्ध म कानून कैसे बना सकते है? हमको उनके व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है। वास्तव मे किसी भी मनुष्य के जीवन का कोई भी भाग ऐसा नही है जो घरेलू या निजी कहा जाय। वह अन्य व्यक्तियो से एसा बधा हुआ है कि वह जो कुछ भी करता है उसका प्रभाव दूसरो पर अवश्य पडता है। मदिरा निषेध व्यक्तियों की निजी स्वतन्त्रता को समाप्त नहीं करता बल्कि यह उनको उस शराब से बचाता है जो उनको अपना गुलाम बना लेती है, जिसके नशे में वह अन्धे हो जाते हैं और उस स्वतन्त्रता को खो बैठते है जिसके लिए हम इतना ऊँचा मूल्य भी देने को तैयार रहते है। शराब के नशे मे कोई भी मनुष्य अपने असली रूप म नही रहता है। वह जुर्म करता है और अनैतिक कामो मे अधिक सरलता से फस जाता है। शराब के प्रभाव में उसके निर्णय करने की नैतिक शक्ति तथा बुरे भले की पहचान करने की शक्ति का अन्त हो जाता है। वैज्ञानिकों का मत है कि यदि शराब को नशा उत्पन्न करने वाली मात्रा में पिया जाये तो इसके प्रभाव से व्यक्तियों की स्फूर्ति समाप्त होती जाती है, और मनुष्य का व्यवहार ऐसा हो जाता है कि किसी भी शिष्ट जाति के व्यक्तियों से उस प्रकार के व्यवहार की आशा नही की जा सकती। सडकों पर दुर्घटनाएं, लिंग सम्बन्धी अनैतिकता निर्लज्जता, शान्ति भग करना, सम्पत्ति को नष्ट करना, परिवार तथा पेशे सम्बन्धी जिम्मेदारी की ओर ध्यान न देना, धन तथा साख का दुरुपयोग और इसी प्रकार के अन्य जुर्म शराब के नशे में मनुष्य करने को तैयार हो जाता है।

परन्तु कुछ लोगो का कहना है कि प्रचार द्वारा मनुष्य को शराब की बुराइयों से परिचित क्यों न कराया जावे? क्या न मनुष्य मे हम शिक्षा द्वारा इतना ज्ञान उत्पन्न कर दें कि वह स्वय शराब पीने की बुराइयों को समझने लगे? जब हमें

ऐसी अहिंसात्मक विधियाँ उपलब्ध हैं तो मद्य निषेध जैसी हिंसात्मक नीति का समस्या के सुलझाने मे क्यों उपयोग किया जाये? क्योंकि यह नीति जितनी समस्याओं का समाधान नहीं करती उससे अधिक समस्याओं को उत्पन्न करती है। ऐसा इस लिये होगा कि जब कानूनन व्यक्तियों को शराब पीने को नहीं मिलेगी तो वे अपनी इच्छा को चोरी से पूरा करेंगे। अपने अपने घरों पर गैर कानूनी शराब बनायेंगे और चोरी से शराब का व्यापार चलायेंगे। यह स्थिति तो और भी खराब है, क्योंकि जब मद्य निषेध में भी व्यक्तियों को शराब पीने को मिल रही है तो इस नीति को कार्यान्वित करने से हम शराब पीने को तो बन्द कर नहीं पाये उसके अतिरिक्त हमने अनेकों बुराइयां और उत्पन्न कर दी जैसे गैर कानूनी शराब बनाने का जुर्म, कानून की निन्दा और शराब से जो आय प्राप्त होती थी उसके स्थान पर इन जुर्मों को रोकने पर व्यय और अधिक करना पडेगा। यह तर्क तो वास्तव में बहुत बल पूर्ण है और हमको यह स्वीकार करना ही पडेगा कि शराब पीने के विरुद्ध शिक्षात्मक प्रचार निःसदेह ही आवश्यक है। परन्तु केवल प्रचार मे ही काम नहीं चलेगा जैसा कि, अमेरिका के अनुभव से सिद्ध होता है। शराब पीना भी एक प्रकार का नशा है और लत है। अन्य नशों या लतों की भांति शराबी भी तर्क की ओर ध्यान नहीं देता। एक युवक के लिये तो इसका प्रभाव और भी उलटा हो सकता है और वह शराब केवल इसीलिये पीने लग जाये क्योंकि उसको रोका जा रहा है। कुछ लोग तो शराब केवल इसीलिये पीते हैं कि लोग उन्हें हिम्मत वाला कहें और योद्धा कहें और उनको पुराने विचारों का न समझें। इसलिये अकेला प्रचार ही क्रियात्मक सिद्ध नहीं होगा। इसका क्षेत्र अति सीमित है और फिर यह तो केवल शराब पीने के विरूद्ध जनमत उत्पन्न करने में सहायक होता है। परन्तु हमारे देश में तो जनमत पहले से ही शराब पीने के विरुद्ध है और जो कुछ लोग शराब पीते भी हैं तो यह प्रचार की कमी नहीं है, बल्कि उन अवसरों एवं सुविधाओं का कसूर है जो शराब की खुली बिक्री द्वारा उपलब्ध होती है। इस प्रकार की बिक्री से प्रचार के सारे लाभ समाप्त हो जाते है, क्योंकि दोनों एक दूसरे के विरुद्ध हैं। इस प्रकार अनुभव यह बताता है, कि शराब की दुकानों को बन्द कर देना चाहिए। जो लोग इस बात का ताना देते हैं कि मद्य निषेध नीति में भी गैर कानूनी शराब बनती रहती है उन लोगों के लिये केवल इतना ही बताना काफी होगा कि ऐसी नीति तथा ऐसे सुधारों को कार्यान्वित करने में कुछ समय लगता है और उसमें सफलता शीघ्र ही प्राप्त नहीं होती। हो सकता है कि चोरी, कत्ल आदि बुराइयों की भांति यह भी अनन्त समय तक चलता रहे। हाँ इतना अवश्य है, कि मदिरा निषेध नीति से यह बुराई केवल थोडे से ही व्यक्तियों तक सीमित रहेगी और उसका क्षेत्र सीमित होने के साथ साथ उसका प्रसार भी नहीं होगा।

कुछ लोगों के अनुसार मदिरा पान करने के विरुद्ध प्रत्यक्ष प्रयत्न करने के स्थान पर यदि हम आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को सुधार दें, जिनसे व्यक्तियों मे शराब पीने की आदत पडती है, तो हमारी समस्या बहुत अंश तक कम हो जावेगी।

निर्धन व्यक्ति शराब इसलिये पीते हैं कि उनका जीवन बड़ा नीरस, परेशानियों और कठिनाइयों से भरा हुआ होता है और वे अपने जीवन को एक भार सा समझते हैं और उनसे बचना चाहते हैं। यदि उन्हें अच्छा जीवन स्तर व्यतीत करने का आश्वासन दे दिया जाये, यदि उन्हें आर्थिक असुरक्षा से मुक्त करा दिया जाये उनकी नीरसता को दूर करने के लिये तथा काम की थकावट को दूर करने लिये मनोरंजन के उचित साधनों की व्यवस्था कर दी जावे उनकी पत्नी और बच्चों के लिये उचित प्रबन्ध कर दिये जाय तो उनका ध्यान शराब की ओर कभी भी न जायगा। इसी प्रकार एक बेकार मनुष्य भी बेकारी की नीरसता से बचने के लिये शराब पीता है। यदि उसे काम दे दिया जाये तो वह कभी भी शराब पीने की न सोचेगा। निर्धन श्रमिक अपने अपने घरों को छोड़ कर ग्रामों से शहरों को आते हैं बिना पत्नी व बच्चों व गैर तथा नये नये लोगों के साथ छोटे छोटे तथा गन्दे स्थानों पर रहते हैं। यदि उनको सामाजिक सुविधाएं, थियेटर पुस्तकालय खेल कूद आदि की सुविधायें प्रदान की जायें तो हमारी समस्या काफी दूर हो जायेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि केवल आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों को सुधारने से ही काम नहीं चलेगा। परन्तु यह भी तो सम्भव नहीं है कि केवल मदिरा निषेध नीति ही शराब पीने की आदत को समाप्त करदे। हमारे देश में जो कुछ असफलता प्राप्त हुई है वह इसी कारण है। जैसे जैसे आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों में सुधार होते जायेंगे व्यक्तियों में शराब पीने की आदत कम होती जायेगी।

पाश्चात्य देशों में अधिकतर जनमत मद्य निषेध के पक्ष में नहीं है वरन् मामूली शराब पीने के पक्ष में है। उन देशों में शराब सामाजिक जीवन का एक अंग बन चुकी है। शाम की पार्टी, रात का खाना, नाच शादी खेल कूद, सभी बिना शराब के नीरस से लगेंगे। इसलिये वह यह नहीं चाहते कि शराब बिलकुल बन्द कर दी जाये। वह यह चाहते हैं कि शराब पीने की लत को कम कर दिया जाये। वह नशे को नहीं वरन नशेबाजी को बुरा मानते हैं। वे मामूली शराब पीने को नहीं बल्कि अत्यधिक शराब पीने को बुरा मानते हैं। भाग्यवश हमारे देश के सामाजिक जीवन में शराब का इतना महत्व नहीं है। हमारे देश में क्या मामूली शराब पीना भी बन्द हो जाना चाहिये? इस प्रश्न के उत्तर में हम निम्न बात कह सकते हैं—प्रथम मामूली शराब पीने वाला किसी भी प्रकार से शराब के बुरे प्रभावों से मुक्त नहीं होता। यह दूसरी बात है कि उसके सम्बन्ध में शराब के दुष्परिणाम एक शराबी की भांति दृष्टिगोचर भले ही न हों। डा० नामनकर (Normonkarr) जो अमेरिका में शराब पीने वालों के अध्ययन की समिति के प्रधानाचार्य थे उनका कहना है कि "मुझे इस बात को कहने में कोई भी संकोच नहीं है कि मैंने अपने व्यवसाय सम्बन्धी अनुभव से पता लगाया है कि बहुत अधिक व्यक्ति मामूली शराब पीने के नाम से निरन्तर शराब पीते रहने पर शराब के जहर के कारण अपना जीवन को समय से पहले ही समाप्त कर लेते हैं उन लोगों की अपेक्षा जो एक बार में बहुत ज्यादा शराब पीते हैं।" अतः मामूली शराब पीने की अपेक्षा एक बार बहुत अधिक शराब पीना बुरा नहीं है।

दूसरे यह मामूली शराब पीने वाला ही होता है जो समय बीतने के साथ साथ शराब पीने का आदी होता जाता है। यदि शराब पीने की आदत को समाप्त करना है तो मामूली शराब पीने का भी अन्त करना होगा।

कुछ लोग मदिरा निषेध नीति का विरोध इसलिये भी करते हैं, कि जब आजकल सरकार को विकास सम्बन्धी कार्यो के लिये तथा अन्य राष्ट्रीय विकास सेवाओ के लिये इतने धन की आवश्यकता है तो मदिरा निषेध नीति समयानुकूल नही है। इससे सरकारो को बहुत से धन की हानि होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि, क्या मदिरा निषेध से हमारी आय इतनी कम होगई है कि उसकी पूर्ति किसी अन्य स्रोत से नही हो सकती और लाखो व्यक्तियो तथा उनके परिवारो का जीवन नष्ट करके इस आय को प्राप्त करना आवश्यक है? इसमें कोई सन्देह नही कि हमको पचवर्षीय योजनाओ को सफल बनाने के लिये एक एक पाई को सुरक्षित रखना पडेगा। परन्तु क्या मदिरा निषेध से जो आय की हानि होगी उसको हम अन्य स्रोतो से पूरा नही कर सकते? वास्तव में ऐसा नही है। हम आर्थिक उन्नति के नाम में हजारो लाखो व्यक्तियो के नैतिक जीवन की बलि नही चढा सकते। हजारो औरतो के सतीत्व को लुटता नही देख सकते और हजारो बच्चो को चिथडो से लिपटा हुआ भूख मरते नही देख सकते। यदि ऐसी परिस्थितियो को बनाये रख कर अपने देश का आर्थिक उत्थान करना चाहते है तो हमारे ऐसे आर्थिक विकास को धिक्कार है। इसके अतिरिक्त राज्य कदापि भी सामाजिक कुरीतियो के व्यापार में साझेदार नही बन सकता। यह हमारे देश की सभ्यता और परम्परा के विरुद्ध है। जैसा कि गॉधी जी ने कहा था "यह हमारे लिये गर्व की बात नही है कि हमारे बच्चो को उस धन से शिक्षा दी जाती है जो इस साधन (शराब) से प्राप्त होती है।" गोखले तो और भी दृढ थे। उनका कहना था कि नमक कर, जिसका कि मैं इतना विरोध करता हूँ तब भी उसका आबकारी कर की आय की अपेक्षा अधिक पक्ष लिया जा सकता है क्योकि आबकारी कर में निर्धनो की जेबो से इतना अधिक धन निकाल लिया जाता है और इस सौदे से इतनी अधिक मुसीबतें बढ जाती है।

मदिरा निषेध के आर्थिक पहलू पर हम एक और दृष्टि से भी निगाह डाल सकते है। यह ध्यान रहे कि शराब कर का भुगतान करने के लिये प्रत्येक शराब पीने वाले को सरकारी खजाने में एक रुपया देने पर लगभग तीन रुपये की शराब खरीदनी पडती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि शराबी जितना धन राजकीय खजाने में देता है उससे तिगुना खर्च करता है। दूसरे शब्दो में जब करदाता तीन रुपये खर्च करता है सरकार को केवल एक ही रुपया प्राप्त होता है और इस प्रकार जितना सरकार को लाभ प्राप्त होता है उससे तिगुनी हानि निर्धन व्यक्तियो को उठानी पडती है। अत यह कर न्यायसगत नही है और कर भार का वितरण भी न्यायपूर्ण नही है। श्री पी० के० राव जो मध्य प्रदेश मदिरा निषेध समिति के अध्यक्ष थे उनका कहना है, 'आबकारी कर का भार, कदाचित सबसे अधिक है, उदाहरणार्थ मध्यप्रदेश में जहाँ लगभग आधी जनसख्या आबकारी कर का भुगतान करती है, सन्

१९५० में एक गैलन शराब का लागत मूल्य २ रुपया था, परन्तु उसका बिक्री मूल्य १३ रुपये २ आने से ५२ रुपये ३ आने तक था।" इस प्रकार आबकारी आय अन्यायपूर्ण होती है और ठेकेदारों द्वारा इस आय को एकत्रित करने की विधि तो और भी अधिक खराब है। अतः मदिरा निषेध से सरकार को आय की जितनी हानि होगी उससे अधिक लाभ जनता को प्राप्त होगा। निःसन्देह ही जब कि राज्य पहले की अपेक्षा एक रुपया कम खर्च पायेगा व्यक्ति के पास खर्च करने के लिये ३ रुपये होंगे, और यह सौदा बुरा नहीं है। क्योंकि व्यक्ति इस अधिक क्रय शक्ति को अन्य वस्तुओं पर खर्च करेंगे और अन्त में राज्य की हानि पूरी हो जायगी। इसके अतिरिक्त मदिरा निषेध से बचत में तथा पूँजी निर्माण में भी सहायता मिलेगी। जो अधिकतर व्यक्ति शराब पर खर्च करते थे उसमें से वह कुछ पैसा अपने भविष्य के लिये बचा कर रखेंगे। इस प्रकार आर्थिक दृष्टिकोण से भी मदिरा निषेध अनुचित नहीं है। जिस प्रकार मदिरा निषेध के तुरन्त बाद ही राज्य सरकारों ने बिक्री कर लागू कर के अपनी आय को बहुत कुछ बढ़ा लिया है और मदिरा निषेध से उत्पन्न होने वाली हानि को बहुत कुछ पूरा कर लिया है उसी प्रकार राज्य सरकारें और भी ऐसे करों को लागू कर सकती है जिनका भार सभी व्यक्तियों पर समान हो। यह ध्यान रहे कि बहुत से राज्यों में जहां मदिरा निषेध की नीति अपनाई गई है आबकारी कर की आय की हानि को अन्य करों से पूरा करने का प्रयत्न किया है। बम्बई राज्य में जबकि सन् १९४६–४७ से सन् १९५१–५२ तक आबकारी कर की आय ९.७४ करोड़ रुपये से गिर कर ०.९६ करोड़ रुपये रह गई उसी काल में बिक्री कर की आय १.१७ करोड़ रुपये से बढ़ कर १३.१ करोड़ रुपये हो गई। इसी काल में जब कि मद्रास में आबकारी कर की आय १६.८ करोड़ रुपयों से घट कर ०.४१ करोड़ रुपये रह गई तब सामान्य बिक्री कर की आय ५.८३ करोड़ रुपयों से बढ़ कर १५.५९ करोड़ रुपये हो गई।

मदिरा निषेध के विरुद्ध कभी-कभी यह भी आरोप लगाया जाता है कि यह एक अनार्थिक कार्य है क्योंकि इसमें धन की बर्बादी की अपेक्षा और कुछ भी हाथ नहीं लगता और क्योंकि सरकार को अपनी नीति को कार्यसाधक बनाने के लिये बहुत अधिक कर्मचारियों को नियुक्त करना पड़ता है। इस प्रकार एक ओर तो आबकारी कर की आय कम होती चली जाती है और दूसरी ओर मदिरा निषेध पर खर्च बढ़ता चला जाता है और फिर भी जिन लोगों को शराब पीनी होती है, उन लोगों को तो मिल ही जाती है। इन सब तर्कों के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि मदिरा निषेध का उद्देश्य इन लोगों को शराब पीने से रोकना नहीं है जो शराब के आदी हो गये हैं। वरन् उन व्यक्तियों को रोकना है जिनमें खुली हुई दुकानें देख कर शराब पीने का लालच उत्पन्न होता है। इस प्रकार कुछ भी व्यय होता है वह बेकार नहीं जाता है। जब हम शत्रु के आक्रमण से बचने में मूल्य की ओर कोई भी ध्यान नहीं देते तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम हर सम्भव रीति से उस शत्रु से लड़ने के लिये तैयार रहें जो अन्दर ही अन्दर धीरे-धीरे राष्ट्र को खोखला कर रहा है। क्या यह

उचित होगा कि हम इस कार्य के मूल्य की ओर ध्यान दें ? हमको तो इस बुराई से लडने के लिये हर त्याग के लिए तैयार रहना चाहिये। गाँधी जी ने लिखा था कि "मैं आय की इस हानि को कोई भी महत्त्व नही देता।" जितनी सरकार को हानि नही होगी उतना देश को लाभ प्राप्त होगा। हजारों व्यक्तियों को खाने के लिये अच्छा भोजन मिलेगा, रहने के लिये अच्छे मकान होंगे, अच्छे कपडे पहनने को मिलेंगे, शिक्षा प्राप्त हो सकेगी और कार्यक्षमता म वृद्धि होने से राष्ट्रीय आय म वृद्धि हो सकेगी। इसके अतिरिक्त जबकि हमारे देश म लोग भूख मर रह ह तो क्या हमारे लिये यह उचित होगा कि हम ताड के वृक्षा के उस रस का जिसम गुड बनाया जा सकता है नशीली शराब बनाने म नष्ट कर दें। अत मदिरा निषेध स हम केवल उस धन की रक्षा ही नही करेंगे जो शराब पर खर्च किया जाता है बल्कि उन हजारों व्यक्ति को भोजन भी प्रदान करेंगे जिनके मुह म से केवल शराब बनाने के लिये भोजन निकाल लिया जाता है और फिर हम जुर्मो को भी रोकेंगे टूटे मकान, भूखे बच्चे और बेकार व्यक्तियों की संख्या म भी वृद्धि नही होने देंगे और नशे म हम व्यक्तियो की वुद्धि तथा निर्णय लेने की शक्ति को बचायेंगे। कितनी सही बात कही गई है कि मदिरा निषेध को एक महगा सौदा कहने का अभिप्राय यह है कि हम घी से भरे हुए ड्राम म एक छेद को बन्द करने के लिये १) रुपया खर्च नही करना चाहिये बल्कि घी को गिरते ही रहने देने चाहिये, क्योकि इतने छोटे छेद को बन्द करने पर एक रुपया खर्च करना बहुत अधिक होगा।

बहुधा मदिरा निषेध की सफलता म जिन व्यक्तियो को सदेह है वह इसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि जब अन्य देशो म मदिरा निषेध नीति सफल नही हो पाई तो भारत म क्या सफल होगी ? और वह सयुक्त राज्य अमरिका का उदाहरण देते हैं। आश्चर्य की बात है कि सयुक्त राज्य म कोई भी यह विश्वास नही करता कि मदिरा निषेध नीति वहाँ असफल रही है। अपनी पुस्तक 'Should Prohibition Return' म George B Cutten न निम्न तथ्य मदिरा निषेध नीति को पुन लागू करने के सम्बन्ध म दिये ह —

"सन् १६२५ म वाणिज्य विभाग के सेक्रेटरी Herbert Hoover न घोषित किया था कि मदिरा निषेध द्वारा नि सदेह ही उत्पादन शक्ति म १०% की वृद्धि हो गई थी।

'घर बनाने की सस्थाओं मे सदस्यो की सख्या पहले की अपेक्षा दुगुनी से अधिक हो गई थी। यह सन १६२० म ४६ लाख स बढ़कर १६३० म १२३ लाख हो गई।

"बचत की जमा सन् १६२० म प्रति व्यक्ति १४४ डालर से बढकर सन् १६२६ म २११ डालर हो गई।

"जीवन बीमा म विनियोगो की प्रति व्यक्ति राशि ३४२ डालर स बढ़कर ६८० डालर हो गई थी।

"राष्ट्रीय मदिरा निषेध काल में प्रति व्यक्ति दूध का उपभोग २१२ पौंड

प्रति व्यक्ति की दर मे बढ गया ।

शराब के कारण मृत्यु की दर म १६% की कमी हो गई ।

शराब के प्रभाव म होने वाले जुर्मों की सख्या कम हो गई । स्त्रियो की पवित्रता को भग करने की वारदातो की सख्या भी पहले से घट गई ।

अत राष्ट्रीय मदिरा निषध न गलना की सख्या म शराब पीने म ७६% की कमी कर दी थी और इस नीति का अन्त हो जाने से शराब पीने म ३००% की वृद्धि हो गई है ।

इस प्रकार यह नही कहा जा सकता कि सयुक्त राज्य म मदिरा निषध नीति असफल हुई थी । भारत म बहुत से व्यक्तियो का यह भी ज्ञान नहा है कि यद्यपि राष्ट्रीय मदिरा निषध नीति को समाप्त कर दिया गया है फिर भी व्यक्तिगत राज्यो का अब भी मदिरा निषध करने का पूण अधिकार है और कुछ राज्यो मे तो आज भी मदिरा निषध नीति लागू है । अत हम इस मत को स्वीकार नही कर सकते कि अमेरिका म मदिरा निषध असफल हुआ है । यदि मदिरा निषध असफल हो भी गया और यदि यह भविष्य म भी असफल रहे तो इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि यह नीति भारत म भी असफल रहेगी क्योकि (१) हमारा शराब का व्यापार इतना धनी और सुसगठित नही है जितना अमरिका का (२) हमारे यहा बहुत थोडे से व्यक्ति ही शराब पीते हं और यदि शराब पीने पर कडे नियत्रण लगा दिये जाय तो यह बुराई बिल्कुल समाप्त हो सकती है और (३) हमारे देश म जनमत शराब पीने के विरुद्ध है । वास्तव म यदि कोई देश ससार मे ऐसा है जहा मदिरा निषध नीति सफल हो सकती है तो वह भारत ही है और यदि हम सफलता प्राप्त हो जायगी तो हम मानव जाति के सम्मुख उस पथ का प्रदशन कर सकग जिसके लिये वह अनन्त समय से शराब के भत से लडने का प्रयत्न कर रही है ।

भारत और मदिरा निषध नीति—हमने पिछले पृष्ठो म उन सारी आपत्तियो को दूर करने का प्रयत्न किया है जो मदिरा निषध नीति के विरुद्ध लगाई जाती हे और यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मदिरा निषध मानव जाति के लिए एक सर्वोत्तम नीति है । जब देश स्वतत्र भी नही हुआ था उस समय से ही भारत की राष्ट्रीय काग्रस की यह सामान्य नीति रहा है मदिरा निषध नीति एक मरण अग रहा है । सन १९२१ म काग्रस ने एक प्रस्ताव म यह घोषित किया था कि उसकी ओर से जो कोई भी सविधान बनाया जाय उसम स्वदेशी सरकार को यह सामर्थ्य प्रदान की जानी चाहिए कि मादक पेयो तथा अन्य वस्तुओ को दवाइयो के अतिरिक्त अन्य प्रकार का उपयोग पूणतया बन्द हो जायगा । काग्रस ने अपने आदोलन म मदिरा पान का भी विरोध निरन्तर जारी रखा । परिणामस्वरूप बहुत से व्यक्तियो ने शराब पीना छोड दी और सरकार की आय बहुत कम हो गई । सन् १९३७ म बहुत से प्रान्तो म जब काग्रस ने प्रशासन की बागडोर सम्भाली तो मद्रास बम्बई यू० पी० बिहार मध्य प्रान्त और उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त म मदिरा निषध की नीति लागू की । साथ ही मदिरा पान के विरुद्ध प्रचार भी आरम्भ

किया और गाने, ड्रामे इत्यादि के लिये मनोरजन केन्द्र स्थापित किये । औद्योगिक क्षेत्रों मे सोडे के पानी और दूध की दुकाने खोली और इन वस्तुओं को लागत मूल्य पर विकवाया । द्वितीय महायुद्ध मे काग्रेस सरकारा ने स्तीफा दे दिया और मदिरा निषेध कार्यक्रम का अन्त ही हो गया । स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही काँग्रेस ने फिर राज्य सम्भाला और मदिरा निषेध का कार्यक्रम पुन आरम्भ किया । हमारे सविधान के धारा न० ४७ के अनुसार सरकारी नीति के निर्देशक सिद्धान्तों मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सरकार भारत मे मदिरा निषेध को सफल बनाने के लिये प्रयत्न करेगी ।

वर्तमान स्थिति—बम्बई, मद्रास, आँध्र प्रदेश म पूर्ण मदिरा निषेध की नीति अपनाई गई है और उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पजाब, आसाम, उडीसा आदि राज्यों मे पूर्ण मदिरा निषेध करने का लक्ष्य है । परन्तु अभी इन राज्यों मे आशिक रूप से ही मदिरा निषेध किया गया है । उत्तर प्रदेश मे ११ ज़िले तथा ३ तीर्थ स्थानो पर पूर्ण रूप से मदिरा का क्रय विक्रय बन्द कर दिया गया है । उन क्षेत्रों मे भी जहाँ पूर्ण मदिरा निषेध नही है वहाँ भी शराब के क्रय विक्रय पर कुछ नियन्त्रण लगा दिये गये है, जैसे बिक्री के दिन तथा घण्टो मे कमी करना, आम स्थानो पर शराब का न पिया जाना इत्यादि । इसी प्रकार उडीसा और देहली मे भी आँशिक मदिरा निषेध लागू कर कर दिया गया है । बगाल और बिहार म केवल मादक पदार्थों के उपयोगो को नियमित करने की नीति अपनाई गई है अर्थात् शराब पीने पर कोई रुकावट नही है परन्तु शराब की दुकानो को सख्या कम कर दी गई है । शराब बिकने के दिन और घण्टे भी कम कर दिए गए है । राजस्थान मे भी मदिरा निषेध नीति के सम्बन्ध मे कानूनी प्रयत्न किए जा रहे है । जम्मू और काश्मीर राज्य मे इस प्रकार का कोई भी प्रयत्न नही किया गया है और न किये जाने की आशा ही है, क्योकि वहाँ पर मदिरा निषेध से विदेशी यात्रियो के आवागमन पर बुरा प्रभाव पडेगा । सन् १९५४ की मदिरा निषेध जाँच समिति के अनुसार कुल देश का २८ प्रतिशत भाग और ३६ प्रतिशत जनसख्या सम्पूर्ण मदिरा निषेध के आधीन थी । सन् १९५७ के आरम्भ मे देश का ३२ प्रतिशत भाग और लगभग ४० प्रतिशत जनसख्या पूर्ण मदिरा निषेध से प्रभावित हो चुकी थी । परन्तु यह स्थिति प्रशसनीय नही है । भारत जैसे विशाल देश के लिये मदिरा पान का निषेध करने के लिये बहुत ही प्रभावयुक्त प्रयत्नों की आवश्यकता है यद्यपि कुछ लोग ऐसे है जो मादक वस्तुओं के उपभोग को कोई विशेष समस्या नही मानते ।[2] किन्तु जैसा कि मदिरा निषेध जाँच समीति ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि "एक स्वस्थ्य और चरित्रवान जनता कल्याणकारी राज्य के लिये एक निश्चित आधार है," इसलिए समिति ने बडे ही ज़ोरदार शब्दों मे इस बात के महत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

मदिरा निषेध जाँच समिति की नियुक्ति श्री श्रीमन्नारायण की अध्यक्षता मे

2. Report of the *Prohibition Enquiry Committee, Minute of Dissent by Sri P. K. Roy.*

नियोजन आयोग ने दिसम्बर सन् १९५४ में की थी जिसके कार्य निम्नांकित थे —

(१) राज्य सरकारों के उन प्रयत्नों के अनुभवों की जाँच पड़ताल करना जो उन्होंने मदिरा निषेध नीति को सफल बनाने के लिये किये थे और उनकी सफलताओं और व्यावहारिक कठिनाइयों का ज्ञान प्राप्त करना।

(२) राष्ट्रीय स्तर पर मदिरा निषेध के कार्यक्रम के हेतु सुझाव प्रस्तुत करना।

(३) उन विधियों तथा संगठन को बताना जिनके द्वारा इन कार्यक्रमों को पूरा किया जाये।

(४) अन्य विषयों पर सिफारिशें देना, जिन पर सुझाव देना समिति आवश्यक समझे।

समिति का सुझाव था कि देश भर में १ अप्रैल सन् १९५८ तक सम्पूर्ण मदिरा निषेध हो जाना चाहिए और इस काल में सरकार को वह सब विधि तैयार कर लेनी चाहिये जिससे कि मदिरा निषेध को कार्यशील बनाया जा सके। राज्य सरकारों को भी इस सम्बन्ध में पूरी तैयारी कर लेनी चाहिये और केन्द्रीय सरकार एक ऐसी समिति नियुक्त करे जो राज्यों द्वारा की गई तैयारियों की जाँच पड़ताल करे। समिति के अनुसार यह प्रयत्न निम्न प्रकार थे —

प्रत्यक्ष मदिरा पान का पूर्ण निषेध अर्थात् होटलों, चाय घरों, क्लब घरों, पार्टियों और उत्सव समारोह पर मदिरा पान पर नियन्त्रण लगा देना चाहिये। विदेशियों के लिये एक अलग कमरे में शराब पीने का प्रबन्ध कर दिया जाये। मदिरा सम्बन्धी सारे विज्ञापन समाप्त कर दिये जायें। एक नियम बना दिया जाय कि सरकारी कर्मचारी शराब न पियें, शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में शराब की दुकानें, शराब बिकने के दिनों, दुकानों पर शराब की पूर्ति शराब की तेजी आदि को कम कर दिया जाय और जो दुकानें औद्योगिक क्षेत्रों या मुख्य रहने के स्थानों के निकट हैं उनको वहाँ से हटा कर दूरी पर स्थापित कर दिया जाय। सैन्य (Defence Services) सेवाओं के लिये कोई विशेष रियायत की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उन्होंने पहले ही मदिरा निषेध नीति को स्वीकार कर लिया है। जहाँ तक पिछड़े हुए क्षेत्रों का सम्बन्ध है समीति का सुझाव था कि मनीपुर, त्रिपुरा और नेफा को छोड़कर शेष सभी स्थानों पर मदिरा निषेध लागू कर दिया जाय। समिति का सुझाव था कि १ अप्रैल सन् १९५८ के बाद स्वास्थ्य रक्षा के बहाने भी शराब पीने के लिये परमिट न दिये जायें। समिति ने मदिरा निषेध नीति को लागू करने की विधि पर बहुत जोर दिया है और उनका सुझाव है कि यह नीति दो ओर से चालू की जाये— प्रथम शिक्षात्मक और प्रतिबन्धक और दूसरे वैधानिक तथा प्रशासन सम्बन्धी। इन दोनों ही क्षेत्रों में उचित समन्वय स्थापित रहना चाहिये। प्रत्येक राज्य में मदिरा निषेध का एक प्रबन्धक नियुक्त किया जाये और मदिरा निषेध बोर्ड नियुक्त किया जाये। इस बोर्ड में मदिरा निषेध संगठन तथा जनमत, दोनों ही के प्रतिनिधि होने चाहिये। ग्रामों और मुहल्लों में मदिरा निषेध नीति समितियाँ भी स्थापित की जायें।

शिक्षात्मक कार्यक्रम के लिये समिति का सुभाव था कि नशीली चीजों के उपयोग के विरुद्ध एक सुसगठित शिक्षात्मक आन्दोलन चालू किया जाय जिसके लिये स्कूलो समाचार-पत्रों और अन्य सामाजिक सस्थाओं की सहायता प्राप्त की जाय। इस प्रकार के प्रयत्नो से नकली शराब बनाना काफी बन्द हो जायगा। कडे प्रबन्ध तथा व्यवस्था के लिये समिति का सुभाव था कि मदिरा निषेध नीति को लागू करने वाले सम्पूर्ण सगठन को कडा किया जाय और शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों द्वारा शक्तिशाली बनाया जाय। इसके अतिरिक्त मदिरा निषेध सम्बन्धी सभी जुर्मों म मजामत स्वीकार न की जाय और कानून का कडा पालन किया जाय।

मदिरा निषेध नीति के आर्थिक पहलू पर अपना मत प्रकट करते हुए समिति ने कहा कि वतमान आवकारी कर प्रतिगामी और गैर सामाजिक है और इसलिए हमारी कर प्रणाली के इस धब्बे का तुरन्त ही दूर होना चाहिये। समिति ने इस बात का स्वीकार किया कि कुछ राज्य विशेष रूप से आवकारी कर की आय पर निर्भर थे और इसलिये वे तुरन्त ही मदिरा निषेध न कर सके। समिति को आशा थी कि सरकार इन राज्यों की आर्थिक स्थिति की ओर पूरा ध्यान देगी।

विभिन्न राज्यों म मदिरा निषेध नीति म जो सफलताए तथा अनुभव प्राप्त हुए थे उनकी ओर भी समिति ने ध्यान दिया और गहन अध्ययन के पश्चात् समिति को पूर्ण विश्वास था कि भारत म मदिरा निषेध कार्यक्रम को अन्य देशा की भाति कठिनाइयाँ अनभव नही होगी, क्योंकि यहाँ पर मदिरा पान की समस्या का रूप कोई भयकर नही है। यहाँ के नागरिक नियमो का पालन करना जानत हैं। इस नीति के प्रति स्त्री जाति की पूर्ण सहानुभूति है और मदिरा हमारे सामाजिक तथा धार्मिक जीवन म अभी तक कोई भी स्थान प्राप्त नही कर पाई है। इसीलिए यह आवश्यक था कि द्वितीय पचवर्षीय योजना में मदिरा निषध को एक मुख्य स्थान प्रदान किया जाय।

मदिरा निषेध कार्यक्रम के सम्बन्ध मे समिति की सिफारिशें निम्न प्रकार थी —

(१) विज्ञापनो आदि को बन्द कर दिया जाय (२) खुले हुए जन स्थानो पर मदिरा विक्रय एव पीने पर नियन्त्रण लगा दिये जायें। (३) कुछ विशेष समितियाँ नियुक्त कर दी जायें जो ऐसा कायक्रम निश्चित करें जिनके द्वारा (अ) शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रो म शराब की दुकानो की तीव्र गति से कम किया जा सके। (ब) शराब की दुकानो को सप्ताह म अधिक दिन बन्द रखा जा सके। (स) दुकानों पर जो शराब बिके उसकी तेजी को कम किया जा सके (द) दुकानों को होने वाली पूर्ति को कम किया जा सके (य) औद्योगिक तथा विकास क्षेत्रो के निकट जो दुकानें स्थापित हैं उनको बन्द किया जा सके और (र) शहरो तथा ग्रामो म मुख्य बाजारों तथा घने बसे हुए मुहल्लों तथा स्थानो पर से दुकाने हटाई जा सकें। (४) ऐसे प्रयत्न अपनाना जिससे सस्ते तथा स्वस्थ पेयो की उत्पत्ति को बढ़ावा मिल सके। (५) निजी सस्थाओं को मनोरजन केन्द्रों की स्थापना म सहायता प्रदान करना और

(६) राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम वाले क्षेत्रों तथा सामाजिक कल्याण वाले क्षेत्रों में रचनात्मक (Constructive) कार्यक्रम में मदिरा निषेध को शामिल करना।

इन सुझावों के अतिरिक्त समिति ने और भी सुझाव दिये थे, परन्तु नियोजन आयोग ने, राज्यों तथा केन्द्रीय मन्त्रालयों से विचार विमर्श करने के बाद राष्ट्रीय विकास परिषद की अनुमति से राज्य सरकारों को एक प्रारम्भिक प्रयत्न के रूप में उपर्युक्त सुझावों को कार्यान्वित करने की ही सिफारिश की है। राज्य सरकारों से यह प्रार्थना की गई है कि वह इन सुझावों के आधार पर मदिरा निषेध के लिए अपना कार्यक्रम बनायें ताकि मदिरा निषेध कार्य को उचित अवधि के अन्दर पूरा किया जा सके। अधिकांश राज्य सरकारों ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि उनके लिए यह सम्भव न हो सकेगा कि वह मदिरा निषेध जांच समिति द्वारा निर्धारित तिथि तक मदिरा निषेध के कार्य को पूरा कर सकें। कुछ राज्य सरकारों जैसे मैसूर, राजस्थान इत्यादि ने केन्द्रीय सरकार से इस सम्बन्ध में वित्तीय सहायता के लिए भी प्रार्थना की है। बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा जम्मू और काश्मीर के अतिरिक्त सभी राज्यों ने आंशिक मदिरा निषेध की ओर प्रयत्न करने आरम्भ कर दिये हैं। हाल ही में भारत सरकार ने अपना निर्णय घोषित किया है कि वह देश में मदिरा निषेध की प्रगति की जाँच करने के लिए एक संसदीय समिति (Parliamentary Committee) नियुक्त करेगी।

ऐसी अवश्य होती हैं जिनके लाभों को प्रत्यक्ष रूप से नापा जा सकता है और उसी के अनुसार व्यक्तियों से उनका मूल्य भी लिया जाता है, जैसे कहीं-कहीं पर पानी की पूर्ति करने का मूल्य नगरपालिकाएँ मीटर लगाकर उपयोग की गई पानी की मात्रा के अनुसार व्यक्तियों से वसूल करती हैं। यदि पानी के लिये शुल्क की दर का निर्धारण भी सम्पत्ति के मूल्यानुसार हो तो यह शुल्क प्रगतिशील हो जायेगा, क्योंकि छोटी सम्पत्ति वालों को भुगतान कम करना होगा, जब कि वह पानी का उपभोग अधिक मात्रा में करेंगे।

साधारणतया इन दोनों सिद्धान्तों को एक साथ एक ही कर के सम्बन्ध में लागू करना सम्भव नहीं है क्योंकि दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के विपरीत हैं। इसलिये हम अपने पिछले निष्कर्ष पर ही टिकते हैं, जो हमने इस अध्याय के आरम्भ में निकाला था। परन्तु यहाँ एक और बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है। स्थानीय अधिकारियों को जनोपयोगी सेवाओं की दर किस सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित करनी चाहिये ? ऐसी सेवाओं की लागतें दो प्रकार की होती हैं— सीमान्त लागतें और स्थायी लागतें। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो प्रत्येक व्यक्ति को सेवा का मूल्य सेवा की सीमान्त लागत के अनुसार देना चाहिये, क्योंकि स्थायी लागतों को निश्चित करना सरल नहीं होता। इस कठिनाई से बचने के लिये बहुधा यह कहा गया है कि स्थायी लागतों को सामान्य आय में से पूरा किया जाये। किन्तु ऐसा करना पूर्णतया अन्यायपूर्ण होगा, क्योंकि सामान्य आय में से स्थायी लागतों को पूरा करने का अभिप्राय यह होगा कि उसका भार प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ेगा और अप्रत्यक्ष रूप से उन व्यक्तियों को भी सेवा का मूल्य देना पड़ेगा जो उस सेवा का उपयोग नहीं कर रहे हैं। इसलिये प्रो० मिश्रा[7] का प्रस्ताव है कि सेवाओं का उपयोग करने वालों को इन स्थायी लागतों का भुगतान सेवा के उपयोग के अनुपात में करना चाहिये, अर्थात् प्रत्येक उपभोक्ता को सीमान्त लागत का भुगतान करना चाहिये और जो सेवा की अधिक मात्रा का उपभोग करें उनको स्थायी लागतों का अधिक भाग देना चाहिये अपेक्षाकृत उन व्यक्तियों के जो कम मात्रा का उपभोग करें।

कष्टकारक सेवायें केवल स्थान विशेष को ही नहीं वरन् पूरे देश को ही लाभ पहुँचाती हैं यद्यपि उनका लाभ उन व्यक्तियों को पहुँचता है जो उसका मूल्य कुछ भी नहीं देते, जैसे निर्धन व्यक्तियों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा, और इसका व्यय उन व्यक्तियों को पूरा करना होता है जो धनी होते हैं या जिनकी सम्पत्ति होती है, जिनको कोई भी प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता। स्पष्टतया यह न्यायोचित नहीं है। स्थानीय करारोपण को न्यायसंगत बनाने के लिए ऐसी सेवाओं का व्यय राज्य सरकारों तथा स्थानीय अधिकारियों को मिल कर पूरा करना चाहिये। इसका एक अच्छा परिणाम यह होगा कि स्थानीय भारों को राज्य कोषों द्वारा पूरा करके व्यक्तियों तथा विभिन्न स्थानों में उचित रूप से बाँटा जा सकता है।[8]

7. *Ibid*, Page 21.
8. *Ibid*, Page 22.

विकास को राज्यों की नीति का एक निर्देशक सिद्धान्त (Directive Principle) बनाया गया है और आज ग्राम पचायतें भारतीय शासन व्यवस्था की प्रमुख इकाइया हैं।

हमारे देश मे दो प्रकार की स्थानीय सस्थाएँ हैं— शहरी तथा ग्रामीण। शहरो मे कार्पोरेशन, नगरपालिकाएँ, नगर क्षेत्र समितिया, तथा अनुसूचित क्षेत्र समितिया (Town Area Committees and Notified Area Committees) हैं और ग्रामीण क्षेत्रो में जिलाबोर्ड, स्थानीय बोर्ड और पचायतें हैं।

स्थानीय सस्थाओ के कार्य—स्थानीय सस्थाओ के कार्य भिन्न भिन्न देशो मे भिन्न भिन्न प्रकार से निर्धारित किये गये है। यद्यपि इनके कार्यो की प्रकृति सभी देशो में एक जैसी है किन्तु इनको निर्धारित करने के लिये अलग २ देशों मे अलग २ सैद्धान्तिक आधार स्वीकार किये गये हैं। जर्मनी में इनके कार्यो को नियमानुसार निर्धारित नही किया जाता वरन् यह सस्थाएँ उन सभी कार्यो को कर सकती है, जो कानून द्वारा किसी अन्य सरकार को नही दिये गये है। अर्थात् यह उन कार्यो को नही कर सकती जो किसी अन्य सरकार जैसे सघ सरकार, राज्य सरकार या अन्य स्थानीय सरकार द्वारा किये जाते है। इग्लैण्ड मे यह सस्थाऐ केवल उन्ही कार्यो को कर सकती हैं जो इन्हे कानून द्वारा सौप दिये हैं और इन कार्यो के अतिरिक्त यह दूसरे कार्य नही कर सकती। रूस मे स्थानीय सरकारो के कार्यो को न तो कानून द्वारा निश्चित किया जाता है और न उनके कार्य क्षेत्र पर साधारणतया कोइ प्रतिबन्ध ही होता है अर्थात यह सस्थाऐ सभी प्रकार के कार्य कर सकती हैं। हाँ इतना अवश्य है कि यदि ऊपर के अधिकारी इनके कार्यो को ठीक नही समझते तो उनको उस कार्य के करने से रोक सकते हैं। हमारे देश में स्थानीय सस्थाएँ इग्लैंड के नमूने पर ही स्थापित की गई हैं और इसलिये इन सस्थाओ के कार्य कानून द्वारा स्पष्ट कर दिये गये है। हम स्थानीय सस्थाओ मे नगरपालिकाओ, नगर कॉरपोरेशन, (Municipal corporation), जिला बोर्डो तथा ग्राम पचायतो के कार्यो का सक्षेप में वर्णन करेंगे।

नगर पालिकायें—नगरपालिकायें नगरो की व्यवस्था करती है और इनके कार्य प्रत्येक स्थान पर लगभग एक से ही हैं। इनके कार्यो को दो भागो मे विभाजित किया जाता है—अनिवार्य तथा ऐच्छिक, परन्तु यह वर्गीकरण न तो लोकप्रिय ही है और न सर्व व्यापी ही है, केवल अध्ययन की सुगमता के लिए यह वर्गीकरण कर दिया गया है। अनिवार्य कार्य वे है जिनको कानूनन नगरपालिकाओ को करना ही पडता है और जहाँ तक ऐच्छिक कार्यो का सम्बन्ध है वे उनकी स्वेच्छा पर निर्भर करते है। यह सस्थायें साधारणतया ऐसे कार्य करती हैं जिनसे नागरिकों का जीवन उच्चतम बनता है, उनकी कार्य क्षमता मे वृद्धि होती है और नागरिको को नगर सम्बन्धी आधुनिक सेवायें प्राप्त होती हैं, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई तथा सार्वजनिक कार्य इत्यादि। यह समितियाँ नागरिकों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य रूप से करती हैं और कही कहीं पर माध्यमिक शिक्षा का भी

प्रबन्ध करती है और स्कूलों तथा कालिजों को स्थापित करती है। कहीं कहीं पर तो यह राज्य सरकारों की ओर से निःशुल्क तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का भी प्रबन्ध करती हैं। इसके अतिरिक्त यह नागरिकों के स्वास्थ्य की भी देखभाल करती हैं। नगर में गन्दे पानी की नालियों को बनवाने और उनकी सफाई करवाने, नागरिकों के लिए स्वच्छ पानी की व्यवस्था करने, सड़कों की सफाई, बीमारियों की रोक थाम के लिये गन्दे स्थानों को साफ करवाने तथा टीके आदि की व्यवस्था करने, गन्दी वस्तुओं के विक्रय को रोकने, नागरिकों की चिकित्सा के लिए दवाखानों को स्थापित करने और उनको चालू रखने तथा नागरिकों को छूत की बीमारियों से बचाने आदि का प्रबन्ध करती हैं। सार्वजनिक कार्यों में—सड़कें, पुल बाजार, नगर सुधार योजनाओं में नगर में रोशनी करने, उनको साफ रखने तथा पानी छिड़कना, बागों तथा पार्कों को बनवाने, पशु-वध घरों को बनवाने, पुस्तकालयों, चित्रघरों तथा अजायबघरों को स्थापित करने, सड़कों के किनारे पेड़ लगाने आदि की व्यवस्था करती हैं। इसके अतिरिक्त यह अप्रिय व्यवसायों, मेलों, तमाशों, नुमायशों आदि को नियन्त्रित करती हैं, पशु-चिकित्सा और आग बुझाने आदि का प्रबन्ध करती है।

नगर कॉरपोरेशन—नगरपालिकाओं की भाँति नगर कॉरपोरेशन भी लगभग ऐसे ही कार्य करते हैं, अन्तर केवल इतना है कि यह अधिक शक्तिशाली होते हैं और इनका कार्य क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। इन पर राज्य सरकार का उतना नियन्त्रण नहीं होता जितना नगरपालिकाओं पर होता है। इनको कर लगाने तथा वसूल करने के अधिकार समितियों की अपेक्षा अधिक प्राप्त होते हैं। भारत में आजकल १२ नगर कॉरपोरेशन स्थापित हैं।

ज़िला बोर्ड—ज़िला बोर्डों को भी नगरपालिकाओं की भाँति बहुत से कार्य करने होते हैं जिनकी प्रकृति लगभग वैसे ही होती है जैसी नगरपालिकाओं के कार्यों की होती है। अन्तर केवल इतना होता है कि यह अपने कार्य ग्रामीण क्षेत्रों में करते हैं। अतः यह संस्थाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों की सुरक्षा, स्वास्थ्य, सुविधा तथा उन्नति के लिए व्यवस्था करती हैं। यह नई नई सड़कों को बनवाने, पुरानी सड़कों की मरम्मत तथा देख भाल करने, सड़क के किनारे पेड़ लगवाने तथा उनकी देख भाल करने, व्यक्तियों के लिए पानी का प्रबन्ध करने तथा उसको सुरक्षित रखने, सिंचाई के लिए नहरों, तालाबों और कुएँ आदि का प्रबन्ध करने, कृषि के लिए पानी का प्रबन्ध करना, अस्पतालों, चिकित्सालयों, पशु-अस्पतालों, बाजार, पार्क, प्रारम्भिक शिक्षा सम्बन्धी स्कूलों और पुस्तकालयों, सड़कों की सफाई तथा बीमारियों की रोक-थाम करने, तालाबों, घाटों की व्यवस्था करना, अकाल तथा बाढ़ के समय में निवारण कार्यों की व्यवस्था करना और कृषि की उन्नति तथा विकास के लिये कृषि-नुमायशों तथा आदर्श फार्मों की व्यवस्था करती हैं। विगत वर्षों में राज्य सरकारों के सामाजिक कल्याण तथा विकास कार्यों में वृद्धि होने से तथा ग्राम पंचायतों के विकास से इन संस्थाओं का महत्व बहुत कम हो गया है और

कहीं कहीं पर तो इनको बिल्कुल बेकार समझा जाने लगा है। उत्तर-प्रदेश में तो इनको पूर्णतया समाप्त कर दिया गया है। बगाल और आसाम राज्यो में चिकित्सा और स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाएँ और मद्रास में सडकों के निर्माण का कार्य राज्य सरकारो ने अपने हाथो म ले लिया है। इसी प्रकार अन्य राज्यों मे भी जो कार्य जिला बोर्डों द्वारा किये जाते थे वे अब या तो राज्य सरकारों द्वारा या ग्राम पचायतो द्वारा या विशेष संस्थाओं द्वारा किए जाने लगे हैं।

ग्राम पचायत—साधारणतया एक गाव मे एक पचायत स्थापित होती है, यद्यपि कभी-कभी एक ही पचायत कई ग्रामो की भी देखभाल कर सकती है। ग्राम पचायतों की स्थापना भारत मे लगभग सभी राज्यो म हो गई है। प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे इनकी सख्या ८३०८७ मे बढ कर ११७५९३ हो गई थी और आशा की जाती है कि इनकी सख्या दूसरी योजना काल म २४४५६१ हो जायेगी। ग्राम पचायतो को अनेको कार्य सौंपे जाते हे और यह आशा की जाती है कि वे न्याय, पुलिस, नागरिकता सम्बन्धी और आर्थिक सामाजिक सभी कार्य कर सकती हैं। कर जाँच आयोग के विचारानुसार ग्राम पचायते छोटे-छोटे झगडो को तै कर सकती हैं। सडका, स्कूलो तथा ग्रामीण चिकित्सालयो का प्रबन्ध कर सकती हैं, पीने तथा सिचाई के लिए पानी की पूर्ति की व्यवस्था कर सकती हैं और यहाँ तक कि खेती, फसल की बिक्री आदि जैसी उत्पादक और आर्थिक क्रियायें भी सम्पन्न कर सकती है। परन्तु व्यवहारिक जीवन म पचायते साधारणतया यह सारे काम नही करती। वे केवल पचायत घरो तथा फिर कुओं को बनाने और उनकी देखभाल करने, गाँव की कुछ सडकें तथा नालियो का प्रबन्ध करने, गाँव म रोशनी करने तथा ऐच्छिक मजदूरी का सगठन करना, कभी-कभी स्कूलो तथा चिकित्सालयो की इमारतो को बनवाना और जन्म-मरण सम्बन्धी आँकडो को एकत्रित करने के कार्य करती है, परन्तु सभी स्थानो पर ग्राम पचायतें यह सारे काम नही करती। अधिकतर वे इनमे से दो या तीन कार्य ही करती है। इसलिए आयोग का विचार था कि उनके लिए इतने अधिक कार्य को सौंपने के स्थान पर केवल कुछ महत्वपूर्ण कार्य ही दिये जायें और उनके कार्य क्षेत्र म से वे कार्य निकाल दिए जावें जो सहकारी समितियों द्वारा किए जा सकते हो।

नियोजन आयोग के अनुसार ग्राम पचायतों को निम्न कार्य करने चाहियें। ये कार्य द्वितीय पचवर्षीय योजना के अनुसार है और इनका सम्बन्ध देश के आर्थिक विकास मे है :—

ग्रामों म उत्पत्ति कार्यक्रमो को निर्मित करना, इन कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने के लिए सहकारी समितियों के सहयोग से वित्त तथा अन्य आवश्यक्ताओं की सूची तैयार करना, एक ऐसे माध्यम का कार्य करना जिससे कि अधिक से अधिक मात्रा म सरकारी सहायता ग्रामों को प्राप्त हो सके, सामान्य भूमियों जैसे जगल, तालाब, बिना खेती की भूमि आदि को उन्नत करना तथा जमीन के कटाव को रोकना, सामान्य ग्राम इमारतों, कुओं, तालाबों, सडको इत्यादि को बनवाना,

मरम्मत करवाना और सुरक्षित रखना इन सभी क्रियाओं के लिए परस्पर सहायता और सम्मिलित प्रयत्नों का संगठन करना, सहकारी समितियों को प्रोत्साहन देना, सामुदायिक कार्यों के लिए ऐच्छिक श्रम का संगठन करना, अल्प बचतों को बढ़ावा देना और पशु धन को सुधारना। इन कार्यों के अतिरिक्त पंचायतें कुछ भूमि सुधार तथा भूमि व्यवस्था सम्बन्धी कार्य भी सम्पन्न करेंगी जैसे सामान्य भूमियों के उपयोग को नियमित करना, ग्राम समुदाय के लाभ के लिए जो भूमि अलग रख दी गई हों उन पर खेती करना, अपने क्षेत्र में कृषि तथा व्यवस्था के उच्च स्तरों को अपनाना, उस भूमि को निर्धारित करना जिसका वितरण व्यक्तिगत खेती करने के अधिकारों के प्राप्ति के बाद भूमि के मालिकों तथा काश्तकारों के बीच होगा, कृषि भूमियों की अधिकतम सीमा के निर्धारित होने के बाद जो अधिक भूमि बचेगी उसको निर्धारित करना और उस भूमि का पुनर्वितरण करना। इनके अतिरिक्त ग्राम-पंचायतों को कुछ न्याय सम्बन्धी कार्य भी करने होंगे जैसे कृषिक मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी को लागू करवाना, भूमि सम्बन्धी साधारण झगड़ों को तै करना तथा अन्य माल तथा फौजदारी के मुकदमों को तै करना।

स्थानीय संस्थाओं की आय के स्रोत—स्थानीय संस्थाओं की आय के मुख्य स्रोत निम्न प्रकार हैं —

(१) कर जिसके अन्तर्गत उन करों का भाग भी सम्मिलित है जो राज्य सरकारों द्वारा लगाए जाते हैं और वसूल भी किए जाते हैं।

(२) कर के अतिरिक्त अन्य स्रोत।

(३) राज्य सरकारों से प्राप्त अनुदान।

(१) प्रत्येक राज्य में स्थानीय संस्थाओं के लिए कुछ विशेष करों को छोड़ दिया जाता है। यह कर निम्न प्रकार होते हैं —

सम्पत्ति पर कर जैसे मकानों और भूमि पर कर तथा भूमि के हस्तान्तरण पर कर, कृषि भूमि उप कर, बिना कमाई हुई वृद्धि पर और पूँजी के हस्तान्तरण पर लगे हुए कर का अति शोधन (Surcharge) सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त कुछ व्यवसायिक कर जैसे चुंगी घाटों तथा नाव-पुलों की आय व्यक्ति कर आदि भी लगाए जाते हैं। स्थानीय संस्थायें एक तीसरी प्रकार का कर भी लगाती हैं जो व्यक्तिगत कर कहलाते हैं जिनमें व्यवसायों व्यापारों आदि पर कर, परिस्थितियों और सम्पत्तियों पर कर, यात्रियों पर कर, कम्पनियों पर कर, मोटर यात्रियों पर कर, आदि सम्मिलित हैं। ये संस्थाएं कुछ विशेष सेवाओं का शुल्क भी प्राप्त करती हैं जैसे व्यक्तिगत घरों में मेहतर का काम, मोटर तथा गाड़ियों, गायों, बैलों कुत्तों आदि की लाईसैन्स शुल्क तथा भयानक व्यवसायों को नियन्त्रित करने का लाईसैन्स शुल्क।

(२) इनके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं को कर के अतिरिक्त कुछ अन्य स्रोतों से भी आय प्राप्त होती है जैसे —

भूमि तथा भूमि की उपज की आय, भूमि का लगान तथा मकानों, विश्राम

ग्रहों तथा डाक बंगलो आदि का किराया, शिक्षा से आय, चिकित्सालयों से प्राप्त आय, बाजारों कसाईघरों आदि की आय, विनियोगों से आय इत्यादि।

(३) स्थानीय संस्थाओं की आय का अन्तिम स्रोत राज्य सरकारों द्वारा दिये गये अनुदान हैं। अब हम भिन्न-भिन्न स्थानीय संस्थाओं के व्यक्तिगत आय के स्रोतों की विवेचना करेंगे —

नगरपालिकाएँ सम्पत्ति कर, वस्तु कर, व्यक्तिगत कर, तथा गाड़ियों, जानवरों, थ्येटर और नुमायश आदि पर कर लगा कर आय प्राप्त करती हैं। बम्बई मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में चुंगी तथा सीमा करों का, नगरपालिकाओं की आय के स्रोतों में एक प्रमुख स्थान है। पश्चिमी बंगाल, बिहार, केरल, मद्रास तथा आसाम में सम्पत्ति करों का विशेष महत्त्व है। नगरपालिकाओं की वित्तीय व्यवस्था का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इनकी आय के स्रोतों में सामान्य रूप से प्रत्यक्ष करों को बहुत कम महत्त्व प्रदान किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रत्यक्ष कर लगाने की ओर से पूर्णतया उदासीन हैं।

नगर कॉरपोरेशनों द्वारा जो कर लगाये जाते हैं वे लगभग वही हैं जो नगरपालिकाओं द्वारा लगाये जाते हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि कॉरपोरेशन अपने कार्यक्षेत्र में पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं और इसलिये वे बिना राज्य सरकारों की आज्ञा के अपनी इच्छानुसार कर लगा सकते हैं। केवल इनकी अधिकतम और न्यूनतम सीमाएँ विभिन्न कॉरपोरेशन कानूनों में निर्धारित कर दी जाती हैं फिर भी कॉरपोरेशन के करों की सूची में सम्पत्ति करों का प्रमुख स्थान है।

जिला बोर्डों के कर लगाने की शक्ति अपेक्षाकृत सीमित रहती है। इनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कर भूमि कर होता है जो मालगुजारी के अनुसार निर्धारित किया जाता है। इसके अतिरिक्त व्यवसाय कर, सम्पत्ति तथा परिस्थितियों पर कर, और सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर भी कर लगाये जाते हैं। परन्तु ये कर भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न हैं। ग्राम पचायतों के विकास के कारण इन संस्थाओं के कर लगाने का अधिकार तथा क्षेत्र बहुत अंश तक सीमित होते जा रहे हैं।

लगभग प्रत्येक राज्य में ही ग्राम पचायतें स्थापित हो चुकी हैं। इनके कर लगाने का अधिकार भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न है। यह सभी राज्यों में सम्पत्ति कर लगाती हैं, अधिकतर राज्यों में व्यवसाय कर, भूमि कर, गाड़ियों तथा पशुओं पर कर इत्यादि लगाती हैं और केवल कुछ ही राज्यों में चुंगी, यात्री कर, वस्तुओं की बिक्री पर कर मेले, त्यौहार, शादियों इत्यादि पर कर लगाती हैं। इन करों के लगाने तथा बन्द करने या दरों को निर्धारित तथा संशोधित करने के लिये राज्य सरकारों से आज्ञा प्राप्त करनी होती है। राज्य सरकारों ने कहीं कहीं पर उन नियमों की रचना भी कर दी है जिनके अनुसार यह कर लगाये जाते हैं। क्योंकि पचायतों का विकास अभी हाल ही में हुआ है इसलिये उन्होंने अपने कर लगाने के अधिकारों का प्रयोग अधिक नहीं किया है। कदाचित उन्हें व्यक्तियों के विरोध का भी डर है। कर जाँच आयोग के अनुसार तो पचायतों को उस समय तक कर लगाने

ही नही चाहिये जब तक कि वह पूर्ण रूप से स्थापित न हो जायें। उस समय तक वे अपना काय राज्य सरकारों से प्राप्त अनुदानों से चलायें और तत्पश्चात वह ऐसे कर लगायें जिनका भार सभी व्यक्तियों पर पड़े। ग्राम पचायतों ने अभी तक भूमि कर, व्यवसाय कर सम्पत्ति कर तथा जानवरों और गाड़ियों पर कर ही अधिकतर लगाये हैं।

स्थानीय वित्त जाच समिति (सन् १६५१) की सिफारिशों के अनुसार स्थानीय सस्थाओं के लिए कुछ आय के स्रोत तो पूर्व निश्चित होने ही चाहिएँ जैसे रेल, समुद्र तथा हवा के यात्रियों तथा वस्तुओं पर सीमा कर और भूमि तथा इमारतों, खान उद्योग सम्बन्धी अधिकारों पर कर एक विशेष स्थानीय क्षेत्र मे उपभोग के लिए आने वाली वस्तुओं पर कर उनकी बिक्री पर कर, बिजली की बिक्री पर कर, समाचार पत्रों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विज्ञापनों पर कर उन गाडियों पर कर जो मशीन द्वारा सचालित नही होतीं जानवरों नावों, व्यवसायों तथा व्यापारों, नौकरियों मनोरजन आदि पर कर।

कर जाच आयोग का भी यही विचार था और उनकी सिफारिश थी कि जो कर राज्य सरकारों द्वारा इस समय लगाये जा रहे हैं उन पर से वे अपना अधिकार धीरे धीरे हटाल और स्थानीय सस्थाओं को सौंप दें। आयोग का विचार था कि स्थानीय वित्त जाच समिति द्वारा सिफारिश किए गए सभी कर स्थानीय सस्थाओं के लिए उपयुक्त नही होंगे। इनके अनुसार सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर तो स्थानीय सस्थाएँ ही लगाएँ परन्तु राज्य सरकार उनको स्थानीय सस्थाओं की ओर से एकत्रित करें। इसी प्रकार रेल समुद्र तथा हवाई यात्रियों तथा वस्तुओं पर जो सीमा कर लगाए जाय उनको सघ सरकार स्थानीय सस्थाओं की ओर से लगाय और वसूल करे बाकी करों को स्थानीय सस्थाय ही लागू करें। आयोग का प्रस्ताव था कि स्थानीय सस्थाओं की कर व्यवस्था को लोचपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य सरकारें करों की अधिकतम तथा न्यूनतम दरें निर्धारित कर दें। ऐसा करने से इनको जैसी प्रथा प्रचलित है इन कर लगाने से पहले राज्य सरकार की आज्ञा नही लेनी होगी।

जहाँ तक उस आय का सम्बन्ध है जो स्थानीय सस्थाओं को उन कुछ करों के हिस्से के रूप में प्राप्त होती है जो राज्य सरकारों द्वारा लगाए तथा वसूल किये जाते हैं, उसकी राशि बहुत ही कम होती है। स्थानीय सस्थाओं को मोटर-गाड़ी कर के बदले में कुछ मुआवजा प्राप्त होता है। कुछ राज्यों में अभी हाल ही में मालगुजारी में से भी इन सस्थाओं को हिस्सा देना आरम्भ कर दिया गया है और कुछ राज्यों में मनोरजन कर में से भी कुछ भाग दिया जाता है। कर जाँच आयोग इस प्रकार के बटवारे के अधिक पक्ष में नही था। उनका प्रस्ताव था कि मालगुजारी में से कम से कम १५% भाग ग्राम पचायतों को दे दिया जावें।

स्थानीय सस्थाओं को कर के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से भी अधिक आय प्राप्त नही होती है कुछ नगरपालिकायें तथा कारपोरेशन पानी तथा बिजली की पूर्ति

———— 1

और सड़क यातायात की व्यवस्था कर रही है। परन्तु इनकी सख्या बहुत ही कम है। कुछ राज्यों मे तो राज्य सरकारो ने स्वय ही इन सेवाओं को प्रदान करना आरम्भ कर दिया है। कर जाँच आयोग का प्रस्ताव था कि नगरपालिकाओं को विशेष रूप से कॉरपोरेशन को अधिक से अधिक सख्या म इन सेवाओं को अपने हाथ मे ले लेना चाहिए।

यद्यपि राज्य सरकारे स्थानीय सस्थाओं को अनुदानों द्वारा सहायता प्रदान करती हैं परन्तु यह आय का एक बड़ा स्रोत नही है। यह सहायता मुख्य रूप से विभिन्न योजनाओं की पूजीगत लागतो के कुछ भाग को पूरा करने के लिय दी जाती है, जैसे वाटर वर्क्स, नालियो सम्बधी योजना, प्रारम्भिक स्कूलों की स्थापना तथा प्रबन्ध, अस्पतालो शिशु कल्याण केन्द्रों जन स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रमों इत्यादि। यह अनुदान अधिकतर कुछ विशेष खर्चो के लिय निश्चित अनुपात म दिय जाते है और इसलिये इनका किसी सस्था विशेष की आवश्यकताओ से कोई विशेष सम्बन्ध नही होता। स्थानीय वित्त म इन अनुदानो का कितना महत्त्व है, इसका उल्लेख हम स्थानीय सस्थाओं की समस्याओं का अध्ययन करते समय करेंगे। नगरपालिकाओं तथा कॉरपोरेशन को कुछ बडी बडी योजनाओं के लिय ऋण तथा आर्थिक सहायता भी प्राप्त करनी पडती है। परन्तु वे अधिकतर अपने प्रयास म सफल नही होते। कर जाँच आयोग का सुझाव था कि राज्य सरकारे इन सस्थाओं को ऋण दें और आर्थिक सहायता प्रदान करे।

स्थानीय सस्थाओं की आय के मुख्य मुख्य स्रोतों की विवेचना—नगरपालिकाओं को कुल आय का लगभग ⅔ भाग या ६८% करो से प्राप्त होता है। जिला बोर्डों को लगभग ⅓ भाग या ३२% करो से प्राप्त होता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि स्थानीय सस्थाओं की आय के स्रोतो म सम्पत्ति करो का बहुत ही महत्त्व पूर्ण स्थान है। इसलिय हम सबसे पहले सम्पत्ति करो का ही उल्लेख करेंगे —

सम्पत्ति कर—सम्पत्ति कर अधिकतर वे कर होते हैं जो अचल सम्पत्ति के क्रय, विक्रय, सुधार आदि पर लगाय जाते हैं। यह कर चार प्रकार के हो सकते हैं, भूमि तथा इमारतो पर कर बिना कमाई हुई वृद्धि पर कर, सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर और भूमि तथा कृषि भूमि की उपज पर कर। कर जाच आयोग ने अनुमान लगाया था कि सन् १९५२–५३ म नगरपालिकाओं को इस कर से ५.२३ करोड रुपयों की आय प्राप्त हुई थी। सम्पत्ति कर, जो भूमि तथा इमारतों पर लगाय जाते हैं, दो प्रकार के हो सकते हैं अर्थात् सामान्य सम्पत्ति कर तथा सेवा कर। प्रथम प्रकार के कर सम्पत्ति के वार्षिक मूल्य पर लगाये जाते हैं। परन्तु सम्पत्ति का मूल्य निर्धारित करना सरल नही होता इसलिये स्थानीय वित्त जाच समिति का विचार था कि लगान को ही कर का आधार बनाए रखना चाहिए। हमारे देश में सम्पत्ति कर की दर प्रत्येक भूमि के लिये समान होती है, परन्तु स्थानीय वित्त समिति का प्रस्ताव था कि इस कर को प्रगतिशील बनाया जाये और किसी प्रकार की भी छूट न दी जाये। कर जाँच आयोग इन छूटों के पक्ष मे था, क्योंकि उसके अनुसार न्याय की

दृष्टि से निर्धन व्यक्तियों की भूमि पर कोई कर नहीं लगना चाहिये। सेवा करों के अन्तर्गत पानी की पूर्ति, नालियों, गलियों तथा सड़कों की सफाई, शिक्षा, रोशनी आदि का प्रबन्ध करने के लिये जो सम्पत्ति कर लगाए जाते हैं वे इसके अन्तर्गत आते हैं। इनका निर्धारण भी सम्पत्ति के लगान के अनुसार होता है। सम्पत्ति करों में सबसे बड़ी कठिनाई दरों के निर्धारित करने के सम्बन्ध में होती है। आयोग के अनुसार अधिकतर नगरपालिकाओं के कर निर्धारित करने के आधार दोषपूर्ण है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति पर कई ओर से कर लगाया जाता है। अर्थात् राज्य सरकारें भी कर लगाती हैं और स्थानीय संस्थायें भी, जिससे कर दाताओं पर कर का भार बहुत अधिक हो जाता है और दोनों में समन्वय भी स्थापित नहीं होता है। इसलिये कर जाँच आयोग का सुझाव था कि राज्य सरकारों को सम्पत्ति पर कर नहीं लगाना चाहिये। कभी २ नगर विकास या नगर सुधार योजनाओं के कार्यान्वित होने से नगर में स्थित भूमि या इमारतों के मूल्य बढ़ जाते हैं। जिन नगरों में नगर-सुधार ट्रस्ट होते हैं वहाँ पर यह ट्रस्ट सम्पत्ति की इस प्रकार मूल्य वृद्धि पर उपकार कर (Betterment Tax) लगाते हैं और अन्य स्थानों पर नगरपालिकाएँ और नगर कार्पोरेशन को यह कर लगाने का अधिकार प्राप्त होता है। परन्तु इस कर को लगाने में अनेकों प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जैसे विभिन्न इमारतों तथा सम्पत्तियों में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसको कितना लाभ हुआ है और किसके मूल्य में कितनी वृद्धि हुई है। इसमें मुकदमेबाजी भी काफी होती है। कर जाँच आयोग का सुझाव है कि अधिकतर इन्हीं करों को लगाया जाए और इनकी दर सम्पत्ति की मूल्य वृद्धि की कम से कम आधी होनी चाहिए। कुछ राज्यों में सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर भी कर लगाया जाता है। इस कर की दर पूर्व निश्चित होती है और राज्य सरकारें इसे एकत्रित करती हैं। कर जाँच आयोग के अनुसार यह बहुत ही उपयुक्त कर है और उनकी सिफारिश है कि इसका प्रयोग अन्य राज्यों में भी किया जाय। जिला बोर्डों की आय मुख्य रूप से भूमि उपकरों (Land Cesses) से प्राप्त होती है। कुछ राज्यों में यह भी व्यवस्था की गई है, कि इनकी आय का कुछ भाग पचायतों को भी दिया जाय और कुछ राज्यों में पचायतें स्वयं इस कर को लगाती है। यह कर मालगुजारी पर अतिरिक्त कर के रूप में लगाया जाता है और स्थानीय सरकारों की ओर से राज्य सरकारें इस कर को मालगुजारी के साथ-साथ वसूल करती हैं। उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन से इस कर को मालगुजारी में ही मिला दिया गया था और राज्य सरकार जिला बोर्डों को केवल मुआवजा अनुदान देती थी।

चुंगी तथा सीमा कर—भारत में बहुत से राज्यों में नगरपालिकाओं की आय का यह मुख्य स्रोत है। यह इतना लाभप्रद है कि ग्राम पचायतों ने भी इनको लगाना आरम्भ कर दिया है। किसी विशेष क्षेत्र में वस्तुओं या यात्रियों के आने तथा जाने पर सीमा कर लगाया जाता है और चुंगी उन वस्तुओं पर लगाई जाती है जो किसी क्षेत्र में बिक्री या उपभोग के लिए आती हैं या उस क्षेत्र से बाहर जाती

हैं। सीमा कर प्रत्येक परिस्थिति में वस्तुओं के किसी विशेष क्षेत्र में से जाने तथा आने पर लगाया जाता है चाहे उस क्षेत्र में वह वस्तु बिके या न बिके। दूसरी ओर चुंगी केवल वस्तुओं के आने पर लगाई जाती है और यदि वे ही वस्तुयें दुबारा उस क्षेत्र से बाहर भेजी जायें तो चुंगी से वसूल की गई राशि को लौटाना पड़ेगा। जिन वस्तुओं या व्यक्तियों का हस्तान्तरण रेलों, समुद्री या हवाई यातायात द्वारा होता है उन पर संघ सरकार सीमा कर लगाती है और उनसे प्राप्त हुई राशि को राज्य सरकारों में बाँट देती है। जिन वस्तुओं या यात्रियों का हस्तान्तरण सड़कों या नदियों द्वारा होता है उन पर सीमा कर राज्य सरकारों द्वारा लगाया जाता है और उपभोग या बिक्री के स्थानीय क्षेत्रों में आने वाली या बाहर जाने वाली वस्तुओं पर भी राज्य सरकारें ही कर लगाती हैं। दोनों ही कर अपने-अपने स्थान पर अच्छे हैं। सीमा करों में वस्तुओं के क्षेत्र से बाहर जाते समय कर की राशि को वापिस करने का झगड़ा नहीं होता है जैसा कि चुंगी में है। वापिसी से वस्तुओं के आने जाने में केवल देर ही नहीं होती बल्कि भ्रष्टाचार को भी प्रोत्साहन मिलता है। इन्हीं कारणों से चुंगी वस्तुओं के स्वतन्त्र प्रवाह में रुकावटें उत्पन्न होती हैं। चुंगी की अपेक्षा सीमा कर में एक गुण यह भी है कि रेलों से आने जाने वाली वस्तुओं पर रेलों के भाड़ों के साथ-साथ ही सीमा कर भी वसूल किया जा सकता है और इस प्रकार एकत्रित की गई राशि को नगरपालिकाओं को दिया जा सकता है। नगरपालिकाओं को यह आय बिना किसी खर्चे के ही प्राप्त हो सकती है। ऐसा होने से न तो व्यापारियों को ही परेशानी होती है और न कर की चोरी ही होती है। इसके अतिरिक्त एक लाभ यह भी है कि सीमा कर लगाने के लिए वस्तुओं का वर्गीकरण मनमाने ढंग से करने की आवश्यकता नहीं होती है। वस्तुओं का वही वर्गीकरण अपनाया जा सकता है जो रेलों द्वारा किया जाता है। यह ध्यान रहे कि सड़कों द्वारा वस्तुओं के स्थानान्तरण पर सीमा कर वसूल करने के लिए बिलकुल ही अलग व्यवस्था करनी होती है। साथ ही यह भी कठिनाई होती है कि यदि स्थानीय सरकारें वस्तुओं पर बहुत ऊँचा सीमा कर लगा देंगी तो व्यक्ति रेलों से अपनी वस्तुओं को भेजना बन्द कर देंगे और इस प्रकार रेलों की आय भी कम हो जायगी। यही कारण था कि सीमा करों को संघ सरकार के करों की सूचि में सम्मिलित किया गया है। सीमा करों में एक कठिनाई यह भी है कि सड़क द्वारा दूर स्थानों पर वस्तुओं के जाने में एक ही वस्तुओं पर कई बार कर लग जाता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों ही करों में कर वसूल करने में बहुत अधिक खर्चा होता है तथा व्यापारियों को बहुत सी असुविधायें होती हैं और भ्रष्टाचार भी बढ़ता है। कर जाँच आयोग का विचार था कि चुंगी कर की व्यवस्था को अधिक सरल बनाया जाय तथा नगरपालिकाओं के लाभ के लिए जहाँ पर उचित हो संघ सरकार और भी कर लागू करे। आयोग ने चुंगी कर व्यवस्था में निम्न दिशाओं में सुधार करने की सिफारिश की है—

देरी तथा असुविधाओं को रोकने के लिये वस्तुओं पर मूल्यानुसार कर न लगाया जाय बल्कि वजनानुसार लगाया जाये। चुंगी की आदर्श दरें राज्य सरकारों

द्वारा निर्धारित कर दी जाये और उन वस्तुओं पर कर न लगाया जाय जिनमें असुविधा होने की सम्भावना होती है। छोटे कर्मचारियों पर ऊँचे अफसरों द्वारा कड़ा नियन्त्रण रखा जाय ताकि भ्रष्टाचार न बढ़े, खाद्य पदार्थों पर चुंगी की वर्तमान दरों में वृद्धि के लिए साधारणतया राज्य सरकारों को आज्ञा नहीं देनी चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये दोनों कर बहुत उत्पादक हैं किन्तु यह भी सच है कि इनसे आन्तरिक व्यापार को हानि होती है और यह प्रतिगामी होते हैं। चुंगी करों के बारे में स्टाम्प का कहना था कि 'इसमें लगभग प्रत्येक बुराई' है।[9] कुछ स्थानों पर यात्री कर भी लगाया जाता है। यह यात्रियों पर सीमा कर होता है। यह भी रेलों द्वारा लगाया जाता है और रेल के किराया में ही सम्मिलित कर दिया जाता है। इस कर के लागू करने का मुख्य कारण यह है कि लोगों का विचार है कि चूंकि स्थानीय संस्थाएं बाहर से आने वाले यात्रियों को अनेकों सुविधाएं प्रदान करने में बहुत खर्चा करती हैं इसलिए इस खर्चे में कुछ हाथ यात्रियों को भी बटाना चाहिए। कर जांच आयोग का विचार था कि लम्बे सफर वाले यात्रियों पर भी सीमा कर बहुत नीची दरों से लगाया जाय।

व्यवसाय तथा पेशों पर कर—आसाम को छोड़कर अन्य राज्यों में यह कर स्थानीय संस्थाओं द्वारा लगाया जाता है। आसाम में इस कर को राज्य सरकार लगाती है। मद्रास आंध्र और पश्चिमी बंगाल के अतिरिक्त अन्य राज्यों में इस कर का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। भिन्न भिन्न व्यवसायों तथा व्यापारों के लिए कर की दरें भिन्न भिन्न होती हैं। परन्तु कुछ राज्यों में लगभग समान दर रखी जाती है।

गाड़ियों तथा नावों और पशुओं पर कर—यह कर ग्रामों तथा शहरों में भी स्थानीय सरकारों द्वारा लगाये जाते हैं। बम्बई को छोड़कर अन्य राज्यों में मोटरों पर कर राज्य सरकार द्वारा लगाया जाता है परन्तु बम्बई में यह स्थानीय सरकार लगाती है। जिन राज्यों में यह कर राज्य सरकार लगाती है वहां पर वे स्थानीय सरकारों को कुछ मुआवजा देती हैं क्योंकि मोटर कर की आय दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है इसलिए कर जांच आयोग का सुझाव था कि मुआवजे की एक निश्चित राशि के स्थान पर स्थानीय सरकारों को कर की आय का एक निश्चित भाग मिलना चाहिए।

मार्ग शुल्क (Toll Tax)—मार्ग शुल्क भी व्यवसायिक कर परिवार का एक सदस्य है और यह किसी विशेष क्षेत्र या विशेष स्थानों में आने जाने या वहाँ से गुजरने वाले व्यक्तियों गाड़ियों तथा जानवरों पर लगाया जाता है। यह कर प्रतिगामी होते हैं क्योंकि इनकी दर गरीबों तथा अमीरों के लिए एक सी ही रहती है। उन्नतिशील देशों में इस कर को समाप्त कर दिया गया है परन्तु भारत में इस का प्रयोग लगभग सभी स्थानीय सरकार कर रही हैं। कर जांच आयोग का सुझाव था कि इस कर को एक दम बन्द कर दिया जाय और केवल ५ लाख रुपयों से अधिक लागत के पुलों पर यह कर लगाया जाय और पुल की लागत निकल आने

9 B R Misra Op cit Page 223

पर इस कर को बन्द कर दिया जाये। स्थानीय सरकारो की आय मे जो कमी हो उसको पूरा करने के लिये राज्य सरकारें मोटर कर में से एक भाग स्थानीय सरकारो को दे दे।

स्थानीय संस्थाओं का व्यय—सन् १९४६-४७ के आँकडो के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नगरपालिकाओं की अपेक्षा जिला बोर्ड अधिक जनसख्या की सेवा करते हैं। उस वर्ष नगर क्षेत्रों में कुल जनसख्या २ करोड १९ लाख थी जबकि जिला बोर्डो के क्षेत्र मे कुल जनसख्या २० करोड ४५ लाख के लगभग थी। इसीलिये दोनो सस्थाओं के व्यय मे १० और १ का अनुपात था। स्थानीय सरकारो के व्यय की मद्दो को तीन बडे-बडे भागो मे विभाजित किया जा सकता है अर्थात् शिक्षा, चिकित्सा तथा स्वास्थ्य और सवादवाहन। इनम से प्रत्येक का वर्णन हम निम्न पृष्ठो मे करेंगे —

शिक्षा—हमारे सविधान के अनुसार राज्य सरकारो को सविधान लागू होने के १० वर्षो के अन्दर ही १४ वर्ष से कम आयु वाले बच्चो के लिये नि शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान करना है। इस उद्देश्य की ओर अग्रसर होन मे स्थानीय सरकार के व्यय मे वृद्धि हुई है। उत्तर-प्रदेश में सन् १९१९ मे प्रारम्भिक शिक्षा एक्ट पास हुआ था जिसके अनुसार केवल शहरी क्षेत्रों म अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। सन् १९२६ म जिला बोर्ड प्रारम्भिक शिक्षा एक्ट वन जान के बाद ग्रामीण क्षेत्रो मे भी अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था आरम्भ हो गई। इस समय उत्तर प्रदेश के ३६ नगरो म लडको के लिये अनिवार्य शिक्षा चालू कर दी गई है और २६ जिला बोर्डो के चुने हुए क्षेत्रो मे भी अनिवार्य शिक्षा प्रदान की जा रही है। लडकियो के लिये अनिवार्य शिक्षा लखनऊ और इटावा के जिला बोर्डो के कुछ चुने हुए क्षेत्रों म तथा मिर्जापुर और मथुरा की नगरपालिकाओं म की गई है। इटावा के जिला बोर्डो को शिक्षा का पूरा व्यय राज्य सरकार देती है जबकि अन्य क्षेत्रो में खर्चे का दो तिहाई भाग राज्य सरकार देती है। पिछले १० वर्षो म कुल व्यय मे लगभग ११% की वृद्धि केवल शिक्षा के कारण ही हुई है। परन्तु खेद की बात यह है कि ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों म अनेको स्थान देखने मे ऐसे आते है जहा पर छोटे-छोटे लडको और लडकियो के लिय शिक्षा का कोई प्रबन्ध नही है। छोटे छोटे बच्चो को शिक्षा प्राप्त करने के लिये मीलो दूर जाना पडता है और फिर भी न तो स्कूलो मे उचित शिक्षा ही प्रदान की जाती है और न बच्चो के चरित्र की ही ओर कोई ध्यान दिया जाता है। बात यह है कि इन स्कूलो मे शिक्षा की उचित व्यवस्था नही है, इनके पास पर्याप्त सामान भी नही है और अध्यापको को इतना कम वेतन दिया जाता है कि उनको अपनी जीविका कमाने के लिये अन्य स्रोतो को खोजना पडता है। इसलिये वे बच्चो को पढाने की ओर उचित ध्यान नही देते और रुचि भी नही दिखाते। यदि देश मे अच्छे नागरिकों को जन्म देना है तो यह आवश्यक है कि शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाय और ऐसे अध्यापक रखे जायें जो उचित शिक्षा प्रदान कर सकें और इन अध्यापकों के वेतन का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिये।

चिकित्सा तथा स्वास्थ्य—यह स्थानीय सरकारों का दूसरा महत्वपूर्ण काय है। इस काय में कई कार्य सम्मिलित हैं जैसे चिकित्सा के लिए अस्पतालों, दवाइयों, डाक्टरों आदि का प्रबन्ध करना और रोग निवारण के लिए अन्य उपाय करने, गन्दे पानी की निकासी के लिए नालियों का उचित प्रबन्ध करना कूडे के ढेरों को साफ कराना, सडको तथा मंडियो और मेलो के स्थान की सफाई, खाने पीने की वस्तुओं की बिक्री का उचित प्रबन्ध, शहरों तथा गाव में पानी की व्यवस्था इत्यादि। इस मद पर नगरपालिकाओं का कुल व्यय लगभग ५ करोड रुपया था। जिला बोर्डों का व्यय बहुत कम था क्योंकि उन्हे गन्दे पानी की निकासी तथा कूडे की सफाई, सडकों की सफाई और पानी की व्यवस्था नही करनी होती है। इसलिए इनका कुल व्यय १ करोड ७७ लाख रुपयों से कुछ ही अधिक था। जन साधारण के स्वास्थ्य की जिम्मेदारी भी इन्ही सस्थाओं पर होती है। यह बीमारियों तथा महामारियो को फैलने से रोकने का काम करती हैं और इस सम्बन्ध म इनको बहुत से काम करने होते ह जैसे अपने अपने क्षेत्रो म सफाई रखना, कूड और गन्दगी को जमा न होने देना, नालियो शौचालयो तथा मूत्रालयो की व्यवस्था करना, कबरिस्तानो तथा श्मशान घाटो की व्यवस्था करना छूत की बीमारियों को न फैलने देने के लिए टीके आदि का प्रबन्ध करना, अस्पतालों तथा चिकित्सालयो की व्यवस्था करना इत्यादि।

सवादवाहन—स्थानीय सस्थाओं का सडकों पुलो घाटो इत्यादि को बनवाना और उनकी भी मरम्मत करवानी होती है तथा सडकों के किनारे पेड भी लगवाने होते ह। सन् १९४४–४५ म इन सरकारो के आधीन केवल १,६५,८५६ मील लम्बी सडकें थी जिनकी देखभाल तथा मरम्मत पर लगभग २८१ लाख रुपया खच हो रहा था। उसी वष म सार्वजनिक निर्माण विभाग के आधीन ४१,०३२ मील लम्बी सडक थी जिन पर यह विभाग ४३० लाख रुपया खच कर रहा था। अत स्थानीय सरकारो का सडको पर औसत खच १६६ रुपया प्रति मील था जबकि अन्य सडकों पर यह व्यय १,०४८ रुपया प्रति मील था। स्वाभाविक ही है कि सार्वजनिक निर्माण विभाग द्वारा बनाई गई सडकें अधिक मजबूत और टिकाऊ होगी और स्थानीय सस्थाओ द्वारा जिन सडको की व्यवस्था हो रही है उनकी स्थिति अवश्य ही शोचनीय होगी इसलिए यदि सडको की स्थिति को सुधारना है तो सडको की व्यवस्था राज्य सरकार द्वारा ही होनी चाहिए। सवादवाहन के लिए *राज्य सरकार* स्थानीय सरकारो को दो प्रकार से सहायता देती है एक तो अपनी आय म से और दूसरे उत्तर प्रदेश सडक विकास कोष म से।

स्थानीय सस्थाओ की समस्याये—

हमारे देश म स्थानीय सस्थाओं को जो कार्य सौंपे गये ह वे बहुत ही विस्तृत हैं। वास्तव म ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों के कल्याण तथा उन्नति के लिये इन्ही सस्थाओ को जिम्मेदार बनाया गया है। परन्तु उनकी आय के साधन बहुत ही

सीमित है। इनके साधन इतने कम है कि कही कही पर तो यह संस्थायें अनिवार्य कार्यो तक को सम्पन्न करने में असमर्थ रहती हैं। स्थानीय संस्थाओं की आय कम होने के कारण यह अपने कार्यों को इतनी कुशलता से सम्पन्न नहीं कर पा रही हैं जितनी कुशलता से इनको करना चाहिए, और इसलिए इनसे देश को आशातीत लाभ भी प्राप्त नही हो रहा है। ऊपर से देखने पर तो इन संस्थाओं की आय और व्यय सम्बन्धी आँकडे काफी संतोषजनक प्रतीत होते हैं परन्तु यदि प्रति व्यक्ति आय और व्यय का अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि इनकी दशा अत्यन्त ही शोचनीय है। बात यह है कि प्रारम्भिक काल में जो साधन इनको सौंपे गये वे बेलोच होते हुए भी इनके लिए उस समय पर्याप्त थे क्योंकि उस समय आय की तुलना में इनका व्यय बहुत कम था। परन्तु जैसे जैसे समय की प्रगति हुई और राजकीय सरकारों का कार्य क्षेत्र विस्तृत होता गया, इन संस्थाओं का व्यय भी बढता गया। किन्तु इनके व्यय के बढने के साथ साथ आय में उतनी वृद्धि नहीं हुई। परिणामस्वरूप इन संस्थाओं को बहुत ही बुरा समय देखना पडा और इन्होंने नागरिकों को भी बहुत कम सुविधायें प्रदान की। इसीलिए यह संस्थायें अधिक लोकप्रिय नही हो पाई। एक अनुमान के अनुसार नगरपालिकाओं की प्रति व्यक्ति आय केवल ७ रुपये १२ आने १ पाई प्रतिवर्ष है और जिला बोर्डों की १३ आने २ पाई प्रति व्यक्ति है। इतनी कम आय होते हुए यह आशा करना, कि यह संस्थाएँ अपना कार्य कुशलतापूर्वक कर सकेंगी, निराधार है। स्थिति इतनी खराब है कि ८०% गाँव में प्रारम्भिक स्कूल नहीं है, गाँव से शहरों तथा रेलवे स्टेशनों से मिलाने वाली सडकें नहीं हैं और गाव मे भी जो सडकें हैं उन पर वर्षा के दिनों में सफर करना सम्भव नही होता। गन्दे पानी के निकालने की व्यवस्था नही के बराबर है, और मैला तथा कूडा करकट उठवाने का उचित प्रबन्ध नही है। विगत वर्षों में इन संस्थाओं के कार्यों की संख्या तो बढती गई है परन्तु इनकी आय के साधन यथा स्थिर रहे हैं। परिणामस्वरूप अधिकांश संस्थायें अपने कार्यों को राज्य सरकारों को दे देने पर विवश हो रही हैं। एक ओर तो स्थानीय संस्थायें निराश तथा हतोत्साहित होकर राज्य सरकारों को सौंपना चाहती हैं और दूसरी ओर यह दृश्य देखने में आता है कि राज्य सरकारें स्थानीय संस्थाओं को नये नये कार्य सौंपती जा रही हैं। एक यह भी प्रवृत्ति देखने में आती है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात जैसी मुख्य सेवाओं को राज्य सरकारों ने अपने हाथों में ले लिया है। उत्तर प्रदेश में छूत की बीमारियों के अस्पताल तथा शिक्षा संस्थाओं को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है और सडकों की रक्षा का कार्य भी सरकार स्वयं ही कर रही है। दूसरी ओर ग्राम पंचायतों को बढावा दिया जा रहा है और उनके कार्यों की संख्या को बढाया जा रहा है। क्योंकि कुछ ऐसा विश्वास है कि पंचायतें प्रजातान्त्रिक राज्य के लिए व्यक्ति को कुशल नागरिक बना सकेंगी। अतः स्थानीय संस्थाओं के वित्तीय संगठन से सम्बन्धित निम्न समस्याओं को सुलझाना परम आवश्यक है —

(१) स्थानीय संस्थाओं को कार्यों को सौंपते समय इस बात को ध्यान मे

रखा जाये कि राज्य सरकारा तथा स्थानीय संस्थाओं के बीच जो साधनों का वितरण हो उसमें और कार्यों के वितरण में किसी प्रकार का भी असंतुलन न रहे।

(२) स्थानीय संस्थाओं के वर्तमान साधना तथा उनकी आय प्राप्त करने के अधिकारों की विस्तृत जाच की जाय।

(३) स्थानीय सरकारों तथा राज्य सरकारों के बीच आय के साधनों का समुचित वितरण हो।

(४) स्थानीय संस्थाओं को राज्य सरकारों से प्राप्त होने वाले अनुदानों सम्बन्धी सिद्धान्तों की पूरी जाच की जाय।

(५) भविष्य में स्थानीय संस्थाओं की आय के साधनों में किस प्रकार वृद्धि हो सकती है और उनकी कार्य कुशलता में कैसे उन्नति की जा सकती है इन बातों की भी पूरी जाच की जाय।

हम सभी इस बात से सहमत है कि स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक दशा बहुत ही खराब है और उनको तुरन्त ही आर्थिक सहायता प्राप्त होनी चाहिए। वास्तव में स्थानीय संस्थाओं के कुशलतापूर्वक काम न कर पाने का प्रमुख कारण यही है कि उनके पास अपने कार्यों को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक धन नही होता। हम सभी उनकी आलोचना तो करते हैं परन्तु उनकी विवशता की ओर ध्यान नहीं देते। राज्य सरकारों में तो गतवर्षों में कुछ ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है कि वह स्थानीय संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करने के स्थान पर उनके प्रबन्ध, अधिकारों तथा कर्तव्यों को ही अपने हाथ में ले लेती है। ऐसी नीति न्यायोचित नहीं है। प्रजातान्त्रिक प्रशासन के लिये प्रशासन का विकेन्द्रीयकरण बहुत ही आवश्यक होता है और यदि राज्य सरकारें इसी तरह धीरे धीरे स्थानीय सरकारों को हड़प करती गई तो न तो अच्छे नागरिक ही उत्पन्न हो सकेंगे और न देश में प्रजातन्त्र का जीवन ही स्थायी बन सकेगा। स्थानीय वित्त जाँच समिति ने ठीक ही कहा है कि स्थानीय संस्थाओं से राज्य सरकारों को सभी कार्यों का हस्तान्तरण एक प्रतिगामी कार्य है जिसे बन्द होना चाहिए।" भारत जैसे देश के लिये तो यह परम आवश्यक है। भारत में प्रजातन्त्र अभी अपनी शिशु अवस्था में ही है। अभी भारतवासी प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में निपुण नहीं हैं। बिना जनता के सहयोग के प्रशासन सफल नहीं हो सकता और जनता का सहयोग उसी समय प्राप्त हो सकेगा है जबकि प्रत्येक नागरिक अपने कर्त्तव्यों को समझे। इसलिए अच्छे नागरिक उत्पन्न करने के लिए तथा व्यक्तियों को नागरिकता की शिक्षा प्रदान करने के लिये स्थानीय सरकारों का होना बहुत आवश्यक है। इसलिए उनका अन्त करने के स्थान पर उनकी आर्थिक दशा को इतना उन्नत कर दिया जाए कि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन सुचारु रूप से कर सकें। भारत में अधिकतर आय के स्रोत जो राज्य सरकारों को दिये गये हैं वे लोचदार हैं और जो स्थानीय सरकारों को दिये गये हैं वे बेलोच हैं। पाश्चात्य देशों में बिक्री कर, मनोरंजन कर,

तथा भूमि कर जो स्थानीय सस्थाओं की आय के मुख्य स्रोत है वे भारत मे राज्य सरकारो ने अपने पास रखे है इसलिए यह आवश्यक है कि आय के साधनों का राज्य सरकारो तथा स्थानीय सस्थाओं में बँटवारा फिर से किया जाए या उन्हे आय के और अधिक स्रोत सौंप दिये जायें।

स्थानीय सस्थाओ की हीन दशा तथा हीन कार्यकुशलता का एक मात्र कारण यही नहीं है कि उनके पास आय के स्रोत नहीं हैं वरन् इसका एक कारण यह भी है कि स्थानीय सरकारें अपने वर्त्तमान आर्थिक अधिकारो तथा साधनो का उपयोग भली प्रकार नही कर रही हैं। इनकी आलोचना इस आधार पर बडे कडे शब्दो में की जाती है। यह सस्थाये करारोपण में पक्षपात से काम लेती हैं और कर वसूल करने में भी ढीलापन दिखाती है। इन सस्थाओं के गहन अध्ययन के पश्चात् इनके कुछ मौलिक दोष दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे करों में पक्षपात करना तथा उनको वसूल करने मे कुशलता का अभाव रहना; विरोध तथा आलोचना के भय के कारण उन करो को भी न लगाना जिनके लिए राज्य सरकारो ने आज्ञा दे रखी है, शासन की अकुशलता तथा शासन प्रबन्ध में निरीक्षण, नियन्त्रण तथा नियमितता का अभाव और आर्थिक सहायता के लिए सदैव ही राज्य सरकारो का मुँह ताकना।

इसम तो कोई सन्देह नही है कि स्थानीय सरकारो के शासन प्रबन्ध अकुशल है। परन्तु इसका प्रमुख कारण यह ही है कि इनकी आय के साधन पर्याप्त नही है। इसलिये राज्य सरकारो को चाहिये कि वे इन सस्थाओं को उन करो को लगाने के लिये बाध्य करें जिनका उपयोग वह अभी तक नही कर पाई हैं। राज्य सरकारो को यह भी चाहिये कि वे उन प्रतिबन्धो को भी हटा लें जो उन्होंने स्थानीय सरकारो के अधिकारों तथा उनकी शक्तियो पर लगा रखे है। वास्तव म आय के किसी भी नय साधन को अपनाने के लिये स्थानीय सरकारो को राज्य सरकारो से आज्ञा लेनी होती है। इस व्यवस्था का सबसे बुरा परिणाम यह होता है कि शासन प्रबन्ध की अकुशलता तथा उसकी हीन दशा के लिये यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि किसको जिम्मेदार बनाया जाय अर्थात् इसकी जिम्मेदारी राज्य सरकारो पर है या स्थानीय सरकारों पर ? बात यह है कि इस प्रकार की व्यवस्था से उत्तरदायित्व राज्य सरकारो तथा स्थानीय सरकारो के बीच बट जाता है और यह कहना कठिन हो जाता है कि स्थानीय सस्थाओ की निर्धनता इस कारण है कि वे करो का प्रयोग नही करती या इस कारण कि राज्य सरकारें उनके प्रस्तावों को स्वीकार नही करती। इसके अतिरिक्त करो की कोई ऐसी सूची भी नही है जिसके आधार पर यह निश्चित किया जा सके कि अमुक कर स्थानीय सरकारो द्वारा लगाये जा सकते है। हमारे सविधान मे भी सन् १९३५ के एक्ट की भाति स्थानीय करो की कोई प्रथक गणना नही की गई है। राज्य सूची म जिन करो को सम्मिलित किया गया है उनके विषय मे यह स्पष्ट नही किया गया है कि उनमे से कौन से कर स्थानीय सरकारो के लिये उचित रहेंगे। इसलिए स्थानीय सस्थाओं की वित्तीय दशा को सुधारना कोई सरल बात नही है। यदि हम भारत मे विभिन्न सरकारो की तुलना

(८) राज्य सरकारो को मोटर गाड़ी कर की आय मे से एक भाग स्थानीय सरकारो को देना चाहिए।

(९) केन्द्रीय सरकार की सम्पत्ति पर जो स्थानीय कर नही लगाये जाते उनके बदले में स्थानीय सस्थाओ को केन्द्रीय सरकारो से कुछ मुआवजा मिलना चाहिये।

यह अनुमान किया गया है कि यदि समिति के सभी सुझाव स्वीकर कर लिए जाते तो भारत में सभी स्थानीय सरकारो की आय मे ४० करोड रुपयो की वृद्धि होने की आशा थी। यहाँ पर यह बताना अनुचित न होगा कि समिति ने केवल ७६७ स्थानीय सस्थाओ का ही अध्ययन किया था जिनमे छोटी-छोटी नगरपालिकाये तथा पचायतें सम्मिलित नही थी। इसके अतिरिक्त समिति के सुझावो मे से कुछ सुझाव ऐसे हें जिनको कार्यान्वित करना कठिन है और जिनके सम्बन्ध मे यह भी भय है कि उनसे राज्य सरकारो की वित्तीय व्यवस्था खराब हो जायेगी। यह भी ध्यान रहे कि समिति ने जिन करो को लगाने का सुझाव दिया है उनमे से कुछ तो इतने छोटे-छोटे हे कि उनकी व्यवस्था ही कठिन है।

उत्तर प्रदेश की स्वशासन जाँच समिति ने निम्न सुझाव दिये हैं :—

(१) शहरो और गाव मे महाजनी का काम करने वालो पर कर लगाया जाए।

(२) प्रान्तीय कोर्ट फीस में से कुछ हिस्सा स्थानीय सरकारो को दिया जाए।

(३) मुद्रांक कर पर $\frac{1}{4}$ के बराबर अतिरिक्त कर लगाया जाय और उसकी आय स्थानीय सस्थाओ को दी जाए।

(४) ग्राम पचायतो के लिये इस समिति के निम्न सुझाव थे :—

(अ) जमीदारी के लगान पर लगाये गए कर का ५ से ७$\frac{1}{2}$% ग्राम पचायतो को दिया जाए।

(ब) राज्य सरकारो को प्राप्त होने वाली मालगुजारी का ५% ग्राम पचायतों को दिया जाए।

(स) भूमि उपकर का २५% भाग जिला बोर्ड ग्राम पचायतो को दें।

(द) यदि आवश्यक हो तो श्रम दर (Labour Rates) के स्थान पर श्रम कर (Labour Tax) लगाया जाय।

कर जांच आयोग के सुझाव—भारतीय कर जांच आयोग ने भी स्थानीय वित्त का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया था। उसका विचार है कि स्थानीय वित्त की एक समुचित प्रणाली स्थानीय और प्रत्यक्ष करारोपण पर ही आधारित हो सकती है। आयोग ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि राज्य सरकारो द्वारा स्थानीय सरकारो की कर लगाने की शक्तियो को हथियाने का प्रयत्न न्यायोचित नही है। कुछ कर ऐसे निश्चित कर दिये जायें जिन्हे केवल राज्य सरकारें ही लगा सके। इस कार्य के लिये उसका विश्वास था कि सविधान मे सशोधन करने की आवश्यकता

नही है वरन् धीरे २ राज्य सरकारें स्थानीय सरकारो के अधिकारो को हथियाना बन्द कर दें और उन्हे उनको सौपे हुए साधनो का उपयोग करने में प्रोत्साहन दें। आयोग इस बात से सहमत नही था कि स्थानीय सरकारो को राज्य सरकारो के कुछ विशेष करो की आय म से हिस्सा दिया जाय, क्योकि ऐसा करने से स्थानीय सरकारें बिना किसी जिम्मेदारी के ही आय प्राप्त करेंगी। आयोग का मत था कि राज्य सरकार विभिन्न स्थानीय सरकारो की विशेष आवश्यकताओ तथा उनकी व्यवस्था की कुशलता को ध्यान म रखकर यदि अनुदान द तो अधिक उपयुक्त होगा। परन्तु राज्य सरकारें जो भी करारोपण के अधिकार स्थानीय सरकारो को दें उनम दो बाता को अवश्य ही ध्यान म रखा जावे। प्रथम करा की स्थिरता और दूसरे करा की न्यायशीलता तथा पर्याप्तता के साथ लगान की कुशलता। इसके अतिरिक्त आयोग का यह भी सुझाव था कि राज्य सरकारें इन सस्थाओ को ऋण और सहायता भी प्रदान करें। इन सब बाता को ध्यान म रखकर आयोग ने निम्न सुझाव दिए हैं —

(१) ग्राम पचायतो के कार्य क्षेत्र को बढाने म बडी सावधानी से काम लेना चाहिये। यह उचित होगा कि इन्ह कुछ निश्चित कार्य सौप दिये जायें और इनको स्थानीय विकास योजनाओं से भी सम्बन्धित कर दिया जाय।

(२) यह सम्भव नही है कि जिला बोर्डो का वतमान रूप सदैव ही बना रहे। इनके काय क्षेत्रो के भूगोलिक आकार को सीमित किया जाय और इनके कार्यो वित्त व्यवस्था तथा करारोपण का पचायतो के साथ समन्वय स्थापित किया जाए और इनको अपनी आय का अधिकाश भाग करो की अपेक्षा राज्य अनुदानो से प्राप्त होना चाहिये।

(३) स्थानीय वित्त व्यवस्था की समुचित प्रणाली करारोपण पर आधारित होनी चाहिये।

(४) ग्राम पचायतो की सफलता तथा उनके विकास के लिये यह आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्था म राज्य सरकार उनको इतनी आर्थिक सहायता दे कि उन्हे कर लगाने की आवश्यकता न हो।

(५) यह भी आवश्यक है कि कुछ करो तथा उनकी आय को केवल स्थानीय सरकारो के उपयोग के लिये ही सुरक्षित रखा जाए।

(६) आयोग ने राज्य सरकारों के लिये निम्न करों को सुरक्षित रखने का सुझाव दिया है —(अ) भूमि और मकानो पर कर (ब) चुगी कर, (स) ऐसी गाडियो पर कर जिनमें शक्ति का प्रयोग नही होता (द) जानवरो तथा नावो पर कर, (ह) व्यापार, व्यवसाय, रोजगार आदि पर कर, (य) समाचार पत्रो म प्रकाशित विज्ञापनो के अतिरिक्त अन्य विज्ञापनो पर कर।

आयोग का सुझाव था कि कुछ प्रकार के मनोरजन करो और सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर लगाये जाने वाले करो को स्थानीय सस्थाओ को दे दिया जाय। आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि सडको और आन्तरिक जल मार्गों द्वारा आने वाले

माल और सवारियों पर कर लगाने तथा मार्ग कर (Toll Tax) लगाने की आज्ञा स्थानीय सस्थाओं को दी जाय।

(७) स्थानीय सस्थाओं के सम्पूर्ण विकास के लिये राज्य सरकारों को निम्न प्रयत्न करने चाहियें —

(अ) राज्य सरकारें स्थानीय सस्थाओं को कर लगाने के सम्पूर्ण अधिकार सौंप दें।

(ब) यह कर पर्याप्त लोचदार तथा विभिन्न प्रकार के हों।

(स) सौंपे जाने वाले करों का घनिष्ठ सम्बन्ध उनको दिए जाने वाले अधिकारों से होना चाहिये। और

(द) ऐसे कर लगाने के अधिकार समाप्त कर देना चाहिए जो समयानुकूल नहीं हैं।

(८) मोटर गाड़ी कर की आय का कम से कम २५% भाग नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों को और भूमि कर का कम से कम १५% ग्राम पचायतों और ग्राम समितियों को दिया जाए।

(९) नगरपालिकाओं के गैर कर आय के स्रोतों को बढाया जाए और व्यापारिक सेवाओं को अधिकतर इन सस्थाओं द्वारा चलाने का अधिकार दिया जाए।

(१०) आयोग का मत था कि दूसरी योजना में पानी का प्रबन्ध करने तथा अन्य प्रकार के विकास के कार्यों के लिये नगरपालिकाओं को ऋण तथा आर्थिक सहायता प्रदान की जाय।

(११) ग्राम पचायतों के लिये सामान्य सम्पत्ति कर, सेवा कर, भूमि उप-कर तथा सम्पत्ति हस्तान्तरण कर ही अधिक उपयुक्त हैं। व्यक्तिगत पचायतों को उचित दशाओं में सवारी कर, व्यवसाय कर तथा मनोरजन कर लगाने का भी अधिकार दिया जाय।

(१२) विभिन्न स्थानीय सरकारों की आय को बढाने के लिये भिन्न-भिन्न प्रयत्नों की आवश्यकता है। नगर कॉर्पोरेशन और बड़ी-बड़ी नगरपालिकाओं को अधिक कर लगाने के अधिकार मिलने चाहिये और छोटी-छोटी स्थानीय सस्थाओं को अधिक अनुदान मिलने चाहियें।

(१३) सहायक अनुदानों के सम्बन्ध में आयोग ने अपने सुझाव देते हुए बताया है कि राज्य सरकारों को निम्न सिद्धान्तों के आधार पर काम करना चाहिये।

(अ) नगरपालिकाओं और कॉरपोरेशन के अतिरिक्त अन्य स्थानीय सस्थाओं के लिये सामान्य उद्देश्य अनुदानों की व्यवस्था करना होना चाहिये।

(ब) अनुदान देते समय प्रत्येक सस्था के क्षेत्र आकार जनसख्या तथा साधनों को ध्यान में रखना चाहिये।

(स) अनुदानों की मात्रा कम से कम इतनी हो कि स्थानीय सस्था को

अनिवार्य तथा प्रशासन सम्बन्धी कार्य करने में कोई कठिनाई न हो।

(द) प्रारम्भिक अनुदानों में प्रति वर्ष परिवर्तन नहीं होने चाहियें। वे कम से कम ३ वर्ष से ५ वर्ष तक चलते रहें।

(य) वार्षिक अनुदानों के अतिरिक्त विशेष कार्यों के लिये भी विशेष अनुदान दिये जायें।

(१४) राज्य सरकारों को स्थानीय सरकारों के कार्य संचालन में उचित सहायता प्रदान करनी चाहिये और राज्यों के नियन्त्रण तथा सलाह का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिये कि वे स्वशासन की ऐसी इकाइयों का निर्माण करें जो नीति बना सकें और उसको कार्यान्वित भी कर सकें।

(१५) कर्मचारियों को पर्याप्त प्रशिक्षण मिलना चाहिये और अच्छा वेतन भी। यदि सम्भव हो तो स्थानीय सरकारें दिन-प्रति-दिन के कार्य संचालन के व्यय का एक भाग अपनी आय में से पूरा करें।

सरकारी अनुदान—पिछले पृष्ठों में हमने स्थानीय सरकारों की वित्तीय समस्याओं का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया है और विभिन्न समितियों और आयोगों की सिफारिशों को भी देखा है। सभी इस बात से सहमत हैं कि संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है और आवश्यकता इस बात की है कि उनकी स्थिति को तुरन्त ही सुधारा जाय। कर जाँच आयोग तथा स्थानीय वित्त समितियों आदि सभी ने एक मत होकर यह सुझाव दिया है कि राज्य सरकारों और स्थानीय सरकारों के वित्तीय सम्बन्धों में आवश्यक परिवर्तन होने चाहिये। परन्तु प्रश्न यह है कि यह परिवर्तन किस प्रकार किये जायें? क्योंकि किसी भी व्यवस्था में नये परिवर्तन करना एक तो सरल नहीं होता और दूसरे चारों ओर से उसकी आलोचना होने लगती है। इस सम्बन्ध में हम इङ्गलैण्ड में स्थानीय संस्थाओं के वित्तीय इतिहास से कुछ लाभ प्राप्त कर सकते हैं। वहाँ पर उन्होंने राज्य सरकारों और स्थानीय सरकारों के पारस्परिक वित्तीय सम्बन्धों को सुधारने के लिये अनुदानों का सहारा लिया है। सिडनी वैब (Sidney Webb) ने स्थानीय सरकारों को वित्तीय शक्ति प्रदान करने के लिये तथा उनके भारों में समानता लाने के चार आधारों पर अनुदानों को आवश्यक बताया है। यह आधार निम्नांकित हैं —

(अ) प्रथम, विभिन्न स्थानीय संस्थाओं के भार की असमानताओं को रोकने के लिये यह अनुदान बहुत आवश्यक है।

(ब) ये अनुदान इसलिये भी आवश्यक हैं कि राजकीय सरकारों द्वारा प्रबन्ध में कुशलता तथा मितव्ययिता लाने के लिये जो प्रस्ताव और सलाह दी जाती तथा जो आलोचना स्थानीय सरकारों की की जाती है उनको ये अनुदान शक्ति दान करेंगे।

(स) यह अनुदान स्थानीय सरकारों को एक ऐसी व्यावहारिक रीति प्रदान करते हैं जो उनकी स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक है और जिसके द्वारा वे अपने शासन-प्रबन्ध में संसद द्वारा निर्धारित की गई सामान्य नीति को कार्यान्वित करने में सम-

सबों की बुद्धिमानी, ज्ञान और विस्तृत दृष्टिकोण से काम ले सकते है।

(द) इन्हीं अनुदानों द्वारा हम यह आशा कर सकते हैं कि स्थानीय सेवाओं मे राष्ट्रीय न्यूनतम कुशलता उत्पन्न होगी जो राष्ट्रीय हित के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

भारत मे राज्य सरकारों ने इस ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया है। इसमें नो कोई सदेह नही कि राज्य सरकारो की अपनी भी कठिनाइयाँ हैं परन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि स्थानीय सरकारो की अपेक्षा राज्य सरकारो की आय के स्रोत अधिक लोचदार हैं। राज्य सरकारों को कुछ विशेष परिस्थितियों के लिये तो अनुदानों का प्रबन्ध करना ही होगा जैसे राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर (National Minimum Standard) प्राप्त करने के लिये, जन उपयोगी सेवाओं के लिये, कार्य-क्षेत्र विस्तृत करने के लिये तथा विशेष परिस्थितियों और सकट के लिये।

अनुदानो द्वारा राज्य सरकार स्थानीय सरकारो को केवल आर्थिक सहायता ही प्रदान नही करती वरन् उसके शासन प्रबन्ध को कुशल बनाने के लिये उचित सलाह भी देती है और स्थानीय सरकारो की सामान्य नीति तथा व्यय को इच्छानुसार प्रभावित भी कर सकती है। इनकी सहायता से विशेष प्रकार की सेवाओं का विकास किया जा सकता है तथा उनके व्यय में मितव्ययिता लाई जा सकती है। परन्तु हमारे देश मे एक बडी कठिनाई यह है कि कोई भी सस्था अपने ऊपर आतक और नियन्त्रण नही चाहती। हर व्यक्ति तथा सस्था अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र रहना चाहते हैं। इसलिये लोगों का विचार है कि अनुदानों द्वारा स्थानीय शासन प्रबन्ध पर राज्य सरकारो का आतक बहुत अधिक हो जायेगा और उनकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जायेगी। परन्तु यह विचार एक सकीर्ण दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है। सिडनी वैब ने कहा है कि स्थानीय सस्थाओं पर किसी प्रकार का भी केन्द्रीय शासन सम्बधी नियन्त्रण न होना उचित नही है, तथा उनको बिना किसी निरीक्षण तथा हिसाबों की जॉच के स्वतन्त्र छोड देना, उनको केन्द्रीय अनुभवों तथा विशेष ज्ञान न प्राप्त हो पाने तथा सामान्य हित के लिये परम आवश्यक न्यूनतम स्तर न स्थापित हो पाने और स्थानीय करो की घोर असमानताओं का उपस्थित रहने देना उचित नही है। राज्य सरकारो के विस्तृत ज्ञान और अनुभव का लाभ स्थानीय सरकारें केवल अनुदान प्रणाली द्वारा ही उठा सकती हैं। स्थानीय सरकारें अपने सकीर्ण अनुभव तथा ज्ञान से केवल ऐसी ही नीति अपना सकती हैं जो स्थानीय जनता के लिये तो लाभदायक हो सकती है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सारे राष्ट्र के लिये हितकर हो और फिर क्योकि अनुदानो की राशि का सम्बन्ध सदैव ही स्थानीय सरकारो की सेवाओं से रहता है इसलिये अनुदान प्रणाली से स्थानीय शासन प्रबन्ध मे मितव्ययिता तथा कुशलता का सचार होगा।

भारत की वर्तमान परिस्थितियों मे यह सम्भव नही है कि सारे ही स्थानो पर स्थानीय सेवाओं मे एक सामान्य राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर स्थापित हो सके। पिछडे हुए प्रदेशों के पास साधन इतने कम हैं कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य और सवादवाहन के

विकास पर उचित व्यय नहीं कर सकते, और यदि वे अपना विकास करने का प्रयत्न करें भी तो व्यक्तियों पर कर भार बहुत अधिक हो जायेगा, इसलिये यह देखने के लिये कि निर्धन क्षेत्र, स्थानीय सेवाओं को, प्रदान करने के लिये कुशल बन सके और न्यूनतम स्तर प्राप्त कर सके, बिना व्यक्तियों पर कर भार बढ़ाये हुए तो अनुदान प्रणाली ही परम आवश्यक है। अन्त में वर्तमान समय में विभिन्न स्थानों में इतनी घनिष्ठता उत्पन्न हो गई है कि यह उचित न होगा कि एक क्षेत्र के नागरिकों को शहरी सुविधाएँ प्राप्त हों और दूसरे क्षेत्र में नागरिक इन सुविधाओं से वंचित रहें। ऐसी स्थिति को केवल अनुदानों द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

अनुदानों की वर्तमान प्रणाली में अनेकों प्रकार के दोष दृष्टिगोचर होते हैं। यह आवश्यकताओं के अनुकूल भी नहीं है और सारे ही स्थानों पर यह नीति समान भी नहीं है। कुछ नगरपालिकाओं तथा संस्थाओं को खूब सहायता मिल जाती है और कुछ को बिलकुल भी नहीं मिलती। परिणामस्वरूप विभिन्न संस्थाओं में द्वेष भावना उत्पन्न हो जाती है और चारों ओर से आलोचनाएँ होने लगती हैं। इसके अतिरिक्त यह अनुदान विभिन्न सेवाओं की लागतों तथा महत्व के अनुसार भी नहीं दिये जाते। इनका सम्बन्ध धन, जनसंख्या और क्षेत्र विशेष के साधनों से बिलकुल भी नहीं होता। अनुदानों का मुख्य उद्देश्य आर्थिक सहायता प्रदान करना होता है तथा स्थानीय शासन प्रबन्ध और व्यय पर नियन्त्रण रखना होता है। भारत में अनेकों प्रकार के अनुदान प्रचलित हैं जैसे अनियमित अनुदान, परिमाणिक (Specific) अनुदान, आवर्त्ती तथा अनावर्त्ती (Recurring and Non Recurring) अनुदान इत्यादि। इन अनुदानों का अधिकांश भाग शिक्षा स्वास्थ्य तथा सवादवाहन को ही प्राप्त होता रहा है परन्तु विगत वर्षों में इन सेवाओं का प्रान्तीयकरण होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई है और जिन जिन स्थानों पर इन सेवाओं का प्रान्तीयकरण होता जा रहा है वहाँ पर स्थानीय संस्थाओं की आवश्यकताएँ कम होती जा रही हैं।

उत्तर प्रदेश की स्थानीय संस्थाओं से सम्बन्धित अनुदान समिति ने अनुदानों को नियमित करने के अनेकों सुझाव दिये थे। इस समिति के अनुसार अनुदान देने से पहले दो आधारों पर स्थानीय संस्थाओं की आवश्यकताओं की खूब जाँच पड़ताल करनी चाहिये। यह जाँच पड़ताल स्थानीय संस्थाओं के साधनों और उनकी आवश्यकताओं पर की जानी चाहिये। प्रत्येक स्थानीय संस्था की आवश्यकताओं और साधनों की एक सूची तैयार कर ली जाय जिसके आधार पर राज्य सरकार उन संस्थाओं को सहायता दे। अनुदान प्रणाली में आवश्यक लोच भी होनी चाहिये जिससे कि परिस्थितियों के बदलने के साथ साथ अनुदानों की राशि में भी परिवर्तन किये जा सकें। इन परिवर्तनों के लिये समय समय पर अनुदानों तथा स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक स्थिति और उनके कार्यक्रमों के उद्देश्यों तथा लाभों का समुचित अध्ययन करना होगा। यदि स्थानीय संस्थायें उत्पादक कार्यों के लिये धन प्राप्त करना चाहती हैं तो उन्हें अनुदानों की अपेक्षा ऋण देने चाहियें, क्योंकि उनको कुछ समय बाद योजनाओं के पूरा होने से आय प्राप्त होने लगेगी।

जहाँ तक स्थानीय सरकारों द्वारा ऋण प्राप्त करने का सम्बन्ध है राज्य सरकारें स्थानीय सरकारों को जन उपयोगी सेवाओं, वाणिज्यिक सेवाओं इत्यादि के लिये ऋण देती हैं। दूसरे शब्दों में राज्य सरकारें स्थानीय सरकारों को केवल उत्पादक कार्यों के लिये ही ऋण प्रदान करती है। विदेशों में स्थानीय संस्थाओं को अनुत्पादक कार्यों के लिये भी ऋण दिये जाते हैं। हमारे देश में स्थानीय सरकारों द्वारा खुले बाजारों में ऋण प्राप्त करने की प्रथा कम ही है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्थानीय संस्थाओं की ऋण सम्बन्धी अधिकांश आवश्यकताओं को राज्य सरकारें स्वयं अपने कोष में ही पूरा कर देती हैं और खुले बाजार से ऋण प्राप्त करने की आज्ञा नहीं देती हैं। स्थानीय सरकारों को राज्य सरकारों द्वारा ऋण प्राप्त होने से दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्रथम, इनको आवश्यकताओं के समय ऋण नहीं मिलता और ऋण प्राप्त करने में बहुत समय लगता है और दूसरे इन ऋणों के व्याज की दर बाजारों की दर से बहुत ऊँची होती है और इनके भुगतान की शर्तें राज्य सरकार द्वारा निर्धारित की जाती हैं जो पूर्णतया अनुचित हैं। वास्तव में स्थानीय सरकारों के ऋण प्राप्त करने के अधिकारों पर किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। इस सम्बन्ध में उनको पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यदि वे चाहें तो राज्य सरकारों से ऋण लें और यदि उन्हें सुविधाजनक हो तो खुले बाजार से ऋण प्राप्त करें।

पिछले पृष्ठों में हमने स्थानीय संस्थाओं की वित्त व्यवस्था से सम्बन्धित समस्याओं का जो विवरण दिया है उससे स्पष्ट है कि इन संस्थाओं का जितना महत्व है उतना इनके विकास की ओर ध्यान नहीं दिया गया। इन संस्थाओं को इतनी सामर्थ्य प्रदान करने के लिये कि यह अपने कार्यों को कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकें और देश में नागरिकता के स्तर को ऊँचा कर सकें यह आवश्यक है कि उनको पर्याप्त साधन उपलब्ध किये जायँ और कर जाँच आयोग और स्थानीय वित्त समिति की सिफारिशों को कार्य रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया जाय।

भाग ६

राजकीय ऋण

अध्याय १४ — राजकीय ऋण के सिद्धान्त (Theory of Public Debt)

राजकीय ऋण, क्या है ?

राजकीय ऋण, राज्य द्वारा प्राप्त किये गये ऋण होते हैं। ये राज्य की आय का एक स्रोत है और विगत वर्षों में ये राजकीय वित्त व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। व्यक्ति की भांति राज्य भी संकट या अन्य आवश्यकता के समय ऋण प्राप्त करता है। पिछले अध्यायों में हमने राज्य की आय के विभिन्न स्रोतों का अध्ययन किया था। ऋण, राज्य की आय का अन्तिम स्रोत है। इस अध्याय में हम राजकीय संस्थाओं द्वारा ऋण प्राप्त करने से सम्बन्धित सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे। हमने ऋण को राजकीय आय का एक अंग बताया है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि राज्य को इस स्रोत से आय प्राप्त करना अनिवार्य होता है। वास्तव में ऐसा समझना केवल एक भ्रम होगा। इस सम्बन्ध में राज्य और व्यक्ति में कोई मौलिक भेद नहीं होता। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में अनेकों ऐसे अवसर आते हैं जब उसे अपनी आय से अधिक खर्च करना पड़ता है और कभी कभी खर्चे की रकम इतनी बड़ी होती है कि अपनी बचतों के अतिरिक्त भी उसे अन्य व्यक्तियों से धन प्राप्त करना पड़ता है, उसी प्रकार राज्य को भी अपनी आय से अधिक खर्च करना पड़ता है और ऋण प्राप्त करने पड़ते हैं। कभी कभी तो ऋण लेना तो इतना आवश्यक होता है कि यदि ऐसा न किया जाय तो देश का अस्तित्व जोखिम में पड़ सकता है, जैसे युद्धकाल में या आर्थिक नियोजन काल में। संघीय शासन प्रणाली में प्रत्येक सरकार के ऋणों की प्रकृति, स्रोत तथा उद्देश्य अलग अलग होते हैं। उदाहरणार्थ, संघ सरकार युद्ध के लिये, ऋण प्राप्त कर सकती है, राज्य सरकार कृषि के विकास के लिये तथा स्थानीय सरकारें पानी तथा बिजली

आदि के लिये ऋण प्राप्त कर सकती हैं। सब सरकार विदेशी तथा आन्तरिक दोनो ही प्रकार के ऋण प्राप्त कर सकती है, किन्तु राज्य तथा स्थानीय सरकारे केवल आन्तरिक ऋण ही प्राप्त कर सकती हैं। यद्यपि सभी ऋणों से तुरन्त प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त न होता हो, परन्तु ऋण प्राप्त करने का प्राथमिक उद्देश्य, देश की भलाई करना ही होता है।

सरकार, जो राशि ऋण द्वारा किसी वर्ष मे प्राप्त करती है, वह उसकी उस वर्ष की आय का एक भाग होता है। यह आय स्थायी नही होती, क्योकि इसको कुछ समय बाद लौटाना पडता है। इसलिये केवल अल्पकालीन दृष्टि से ही हम इसे सरकार की आय कह सकते है। दीर्घकालीन दृष्टि से यह आय नही कही जा सकती और इस कारण राजकीय आय म केवल उसी आय को सम्मिलित करना उचित होगा, जो सदैव ही सरकार के उपयोग मे रहे और जिसे लौटाना न पडे। यद्यपि कुछ ऋण ऐसे होते है जिन्हे लौटाना नही पडता, केवल उन पर ब्याज ही देना होता है किन्तु ऐसे ऋणो को भी आय मे सम्मिलित नही किया जा सकता, क्योंकि इनको भी ब्याज के रूप म लौटाना ही होना है।

राजकीय तथा व्यक्तिगत ऋणो में भेद—इसमे कोई सन्देह नही कि राज्य भी व्यक्तियो की भाति ऋण प्राप्त करता है, परन्तु इन दोनो प्रकार के ऋणो की व्यवस्था एव उपयोग के क्षेत्र म मौलिक भेद होते हैं। हम यहाँ पर इन्ही भेदो की विवेचना करेगे —

(१) व्यक्तिगत ऋणो का व्यय व्यक्ति केवल अपने व्यक्तिगत लाभ के हेतु करता है। इसका कोई लाभ ऋणदाता को प्राप्त नही होता, वरन् उसे अपनी वर्तमान आवश्यकताओ की सतुष्टि से वचित और रहना पडता है। दूसरी ओर राज्य जो ऋण अपने नागरिको से प्राप्त करता है, उसे उन्ही के लाभार्थ व्यय करता है। राज्य व्यक्तियो का ही समूह होता है और इसलिये जो कुछ भी राज्य व्यय करता है उसका अप्रत्यक्ष लाभ व्यक्तियो को ही प्राप्त होता है। कभी कभी तो व्यक्तियो को प्रत्यक्ष लाभ भी प्राप्त है और इन व्यक्तियो मे वे लोग भी होते है, जो राज्य के ऋणदाता हैं।

(२) व्यक्ति अपने ऋण को पूरा चुकाता है, अर्थात् व्यक्तिगत ऋण म व्यक्तिगत ऋण दाता को ऋण की पूरी राशि वापस मिलती है, परन्तु राजकीय ऋण म ऋणदाता व्यक्तियो को प्रत्यक्ष रूप से तो ऋण की पूरी राशि का भुगतान मिल जाता है किन्तु अप्रत्यक्ष रूप मे उसमे मे कुछ राशि कम हो जाती है। बात यह है कि व्यक्ति अपने ऋणो का भुगतान अपनी आय म से ही करता है और इसलिये ऋण का कुल भार ऋण लेने वाले व्यक्ति को ही सहन करना पडता है। दूसरी ओर राज्य ऋण का भुगतान देश के नागरिको पर कर लगाकर जो आय प्राप्त होती है, उसी के द्वारा करता है। नागरिको पर कर-भार बढ़ जाता है और उन लोगो को भी सहन करना पडता है जिन्होंने राज्य को ऋण दिये है। अत राजकीय ऋण

व्यवस्था में ऋणदाता को कर-भार सहन करने के कारण, अपने ऋण का पूरा भुगतान नहीं मिलता।

(३) व्यक्तियों की आयु सीमित तथा अनिश्चित होने के कारण, तथा ऋण भुगतान करने का दायित्व केवल ऋणी पर ही होने के कारण, व्यक्तियों को दीर्घकालीन ऋण प्राप्त नहीं होते। दूसरी ओर राज्य व्यक्तियों की भांति अस्थायी नहीं होता। व्यक्ति आते रहते हैं और जाते रहते हैं परन्तु राज्य सदैव ही अपने स्थान पर टिका रहता है, केवल सरकार का रूप तथा सरकार चलाने वाले व्यक्ति ही बदल सकते हैं। किन्तु जो भी नये व्यक्ति शासन की बागडोर सम्भालते हैं वह अपने पूर्वजों के सब दायित्वों को स्वीकार कर लेते हैं। इसीलिये राज्य को दीर्घकालीन ऋण प्राप्त हो जाते हैं।

(४) राज्य के पास सत्ता होती है। वह नागरिकों को ऋण देने के लिये तथा कम ब्याज लेने के लिये बाध्य भी कर सकती है। इसके अतिरिक्त स्वयं नागरिक भी देश प्रेम के जोश में राज्य को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकते हैं। जो ऋण जबर्दस्ती लिये जाते हैं उनमें राज्य की साख खतरे में पड़ जाती है। व्यक्तिगत ऋणों में इस प्रकार की जबर्दस्ती से काम नहीं लिया जा सकता। यह ध्यान रहे कि प्रत्येक सरकार ही नागरिकों से जबरदस्ती ऋण प्राप्त नहीं कर सकती केवल वह ही सरकार जो सार्वभौमिक (Sovereign) हो।

(५) राज्य अपनी सत्ता के कारण ऋणों के भुगतान करने में भी इन्कार कर सकता है। यद्यपि यह कम ही होता है और ऐसा करने के भीषण परिणाम हो सकते हैं। यदि आन्तरिक ऋणों के सम्बन्ध में राज्य ऐसा करता है तो देश में राज्य की साख को भारी धक्का पहुँचता है और व्यक्तियों का विश्वास खण्डित हो जाता है और यदि विदेशी ऋणों के सम्बन्ध में इस प्रकार की नीति अपनाई जाती है तो युद्ध तक नौबत पहुँच सकती है या फिर भविष्य में विदेशी ऋणों को प्राप्त करने में बहुत कठिनाई हो सकती है। व्यक्तिगत ऋण व्यवस्था में व्यक्ति एक तो ऋण का भुगतान करने से इन्कार नहीं कर सकता, क्योंकि ऋणदाता को कानून की सहायता प्राप्त होती है और दूसरे यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता भी है तो उसकी साख खत्म हो जाती है और फिर उसे कोई भी ऋण देने को तैयार नहीं होता।

(६) व्यक्ति की अपेक्षा राज्य की साख बहुत अधिक होती है। राज्य को कम सूद की दर पर और अधिक सरलता से ऋण प्रदान कर दिये जाते हैं, जबकि व्यक्तियों को प्राप्त नहीं होते। सरकारी प्रतिभूतियों को किसी समय भी बेचा जा सकता है और ऋण वापिस लिया जा सकता है। परन्तु व्यक्तिगत ऋण में यह सुविधा नहीं होती। इसी कारण व्यक्ति अधिकतर अपने धन को सरकारी विपत्रों में ही लगाना पसंद करते हैं।

(७) राजकीय ऋण देश के भीतर से भी प्राप्त किये जा सकते हैं और विदेशों से भी, जबकि व्यक्तिगत ऋण केवल देश के भीतर ही प्राप्त किये जा सकते हैं, क्योंकि राज्य की साख विश्व व्यापी होती है।

(८) व्यक्तिगत ऋण केवल उसी समय प्राप्त होते हैं जब व्यक्ति कोई अच्छी धरोहर या जमानत देने को तैयार होता है परन्तु राज्य के लिए ऐसी कोई भी कठिनाई नहीं होती। राज्य की आर्थिक स्थिति तथा कार्य सचालन के बारे में सभी को ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत ऋणों की राशि राज्य की अपेक्षा बहुत कम होती है।

(९) राज्य अपने आप भी ऋण के स्रोत उत्पन्न कर सकता है, अर्थात् नोट छाप कर, परन्तु व्यक्ति के पास ऐसी कोई भी सुविधा नहीं होती।

(१०) राज्य परिस्थितियों वश ऋण प्राप्त करता है। उसके पास ऋण लेने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं होता। दूसरी ओर व्यक्ति ऋण न लेकर केवल अपने खर्चे को कम करके ही परिस्थितियों का मुकाबला कर सकता है। व्यक्ति का व्यय अधिक लोचपूर्ण होता है, किन्तु राज्य का व्यय इतना लोचपूर्ण नहीं होता। राज्य केवल प्रशासन सम्बन्धी व्यय को ही कम कर सकता है और अन्य व्ययों को कम करना न तो उचित ही होता है और न सम्भव ही। अत राज्य को ऋण प्राप्त करके ही अपना काम चलाना पड़ता है।

(११) व्यक्तिगत ऋण अनुत्पादक भी हो सकते हैं किन्तु राजकीय ऋण साधारणतया उत्पादक ही होते हैं।

(१२) व्यक्तिगत ऋण केवल उसी समय लिए जाते हैं, जब व्यक्ति को धन की आवश्यकता होती है, परन्तु राजकीय ऋण बिना धन की आवश्यकता के भी प्राप्त किए जा सकते हैं। राज्य ऋण लेने की अपनी नीति भी बना सकता है। मुद्रा स्फीति काल में, राज्य व्यक्तियों से ऋण प्राप्त करके उनकी अतिरिक्त क्रयशक्ति को कम कर सकता है और सामान्य मूल्य-स्तर को नीचे गिराने में सफल हो सकता है। इस प्रकार राज्य ऋणों द्वारा देश के उत्पादन तथा वितरण पर प्रभाव डाल सकता है, परन्तु व्यक्ति नहीं।

राजकीय ऋणों की आवश्यकता एवं महत्व—आधुनिक युग, साख का युग है। व्यक्तिगत व्यापार, उद्योग एवं उपभोग बिना उधार लिए सफल नहीं हो पाते और यदि व्यक्ति अपने उत्पादन तथा उपभोग सम्बन्धी कार्यों को बिना ऋण प्राप्त किए कर भी सकता है तो भी वह ऐसा नहीं करता क्योंकि उसके लिए सूद देकर दूसरों के धन से काम करना अधिक लाभकारक होता है। राज्य के विषय में भी यह बात सही उतरती है। हम उन उद्देश्यों का वर्णन बाद में करेंगे, जिनसे प्रेरित होकर राज्य ऋण प्राप्त करता है, किन्तु यहाँ पर केवल इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि राज्य मुख्यतया दो कारणों से ऋण प्राप्त करता है। प्रथम, जबकि उसे धन की बहुत आवश्यकता होती है जो उसे अन्य स्रोतों से तुरन्त मिल नहीं पाता है तो उसे ऋणों का सहारा लेना पड़ता है। हम सभी जानते हैं कि कर की आय कुछ समय बाद प्राप्त होती है और ऋण से आवश्यक धन आवश्यकता के समय तुरन्त ही प्राप्त हो जाता है, इस कारण राज्य ऋणों द्वारा आय प्राप्त करता है। दूसरे, कुछ आर्थिक कारण ऐसे होते हैं जिनके कारण आवश्यकता न होने हुए भी राज्य कर लगाने की

अपेक्षा ऋण लेना अधिक लाभकारक समझता है। इन्ही दोनों कारणों से आजकल आधुनिक सरकारों के लिए ऋण प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। विगत वर्षों में राज्यों के कार्यों म इतनी अधिक वृद्धि हो गई है कि किसी भी समय उन्हें धन की आवश्यकता अनुभव हो सकती है। कभी भी सङ्कट उत्पन्न हो सकते हैं और उनका सामना करने के लिए राज्य की आय के साधारण स्रोत काफी नहीं होते। आजकल राज्य उत्पादक और व्यापारी भी है और शासक भी। दोनों ही क्षेत्रों में धन की आवश्यकता दिन प्रति दिन बढती जा रही है। राज्य की अपनी बचतें तो होती नहीं जिनमें से वह दिन प्रति दिन के खर्चों को पूरा कर सके, क्योंकि कार्यों की वृद्धि के कारण न तो उसके लिए सम्भव ही होता है और न बचत करना राजस्व के सिद्धान्तों की दृष्टि से उचित ही समझा जाता है, इसलिए राज्य को अधिकाधिक ऋणों की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसीलिए राजकीय ऋणों की सख्या तथा आकार पिछले पचास वर्षों में बहुत विस्तृत हो गया है। अणु शक्ति के प्रयोग से तो राजकीय ऋणों के बढने की ही सम्भावना है, कम होने की कोई आशा नहीं की जा सकती। आधुनिक राज्यों का दृष्टिकोण समाजवादी होता जा रहा है, इसलिए भी राजकीय ऋणों की महत्ता बहुत हो गई है। प्राचीन काल में तो राजा अपने खजाने में धन जमा करके रखते थे, उन की आय की अपेक्षा उनका व्यय बहुत कम होता था। परन्तु आज कल ऐसा नहीं होता। ऐसा करना आधुनिक बजट सिद्धान्तों के विपरीत होता है। इसके अतिरिक्त राज्य केवल धन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही तो उधार नहीं लेता, वरन् आर्थिक कारणों से भी उधार लेता है। व्यक्तियों को राज्य खर्च न करने देने के लिए, उनकी जेबों से ऋण द्वारा धन निकाल लेता है। ऐसा करना देश के हित म होता है। इस नीति से बढ़ता हुआ मूल्य स्तर नीचे लाया जा सकता है। इस प्रकार राजकीय ऋणों का उद्देश्य केवल धन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करना ही नहीं होता है।

राजकीय ऋणों का उद्गम एव इतिहास—राजकीय ऋणों का इतिहास १७वीं शताब्दी के अन्त से आरम्भ होता है। उससे पहले इस प्रकार के ऋणों का रिवाज न था। राजाओं को ऋण लेने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती थी। वे अधिकतर धन जमा करके रखते और उसका प्रयोग सकट काल में किया करते थे या पड़ौस के राज्यों को लूट कर या परास्त करके हर्जाना लिया करते थे या धनी व्यक्तियों पर विशेष कर लगाकर धन इकट्ठा कर लिया करते थे। बैस्टेबिल ने अपनी पुस्तक में बड़ा ही सुन्दर एव रोचक वर्णन दिया है। वह कहता है कि, फिर राजाओं ने बैंकों से ऋण लेना आरम्भ कर दिया, परन्तु ऋण न लौटाये जाने के कारण, अनेकों बैंकें तथा कम्पनियाँ दिवालिया हो गईं। उसने बताया है कि सन् १३४५ म फ्लोरेन्स में बार्डी नामक इटली की एक बड़ी कम्पनी, एडवर्ड तृतीय के शासन काल में इसी कारण फेल हुई कि राजा को ६०० हजार फ्लोरीन (सोना का सिक्का जो इटली में उस समय प्रचलित था) देने थे। १६वीं शताब्दी में एडवर्ड चतुर्थ तथा ट्यूडर राजाओं ने जबर्दस्ती ऋण प्राप्त किये। प्रारम्भिक काल में जेनिवा तथा

वेनिस में राजकीय ऋण एकत्रित करने के लिए विशेष बैंक स्थापित किए गए थे। यह भी कहा जाता है कि डच लोगो ने विदेशो को ऋण देना तथा प्राप्त करना आरम्भ किया था। कहा जाता है कि हालैंड पहला देश है जिसने नियमित रूप से राजकीय ऋण व्यवस्था स्थापित की थी। सन् १६६४ में बैंक ऑव इगलैंड की स्थापना केवल इसी उद्देश्य से की गई थी। इस प्रकार पिछले सौ वर्षों में राजकीय ऋणों का जितना विकास हुआ है, उससे यही सिद्ध होता है कि आधुनिक ढग पर राजकीय ऋणों का इतिहास अधिक प्राचीन नही है और आज कल कोई भी राज्य ऐसा नही है जिस पर कुछ न कुछ ऋण न हो।

ऋण अथवा कर—कुछ लेखको ने राजकीय ऋणों की बहुत निन्दा की है और करो द्वारा आय प्राप्त करने को अधिक अच्छा बताया है। यह वाद विवाद कि कर या ऋण इन दोनो म से आय प्राप्त करने का कौन सा स्रोत अधिक अच्छा है, बहुत पुराना किन्तु महत्वपूर्ण है। इससे पहले कि हम इस वादविवाद पर दृष्टिपात करें यह आवश्यक है कि ऋण और करो के मौलिक भेद को स्पष्ट कर दे —यदि राजकीय ऋण देश के भीतर ही नागरिकों से प्राप्त किया गया है तो ऋणो द्वारा प्राप्त राशि तथा करो द्वारा प्राप्त आय, दोनो ही देश म रहते है और नागरिकों के प्रयोग मे आते हैं। करो द्वारा प्राप्त आय को लौटाने का प्रश्न ही नही उठता, परन्तु ऋणो द्वारा प्राप्त राशि को लौटाना अनिवार्य होता है। किन्तु देश मे ऋणो को लौटाने के बाद मुद्रा की मात्रा पूर्वत रहती है, क्योंकि जो कुछ वापिस किया गया है यह उन्ही से लिया गया हुआ होता है। यह ध्यान रहे कि कर द्वारा व्यक्तियो से जो धन लिया जाता है वह उसी प्रकार प्रयोग नही किया जाता जिस प्रकार व्यक्तिगत कर दाता करते है। ठीक यही बात ऋणो के सम्बन्ध म भी सच है। परन्तु यह भी सच है कि करो और ऋणो द्वारा प्राप्त आय भी एक से ही उपयोगो में नहीं लाई जाती, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार व्यक्ति इन दोनो धन राशियों को समान उपयोगों मे नही लाते। इसी प्रकार करो का भुगतान अधिकतर वर्तमान आय म से किया जाता है और ऋणो को व्यक्ति सदैव ही अपनी पूजी म से खरीदता है। इसके अतिरिक्त करो के रूप म भुगतान की गई राशि सदा के लिए व्यक्तियो के पास से चली जाती है, किन्तु ऋण म दी गई राशि ऋण दाता को लौटा दी जाती है। यह सच है कि सरकार ऋणो का भुगतान करने के लिए कर लगाती है, इस लिए ऋणदाताओ को अपने मूलधन की पूरी राशि नही मिल पाती, क्योंकि इस सम्बन्ध म लगे हुए करो का भुगतान उन्हे भी तो करना पडता है।

राजकीय ऋणो तथा करो के भेद को स्पष्ट कर लेने के बाद अब हम इस स्थिति म है कि इस वाद विवाद पर दृष्टिपात कर सके कि राजकीय आय के स्रोतो म कर अच्छा है या ऋण। हम जानते है कि राज्य अपने दिन प्रति दिन के कार्यो के लिए ऋण नही लेता। यदि राज्य ऐसा करने लगे तो न तो वह ऋण का ही भुगतान कर पावेगा और न उन के ब्याज को ही दे पाएगा और दोनो की राशियाँ एकत्रित होती जायेंगी, जिसका भुगतान करने के लिये अन्त म बहुत

ऊंची दर से कर लगाने पड़ेंगे। यदि बार-बार उत्पन्न होने वाले व्ययों के लिए ऋण प्राप्त किए जाते हैं तो ऐसे ऋणों को बार-बार लेना पड़ेगा और हर बार कर लगाने पड़ेंगे, क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई दूसरी विधि भी तो नहीं है। परन्तु ऐसा करने से तो राजस्व का सम्पूर्ण ढाँचा ही छिन्न भिन्न हो जायगा। इसलिए आवश्यक यही है कि सब बार-बार उत्पन्न होने वाले व्ययों को करों द्वारा प्राप्त आय में से पूरा करना चाहिए। यदि इस प्रकार का व्यय किसी विशेष संकट के समय करना पड़ता है तो ऋणों द्वारा पूरा किया जा सकता है। साधारणतया इसको बार-बार उत्पन्न होने वाला व्यय पुकारना नहीं चाहिए क्योंकि संकटकालीन परिस्थितियाँ बार-बार उत्पन्न नहीं होतीं। जहाँ तक उन व्ययों का सम्बन्ध है, जो पाँच दस वर्षों में एक बार उत्पन्न होते हैं या जो बार-बार उत्पन्न नहीं होते, उनको ऋणों द्वारा पूरा करने में कोई बुराई नहीं होती क्योंकि ऐसे ऋणों के भुगतान की व्यवस्था आने वाले वर्षों में करों द्वारा सरलतापूर्वक की जा सकती है। परन्तु क्या ऐसी व्यवस्था करना उचित है? इस सम्बन्ध में प्रो० पीगू के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बार-बार न उत्पन्न होने वाला व्यय एक प्रकार का पूँजीगत व्यय होता है, इस दृष्टि से कि इस व्यय का भार कई वर्षों में विभाजित हो जाता है अर्थात्, इस व्यय से कई वर्षों तक लोगों को लाभ प्राप्त होता रहता है। यह ध्यान रहे कि यह पूँजीगत व्यय इस अर्थ में नहीं होता कि इससे सदैव ही पूँजी वस्तुएं जैसे नहर, कुएँ, फैक्ट्री आदि का निर्माण होता है। यह इस अर्थ में पूँजीगत व्यय होता है कि एक बार इसको करने के बाद सरकार कुछ वर्षों तक निश्चिन्त रहती है, और एक ही व्यय को प्रत्येक वर्ष नहीं करना होता। आने वाले वर्षों के लोग इसी व्यय के लाभ प्राप्त करते रहते हैं। जब आने वाले वर्षों के लोगों को भी इस व्यय से लाभ पहुँचता है तो यह तो न्यायोचित नहीं होगा कि इस व्यय का कुल भार वर्तमान व्यक्तियों को ही सहन करना पड़े। अतः यह आवश्यक है कि भविष्य में आने वाले लोग भी इस खर्चे का कुछ भार सहन करें। करारोपण द्वारा खर्चे को पूरा करने का अभिप्राय यह है कि सारा भार वर्तमान व्यक्तियों पर ही पड़ेगा। इसलिए ऐसे व्यय को ऋणों द्वारा पूरा करना चाहिए। जब नागरिक राज्य को ऋण प्रदान करते हैं तो वह अपनी बचतों में से देते हैं, अर्थात् राज्य द्वारा ऋण प्राप्त करने से व्यक्तियों की बचतें कम हो जाती हैं और इन बचतों से भविष्य में प्राप्त होने वाली आय भी कम हो जायगी जिसका उपयोग पूर्ण रूप से भविष्य में आने वाली सन्तान ही करती। इस प्रकार आय कम होने से, इन ऋणों का भार भविष्य के लोगों पर भी पड़ेगा। संक्षेप में ऐसे व्यय का लाभ वर्तमान और भविष्य दोनों ही के लोगों को पहुँचता है। इसीलिए इस व्यय की पूर्ति ऋण द्वारा होनी चाहिए, ताकि व्यय का भार भी वर्तमान और भविष्य दोनों ही के लोगों द्वारा सहन किया जा सके। अतः जो व्यय उत्पादक है, अर्थात्, जिसका लाभ कई वर्षों तक लोगों को प्राप्त होता रहता है, उनकी पूर्ति ऋणों द्वारा होनी चाहिए और जिस व्यय का लाभ केवल अल्पकाल तक ही सीमित रहता है उसकी पूर्ति करारोपण द्वारा होनी चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक सरकारों को अपने विभिन्न प्रकार के व्ययों को (जो असीमित हैं) पूरा करने के लिये ऋण प्राप्त करने ही पड़ते हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि राज्य द्वारा लिये गये सारे ऋण ही उत्पादक नहीं होते, या सारे ऋण ही उत्पादक कार्यों में नहीं लगाये जाते, इस लिये यह सोचना कि राज्य ऋणों को अनुत्पादक कार्यों पर व्यय नहीं करता एक भ्रम होगा। वर्तमान शताब्दी में राजकीय ऋणों की प्रथा बहुत अधिक प्रचलित हो गई है और इसीलिये इसे आधुनिक क्रिया (modern phenomenon) कहते हैं, क्योंकि आधुनिक समय में राज्यों को इतने कार्य करने पड़ते हैं कि बिना ऋण लिये उनका काम ही नहीं चल सकता। जैसे-जैसे राज्यों के कार्यों में वृद्धि होती चली गई है, वैसे ही वैसे राजकीय ऋणों का आकार एवं मात्रा भी बढ़ती गई है, यद्यपि इनका समय समय पर बहुत कड़ा विरोध होता रहा है। ग्लेडस्टन (Gladston) राज्य द्वारा प्राप्त किये गये ऋणों को इसलिये बुरा मानता था, क्योंकि उसका यह विश्वास था कि 'इनसे फिजूल खर्ची बढ़ती है, युद्ध को प्रोत्साहन मिलता है और उस राष्ट्र के लिये, जो इसका उपयोग करता है, हानिकारक आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। ह्यूम के अनुसार 'बिना वाद विवाद के ही यह नीति नाश करने वाली होती है'। प्राचीन आर्थिक लेखक एडम स्मिथ एवं रिकार्डो भी राज्य द्वारा ऋण प्राप्त करने की नीति को बुरा तथा देश के लिये हानिकारक मानते थे। एडम स्मिथ का तो विचार था कि इस प्रकार की नीति दीर्घकाल में देश को नष्ट कर देती है। दूसरी ओर कुछ लेखक ऐसे हुये हैं, जिन्होंने पूर्ण रूप से प्रति विरोधी विचार प्रकट किये हैं और राजकीय ऋणों का केवल पक्ष ही नहीं लिया है वरन् उन्हें आवश्यक भी बताया है। जर्मन अर्थशास्त्री डिजुल (Dietzel) के अनुसार असाधारण व्यय को ऋण द्वारा पूरा करना इसलिये उचित है 'कि राज्य, समाज की अभौतिक पूँजी का एक भाग है और उसकी सेवा के लिये जो कोई भी असाधारण, धन का व्यय किया जाता है, वह विनियोग की भाँति होता है।' परन्तु ये विचार प्रति विरोधी हैं और इनमें से किसी एक को भी सर्वव्यापी कहना उचित न होगा, क्योंकि कभी-कभी तो राज्य को अपने खर्चों को पूरा करने के लिये ऋण लेना आवश्यक होता है और कभी वह केवल ऋणों द्वारा प्राप्त आय से ही काम चलाती है। यही नहीं ऋण द्वारा खर्चों को पूरा करना लाभप्रद भी होता है। हम इस वाद विवाद पर पहले ही दृष्टिपात कर चुके हैं। राजकीय ऋणों के आधुनिक काल में अनेकों उद्देश्य होते हैं यह उद्देश्य निम्न प्रकार हैं -

ऋणों के उद्देश्य—

(१) राज्य ऋणों का सहारा उस समय लेता है, जब कि या तो व्यक्तियों में कर देने की सामर्थ्य नहीं होती या अधिक करारोपण से शान्ति भंग होने का भय होता है। राज्य, ये ऋण साधारण कार्यों को पूरा करने के लिये भी ले सकता है, परन्तु ऐसी नीति केवल अल्पकालीन ही होनी चाहिये क्योंकि अधिक समय तक इस नीति को अपनाने से देश की सत्ता को नष्ट करना होगा।

(२) राज्य प्राकृतिक संकटों को दूर करने के लिये भी ऋणों का सहारा लेता

है। ऐसी असाधारण परिस्थितियों में, जैसे, अकाल, बाढ़, महामारी, ज्वार भाटा आदि के समय जबकि देश की अर्थ व्यवस्था वैसे ही छिन्न भिन्न हो जाती है, कर लगा कर आय प्राप्त करना तो आन्तरिक विद्रोह को ही जन्म देना होगा। इसलिये राज्य ऐसी परिस्थितियों में ऋण द्वारा काम चलाता है।

(३) राज्य, उत्पादक कार्यों के लिये भी ऋण प्राप्त करता है जैसे, देश के प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग करने के लिये या देश के आर्थिक विकास के लिये। एक अविकसित या कम विकसित देश के लिये तो यह ऋण परमावश्यक होते हैं, क्योंकि इन देशों में कर लगाकर आय प्राप्त करने की अधिक गुन्जाइश नहीं होती।

(४) राज्य, राजकीय उपक्रमों के लिये तथा सार्वजनिक कार्यों (Public works) के लिये भी ऋण प्राप्त करता है। यह कार्य भी उत्पादक होते हैं और प्रत्येक वर्ष राज्य को इनसे आय प्राप्त होती है। इसी प्रकार राज्य जनोपयोगी सेवाएँ सम्पन्न करने के लिये भी ऋण लेता है, जैसे नहरें, रेलें सड़कें आदि बनवाना। इन सेवाओं के मूल्य से भी राज्य को आय प्राप्त होती है।

(५) आधुनिक काल में अधिकतर राज्यों की प्रवृत्ति समाजवादी होने की ओर है। वे व्यापार तथा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर रहे हैं और उनका संचालन स्वयं करते जा रहे हैं। आधुनिक उद्योगों में बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति केवल ऋणों द्वारा ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त न्याय की दृष्टि से भी यह उचित होता है। हम इसके सम्बन्ध में पहले कह चुके हैं।

(६) कभी कभी राज्य ऐसी सेवायें सम्पन्न करने के लिये ऋण प्राप्त करता है जिनसे प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होती, किन्तु दीर्घकाल में देश की उत्पादन शक्ति में बहुत वृद्धि होती है, जैसे, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से सम्बन्धित सेवायें। इन सेवाओं से ऋण की राशि तथा ब्याज की राशि का भुगतान करने के लिये तुरन्त ही धन प्राप्त नहीं होता वरन् सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति होती है।

(७) आधुनिक समय में युद्ध तथा रक्षा सम्बन्धी व्यवस्था बहुत अधिक खर्चीली तथा महगी होती है जिसको बिना ऋणों की सहायता के किया ही नहीं जा सकता। इसीलिए बड़े से बड़े देशों ने युद्धकाल में ऋण प्राप्त किए हैं।

(८) हम पहले भी कह चुके हैं, कि राजकीय ऋणों का उद्देश्य आजकल केवल धन प्राप्त करना ही नहीं होता, वरन् आर्थिक तथा व्यापारिक दशाओं में स्थायित्व उत्पन्न करना भी होता है। मुद्रा-प्रसार के काल में राज्य इन ऋणों द्वारा मूल्यों को स्थायी बनाते हैं।

(९) अन्त में राजकीय ऋणों से भाईचारे, पारस्परिक सहयोग तथा निर्भरता की भावना उत्पन्न होती है, इसलिए राजकीय ऋण व्यवस्था का उद्देश्य राजनैतिक क्षेत्र में मित्रता उत्पन्न करना भी होता है।

उपर्युक्त उद्देश्यों को देखने से पता चलता है कि राज्य मुख्यतया, चालू व्ययों के लिए, संकटकालीन परिस्थितियों के लिए, उत्पादक कार्यों के लिए, सामाजिक सेवाओं के लिए और आर्थिक स्थिरता के लिए ऋण प्राप्त करते हैं। साधारणतया,

जैसा हम कह चुके हैं, चालू व्ययो को करारोपण द्वारा पूरा करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से अपव्ययिता कम होती है और आने वाली सरकारों पर ऋण-भार भी नही पडता। इसके अतिरिक्त ऋण द्वारा राष्ट्रों के धन उत्पादक कार्यों से निकल कर अनुत्पादक कार्यों म लगने लगते है जिसका बुरा प्रभाव राष्ट्रीय उत्पत्ति पर पडता है। असाधारण परिस्थितियों की बात दूसरी है। इनमे चालू व्यय को ऋणो द्वारा पूरा किया जा सकता है, किन्तु इसे हम स्थायी नीति का रूप नही दे सकते। जहाँ तक सकटकालीन परिस्थितियों का प्रश्न है, उनके लिए ऋण प्राप्त किए जा सकते हैं। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि कर की उत्पादकता की भी एक सीमा होती है। कर की दर को हम अनिश्चित सीमा तक नही बढा सकते और किसी न किसी बिन्दु पर अवश्य ही रुकना पडेगा। इसके अतिरिक्त कर की दर अधिक बढाने से दीर्घकाल म करदाताओं की बचत करने तथा कार्य करने की शक्ति भी हतोत्साहित होने लगती है। परन्तु यह निश्चित करने से पहले, कि सकटकालीन परिस्थितियो का समाधान करने के लिए ऋण लेना करारोपण की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होगा या नही, यह भी देखना आवश्यक है कि सकटों की अवधि कितनी है। यदि यह परिस्थितियाँ अल्पकालीन हैं तो ऋण द्वारा पूरा करने म कोई हानि नही और यदि दीर्घकालीन हैं तब तो अवश्य ही कर प्रणाली म उचित परिवर्तन करने ही होंगे। युद्ध अर्थव्यवस्था की बात ही बिलकुल निराली है। युद्ध के लिए तो राष्ट्र के सारे साधनों को ही जुटाना पडता है। परन्तु युद्ध सचालन इतना अधिक खर्चीला होता है कि राष्ट्रीय स्रोतो से काम नही चलता और ऋण प्राप्त करने पडते हैं और साथ ही कर भी लगाने पडते हैं। अकेले ऋणो से भी काम नही चलता और अकेले करो से भी काम नही चल सकता। इनमें से किसी एक पर निर्भर रहना बुद्धिमानी नही होगी, इसलिए दोनो स्रोतो के अतिरिक्त, यदि और कोई अन्य उपाय किया जा सके तो उसको भी अपनाना चाहिये। कुछ सार्वजनिक कार्य तथा आर्थिक विकास की योजनाएँ इतनी विस्तृत और विशाल होती हैं और उनम इतने अधिक धन की आवश्यकता होती है कि इनको कार्यान्वित करने के लिय भी ऋणो का सहारा लेना आवश्यक होता है। ऐसे ऋणों से देश की जनता पर कोई अनुचित भार भी नही पडता, क्योंकि ये सारे व्यय उत्पादक होते हैं और इनकी आय म से ऋणो के मूलधन तथा ब्याज का भुगतान किया जा सकता है। ऐसे ऋणों के भुगतान के लिये करारोपण की आवश्यकता नही होती। ये ध्यान रहे कि किसी भी योजना को आरम्भ करने से पहले और ऋण प्राप्त करने से पहले यह निश्चित कर लेना चाहिए कि क्या उस योजना को पूरा करना देश के हित म होगा या नही, और दूसरे, यह सिद्ध करना होगा कि क्या उस उपक्रम को सरकार के अतिरिक्त और कोई अन्य सस्था सफलतापूर्वक चला नही सकती। यदि य दोनों बाते सरकार के पक्ष मे हो तो सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि उत्पादक कार्यो के लिय ऋणों द्वारा धन प्राप्त करना उपयुक्त होता है। सामाजिक सेवायें, एक प्रकार के चालू व्यय हैं और बार-बार उत्पन्न होते हैं, ऐसे व्ययों को करारोपण द्वारा ही पूरा करना चाहिये। आर्थिक

जीवन को स्थायी बनाने के लिए ऋणो का जो महत्व है, उसको हम पहले कई बार स्पष्ट कर चुके हैं। लरनर (Lerner) का तो यही कहना है कि राजकीय ऋणो का उद्देश्य धन प्राप्त करना नही होना चाहिए, वरन् आर्थिक जीवन को सतुलित बनाने के लिये राजकीय ऋणो को प्राप्त करना चाहिये। ऋणो द्वारा मुद्रा-स्फीति काल मे व्यक्तियो से अतिरिक्त धन प्राप्त करके मूल्य-स्तर को स्थायी बनाया जा सकता है। इसी प्रकार मुद्रा सकुचन काल म बैको से ऋण प्राप्त करके, सरकार नई-नई योजनाओ को चलाकर उस धन को व्यक्तियो म फैला सकती है, ताकि उनकी क्रय शक्ति बढे और गिरते हुए मूल्य बढने लगे। अत मुद्रा-स्फीति तथा मुद्रा सकुचन, दोनो स्थितियो म राजकीय ऋण लाभकारक सिद्ध हो सकते हैं।

राजकीय ऋणो का वर्गीकरण

राजकीय ऋणो के कई रूप हो सकते है। हम यहाँ पर इन विभिन्न रूपो का वर्णन करेगे। ये निम्न प्रकार है—

१. **आन्तरिक तथा बाह्य ऋण**—राज्य देश के भीतर भी ऋण प्राप्त करता है और विदेशो से भी। जो ऋण देश के भीतर प्राप्त किये जाते है, उन्हे आन्तरिक ऋण कहते है और जो विदेशो से प्राप्त किये जाते हैं उन्हे बाह्य ऋण कहते है। प्रथम प्रकार के ऋण राज्य को देश के नागरिको एव सस्थाओ आदि से ही प्राप्त हो जाते है। साधारणतया राज्य देश के भीतर ही ऋण प्राप्त करना चाहता है, परन्तु जब वह अपने प्रयत्नो म अधिक सफल नही हो पाता तो उसे विदेशो के आगे हाथ फैलाना पडता है। अत बाह्य ऋण वे होते है जो एक राज्य को अन्य राज्यो से या अन्य देशो के व्यक्तियो से प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दो म आन्तरिक ऋण उधार लेने वाले राज्य को अपनी ही मुद्रा म अपने देश की सीमाओ के अन्दर रहने वाले व्यक्तियो से प्राप्त होते है तथा बाह्य ऋण देश के बाहर रहने वाले व्यक्तियो से विदेशी मुद्रा मे प्राप्त होते है। आन्तरिक ऋण लेना उसी समय अच्छा होता है, जब देश में व्यक्तियो के पास अतिरिक्त धन उधार देने को होता है क्योकि व्यक्तिगत व्यवसायो और उपक्रमो में लगाने के लिये भी पूँजी उपलब्ध होती रहती है और सरकार को भी धन राशि प्राप्त हो जाती है। परन्तु यह निश्चित करना सदैव ही सम्भव नही होता कि देश में अतिरिक्त धन व्यक्तियो के पास है या नही। इसका केवल एक ही सूचक हो सकता है और वह है ब्याज की नीची दर। किन्तु यह भी कोई निश्चित आधार नही है, क्योकि ब्याज की नीची दर केवल धन की अधिकता के कारण ही तो नही होती। यह ध्यान रहे कि आन्तरिक ऋण इच्छित तथा अन-इच्छित, दोनो ही हो सकते है, जब कि विदेशी ऋण केवल इच्छित ही होते हैं। आन्तरिक ऋणो से देश के आर्थिक साधनो तथा राष्ट्रीय आय पर कोई भी प्रभाव नही पडता, क्योकि इन ऋणो से केवल धन का उलट-फेर ही होता है। बाह्य ऋणो में देश का धन देश में नहीं रहता। बाह्य ऋणो मे ऋणदाता देश की राष्ट्रीय आय ऋण देते समय कम हो जाती है, परन्तु ऋण चुकाते समय ऋणी देश से बाहर

धन जाता है और राष्ट्रीय आय कम हो जाती है। किन्तु सकट काल में बाह्य ऋणो से बडी सहायता प्राप्त होती है, विशेषकर जब देश के भीतर धन प्राप्त नही होता। अविकसित देश ऐसे ऋणो द्वारा अपने देश का आर्थिक विकास कर सकते है और विदेशी वस्तुओ को भी प्राप्त कर सकते है।

आन्तरिक ऋणो का भार—हम कह चुके है कि आन्तरिक ऋणो मे देश का धन देश के बाहर नही जाता और केवल धन का पुर्नवितरण ही होता है, इसलिये ऐसे ऋणो का कोई प्रत्यक्ष मौद्रिक भार नही पडता है। जहाँ तक वास्तविक भार का सम्बन्ध है सो इस बात पर निर्भर करता है कि ऋण द्वारा प्राप्त किये हुय धन का उपयोग किस प्रकार किया जा रहा है। यदि ऐसे ऋणो से देश मे धन का वितरण असमान होता है तो इनका वास्तविक भार बहुत अधिक होगा। यदि ऋण धनी व्यक्तियो द्वारा खरीदा गया है और उसका भुगतान करने के लिए सरकार छोटी आय वाले व्यक्तियो पर कर लगाती है तो इसका वास्तविक भार बहुत अधिक होगा, और यदि ऋण को निर्धन व्यक्तियो ने खरीदा है और सरकार धनी व्यक्तियो पर कर लगाकर उसका भुगतान करना चाहती है तो उसका वास्तविक भार बहुत कम होगा। दूसरी ओर यदि ऋण द्वारा प्राप्त धन राशि अनुत्पादक कार्यो म लगाई गई है तो इसका वास्तविक भार व्यक्तियो पर अधिक पडेगा और यदि उत्पादक कार्यो में लगाई गई है तो देश की आय बढ़ने से व्यक्तियो पर वास्तविक भार कम होगा। परन्तु व्यावहारिक जीवन म अधिकतर ऋणो का वास्तविक भार बहुत अधिक होता है क्योकि, ये ऋण धनी व्यक्तियो द्वारा खरीदे जाते हैं और कर निर्धन व्यक्तियो को भी देने पडते है। इन ऋणो का एक दूसरी प्रकार से प्रत्यक्ष वास्तविक भार भी पडता है। निर्धन व्यक्तियो का धन, धनी व्यक्तियो के पास हस्तान्तरित होने के साथ साथ धन नवयुवको के हाथो से निकल कर वृद्ध व्यक्तियो के पास चला जाता है और सक्रिय उपयोगो से निकल कर निष्क्रिय उपयोगो को स्थान्तरित हो जाता है। अधिकाश ऋण वृद्ध व्यक्तियो द्वारा खरीदा जाता है, परन्तु कर का भुगतान अधिकतर नवयुवको को अपनी वर्तमान आय मे से करना पडता है, जबकि वृद्ध व्यक्तियो ने ये ऋण पुरानी बचतो मे से खरीदा था। इसी प्रकार ऋण तो एकत्रित धन म से खरीदा जाता है, जबकि उसका भुगतान उस धन म से करना होता है जो उद्योग तथा व्यापार जैसे सक्रिय उपयोगो मे लगा हुआ है।[1] आन्तरिक ऋणो का अप्रत्यक्ष भार भी देश के नागरिको पर पडता है। ऋणो का भुगतान सरकार करो को लगा कर करती है और इस कारण व्यक्तियो को अधिक कर भार सहन करना पडता है। उनकी बचाने तथा कार्य करने की क्षमता पर बुरा प्रभाव पडता है। इसके अतिरिक्त ऋण चुकाने के लिय धन को कभी कभी ऐसे कार्यो म लगाना पडता है जिससे नागरिको का हित तुरन्त ही अग्रसर नही होता। अत एक तो देश मे उत्पादन कम होने मे और दूसरे धन के वितरण की असमानता बढने से आन्तरिक ऋणो का भार देश के व्यक्तियो पर अप्रत्यक्ष रूप से भी पडता है। यद्ध सचालन के लिये प्राप्त

1 Dalton, *Public Finance* Page 254

किये गये ऋणों का भार भी देश के व्यक्तियों को ही सहन करना पड़ता है। युद्ध काल में एक तो वैसे ही वस्तुओं का अभाव रहने से व्यक्तियों का जीवन स्तर गिर जाता है और यही प्रभाव मूल्यों के बढ़ने के कारण भी होता है। युद्ध समाप्त होने के बाद बेरोजगारी बढ़ने, मूल्यों और ब्याज की दर के गिरने के कारण वास्तविक भार भी अधिक होता जाता है। इसके अतिरिक्त बाजार में ब्याज की दर घटने के कारण सरकारी प्रतिभूतियों पर ऊँची ब्याज की दर होने के कारण उनका मूल्य ऊँचा होता जाता है जिससे ऋण का भार और भी अधिक हो जाता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आन्तरिक ऋणों का मौद्रिक भार यद्यपि कुछ भी नहीं होता किन्तु वास्तविक भार बहुत अधिक होता है।

बाह्य ऋणों का भार—यह विश्वास किया जाता है कि बाह्य ऋणों का भार उस देश के नागरिकों को सहन करना पड़ता है जो ऋण लेता है। ऐसे ऋणों का मौद्रिक भार धन की उस राशि से नापा जाता है जो ऋणी देश मूलधन और ब्याज के रूप में विदेशी ऋणदाता को देता है और प्रत्यक्ष वास्तविक भार उस हानि से नापा जा सकता है जो ऋणी देश में से उतना धन निकल जाने के कारण वहाँ के नागरिकों को सहन करनी होगी। यदि ऐसे ऋणों को अमीर लोग चुकाते हैं तो प्रत्यक्ष वास्तविक भार कम होगा अपेक्षाकृत उस स्थिति के जब गरीब लोग उस कर का भुगतान करें। ऐसे ऋणों का अप्रत्यक्ष भार तो ऋणी देश के व्यक्तियों पर पड़ता ही है। कारण यह है कि ऋणी देश की सरकार उन ऋणों का भुगतान करने के लिए कर लगाती है जिसका भार नागरिकों को सहन करना पड़ता है। परन्तु यह विचार पूर्णतया सत्य नहीं है। बात यह है कि जो ऋण हम विदेशों से प्राप्त करते हैं उनसे हम अपने देश में उत्पादन बढ़ाते हैं और जो सूद या मूलधन देते हैं वह उसी लाभ में से तो भुगतान करते हैं जो उत्पादन में वृद्धि करने से प्राप्त होता है। कुछ वर्षों बाद हम उस ऋण को चुका देते हैं। हमारे देश में औद्योगिक उन्नति भी हो जाती है, विदेशी निर्भरता भी समाप्त हो जाती है और जो धन उन वस्तुओं को खरीदने के कारण हमें विदेशों को भेजना पड़ता था वह भी अब भेजना नहीं पड़ेगा। इसलिए यह सोचना कि बाह्य ऋणों से ऋणी देश के नागरिकों को ऋण का अप्रत्यक्ष भार सहन करना पड़ता है भ्रमपूर्ण है। सच तो यह है कि दीर्घ काल में ऐसे ऋणों से देश के नागरिकों को कुछ भी भार नहीं सहन करना पड़ता यदि इन ऋणों को उत्पादक उपयोगों में लगाया गया है। वास्तव में यह बड़ा विवाद ग्रस्त विषय है और भिन्न भिन्न व्यक्तियों ने इसके पक्ष तथा विपक्ष में अनेक तर्क रखे हैं। हम निम्न में इन तर्कों को देते हैं —

बाह्य ऋणों के पक्ष में तर्क—(१) अर्धविकसित या अविकसित देशों का आर्थिक विकास बिना विदेशी ऋण प्राप्त किए हो ही नहीं सकता। ऐसे देशों को केवल धन ही नहीं चाहिए वरन् वैज्ञानिक, औद्योगिक, यान्त्रिक ज्ञान भी चाहिए और विदेशी मशीनें भी चाहियें। ये सभी वस्तुयें बाह्य ऋणों के रूप में प्राप्त हो जाती हैं।

(२) युद्ध का सफल सचालन बिना बाह्य ऋणो के सम्भव ही नही। ससार का कोई भी ऐसा युद्ध नही है जिसमे युद्ध मे भाग लेने वाले देशो ने दूसरे देशो से ऋण न लिए हो। इङ्गलैण्ड को ही देखिये, दूसरे युद्ध मे, भारत, मिश्र, अमेरिका आदि देशो से कितनी अधिक मात्रा में ऋण लिए थे।

(३) युद्ध काल मे जिन देशो की अर्थ व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है उन का पुनर्निर्माण भी विदेशी पूंजी अथवा बाह्य ऋणो से ही किया जाता है। दूसरे युद्ध के बाद की स्थिति हमारे सामने है और पिछले पन्द्रह वर्षो मे विभिन्न देशो ने विश्व वैंक तथा अन्य देशो से कितने ऋण लिए है, सब हमारे सम्मुख है। भारत को ही लीजिए, जो उन्नति हमारे देश ने की है वह कदापि भी बिना बाह्य ऋणो के सम्भव न थी।

(४) विदेशी विनिमय दर की प्रतिकूलता को भी बाह्य ऋणों द्वारा दूर किया जा सकता है।

बाह्य ऋणो के विपक्ष में—(१) जो लोग बाह्य ऋणो के पक्ष मे नही है, उनका पहला तर्क यह है कि विदेशो से ऋण प्राप्त करने से, अपने देश का बहुत सा धन ब्याज तथा मूलधन के रूप मे विदेशो के पास चला जाता है और अपने देश को बहुत हानि उठानी पडती है।

(२) वे दूसरा तर्क यह देते है कि ऐसे ऋणो से ऋणी देश दीर्घकाल में ऋणदाता देश का एक प्रकार से दास बन जाता है।

सच तो यह है कि विदेशी ऋण तनिक भी हानिकारक नही है यदि उनका प्रबध तथा नियत्रण स्वदेशी सरकार के ही हाथ मे हो और उनका उपयोग इस प्रकार किया जाए कि देश की उत्पादन शक्ति बढे।

२. उत्पादक या पुनरुत्पादक, अनुत्पादक या मृत-भार ऋण—राजकीय ऋणों का दूसरा वर्गीकरण, उत्पादक, पुनरुत्पादक, अनुत्पादक या मृत-भार ऋणो मे किया गया है। उत्पादक ऋण वे ऋण होते हैं, जिनकी धनराशि को ऐसे व्यवसायो तथा उपक्रमो म लगाया जाए जिनकी आय से उसके ब्याज तथा मूलधन को ऋण की परिपक्वता (maturity) के बाद लौटाया जा सके। अधिकतर सरकार इन ऋणो को उन उपक्रमो मे लगाती है, जिन पर उसका पूरा नियत्रण होता है और ये अधिकतर वे उद्योग होते है जिनका चलाया जाना देश के हित मे होता है या जो देश के लिये आवश्यक होते है, परन्तु जिनमें निजी उपक्रम भाग लेने के लिए तैयार नही होता जैसे रेलें, नहरे, बिजली घर इत्यादि। दूसरी ओर वे ऋण जिनको ऐसे कार्यो में लगाया जाए कि ऋण की परिपक्वता के बाद ब्याज तथा मूलधन की राशि का भुगतान उन उपयोगो द्वारा न किया जा सके, अर्थात् ऐसे उपयोगो मे लगाया जाए कि उनसे कोई भी आय प्राप्त न हो, जैसे युद्ध सचालन पर खर्च करना, अकाल, भूकम्प, बाढ पीडितो को आर्थिक सहायता देना। ऐसे ऋणो के ब्याज तथा मूलधन की राशि का भुगतान कर लगाकर किया जाता है। यदि हम उत्पादक शब्द का अर्थ केवल आर्थिक दृष्टिकोण से न लेकर साधारण दृष्टिकोण से लें तो हर व्यय

दीर्घकाल मे उत्पादक होता है। भूकम्प, बाढ आदि पर किया हुआ व्यय भी उत्पादक हो सकता है और यदि उत्पादक नही तो रक्षात्मक (protective) तो अवश्य होता है। इसी प्रकार सामाजिक सेवाओं पर किया हुआ व्यय भी दीर्घ काल मे रक्षात्मक होता है, क्योंकि इनसे सामाजिक कल्याण म वृद्धि होती है। अनुत्पादक ऋणों को मृत-भार ऋण भी कहते है।

३. मृत-भार वाला ऋण, सक्रिय एव निष्क्रिय ऋण—श्रीमती हिक्स ने राजकीय ऋणो को तीन वर्गो म विभाजित किया है, अर्थात् मृत-भार वाला ऋण (Dead-weight Debt), सक्रिय ऋण (Active Debt) और निष्क्रिय ऋण (Passive Debt)। पहले वर्ग म वे ऋण आते है जिनके व्यय से देश की उत्पादन शक्ति में कोई वृद्धि नही होती। श्रीमती हिक्स ने अनुत्पादक ऋणों को ही मृत-भार ऋण कहा है। उत्पादक ऋणो को उन्होने सक्रिय ऋणो का नाम दिया है। उनके अनुसार सक्रिय ऋण वे है जिनके व्यय से आय भी प्राप्त होती है और देश की उत्पादन शक्ति में भी वृद्धि होती है जैसे रेल, नहरो आदि पर व्यय। निष्क्रिय ऋण वे हैं जिनसे न तो कोई आय ही प्राप्त होती है और न देश की उत्पादन शक्ति म ही वृद्धि होती है किन्तु जिनके व्यय से व्यक्तियों को सन्तोष प्राप्त होता है, जैसे पार्क, हवाघर, अजायबघर आदि बनवाना।

४ इच्छित तथा अनइच्छित ऋण—राजकीय ऋणो का चौथा वर्गीकरण इच्छित (Voluntary) तथा अनइच्छित या बलात् (Involuntary or Forced) ऋणो में किया गया है। जो ऋण सरकार को केवल घोषणा मात्र से ही प्राप्त हो जाते है, अर्थात् जिन्हे नागरिक स्वय अपनी इच्छा से देते है और सरकार की ओर से कोई दबाव नही पडता, ऐसे ऋणो को इच्छित ऋण कहते हैं। ये ऋण आन्तरिक भी होते है और बाह्य भी। जब सरकार को इच्छित ऋण पर्याप्त मात्रा म नही मिल पाते तब सरकार नागरिकों पर दबाव डालती है और उनकी इच्छा न होते हुये भी उनसे ऋण प्राप्त कर लेती है। ऐसे ऋणो को अन इच्छित ऋण कहते हैं। सरकार ऐसे ऋणो को उस समय ही एकत्रित करती है जब सकट काल होता है या जब उसकी साख इतनी कम हो गई होती है या लोगो का विश्वास इतना कम हो गया होता है कि वे सरकार को ऋण देना नही चाहते। सरकार अपनी राजनैतिक सत्ता का प्रयोग करती है और नागरिको को ऋण देने के लिये बाध्य कर देती है। सत्रहवी तथा अठारहवीं शताब्दियों में ऐसे ऋणो का अधिक रिवाज था। आधुनिक राजकीय ऋण व्यवस्था मे ऐसे ऋणो को कोई स्थान प्राप्त नही है। सरकार ऐसे ऋणों के स्थान पर आज-कल कर लगाना अधिक उचित समझती है, क्योंकि करो म नागरिकों को उतनी ही नाराजगी होती है जितनी अन-इच्छित ऋणों म साथ ही एक अच्छी बात यह और होती है कि सरकार को प्राप्त किये हुये धन को लौटाना नही पडता। यह पूर्णतया सच नही है कि अन-इच्छित ऋणों का आजकल प्रयोग नही किया जाता। इनके केवल रूप मे ही परिवर्तन हो गया है। उनसे मिलते-जुलते ऋणों का प्रयोग आजकल भी होता है जैसे प्रथम महायुद्ध मे जमींदारो तथा आयकर देने वाले व्यवसायियों को

युद्ध-बन्ध (War Bonds) खरीदने पडे थे। परन्तु ऐसे ऋण केवल भीषण संकट में ही लिये जाते हैं।

५. **अनिश्चित कालीन अथवा दीर्घकालीन और निश्चित कालीन अथवा अल्पकालीन ऋण**—पाँचवें वर्गीकरण के अनुसार राजकीय ऋणों का अनिश्चित-कालीन (Funded) अथवा निश्चितकालीन (Unfunded) ऋणों में विभाजित किया जाता है। पहले प्रकार के ऋणों को दीर्घकालीन या स्थायी ऋण और दूसरे प्रकार के ऋणों को अल्पकालीन या अस्थायी ऋण भी कहते हैं। इस वर्गीकरण पर लेखकों में बड़ा मतभेद है। डा० डाल्टन के अनुसार 'अनिश्चित कालीन ऋण का जब निश्चित कालीन ऋण से भेद किया जाता है, तब इसका अभिप्राय उस ऋण से होता है, जिसका मूलधन कभी भी लौटाना आवश्यक नहीं होता, परन्तु जिनके ब्याज का भुगतान करने की गारण्टी दी जाती है, जैसे इगलैंड के ब्रिटिश कौन्सलस् (British Consuls)। इसी प्रकार निश्चितकालीन ऋण वे हैं, जिनका भुगतान प्राप्त करने के एक साल के अन्दर करना होता है।'[2] किन्तु उनका विचार है कि, "अनिश्चितकालीन, निश्चितकालीन व अल्पकालीन (Floating) शब्दों का प्रयोग अकसर भ्रमात्मक होता है। इस प्रकार सन् १९१९ में जारी किये गये अनिश्चित-कालीन ऋण को, जो अल्पकालीन ऋण के एक भाग के लिये धन इकट्ठा करने के हेतु था और जिसका सन् १९६० और १९९० के बीच भुगतान होना था सरकारी तौर पर निश्चितकालीन ऋण कहा गया है।'[3] इसी विषय पर एडम स्मिथ लिखते हुये कहते हैं कि, 'व्यक्ति के समान, राष्ट्र भी साधारणतया अपनी व्यक्तिगत साख पर ऋण का भुगतान करने के लिये कोई कोष निश्चित या बन्धक किये बिना ही उधार लेने लगे हैं, और जब उनको इस प्रकार ऋण प्राप्त नहीं हुये तो वे कोष को निश्चित या बन्धक करके ऋण प्राप्त करने लगे हैं।'[4] पहली प्रकार के ऋण निश्चित कालीन और दूसरी प्रकार के अनिश्चित कालीन ऋण हैं। परन्तु इन शब्दों का प्रयोग आजकल उस अर्थ में नहीं किया जाता जिसमें एडम स्मिथ ने किया था। प्रो० कोहन (Cohn) ने स्मिथ के विचार का समर्थन नहीं किया है। वह स्मिथ द्वारा बताये गये भेद को पुराना बताते हुये कहते हैं कि अनिश्चितकालीन ऋण दीर्घ-कालीन होते हैं और निश्चित कालीन, अल्पकालीन ऋण होते हैं। इसके साथ साथ उनका यह कथन है कि, "यद्यपि ऋण के विभिन्न कारण तथा उद्देश्य समय की अवधि पर निर्भर करते हैं।" हम इस अर्थ को ऊपर समझा ही चुके हैं जिसमें आजकल निश्चित कालीन और अनिश्चित कालीन ऋणों को समझा जाता है। वैगनर ने इन दोनों के भेद को समझाने के लिये निम्न बातों का उल्लेख किया है —

(१) निश्चित कालीन ऋण शीघ्र ही समाप्त होने वाली आवश्यकताओं के लिये प्राप्त किये जाते हैं और खजाने के चालू द्रव्य का भुगतान करने के लिये होते हैं।

2. *Op. cit.*, Page 238
3. *Ibid* Page 239.
4. *Wealth of Nations*, Book V, Ch III

दूसरी ओर अनिश्चित कालीन ऋण स्थायी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पूँजी एकत्रित करने के उद्देश्य से प्राप्त किये जाते हैं।

(२) निश्चित कालीन ऋण अल्पकाल के लिये होते हैं और अनिश्चित कालीन दीर्घ काल के लिये होते हैं।

(३) पहले प्रकार के ऋण का भुगतान थोड़े समय बाद ही करना होता है। यह ऋण दर्शनी भी होते हैं। परन्तु दूसरे प्रकार के ऋण निश्चित शर्तों के अनुसार चुकाया जाता है और ऋणदाता देश का किसी प्रकार का भी नियन्त्रण मूलधन पर नहीं होता।

सच तो यह है कि इन दोनों प्रकार के ऋणों में भेद करना बहुत कठिन है। इनका वास्तव में सापेक्षिक महत्व है और उपयुक्त तीन बातों पर निर्भर करता है। प्लेहन का भी यही विचार है। प्लेहन का तो यहाँ तक कहना है कि कौन सा ऋण किस वर्ग में रक्खा जाय निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह अफसरों के अपने विचारों पर निर्भर करता है। एक अफसर तीन पाँच या दस वर्षों तक चलने वाले ऋण को अस्थायी कह सकता है और दूसरा केवल छः मास तक चलने वाले ऋण को ही स्थायी कह सकता है। उसके अनुसार निश्चित कालीन ऋण केवल उसी को कहना चाहिये जो उस आर्थिक वर्ष के बाद चलने वाला न हो जिसके लिये ऋण लिया गया हो। उसने लिखा है कि, परन्तु इस प्रकार की सीमा के लिये कोई निश्चित प्रथा नहीं है। इन दोनों वर्गों के बीच एक गहरी रेखा खींचने के प्रयत्न में हमारे सामने वही कठिनाई आती है जो प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के बीच भेद करने के प्रयत्न में आई थी। सरकारी कानूनी और वैज्ञानिक प्रयोग इतने भिन्न हैं कि सब अर्थों के मिलाने के प्रयत्न में कुछ भी प्राप्त नहीं होगा।[5]

६ शोध्य तथा अशोध्य ऋण—राजकीय ऋणों का एक वर्गीकरण और दिया गया है जिसके अनुसार शोध्य (Redeemable) तथा अशोध्य (Irredeemable) ऋण होते हैं। जो ऋण सरकार को एक निश्चित तिथि तक मय ब्याज के चुकाने होते हैं, उन्हें शोध्य ऋण कहते हैं और जो ऋण सरकार को केवल सूद देने की शर्त पर ही, सदा के लिये प्राप्त हो जायें, उनको अशोध्य ऋण कहते हैं। इस प्रकार पहले ऋणों में मूलधन और ब्याज दोनों ही का भुगतान करना होता है और इनका भुगतान एक निश्चित तिथि तक के अन्दर ही करना पड़ता है। दूसरे प्रकार के ऋणों में मूलधन तो नहीं लौटाना पड़ता किन्तु ब्याज का भुगतान सदा के लिये निश्चित दरों के अनुसार चलता रहता है। आधुनिक सरकारें अशोध्य ऋणों का बहुत कम ही प्रयोग करती हैं, क्योंकि इन ऋणों का भार निरन्तर ही नागरिकों पर पड़ता रहेगा और सरकार कभी भी ऋण मुक्त नहीं हो पायगी। परन्तु इस दृष्टि से कि ऋण राशि से जो सेवायें प्रदान की जा रही हैं उनका लाभ भविष्य में आने वाली सन्तानों को भी प्राप्त होगा इसलिये ऋण भार उनको भी सहन करना चाहिये अशोध्य ऋण ही अधिक उपयुक्त होंगे। इसके अतिरिक्त जिन स्रोतों से निरन्तर लाभ प्राप्त

5 *Introduction to Public Finance* P 458

होता रहता है जैसे रेले, सडकें, उनके लिये भी इन ऋणों को प्राप्त किया जा सकता है, क्योकि ऋण के ब्याज का भुगतान उनसे प्राप्त होने वाले लाभो से किया जा सकता है। शोध्य ऋण दीर्घकालीन या स्थायी और अल्पकालीन या अस्थायी भी हो सकते हैं। वास्तव मे निश्चित कालीन, अनिश्चित कालीन, शोध्य तथा अशोध्य ऋण—दो मोटे वर्गो मे रक्खे जाते हैं, अर्थात् स्थायी तथा अस्थायी। आधुनिक सरकारो को दोनो प्रकार के ऋणों की आवश्यकता होती है और इनके अपने-अपने लाभ तथा हानियाँ होती हैं। इनका वर्णन हम निम्न मे देंगे —

अस्थायी ऋणो के लाभ—अस्थायी ऋणो के निम्न लाभ बताये जाते है—

(१) किसी अस्थायी सकट अथवा आवश्यकता की पूर्ति के लिये ऐसे ऋण ही लिये जाते है। कभी कभी सरकार इनको उस समय भी लेती हैं जब उसे कर की आय के इकट्ठे होने में देर लगने की सभावना होती है। सक्षेप में अल्पकालीन परिस्थितियो के लिये अस्थायी ऋण लिये जाते हैं।

(२) जब बाजार मे सूद की दर अस्थायी कारणो से ऊँची हो जाती है और उसके शीघ्र ही गिरने की आशा होती है तब अस्थायी ऋण अधिक उपयुक्त होते हैं।

(३) अस्थायी ऋणो को बडी सरलता से प्राप्त किया जा सकता है, क्योकि ऋणदाता ऐसे ऋणो म अपना धन विनियोग करने में हिचकते नही हैं।

(४) इनका देश के नागरिकों पर बुरा प्रभाव नही पडता।

अस्थायी ऋणो की हानिया—अस्थायी ऋणो की हानिया निम्न प्रकार हैं—

(१) ऐसे ऋणों मे अपना धन लगाने म व्यक्तियों को कोई भी आपत्ति नही होती। वह इन्हे लाभप्रद तथा सुरक्षित विनियोग समझते हैं जिसके कारण व्यक्ति अपने धन को अन्य विनियोगो से निकाल कर इनमें विनियोग करना आरम्भ कर देते हैं। परिणामस्वरूप उद्योग धन्धों तथा अन्य उपक्रमा के लिये अल्पकालीन धन की कमी हो जाती है और उनका उचित विकास नही हो पाता।

(२) ऐसे ऋण बहुधा दीर्घकालीन ऋण बन जाते हैं, क्योंकि सरकार एक ऋण का भुगतान करने के लिय दूसरा ऋण प्राप्त करती है और इस प्रकार ऋण कभी समाप्त ही नहीं होता।

(३) बार बार अस्थायी ऋण लेने से सरकार की साख कम हो जाती है, क्योकि जनता का विश्वास सरकार पर से कम हो जाता है। विदेशो पर भी इनका अच्छा प्रभाव नही पडता और विदेशी ऋण प्राप्त करने मे भी कठिनाई होती है।

(४) इन ऋणा पर कोई कानूनी नियन्त्रण नही होता और इनका भुगतान करने के लिये सरकार नोट छापती है। मुद्रा स्फीति मे मूल्य स्तर बढने से व्यक्तियो को ऐसे ऋणो का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार सहन करना पडता है और हानि उठानी पडती है।

(५) अधिक अस्थायी ऋण लेने के कारण आर्थिक सकटकाल तक में सरकार को ऋण प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

स्थायी ऋणों के लाभ—स्थायी ऋणों के लाभ निम्न प्रकार हैं—

(१) ऐसे ऋणों का भुगतान शीघ्र ही न करने के कारण, सरकार इनकी उचित व्यवस्था कर सकती है। इन ऋणों को दीर्घकालीन विनियोगों में लगाने की योजना बना सकती है तथा ऐसी व्यवस्था कर सकती है जिससे नागरिकों पर ऋण भार कम से कम पड़े।

(२) ऐसे ऋण बीमा कम्पनियों, बैंकों तथा विनियोग ट्रस्टों के लिये विनियोग का एक अच्छा साधन प्रस्तुत करते हैं।

(३) जब बाजार में ब्याज की दर नीची होती है तब स्थायी ऋण प्राप्त करना अधिक उपयुक्त होता है।

(४) ये ऋण अधिक न्याय-संगत होते हैं क्योंकि इनका भार भविष्य में आने वाली सन्तानों पर भी डाला जा सकता है।

(५) अधिक दीर्घ काल तक चलने वाले संकटों के लिए स्थायी ऋण आवश्यक होते हैं।

(६) एक बार स्थायी ऋण ले लेने से सरकार को बार बार ऋण लेने की आवश्यकता नहीं होती और इसलिए सरकार का विश्वास एवं साख भी खण्डित नहीं होते।

(७) ऐसे ऋणों से देश की आर्थिक उन्नति एवं विकास में सहायता मिलती है क्योंकि उसको इनका प्रयोग उत्पादक कार्यों में ही करना होता है।

स्थायी ऋणों की हानियाँ—स्थायी ऋणों की निम्न हानियाँ बताई गई हैं—

(१) ऐसे ऋणों से सरकार में फिजूलखर्ची की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि उन्हें इसकी फिक्र नहीं होती कि ऋण का भुगतान तुरन्त ही करना है और इसलिये इन ऋणों का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है।

(२) ऐसे ऋणों में व्यक्तियों का धन एक लम्बे काल के लिये फँस जाता है और उनके धन की फेर बदल (turnover) न होने के कारण देश के उद्योगों के लिये पर्याप्त मात्रा में धन नहीं मिल पाता। इस प्रकार देश की औद्योगिक उन्नति ठीक प्रकार से नहीं हो पाती।

(३) ऊँची ब्याज की दरों की स्थिति में यह ऋण उपयुक्त नहीं होते। वास्तव में स्थायी तथा अस्थायी ऋणों के लाभ तथा हानियों की इस विवेचना का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है क्योंकि व्यावहारिक जीवन में सरकार को ऊँची ब्याज की दरों में भी स्थायी ऋण लेने पड़ते हैं और सस्ती ब्याज की दरों में भी अस्थायी ऋण लेने पड़ते हैं। यह केवल परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। यदि आवश्यकता इतनी अधिक है कि बिना ऋण के काम ही नहीं चल सकता और यदि सरकार इस स्थिति में नहीं है कि लिये हुए ऋणों को तुरन्त ही लौटा सके तो सरकार को स्थायी ऋण, हानिकारक होते हुये भी लेने पड़ेंगे। अतः कब सरकार को स्थायी ऋण लेने चाहियें और कब अस्थायी इसके लिये कोई स्पष्ट, तथा कड़ा नियम नहीं बनाया जा सकता।

७ अन्य वर्गीकरण—कुछ लेखकों ने उपर्युक्त मुख्य वर्गों को ही उपविभाजित कर दिया है और राजकीय ऋणो को निम्न वर्गों मे और विभाजित किया है।

(अ) बेचा जा सकने वाला ऋण तथा बेचा न जा सकने वाला ऋण (Marketable and Non-marketable Debt)—प्रथम श्रेणी में वह सरकारी प्रतिभूतिया (Securities) होती है जिनको बाजार मे स्वतन्त्रतापूर्वक बेचा तथा खरीदा जा सकता है और दूसरी श्रेणी मे वे प्रतिभूतिया होती है जिनको बाजार म नही बेचा जा सकता। यह केवल सरकार को ही पूर्व निश्चित दरो पर लौटाई जा सकती हैं। दूसरी प्रकार की प्रतिभूतिया सरकार केवल इसीलिये निकालती है, ताकि बाजार म प्रतिभूतियो के मूल्यो म बहुत अधिक उतार चढाव न हो ?

(ब) सूद सहित तथा सूद रहित ऋण—पहली प्रकार के ऋण वह है जिन पर सरकार सूद देती है और दूसरी प्रकार के ऋण वह है जिन पर सरकार कोई भी सूद देने का वचन नही भरती। दूसरी प्रकार के ऋण अधिक प्रचलित नही है।

(स) कुल ऋण और शुद्ध ऋण—किसी भी समय या अवधि विशेष पर सरकार के जितने ऋण होते हैं उन सबके योग को कुल ऋण कहते है और यदि ऋणो का भुगतान करने के लिए कोई विशेष कोष सरकार एकत्रित रखती है तो उसको कुल ऋण की राशि मे से निकालकर जो कुछ शेष रहता है उसे शुद्ध ऋण कहते हैं।

ऋण चुकाने के ढग—

(१) ऋण निषेध—व्यक्ति की भाँति राज्य भी ऋण भार मे दबा रहता है और इसलिए शीघ्र से शीघ्र इस भार से मुक्त होना चाहता है। इस भार से मुक्त होने के लिए दो ही मार्ग होते हैं—सरकार या तो ऋण का भुगतान करने से इन्कार कर दे या ऋण को लौटा दे। पहला मार्ग ऊपर से देखने म तो बड़ा सरल प्रतीत होता है परन्तु इसके बडे घातक परिणाम होते है। यदि सरकार आन्तरिक ऋण का भुगतान करने मे इन्कार करती है तो जनता उसकी चोरी और डकैती से तुलना करती है, विरोध करती है और भविष्य म कभी भी सरकारी प्रतिभूतियो म धन न लगाने का निश्चय कर लेती है। इसके अतिरिक्त यह मार्ग न्याय सगत भी नही होता और समाज म अशान्ति उत्पन्न होने का भी भय रहता है। बाह्य ऋणो के न चुकाने के तो परिणाम और भी भीषण होते है। ऋणी राज्य का भाग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भग हो जाता है, और मौद्रिक क्षेत्र में उसकी साख समाप्त हो जाती है। कभी कभी विदेशी ऋणदाता युद्ध तक करने को तैयार हो जाते है और यदि वे ऐसा प्रत्यक्ष रूप से नही करते तो अप्रत्यक्ष रूप से ऋणी देश के विरुद्ध अन्य राज्यो को भड़काते है, उसके विरुद्ध प्रचार करते हैं और व्यापारिक जगत से उसको निकाल बाहर करने का प्रयत्न करते हैं। अत ऐसी नीति मे केवल मान ही भग नही होता वरन् व्यापार को ठेस पहुँचती है और युद्ध होने तक नौबत पहुँच जाती है। इस नीति को ऋण निषेध (Debt Repudiation) कहते हैं। सन् १९३० के मन्दीकाल

न ऋण निरोध की अनेकों अन्य रीतियाँ अपनाई गई थी। जैसे, ऋण चुकाने की अवधि को बढ़ा देना ब्याज की दर को कम करना, मुद्रा प्रसार द्वारा मुद्रा के मूल्य को कम करना इत्यादि।

(२) **वार्षिक वृत्ति**—परन्तु व्यवहारिक जीवन मे ऐसा बहुत कम ही होता है। अभी पिछले युद्ध मे ही चर्चिल और उनके साथियों ने भारत के जो स्टर्लिंग ऋण इंगलैंड पर थे उनका भुगतान न करने के लिए बहुत जोर दिया था किन्तु यह याद रहे कि यह सरकार की ओर से प्रयत्न नहीं था, वरन् कुछ व्यक्तियों की अपनी निजी राय थी। हर तो प्रत्येक राज्य ही इस बात का प्रयत्न करता है कि वह ऋण का भुगतान कर दे। ऋण का भुगतान केवल उसी समय किया जा सकता है जब चालू व्यय की अपेक्षा सरकार की आय अधिक हो। कभी कभी सरकार परिपक्वता अवधि (maturity date) से पहले भी ऋण का भुगतान किश्तों के रूप मे, जैसे जैसे आय प्राप्त होती जाती है करती जाती है या अपने बांड और अपनी प्रतिभूतियों को वापिस खरीदती जाती है या उन्हें खत्म करती जाती है। यह सरकार केवल उसी समय करता है जब उसको या तो आय प्राप्त होती है या जब वह यह देखती है कि उसकी प्रतिभूतियां नीची दर पर लोग बेचने को तैयार है। ऐसा करने से परिपक्वता तिथि पर सरकार को ऋण की कुल राशि का भुगतान करने की चिन्ता नही रहती। इसके अतिरिक्त सरकार को ऋण के भुगतान करने की बात मालूम भी नहीं पड़ती क्योंकि वह धीरे धीरे भुगतान करते रहने से एक दम मुक्त हो जाती है। जब सरकार ऋण का भुगतान किश्तों के रूप म प्रतिवर्ष चुकाती रहती है तो इस रीति को वार्षिक वृत्ति या (Terminal Annuities) की रीति कहते हैं। इसमे वार्षिक किश्तों की राशि समान रहती है और ब्याज तथा मूलधन दोनों ही सम्मिलित रहते हैं। यह ऋण भार से मुक्त होने की दूसरी विधि है।

(३) **ऋण परिवर्तन**—यह ऋण चुकाने की दूसरी विधि तथा ऋण भार से मुक्त होने की तीसरी विधि है। इस विधि के अनुसार सरकार पुराने ऋण का वास्तव में भुगतान नहीं करती वरन् एक प्रकार से उसका रूप बदल देती है। इस विधि म ऋण की शर्तें और सूद की दर आदि म परिवर्तन किये जाते हैं जैसे ऋण की दर कम कर देना, या ऋण को अल्पकालीन से दीर्घकालीन मे बदल देना। बहुधा ऋण परिवर्तन शब्द का ऋण पुन शोधन (Refunding) के स्थान पर प्रयोग में लाया जाता है, परन्तु यह पूर्णतया गलत है। पुन शोधन में तो नये ऋणो को प्राप्त करके पुराने ऋणों का भुगतान किया जाता है। नये ऋण पहलों की अपेक्षा कम सूद की दर पर प्राप्त किये जाते है। नये ऋणों की निकासी पर पुराने ऋण दाताओं के लिए दो मार्ग होते है—एक तो अपने ऋण को वापिस ले लें या पुराने ऋण के स्थान पर नया ऋण ले लें। ऐसा करने पर अन्त मे केवल नया ऋण ही रह जाता है। जब ऋणदाता पुराने ऋण के स्थान पर नया ऋण स्वीकार करने को तैयार हो जाते हैं तो इसको ही ऋण परिवर्तन कह सकते हैं। जो ऋणदाता नये ऋण को स्वीकार नहीं करते उनको नये ऋण से प्राप्त धन मे से पुराने ऋण का

भुगतान कर दिया जाता है। ऋण परिवर्तन से हमारा अभिप्राय "साधारण सूद की दरों की कमी से लाभ उठाकर, सूद की राशि को कम करने के लिए, वर्तमान ऋणों को नये ऋणों में बदलने से है।"[6] इसकी व्यवस्था सरकार उसी समय करती है जब वह ऋण की परिपक्वता अवधि आ जाने पर ऋण के भुगतान का प्रबन्ध नहीं कर पाती। इसके अन्तर्गत पुराने बौंडो को रद्द कर दिया जाता है और उनके स्थान पर नये बौंड चालू किये जाते हैं। इन नये बौंडो की शर्तें इतनी आकर्षित बनाई जाती हैं कि लोग नये बौंडों को भी स्वीकार कर लेते हैं। सरकार या तो नये बौंडों और प्रतिभूतियों को वास्तविक मूल्यों की अपेक्षा कम मूल्य पर बेंचती है, या यदि वास्तविक मूल्य पर बेचती है तो परिपक्वता तिथि पर उससे अधिक राशि का भुगतान करने का वचन देती है। डाक्टर डाल्टन, इन दोनों रीतियों के ही पक्ष में नहीं है। उन्होंने इनकी आलोचना करते हुए स्पष्ट किया है कि पहली रीति में यद्यपि वर्तमान ऋण भार कम हो जाता है, किन्तु भविष्य में ऋणभार अधिक हो जाता है क्योंकि बाजार में इन बौंडो और प्रतिभूतियों का मूल्य बढ़ता जाता है और यदि कहीं बाजार में सूद की दर कम हो गई तो ऋण भार और भी अधिक बढ़ जाता है क्योंकि सरकारी प्रतिभूतियों पर सूद की दर अधिक होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं में अपने धन को विनियोग करना चाहेगा। उनके शब्दों को दोहराने के लिए हम कह सकते हैं कि "इस प्रकार के ऋण, विनियोग कर्ताओं को, उनके ब्याज की दर को देखते हुए बहुत प्रिय होते हैं, क्योंकि उनमें पूंजी का मूल्य बढ़ने का व्यवहारिक विश्वास होता है·········परन्तु इसी बात के कारण वह सरकार के अन्तिम भार को बढ़ा देते हैं··· ·····। अधिकांश विशेषज्ञों ने इसकी अनुचित अर्थ व्यवस्था कह कर निन्दा की है।"

इस विचार में कोई विशेष तथ्य नहीं है कि ऋण परिवर्तन से ऋण भार कम हो जाता है। इसका कारण यह है कि ब्याज की दरों में एक तो बहुत अधिक परिवर्तन नहीं होते और यदि होते भी हैं तो ब्याज की राशि की जो बचत होनी है वह कुल बचत का एक छोटा सा भाग होता है। दूसरे, सरकारी आय लगभग पूर्ववत ही रहती है, क्योंकि जो लाभ सूद की राशि के बचने से होता है, वह करों के न लगाने से जो हानि होगी और उनसे प्राप्त आय में जो हानि होगी उसमें समाप्त हो जायेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रयत्न से कर दाताओं को भले ही कुछ लाभ हो, सरकारी आय में कोई वृद्धि नहीं होगी। इसीलिए अधिकतर लेखकों तथा विचारक। न इसका पक्ष नहीं लिया है। ऋण परिवर्तन करते समय कुछ बातों की ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक हो जाता है, जैसे मुद्रा बाजार की प्रवृत्तियों का गहन अध्ययन, अर्थात्, मुद्रा की पूर्ति एवं माग का सम्पूर्ण अध्ययन करते रहना चाहिये। दूसरे, यह भी आवश्यक है कि भविष्य में ब्याज की दर, कर और मूल्य स्तर की स्थिति कैसी रहेगी, इसका भी थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त किया जाय। तीसरे, नये ऋणों

6 A. G Buehler, *Public Finance*, Page 756
7. *Public Finance* P. 278

की मूलधन की राशि में उस समय तक कोई वृद्धि नहीं होनी चाहिए जब तक ऐसा करना बहुत ही आवश्यक न हो। अन्त में ऋण परिवर्तन की रीति अर्थात् विधि बहुत ही सरल हो ताकि जनसाधारण की समझ में भी आ जाय।

(४) **निश्चित योजना के अनुसार**—कभी कभी सरकार ऋण का भुगतान एक निश्चित तथा नियमित योजना के अनुसार कर सकती है, अर्थात् ऋण के भुगतान का कोई उचित प्रबन्ध कर दे और परिपक्वता तिथि पर उस किये गये प्रबन्ध के अनुसार ऋण का पूरा भुगतान कर दे। सरकार कई विधियाँ अपना सकती है, जैसे, एक परिशोध कोष पहले से निश्चित करने, या बौंडो का वार्षिक भुगतान करे जिसका निर्णय या तो क्रमानुसार या लौटरी द्वारा करे। हम इन रीतियों का अध्ययन क्रमानुसार करेंगे।

(अ) **ऋण परिशोध कोष** (Sinking Fund)—ऋण परिशोध कोष केवल ऋण भुगतान करने के लिये ही स्थापित किया जाता है। प्रारम्भिक वर्षों में अधिकतर यह प्रथा थी कि प्रत्येक वर्ष कुछ निश्चित धन राशि किसी स्थान पर लगा दी जाती थी। दूसरे वर्ष पिछले वर्ष का मूलधन व ब्याज तथा इस वर्ष के मूलधन को फिर लगा दिया जाता था और हर वर्ष ऐसे ही करते रहने पर मूलधन और ब्याज मिलकर ऋण के बराबर हो जाते थे। ऐसे कोष दो प्रकार से स्थापित किये जा सकते है—वार्षिक आय में से या ऋण लेकर। नय ऋण लेकर परिशोध कोष चालू करना तो एक प्रकार का ऋण परिवर्तन ही होता है। ऐसे कोषो का उपयोग सर्वप्रथम, इंगलैंड में सर विलियम पिट के समय में हुआ था। उस समय, इसकी सलाह प्राइस नामक एक पादरी ने दी थी। उसके बाद परिशोध कोषों का प्रयोग एक साधारण सी बात हो गई। परन्तु आधुनिक परिशोध कोषो का रूप बिल्कुल भिन्न है। आजकल परिशोध कोष एकत्रित नहीं होते या एक वर्ष से दूसरे वर्ष को नहीं ले जाये जाते वरन् प्रत्येक वर्ष कुछ राशि अलग रख दी जाती है और उसी वर्ष ऋण के एक भाग का भुगतान कर दिया जाता है। यह राशि प्राय पूर्व निश्चित होती है।

डाक्टर डाल्टन ने परिशोध कोषो को निश्चित तथा अनिश्चित कोषों म विभाजित किया है।[8] निश्चित ऋण परिशोध कोष म हर वर्ष एक निश्चित धन राशि अनिवार्य रूप से जमा की जाती है जबकि दूसरे कोष म धन केवल उसी समय जमा किया जाता है जब उस वर्ष की आय म से कुछ बचा हो। बचत न होने की स्थिति म कुछ भी जमा नहीं होता। निश्चित कोष की स्थापना तीन आधारो पर की जा सकती है। प्रथम, ऋण चुकाने की अवधि के अनुसार ऋण कोष स्थापित किया जाता है। ऋण जितने कम समय के लिये लिया जाता है या ऋण भुगतान करने की अवधि जितनी कम होती है, उतनी ही स्थिति आर्थिक दृष्टिकोण से ठीक रहती है। एक विशेष ऋण भुगतान कर लगाकर, यदि ऋण का भुगतान एक दम कर दिया जाय तो सबसे अच्छा है, परन्तु साधारणतया इतने सीमित अल्पकाल की बात करना

8 *Op cit*, P 270

व्यवहारिक नही होती। यदि ऋण भुगतान अवधि इतनी अल्प न हो तो अपेक्षाकृत छोटी अवश्य हानी चाहिय। यह बात एक दूसरे दृष्टिकोण से भी सही होती है। यदि ऋण किसी निम्नस्तरीय (Subordinate) सरकार द्वारा पूंजीगत वस्तुएँ खरीदने के लिये प्राप्त किया गया है तो यह साधारण सी बात है कि उच्चस्तरीय (Superior) सरकार कुछ शर्तें निर्धारित कर दे। अर्थात् ऋण भुगतान की अवधि निश्चित कर दे। यह स्वाभाविक है कि यह अवधि पूंजीगत वस्तु के जीवनकाल के अनुसार ही निर्धारित की जाय, अर्थात् ऋण का भुगतान पूंजीगत वस्तु के नष्ट होने तक चुका दिया जाय ताकि उसके नष्ट होते ही कोष के द्वारा फिर से नयी मशीन खरीदी जा सके। देखा जाय तो यह कोष घिसाई कोष के ही समान होता है। यदि ऋण युद्ध के लिये लिया गया है तो युद्ध समाप्त होते ही, युद्ध सम्बन्धी सामान को बेचकर ऋण का भुगतान करना चाहिये। कहने का अभिप्राय यही है कि ऋण का भुगतान कम से कम समय के अन्दर ही हो जाना चाहिय। दूसरे, ऋण भुगतान अवधि निश्चित कर लेने के बाद यह निश्चित करना चाहिये, कि भुगतान कोषों को इस अवधि पर किस प्रकार फैलाया जाय ? भुगतान कोषों का बटवारा इस समय अवधि पर तीन प्रकार से किया जा सकता है, प्रथम, वार्षिक भुगतान जब बढ़ता जाय, दूसरा जब समान रहे और तीसरा जब घटता जाय।[9] पहली रीति म निरन्तर जमा होने वाला (Cumulative) परिशोध कोष स्थापित किया जाता है और ब्याज चक्र वृद्धि (Compound) की दर पर बढ़ता जाता है। हर वर्ष इस कोष में एक निश्चित धन राशि जमा की जाती है और प्रत्येक वर्ष का ब्याज भी इसी म जुड़ता चला जाता है। दूसरी रीति में, कोष मे, वर्ष मे प्राप्त की हुई ब्याज की पूरी राशि जमा नही की जाती, वरन् उसका केवल एक भाग ही जमा होता है और शेष को ऋणदाताओं मे बाट दिया जाता है। इस रीति से ऋण भार प्रत्येक वर्ष समान रहता है। तीसरी रीति में, किसी एक वर्ष में प्राप्त हुई ब्याज की राशि से भी अधिक राशि का भुगतान ऋणदाताओं को कर दिया जाता है, परिणामस्वरूप ऋण भार प्रति वर्ष कम होता जाता है। इन तीनों मे राजनैतिक दृष्टिकोण से, तीसरी रीति सबसे उत्तम है, यदि इसको कार्यान्वित करना व्यवहारिक हो।[10] इन दोनों बातो को निश्चित कर लेने के बाद यह निश्चित करना चाहिये कि इन भुगतानो का बटवारा विभिन्न प्रकार के ऋणो मे किस प्रकार किया जाय ? यदि राजकीय ऋणो की प्रकृति एक जैसी होती तो कोई भी कठिनाई नही थी, किन्तु व्यवहारिक जीवन में राजकीय ऋणो में एकरूपता नहीं होती। उनम सूद की दर, भुगतान की अवधि व रीति आदि की इतनी भिन्नतायें होती हैं कि ऋण परिशोध कोष का बटवारा करना बहुत ही कष्टदायक होता है। ऐसी स्थिति में या तो परिशोध कोष को सरकार के लिये पूर्ण रूप से स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय, अर्थात् सरकार जिस प्रकार चाहे उसका प्रयोग करे, जिस ऋण को उचित समझे उसका भुगतान करे, या दूसरी विधि

9 Dalton, *Op cit.* P. 272
10 Dalton *Ibid.* P. 272

यह हो सकती है कि कोष को विशेष ऋणों के लिए एक निश्चित रीति से निश्चित कर दिया जाय और सरकार इस प्रकार निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार ऋणों का भुगतान करती रहे। या तीसरी विधि यह हो सकती है कि कोष का कुछ भाग, कुछ विशेष ऋणों के लिये निश्चित कर दिया जाय और शेष के उपयोग के लिये सरकार को स्वतन्त्रता दे दी जाय ताकि वह जिस प्रकार चाहे उसका उपयोग करे। पहली विधि के अनुसार सरकार को स्वतन्त्रता इसीलिए आवश्यक समझी गई है ताकि वह कोष का अधिकतम उपयोग कर सके और उन ऋणों के भुगतान करने पर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर सके, जिनका भुगतान किसी विशेष समय पर लाभ-कारक तथा सस्ता हो। दूसरी विधि के पक्ष में दो तर्क दिये जा सकते हैं। प्रथम, विशेष कोषों को विशेष ऋणों के लिये निर्धारित कर देने से प्रतिभूतियों विशेष के मूल्य ऊंचे रहते हैं और ऋणी के दृष्टिकोण से उनकी वास्तविक स्थिति सुधर जाती है और उनको बाद में परिवर्तित करना सरल हो जाता है। दूसरा, तर्क यह दिया है कि ऐसा हो जाने के बाद सरकार कोष का किसी और काम के लिये प्रयोग नहीं कर सकती। यह दूसरा तर्क अधिक महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यह दोनों विधियाँ दो सीमायें हैं और नीति को व्यवहारिक बनाने के लिये आवश्यक यह है कि सदैव ही बीच का रास्ता अपनाया जावे अर्थात् कोष के कुछ भागों को विशेष ऋणों के लिये निश्चित कर दिया जाय और कोष के शेष भाग को प्रयोग में लाने के लिये सरकार को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाय।[11]

(ब) भुगतान की दूसरी विधि के अनुसार सरकार ऐसी व्यवस्था कर सकती है कि चालू किए गये बौंडों में से कुछ की परिपक्वता अवधि प्रत्येक वर्ष पूरी हो। ऐसे बौंडों की संख्या क्रम के अनुसार आरम्भ में ही निश्चित कर दी जाती है। इस विधि के अनुसार ऋण का एक भाग प्रत्येक वर्ष चुकता जाता है। इस विधि का प्रयोग अमेरिका में स्थानीय सरकारों द्वारा खूब हुआ है।

(स) उपर्युक्त रीति में ही एक संशोधन कर दिया जाता है वह यह कि बौंडों की संख्या क्रमानुसार आरम्भ में ही निश्चित न करके लौटरी के अनुसार प्राप्त कर ली जाती है। इस विधि में एक दोष यह है कि विनियोग कर्ताओं को यह तो निश्चित होता ही नहीं कि उन्हें ऋण कब वापिस मिलेगा इसलिये हो सकता है कि उनको ऋण ऐसे समय पर वापिस दिया जाय, जबकि उसके विनियोग के अन्य साधन उनको उपलब्ध न हों और उनका धन बेकार पड़ा रहे।

५ पूँजी कर (Capital Levy)—ऋण के भुगतान करने के लिए सरकार कोई विशेष कर या पूँजी कर भी लागू कर सकती है। यह वह कर है जो व्यक्तियों की सम्पत्ति पर लगाया जाता है। एक निश्चित कर रहित सीमा निर्धारित कर दी जाती है और उसके ऊपर की सम्पत्तियों पर कर लगाया जाता है। यह कर प्रगतिशील होता है। यह कर प्रथम महायुद्ध के बाद एक बड़े वाद विवाद का विषय रहा है। रिकार्डो का विचार था कि एक देश को कठिनाइयों से बचने के लिए अपने आप

11 Dalton, *Op cit* P 274

को ऋण से जल्दी से जल्दी मुक्त कर लेना चाहिये, चाहे ऐसा करने के लिये उसे अपनी सम्पत्ति के किसी भाग का बलिदान ही क्यों न करना पड़े। रिकार्डो के जितने भी अनुयायी हैं वे सभी ऋण भुगतान के लिये पूंजी कर का समर्थन करते हैं। परन्तु कुछ लोग इसका कड़ा विरोध करते हैं। पूंजी कर के पक्ष तथा विपक्ष में दिये गये तर्कों का अध्ययन हम यहाँ पर करेंगे :—

पूंजी कर के पक्ष में तर्क—पूंजी कर के पक्ष में निम्न तर्क दिये गये हैं :—

(१) पूंजी कर द्वारा हम ऋण से मुक्त हो जाते हैं और उद्योगों तथा व्यापार को भी हानि नहीं पहुँचती वरन् उनकी उन्नति होती है, क्योंकि उन पर कर का भार नहीं बढ़ता। साथ ही ब्याज के रूप में जो धन जाता वह बच जाता है, और हम फिर उसका प्रयोग अन्य कार्यों में कर सकते हैं।

(२) युद्ध सम्बन्धी ऋणों को तो तुरन्त ही युद्ध समाप्त होते ही पूंजी कर लागू करके चुका देना चाहिए। युद्ध के बाद मूल्य-स्तर ऊँचा होता है। उस समय ऋण का भुगतान करने से ऋण भार कम पड़ता है। परन्तु यदि युद्ध के काफी समय बाद जब मूल्य-स्तर कम हो जाय तब ऋण का भुगतान करने से व्यक्तियों पर ऋण का भार अधिक होगा, इसलिये पूंजी कर की सहायता से युद्ध ऋणों का तुरन्त ही भुगतान किया जा सकता है।

(३) यह अनुचित होगा कि जिन लोगों ने लड़ाई में अपनी जान खतरे में डाली, मुसीबतें सहन कीं, उनको लड़ाई से लौटने के बाद अपनी चालू आय में से ऋण सम्बन्धी ब्याज के भुगतान के लिये अन्य भुगतान करना पड़े और ऋण का भार सहन करना पड़े। इस प्रकार युद्ध के लड़ने वालों को युद्ध का भार बहुत अधिक सहन करना पड़ेगा। दूसरी ओर वे लोग जिन्होंने अपनी जानें लड़ाई में भाग न लेकर खतरे में नहीं डालीं, जिन्होंने व्यापार तथा उद्योगों से बहुत अधिक लाभ प्राप्त किये हैं, जिन्होंने केवल ऋण ही दिये हैं और उनसे भी उन्हें ब्याज की राशि प्राप्त होगी, उनको ऋण का कोई भी भार सहन न करना पड़ेगा। इसलिए यह न्याय संगत होगा कि पूंजी कर लगाकर ऋण का भुगतान करा जाय।

पूंजी कर के विपक्ष में तर्क—पूंजी कर के विपक्ष में निम्न तर्क दिए गए हैं —

(१) इस कर के लगने से व्यक्तियों की काम करने तथा बचत करने की शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(२) इस कर के लगने के कारण विदेशों को पूंजी का स्थानान्तरण होने लगता है।

(३) पूंजी के मूल्यों को आकने में अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

(४) इस कर के प्रबन्ध में, अधिक मनमाने ढंग से काम लेना पड़ता है।

यह सब कुछ होते हुए भी पूंजी कर को सामान्य कर प्रणाली में आजकल एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। युद्ध काल के ऋण भार को कम करने के

लिए तो इस का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। साधारणतया अस्थायी ऋण का भार कम करने के लिए तो पूंजी कर बहुत ही लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

राजकीय ऋणों के प्रभाव—

राजकीय ऋणों की व्यवस्था इतनी महत्वपूर्ण एवं प्रभाव पूर्ण होती है कि इसमें सरकार को बड़ी सतर्कता से कार्य करना होता है। किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था, व्यापार, उद्योग तथा व्यक्तियों के उपभोग धन के वितरण आदि सभी पर राजकीय ऋण प्रबन्ध के बड़े महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ते हैं ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार करारोपण तथा राजकीय व्यय के प्रभाव होते हैं। आर्थिक शब्दों में आय प्राप्त करना तथा उसको खर्च करना दो भिन्न भिन्न क्रियाएँ हैं और इनके प्रभाव भी भिन्न भिन्न होते हैं। इसीलिए करारोपण और राजकीय व्यय के प्रभावों का अध्ययन पूर्णतया अलग अलग किया जाता है। राजकीय ऋण व्यवस्था के सचालन में एक अद्भुत बात यह है कि यह एक ही क्रिया होते हुए भी, दो क्रियाओं अर्थात् आय प्राप्त करना और व्यय करना, दोनों का मिश्रण है। जब ऋण उगाया जाता है तो उसके प्रभाव अलग पड़ते हैं, जब उस के भुगतान के लिए कर लगाए जाते हैं तो उसके प्रभाव अलग होते हैं और जब लिए हुये ऋणों को खर्च किया जाता है तो उसके प्रभाव अलग पड़ते हैं। इस प्रकार ऋण व्यवस्था के सचालन से कई तरह के प्रभाव उत्पन्न होते हैं और राजकीय ऋणों के प्रभावों का अध्ययन करने के लिए इन सभी प्रभावों का अध्ययन होना आवश्यक है। परन्तु हम राजकीय ऋण व्यवस्था के सचालन को केवल एक समुचित क्रिया के रूप में लेते हैं। इस क्रिया के हर पग पर धन एवं क्रय शक्ति का हस्तान्तरण होता है। जब सरकार किसी ऋण को चालू करती है तब धन का हस्तान्तरण ऋण खरीदने वालों से सरकार को होता है और जब इस राशि को व्यय करती है तो ऋणों द्वारा प्राप्त धन उन व्यक्तियों पर पहुंच जाता है जिन पर उसका व्यय हुआ है। जब ऋणों का ब्याज चुकाने के लिए सरकार कर लगाती है तो फिर करदाताओं से क्रय शक्ति ऋणदाताओं के हाथों में पहुँच जाती है और जब ऋणों के मूलधन का भुगतान किया जाता है तब भी क्रय शक्ति का स्थानान्तरण होता है और यह स्थानान्तरण अन्तिम होता है। अत हम ऋण व्यवस्था के सचालन को एक समुचित क्रिया मान कर ही उसके प्रभावों का अध्ययन करेंगे —

(अ) **उत्पादन तथा उपभोग पर प्रभाव**—राजकीय ऋण वर्तमान तथा भविष्य, दोनों ही में देश की उत्पादन शक्ति को प्रभावित करते हैं क्योंकि राजकीय ऋण व्यक्तियों की काम करने, बचत करने और विनियोग करने की योग्यता एवं इच्छा को प्रभावित करते हैं और साधनों का विभिन्न उपयोगों में वितरण करते हैं। जहाँ तक कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा का सम्बन्ध है, उस पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है। यदि ऋण से प्राप्त किया हुआ धन ऐसे कार्यक्रमों पर व्यय किया जाता है, जो उत्पादक होते हैं और जिन से व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति

बढती है तो स्पष्ट ही है कि व्यक्तियो के कार्य करने, बचाने तथा विनियोग करने पर कोई भी बुरा प्रभाव नही पडता। यदि यह धन ऐसी मदो पर व्यय किया गया जिनसे निर्धन व्यक्तियों की आय बढती है, तो निर्धन व्यक्तियो के काम करने तथा बचाने की शक्ति में वृद्धि होती है। यदि ऋण से प्राप्त किया हुआ धन उत्पादक कार्यों पर लगा दिया जाता है तब तो ब्याज तथा मूलधन के भुगतान के लिय करारोपण की कोई आवश्यकता ही नही होती। किन्तु यदि धन अनुत्पादक कार्यों पर खच होता है तो सरकार ऋण के व्याज तथा मूलधन की राशि का भुगतान करने के लिय व्यक्तियों पर कर लगायगी और तब व्यक्तियो के कार्य तथा बचत करने की शक्ति पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पडेगा। यदि सरकार ऋण के सूद का भुगतान करने के लिय अपने व्यय म कमी कर देती है और ऐसी मदो पर खर्चों म कमी करती है जिससे उत्पादन म कमी आ जाती है, तब भी देश को हानि होगी और यह ऋण का अप्रत्यक्ष प्रभाव होगा। राजकीय ऋण व्यवस्था के सचालन से कार्य करने की तथा बचत करने की शक्ति पर एक दूसरे प्रकार से भी बुरा प्रभाव पडता है। जब सरकार ऋण एकत्रित करती है तो, जिस धन से व्यक्ति ऋण खरीदते है, वह वर्तमान उत्पादन के लिए उद्योग धन्धो म नही लगाया जा सकता जिससे उत्पत्ति को हानि होती है।

राजकीय ऋण व्यवस्था के सचालन से कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर तो निःसदेह ही बुरा प्रभाव पडता है। इसम तो कोई सदेह नही कि सरकारी ऋण, व्यक्तियों के लिये विनियोग के सबसे उत्तम और सुरक्षित अवसर प्रदान करते है और कुछ लोगो म बचाने की इच्छा उत्पन्न होती है और कुछ पहले की अपेक्षा अधिक बचाने लगते हैं। किन्तु जब सरकार ऋण के सूद की राशि तथा मूलधन का भुगतान करने के लिय कर लगाती है तब उस करारोपण से व्यक्तियों की इच्छा पर बुरा प्रभाव पडता है। इसके अतिरिक्त जिन व्यक्तियो ने अपना धन सरकारी प्रतिभूतियो म लगा रखा है उनको तो निरन्तर आय प्राप्त होने का एक साधन उपलब्ध हो जाता है, और उनकी काम करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पडता है। यही ऋण के अप्रत्यक्ष प्रभाव हैं। यदि एक दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय तो व्यक्तियों के कार्य करने की शक्ति एव इच्छा में वृद्धि होनी है। जब सरकार ऋण प्राप्त करती है तो सामान्य रूप मे व्यापारिक जगत म आशा की लहर उत्पन्न हो जाती है और वे सोचने लगते हैं कि भविष्य म उनकी आय अधिक होगी, इसलिए वह उत्पत्ति बढाने के लिय ऋण बैंको से लेते हैं और इस प्रकार देश मे उत्पत्ति बढती है।

राजकीय ऋण व्यवस्था से साधनो का स्थान्तरण वर्तमान उपयोगो से नये उपयोगो म होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब सरकार ऋण लेती है तो वह उसको उन उपयोगो में तो लगाती नही जिन म व्यक्ति लगाते या जिनमें लगे हुए थे। इसलिय, यदि सरकार ऐसे उपयोगो म लगाती है, जिनसे व्यक्तियो की उत्पादन शक्ति बढती है तब तो ये अच्छा है और यदि चालू घाटा या युद्ध के सचालन में

उसको लगा देती है तब देश पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

राजकीय ऋणों से वर्तमान उपभोग तो हतोत्साहित नहीं होता, किन्तु भविष्य में उपभोग पर अवश्य ही बुरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि सरकार ऋण आदि का भुगतान करने के लिये कर लगाती है जिसका भुगतान व्यक्ति अपनी वर्तमान आय में से करते हैं और इसलिए उनको अपना उपभोग कम करना पड़ता है। दूसरी ओर सरकार प्राप्त किये हुये ऋण को ऐसी वस्तुओं की उत्पत्ति पर खर्च करती है जिन पर व्यक्ति कभी भी धन लगाने को तैयार नहीं होता। ये वस्तुएँ व्यक्तियों के लिए उपयोगी होती है और ये व्यक्तियों को कम मूल्य पर मिलने लगती हैं जिससे उन का उपभोग का स्तर ऊँचा हो जाता है।

साधारणतया हम कह सकते हैं कि राजकीय ऋण व्यवस्था से वर्तमान उपभोग तथा उत्पादन तो हतोत्साहित होते है और भविष्य में प्रोत्साहित होते हैं।

(ब) वितरण पर प्रभाव—हम पहले कह चुके है कि राजकीय ऋणों द्वारा क्रय शक्ति का कई बार हस्तान्तरण होता है। जब सरकार ऋण प्राप्त करती है तो क्रय शक्ति व्यक्तियों से सरकार के पास पहुँच जाती है। यदि यह ऋण केवल धनी व्यक्तियों द्वारा ही खरीदे जाये और सरकार इनसे प्राप्त आय को केवल निर्धन व्यक्तियों पर ही खर्च करे या ऐसी सेवाओं पर खर्च करे जिनसे निर्धन व्यक्तियों को अधिक लाभ पहुँचे तब तो य हस्तान्तरण न्यायोचित होता है, किन्तु स्थिति, यदि इसके पूर्णतया विपरीत है तब उससे देश की हानि होगी और धन की असमानतायें घटने के स्थान पर बढ़ेंगी। व्यवहार में अधिकतर यही होता है कि वर्तमान असमानताओं के कारण धनी व्यक्ति ही राजकीय प्रतिभूतियों में अपना धन लगाते हैं, किन्तु ऋण का भुगतान करने के लिए जब करारोपण किया जाता है तब उसका भार निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है और धन की असमानतायें, प्राय पहले की अपेक्षा अधिक हो जाती हैं। डाल्टन ने इसे 'ऋण का वास्तविक भार' कहा है। यदि ऋण पत्र छोटे मूल्यों के होते हैं और वे छोटी आय वाले व्यक्तियों द्वारा खरीदे जाते हैं तो इन व्यक्तियों को ब्याज का भुगतान होने पर धन की असमानतायें कुछ अंशों तक दूर हो सकती हैं, किन्तु ऐसे ऋण पत्रों की संख्या बहुत अधिक होते हुए भी उनसे प्राप्त आय का कुल राजकीय ऋण की राशि में अनुपात बहुत कम होता है और इसलिए आय की असमानतायें प्राय बढ़ ही जाती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे उत्पन्न हो जाते हैं जो अपनी आय सरकारी प्रतिभूतियों के स्वामित्व से ही प्राप्त करते हैं। वह सूद प्राप्त करते हैं, जिसका भुगतान करदाता करते हैं। इस प्रकार धन का हस्तान्तरण उन व्यक्तियों से, जो मेहनत करके आय प्राप्त करते हैं, ऐसे व्यक्तियों को होता है, जो बिना मेहनत किये ही सूद की आय बैठे-बैठे खाते हैं। युद्ध सम्बन्धी ऋणों से तो ये असमानतायें और भी अधिक हो जाती हैं, क्योंकि मूल्य गिरने पर भी व्यक्तियों की सूद की आय उतनी ही रहती है जितनी मूल्य बढ़ने की स्थिति में थी और सूद की दर भी समान रहने पर कर दाताओं पर मूल्य गिर जाने के बाद अधिक भार पड़ने लगता है। इस प्रकार धन और आय, दोनों ही की

असमानतायें प्राय और अधिक हो जाती हैं। यह ध्यान रहे कि यह सारी स्थितियाँ, जिनका वर्णन अभी हमने किया है, उसी समय उत्पन्न होती हैं, जबकि राजकीय ऋण को अनुत्पादक कार्यों में लगाया जाता है। यदि ऋण उत्पादक कार्यों पर खर्च किया जाय तो धन का वितरण कुछ अंशों तक समान होगा। एक दूसरे दृष्टिकोण से भी ऋण के प्रभावों का अध्ययन किया जाता है और इस दृष्टि से राजकीय ऋणों के प्रभाव बहुधा अच्छे बताये जाते हैं। जब राजकीय ऋण ऐसे कार्यों पर खर्च किये जाते हैं जिनसे निर्धन व्यक्तियों को लाभ पहुँचता है तो उससे धन के वितरण की असमानतायें कुछ अंशों तक कम होती हैं।

(स) **व्यवसायिक क्रियाओं तथा रोज़गार पर प्रभाव**—राजकीय ऋणों द्वारा व्यवसायिक क्रियाओं तथा देश मे रोज़गारों की स्थिति में भी परिवर्तन उत्पन्न किये जाते हैं। आधुनिक लेखकों के अनुसार राजकीय ऋणों का यह कार्य अधिक महत्व-पूर्ण है। सरकार व्यापार तथा उद्योगों, रोज़गार तथा मूल्यस्तर को अपने व्यय द्वारा नियमित करती है और इस व्यय के लिए, राजकीय ऋणों द्वारा धन प्राप्त करने का आज, राजकीय अर्थ व्यवस्था म विशेष स्थान तथा महत्व दिया जाता है। आधुनिक 'घाटे की व्यय व्यवस्था' (Deficit Spending) सिद्धान्त इसी विचार पर आधारित है। व्यापारिक मन्दी मे जब चारो ओर निराशा और उदासीनता का वातावरण छा जाता है, व्यापार का गला घुट जाता है, मूल्य, उत्पादन और उपभोग स्तर गिर जाता है और बेकारी बढती जाती है और साख संस्थाओं की स्थिति खराब हो जाती है, उस समय सरकार ऋण प्राप्त करके स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करती है। वह सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त करती है और उसे ऐसे कार्यक्रमों पर खर्च करती है, जैसे, रेलों, नहरों, सड़कों, नए-नए कारखानों आदि में जिससे अधिकाधिक व्यक्तियों को रोज़गार प्राप्त होता है और व्यक्तियों के पास धन पहुँचने से उनकी क्रय शक्ति बढ़ जाती है, मूल्य बढने लगते हैं और व्यापारिक जगत में फिर से स्फूर्ति आ जाती है। कीन्स ने इसे 'नल विस्फोटक क्रिया' (Pump Priming) कहा है और व्यवसायिक मन्दी काल के लिए इसे बहुत महत्वपूर्ण बताया है। साधारणतया इसे हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) से सम्बोधित किया जाता है। गत वर्षों म विशेषकर १९३० के मन्दी काल से इस नीति का बहुत प्रयोग किया गया है। अमेरिका में इस नीति को मन्दी काल में, कार्यान्वित करने मे विशेष उत्साह दिखाया गया था। अकेले वर्क के प्रोग्रैस एडमिनिस्ट्रेशन (Worker's Progress Administration) नामक संस्था ने ही १००००० से अधिक सार्वजनिक इमारतें, ५६५००० मील लम्बी सड़कें, १८०००० पुल, ३६००० स्कूल तथा पुस्तकालय, ७००० पार्क तथा खेल के मैदान बनवाये तथा उन्नत किये गये। परिणामस्वरूप, देश में स्थायी लाभ पहुंचाने वाली सम्पत्ति निर्मित हो गई तथा निराशा के वातावरण मे आशा की किरण चमक उठी।[12] अमेरिका के अतिरिक्त अन्य देशों में भी इस नीति का प्रयोग हुआ है। डाल्टन ने अपने विचारों को प्रकट

12. K. D. Jalan, *A Pamphlet on Unemployment in India* P. 14.

करते हुए इस नीति को करारोपण की अपेक्षा अधिक उपयुक्त बताया है।[13] उनके अनुसार आवश्यक धन या तो करारोपण द्वारा या ऋणों द्वारा प्राप्त होता है। इन कार्यों के लिए करों द्वारा आय प्राप्त करने मे कोई लाभ नही होता क्योंकि करारोपण मे केवल धन का हस्तान्तरण जनता से सरकार को होता है और जब एक ओर रोजगार म वृद्धि होती है दूसरी ओर निजी उद्योगो में पूँजी का अभाव हो जाता है। निजी उद्योगो में उत्पादन कम होने से रोजगार की स्थिति लगभग समान ही रहती है। दूसरी ओर यदि सार्वजनिक कार्यों म ऋणो द्वारा प्राप्त करके धन लगाया जाता है तो उससे माग का विस्तार होने से वस्तुओं की माँग बढती है और रोजगार म वृद्धि होती है। दोनो ओर से अर्थात राजकीय खजाने से और निजी जेबो से, उद्योगो मे धन का प्रवाह होता है, उत्पादन बढता है और बेकारी कम होने लगती है।

अभी तक हमने केवल मन्दी काल में ही राजकीय ऋणो के प्रभावों का अध्ययन किया है। मुद्रा स्फीति काल म भी इसका महत्व बहुत अधिक होता है। मुद्रा सकुचन में राजकीय ऋणो के प्रभाव व्यय द्वारा उत्पन्न होते हैं, जब कि मुद्रा स्फीति मे राजकीय ऋण के प्रभाव ऋण उगाने के द्वारा उत्पन्न होते ह। मुद्रा सकुचन की स्थिति में सरकार केन्द्रीय बैंक से ऋण लेती है और फिर उस धन का प्रसार व्यक्तियों में करती है और मुद्रा स्फीति में सरकार व्यक्तियो से ऋण प्राप्त करती है और जो अतिरिक्त धन व्यक्तियो की जेबो मे होता है उसे निकाल कर क्रय शक्ति कम करती है जिससे मूल्य स्तर नीचा हो जाता है और सरकार अपने उद्देश्य म सफल हो जाती है।

राजकीय ऋणों के लाभ—अब हम सक्षेप मे राजकीय ऋणो के लाभो की विवेचना करेंगे :—

(१) राजकीय ऋणो से देश के उद्योगो को प्रोत्साहन मिलता है उत्पादन बढता है राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है और जीवन स्तर ऊँचा होता है।

(२) इन ऋणो की सहायता से विशालकाय सार्वजनिक कार्य तथा योजनाएँ जैसे जल विद्युत सडके नहरें पुल, रेल इत्यादि कार्यान्वित की जा सकती हैं और देश मे सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति होती है और प्रशासन मे कुशलता आती है।

(३) प्राकृतिक सकटो को दूर करने मे सरकार इन्ही का सहारा लेती है।

(४) विदेशी आक्रमणकारियो से देश को बचाने के लिये युद्ध सचालन मे राज्यो को सकटकाल में ऋणो द्वारा ही आवश्यक दान प्राप्त हो सका है। इसलिये राजकीय ऋण देश की स्वतन्त्रता को बनाये रखने म तथा नागरिको की सुरक्षा करने मे सहायक होते हैं।

(५) व्यक्तियो के लिये, राजकीय ऋण विनियोग के सुरक्षित स्रोत प्रदान करते हैं।

13 Op Cit, Page 228 229

(६) व्यक्तियों तथा देश मे राजकीय ऋणो द्वारा ज्ञान का प्रसार होता है, साधनो का समान वितरण होता है और पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना भी बढती है।

(७) अविकसित तथा अर्धविकसित देशो के आर्थिक विकास के लिये राजकीय ऋण नितान्त आवश्यक हैं और आज ससार के जितने भी विकसित तथा उन्नत देश हैं, उन सभी ने ऋण प्राप्त करके अपनी आर्थिक उन्नति की है।

राजकीय ऋणों की हानियाँ—जहाँ राजकीय ऋणो से इतने लाभ हैं, इनसे हानियाँ भी बहुत हैं। ये निम्नांकित हैं —

(१) राजकीय ऋणो से सरकारो म साधारणतया अपव्यय की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

(२) आसानी से ऋण मिल जाने के कारण, सरकारो मे ऋण लेने की आदत सी उत्पन्न हो जाती है, और इसके दुष्परिणाम जनता को सहन करने पडते हैं। साथ ही सरकारो के दिवालिया होने का बहुत भय रहता है।

(३) इन ऋणो के कारण बहुधा देशीय साधना का शोषण विदेशियो के हित मे हुआ है। देश के उद्योगो पर विदेशियो का स्वामित्व रहा है। देश का बहुत सा धन ब्याज के रूप मे विदेशो को जाता रहता है। परिणामस्वरूप देश मे पूँजी का निर्माण नही हो पाता।

(४) राजनैतिक क्षेत्र में ऋणी देश प्राय अपनी स्वतन्त्रता खो बैठते है।

(५) राजकीय ऋण राजनैतिक मतभेद, तथा युद्ध जैसे सकट भी उत्पन्न कर देते हैं।

(६) ऐसे ऋणो को प्राप्त करके सरकार अपनी आर्थिक कमजोरियो को छुपाने मे सफल हो जाते हैं और अन्त म राजकीय अर्थ-व्यवस्था इतनी दोषपूर्ण हो जाती है कि फिर कोई उपचार नही रहता।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजकीय ऋणो के भी, अन्य वस्तुओ की भाँति गुण और दोष हैं। दोषो के गम्भीर परिणामो को कम करने के लिये यह आवश्यक है कि राजकीय ऋण व्यवस्था का सचालन वडी सतर्कता से किया जाय, अनावश्यक ऋण नही प्राप्त किय जायें और ऋणो के भावी परिणामो को ध्यान म रखकर उन का उपयोग किया जाय अर्थात् जहाँ तक सम्भव हो ऋण को केवल उत्पादक कार्यो म ही लगाया जाये।

राजकीय ऋण व्यवस्था की सीमायें—

राजकीय तथा व्यक्तिगत ऋणो के भेद बताते हुए हमने कहा था कि व्यक्ति की अपेक्षा राजकीय साख बहुत अधिक होती है और राज्य की आयु लम्बी होने के कारण उसको दीर्घकालीन ऋण प्राप्त हो सकते है तथा राज्य स्वय अपने से भी ऋण प्राप्त कर सकता है। इन्हीं बातो को देखते हुए हम राज्य की ऋण प्राप्त करने की शक्ति की सीमाओ का वर्णन यहाँ पर करेंगे। राज्य के ऋण प्राप्त करने के मुख्य-

तथा तीन स्रोत होते हैं बाह्य ऋण—विदेशों से, आन्तरिक ऋण—देश की जनता से और स्वयं से—हीनार्थ प्रबन्धन अर्थात नोट छाप कर। इन तीनों की सीमाओं का उल्लेख हम निम्न में करेंगे :—

(१) बाह्य ऋण—विदेशों से ऋण सरलता से प्राप्त नहीं होते। जब कभी भी एक राज्य दूसरे राज्य को ऋण देता है तो पूर्णरूप से देश की आर्थिक स्थिति, राजनैतिक स्थिति, प्रबन्ध की कुशलता, मौद्रिक स्थिरता, ऋण का उद्देश्य, ऋण भुगतान करने की रीति आदि बातों का अध्ययन कर लेता है। आजकल विदेशी जगत में इतनी उलट फेर हो रही है कि किसी समय भी युद्ध छिड़ सकता है। देश की आन्तरिक सरकार बदलने में तो कोई देर नहीं लगती। पाकिस्तान, ब्रह्मा आदि देशों के उदाहरण हमारे सामने हैं। देश की सरकार बदलने से ऋणों के भुगतान जोखिम में पड़ जाते हैं। इसलिये सबसे पहले एक देश दूसरे देश की राजनैतिक स्थिरता की ओर ध्यान देता है, तत्पश्चात् आर्थिक स्थिरता तथा ऋण के उद्देश्य और ऋणभुगतान सम्बन्धी शर्तों पर खूब सोच-विचार करता है। आर्थिक स्थिरता, देश के बजटों से पता लग सकती है। आर्थिक स्थिरता और ऋण के उद्देश्य की जानकारी करना इसलिए आवश्यक है कि ऋणी देश की करदान योग्यता का पता लग जाये। आजकल जितने भी विदेशी ऋण दिए लिए जाते हैं उन सब की गारन्टी विश्व बैंक लेती है, यदि ऋणी तथा ऋणदाता देश विश्व बैंक के सदस्य हैं। विश्व बैंक इन्हीं सब बातों पर सोच विचार करने के बाद ऋण की गारन्टी लेती है। अतः जिस देश में आर्थिक स्थिरता है, राजनैतिक स्थायित्व जिसमें नहीं है तथा जो देश अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण प्राप्त करना चाहते हैं उनकी साख बहुत ही सीमित होती है, और उन्हें ऋण प्राप्त करने में बहुत कठिनाई होती है।

(२) आन्तरिक ऋण—राजकीय आन्तरिक ऋणों की राशि देश की जनता की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। देश की प्रति व्यक्ति आय तथा देश में व्यक्तियों के उपभोग स्तर पर बचतों की मात्रा निर्भर होती है। यदि व्यक्तियों में बचत करने की आदत व क्षमता नहीं है, यदि देश में विनियोग करने की सुविधायें नहीं हैं अर्थात् देश में उद्योग धन्धे उन्नत नहीं हैं और पूंजी का निर्माण बहुत निम्न-स्तर पर है तो सरकार को कभी भी असीमित मात्रा में ऋण नहीं प्राप्त हो सकते। सरकार को देश में प्राप्त होने वाले ऋणों की मात्रा इस बात पर भी निर्भर करती है कि सरकार की साख कैसी है, अर्थात सरकार ने पिछले ऋणों का समय पर भुगतान किया है या नहीं और सरकार पर ऋणों की कितनी मात्रा पहले से है। सरकार की ऋण प्राप्त करने की शक्ति इस बात पर भी निर्भर करती है कि सरकार की आर्थिक नीति कैसी है, सरकार देश में अपनी आय को सामाजिक कल्याण तथा उत्पादक कार्यों पर खर्च कर रही है या नहीं, देश में पूंजी का निर्माण हो रहा है या नहीं, देश में सरकार रोजगार बढ़ाने का तथा उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न कर रही है या नहीं और लोग सरकार की नीति से सन्तुष्ट हैं या नहीं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सरकार स्वदेशी है या विदेशी। स्वदेशी सरकार में

विदेशी सरकार की अपेक्षा नागरिकों को अधिक श्रद्धा तथा विश्वास रहता है और उसे सरलता से ऋण प्राप्त हो जाता है। अन्त में, आन्तरिक ऋणों की मात्रा इस बात से भी सीमित होती है कि ऋणों तथा सरकारी प्रतिभूतियों की प्रवृत्ति कैसी है। दीर्घकालीन ऋणों को प्राप्त करने में सरकार को सदैव ही कठिनाई होती है। अत: यह सोचना कि सरकार आन्तरिक ऋणों की सीमा का काफी अश तक विस्तार कर सकती है, पूर्णतया सत्य नहीं है।

(३) कागजी मुद्रा छाप कर—आधुनिक काल म इसका बहुत प्रयोग हुआ है। विभिन्न देशों की सरकारों ने इस नीति द्वारा सकटों को दूर करने में काफी सफलता प्राप्त की है। परन्तु इस नीति का भी केवल सीमित प्रयोग किया जा सकता है। अत्यधिक नोट निकासी से मुद्रा स्फीति का भय रहता है, जो एक बार आरम्भ होकर फिर नहीं रुकती। इसलिए देश को मुद्रा स्फीति के दुष्परिणामों से बचाने के लिए इस नीति का प्रयोग बहुत ही सतर्कता से करना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राज्य के ऋण प्राप्त करने की शक्ति भी व्यक्ति की भांति सीमित होती है।

अध्याय २५

भारत में राजकीय ऋण

(Public Debt in India)

प्राक्कथन—

संसार में राजकीय ऋणों का आधुनिक इतिहास प्रजातान्त्रिक सरकार के उदय के साथ २ आरम्भ होता है। प्राचीन समय में जबकि सभी स्थानों में साम्राज्यवाद प्रचलित था तो राजा महाराजा अपने पास सोना तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को अपने खजाने में जमा करते थे और संकट काल में उनका प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त वैसे भी उनकी सारी आय खजाने में एकत्रित की जाती थी और उसी में से देश का खर्चा किया जाता था। यह खजाने बहुधा युद्ध काल में खाली हो जाते थे। हिन्दू तथा मुसलिम काल में हमारे देश में ऐसे ही खजानों की प्रथा थी। साथ ही कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जबकि राजाओं ने व्यक्तिगत साख पर ऋण प्राप्त किए। परन्तु इन ऋणों का देश की सरकार की साख से कोई सम्बंध न था और भावी सरकारों पर इन ऋणों के भुगतान की कोई भी जिम्मेदारी नहीं होती थी। इसके अतिरिक्त अधिकतर ये ऋण केवल एक या दो व्यक्तियों से प्राप्त किये जाते थे और इन्हें अत्यन्त गोपनीय रखा जाता था। इसलिए वर्तमान राजकीय ऋण व्यवस्था एक आधुनिक घटना है क्योंकि न तो अब ऋण गोपनीय ही रखे जाते हैं और न यह केवल एक या दो व्यक्तियों से ही लिये जाते हैं। आजकल तो यह ऋण सम्पूर्ण जनता से प्राप्त किये जाते हैं और संसार के सभी देशों में आपस में इस प्रकार का लेन देन होता रहता है। प्राचीन समय में यह ऋण अधिकतर संकट काल में ही प्राप्त किये जाते थे परन्तु आजकल यह ऋण केवल संकटकालीन परिस्थितियों को ही दूर करने के लिये ही नहीं वरन् साधारण परिस्थितियों में भी प्राप्त किये जाते हैं और इनका मुख्य उद्देश्य देश का आर्थिक विकास करना होता है।

हमारे देश में राजकीय ऋणों का इतिहास ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय से आरम्भ होता है। उस समय में कम्पनी को अपनी प्रतियोगी फ्रांसीसी तथा डच कम्पनियों और देशी राजाओं से युद्ध करने के लिये ऋणों की आवश्यकता होती थी और जिन्हें वह इङ्गलैण्ड की सरकार से प्राप्त करती थी। सन् १७६५ में जब

कम्पनी को बगाल की दीवानी मिली तब यह पहले से ही ऋणगृस्त थी। धीरे २ कम्पनी का व्यापार कम होता गया और उस पर शासन का भार बढता गया। बगाल से प्राप्त होने वाली आय भी राज्य को बढाने तथा व्यापार सम्बधी कार्यो पर व्यय होने लगी। सन् १८१४ में कम्पनी के हाथ में भारत का शासन प्रबन्ध आ गया और अब कम्पनी के पास व्यापार का एकाधिकार न था। वह अन्य व्यापारी कम्पनियों की भाँति एक साधारण कम्पनी रह गई थी। सन् १८३४ के बाद कम्पनी ने अपने व्यापार को बिलकुल बन्द कर दिया और उस समय कम्पनी पर ३७० लाख पौड का ऋण था। इसी वर्ष ब्रिटिश ससद और कम्पनी के डायरेक्टरो के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सारी धरोहर भारत सरकार की ओर से ब्रिटिश सरकार (Crown) के नाम लिख दी गई। कम्पनी के ऋण तथा अन्य दायित्वो का भुगतान भारत को करना था और कम्पनी को १०३% के हिसाब से लाभ का भुगतान करना था जो भारत की आय में से दिया जाना निश्चित हुआ था। कम्पनी के व्यापारिक कार्यकर्त्ताओ को भी उचित मुआवजा मिलना निश्चित हुआ था और ऋण के भुगतान के लिए एक कोष स्थापित कर दिया गया था। कुछ समय तक तो ऋण की मात्रा घटती गई परन्तु कम्पनी को बहुत से युद्ध लडने के कारण ऋण की मात्रा में फिर वृद्धि होने लगी और सन् १८५६ तक कम्पनी पर लगभग ४६० लाख पौड के ऋण हो गये थे। सन् १८५७ मे गदर हुआ जिसमे ४४० लाख पौड खर्च करने पडे। इस राशि को भी भारत के राजकीय ऋणो में जोड दिया गया। सन् १८७० में भारत के राजकीय ऋणो की राशि एक करोड पौंड हो गई थी जिसमे कुछ तो रुपयो के ऋण (Rupee loans) थे और कुछ पौड ऋण (Sterling loans) थे। रुपया ऋण पर सूद की दर ४३% थी और पौड ऋण पर ५%।

सन् १८७० म भारत ने निर्वाधावादी नीति को त्याग दिया और राजकीय व्यवसायिक कार्यो का निर्माण आरम्भ किया। भारत सरकार ने रेलो को बनवाना आरम्भ किया, नहरे खुदवानी आरम्भ की, सडके इत्यादि बनवाना आरम्भ की, जिस क लिये सरकार को और अधिक ऋण लेने पडे। अब भारतीय ऋणो को दो भागो मे विभाजित कर दिया गया—उत्पादक तथा साधारण। १९ वीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय ऋणो की कुल राशि २३१ करोड रु० थी जिसमें १७० करोड रु० के उत्पादक ऋण थे। अगले १५ वर्षो के अन्दर इन ऋणो की राशि ४१० करोड रुपए हो गई। सन् १९२४ तक भारत सरकार ने अपनी ऋण सम्बन्धी नीति म पूर्ण परिवर्तन कर दिया और अनुत्पादक ऋणों को समाप्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु क्योंकि भारत सरकार को प्रथम महायुद्ध पर काफी व्यय करना पडा इसलिए अनुत्पादक ऋण पूर्णतया समाप्त न हो सके। सन् १९२४ म भारत के साधारण ऋण २०५ करोड रुपयो के थे और ५३८ करोड रुपयो के उत्पादक ऋण थे। इसी वर्ष भारत सरकार के वित्त सदस्य (Finance Member) सर ब्लैकिट ने ऋण के भुगतान के लिये एक नई योजना निर्मित की। उन्होने ऋणो का ८० वर्षो म भुगतान करने का निश्चय किया। इस योजना के अनुसार सन् १९२५ से १९३० तक की अवधि

में अनुत्पादक ऋणों की मात्रा को २०५ करोड़ रुपयों से घटा कर १७६ करोड़ रुपए कर दी। परन्तु सन् १९३० के मन्दी काल में भारत सरकार को हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लेना पड़ा और सन् १९३४ में कुल राजकीय ऋणों की राशि १२२४ करोड़ रुपए हो गई।

सन् १९३७ में प्रान्तीय स्वशासन की नीति के कार्यान्वित होने से प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों की आय के साधन अलग २ हो गए। इस वर्ष कुल राजकीय ऋण १२०६ करोड़ रुपयों के थे जिसमें से प्रान्तों के हिस्सों में ३० करोड़ रुपये आये और केन्द्रीय सरकार के हिस्से में ११७६ करोड़ रुपयों के ऋण आए। सन् १९३९ में दूसरी लड़ाई आरम्भ हुई और भारत सरकार को फिर से हीनार्थ प्रबन्धन करना पड़ा तथा विदेशी ऋण भी प्राप्त करने पड़े। युद्ध की प्रगति के साथ २ इन ऋणों की राशि बढ़ती ही गई और युद्ध के अन्त में यह राशि १८६०·४४ करोड़ रुपए थी। यह राशि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

(करोड़ रुपयों में)

पौंड ऋण	.... ३४.१९
रुपये ऋण	.. .. १२१२.१४
अल्प बचत	.... १५९.१८
खजाने के बिल तथा प्रतिभूतियां इत्यादि	.. .. ८६·७०
कुल सूद सहित ऋण	.. .. १८६०.४४

युद्ध के वर्षों में ऋण की प्रगति की समुचित स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट होती है—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	रुपया ऋण	बाह्यऋण	वर्ष	रुपया ऋण	बाह्य ऋण
१९३९	७१०	४६९	१९४३	१,२०६	५६
१९४०	७१८	४४२	१९४४	१,३४३	३९
१९४१	८१६	३४५	१९४५	१,५०१	३८
१९४२	९४१	२११	१९४६	१,९३७	२८
			१९४७	२,१२२	३७

सन् १९४७ में, १५ अगस्त को भारत स्वतन्त्र हुआ और देश का विभाजन होने से सम्पूर्ण भारत की धरोहरों (Assets) तथा दायित्वों (Liabilities) का भी विभाजन हुआ। पाकिस्तान के हिस्से में ३०० करोड़ रुपयों के ऋण आये जिनका भुगतान करने के लिये पाकिस्तान सरकार ने भारतीय सरकार को ३% ब्याज की दर से ५० किश्तों में देने का वायदा किया और भारतीय सरकार ने देश के विभाजन के पहले से सारे ऋणों को चुकाने की जिम्मेदारी अपने सर पर ली। भारतीय ऋणों को अब दो भागों में विभाजित किया गया, प्रथम आन्तरिक अर्थात् रुपया

ऋण दूसरे वाह्य अर्थात् पौंड, डालर आदि के ऋण। सन् १९४९ तक वाह्य ऋण अधिकतर पौंड ऋण थे परन्तु उसके बाद उनमे डालर ऋण भी सम्मिलित कर दिये गये। सन् १९५२ में स्थिति इस प्रकार थी —

(करोड रुपयों मे)

	मात्रा	कुल का प्रतिशत
(१) कुल आन्तरिक ऋण····· · ···	२,४९५ ४६	१००
बिना निधि (undated)	२५७ ८५	१० ३
दस साल से ऊपर	४६३ ४७	१८·६
५ और दस साल के भीतर	४५०·१४	१८ ०
५ साल से कम	२३२ ०५	९ ३
कोषागार पत्र (Treasury Bills)	३३२ ५१	१३ ३
अल्पबचत (Small Savings)	४०८·२३	१६ ४
अन्य देन	३५१ २४	१४ १
(२) कुल वाह्य ऋण	१३६ ९५	—

अविभाज्य भारत के राजकीय ऋणो का बटवारा पाकिस्तान और भारत मे निम्न सिद्धान्तो के आधार पर हुआ था :—

(अ) जहाँ तक उन ऋणो का सम्बन्ध था जो व्यवसायिक कार्यों के लिये लिये गये थे जो तार, रेलें और टेलीफोन इत्यादि में लगे थे और जिनसे सूद प्राप्त हो रहा था, यह निश्चित हुआ कि प्रत्येक देश को अपने देश म स्थित आदेयो (Assets) के मूल्य के अनुसार ऋण का भुगतान करना चाहिये।

(ब) जहाँ तक उन ऋणों का सम्बन्ध था जिनके पीछे नकदी तथा प्रतिभूतियाँ थी, यह निश्चित हुआ कि पाकिस्तान उतने ऋणो का भुगतान करेगा जितनी नकदी उसे प्राप्त होगी अर्थात् ७५ करोड रुपया। और

(स) जहाँ तक उन ऋणो का सम्बन्ध था जिनके पीछे कोई भी आड न थी यह निश्चित हुआ कि कुछ हेर फेर करने के बाद जैसे भारतीय सैनिक स्टोरो के एक भाग का हस्तान्तरण तथा पाकिस्तान को एक टकसाल और सुरक्षित छापेखाने के लिये एक निश्चित राशि देने के बाद पाकिस्तान का हिस्सा ऐसे ऋणो म १७·५% होगा।

यह स्पष्ट है कि पाकिस्तान से ऋण भुगतान सम्बन्धी जो समझौता हुआ वह भारत के लिये लाभप्रद न था। क्योकि भारत सरकार ने सारे ऋणो के भुगतान की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली थी इसलिये ही भारतीय करदाता पर बहुत अधिक भार पड गया जो अधिक न होता यदि पाकिस्तान अपने वचत के अनुसार ऋण का भुगतान करता चला जाता। परन्तु खेद है कि पाकिस्तान ने अभी तक ऋण का भुगतान नही किया है।

सन् १९५८ म ६९ करोड रुपये हो गई थी। विभिन्न प्रकार की अल्प बचतों पर सूद की दरें सन् १९५९ म बढा दी गई थी। सन् १९५८-५९ में एक समुचित समय जमा (Cumulative Time Deposit) योजना चालू की गई था जिसके अनुसार विनियोग कर्त्ता ५ या १० वर्षों के लिये प्रत्येक मास में बचाई हुई राशि को जमा कर सकते हैं। अकेले व्यक्ति के लिये जमा की कुल राशि १२०००) रुपये पर निश्चित की गई है और अन्य व्यक्ति के साथ मिलकर कोई भी व्यक्ति २४०००) रुपयो तक जमा कर सकता है।

पिछले वर्षो म भारत के बाह्य ऋणों मे बहुत अधिक वृद्धि हुई है। हमारे पौंड ऋण ३१ मार्च सन् १९५८ को २२ ३२ करोड रुपयो के रह गये थे। परन्तु डालर ऋणो में कई गुनी वृद्धि हो गई थी। सन् १९४९-५० मे डालर ऋण १६ ७७ करोड रुपयो के थ परन्तु सन् १९५८ में इनकी मात्रा १५९ ८८ करोड रुपय हो गई थी। इन ऋणो की आवश्यकता मुख्य रूप से विकास कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिये हुई थी। यह ऋण अधिकतर विश्व बैंक और सयुक्त राज्य अमेरिका से प्राप्त किये गये। इसी वर्ष रूस से भी १५ ३ करोड रुपया के ऋण प्राप्त हुये थे और यह राशि सन् १९५९ के अन्त तक ४५ ९८ करोड रुपयो का हो जाने की आशा था। हमने पश्चिमी जर्मनी से भी ऋण प्राप्त किये हैं। इन ऋणों की कुल राशि सन् १९५५ में १४ करोड रुपये थी, परन्तु सन् १९५८ के अन्त मे यह बढ कर ४४ करोड रुपये हो गई। सन् १९५८ मे जापान ने भी द्वितीय पचवर्षीय योजना के लिये २४ करोड रुपयो का ऋण भारत को दिया है जिसका उपयोग मुख्य रूप से रेलो का विकास, शक्ति बाँधो, खान उद्योग आदि कार्यक्रमो के लिए मशीनें खरीदने के लिये किया जायगा।

प्रथम पचवर्षीय योजना काल में ५२० करोड रुपयो के आन्तरिक ऋण प्राप्त किये गये थे जिनमे से ११५ करोड रुपये बाजारू ऋण योजनाओं से, २७० करोड अल्प बचतो से और १३५ करोड रुपए अन्य साधनो से। हमारे वास्तविक ऋण ३६० करोड रुपया के थे, ७० करोड रुपये बाजारू ऋण योजना से, २४५ करोड अल्प बचतो से और ४७ करोड रुपये अन्य स्रोतो से। प्रथम योजना काल मे हमारे बाह्य ऋणों म ९८ करोड रुपयों की वृद्धि हुई थी। दूसरी योजना में हमारा लक्ष्य जनता से १२०० करोड रुपये प्राप्त करना है जिनम से ७०० करोड रुपये बाजारू ऋण योजना से और ५०० करोड रुपए अल्प बचतो से प्राप्त करते हैं। यह आशा की जाती है कि प्रत्येक वर्ष १०० करोड रुपये अल्प बचतो से और १४० करोड रुपये बाजारू ऋण योजना से प्राप्त होंगे। परन्तु आश्चर्य की बात है कि योजना के पहले २ वर्षो म बाजारू ऋणो की राशि २१३ करोड रुपय थी जबकि हमारा लक्ष्य २८० करोड रुपय जमा करना था। इसी प्रकार हमको बाजार से लगभग ६७ करोड रुपयो के ऋण कम प्राप्त हुए। अल्प बचतों में भी हमको अधिक सफलता प्राप्त नही हुई। जबकि इन दो वर्षों में हमको २०० करोड रुपय अल्प बचतो से प्राप्त करने थे, हम केवल १२० करोड रुपये ही प्राप्त हुए थे, अत इस मद मे भी हमको ८० करोड रुपय की कम प्राप्ति

हुई। विदेशी मुद्रा बाजार मे प्रतिभूतियों को बेचकर विश्व बैंक से, अन्तर्राष्ट्रीय वित्त कारपोरेशन तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो और मित्र देशो से हमारा लक्ष्य ६०० करोड रुपयो के ऋण प्राप्त करना था। हम सन् १९५६–५७ में लगभग ६० करोड रुपयों के और सन् १९५७–५८ में ८७ करोड रुपयों के ऋण प्राप्त हुय थे।

भारत के राजकीय ऋण दो भागों मे विभाजित किये जाते हैं, प्रथम, सूद सहित और दूसरे, सूद रहित। सूद सहित ऋणो की स्थिति सन् १९५८–५९ के बजटानुसार निम्न प्रकार थी[1] —

(करोड रुपयो म)

आन्तरिक ऋण	१९५७-५८	१९५८ ५९ (अनुमानित)	बाह्य ऋण	१९५७-५८	१९५८ ५९ (अनुमानित)
ऋण	१७०१ २५	१८२६ ७९	पौंड ऋण	० ५५	० १५
अल्प बचत	६९२ ९५	७९१ ४५			
कोष बिल तथा प्रतिभूतियाँ	१२१५·७०	१४२० ७०	इङ्गलैण्ड म अन्य प्रकार के ऋण	२१ ७७	२१ २९
प्रावदान तथा अल्प कोष तथा डाक-खाने आदि की जमा	३९४ ७६	३९२ ४५	डालर ऋण	१५९ ८५	३६१ ६८
			रूस से ऋण	१५ ३०	४५ ९८
			जर्मनी से ऋण	१४ ००	४४ ००
कुल आन्तरिक ऋण	४००४ ६६	४४३१ ३९	अन्य विदेशी स्रोतों से ऋण	—	१५ १३

भारत सरकार की उन ऋणो की कुल राशि जिन पर सूद दिया जाता है। सन् १९५७-५८—४२१६'१३ तथा १९५८-५९ मे ४९१९ ६२ करोड रुपए थी।

भारत के कुल राजकीय ऋणो की स्थिति निम्न प्रकार थी[2]—

(करोड रुपयो म)

	१९५७–५८	१९५८–५९
चालू ऋण	१७०१ २५	१८२६ ७९
खजाने बिल	१२१५ ७०	१४२० ७०
विशेष अल्पकालीन ऋण	२०७ ८०	२०४ ३७
भुगतान प्राप्त हुए ऋण (Expired Loans)	१३ ९८	१४ ९४
कुल आन्तरिक ऋण	३१३८ ७३	३४६६ ८०
बाह्य ऋण	२११ ५०	४८८ २६

1. *Report on Currency and finance*, Reserve Bank of Indian, 1957-58
2. *Ibid.*

		(करोड रुपयों मे)
	१९५७–५८	१९५८–५९
कुल राजकीय ऋण	३३५०·२३	३९५५·०६
अन्य दायित्व	१०८७·७१	११८३·९०
ब्रिटिश युद्ध ऋण तथा रेलो सम्बन्धी	(–) २११०	(–) २०·९२
कुल ऋण	४४१६·८४	५११८·०४

वर्तमान स्थिति—समाचार पत्रो की रिपोर्ट के अनुसार भारत सरकार के कुल राजकीय ऋणो की मात्रा सन् १९५९–६० के अन्त मे ४,८२१ २१ करोड रुपयो के होने की आशा है। इनमे से ४१३९ ४६ करोड रुपयो के रुपये ऋण और ९२·०६ करोड रुपयो के पौड ऋण (ब्रिटेन से), ४१६ ४६ करोड रुपयो के अमेरिका से डालर ऋण, १५ ७१ करोड रुपयो के कैनाडा से, ६१ ३४ करोड रुपयो के रूस से, ६४ ६६ करोड रुपयो के पश्चिमी जर्मनी से, १२ ७९ करोड रुपया के जापान से प्राप्त ऋण है और २० करोड रुपयो के ऋण इस वर्ष प्राप्त किए जायेंगे।

इन ऋणो म से २० ६२ करोड रुपयो के युद्ध सम्बन्धी अशदान (जिनका भुगतान अभी स्थगित है) को निकाल कर ३१ मार्च सन् १९५९ को कुल ऋणो की मात्रा का अनुमान ४८०१ करोड रुपय है, जो सन् १९३८–३९ की तुलना म ३८७१ करोड रुपया से अधिक है।

इनके अतिरिक्त सघ सरकार को, विभिन्न प्रावदान कोषो, डाकखानों में अल्प बचतो की जमा, डाकखाने के नकदी तथा बचतो के सर्टीफिकेट, एकत्रित जमा योजना के अन्तर्गत प्राप्त जमा, रेलो, डाक व तार की घिसाई तथा सुरक्षित कोषो और आय कर, अतिकर इत्यादि की बाकियो (Balances) का भी भुगतान करना है जिनका अनुमान लगभग १२२३ करोड रुपये है। इस प्रकार सघ सरकार के नियमित ऋण तथा अन्य दायित्वो को मिला कर कुल ऋणो की राशि ६०२३·२० करोड रुपये है।

इस राशि म स १४६५ करोड रुपय रेलो सम्बन्धी कार्यों के लिये दिये गय है, २१० करोड रुपये डाक व तार तथा दामोदर घाटी कारपोरेशन और अन्य वाणिज्यिक विभागो के लिये दिये गये है, ५१९ करोड रुपयो का विनियोग वाणिज्यिक सस्थाओं में किया गया है, २११९ करोड रुपयो के ऋण (Loans and Advances) दिये गये हैं, २९६ करोड अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष मे अपने चन्दे के रूप मे दिये गये हैं, ३७ करोड रुपया विश्व बैंक के अश खरीदने के लिये दिये गये है और ५९ करोड रुपयो के नकद तथा अन्य विनियोग किये गये हैं। २० करोड रुपये पौंड पैन्शनो की वार्षिकी (Annuity) खरीदने के सम्बन्ध म ब्रिटेन मे प्राप्त होने हैं और ३०० करोड रुपये पाकिस्तान से प्राप्त होने हैं।

इस प्रकार हमारे बिना आड वाले ऋणो (Uncovered Debts) की कुल राशि १००१ करोड रुपये है जबकि युद्ध से पहले यह १८८ करोड रुपये थे, जिनका उपयोग उत्पादक कार्यों के लिये नही किया गया है। सरकारी सूत्रो के अनुसार इन

ऋणो को पूर्णतया अनुत्पादक भी नही कहा जा सकता है, क्योंकि विगत वर्षों में राज्यो को विकास कार्यों के लिये बहुत सी आर्थिक सहायता दी गई है जिनसे सारे देश की ही उत्पादन शक्ति मे वृद्धि होगी और यह आय रहित (Un-remunerative) भी नही है। साथ ही संघ सरकार की सम्पत्तियों पर भी काफी पूजी का विनियोग हुआ है जिनको या तो सरकार के हिसाब म स्पष्ट नही किया गया है या केवल अवाणिज्यिक (Non-commercial) कार्यों के लिये दिखाया गया है। इस प्रकार के व्ययो का भी अपना अलग महत्व है।

मार्च सन् १६५६ म वाशिंगटन मे ५ पाश्चात्य देशो तथा विश्व बैंक के प्रतिनिधियो की एक सभा हुई थी जिसम यह निश्चय किया गया था कि भारत को लगभग ३६ करोड डालर की विदेशी सहायता प्राप्त होगी। परन्तु हाल ही की एक सूचना[3] के अनुसार भारत सरकार अभी इतना ऋण प्राप्त करने को तैयार नही है क्योंकि वे उन ऋणो को उपयोग करने के लिये अधिक आतुर हैं, जो उन्होंने पिछले वर्ष प्राप्त किये थे। ऐसा अनुमान है कि सन् १६५८–५६ के अन्त तक केवल एक तिहाई विदेशी सहायता का ही उपयोग हो सका है और ऐसा अनुमान है कि ब्रिटेन तथा अन्य देशो से प्राप्त होने वाली सहायता का पयोग सितम्बर सन् १६५६ तक उसी समय कर सकेंगे जबकि हम अपनी गति को तीव्र कर सकें। वास्तव म इन ऋणों को उपयोग करन म इसलिये अधिक समय लगा है कि उनको विभिन्न उपयोगा में लगाने की योजना केवल फरवरी सन १६५६ म ही निश्चित हो सकी थी और इनको विभिन्न देशा से निकालने के पूरे कार्यक्रम को तैयार करने म भी समय लगा था। अब इनम से अधिकतर राशि पिछले वर्षो में मशीनों आदि के खरीदने के लिये किये गये व्यय के भुगतानो को करने के काम में लाई जायगी परन्तु ऋण दाता देशो को इनके लिये सबूत चाहिये जिसको जमा करने मे काफी समय लग गया है। चालू वर्ष म वाशिंगटन सभा के निर्णय के अनुसार जो ३६ करोड डालर के विदेशी ऋण प्राप्त होने थे अब २६ करोड डालर से अधिक प्राप्त न हो सकेंगे। इनमे से ऐसी आशा की जाती है कि ब्रिटेन से ६ करोड डालर (जो कि पिछले वर्ष १० करोड ८० लाख डालर थे) पश्चिमी जर्मनी से ३ करोड डालर (जो कि पिछले वर्ष ४ करोड डालर थे), कैनाडा से १ करोड ७० लाख डालर और जापान से १ करोड डालर (पिछले वर्ष की भी यही राशि थी), और विश्व बैंक से ७ करोड ५० लाख डालर (जो पिछले वर्ष ८ करोड ५० लाख डालर थे) प्राप्त होंगे, शेष ७ करोड डालर संयुक्त राज्य अमेरिका से प्राप्त होने की आशा है (यह ध्यान रहे कि पिछले वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका ने १० करोड डालर दिये थे।

भारत के पौंड पावने
(India's Sterling Balances)—

पौंड पावने वह अल्प कालीन ऋण थे जो भारत ने ब्रिटिश सरकार को

3 Hindustan Times April 28 1959

दूसरे महायुद्ध काल में दिये थे। दूसरे महायुद्ध काल और उसके बाद के वर्षों में ब्रिटिश सरकार के नाम यह पौंड पावने बहुत बड़ी राशि में जमा हो गये थे। ब्रिटिश सरकार ने इनके बदले में भारत सरकार को पौंड प्रतिभूतियाँ दे दी थी जो लन्दन में भारत की रिज़र्व बैंक की ओर से जमा है। यह बड़ी साधारण सी बात है कि एक देश की केन्द्रीय बैंक अपने कोषों में विदेशी मुद्रा को भी रखे परन्तु पौंड पावने की स्थिति साधारण विदेशी मुद्रा की तुलना में भिन्न थी क्योंकि रिज़र्व बैंक इनका उपयोग केवल उसी विधि के अनुसार कर सकता था जो भारत और ब्रिटिश सरकार में समझौते के अनुसार निश्चित होती। इन ऋणों के एकत्रित होने के मुख्य कारण यह थे —

(१) रिज़र्व बैंक ऐक्ट के अनुसार रिज़र्व बैंक को पौंड के बदले में रुपये देने की आज्ञा थी इसलिये ब्रिटिश सरकार ने रिज़र्व बैंक से पौंड प्रतिभूतियों के बदले भारत में रुपये प्राप्त किये और उनका उपयोग युद्ध संचालन में किया और भारत के ऋण ब्रिटिश सरकार पर जमा होते चले गये।

(२) भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत में जो खर्चे किये उनके बदले में भी प्रतिभूतियाँ दी गईं और पौंड पावने की राशि और भी बढ़ गई।

(३) युद्ध काल में भारत का व्यापार सन्तुलन उसके पक्ष में रहा और निर्यातों के बदले में भी भारत को पौंड प्रतिभूतियाँ ही प्राप्त हुई।

(४) विनिमय नियन्त्रण आदि के कारण भारतवासियों को सारी विदेशी मुद्रा रिज़र्व बैंक को देनी पड़ी। इसके अतिरिक्त भारत को जो डालर युद्ध काल में प्राप्त हुए वे सब साम्राज्य डालर कोष के लिये अनिवार्य रूप से प्राप्त कर लिये गये थे जिनका उपयोग इङ्गलैंड ने अमेरिका में युद्ध सम्बन्धी सामान खरीदने के लिये किया था और जिसके बदले में भारत को पौंड प्रतिभूतियाँ दे दी गई थी।

(५) युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में भारत ने सोना और चाँदी भी बेचे थे और उनके बदले में उसको पौंड प्रतिभूतियाँ प्राप्त हुई थी।

इन सब कारणों से युद्ध काल में भारत के पौंड पावने एकत्रित हुए थे। वैसे तो इनकी राशि बहुत अधिक होती परन्तु दो कारणों से यह कुछ कम रही। प्रथम, भारत ने सन् १९४४ के अन्त तक ब्रिटेन के सारे पौंड ऋणों का भुगतान कर दिया था और दूसरे सन् १९४३ में ब्रिटेन और अमेरिका ने भारतीय मुद्रा बाज़ार में सोना बेचना आरम्भ कर दिया था। कुछ भी हो भारत के यह पौंड ऋण एकत्रित हुए जो एक प्रकार से भारतवासियों की बलात् बचतें (forced savings) थी क्योंकि उनको अपनी मुद्रा के बदले में पर्याप्त वस्तुएँ नहीं मिल पाई थी और जो कुछ पर्याप्त हुईं भी थीं उनके मूल्य बहुत अधिक थे। इन मूल्यों की वृद्धि के मुख्य कारण यह थे कि एक तो भारत में वस्तुओं का उत्पादन साधारण नागरिकों की आवश्यकताओं से बहुत कम था और दूसरे रिज़र्व बैंक ने पौंड प्रतिभूतियों की आड़ पर आवश्यकता से अधिक कागज़ी मुद्रा छापी थी जिसके कारण भारत में मुद्रा प्रसार हो गया था। सारांश में इन पौंड पावनों का वास्तविक मूल्य बहुत अधिक था क्योंकि इनके लिये

भारतवासियों को बहुत त्याग करना पड़ा था।

युद्ध समाप्त होने के बाद जब भारत को अपनी अर्थ व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिये इन पौंड पावना की आवश्यकता हुई तब ब्रिटेन में समाचार-पत्रों और वहाँ के चर्चिल जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों ने इनके भुगतान में अड़चनें उत्पन्न की और इस बात पर जोर दिया कि पौंड पावना की पूरी राशि का भुगतान भारत को नहीं होना चाहिये। इन लोगों की ओर से मुख्य दलीलें निम्न प्रकार थीं —

(१) युद्ध में भारत और ब्रिटेन दोनों ही साझेदार थे। विशेष रूप से जापान के विरुद्ध जो युद्ध लड़ा गया वह प्रत्यक्ष रूप से भारत की रक्षा के लिये था। ब्रिटेन को युद्ध से भारत की तुलना में बहुत अधिक हानि हुई थी और क्योंकि यह पौंड पावने युद्ध का ही परिणाम थे इसलिये भारत को इनका पूरा भुगतान नहीं प्राप्त होना चाहिये क्योंकि युद्ध का कुछ खर्चा भारत को भी सहन करना चाहिये। परन्तु इस दलील में कोई भी तथ्य न था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत और ब्रिटेन दोनों ने मिल कर युद्ध लड़ा था परन्तु क्या यह सच नहीं कि ब्रिटेन बिना भारत की सहायता के युद्ध में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। इसके अतिरिक्त जहाँ तक त्याग की समानता का सम्बन्ध है उसका निर्णय केवल दोनों देशों की प्रति व्यक्ति आय और व्यक्तियों के जीवन स्तर की तुलना के आधार पर ही किया जा सकता है। और यह स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि भारत में ब्रिटेन की अपेक्षा प्रति व्यक्ति आय और जीवन स्तर दोनों ही बहुत नीचे हैं। यह कहना भी अनुचित है कि भारत ने युद्ध में कोई खर्चा नहीं किया। यदि युद्ध सम्बन्धी व्यय के आँकड़ों को देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि युद्ध के पहले वर्ष में भारत का युद्ध व्यय केवल ५० करोड़ रुपये था जो बढ़ कर ७५ करोड़ रुपये हो गया और जापान के युद्ध में आने के बाद सन १९४४-४५ में ४५० करोड़ रुपये से भी अधिक हो गया था। अतः स्पष्ट है कि जापान के युद्ध में आने के बाद से भारत ने काफी युद्ध व्यय का भार अपने ऊपर ले लिया था। इसलिये पौंड पावने की राशि को कम करने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

(२) दूसरी दलील यह दी गई थी कि क्योंकि यह व्यापारिक ऋण नहीं थे इसलिये इनका पूरा भुगतान नहीं होना चाहिये। यह दलील सबसे अधिक हास्यप्रद थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उन लोगों के अनुसार जो व्यापारिक ऋण नहीं होते हैं इनको ऋणी की इच्छानुसार कम करने की कोई प्रथा प्रचलित है या अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधीन ऐसा करने की व्यवस्था उपस्थित है। हम जानते हैं कि इन दोनों में से कोई भी बात नहीं है। सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है कि क्या ऋणी को अपने ऋण की राशि को कम कराने का प्रयत्न करना चाहिये और विशेष रूप से उस समय जब कि ऋणी को ऋण उसी के आग्रह पर प्राप्त हुआ हो। इसलिये इस दलील में भी कोई तथ्य नहीं है।

(३) पौंड पावने की राशि को कम करने के पक्ष में एक यह भी दलील दी गई थी कि क्योंकि ब्रिटेन बड़ी विषम परिस्थितियों में से होकर गुजर रहा था इसलिये

उसमे इन ऋणों के पूरा भुगतान करने की सामर्थ्य नहीं थी और यदि वह इनका पूरा भुगतान करेगा तो उसकी कठिनाइयाँ और भी अधिक हो जायेंगी। परन्तु यह दलील भी उपयुक्त न थी क्योंकि भारत की भी कठिनाईयाँ ब्रिटेन की अपेक्षा कुछ कम न थी । जबकि ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय भारत की अपेक्षा अधिक बढ गई थी तब इन ऋणों के भुगतान से कोई अधिक भार उस पर नही पडेगा।

(४) अन्त मे यह भी कहा गया कि भारत के यह ऋण अनुचित रूप से एकत्रित हुए थे क्योकि भारत ने ब्रिटेन को जो वस्तुयें दी थी उनके मूल्य बहुत ऊँचे थे और इसलिय इन ऋणों को अब कम करना चाहिये । परन्तु इस दलील के विरुद्ध भी बहुत सी बातें कही गई थी। प्रथम, भारत ने अपनी वस्तुओं के मूल्य अधिक नही लिये थे क्योंकि वस्तुओ पर गुणात्मक और परिमाणात्मक, दोनो ही प्रकार के नियन्त्रण सरकार ने लगा रखे थे । जितनी भी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन था उस पर भारत सरकार का नियन्त्रण था और इस प्रकार भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार की ओर से जो भी वस्तुएँ भारतीय बाजार म खरीदी वह एकाधिकारी की हैसियत से खरीदी थी और अधिक मूल्य लेने का प्रश्न हो नही उठता था। दूसरे, भारत सरकार ने जो कुछ भी भुगतान किये वह उन्ही मूल्यो के अनुसार किये थ जो उसने निश्चित कर दिये थे। सरकार ने सडको और हवाई अड्डे बनवाने के लिये जो भी ठेके दिये थे उनकी शर्तें स्वय ही निर्धारित की थी। इसके अतिरिक्त जो भी मूल्य उन्हे देने पडे वे श्रम की कमी, यातायात की कठिनाइयो और कम समय म अधिक काम कराने के कारण दिये गये थे। तीसरे, भारत में अन्य वस्तुओ की अपेक्षा खाद्य पदार्थों के मूल्य अधिक ऊँचे थे। सरकार ने खाद्य पदार्थ नही खरीदी थी इसलिये सरकार को श्रमिकों को अधिक मजदूरी देनी पडी थी। परन्तु इन ऊँची मजदूरियो से भी भारत के श्रमिको को कुछ भी लाभ नही हुआ। भारतवासियो को तो अपनी आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त मात्रा म कपडा और भोजन भी प्राप्त नही हुआ था। जो कुछ थोडा बहुत लाभ हुआ था यह केवल कुछ थोडे से उत्पादको और ठेकेदारो को ही हुआ था। शेष सभी व्यक्तियों को तो त्याग ही करना पडा था और कठिनाइयाँ सहन करनी पडी थी। अन्त म राष्ट्रीय व्यय की जाँच करने के लिये जो ब्रिटिश ससद की विशेष समिति नियुक्त हुई थी उसने बडे ही स्पष्ट शब्दो म कहा था, कि "भारतीय मूल्य बहुत कम ही ऊँचे थे और साधारणतया ब्रिटेन के मूल्यों की अपेक्षा काफी कम थे।" उसने यह भी स्वीकार किया था कि भारत ने जो वस्तुएँ ब्रिटेन को दी थीं उनके उचित मूल्य लिये गये थे।

भारत के पौंड पावनों की राशि को कम करने के लिये निरन्तर प्रयासो के कारण भारत म बहुत ही अशान्ति थी किन्तु अन्त में ब्रिटिश सरकार ने सदबुद्धि से काम लिया और पौंड पावनो के भुगतान करने की अनुमति दे दी। पौंड पावनो के भुगतान के सम्बन्ध म सन् १९४७ से कई समझौते हुए हैं। हम सक्षेप में यहाँ पर इन समझौतो का वर्णन देते हैं :—

सन् १९४७ का समझौता—१४ अगस्त सन् १९४७ को भारत और ब्रिटेन की सरकारों के बीच एक समझौता हुआ जो केवल ३१ दिसम्बर सन् १९४७ तक के लिये ही था। इसके अनुसार रिजर्व बैंक ने बैंक ऑफ इङ्गलैंड में दो खाते खोले थे—पहला चालू खाता और दूसरा बन्द खाता १४ जुलाई सन् १९४७ को १ अरब १६ करोड पौंड की राशि रिजर्व बैंक के नाम दूसरे खाते में जमा कर दी गई थी और बाकी ६ करोड ५० लाख पौंड पहले खाते में जमा कर दिये गये थे। इसमें से ३ करोड ५० लाख पौंड चालू व्यय के लिये और तीन करोड़ पौंड सुरक्षित कोष में जमा कर दिये गये थे। समझौते की शर्तों के अनुसार पहले खाते की राशि को किसी भी देश से वर्त्तमान आवश्यकताओं की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये उपयोग किया जा सकता था।

सन् १९४८ का समझौता—१५ फरवरी सन् १९४८ को एक समझौता फिर हुआ जिसके अनुसार सन् १९४७ के समझौते की अवधि ३० जून सन् १९४८ तक बढ़ा दी गई और दूसरे खाते से १ करोड ८० लाख पौंड ३० जून सन् १९४८ तक के चालू खर्च के लिये पहले खाते में जमा कर दिये गये। इस समझौते की अवधि फिर से ३० जून सन् १९५१ तक बढ़ा दी गई, और यह निश्चित हुआ कि ८ करोड पौंड जो पहले खाते में जमा थे वह ३०जून सन् १९४९ तक के खर्चे के लिये दिये जायेंगे और अगले दो वर्षों के लिये ४ करोड पौंड प्रति वर्ष चालू खर्च के लिये दिये जायेंगे। इस प्रकार भारत को ३ वर्ष के अन्दर १६ करोड पौंड चालू खर्च के लिये प्राप्त होने की आशा थी। परन्तु दुर्भाग्यवश भारत के आयात इतने अधिक हो गये कि चालू खर्च के लिये बहुत कम राशि रह गई। भारत सरकार के अनुरोध पर ब्रिटिश सरकार जून सन् १९४९ को समाप्त होने वाले वर्ष के लिये ८ करोड १० लाख पौंड चुकाने के लिये तैयार हो गई और यह भी निश्चय किया गया कि ५ करोड पौंड और भी दिये जायेंगे। साथ ही अगले दो वर्षों के लिये प्राप्त होने वाली राशि ४ करोड पौंड से बढ़ा कर ५ करोड पौंड प्रति वर्ष कर दी गई।

सन् १९५१ का समझौता—जो समझौता जून सन् १९५१ को समाप्त हुआ उसको ३० जून सन् १९५७ तक बढ़ा दिया गया। यह अन्तिम समझौता था। इस समझौते के अनुसार ३१ करोड पौंड की रकम दूसरे खाते में से पहले खाते में जमा कर दी गई। यह राशि भारतीय रिजर्व बैंक के नाम मुद्रा से सुरक्षित कोष के रूप में जमा हुई। यह भी व्यवस्था की गई कि १ जुलाई सन् १९५१ के बाद के ६ वर्षों में अधिक से अधिक ३ करोड ५० लाख पौंड प्रति वर्ष दूसरे खाते से पहले खाते में जमा किये जायेंगे। परन्तु इसमें कुछ शर्तें थीं —(अ) इस राशि में हेर फेर इस उद्देश्य से की जायेंगी कि पहले खाते में कम से कम ३४ करोड पौंड जमा रहे और यदि दोनों सरकारें चाहें तो इससे कम राशि भी रह सकती है। (ब) यदि ३ करोड ५० लाख पौंड में से १२ महीनों में कुछ कम का भुगतान किया गया तो शेष राशि को अगले वर्ष की राशि में जोड दिया जायगा। (स) यदि भारत सरकार को यह अनुभव हो कि १२ महीने के अन्दर किसी भी समय दूसरे खाते में से

३ करोड ५० लाख पौंड से अधिक राशि की आवश्यकता है तो अगले वर्ष मे पहले खाते मे जमा की जाने वाली राशि में से ५० लाख पौंड तक बिना आपसी बातचीत के लिया जा सकता है और यदि ५० लाख पौंड से अधिक राशि की आवश्यकता है तो दोनों सरकारें आपस मे विचार करके निश्चित करेंगी और (द) ३० जून सन् १९५७ को जो राशि दूसरे खाते मे बचेगी वह पहले खाते में जमा कर दी जायगी।

सन् १९५५ के एक समझौते के अनुसार ब्रिटेन की सरकार ने ४ करोड पौंड भारत को देने का निश्चय किया जो ब्रिटेन के पास सन् १९४८ मे पडा हुआ था। यह याद रहे कि भारत सरकार ने सन् १९४८ म ब्रिटेन की सरकार को जो पौंड पेन्शनो का भुगतान किया था उसमे ४ करोड पौंड अधिक पहुँच गये थे, जिनका भुगतान अब किये जाने का निश्चय हुआ था। यह भुगतान १० वार्षिक किश्तों म किया जायगा और इनमें से ४ किश्ते भारत की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दी जाने वाली थी।

विभाजन से पहले भारतवर्ष के पौंड पावनो की राशि १७३३ करोड रुपये थी और विभाजन के बाद से १५१६ करोड रुपये अधिकतर उपभोक्ताओ की वस्तुओं तथा अन्य आवश्यक वस्तुओ के क्रय पर ही खर्च किये गये है। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्त मे कुल ७४६ करोड रुपये के पौंड पावने रह गये थे। यह अनुमान था कि दूसरी योजना में कुल २०० करोड रुपये निकाले जायेंगे परन्तु पहले ही वर्ष म २१६ करोड रुपये निकाल लिए गए और सन् १९५७ ५८ म २६० करोड रुपय और निकाल लिए गए थे और इस प्रकार सन् १९५८-५९ के आरम्भ मे कुल २६७ करोड रुपयो के पौंड पावने रह गए थे।

मार्च सन् १९५९ मे भारत के ५ ऋणदाता देशो और विश्व बैंक के प्रतिनिधियों की जो सभा वाशिंगटन म हुई थी उन्होंने भारत के सामने यह प्रस्ताव रखा है कि भारत को अपने चालू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही पौंड पावना का प्रयोग करना चाहिए। भारत बडी सरलता से इस राशि म से ६३ करोड रुपयो को निकाल सकता है क्योंकि कानूनन भारत को २०० करोड रुपयों के पौंड पावने रखना आवश्यक है (समाचार पत्रों की सूचना के अनुसार इन लोगों का अनुमान भारत के पौंड पावनों की राशि का २६३ करोड रुपये है जब कि भारत सरकार के आकडो के अनुसार यह राशि २६७ करोड रुपय है)। इस प्रकार ६३ करोड रुपयो के पौंड पावने निकाल कर भारत अपनी दूसरी योजना को पूरा करने मे सफल हो सकता है। अब यह आशा की जाती है कि क्योंकि भारत की विदेशी मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयाँ बहुत विषम होती चली जा रही हैं भारत सरकार शेष पौंड पावनों का प्रयोग बडी सावधानी से करेगी।

अध्याय २६

युद्ध सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था (War Finance)

प्राक्कथन—

आधुनिक युद्ध बहुत खर्चीले तथा मँहगे होते हैं। वास्तव मे आजकल युद्ध को लड़ने के लिए कितने धन की आवश्यकता होगी इसका निश्चित अनुमान नही लगाया जा सकता। युद्ध तो अनादि काल से ही होते आए हैं परन्तु आधुनिक युद्ध की कुछ मुख्य विशेषतायें होती हैं। प्रथम ये अपने आकार में अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं, दूसरे यह एक बहुत बड़े पैमाने पर लड़े जाते हैं और अन्त में आधुनिक युद्ध के लड़ने मे मानवीय तथा भौतिक साधनो की बहुत बर्बादी होती है। इसीलिए उनके लिए बहुत बड़ी मात्रा मे धन की आवश्यकता होती है और उनके सफल सचालन की पहली शर्त यही है कि उनका वित्तीय प्रबन्ध उचित रूप मे किया जाय। इसमे कोई सन्देह नही कि युद्ध मनुष्यो और सामान द्वारा लड़े जाते हैं परन्तु युद्धो के लड़ने मे वित्त का महत्त्व भी कुछ कम नही है क्योकि बिना वित्त के युद्ध लड़ने के लिए मनुष्यो की सेवाओ तथा युद्ध सम्बन्धी सामान प्राप्त ही नही किया जा सकता।[1] शताब्दियों पहले डैनियल डिफो ने बड़ ही सुन्दर शब्दो मे कहा था कि युद्ध कला का इतना अध्ययन हो चुका है और सभी स्थानो पर उसका इतना ज्ञान लोगो को है कि अब सबसे बड़ी थैली ही युद्ध जीतती है, सबसे बड़ी तलवार नही क्योंकि मुद्रा ही शक्ति है।"[2] क्राउथर के शब्दो मे 'आजकल युद्ध एक औद्योगिक धन्धा है। इस पर अर्थशास्त्र के विज्ञान का युद्ध कला की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। वर्तमान युद्ध खेल के मैदानो मे, ईटन या किसी अन्य स्थान पर नही जीता जाता बल्कि हज़ारो गन्दे औद्योगिक शहरो की खानो तथा कारखानो म।' युद्ध के लिए आवश्यक धन ऋणो और करारोपण द्वारा प्राप्त किया जाता है जिनका प्रभाव राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के शरीर की एक-एक नस पर पड़ता है। युद्ध अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध केवल युद्ध के लिए धन एकत्रित करने से ही नही है वरन इस बात से भी है कि उसको इस प्रकार मितव्ययिता से खर्च किया जाय कि देश के आर्थिक ढाँचे में कम से

1. G Crowther, *Paying War*, P. 4
2. L C Jain, *Indian Economy During the War*

कम गडबडी हो। सच तो यह है कि युद्ध सचालन इतना कष्टदायक नही होता जितना कि युद्ध के बाद देश की आर्थिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण होता है। अन्तिम दोनो युद्धो ने इस तथ्य की भलीभाति पुष्टि कर दी है। अत यह सुरक्षापूर्वक कहा जा सकता है कि युद्ध कालीन अर्थ-व्यवस्था से शान्तिकालीन अर्थ व्यवस्था का नियमित तथा क्रमबद्ध परिवर्तन अधिकतर उन्ही वित्तीय तथा मौद्रिक नीतियों पर निर्भर करता है जो युद्ध काल म निर्मित की जाती है।

युद्ध की मौद्रिक लागतें—इस प्रकार युद्ध एक मँहगा धन्धा है। यद्यपि युद्ध की मौद्रिक लागतो का अन्दाज लगाया जा सकता है किन्तु यह सम्भव नही है कि युद्ध की वास्तविक लागतें अर्थात् व्यक्तियो की सम्पत्ति तथा जीवन को पहुँचने वाली क्षति, व्यक्तियो द्वारा बहाया गया खून तथा उनके आसू और राष्ट्र का नैतिक तथा बुद्धि सम्बन्धी ह्रास आदि का अनुमान लगाया जा सके।[3] युद्ध की मौद्रिक लागतो को सरलता से उन सरकारी बजटों द्वारा पता लगाया जा सकता है जो युद्ध काल मे बनते है। १९वी शताब्दी के युद्ध में लडाई म भाग लेने वाले देशो की राष्ट्रीय आय का लगभग १ से १३ प्रतिशत भाग खर्च हुआ था। यह औसत प्रथम महायुद्ध म ५०% या और दूसरे युद्ध मे ६० से ७० प्रतिशत था। निम्न तालिका से युद्ध की मँहगाई भलीभांति स्पष्ट हो जाती है[4] —

व्यय (लाख रुपयों मे)

देश	१९३८–३९		१९४१–४२		१९४४–४५	
	कुल व्यय	युद्ध सम्बन्धी व्यय	कुल व्यय	युद्ध सम्बन्धी व्यय	कुल व्यय	युद्ध सम्बन्धी व्यय
युनाइटेड किगडम (पौंड)	१ १४७	४००	४,८८८	४,०६५	६,१९०	५,१२५
सयुक्त राज्य (डालर)	८,७६५	१,२०६	३२,४९२	२६,०११	९३,९१२	८८,०००
रूस (रुबिल्स)	१२४,०००	२७,०००	२१६,०००	७०,९००	३०५,३००	१३७ ९००
भारत (रुपये)	१,३०८	५११	१,८७४	१,०५४	५,७२१	४,५६६
जर्मनी (रिचमार्क)	२८,५५०	—	९९,२९२	—	१२४,००६	—
जापान (यान)	७,८१९	४,५३२	१९,६८९	११,५५५	५३,२४४	३८,०००

युद्ध सचालन सम्बन्धी साधनों का एकत्रीकरण—युद्ध के सफल सचालन के लिए देश के मानवीय तथा भौतिक साधनो का बहुत स्थान्तरण करना होता है जिसमे व्यक्तियों की मानसिक तथा शारीरिक शक्ति, अचल तथा चल पूंजी, भौतिक तथा अभौतिक पूंजी तथा अन्य ऐसे साधनो का प्रयोग करना पडता है जिनसे शान्ति काल

3 A C. Pigou, *Political Economy of War.*
4 *World Economic Survey 1942 44* P. 154

मे राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। युद्ध काल में इनका उपयोग पूर्णतया भिन्न रूप से किया जाता है। इन साधनो में उसी समय वृद्धि हो सकती है जब कि (अ) व्यक्ति अपना उपभोग कम कर दें, (ब) घिसाई कोष न स्थापित किया जाय और पूँजीगत वस्तुओ म विनियोग न बढाया जाय, (स) वर्तमान पूँजी को घिसने दिया जाय, (द) उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो (य) बाह्य ऋण प्राप्त किये जायें और (र) विदेशा म लगी हुई पूजी को या तो निकाल लिया जाय या बेच दिया जाय।

जहाँ तक उपभोग को कम करने का सम्बन्ध है या तो व्यक्ति अपनी इच्छा स ही उपभोग को कम कर सकते ह या उनको उपभोग कम करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। जनता अपनी इच्छा स खर्च करने की प्रवृत्ति को कम कर सकती है या सरकार अतिरिक्त कर लगा कर अनिवार्य बचता की योजना चालू करके, आयाता को कम करके राशनिंग व्यवस्था चालू करके या इसी प्रकार की अन्य विधियो द्वारा व्यक्तियो को अपना उपभोग कम करने के लिए विवश कर सकती है।

कुल राष्ट्रीय आय का एक भाग मशीनो की टूट फूट ठीक करने तथा नई मशीनो को खरीदने के लिए अलग रख दिया जाता है। यदि यह भाग अलग न रखा जाए तो चालू आय को युद्ध के लिए खर्च किया जा सकता है। फिर न तो मशीनो के वर्तमान स्टाक म वृद्धि ही होगी और न मशीनो की टूट फूट ही ठीक हो पायगी।[5]

युद्ध के सफल सचालन के लिए कभी कभी यह भी आवश्यक होता है कि पूजीगत वस्तुएँ अपने वर्तमान उपयोगो म स निकल कर युद्ध सम्बन्धी उपयोगो मे लग जायें और इस प्रकार युद्ध म वर्तमान पूजी का भी उपभोग किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त युद्ध के लिए पर्याप्त धन उत्पादन को बढा कर प्राप्त किया जा सकता है। उत्पादन को विभिन्न प्रकार स बढाया जा सकता है जैसे (१) बेकार साधनो को काम म लगा कर। (२) काम के घण्टो तथा दिन म फेरियो (shift) म वृद्धि करके। (३) उन सभी व्यक्तियो को काम म लगाकर जो रिटायर हो चुके हैं या बेकार ह। (४) श्रमिको की काय कुशलता म यत्रात्मक प्रशिक्षण द्वारा या अन्य विधियो द्वारा वृद्धि करके। (५) सयुक्तिकरण द्वारा उद्योगो की कुशलता को बढा कर। (६) अनुसधानो द्वारा उत्पत्ति की विधि को उन्नत करके और (७) औद्योगिक झगडो को नए कानून द्वारा कम करके।

विदेशो से ऋण भी प्राप्त किये जा सकते ह और विदेशो मे लगी हुई पूँजी को निकाल कर या बेच कर भी आवश्यक धन प्राप्त किया जा सकता है।

युद्ध वित्त व्यवस्था की विभिन्न रीतियाँ—युद्ध सम्बन्धी साधनो को उसी समय प्राप्त किया जा सकता है जबकि सरकार के पास युद्ध सम्बधी वस्तुओ तथा सेवाओ को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त मात्रा म धन हो। इस धन को करारोपण, उधार

5 Cf Pigou Op cit.

लेकर, मुद्रा प्रसार द्वारा या इच्छित योगदानों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। हम इनमे से प्रत्येक का विश्लेषण निम्न मे करेंगे :—

करारोपण—युद्धकाल मे करारोपण की समस्या शान्तिकाल की अपेक्षा पूर्णतया भिन्न होती है। युद्धकाल मे करारोपण की मुख्य समस्या गुणात्मक (Qualitative) न होकर परिमाणात्मक होती है। दूसरे शब्दों मे सरकार केवल इसी ओर ध्यान देती है कि करारोपण द्वारा अधिक से अधिक धन कैसे प्राप्त किया जाय और वह युद्ध की लागतें बढने के साथ-साथ नए-नए कर लगाती जाती है और पुराने करों की दरों को बढ़ाती जाती है। सरकार करों की प्रकृति की ओर बिल्कुल भी ध्यान नही देती, अर्थात वह यह नही देखती कि कर प्रतिगामी है या प्रगतिशील, प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष। उसका मुख्य कर्त्तव्य केवल धन प्राप्त करना होता है। शान्तिकाल मे करारोपण की नीति का मुख्य उद्देश्य उपभोग पर पडने वाले, करों के बुरे प्रभावों को रोकना होता है। परन्तु युद्धकाल मे आवश्यक वस्तुओं के उपभोग पर भी प्रतिबन्ध लगाये जा सकते है। इसी प्रकार आय पर करों की दर को युद्धकाल म किसी भी सीमा तक बढाया जा सकता है और इस बात को बिल्कुल भी विचार म नही रखा जाता कि करों से व्यक्तियों के बचाने तथा विनियोग करने की शक्ति पर बुरा प्रभाव पडेगा।

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि करारोपण द्वारा प्राप्त होने वाली आय मुख्य रूप से कई बातों पर निर्भर होती है—प्रथम, करारोपण की वर्त्तमान दर, दूसरे, जनता की आर्थिक स्थिति, तीसरे, व्यक्तियों के कर भुगतान करने की इच्छा और अन्त म धन का वितरण। उस देश म जहाँ करारोपण की दर पहले से ही बहुत ऊँची है नए करो को लागू करना सम्भव नही होता। यदि करदान क्षमता की अन्तिम सीमा का उल्लघन हो चुका है या यदि देश निर्धन है तो और कर लगाने से कोई भी लाभ नही होगा। इसी प्रकार यदि व्यक्ति करभार सहन करना नही चाहते और करों का भुगतान करने के लिए तैयार नही है तो करारोपण द्वारा धन प्राप्त नही किया जा सकता। करारोपण का सहारा उसी देश मे लिया जा सकता है जहाँ धन का असमान वितरण हो। चाहे युद्ध हो या नही किसी भी देश मे करारोपण नीति उपर्युक्त बातों पर निर्भर होती है।

ऋण प्राप्त करके—ऋणों को, देश में जनता से और विदेशों से भी प्राप्त किया जा सकता है। सरकार देश मे आन्तरिक ऋण विभिन्न प्रकार के ऋण चालू करके प्राप्त कर सकती है या बैंकों को अधिक साख उत्पन्न करने के लिए बाध्य करके प्राप्त कर सकती है या सरकार बैंकों से प्रत्यक्ष ऋण प्राप्त करके कर सकती है या अनिवार्य बचतों द्वारा आवश्यक धन प्राप्त कर सकती है। सरकार जो भी विधि चाहे अपनाए परन्तु इतना निश्चित है कि ब्याज की दर न्यूनतम होनी चाहिए। क्योंकि नीची सूद की दर से न केवल ऋण की भावी लागतें ही कम रहेगी, वरन् सरकार को युद्धोत्तर काल मे मंदी को दूर करने के लिए सस्ती मुद्रा नीति अपनाने के लिए उचित सुविधायें भी प्राप्त हो सकेंगी।

करारोपण तथा ऋणों में से कौन सी विधि अधिक अच्छी है ? यह निश्चय करना कठिन है। हम दोनों ही के लाभों तथा दोषों का यहाँ वर्णन करते हैं —

१ प्रथम, यद्यपि दोनों ही रीतियों का उद्देश्य व्यक्तियों की जेबों से धन निकालना है फिर भी व्यक्तियों की करारोपण की अपेक्षा ऋण प्राप्त करने की नीति अधिक रुचिकर होती है। करारोपण में व्यक्तियों को भारी त्याग करना पड़ता है और उपभोग तथा उत्पादन के स्तरों को कम करना होता है जब कि ऋणों से उनको सूद की कुछ न कुछ आय की प्राप्ति होती है। अतः अकेले करारोपण की रीति को अपनाना ठीक न होगा वरन् इसके साथ-साथ ऋणों को भी प्राप्त करना चाहिए।

२ दूसरे, क्योंकि कर निश्चित दरों पर लगाये जाते हैं इसलिए करदाताओं से जो धन प्राप्त होता है उसको, वे अपनी अपनी योग्यता अनुसार नहीं देते। दूसरी ओर ऋणों द्वारा लोगों के पास जितना भी अतिरिक्त धन होता है, उसको वे अपनी स्व-इच्छा से दे देते हैं और इस प्रकार ऋणों द्वारा वर्तमान स्रोतों का अधिक उपयोग सम्भव होता है।

३ तीसरे यह भी कहा जाता है कि कर का भार केवल वर्तमान व्यक्तियों को ही सहन करना होता है जब कि ऋणों का भार भावी सन्तानों को भी सहन करना पड़ जाता है। यह बात करारोपण के सम्बन्ध में तो ठीक है परन्तु ऋणों का भार वर्तमान तथा भावी सन्तानों दोनों ही पर पड़ता है। यदि ऋण वर्तमान उपभोग को कम करके दिये जाते हैं तो ऋणों का भार वर्तमान सन्तानों पर पड़ता है और यदि ऋण बचाई हुई पूँजी में से दिये जाते हैं तब इनका भार भावी सन्तानों पर पड़ता है। चाहे जैसी भी स्थिति हो दोनों ही रीतियों का मिश्रण अधिक न्यायपूर्ण होता है, क्योंकि युद्ध वर्तमान तथा भावी, दोनों ही सन्तानों के लाभ के लिए लड़े जाते हैं।

४ चौथे, करारोपण द्वारा धन का वितरण समान किया जाता है जबकि ऋण धन की असमानताओं को और भी अधिक कर देते हैं। करारोपण में धन व्यक्तियों की जेबों में से सदा के लिये ही निकल जाता है। परन्तु व्यक्ति ऋण केवल इसी आशा में देते हैं कि उनको भविष्य में और भी अधिक धन प्राप्त होगा, जो वास्तव में होता भी है और इसी कारण ऋणों से धनी व्यक्तियों को अधिक लाभ पहुँचता है।

५. अन्त में ऋणों द्वारा बैंक साख में बहुत अधिक वृद्धि होती है। परन्तु यह ध्यान रहे कि यह केवल उसी समय हो सकता है जबकि व्यक्ति अपनी बचतों में से ऋण न देकर बल्कि बैंकों से उधार लेकर सरकार को रुपया उधार दें। इस प्रकार ऋणों से मुद्रा प्रसार का भय रहता है, जो करारोपण में नहीं होता।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि न तो अकेला करारोपण और न अकेले ऋण द्वारा धन प्राप्त करने की रीति उपयुक्त है, वरन् युद्ध के लिये आवश्यक धन प्राप्त करने के लिये दोनों ही रीतियों को साथ साथ अपनाना चाहिये, क्योंकि दोनों रीतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं।

मुद्रा प्रसार—युद्ध वित्त व्यवस्था के लिये मुद्रा प्रसार न तो आर्थिक दृष्टि से ही और न नैतिक दृष्टिकोण से उचित है। इसके बहुत ही गम्भीर परिणाम होते हैं। इस विधि में या तो सरकार अधिक कागजी मुद्रा छाप सकती है या केन्द्रीय बैंक या किसी अन्य बैंक से ऋण ले सकती है। मुद्रा प्रसार, धनी तथा निर्धन व्यक्तियों के बीच की असमानताओं को और भी अधिक कर देता है। इससे चोर बाज़ारी, मुनाफाखोरी तथा अन्य सामाजिक कुरीतियाँ उत्पन्न होती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विधि अति सरल है परन्तु इसके परिणाम इतने गम्भीर होते हैं कि इसका उपयोग जितना कम किया जाय उतना ही अच्छा है।

इच्छित योगदान—कभी-कभी युद्ध के सफल सचालन के लिये व्यक्ति अपनी स्वेच्छा से योगदान देते हैं। ऐसा वे केवल देश प्रेम की भावना से करते हैं। परन्तु ऐसे योगदानों की मात्रा बहुत कम होती है और इसलिये इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता।

युद्ध के लिये आवश्यक धन प्राप्त करने के लिये सरकार ऊपर बताई हुई चारों विधियों का ही प्रयोग करती है और हर विधि दूसरी विधि के सहयोग से ही सफल होती है। किस समय कौन सी विधि अपनाई जाय, युद्ध की प्रगति पर निर्भर करता है। प्रारम्भिक अवस्था में ऋण प्राप्त किये जाते हैं, फिर मुद्रा प्रसार, फिर करारोपण और अन्त में विदेशी पूँजी को बेचने का कार्य किया जाता है। ऋण लेने के बाद सरकार उन वस्तुओं तथा सामानों को प्राप्त करती है जो बेकार पड़े रहते हैं तथा उन साधनों को नियन्त्रण तथा प्रतिबन्ध लगाकर प्राप्त करती है जो निजी उपयोगों में लगे होते हैं।

अन्तिम युद्ध का चित्र आज भी हमारे सामने है। हम जानते हैं, कि विभिन्न सरकारों ने इन विधियों का प्रयोग किया था। लगभग सभी देशों में राशनिंग और करारोपण का सहारा लिया गया था और बचतों को प्रोत्साहित किया गया था। जब इनसे पर्याप्त धन प्राप्त न हुआ तो ऋण प्राप्त किये गये और सस्ती मुद्रा नीति अपनाई गई। निःसन्देह ही इससे रोजगार और उत्पादन में वृद्धि हुई और देश में मुद्रा प्रसार की दशायें उत्पन्न हुई। इस प्रकार उपभोग नियन्त्रित किया गया और अप्रत्यक्ष रूप से कम किया गया। जर्मनी जैसे देशों ने केवल अपने उपभोग को ही कम करके उत्पादन में वृद्धि नहीं कि वरन् विदेशी साधनों का भी उपयोग किया। इसी प्रकार ब्रिटेन ने केवल अपने विदेशी विनियोगों को ही समाप्त नहीं कर दिया वरन् विदेशी ऋण भी प्राप्त किये। विदेशों में धन खर्च करने की नीति से उस देश के लिये नई समस्या उत्पन्न हो जाती है जिस देश में वह धन खर्च किया जाता है जैसा कि भारत में हुआ था। यद्यपि मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति को रोकने के लिये और जीवन स्तर को न गिरने देने के लिये मुद्रा प्रसार विरोधक उपाय किये जाते हैं, परन्तु सफलता कम ही प्राप्त होती है।

युद्ध वित्त व्यवस्था के प्रभाव—युद्ध अपने साथ अनेकों आर्थिक कठिनाइयाँ लाते हैं, जिनको केवल बिरले ही कम कर सकते हैं। मुद्रा प्रसार युद्ध वित्त व्यवस्था

का प्रत्यक्ष परिणाम होता है। बढ़ते हुए मूल्य और जीवनस्तर व्यय यदि समय पर नहीं रुक पाते तो अनेकों आर्थिक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देते हैं जिनको दूर करना सरल नहीं होता है। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी और दूसरे महायुद्ध के बाद चीन बिलकुल नष्ट से हो गये थे। अपने ही देश में हमको दूसरी लड़ाई की दावत का मजा अभी तक आ रहा है।

युद्ध किसी भी राष्ट्र के समस्त आर्थिक जीवन को छिन्न भिन्न कर देता है। जो आर्थिक शक्तियां और साधन सामान्य परिस्थितियों में उत्पादन में लगे होते हैं उनका स्थानान्तरण युद्ध कार्यों के लिये हो जाता है जिससे सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था में एक ज्वार भाटा सा उत्पन्न हो जाता है और फिर युद्धकाल से शान्तिकाल के लिये इन साधनों का स्थानान्तरण कोई अच्छा का खेल नहीं होता। युद्ध के घातक परिणामों का अनुमान उन देशों की स्थिति से भली भांति लगाया जा सकता है जिन्होंने युद्ध में भाग लिया था।

युद्ध वित्त व्यवस्था का एक स्वाभाविक परिणाम युद्ध ऋणों का एक बड़ी मात्रा में एकत्रित होना है। इस ऋणों का वास्तविक तथा मौद्रिक भार जनता को बहुत अधिक मात्रा में सहन करना पड़ता है और ऐसे ऋणों के भुगतान करने का एक बहुत बड़ा दायित्व राष्ट्र के आर्थिक स्रोतों पर बना रहता है।

अन्त में युद्ध सम्बन्धी व्यय के लिए आवश्यक धन प्राप्त करने में सभी कल्याणकारी कार्यों को स्थगित करना पड़ता है और इस प्रकार आर्थिक जीवन उन्नत होने के स्थान पर नीचा होने लगता है। युद्ध लड़ने में जो भारी व्यय होता है और युद्ध संचालन में जो त्याग करने पड़ते हैं उनका अनुमान प्रसीडेन्ट आईजन होवर के निम्न कथन से लगाया जा सकता है जिसे उन्होंने समाचार पत्रों के निर्देशकों की अमेरिकन सोसाइटी से निवेदन करते समय कहा था। उन्होंने कहा "प्रत्येक बन्दूक जो बनाई जाती है, हर युद्ध का पानी का जहाज जो बनाया जाता है, हर रॉकेट जिसका उपयोग किया जाता है अन्तिम अर्थ में उस चोरी को संकेत करता है जो भूखों के यहां की जाती है जिनको खाना नहीं मिलता, जिनको ठण्ड लगती है और पहनने को कपड़े नहीं होते........एक आधुनिक भारी बम फेंकने वाले हवाई जहाज की कीमत यह है........३० से भी अधिक शहरों में ईंटों से बना हुआ एक आधुनिक स्कूल दो विद्युत शक्ति बनाने वाले कारखाने जिनमें से प्रत्येक ६० हजार जनसंख्या वाले शहरों को बिजली दे रहा है दो सुन्दर पूर्ण सुसज्जित अस्पताल हैं, लगभग ५० मील लम्बी कंक्रीट की प्रधान सड़क है........ हम एक नष्ट करने वाले जहाज के लिए उतना ही धन देते हैं जितना कि उन नए मकानों के लिए देते हैं जो ८ हजार से भी अधिक व्यक्ति के रहने के लिए काफी होते हैं।"[6]

युद्ध के लिए वित्त की व्यवस्था करना कोई सरल काम नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि युद्ध को सफलतापूर्वक लड़ने के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति

6. Lumer, *War Economy and Crisis* Page 229

की आदतों में मनोवैज्ञानिक उलट फेर हो। इसके लिये एक बड़ी मात्रा में मानसिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों की आवश्यकता होती है। यदि युद्ध के लिये वित्त का प्रबन्ध एक योजनाबद्ध ढग से किया जाय तो काफी अंश तक युद्ध के बुरे प्रभावों को कम किया जा सकता है और यदि युद्ध व्यय को आयोजना-बद्ध ढग से किया जाय तो युद्ध में भाग लेने वाले देश नष्ट हो सकते हैं। केवल युद्ध को जीतना ही एक मात्र उद्देश्य नहीं होता वरन् देश के आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्धों में न्यूनतम गड़बड़ उत्पन्न करके या देश के नागरिकों की सुरक्षा को कम से कम खतरे में डाल कर युद्ध को जीतने का उद्देश्य होता है। जब राजनैतिक सुरक्षा और अपने आपको बचाने का प्रश्न होता है तब युद्ध एक आवश्यक बुराई हो जाती है। युद्ध से विभिन्न देशों की जनता को अनेक प्रकार की मुसीबतें सहन करनी होती हैं। युद्ध के परिणाम और भी अधिक कटु प्रतीत होंगे यदि हम "उन उच्चतम बातों के नष्ट होने की ओर ध्यान दें जो आर्थिक क्षेत्र से बिल्कुल ही परे होती है—मनुष्य को अपने वचन का पालन न करना, लड़ाई में भाग लेने वालों के जख्मों तथा बीमारियों से उत्पन्न होने वाले कष्ट जो लड़ाई में भाग नहीं लेते उनके अत्याचारों तथा विचारों का निम्न होना—जो युद्ध के अनिवार्य परिणाम है।"[7]

भारत में युद्ध वित्त व्यवस्था—यद्यपि भारत स्वयं युद्ध में भाग लेने वाला देश न था किन्तु उसको दूसरी लड़ाई में भाग लेना पड़ा क्योंकि वह ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग था। यदि हम युद्ध से पहले के वर्षों में भारतीय बजटों का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि कुछ वर्षों में सतुलित बजट रहे हैं और कुछ में आधिक्य बजट भी थे। युद्ध के पहले तीन वर्षों में भारतीय वित्त सदस्य को अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा था। आय और व्यय दोनों ही में साथ-साथ वृद्धि हुई थी और सन् १९४०–४१ में ९०.३ प्रतिशत और सन् १९४१–४२ में ९१.४ प्रतिशत व्यय को आय में से पूरा किया जा सकता था। इसलिये हमारे राजकीय ऋण बढ़ने के स्थान पर सन् १९४०-४१ में १२४७.६७ करोड़ रुपयों से घट कर सन् १९४१-४२ में १२०९.२१ करोड़ रुपये रहे गये थे।

युद्ध के कारण जो नये कर लगाये गये थे वे प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर थे। इन वर्षों में अधिक लाभ कर, अतिकर जैसे प्रत्यक्ष कर लागू किये गये थे। अप्रत्यक्ष करों को भी महत्त्व प्रदान किया जा रहा था। नई नई वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाये गये थे और पुराने उत्पादक करों में वृद्धि की गई थी। इन करों का भार बहुत अधिक मालूम नहीं हुआ था, क्योंकि व्यापार कम होने के कारण सीमा कर कम हो रहे थे।

जहाँ तक बजटों का सम्बन्ध है युद्ध के पहले ३ वर्ष अधिक बुरे न थे परन्तु आर्थिक क्षेत्रों में मुद्रा प्रसार बहुत अधिक बढ़ता जा रहा था। ब्रिटिश सरकार के खातों में भारत सरकार को प्राप्त होने वाले युद्ध व्यय की राशि सन् १९३९–४० में

7. Pigou, Op. cit, Page 47.

सभी विधियों में असफल रहने के कारण सरकार ने अधिक मुद्रा छापकर हीनार्थ प्रबन्धन की नीति को अपनाया था।

युद्ध समाप्ति के बाद जनता ने कर भार से कुछ मुक्ति पाने के लिये बहुत अनुरोध किया। सन १९४६–४७ में जब पहला शान्ति कालीन बजट बना तो उसमें करो को काफी कम कर दिया गया था और उसमें ४५ २६ करोड़ रुपए का घाटा था। सन् १९४७–४८ म जो अन्तरिम (Interim) बजट श्री लियाकत अली खाँ ने प्रस्तुत किया जिसको 'ग़रीबी' कहा गया है उसम सारे ही करों को पुरानी दरों पर फिर से लागू कर दिया गया और व्यापार लाभ कर तथा पूँजी लाभ कर, दो नए कर और लगा दिये गए और फिर भी २६ ४२ करोड रुपयों का घाटा रहा। बाद के २ बजटों मे करो से मुक्तियाँ प्रदान करने के बाद भी काफी आश्चर्यजनक आधिक्य रहा। सन् १९५०–५१ से लेकर आज तक हमारी बजट नीति मुख्य रूप से विकास योजनाओं के लिये आवश्यक धन प्राप्त करने की ओर ही रही है और आज भी हम हीनार्थ प्रबन्धन की नीति अपना रहे हैं। इस प्रकार युद्ध काल में जो मुद्रा प्रसार का चक्र प्रारम्भ हुआ था वह आज भी जीवित है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत को युद्ध संचालन के लिये जो वित्त का प्रबन्ध करना पड़ा था उससे भारतवासियों को बहुत कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ी थीं। जनता के नैतिक तथा शारीरिक स्तरों में ही गिरावट नहीं आई थी वरन् उपभोग तथा उत्पादन के स्तर भी अपनी निम्न सीमा तक पहुँच गये थे। हमारा व्यय भी इतना आयोजना बद्ध था कि युद्ध के अन्तिम वर्षों म उत्पादन और व्यापार में इतनी कमी हो गई थी कि भारत में बेकारी अपनी चरम सीमा पर थी और परिणामस्वरूप हमारी अर्थव्यवस्था पूर्णतया मरण अवस्था में थी और सरकार की स्थिति बहुत गड़बड़ थी। यह प्रभाव इतने शक्तिशाली थे कि हम आज तक उनसे मुक्त नहीं हो पाए। इसीलिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम युद्ध सम्बन्धी वित्त व्यवस्था एक ऐसे योजनाबद्ध ढग से करें कि केवल उसको जीते ही नहीं बल्कि युद्ध के कारण उत्पन्न होने वाली गड़बड़ भी कम से कम रहे क्योंकि वित्त केवल युद्ध सचालन के लिये एक शक्तिशाली साधन ही नहीं है बल्कि युद्ध परास्त अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण में भी इसका उतना ही महत्व है।

भाग ७

वित्तीय शासन

अध्याय १७

वित्तीय शासन–सिद्धान्त एवं व्यवहार में

(Financial Administration in Theory and Practice)

प्राक्कथन–

पिछले अध्यायों में हमने देखा है कि सरकार अपने कार्यों को सम्पन्न करने के लिये विभिन्न स्रोतों से आय प्राप्त करती है। प्रश्न यह है कि जो आय सरकार प्राप्त करती है तथा उसको जिस प्रकार खर्च करती है उसकी व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य क्या होना चाहिए तथा इस व्यवस्था की विधि क्या हो ? साधारणतया सभी इस विचार से सहमत हैं कि सरकार को अपनी आय तथा व्यय का प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिए कि किसी एक वर्ग पर भार अधिक न पड़े, अर्थात् सभी वर्गों पर आय का भार समान हो और सरकारी व्यय से समाज को अधिकतम लाभ पहुँचे। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के लिए अपने हिसाब को ठीक रखना और समय-समय पर विभिन्न मदों पर किए जाने वाले व्यय तथा उनसे प्राप्त होने वाले लाभों में सतुलन स्थापित करना आवश्यक होता है और उसकी जाच पड़ताल भी करते रहना आवश्यक होता है ताकि व्यक्ति को अपनी आर्थिक स्थिति का पूरा ज्ञान रहे, उसी प्रकार सरकार के लिए भी यह परम आवश्यक है कि वह अपने हिसाबों को ठीक रखे तथा उनकी जाच पड़ताल कराती रहे ताकि आय एकत्रित करने की न्यायशीलता तथा व्यय की मितव्ययिता को निश्चित रूप से प्राप्त किया जा सके। यही वित्तीय शासन की विषय-सामग्री है। वित्तीय शासन, राजकीय शासन प्रबन्ध का ही एक अंग है और यह विज्ञान और कला दोनों ही है। विज्ञान के रूप में यह राजकीय वित्त व्यवस्था को नियन्त्रित करने तथा उसकी समुचित व्यवस्था करने के लिए निश्चित नियमों तथा सिद्धान्तों की रचना करता है और कला की दृष्टि से यह "सरकारी

संगठन का वह भाग है जो राजकीय कोषों के एकत्रण, सरक्षण और वितरण का, राजकीय आय तथा व्यय के समायोजन का राज्य की ओर से किये जाने वाले साख सम्बन्धी कार्यों की व्यवस्था का तथा राजकीय घर गृहस्थी के वित्तीय मामलों के सामान्य नियत्रण का अध्ययन करता है।' [1]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार वित्तीय शासन के अन्तर्गत मुख्यतया चार विषयों का समावेश होता है अर्थात् (१) राजकीय आय का एकत्रीकरण सरक्षण तथा वितरण, (२) आय तथा व्यय का समायोजन, (३) राजकीय ऋणों की व्यवस्था और राज्य के वित्तीय मामलों का सामान्य नियत्रण। जहाँ तक आय का सम्बन्ध है आय प्राप्त करने की सारी रीतियाँ देश के सविधान द्वारा निश्चित की जाती हैं। देश की कार्यकारिणी सभा (Executive) सरकार की आय तथा ऋणों का सगठन करती है, हिसाब किताब की पुस्तकों की जाच पड़ताल जाच विभाग द्वारा (Audit Department) द्वारा होती है और देश की केन्द्रीय बैंक सरकारी खजाची का काम करती है। कार्यकारिणी सभा आय तथा व्यय की स्थिति को ध्यान में रख कर अपने अनुमान बनाती है जो मुख्य रूप से वित्त मत्रालय द्वारा किया जाता है और जिनको स्वीकृति के लिए ससद के सामने रखा जाता है। आय तथा व्यय के सम्बन्ध में समय समय पर रिपोर्ट तैयार की जाती है और ससद के सामने प्रस्तुत की जाती है ताकि नियत्रण की कुशलता बनी रहे।

वित्तीय शासन के मुख्य सिद्धान्त—

वित्तीय शासन की कुशलता के लिये निम्न सिद्धान्तों की रचना की गई है —

१ **प्रभाव युक्त नियन्त्रण**—वित्तीय शासन की कुशलता के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक अवस्था पर बड़ा नियन्त्रण रहे जो कार्यकारिणी सभा तथा कानून बनाने वाली सभा दोनों की ही ओर से होना चाहिये और जहा तक सम्भव हो यह नियन्त्रण सरलतम हो।

२ **नियम बनाने वाली सभा के इच्छानुसार काम करना**—वित्तीय शासन उसी समय कुशल हो सकता है जब कि सभी वित्तीय मामलों में नियम बनाने वाली सभा (Legislature) की इच्छानुसार काम किया जाय। कार्यकारिणी सभा का यह कर्त्तव्य है कि वह उतने ही धन को एकत्रित करे तथा व्यय करने की योजना बनाये जो नियम बनाने वाली सभा द्वारा निर्धारित कर दिया गया है। आधुनिक समय में बजट प्रणाली इस सिद्धान्त का पालन करती है।

३ **सगठन की एकता**—वित्तीय शासन की व्यवस्था की प्रत्येक अवस्था पर शासन में एकरूपता होनी चाहिये। यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब कि सम्पूर्ण व्यवस्था पर केवल एक ही अधिकारी का नियन्त्रण रहे। इसलिये यह आवश्यक है कि वित्तीय शासन पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण रहे और प्रत्येक व्यक्ति की जिम्मेदारी निश्चित करदी जाये। इसके लिये यह आवश्यक है कि वित्तीय सगठन

1 Quoted by L. C. Tandon and others *Public Economics (Hindi)* Page 118

का एकीकरण कर दिया जाये । केन्द्रीयकरण तथा एकीकरण से केवल यही अभिप्राय है कि विभिन्न अधिकारियों के बीच समन्वय रहे और उच्च अधिकारियों का निम्न अधिकारियों पर नियन्त्रण रहे ।

४ सरलता—वित्तीय शासन व्यवस्था सरलतम रहना चाहिये तथा कार्यशीघ्रता तथा नियमितता के साथ होने चाहिये ताकि शासन में मितव्ययिता आये और प्रत्येक व्यक्ति शासन प्रबन्ध के कार्य सचालन को समझ सके, तभी वित्तीय शासन में कुशलता भी उत्पन्न हो सकेगी । नियमितता तथा मितव्ययिता के लिये यह आवश्यक है कि धन को ऐसे खर्च किया जाय कि उसका पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हो सके ।

हमारे देश में राजकीय वित्त पर निम्न संस्थाओं द्वारा नियन्त्रण किया जाता है :—

१ नियम बनाने वाली सभा (Legislature) ।

२ कार्यकारिणी सभा (Executive) ।

३ वित्त मंत्रालय (Finance Ministry) ।

४ जाँच विभाग (Audit Department) ।

१ नियम बनाने वाली सभा—यह सभा राज्य के सभी स्रोतों से प्राप्त आय, राज्य के सभी मदों पर किये गये व्यय, राज्य द्वारा लिये गये सभी ऋणों तथा राज्य के सभी हिसाबों पर नियन्त्रण रखती है । यह कार्यकारिणी सभा को नये कर लगाने तथा वर्तमान करों की दरों को बढाने की आज्ञा देती है । यह खर्च की मदों तथा ऋण प्राप्त करने की योजनाओं तथा स्रोतों को निर्धारित करती है । वास्तव में होता यह है कि यह सभा आय प्राप्त करने के लिये नये करों को लगाने तथा पुराने करों में वृद्धि करने, व्यय की नई मदें तथा पुरानी मदों पर व्यय की राशि को निर्धारित करने और पुराने ऋणों का भुगतान तथा नये ऋण प्राप्त करने के सुझाव स्वयं प्रस्तुत नहीं करती वरन् यह प्रस्ताव कार्यकारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं जिनको स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार इस सभा को होता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि यह सभा स्वयं अपनी इच्छा से कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकती केवल कार्यकारिणी सभा द्वारा रखे गये प्रस्तावों पर ही अपना मत प्रगट कर सकती है और वित्तीय शासन के सभी क्षेत्रों में जो भी नये उपाय किये जायेंगे उन सभी पर कार्यकारिणी सभा द्वारा निर्णय लिये जायेंगे ।

नियम बनाने वाली सभा दो समितियों द्वारा वित्तीय नियन्त्रण करती है : प्रथम, अनुमान समिति (Estimates Committee) तथा दूसरी राजकीय हिसाब समिति (Public Accounts Committee) । प्रथम समिति का कर्त्तव्य यह देखना है कि नियम बनाने वाली सभा द्वारा जो खर्चे मंजूर किये गए हैं वह मितव्ययिता से किये गए हैं या नहीं; तथा दूसरी समिति यह देखती है कि राजकीय व्यय उचित ढंग से किया गया है और हिसाबों को ठीक प्रकार से रखा किया गया है या नहीं ।

(२) **कार्यकारिणी सभा**—यह सभा सम्पूर्ण देश के लिए एक सामान्य नीति निर्धारित करती है, और विभिन्न अधिकारियों के शासन सम्बन्धी कर्त्तव्यों, उनके वेतनों, उनके अवकाश की अवधि तथा पेंशन आदि को निश्चित करती है। वित्त सम्बन्धी सभी मामले जिनकी मंजूरी वित्त मंत्रालय से लेनी होती है एक अर्थ समिति (Economy Committee) के पास भेज दिये जाते हैं जिसमें वित्त मंत्री के अतिरिक्त वित्त से सम्बन्धित ५ अन्य मन्त्री भी होते हैं। हर मन्त्री अपने व्यय के प्रस्तावों को इस समिति के अध्यक्ष के पास भेजता है जो खूब जाँच पड़ताल के बाद मंजूरी के लिए समिति के सामने रख देता है। सभी मामलों में समिति का निर्णय अन्तिम रहता है।

(३) **वित्त मंत्रालय**—राजकीय वित्त सम्बन्धी सभी मामलों पर केन्द्र में वित्त मंत्रालयों द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है तथा राज्यों में वित्त विभाग (Finance Department) द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है। वित्त मंत्रालय के मुख्य कर्त्तव्य यह देखना है कि सरकारी विभागों में धन को खर्च करने में मितव्ययिता का उपयोग किया गया है कि नहीं, सरकारी कर्मचारियों ने उचित रूप में खर्चा किया है या नहीं तथा यह भी देखना है कि राज्य के विभिन्न विभागों को जितना धन दिया गया था उतना ही वे खर्च कर रहे हैं या नहीं। यदि मंजूर किया हुआ धन वर्ष में खर्च नहीं हुआ है तो राज्यों ने उसे केन्द्र को लौटाया या नहीं। मंत्रालय के पास, विभिन्न खर्च करने वाले विभाग समय-समय पर अपनी रिपोर्ट भेजते रहते हैं जिनकी जाँच करने के बाद मंत्रालय यदि आवश्यकता होती है तो उनको सलाह देता है। यह विभिन्न विभागों के खर्चों में सामन्जस्य स्थापित करता है और यह प्रयत्न करता है कि विभिन्न विभाग अपने कार्य कम से कम मूल्य पर करें।

वित्तीय शासन की कुशलता के लिए यह भी आवश्यक है कि वित्त मंत्रालय का तथा वित्त विभाग का राजकीय आय पर भी पूरा-पूरा नियन्त्रण रहे। खेद है कि देश में राज्यों के वित्त विभागों का आय पर अधिक नियन्त्रण नहीं है। राज्यों में मालगुजारी का नियन्त्रण वित्त विभाग द्वारा न हो कर आय विभाग द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार वित्त विभाग का आय की अन्य मद्दों जैसे आबकारी, रजिस्टरी, जंगलात आदि पर भी बहुत कम नियन्त्रण है। हाँ, इतना अवश्य है कि वित्त विभाग के पास सभी विभागों की रिपोर्ट आती रहती हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनको सलाह देता रहता है। किन्तु केन्द्र में केन्द्रीय आय विभाग पूर्णरूप से वित्त विभाग के निर्देशन में कार्य करता है और केन्द्रीय आय विभाग के हाथ में केन्द्रीय सरकार की अधिकतर आय आती है। वित्त विभाग व्यय को नियन्त्रित करने के अधिकार का पालन करते हुए भी कुछ शक्तियाँ दूसरे विभागों को हस्तान्तरित कर देता है जो केवल उसके द्वारा निर्धारित कार्यक्रम को ही पूरा करते हैं। अपनी ओर से नये खर्च करने का अधिकार उन्हें नहीं होता। राज्यों में वित्त विभाग का सचिव राज्यों के वित्तीय शासन का नियन्त्रण करता है, परन्तु केन्द्र में यह कार्य अलग-अलग विभाग द्वारा किये जाते हैं। आय और व्यय की देखभाल तथा प्रबन्ध आय-व्यय विभाग

की भी बहुत सी परिभाषाएँ देखने को मिलती है। हम इनमें से कुछ परिभाषायें निम्न में दे रहे हैं —

बिल्यू (Beaulieu) के शब्दों में "यह एक निश्चित अवधि के आय तथा व्यय के अनुमानों का विवरण है। यह एक तुलनात्मक तालिका है जिसमें प्राप्त होने वाली आय की राशियों तथा किये जाने वाले व्ययों को दिखाया जाता है, इसके अतिरिक्त यह उचित अधिकारियों की ओर से एक अधिकार या आदेश है जो खर्च करने तथा आयों को एकत्रित करने के लिए दिया जाता है।"

जेज (Jeze) के अनुसार "आधुनिक राज्य में बजट एक भविष्यवाणी है और सभी राजकीय आयों तथा व्ययों का एक अनुमान है तथा कुछ विशेष्य खर्चों और आयों के लिए धन एकत्रित करने और उनको खर्च करने का एक आदेश है।"

यदि देखा जाय तो इन दोनों परिभाषाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही परिभाषायें बजट को आयों और व्ययों का अनुमान मानती हैं और आयों को एकत्रित करने तथा उनको खर्च करने के लिए एक आदेश के रूप में स्वीकार करती हैं। बजट की एक संक्षिप्त परिभाषा स्टोर्न (Stourn) ने दी है। वह कहते हैं कि 'बजट एक ऐसा लेखा है जिसमें राजकीय आय तथा व्यय की एक स्वीकृत प्रारम्भिक योजना होती है।"

सबसे उपयुक्त परिभाषा विलोबी (Willowghby) ने दी है। उनके शब्दों में "बजट एक दम एक रिपोर्ट, एक अनुमान तथा एक प्रस्ताव है, यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वित्तीय शासन की सभी विधियों को सम्बन्धित किया जाता है, उनकी तुलना की जाती है और समन्वय स्थापित किया जाता है।"

इन सब परिभाषाओं के आधार पर बजट को संक्षेप में किसी निश्चित अवधि में राजकीय आय तथा व्यय का एक समुचित विवरण कह सकते हैं और इस प्रकार बजट के तीन मुख्य अंग होते हैं। प्रथम, बजट में एक वित्तीय योजना प्रस्तुत की जाती है दूसरे, इस योजना को बनाने, कार्यान्वित करने तथा नियन्त्रित करने की विधि दी जाती है और तीसरे, इस विधि को कार्यान्वित करने की प्रत्येक अवस्था पर कौन सा विभाग जिम्मेदार होगा यह भी बताया जाता है।

बजट की तैयारी—जैसा हम पहले कह चुके हैं बजट कार्यकारिणी सभा द्वारा तैयार किया जाता है। बजट तैयार करने से पहले विभिन्न विभागों के अध्यक्षों को सूचित किया जाता है कि वह अपने अपने विभाग की आय तथा व्यय के अनुमान भेजें। यह अनुमान मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किये जाते हैं। प्रथम, वर्तमान आय तथा व्यय से सम्बन्धित अनुमान और दूसरे आने वाले वर्ष की आय तथा व्यय के अनुमान। अर्थात्, पहले भाग का सम्बन्ध वर्तमान से होता है और दूसरे भाग का सम्बन्ध भविष्य से होता है। पहले भाग में आय और व्यय अलग-अलग दिखाये जाते हैं और इनको अर्थ विभाग से प्राप्त फार्मों पर दिखाया जाता है जिनमें निम्न मुख्य शीर्षक होते हैं :—

(१) पिछले वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय।

(२) चालू वर्ष के आय तथा व्यय सम्बन्धी स्वीकृत अनुमान।

(३) चालू वर्ष के दुहराए हुए आय व्यय अनुमान।

(४) भावी वर्ष के बजट अनुमान, और

(५) चालू वर्ष तथा पिछले वर्ष की वास्तविक आय-व्यय सम्बन्धी आँकडे।

हमारे देश मे सघीय शासन प्रबन्ध है इसलिए केन्द्रीय सरकार का बजट अलग तैयार किया जाता है और प्रत्येक राज्य अपना बजट अलग तैयार करता है। उपर्युक्त ५ शीर्षकों में से केवल दूसरे शीर्षक के अतिरिक्त सभी शीर्षकों में सूचना स्थानीय अफसरों द्वारा दी जाती है। इन सब शीर्षकों मे तीसरा और चौथा शीर्षक महत्वपूर्ण है। पहले मे तीसरे शीर्षक के अन्तर्गत आँकडे प्राप्त किये जाते हैं और उसके बाद इसके आधार पर चौथे शीर्षक के आँकडे तैयार होते हैं। इन सब अनुमानों मे बडी सावधानी से काम लेना पडता है क्योंकि बजट अनुमान आने वाले वर्ष में वास्तविक आय तथा व्यय से बहुत अधिक भिन्न नहीं होना चाहिए। इन भिन्नताओं से बजट बनाने वाले अधिकारियों की तीन कुशलता का परिचय प्राप्त होता है।

अनुमानों के दूसरे भाग म नई नई योजनाओं, जिनको अगले वर्ष कार्यान्वित किये जाने का विचार है उन पर किये जाने वाले व्यय का अनुमान होता है। हमारे देश म प्रत्येक राज्य विभिन्न खण्डों तथा जिलों मे बाटा गया है। जिले का अध्यक्ष कलक्टर होता है जो सरकार की ओर से अपने जिले की आय एकत्रित करता है और उसको खर्च करता है। कलेक्टर आवश्यक सूचनाओं को स्थानीय अफसरों से प्राप्त करता है और इन सब के अनुमानो को जोड कर शासन तथा अर्थ विभाग को भेज देता है।

इसके बाद बजट तैयार करने का दूसरा खण्ड आरम्भ होता है। इन सब अनुमानों को प्राप्त करके शासन विभाग निरीक्षण करने के बाद अपनी टिप्पणियों सहित अर्थ विभाग को भेज देता है जो इन अनुमानों का निरीक्षण फिर करता है। यदि इन दोनों विभागों म कोई मतभेद होता है तो उसकी सूचना सरकार को दे दी जाती है और सरकार का निर्णय प्राप्त किया जाता है।

अन्त म इन सब अनुमानों के आधार पर अर्थ विभाग बजट तैयार करता है। नये नये करो के लगान के प्रस्ताव दिये जाते हैं तथा बचे हुए धन को खर्च करने की योजनायें दी जाती हैं। इन सब निर्णयों के पश्चात् बजट नियम बनाने वाली सभा के सामने प्रस्तुत किया जाता है जो आवश्यक वाद विवाद के बाद बजट को पास करती है।

हमारे देश मे बजट फर्वरी के महीने मे प्रस्तुत किया जाता है और उसको बनाने का कार्य ६ महीने पहले से आरम्भ हो जाता है।

अर्थ विभाग बजट को तैयार करके कार्यकारिणी सभा को दे देता है। सभी विभागों के मन्त्री अपना २ मत प्रगट करते हैं और बजटों को सरकार की सामान्य वित्तीय नीति के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते है। कार्यकारिणी सभा की स्वीकृति

के पश्चात् बजट सभी मत्रालयो की सामूहिक जिम्मेदारी हो जाती है। इसके बाद वित्त मत्री फरवरी के अन्त मे या मार्च के प्रारम्भ म बजट को नियम बनाने वाली सभा के सम्मुख प्रस्तुत करता है। बजट को मजूर होने से पहले तीन अवस्थाओ में से निकलना होता है। पहला, नियम बनाने वाली सभा के सम्मुख उपस्थापन, दूसरा वाद विवाद तथा मतदान और तीसरा राष्ट्रपति या राजपाल की स्वीकृति।

नियम बनाने वाली सभा के सम्मुख बजट को प्रस्तुत करते समय वित्त मत्री भाषण देता है। बजट प्रस्तुत होने से पहले के कुछ दिन व्यापारिक जगत म बडी उत्सुकता से कटते हैं और व्यापार तथा वाणिज्य मे निस्तब्धता सी आ जाती है। वित्त मत्री अपने भाषण म पिछले वर्ष के १०–११ महीनो का हिसाब पहले प्रस्तुत करता है और उसके बाद बचे हुए एक दो मास की आय का विवरण देता है और अन्त म आने वाले वर्ष के अनुमानो को पेश करता है। यदि पिछले वर्ष और चालू वर्ष के आँकडो म अधिक अन्तर है तो वह उसके कारण प्रस्तुत करता है। वह नये नये करो तथा पूँजीगत व्ययो के प्रस्ताव देता है। यदि बजट म कोई आधिक्य है तो वित्त मत्री उसको खर्च करने का सुझाव देता है और करारोपण म सम्भावित कमी को बताता है। यदि बजट म घाटा है तो वह उसको पूरा करने के लिए अपने उपाय प्रस्तुत करता है। वह पूँजी निर्माण तथा विकास की उन योजनाओ को भी बताता है जो सरकार कार्यान्वित करने जा रही है और इनसे सम्बन्धित आर्थिक साधनो का भी विश्लेषण करता है। वित्त मत्री के भाषण के बाद उस दिन का कार्य समाप्त हो जाता है और बजट पर विचार करने के लिए कई दिन नियत कर दिये जाते हैं। बजट पर पहले तो साधारण बहस होती है और उसके बाद नई नई माँगो पर मत प्रगट किया जाता है। इस अवधि म विधान सभा के सदस्य सरकार की आर्थिक नीति की आलोचनाएँ करते हैं। नियम बनाने वाली सभा के सदस्यो को सरकार के प्रत्येक खर्चों पर अपनी राय प्रकट करने का अधिकार नहीं है। हमारे सविधान की धारा ११२ म इन मद्दो की गणना की गई है। यह इस प्रकार है —

(१) राष्ट्रपति का वतन भत्ते तथा उनके दफ्तर से सम्बन्धित अन्य खर्चे।

(२) विधान सभा के अध्यक्ष, उप अध्यक्ष का वेतन तथा लोक सभा के प्रवक्ता तथा उप प्रवक्ता के वेतन तथा भत्ते।

(३) ऋण सम्बन्धी मूलधन तथा ब्याज का भुगतान।

(४) ऋण लेन और उसका हिसाब रखने से सम्बन्धित खर्चे।

(५) सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court), उच्च-न्यायालयों के न्यायाधीशो को प्राप्त होने वाले वेतन, भत्ते तथा पेंशन।

(६) सर्वोच्च न्यायालय के शासन का व्यय तथा उसके कर्मचारियों के वेतन, भत्ते तथा पेंशन।

(७) कन्ट्रोलर तथा आडीटर जनरल के भत्ते तथा पेंशन और उनके कार्यालयों के शासन सम्बन्धी व्यय, तथा कार्यालयो में काम करने वाले कर्मचारियों के वेतन, भत्ते और पेंशन।

अनुपूरक माँगें (Supplementary Demands)—कभी कभी ऐसा होता है कि पूर्व निश्चित व्यय की राशि से काम नहीं चल पाता और वर्ष के बीच में ही अधिक धन की आवश्यकता अनुभव होती है। ऐसी स्थिति में विधान सभा के सम्मुख अनुपूरक माँगें रखी जाती हैं, जिनका अनुमान लगभग उसी रीति से लगाया जाता है जिससे कि बजट के अनुमान लगाये जाते हैं और इनको पास करने में भी वही रीति अपनाई जाती है जो कि बजट के पास करने में होती है।

सांकेतिक माँगें (Token Demands)—कभी-कभी ऐसा होता है कि सरकार कुछ ऐसी मदों पर खर्च करना चाहती है जो बजट में सम्मिलित नहीं किये जा सके थे और यह मद इतने महत्वपूर्ण होते हैं कि बिना संसद के सम्मुख लाये हुए और उसकी स्वीकृति प्राप्त किये हुए इन पर खर्च करना भी उचित नहीं होता। ऐसी स्थिति में सरकार एक रुपए तक की माँग रख सकती है। इसका उद्देश्य केवल यही होता है कि विधान सभा से केवल उस मद पर व्यय करने की स्वीकृति प्राप्त हो जाय और व्यय की राशि बाद में निश्चित होती रहेगी।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वर्ष के अन्त में सरकार को यह पता लगता है कि कुछ मदों पर व्यय की राशि अधिकृत राशि से अधिक हो गई है जो वास्तव में अनुचित होता है। परन्तु ऐसे खर्च को उचित बताने के लिए अतिरिक्त अनुदानों की व्यवस्था की गई है। इन अनुदानों की माँग करने से पहले इनको राजकीय हिसाब समिति के सामने रखा जाता है और समिति के स्वीकार होने के बाद इनको पास कर दिया जाता है।

करारोपण पर मत लेना (Voting on Taxation)—नये कर लगाने तथा वर्तमान करों की दरों में वृद्धि करने के प्रस्तावों पर धारा सभा में बहस होती है। हमारे देश में केन्द्रीय सरकार कर सम्बन्धी प्रत्येक प्रस्ताव को एक वित्त बिल (Finance Bill) के द्वारा पेश करती है जिसमें उन सब परिवर्तनों को स्पष्ट कर दिया जाता है जो कर प्रणाली के लिए आवश्यक समझे जाते हैं। यह बिल विधान सभा के सम्मुख रखा जाता है। यदि किसी बिल्कुल ही नए कर का प्रस्ताव होता है तो उसको एक अलग बिल द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। बहुधा इन बिलों को नए वित्तीय वर्ष (Financial Year) आरम्भ होने से पहले ही पास कर दिया जाता है ताकि नए वर्ष में नए करों की या नए परिवर्तनों की व्याख्या की जा सके। यदि बिल को पास करने में देर लगती है तो प्रस्तावों के अनुसार पुराने करों की बढ़ी हुई दरों पर वसूल करना आरम्भ हो जाता है और यदि बिल, प्रस्तुत करने के दो माह के अन्दर स्वीकार नहीं हो पाता तो बीच के काल में वसूल किये गए करों को वापिस करना आवश्यक होता है। यहाँ यह बताना अनुचित न होगा कि विधान सभा प्रस्तावित करों को घटा भी सकती है और समाप्त भी कर सकती है, किन्तु करों को न तो बढ़ा सकती है और न नए करों के लागू करने के प्रस्ताव ही रख सकती है। हमारे देश में दो तरह के बिल इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जाते हैं एक तो वित्त बिल और दूसरा द्रव्य बिल (Money Bill)। पहले बिल में कर और व्यय के अतिरिक्त

और बातें भी सम्मिलित होती हैं परन्तु दूसरे बिल में केवल कर और व्यय सम्बन्धी प्रस्ताव ही होते हैं। इन दोनों बिलों में भेद केवल प्रवक्ता ही करता है जिसका निर्णय अन्तिम होता है। द्रव्य बिल के लिए प्रवक्ता का प्रमाण पत्र ही प्राप्त करना होता है, परन्तु वित्त बिल बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। यह दोनों बिल लोक सभा में ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। द्रव्य बिल लोक सभा में पास होने के बाद राज्य परिषद में भेजा जाता है। यदि राज्य परिषद इसमें कोई संशोधन करती है तो वित्त बिल इन संशोधनों पर विचार करने के लिए फिर से लोक सभा के लिए भेजा जाता है। यदि बिल के सम्बन्ध में दोनों सदनों में मतभेद होता है तो दोनों सदनों के सदस्यों की एक सभा बुलाई जाती है और उस सभा के बहुमत से वित्त पास किया जाता है।

बजट का कार्यरोपण (Execution of the Budget)—जब बजट की माँगों पर बहस समाप्त हो जाती है तब एक विनियोग बिल (Appropriation Bill) रखा जाता है जिसका उद्देश्य पास की हुई माँगों को कानूनी रूप प्रदान करना होता है तथा संचित कोष (Consolidated Fund) में से धन निकालने का अधिकार प्राप्त करना होता है। यह ध्यान रहे कि संचित कोष में से व्यय की राशि किसी दशा में उस राशि से अधिक नहीं हो सकती जिसको वार्षिक आर्थिक विवरण में दिखाया गया था और इस व्यय में संशोधन करने का अधिकार विधान सभा को नहीं होता। हमारे देश में करों की आय को संचित कोष में जमा कर दिया जाता है और फिर इस बिल के अनुसार धीरे धीरे निकाल कर उसका खर्च किया जाता है। इस बिल का महत्व केवल इतना ही है कि इसके स्वीकार होने के बाद लोक सभा द्वारा पास की गई माँगों में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इस बिल के पास होने के बाद केन्द्रीय आय बोर्ड (Central Board of Revenue) को आय एकत्रित करने का कार्य सौंप दिया जाता है, जिसको विभिन्न विभाग करते हैं। तत्पश्चात यह राशि सरकारी कोषागार में जमा कर दी जाती है और फिर उसका व्यय आरम्भ होता है।

बजट पास होने के बाद कार्यकारिणी सभा अधिकृत धन का व्यय करती है। इसका कर्तव्य केवल यह देखना होता है कि धन का व्यय उन्हीं उद्देश्यों तथा उतनी ही मात्राओं में किया जा रहा है या नहीं जिनकी स्वीकृति बजट में प्राप्त हुई है। विधान सभा की ओर से सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए राजकीय हिसाब समिति इसकी जाँच करती है।

बजट पास होने के बाद विभिन्न विभागों को उनके लिए स्वीकार की गई अनुदानों की राशि को सूचित कर दिया जाता है। कोई भी कर्मचारी उस समय तक खर्चा नहीं करता जब तक कि उसने अपने उच्च अधिकारियों से स्वीकृति न प्राप्त कर ली हो और जब तक की अधिकृत व्यय सारिणी (Schedule of Authorized Expenditure) में चालू वर्ष के व्यय के लिए धन की व्यवस्था न कर दी गई हो। व्यय की स्वीकृति देने वाले अधिकारी को यह देखना आवश्यक होता

है कि व्यय करते समय नियमितता का पालन किया जाये और व्यय में मितव्ययिता से काम लिया जाये।

वित्तीय नियन्त्रण—जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं हमारे देश में वित्तीय नियन्त्रण इन संस्थाओं द्वारा किया जाता है प्रथम, स्थाई वित्त समिति (Standing Finance Committee), दूसरा, नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक (Controller and Auditor General) का विभाग और तीसरा राजकीय हिसाब समिति (Public Accounts Committee).

स्थाई वित्त समिति प्रत्येक वर्ष लोकसभा द्वारा नियुक्त की जाती है, जिसमे लोक सभा के वे सदस्य होते हैं जिन्हें वित्तीय मामलों में विशेष जानकारी होती है। वित्त मन्त्री इसका सभापति होता है और यह समिति वार्षिक आर्थिक विवरण की जाँच करती है तथा नए व्यय और करों से सम्बन्धित नए प्रस्तावों की जाच करती है और अपने सुझाव देती है जो साधारणतया वित्त मन्त्री स्वीकार कर लेता है। समिति द्वारा जाच हो जाने के बाद ही बजट लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है।

आय-व्यय सम्बन्धी हिसाबों की जाँच पड़ताल नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक द्वारा की जाती है। राज्यों में यह लेखे महालेखपाल (Accountant General) द्वारा रखे जाते हैं और इनकी जाँच महालेखा परीक्षक द्वारा होती है जो पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं और कार्यकारिणी सभा की प्रत्येक त्रुटि को लोकसभा के सामने रख सकते हैं। हिसाब किताबों की जाँच का काम दो भागों में बाँटा जाता है। एक भाग में आय की जाँच की जाती है और दूसरे में व्यय की। जाँच करते समय लेखा परीक्षक यह देखता है कि कर दाताओं से सही मात्रा में कर वसूल किया गया है या नहीं और कर निर्धारण करने की रीति में कोई दोष तो नहीं है। व्यय की प्रत्येक राशि की पृथक पृथक जाँच होती है तथा आय की कुल राशि से व्यय की कुल राशि मिला ली जाती है। साथ ही यह भी देखा जाता है कि कर-दाताओं को जो छूटें दी गई हैं तथा जिनसे कर वसूल नहीं किया गया है उसके लिये आवश्यक आदेश प्राप्त कर लिये गये हैं या नहीं और आदेश देने वाले अधिकारी को आदेश देने का अधिकार भी था या नहीं। अन्त में यह भी देखना आवश्यक है कि प्राप्त आय को सरकारी कोषागार में जमा किया गया था या नहीं। लेखा परीक्षा के बाद जो त्रुटियाँ पाई जाती हैं उन पर विभागों के अधिकारियों से उत्तर माँगे जाते हैं और लेखा परीक्षक अन्त में अपनी रिपोर्ट तैयार करके महालेखा परीक्षक के पास भेज देते हैं, जो जनता की जानकारी के लिये समाचार पत्रों में प्रकाशित करदी जाती है।

लोक सभा प्रत्येक बैठक के आरम्भ में ही राजकीय हिसाब समिति को नियुक्त कर देती है जो महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत की गई रिपोर्ट की जाँच करती है। इसमें लगभग १० सदस्य होते हैं और इसका अध्यक्ष साधारणतया वित्त मंत्री होता है। सलाह देने के लिये नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक भी इसकी बैठकों में भाग लेते हैं। साधारणतया यह समितियाँ व्यय की उन मदों की जाँच

करती है जिन पर मत प्राप्त किया जाता है। किन्तु यह उन मद्दों की भी जाँच कर सकती है जिन पर मत नहीं लिया जाता। जिस प्रकार स्थाई वित्त समिति आर्थिक विवरण की तयारी पर नियन्त्रण रखती है उसी प्रकार यह समिति बजट के कार्यान्वित होने पर आय की वसूली होने पर तथा व्यय की नियमितता पर नियन्त्रण रखती है और उनकी जाँच करती है। इन दोनों समितिया द्वारा लोक सभा आय तथा व्यय पर नियन्त्रण रखती है और इनकी रिपोर्ट अन्त में लोक सभा के सम्मुख बहस के लिये रखी जाती है। हमारे देश में इन समितियों से बहुत लाभ प्राप्त हुए हैं।

राजकीय ऋणों पर नियन्त्रण—राजकीय ऋणों की व्यवस्था एवं शासन पूर्णतया वित्त विभाग के हाथ में होते हैं और लोक सभा केवल अप्रत्यक्ष रूप में नियन्त्रण रखती है क्योंकि वह इन ऋणों से प्राप्त आय को खर्च करने की स्वीकृति देती है। इसके अतिरिक्त इन ऋणों का विस्तृत शासन तथा उससे सम्बन्धित हिसाबों को रखने का जिम्मेदारी रिजर्व बैंक की होती है। इस सम्बन्ध में बैंक के मुख्य कार्य नये ऋणों को चालू करना तथा वसूल करना, सूद तथा मूलधन की राशि का भुगतान करना, प्रतिभूतियों को चालू करना, उनका परिवर्तन करना तथा उनको रद्द करना तथा इन सबसे सम्बन्धित रजिस्टरों और किताबों को रखना। इन सब कार्यों को करने के रिजर्व बैंक सरकार से प्रतिवर्ष २ हजार रुपये प्रति करोड़ कमीशन लेती है।

बजट बनाने के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें—बजट बनाने के सम्बन्ध में जिन महत्त्वपूर्ण बातों को ध्यान में रखना चाहिये वे निम्न प्रकार हैं —

(१) जहाँ तक सम्भव हो बजट सन्तुलित होना चाहिये। संकट काल में घाटे के भी बजट बनाये जा सकते हैं परन्तु सन्तुलित बजट ही अधिक रुचिकर है। बजट को दो भागों में विभाजित किया जाता है आय तथा व्यय। यद्यपि आय और व्यय भी दो प्रकार के होते हैं अर्थात् पूँजीकृत आय और व्यय तथा आय सम्बन्धी आय और व्यय किन्तु इन दोनों में से केवल आय सम्बन्धी आय और व्यय और ऐसा पूँजीकृत व्यय जो अनुत्पादक होता है बजट में सम्मिलित किया जाता है। बजट का संतुलन वास्तव में इस बात पर निर्भर करता है कि वित्त मन्त्री ने इसमें किन किन मद्दों को सम्मिलित किया है। बहुधा बजट को सन्तुलित दिखाने के लिये वित्त मन्त्री उन मद्दों को भी सम्मिलित नहीं करता जो उसे करना चाहिये। डाल्टन ने इसे राजकीय खाता या हिसाब की निपुणता कहा है।

(२) बजट में जो आय और व्यय दिखाये जाते हैं वह उसी वर्ष से सम्बन्धित होते हैं जिसके लिये वह बजट बनाया गया है। इस प्रकार बजट बहीखाते आधार पर नहीं बनते वरन् नकदी (Cash Bases) के आधार पर बनते हैं।

(३) बजट में सभी प्रकार की आय व व्यय सम्मिलित होने चाहिये। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो देश की वास्तविक आर्थिक स्थिति का पता नहीं लगाया जा सकता। बहुत से देशों में रेलों का बजट अलग बनाया जाता है। हमारे देश में

भी ऐसा ही होता है और दामोदर घाटी कारपोरेशन का बजट भी अब अलग बनने लगा है।

(४) बजट मे जो अनुमान दिये जाते हैं वह कुल आय और व्यय के दिये जाते हैं, शुद्ध (Net) के नही। अर्थात एक ओर पूरी आय दिखाई जाती है और दूसरी ओर पूरा व्यय। आय को प्राप्त करने में जो व्यय होता है उसे आय म से घटा कर नही दिखाया जाता वरन् कुल आय को एक स्थान पर और कुल व्यय को दूसरे स्थान पर दिखाया जाता है।

(५) बजट बनाते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो अनुमान वास्तविकता के समीप हो सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो यह उचित हो सकता है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नही है क्योंकि साधारणतया कर्मचारियों का यही प्रयत्न होता है कि वे आय को कम और व्यय का अधिक दिखायें। इसके साथ साथ अशिक्षित देशो म तथा बजट के प्रस्तुत होने वाली तिथि से पहले ही बन कर तैयार हो जाने के कारण वास्तविक आय का अनुमान लगाना भी कठिन होता है। भारत म यही कठिनाई अनुभव होती है। हमारे देश म तो वास्तविक आय और व्यय सम्बन्धी ठीक आकडे भी प्राप्त नही हो पाते है और इसीलिये बजटो के अनुमानो तथा वास्तविक आय और व्यय म बहुत अन्तर होता है। बजट के अनुमान ठीक हो, यह इसलिये आवश्यक है कि लोक सभा को यह देखना होता है कि कर दाताओ से अधिक कर न लिया जाय और वित्त विभाग को यह देखना होता है कि कोई भी विभाग आवश्यकता से अधिक धन न प्राप्त करले।

(६) बजट साधारणतया वार्षिक ही बनाया जाता है, परन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यो म यह दो वर्षीय भी होता है।

(७) बजट अधिकतर समाप्ति के नियम पर आधारित होता है। अर्थात् यदि अविकृत धन को किसी वर्ष खर्च न किया जाय तो बचा हुआ धन दूसरे वर्ष म खर्च नही किया जा सकता और उसको लौटाना पडता है। इसीलिये वर्ष के अन्त में सभी सरकारी दफ्तरो म उस वर्ष के लिय प्राप्त धन को खर्च करने की दौड धूप लगी रहती हैं।

(८) प्रत्येक राज्य म हिसाब किताब उसी प्रकार रखा जाता है जिस प्रकार कि केन्द्रीय सरकार रखती है। इसम यह सुविधा रहती है कि विभिन्न राज्यो म वित्तीय शासन की विधि समान रहती है, सब राज्य आपस में तुलना हो पाने के कारण वित्तीय नियन्त्रण सरल हो जाता है। इस हिसाब किताब का रूप महा लेखा परीक्षक द्वारा निश्चित किया जाता था परन्तु हमारे सविधान में सन् १९५१-५२ म इसम सशोधन कर दिया गया है और अब आर्थिक विवरण ३ भागो म दिखाया जाता है पहला सचित कोष, दूसरा सम्भावित और तीसरा राजकीय लेखा।

बजट का महत्व—बजट किसी देश की आर्थिक उन्नति का सूचक है। यह देश की सरकार की आर्थिक नीतियों का एक समुचित विवरण होता है और इसलिये इसका राज्य के आर्थिक जीवन मे विशेष महत्त्व है। यह एक ऐसा आधार है जिसके

बिना सामाजिक उन्नति नहीं हो सकती। इसमें उन उद्देश्यों का उल्लेख होता है जिनके अनुसार जनता का धन वैधानिक रूप से खर्च किया जा सकता है और इसमें व्यय की उन सीमाओं का निश्चित किया जाता है जिनका उल्लंघन करना सम्भव नहीं होता। संक्षेप में बजट किसी भी देश की निर्धनता तथा सम्पन्नता का सूचक होता है। बजट की अनुपस्थिति में प्रत्येक विभाग मनमाने ढंग से खर्च करने की और आय प्राप्त करने की कोशिश कर सकता है। बजट किसी भी देश में आय और व्यय की दिशाओं का निर्देशन करता है और इसके बिना सरकार का काम सुचारु रूप से चल ही नहीं सकता। हमारे सामने संयुक्तराज्य अमरिका का उदाहरण मौजूद है जबकि वहाँ पर बजट की प्रथा नहीं थी। हर एक विभाग अपनी वार्षिक आय तथा व्यय का अनुमान कांग्रेस के सामने रखता था। कांग्रेस के लिये हर एक विभाग की लम्बी चौड़ी मांगों को पूरा करना असम्भव हो गया और इस लिये सन् १९२१ के बाद बजट प्रथा चालू की गई। सच तो यह है कि बजट वह अस्त्र है जिसके द्वारा विधान सभा कार्यकारिणी सभा के कार्य पर नियन्त्रण रखती है और इस प्रकार देश की सम्पूर्ण शासन व्यवस्था का नियमन बजट द्वारा ही सम्भव होता है। आधुनिक समय में बजट द्वारा सामाजिक उन्नति भी की जा सकती है तथा धन की असमानताओं को दूर किया जा सकता है। देश में उद्योग तथा कृषि के लिये आर्थिक सहायता प्रदान की जा सकती है। कर लगाकर धनी व्यक्तियों की जेबों में से धन प्राप्त किया जा सकता है और सरकारी व्यय की नीति से निर्धनों के लिये आवश्यक सेवायें प्रदान की जा सकती हैं। बजट के द्वारा देश में मूल्य स्तर को भी नियमित किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि बजट का किसी भी देश के आर्थिक जीवन में विशेष महत्त्व होता है।

पुस्तक-तीसरी



बेकारी, पूर्ण रोज़गार तथा राजस्व नीति

/ 14

अध्याय १

बेकारी के कारण, प्रभाव तथा उपाय

(Unemployment-Its causes, Effects and Cure)

प्राक्कथन—

अब अधिकांश अर्थशास्त्री इस विचार से सहमत है कि, जब तक व्यापार तथा व्यवसाय की नीति का निर्धारण केवल व्यापारिक तथा व्यवसायिक उद्देश्यो की सफलता के लिय ही किया जाता रहेगा, किसी भी देश की आर्थिक प्रणाली में स्थायित्व आना असम्भव है और उसम समय-समय पर उतार चढाव होते ही रहेंगे। इन उतार चढावों को रोकने के लिय तथा आर्थिक प्रणाली को स्थायी बनाने के लिय यह आवश्यक है कि देश म रोजगार के आकार को नियन्त्रित करने का दायित्व राज्य अपने ऊपर ले। इसीलिय अब सभी क्षेत्रो म, उत्पादन उपभोग, व्यवसाय, व्यापार आदि सभी म, नीतियो के निर्धारण म, विगत वर्षो म राज्य हस्तक्षप एक साधारण सी बात हो गई है। समय समय पर, पूर्ण प्रतियोगिता क प्रभाव में तथा अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लालच से व्यापारी तथा व्यवसायी वर्ग ऐसी नीतियाँ निर्मित करने लगा था कि मूल्यो म बहुत उतार चढाव होने लग थ, जिनसे उत्पत्ति की मात्रा म भी उतार चढाव होत थे और रोजगारो की स्थिति में भी परिवर्तन होते थे। इसके अतिरिक्त अपने लाभ को अधिकतम करने के लालच से उत्पादक वर्ग ऐसी रीतियो का भी प्रयोग करता था कि रोजगार की स्थिति दिन प्रति दिन खराब होती जा रही थी। सन् १९३० के महामदी काल म तो स्थिति अपनी निम्नतम सीमा पर पहुच चुकी थी। इसी के बाद बेकारी के विरुद्ध आवाज उठना आरम्भ हुई और प्रत्यक देश म सरकार ने इस ओर ध्यान देना आरम्भ किया। इसी के बाद 'पूर्ण रोजगार' के विचार का विकास हुआ और उसे लगभग प्रत्यक देश की व्यवहारिक नीतियो म एक स्थान प्राप्त हुआ। हम इस अध्याय म केवल, बेकारी से सम्बन्धित बातो का अध्ययन करेंगे अर्थात् बेकारी क्या है ?, बेकारी के कितने रूप हो सकते है ?, बेकारी के क्या कारण तथा परिणाम है ? और उसको दूर करने के क्या उपाय है ?

बेकारी क्या है ?—साधारणतया बेकारी का अर्थ बिना काम के होने से

लिया जाता है। परन्तु इस अर्थ तथा दृष्टिकोण से तो आलसी मनुष्य जो काम करना ही नहीं चाहता, बेकार कहलाता है, इसलिये, आर्थिक दृष्टिकोण से बेकारी से हमारा अभिप्राय उन लोगों के बिना काम के रहने से है जिनमें कार्य करने की इच्छा तथा योग्यता है; अर्थात् जिन व्यक्तियों को उनकी इच्छा तथा योग्यता के विरुद्ध बिना काम के रहने के लिए विवश कर दिया जाता है, बेकार कहलाते हैं। यह हमारी आर्थिक प्रगति का नकारात्मक पहलू है, क्योंकि एक व्यक्ति अपनी इच्छा, योग्यता तथा काम ढूंढने के लिए प्रयत्न करने के बावजूद भी बिना किसी कसूर के काम से अलग रहने को मजबूर कर दिया जाता है। वास्तव में इसका मुख्य कारण हमारी आधुनिक मशीन उत्पादन का संगठन है। बीमार वृद्ध, जख्मी, पागल तथा अपाहिज व्यक्ति तो काम करने के योग्य ही नहीं होते, इसलिये, उनको बेकारों के वर्ग में नहीं रखना चाहिये। वे व्यक्ति भी जो हड़ताल कर रहे होते हैं, बेकार नहीं होते। अतः साधारण शब्दों में हम कह सकते हैं कि बेकारी श्रम बाजार की एक स्थिति है जिसमें श्रम-शक्ति की पूर्ति, काम करने के लिये उपलब्ध सुविधाओं तथा अवसरों की अपेक्षा अधिक होती है। प्रो० पीगू के अनुसार एक व्यक्ति केवल उसी समय बेकार होता है जब कि उसको काम करने की इच्छा होती है और वह काम पर लगा हुआ नहीं होता है। हमने कई बार 'काम करने की इच्छा' शब्दों का प्रयोग किया है, इसलिये यह परम आवश्यक है कि इन शब्दों का स्पष्टीकरण कर दिया जाये। 'इच्छा' एक सापेक्षिक शब्द है और इसका सम्बन्ध, काम करने के घंटे, मजदूरी की दर और मजदूर के स्वास्थ्य से होता है। यदि किसी व्यक्ति को किसी व्यवसाय में केवल छः घंटे ही काम करना पड़ता है जब कि उसे आठ घंटे काम करने की इच्छा है तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह दो घण्टे प्रतिदिन बेकार रहता है। इसके अतिरिक्त नौकर रहने की इच्छा इस बात से भी जानी जाती है कि एक व्यक्ति मजदूरी की चालू दर पर काम करने को तैयार है या नहीं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यदि कोई व्यक्ति केवल उसी समय काम करना चाहता है जब कि बाजार में मजदूरी की दर १०) प्रतिदिन हो और उस समय उसके काम करने की इच्छा नहीं होती जब कि बाजार में मजदूरी की दर केवल ५) प्रति दिन है तो उसको बेकार कहा जा सकेगा। और अन्त में यदि कोई व्यक्ति अपनी बीमारी के कारण काम नहीं करना चाहता तो उसे बेकार नहीं कह सकते। यद्यपि बेकारी की परिभाषा करना कठिन है, किन्तु इसका अर्थ समझने के लिए हम केवल उपर्युक्त सावधानियों को ध्यान में रखकर काम पर लगे रहने तथा काम पर न लगे होने की स्थिति की तुलना कर सकते हैं। इस प्रकार के अध्ययन करने के लिये, केवल दो आधार ही अपनाने चाहियें—अर्थात् काम करने की इच्छा तथा बिना काम के होना। बेकारी वह स्थिति है जब कोई व्यक्ति बिना काम के रहने के लिये विवश होता है। इस स्थिति में बेकार मनुष्य बिना काम के होता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हर वह व्यक्ति जो कोई काम नहीं कर रहा है बेकार है जैसे साधु, सन्यासी आवारा घूमने वाले व्यक्ति इत्यादि। वास्तव में इनको बेकार नहीं कहना चाहिये, क्योंकि,

इनको काम करने की इच्छा ही नहीं होती। इनको आलसी या समाज पर एक भार कह सकते हैं। दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति होते हैं जो काम करने की स्थिति में ही नहीं होते, जैसे बीमार, अपाहिज इत्यादि। ऐसे व्यक्तियों को काम करने योग्य ही नहीं कह सकते। इस प्रकार बेकार केवल वही व्यक्ति होते हैं जिनमें काम करने की इच्छा तथा योग्यता होती है, परन्तु जिन्हें समाज में कोई भी काम करने को नहीं मिलता और जो काम की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को मारे-मारे फिरते हैं।

बेकारी के विभिन्न कारण—आज अधिकांश व्यक्ति सामूहिक बेरोजगारी को एक सामाजिक बुराई समझते हैं, परन्तु बेकारी को दूर करने के उपचारों के विषय में व्यक्तियों में एक मत नहीं है। प्रथम, इसलिये कि सब लोग बेकारी के अलग-अलग कारण बताते हैं और दूसरे, इसलिये, कि बेकारी को दूर करने के लिये व्यक्तियों के अपने अलग अलग विचार हैं और वे अपने अलग अलग उपचार बताते हैं। परन्तु यह तो प्रत्येक सामाजिक घटना की विशेषता है, और बेकारी के सम्बन्ध में तो समस्या और भी जटिल है, क्योंकि यहाँ तो लोग बेकारी के अनेकों कारण बताते हैं, इसलिये सब एक साथ मिलकर बेकारी को दूर करने का निश्चय करें, यह असम्भव है। हाँ पिछले पच्चीस तीस वर्षों से लोगों के विचारों में कुछ एकरूपता अवश्य ही आनी आरम्भ हुई है। वैसे तो अनेकों छोटे-छोटे सिद्धान्त देखने को मिलेंगे, परन्तु हम यहाँ पर उनमें से प्रत्येक की बारीकियों में न फसकर केवल मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का ही विश्लेषण करेंगे। मोटे-तौर पर बेकारी के कारणों पर तीन विचारधाराएँ मिलती हैं —

(अ) प्रथम, सबसे प्राचीन तथा पहली विचारधारा, जिसके अनुसार बेकारी, 'स्वतन्त्र छोड़ो' (*laissez faire*) सिद्धान्त अर्थात्, स्वतन्त्र प्रतियोगिता तथा स्वतन्त्र व्यापार में विचलित होने का दण्ड है। इसको हम 'स्वतन्त्र छोड़ो प्रतियोगिता सिद्धान्त' ('Laissez-faire Competetion Theory') के नाम से पुकार सकते हैं।

(ब) दूसरी विचारधारा के अनुसार व्यापार चक्रों के कारणों की जटिलताओं के कारण बेकारी उत्पन्न होती है और व्यापारिक जगत में ये उतार-चढाव प्राकृतिक तथा स्वभाविक हैं और यदि ये माध्यम प्रकृति के हैं तो इनके परिणाम बड़े ही लाभकारी होते हैं। इसके अन्तर्गत हम व्यापार चक्रों के केवल उन्ही सिद्धान्तों का विश्लेषण करेंगे जिनमें बेकारी पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, उनकी नयी समस्याओं और इस चक्रीय बेकारी (cyclical unemployment) के सम्बन्ध में उपचार सबंधी नीतियों का वर्णन करेंगे।

(स) तीसरी विचारधारा के अनुसार बेकारी, क्रियाशील माँग (effective demand) के अभाव, उपभोग पर किये जाने वाले पूंजी व्यय के अभाव या विनियोगों के अभाव या दोनों ही, के कारण उत्पन्न होती है। यद्यपि इस प्रकार के विचार १९ वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गये थे, किन्तु इनका विकास सर्वप्रथम

कीन्स ने अपने 'सामान्य सिद्धान्त' (General Theory) मे ही किया था। इसको 'माँग अभाव सिद्धान्त (Demand Deficiency Theory) कहते है।

हम निम्न म इन विचारधाराओ का अध्ययन करेंगे —

'स्वतन्त्र छोडो प्रतियोगिता सिद्धान्त'[1]

इस सिद्धान्त के लेखको के अनुसार बेकारी का मुख्य कारण बाजार की शक्तियों के स्वतन्त्र कार्य सचालन में या तो सरकार द्वारा या एकाधिकारियो द्वारा बाधायें उत्पन्न करना है। सरकार अपने कानूनो द्वारा मजदूरी की दर ऊँची निश्चित करती है और इसी प्रकार एकाधिकारी भी शक्तिशाली होने के कारण व अन्य प्रतियोगियो को समाप्त करने के कारण वस्तुओं के मूल्य ऊँचे निश्चित करते हैं। साधारण उत्पादकों को इससे हानि होती है। वे मजदूरो की सख्या कम करते हैं और बेकारी उत्पन्न हो जाती है। यदि ये रुकावटें समाप्त हो जायें तो स्वतन्त्र प्रतियोगिता के प्रभाव से मजदूरी की दर नीचे आयगी और तब अधिक मजदूर रखना लाभप्रद हो सकेगा। यदि सरकार बेकारी को समाप्त करना चाहती है तो उसे एकाधिकारिक कुरीतियों का अन्त करना चाहिये ताकि स्वतन्त्र प्रतियोगिता म कोई बाधा न रहे।

उपर्युक्त विचारधारा अधिकतर उन देशो म प्रचलित है, जहाँ पूजीवाद का बोल बाला है, जैसे अमेरिका, इङ्गलैंड इत्यादि। इन विचारधारा म कई सिद्धान्तो का मिश्रण है। हम इन सिद्धान्तों का वर्णन सक्षेप में यहा पर करेंगे।

(१) मजदूरी तथा रोजगार का प्राचीन सिद्धान्त—प्राचीन अर्थशास्त्रियो के अनुसार कम मजदूरी से रोजगार म वृद्धि होती है और ऊँची मजदूरी की दर पर बेकारी उत्पन्न होती है। यह मान कर कि मजदूरी की दर ऊँची है और समाज म बेकारी है हम उनके सिद्धान्त का विश्लेषण इस प्रकार कर सकते है। ऊँची मजदूरी की दर नीची होते ही पहले की अपेक्षा उद्योगपतियो को मजदूरी के रूप म कम भुगतान करना होगा और परिणामस्वरूप उनको अधिक लाभ होंगे। यदि उद्योगपति इन अतिरिक्त लाभो को उपभोग पर या विनियोग पर व्यय करते है तो आवश्यक रूप से कुल रोजगार म वृद्धि होगी। यदि उत्पादक लोग अपने लाभों को पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन म लगाते है तो पहले की अपेक्षा रोजगार में और भी अधिक वृद्धि होगी। यह अल्पकाल म पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति म होता है। दीर्घकाल म, नई-नई मशीनें काम में आयेंगी और यह मानकर कि दीर्घकाल म उत्पादन लागतें समान रहती हैं और उत्पादन कला मे कोई परिवर्तन नही होते तो पूँजी और श्रम म जो पिछला अनुपात था वह फिर से स्थापित हो जायगा। उपभोग वस्तुओ के उत्पादन म, रोजगार की वृद्धि के ठीक अनुपात में वृद्धि होगी और अन्त में दीर्घकाल मे मजदूरी की दरो और मूल्यो म सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। अत जब उत्पादक मजदूरी कम होने से प्राप्त होने वाले लाभो को अपने उपभोग को

[1] Cf F. A Burchardt, *The Causes of Unemployment*, Ch I in the *Economics of Full Employment*, An oxford univ rsity Institute of Statistics's Publication 1948, p. 2.

बढाने या अपनी पूंजीगत वस्तुओं को बढाने मे लगाते हैं तो मजदूरी की दर गिरने पर सामान्य रूप से रोजगारो म वृद्धि होगी। इस सिद्धान्त की प्रमुख विशेषता यह है कि यह लोग यह मानते हैं कि लाभ प्राप्त होने के साथ साथ उनका व्यय शीघ्र ही या तो उपभोग पर या पूंजीगत वस्तुओं पर होता है। यदि ऐसा नही होता तो रोजगार मे कोई भी वृद्धि नही होगी। रोजगार और उत्पादन पूर्ववत ही रहेंगे, क्योंकि उनको केवल मजदूरी कम हो जाने के कारण ही मूल्य कम करने से कोई भी लाभ नहीं होगा।

दूसरी स्थिति को लीजिये, अपूर्ण प्रतियोगिता म, उत्पादक बिक्री बढन की आशा मे, वस्तुओं के मूल्य को कम करने की सोचेंगे। वह माँग बढने की आशा मे अतिरिक्त मशीनो के लिये आर्डर दे देते हैं। रोजगार म नये आने वाले साधनो को जो आय प्राप्त होती है, उससे वे अधिक वस्तुएँ खरीदते हैं और इस प्रकार उत्पादकों को निराशा नहीं होती और उत्पादित वस्तुओं की माँग बढने लगती है। परन्तु इस प्रकार की मजदूरी म कमी होने से कितने श्रमिको को अधिक नौकरियाँ मिल सकेंगी, इस बात पर निर्भर करेगा कि उद्योगपतियो को बिक्री म कितनी वृद्धि होने की आशा है। अपूर्ण प्रतियोगिता म यह आवश्यक नही कि मजदूरी कम होने से लाभ की दर बढ ही जाये। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे तो उत्पादको को मजदूरी के कम होने से उत्पत्ति बढाने के लिये प्रोत्साहन मिलता है, किन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता म ऐसा नही होता। मजदूरी कम होने के बाद उत्पादक मूल्य को कम करके इस बात की भी प्रतीक्षा कर सकते हैं कि माँग म कितनी वृद्धि होती है। वास्तव मे वह विनियोग करके उत्पादन एकदम बढाने के स्थान पर ऐसा ही करेंगे। और सच तो यह है कि बाद की घटनाये उनके इस सकोच की पुष्टि करेंगी और न तो रोजगार मे ही वृद्धि होगी और न बिक्री में ही। अपूर्ण प्रतियोगिता म मजदूरी कम करने या अधिक करने से उत्पादको की माँग बढने या कम होने की आशाओं पर कोई प्रभाव नही पडता जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता म होता है। इसलिये प्रश्न यह है कि क्या मजदूरी की दरों म हेर फेर करने के अतिरिक्त और कोई विधि ऐसी नही है, जिनसे उत्पादकों की आशाओं पर प्रभाव पड सके और रोजगार की स्थिति म परिवर्तन हो सके? प्राचीन अर्थशास्त्रियों के पास तो इसका उत्तर न था, किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस समस्या का अधिक विस्तृत विश्लेषण अपने क्रियाशील माँग के सिद्धान्त में किया है। यद्यपि बाद के प्राचीन आगल अर्थशास्त्रियों ने पुराने *सिद्धान्त म सुधार करने के दो बार प्रयत्न किये* परन्तु वे सफल न हो पाये। एक प्रयत्न के अनुसार मजदूरी की दर और मूल्यों में साथ-साथ कमी होने से, ब्याज की दरें कम होंगी और विनियोगो को प्रोत्साहन मिलने से रोजगार मे वृद्धि होगी। परन्तु यह तो सम्भव नहीं कि सूद की अल्पकालीन दरो म कमी होने से सूद की दीर्घकालीन दरें भी कम हो जायें, क्योकि जब तक यह नही होगा उस समय तक विनियोग प्रोत्साहित नही हो सकते। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने यह किस प्रकार समझ लिया कि अल्पकालीन दरो के कम होने से विनियोग बढ जायेंगे,

स्पष्ट नहीं है। दूसरे प्रयत्न के अनुसार निर्यातों में वृद्धि होने से व्यापार सतुलन देश के पक्ष में हो जाता है, उत्पादन में वृद्धि होती है और रोजगार में वृद्धि होती है।

प्राचीन सिद्धान्त की आलोचना—प्राचीन लेखकों की यह धारणा कि मजदूरी में कमी होने से रोजगार में वृद्धि होगी, इस बात पर आधारित है कि उत्पत्ति में वृद्धि करके उत्पादकों के वास्तविक लाभों में अस्थायी वृद्धि होगी। परन्तु यह धारणा अवास्तविक है क्योंकि लाभ की आशा में विनियोग बढते हैं, न कि उत्पत्ति। उत्पत्ति तो सदैव वास्तविक लाभ की आशा से बढाई जाती है। उत्पत्ति तथा विनियोगों म वृद्धि करने के लिये योजना बनाने तथा निर्णय लेने म भी समय लगता है और फिर अधिकतर उत्पादकों के लिये यह स्वाभाविक है कि वे 'प्रतीक्षा करो तथा देखो' वाला व्यवहार अपनाये, इसलिये मजदूरी कम होने और नये विनियोगो म वृद्धि होने तक कुछ समय अवश्य ही लगेगा, जिससे वास्तविक मजदूरी तथा लाभ पूर्ववत रहगे। यह भी सम्भावना है कि भावी मजदूरी तथा मूल्यो की अनिश्चितता के साथ-साथ मूल्यों को कम करने से, उत्पादको की लाभ की आशा विपरीत दिशा म प्रभावित हो और उत्पत्ति तथा रोजगार बढने के स्थान पर कम हो जायें। इसके अतिरिक्त लाभ की आशाओं पर उत्पादन लागतो के अतिरिक्त अन्य बातों का भी प्रभाव पडता है। समाज में अधिकतर बेरोजगारी की स्थिति तथा गिरती हुई माँग और गिरते हुये मूल्यों के साथ साथ मजदूरी म कमी होने से ऊँचे लाभ की आशा करना व्यर्थ होगा। इसी प्रकार प्राचीन अर्थशास्त्रियों का यह विचार भी कि ऐसी परिस्थितियो म मजदूरी म कमी करके रोजगार की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है, ठीक नहीं है, क्योंकि केवल व्यापारिक समृद्धि तथा बढते हुये रोजगारो के काल म ही केवल यह सम्भव हो सकता है। अत प्राचीन लेखको की यह धारणा पूर्णतया सत्य नहीं है। मजदूरी की दर में कमी करने से रोजगार में केवल एक उचित मौद्रिक नीति द्वारा ही वृद्धि की जा सकती है।

बेकारी के व्यापार-चक्र सम्बन्धी सिद्धान्त—औद्योगिक देशों के इतिहास के पिछले डेढ सौ वर्ष में अनेकों बार समृद्धि के बाद मन्दी और मन्दी के बाद समृद्धि के काल नियमित रूप से आते रहे है। इनको अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्रों का नाम दिया है। इन चक्रों म समय अवधि का अन्तर इतना नियमित होता है और इनकी प्रकृति इतनी समान होती है कि इनके विषय मे एक सामान्य सिद्धान्त बनाना अनुचित प्रतीत नहीं होता। १९ वी शताब्दी म और बीसवी शताब्दी के इन ५९ वर्षों में सिद्धान्तो की निरन्तर रचना होती ही रही है, जो प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विचारों के पूर्णतया प्रतिकूल है। वैसे तो इन सिद्धान्तो की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं, किन्तु इनकी सबसे उत्तम विशेषता यह है कि इन्होंने बेकारी के विभिन्न कारणो का विश्लेषण करने का काफी सफल प्रयास किया है। मोटे तौर पर दो प्रवृत्तियाँ इनमे देखने को मिलती हैं—एक के अनुसार आय तथा रोजगार मे जो नियमित रूप से उतार-चढाव होते हैं वे मुख्य रूप से बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं जैसे, वे सिद्धान्त जो चक्रो का मुख्य कारण, फसलों के उतार-चढावो को बताते हैं या

व्यापारिक आशा तथा निराशा, बैंकिंग नीति के नियमित उतार-चढ़ाव, या आविष्कारों के परिवर्तनों आदि को बताते हैं, इस प्रवृत्ति के मुख्य द्योतक हैं। दूसरी प्रवृत्ति के अनुसार ये चक्र समय की प्रगति के साथ-साथ तथा अन्य आर्थिक कारणों से स्वय ही उत्पन्न होते हैं। इनमे वे सिद्धान्त सम्मिलित किये जाते हैं जो इस तथ्य पर जोर देते है कि विस्तार की प्रवृत्ति गैर अनुपातिक विकास की ओर होती है, अर्थात् कुछ क्षेत्रों का खूब विकास होता और कुछ का बिलकुल नहीं, यहाँ तक कि एक ऐसा बिन्दु आता है जब कि विस्तारों मे कमी होने लगती है क्षेत्रीय असन्तुलन दूर होने लगता है और प्रगति का एक नया मार्ग उत्पन्न होने लगता है। दूसरे शब्दों में ये सिद्धान्त 'समय विलम्ब' (time-lag) के तत्व पर आधारित है।

सभी व्यापार चक्रीय सिद्धान्त इसको स्वीकार करते हैं कि निश्चित समय अवधि के बाद सामूहिक बेकारी (mass unemployment) उत्पन्न होती रहती है और इसे भी स्वीकार करते हैं कि यह सामूहिक बेकारी केवल मौद्रिक मजदूरियो के एक बिन्दु पर स्थायी रहने के कारण उत्पन्न नही होती। अत उनके विचार प्राचीन विचारधारा के पूर्णतया विपरीत हैं। यदि देखा जाये तो सामान्य रूप से सभी सिद्धान्त इस ओर सकेत करते है कि ये चक्र प्रकृति की देन है और स्वभाविक घटनाये हैं और इनको सहन करने की अपेक्षा मनुष्य के पास और कोई उपचार नही है। इनकी कार्यशीलता म हस्तक्षेप करने से कुछ भी लाभ नही होता। वैसे तो प्राचीन विचारधारा भी यही थी, परन्तु तनिक गहन अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि इन दोनों विचारों में मौलिक भिन्नता है। कुछ लेखकों ने अपने व्यापार चक्रीय सिद्धान्तों को इस बात पर आधारित किया है कि मांग और पूर्ति की स्वनियमन करने वाली शक्तियाँ एक प्रकार की प्राकृतिक व्यवस्था (natural order) स्थापित कर देती हैं और प्रगतिशील स्वयक्रियाशीलता (Dynamic Automatism) उत्पन्न हो जाती है। इन प्रगतिशील तत्वों से, जैसा कि प्राचीन अर्थशास्त्री सोचते थे, अर्थ-व्यवस्था म स्थिरता नहीं आती और न ही प्रगति म एकरूपता आती है। इस प्रगति तथा विस्तार का मूल्य हम चक्रीय अस्थिरता के रूप मे चुकाना पड़ता है। इन म मे कुछ लेखकों का विचार है कि समृद्धिकाल की अधिकताओं को समतल बनाने के लिये तथा विस्तार सम्बन्धी असतुलन को दूर करने के लिए मन्दी परम आवश्यक होती है। साथ ही, मन्दी से अकुशल उत्पादक उत्पादन क्षेत्र से बाहर निकाल दिए जाते हैं, जो हमारी उन्नति पर निरन्तर भार स्वरूप थे और इस प्रकार अति पूँजीकरण भी समाप्त हो जाता है। वास्तव म यदि मन्दी काल स्वय ही उपस्थित न हो तो इसे कृत्रिम उपायो से उत्पन्न करना होगा। तीसरे प्रकार के कुछ लेखक ऐसे है जिनका विश्वास यह है कि चक्रों को जन्म देने वाले जो कारण हैं, वे सामाजिक नियन्त्रण से बाहर है और इसलिए कुछ न कुछ उतार-चढ़ाव तो सहन करने ही होंगे। वे यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि इन चक्रों की गति एव तीव्रता को सरकारी प्रयत्नों द्वारा कम अवश्य कर सकते हैं, परन्तु व्यापार चक्रों की तीव्रता को नियन्त्रित करने की विधि पर ये लेखक एकमत नहीं

किया जा सकता है यह भी ठीक नहीं है। वह यह भूल जाते है कि प्राचीन सिद्धान्तों का मुख्य आधार उनका यह अनुमान था कि परिवर्तन बहुत छोटी मात्रा में तथा धीरे-धीरे होते हैं। आकस्मिक तथा बड़े परिवर्तन, जैसे, युद्ध द्वारा उत्पन्न होने वाले परिवर्तन, व्यापार नियन्त्रण, महान् अवसाद, जैसी घटनायें प्राचीन आँगल सिद्धान्तों के क्षेत्र के बाहर हैं। इसके बावजूद भी प्राचीन लेखक यह स्वीकार करते हैं कि आकस्मिक परिवर्तनों की तीव्रता को कम करने के लिए एक सकारात्मक (positive) सरकारी नीति की आवश्यकता होती है। इसलिए योजनाबद्ध ढंग से किसी भी क्षेत्र की अधिकता या कमी को धीरे-धीरे दूर किया जा सकता है चाहे वह विस्तार के कारण उत्पन्न हो या युद्ध जैसी भीषण घटनाओं के कारण। यह सोचना कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता द्वारा असन्तुलनों को दूर किया जा सकता है केवल एक भ्रम मात्र है। इसके अतिरिक्त यह भी तो निश्चित नहीं कि मन्दी से अकुशल उत्पादक उत्पादन क्षेत्र से बाहर निकल ही जायेंगे। वास्तव में यदि ये आवश्यक ही है कि समृद्धि काल की अधिकताओं को दूर किया जाए और असन्तुलनों को ठीक किया जाए तो यह मन्दी काल की अपेक्षा अन्य विवेचनात्मक विधियों (discriminating methods) से भी किया जा सकता है। अन्त में व्यापार चक्र नीति का प्रश्न आता है। इन चक्रों को कम करने और आय तथा रोजगार में निरन्तर परिवर्तनों को रोकने के लिए चक्र की उल्टी दिशा में सार्वजनिक निर्माण कार्यों की नीति को अपनाना चाहिए और मुख्यतया निजी विनियोगकर्ताओं की उतार चढ़ाव की प्रवृत्ति को राजकीय विनियोगों द्वारा दूर किया जा सकता है। जब निजी विनियोग अधिकतम हों तो राजकीय विनियोग न्यूनतम हों और जब निजी विनियोग न्यूनतम हों तो राजकीय विनियोग अधिकतम होने चाहिएँ। दूसरे शब्दों में राजकीय विनियोगों को निजी विनियोगों के पूरक होना चाहिए और वह स्थिति तो आदर्शतम होगी जबकि राजकीय विनियोग निजी विनियोगों से लगभग आधे चक्र पीछे रहें। परन्तु यह विचारधारा भी तर्क युक्त नहीं है। जब यह स्वीकार कर लिया गया कि राजकीय विनियोग के लिए यह आवश्यक नहीं कि निजी विनियोगों के पीछे पीछे रहें और वे स्वतन्त्रतापूर्वक किये जा सकते हैं और उनका समय भी स्वतन्त्रतापूर्वक निश्चित किया जा सकता है तो यह भी उचित न होगा कि वे निजी विनियोगों के समानान्तर हों या उनके विपरीत दिशा में चलें। इस प्रकार तो यह ही कहना ठीक होगा कि राजकीय निर्माण कार्य एक सामान्य गति से चलते रहें। यह ध्यान रहे कि विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रकार के राजकीय कार्यों की आवश्यकता होती है। कुछ तो निजी विनियोगों और उपभोग के साथ-साथ चलते हैं जैसे गली तथा सड़कों की सफाई, नालियों का प्रबन्ध, रोशनी की व्यवस्था इत्यादि। कुछ दीर्घ-कालीन प्रकृति के होते हैं, जैसे जंगल लगाने का काम। कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें स्थगित नहीं किया जा सकता और जो अनिवार्य हैं, जैसे, रक्षा सम्बन्धी कार्य, गोले बारूद, हथियार इत्यादि का उत्पादन और शेष ऐसे होते हैं जिन्हें समयानुसार जल्दी और देर में चालू नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह स्थानीय हितों को दृष्टि में रख कर चालू किए जाते हैं और यदि इन विनियोगों को

व्यापार चक्रो की बुराइयों को कम करने का एक साधन बनाना है तो केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारो के बीच के सम्बन्धो को पुनर्स्थापित किया जाए और केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया जाए कि वह स्थानीय सरकारो के निर्माण कार्यों को निश्चित कर सके, तथा उनको व्यापार चक्रीय नियोजन का एक विश्वसनीय अस्त्र बना सके। इसके विरुद्ध कुछ लोगो का कहना है कि स्थानीय सस्थाओ के राजकीय निर्माण कार्य इतने सीमित होते है कि वह व्यापार चक्रीय बुराइयो को कम करने म अधिक सफल नही हो सकते और न ही उनमे हस्तक्षेप करना उचित ही होगा। यदि हम व्यापार चक नीति के विरुद्ध दी गई दलीलो को सकीर्ण दृष्टिकोण से स्वीकार करले तो केवल दो ही मार्ग हमारे सामने होते हैं—एक तो समयानुकूल (timeable) राजकीय निर्माण कार्यों की, पहले की अपेक्षा अधिक व्यवस्था करनी होगी, और दूसरा निजी विनियोगो की स्पष्ट बुराइयो को कम करना होगा। इन सब बातो का विश्लेषण कीन्स के 'क्रियाशील माँग' (Effective Demand) के सिद्धान्त म किया गया है।

माँग अभाव सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओ तथा सेवाओ की माग इतनी न होने के कारण कि कुल वास्तविक साधनो को उपयोग म लाया जा सके, बेकारी उत्पन्न होती है। यदि माग अधिक हो तो साधनो को अधिक मात्रा का उपयोग होगा और यदि माँग बहुत अधिक हो जैसे युद्धकाल में तो साधनों का उपयोग उनकी शक्ति से भी अधिक होगा। इन विचारो पर तो कोई भी मतभेद नहीं है। मतभेद तो केवल उन्ही दशाओ पर है जब माग इतनी कम होती है कि पूरे साधनो का उपयोग नही हो पाता। हम देख चुके हैं कि प्राचीन लेखको के अनुसार स्वतन्त्र प्रतियोगिता म माँग कभी भी इतनी कम नही होती। माँग केवल उसी समय कम होती है, जबकि बाजार म कृत्रिम उपायो म अपूर्णता तथा स्थिरता उत्पन्न की जाती है। व्यापारचक्रीय सिद्धान्तो ने केवल कुल माँग म समय समय पर होने वाले परिवर्तनो की सम्भावनाओ का ही विश्लेषण किया है और उन्होंने यह स्पष्ट नही किया है कि दीर्घकाल में वस्तुओ तथा साधनो की माँग क्यो कम हो जाती है? इसकी ओर कीन्स ने उचित ध्यान दिया था। माँग अभाव सिद्धान्त के मुख्य तत्व निम्न प्रकार है —

यदि हम यह मान लें कि देश में किसी समय विशेष पर सभी उत्पत्ति के साधन उपयोगों म लगे हुये हैं और समाज क सब सदस्य अपनी पूरी वास्तविक आय को खर्च कर देते हैं अर्थात पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित है तब प्रश्न यह है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति कैसे भग होती है? और सारे साधनो को उपयोग में न लाने के लिये माँग क्यो कम हो जाती है?

जब व्यक्ति केवल अस्थायी रूप से एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु के लिये माँग करने लगते हैं तो कुल माग मे जो कमी होने से जो बेरोजगारी उत्पन्न होगी वह भी अस्थायी ही होगी। किन्तु हम तो माँग की स्थायी कमी के कारण उत्पन्न होने वाली बेकारी के कारणो पर दृष्टिपात करनी है। माँग मे स्थायी कमी उस समय उत्पन्न होती है जब समाज के कुछ सदस्य अपने खर्चे को कम करने की

सोचत है और जबकि कुछ लोग अपनी आय से अधिक खर्च करने को तैयार नही होते। समाज के एक वर्ग की वस्तुओ और सेवाओ की माँग की कमी दूसरे वर्ग की माँग के न बढ पाने से पूरी नही हो पाती और कुल माँग कम हो जाती है, उत्पत्ति के साधन बेकार हो जाते हैं और समाज की आय गिरने लगती है। जब व्यक्ति अपनी आय की अपेक्षा अपने व्यय को कम करने की सोचते हैं तो उनकी इस क्रिया को हम उनकी 'बचाने की इच्छा' (desire to save) कहते हैं। व्यय कम होने से जो साधन बाहर निकाल दिये जाते हैं और जो अन्य उपयोगो मे लगाये जा सकते हैं, तो इन दूसरे उपयोगो को 'बचतो के स्थानापन्न उपयोग' (offsets to savings) या 'स्थानापन्न व्यय' (offsetting spending) कहते हैं। स्थानापन्न व्यय कई प्रकार के हो सकते हैं, जैसे, या तो व्यक्ति स्वय अपने आप अपनी बचत को उपभोग की वस्तुओ के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ पर खर्च करना चाहे, जैसे नये मकान, नयी मशीने आदिपर, या अन्य व्यक्ति या राजकीय सस्थाएँ बचत करने वालो की बिना उपयोग की गई क्रयशक्ति को विनियोग या उपभोग की वस्तुओ पर व्यय करना चाहे।

माँग अभाव सिद्धान्त के प्राथमिक कथन को इस प्रकार बता सकते है — यदि व्यक्तियो की आय विशेष मे से बचाने की इच्छा, समाज के स्थानापन्न व्यय की इच्छा से अधिक है, तो कुल माँग, आय और रोज़गार उस स्तर से नीचे गिर जायेंगे। यह स्थिर (Static) तथा परिवर्तनीय (Dynamic) दोनों ही परिस्थितियो म सत्य होता है। यदि बचतो और स्थानापन्न व्ययो का सम्बन्ध बिल्कुल विपरीत हो जाता है तो माँग और रोजगार मे वृद्धि होगी अर्थात, जब स्थानापन्न व्ययों की अपेक्षा बचते अधिक कम हैं तो माग और रोजगारो मे वृद्धि होगी। पहले तो बेकार पडे हुये साधन काम पर लगेंगे और उत्पादन म भी वृद्धि होगी। यदि स्थानापन्न व्ययों की वृद्धि उस समय हो रही है जबकि देश मे पूर्ण रोज़गार की स्थिति पहले से ही स्थापित है तो कारखानो तथा अन्य साधनो का उपयोग आवश्यकता से अधिक होने के बाद भी उत्पादन मे आवश्यकतानुसार वृद्धि न होने से मूल्यो म वृद्धि होने लगेगी और ठीक वैसी ही स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जैसी मुद्रा स्फीति म होनी है। स्थानापन्न व्यय म कितनी वृद्धि से या बचतो म कितनी कमी से (दोनो एक ही बात हैं) आय और रोजगारो मे वृद्धि होगी, समाज की बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति (propensity) पर निर्भर करेगा। यदि बचत करने की प्रवृत्ति शून्य है तो तनिक व्यय से भी आय और रोजगार मे वृद्धि होगी। बढी हुई आय तथा बढे हुये रोजगारो से प्राप्त आय को यदि फिर खर्च किया जायगा तो परिणामस्वरूप फिर आय और रोजगारो मे वृद्धि होगी। अत हम कह सकते है कि बचत करने की शक्ति के शून्य पर रहने की स्थिति मे व्यय की प्रत्येक क्रिया मे आय और रोजगार मे अनुपातिक तथा स्थायी वृद्धि होती रहेगी। यदि रोजगार बढने की प्रत्येक अवस्था पर व्यक्ति थोडा थोडा बचाना चाहते हैं, अर्थात, अपनी अतिरिक्त आय को पूरा उपभोग पर खर्च करना नही चाहते तो माँग कम होने से रोज़गार मे कमी होगी और फिर आय कम होगी और आय

और रोजगार के स्तर नीचे गिरते चले जायेंगे। कुल आय और रोजगार में वृद्धि के अनुपातों को नापने वाले गुणक (Multiplier) को सरलता से बचत करने की प्रवृत्ति की परस्परता के रूप में निर्धारित किया जा सकता है। बचत करने की प्रवृत्ति जितनी अधिक होगा उतना ही प्रारम्भिक व्यय की वृद्धि विशेष का गुणक प्रभाव कम होगा और जितनी बचत करने की प्रवृत्ति कम होगी उतना ही प्रारम्भिक व्यय की वृद्धि विशेष का गुणक प्रभाव अधिक होगा। इस प्रकार स्थानापन्न व्यय की वृद्धि से आय तथा रोजगार में वृद्धि, उस समय तक होगी जब तक कि जो कुछ भी व्यक्ति बढ़ी हुई आय में से बचाते हैं वह इस वृद्धि के बराबर नहीं होता। रोजगार की किसी भी स्थिति विशेष पर बचतें और स्थानापन्न व्यय एक दूसरे के बराबर होंगे।

समाज के विभिन्न वर्गों व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा बचत करने के लिये जो निर्णय लिये जाते हैं वे व्यक्ति या समाज की आदतों एवं दृष्टिकोणों द्वारा निर्धारित होते हैं। सामान्य रूप से जितनी ऊंची आय होती है उतनी ही अधिक बचतें भी होती हैं। इसी प्रकार समाज की कुल आय जितनी अधिक होती जाती है, उतनी ही समाज की बचतें भी अधिक होती जाती हैं इसीलिये रोजगार बढ़ने के साथ साथ समाज अधिक बचाना चाहता है। आय की वृद्धि के साथ साथ आय का जितना अधिक अनुपात लाभ कमाने के लिये लगाया जाता है उतना ही बचतों का अनुपात भी अधिक होता जाता है।

अब हम स्थानापन्न व्ययों के सम्बन्ध में कुछ बताने का प्रयत्न करेंगे अर्थात आर्थिक शब्दों में यह क्या है और यह व्यय किन के द्वारा किया जाता है। व्यक्ति अपने वर्तमान उपभोग को कम करके इसलिये बचत प्राप्त करता है कि वह उन वस्तुओं पर खर्च कर सके जिनका भुगतान साधारणतया चालू आय में से नहीं किया जाता जैसे मकान बनवाना। कुछ व्यक्ति इसके लिए भी तैयार हो कि वे अन्य व्यक्तियों द्वारा की गई बचतों की क्षति पूर्ति कर दें चाहे अतिरिक्त पूंजी वस्तुएँ खरीद कर या अपनी आय में से अधिक खर्च करके। अतः सामान्य रूप से बचतों के कारण समाज में जो धन की कमी होती है उसकी पूर्ति पूंजी वस्तुओं या उपभोग की वस्तुओं पर खर्च करने के लिए ऋण प्राप्त करके कर सकते हैं। व्यक्तिगत ऋणों का अधिकांश भाग विनियोगों में लगा दिया जाता है किन्तु प्रश्न यह है कि क्या विनियोग सम्बन्धी व्यक्तिगत निर्णय बिना सोचे विचारे ले लिये जाते हैं? या ऋणों को विनियोगों में लगाने के लिए व्यक्तिगत निर्णय भिन्न भिन्न बातों पर निर्भर करते हैं? व्यक्तियों को प्रेरित करने या विनियोग करने से रोकने में अनेकों बातों का हाथ होता है जैसे—सीमान्त लाभ की आशा दीर्घकालीन सूद की दर ऋणों के जोखिम तथा ऋण-दाताओं के सम्भावित जोखिम आदि। परन्तु विनियोगकर्ताओं के निर्णय केवल इन्हीं बातों से प्रभावित नहीं होते। यदि वे यह देखते हैं कि उपर्युक्त चार बातों की सामूहिक स्थिति ऐसी है कि उन्हें विनियोग ऋण प्राप्त करके नहीं करने चाहियें, तो भी उनके पास ऐसे साधन होते हैं कि वे बिना ऋण प्राप्त किए

हो विनियोग कर ल । हाँ विनियोग की मात्रा उतनी नही होगी जितनी ऋण प्राप्त करके होती । ये विनियोग वे घिसाई कोप म से कर सकते हैं और साथ ही वे चालू लाभों में से पुन विनियोग कर सकते हैं । ऐसा करने से न तो उनका ऋण-भार ही बढता है और न उन्हे अधिक जोखिम ही सहन करना होता है । अत अल्पकाल म विनियोगकर्ताओं को, जितनी आय अधिक होगी उतना ही विनियोग करने के लिए उन्हे प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी । वे ऋण लेकर विनियोग करने के लिए प्ररित नहीं होगे, केवल अपनी ही बचतों का विनियोग पुन करते रहगे । वे विनियोग के लिए कोई भी ऐसी योजना नही बनायेंगे, जिसम अधिक मात्रा मे ऋणी तथा ऋणदाता के जोखिम हो । य पाचवी बात है जिसमे विनियोगकर्ताओ के निर्णयो पर प्रभाव पडेगा । इसके अतिरिक्त सबमे अधिक प्रभाव माँग के सम्भावित परिवर्तनो का पडेगा । इसे तीव्र गति का सिद्धान्त (acceleration principle) कहते हैं । अर्थात् जब माग म तीव्र गति से वृद्धि होती है तब विनियोग सम्बन्धी निणय समान दर से बढते हैं । यदि माग म वृद्धि की गति कम होती है तो विनियोग निणय भी कम होने लगते ह, और यदि माग बिल्कुल गिर जाती है तो विनियोग केवल बन्द ही नही हो जाते वरन् विनियोग की हुई राशि निकलने लगती है । सही अर्थ म तीव्र गति सिद्धान्त वास्तविक तथ्यों का वर्णन नही करता । सच तो यह है कि, इस सिद्धान्त का प्रभाव उस समय अधिक होगा जब वर्तमान मशीनो के उपयोग करने की गुन्जाइश कम होती है और अधिक श्रमिक काम कर रहे होते है । तभी माग के तनिक बढने पर भी विनियोग निर्णयो की दर बहुत ऊँची होगी और दूसरी ओर जब मशीनो का उपयोग कम हो रहा होता है, अर्थात् जब मशीनो के अधिक उपयोग होने की गुन्जाइश होती है और जब कम श्रमिक लगे होते हैं तब विनियोगो के निर्णयो की दर कम होती है । सातवें, पूर्ति की स्थिति का भी प्रभाव पडता है और आठवे, मनोवैज्ञानिक बाते, अर्थात् आशावादी तथा निराशावादी दृष्टिकोण से भी विनियोग निणय प्रभावित होते है ।

बचत करने के निणयो तथा विनियोग करने के निर्णयो मे सामन्जस्य होना या दोनो का एक सतुलित अवस्था म होना असम्भव सा प्रतीत होता है, क्योकि दोनो प्रकार के निणयो पर अलग अलग बातो का प्रभाव पडता है, जो बहुत ही जटिल प्रकृति की होती ह । पूण रोजगार की स्थिति उसी समय होगी जब य दोनो निर्णय सन्तुलन पर हो परन्तु यह केवल स्थिर परिस्थितियो म ही होगा । परिवतनशील परिस्थितियों म ऐसा होना सम्भव नही है । परिवतनशील परिस्थितियो म प्राप्त आँकडो का प्रभाव पडता है क्योंकि निणय सदैव ही पिछले आकडो के आधार पर लिए जाते हैं, जो स्वय निर्णयो के साथ-साथ बदलते रहते ह । अत आर्थिक प्रणाली म सदैव ही नये परिवतन होते रहते हैं । इस प्रकार व्यापार चक्रो के उत्पन्न होने का मुख्य कारण—विनियोग निणयो के समय कम (जिन पर भूत, वर्तमान तथा आशातीत घटनाओ का प्रभाव पडता है और जिन पर विनियोगकर्ताओ की लाभ की आशायें निर्भर होती ह) और बचतो अथवा उपभोग निर्णयो (जो मुख्यतया

आय के स्तर तथा वितरण पर निर्भर होते हैं) की जटिल प्रतिक्रिया है। ये चक्रीय परिवर्तन अधिक प्रबल होंगे या कम और यह रोजगार के ऊँचे स्तर पर उत्पन्न होंगे या नीचे स्तर पर फिर से, बचत करने की इच्छा तथा विनियोग करने की प्रेरणाओं के परिमाणात्मक तथा समय अनुसार सम्बन्धों पर निर्भर करता है। जब औसत आय काफी ऊँची होती है जैसा औद्योगिक देशों में होता है और जब आय का वितरण भी काफी असमान होता है बचत करने की प्रवृत्ति विनियोग करने के निर्णयों की अपेक्षा अधिक प्रबल हो सकती है (उस समय जब रोजगार का स्तर काफी ऊँचा होता है) और पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त होना कदाचित असम्भव ही होता है। इसीलिए पूँजीवादी देशों में पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित नहीं हो सकती क्योंकि वह मुख्य कड़ी गायब ही रहती है जिससे विनियोग निर्णयों की अपेक्षा बचतें कम हो सकें ताकि सब काम प्राप्त करने वाले श्रमिकों को नौकरी देने के लिए माँग कम न रहे। यह गायब कड़ी-राजकीय संस्थाओं की आय तथा व्यय सम्बन्धी नीति होती है।

उपर्युक्त पृष्ठों में हमने बेकारी के कारणों का विश्लेषण करने के लिए प्रस्तुत किए गए विभिन्न सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन किया है और स्पष्ट किया कि समय समय पर बेकारी से सम्बन्धित विचारधारा में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं।

विलियम बेवरिज के विचार—विलियम बेवरिज ने बेकारी के निम्न तीन कारण बताये हैं —

(अ) उद्योग की वस्तुओं की कुल माँग में निरन्तर उत्पन्न होने वाली कमी,

(ब) माँग का अनुचित दिशाओं की ओर स्थानान्तरण और

(स) श्रम बाजार का अकुशल संगठन परिणामस्वरूप कभी अपर्याप्त और कभी अत्यधिक मात्रा में मनुष्य नौकरी की तलाश में इधर से उधर फिरते रहते हैं।

बेकारी को रोकने के लिए इन तीनों दिशाओं में ही उपाय होने चाहियें, यद्यपि पहली दिशा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यह ही तो कीन्स ने भी बताया है। इसका विश्लेषण हम ऊपर कर आये हैं। दूसरी दिशा में उद्योग की स्थापना के लिए स्थान निश्चित करने पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये और तीसरी दिशा में श्रमिकों की गतिशीलता नियन्त्रित होनी चाहिए।

अत्यधिक विशिष्टीकरण—कभी कभी अत्यधिक विशिष्टीकरण के कारण भी बेकारी उत्पन्न होती है। जब किसी देश में रोजगार की अधिकांश मात्रा ऐसे उद्योगों से प्राप्त होती है जिनकी संख्या बहुत कम होती है तथा जिनमें श्रमिकों को विशेष ज्ञान तथा प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, जैसे, ब्रिटेन में कोयला उद्योग, भारत में जूट तथा चीनी उद्योग, कनाडा में गेहूँ—तो परिस्थितियों के परिवर्तन तथा ऐसे उद्योगों की वस्तुओं की माँग में कमी हो जाने से एक बार बेकारी उत्पन्न हो जाती है और फिर क्रम चलता ही रहता है और बेकारी बढ़ती ही जाती है। इसीलिए तो गाँधी जी ने उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण पर इतना जोर दिया था क्योंकि विविध प्रकार के उद्योग होने से स्थिति अधिक सन्तोषपूर्ण रहती है।

बेकारी के विभिन्न रूप—चैपमेन ने बेकारी को भावगत एवं वस्तुगत (subjective and objective) दो भागों में बाँटा है। पहले प्रकार की बेकारी मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक दोषों के कारण उत्पन्न होती है, चाहे यह दोष जन्मगत हो या प्राप्त किये हुए ; चाहे ये दोष उपचार योग्य हों या ठीक न होने वाले। इसमें अनइच्छित बेकारी भी सम्मिलित है। दूसरे प्रकार की बेकारी उन कारणों से उत्पन्न होती है जो मनुष्य के वश में नहीं होते, जैसे व्यापार चक्र से उत्पन्न होने वाली बेकारी, मौसमी माग और पूर्ति के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होने वाली बेकारी, आकस्मिक रोज़गारी इत्यादि। इस प्रकार वस्तुगत बेकारी के निम्न रूप हो सकते हैं.—

(अ) मौसमी बेकारी, जो उत्पादन में मौसमी परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है। इसमें कृषि तथा आकस्मिक श्रम आते हैं।

(ब) चक्रीय बेकारी, जो आय तथा उत्पादन में समृद्धि तथा मन्दीकाल के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती है।

(स) सामान्य बेकारी जो श्रमिकों की स्वतन्त्र गतिशीलता के कारण उत्पन्न होती है, जो प्रत्येक समय में ही रहती है। श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक उद्योग से दूसरे उद्योग को जाने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं और अपनी इस गतिशीलता के कारण वे बेकार रहते हैं, अर्थात्। एक स्थान में नौकरी छोड़कर दूसरे स्थान पर पहुँचने पर तुरन्त ही काम नहीं मिल जाता, इसलिये जब तक उन्हें काम नहीं मिलता वह बेकार रहते हैं। इतनी बेकारी तो हर समय हर समाज में सदैव ही रहेगी। बेवरिज इस सीमा को 'बेकारी की वह न्यूनतम सीमा बताता है जो और कम नहीं की जा सकती' और पीगू इसे एक ऐसी, 'न मालूम होने वाली न्यूनतम सीमा' कहता है, 'जिससे नीचे बेकारी का प्रतिशत कभी नहीं गिरता'।

(द) **औद्योगिक ढांचे सम्बन्धी बेकारी** (Structural unemployment):—देश के औद्योगिक ढाँचे में विभिन्न उद्योगों का आकार एवं महत्त्व अपना अलग-अलग होता है और यह महत्व समय-समय पर कम और अधिक होता रहता है। एक उद्योग समाप्त होता है या क्षीर्ण होता जाता है और दूसरा उद्योग उसका स्थान गृहण करता जाता है। क्षीर्ण होने वाले उद्योग के श्रमिक बेकार हो जाते हैं और दूसरे उद्योग को जानने में और काम प्राप्त करने में कुछ समय लगता है। कुछ व्यक्ति तो इतने वृद्ध हो गए होते हैं कि वे नये वातावरण में तथा नई मशीनों पर और नये स्थान पर काम ही नहीं कर पाते। इस प्रकार के श्रमिक क्षीर्ण होने वाले उद्योगों में आधिक्य में होंगे जब कि दूसरे उद्योगों में कमी होते हुए भी श्रमिक नहीं मिल पाते और ऐसी बेकारी समाज में रहती ही है।

बेकारी के प्रभाव—

(अ) **आर्थिक**—अब तक की विवेचना से यह स्पष्ट हो गया होगा कि बेकारी आर्थिक, शारीरिक एवं सामाजिक कारणों से उत्पन्न होती है। जब तक निजी लाभ

के उद्देश्य से उत्पादन कार्य किया जाता रहेगा, जब तक सरकार इसका महत्व न समझ कर देश के साधनों का विकास नहीं करेगी, इसी प्रकार बेकारी चलती रहेगी और प्रति वर्ष बेकार मनुष्यों की संख्या में वृद्धि होती ही रहेगी। बेकारी, बीमारी और महामारी की भांति ही एक सामाजिक बुराई है। बेकार मनुष्य के जीवन में न तो कोई उल्लास होता है और न कोई संतोष एवं शान्ति। बेकारी का डर ही मनुष्य की शक्ति को चूसना आरम्भ कर देता है और वास्तविक बेकारी तो एक बीमारी से भी बुरी है। बेकार होते ही मनुष्य की आय समाप्त हो जाती है, और पिछली बचतों के अभाव में मनुष्य का जीवन-स्तर गिरने लगता है। कपड़े की जितनी मात्रा आवश्यक होती है उससे कम कपड़ा पहनने को मिलता है और भोजन जितना मिलना चाहिए उतना प्राप्त नहीं हो पाता। अन्य जीवन की आवश्यक वस्तुओं के उपयोग में गुणात्मक एवं परिमाणात्मक कमी होने लगती है और बेकार मनुष्य के कुटुम्ब का प्रत्येक सदस्य संकट में पड़ जाता है, उनमें से प्रत्येक का शारीरिक ह्रास होने लगता है और कार्यक्षमता गिरने लगती है और थोड़े दिनों बाद श्रमिक की जीविका प्राप्त करने की शक्ति उतनी नहीं रहती है जितनी पहले थी। एक दीक्षा प्राप्त निपुण व्यक्ति बेकारी में ऐसे काम तक करने को तैयार हो जाता है जो अनिपुण व्यक्ति एवं अशिक्षित व्यक्तियों को ही करने चाहिएं किन्तु उसे विवश होकर ऐसा करना ही पड़ता है।

(ब) सामाजिक—बेकारी के सामाजिक परिणाम बहुत ही भीषण एवं कड़वे होते हैं। व्यक्ति में जुआ खेलने की आदत उत्पन्न हो जाती है। काम न मिल पाने पर वह हताश हो जाता है अपनी बीवी के जेवर और घर के बर्तन बेच कर या गिर्वी रख कर जुआ खेलता है, इस आशा में कि वह जीत कर आयगा और बाल-बच्चों की भूख को मिटा सकेगा। परन्तु एक बार हार आरम्भ होकर जीत होना कठिन ही होता है। धीरे-धीरे शराब पीने लगता है यह समझ कर कि उससे कम से कम कुछ देर के लिये वह हारें सकेगा और नशा में मस्त हो जायगा। धीरे-धीरे वह चोरी करता है और इस प्रकार एक समय में ईमानदार और सच्चरित्र व्यक्ति बेकारी के बाद समाज पर एक भार बन जाता है। उसमें आलसी रहने की आदत उत्पन्न हो जाती है। आरम्भ में तो वह काम ढूंढता भी है, परन्तु ठोकरें खाने के बाद वह घर में पड़ा रहता है या जुआ खेलता है शराब पीता है या चोरी करता है। वह किसी भी काम की तलाश नहीं करता और यहाँ तक कि उसकी बीवी, माँ तथा घर की औरतें जीविका कमाती हैं और वह निलज्ज सा घर में बैठकर खाता है। धीरे-धीरे वह अपनी सारी कला निपुणता एवं दक्षता खो बैठता है और इस योग्य नहीं रहता कि वह कहीं पर नौकरी कर सके। एक व्यक्ति के बेकार होने से सारा कुटुम्ब नष्ट हो जाता है बच्चों का भविष्य नष्ट हो जाता है और सामाजिक जीवन समाप्त हो जाता है।

(स) नैतिक—साधारणतया सामाजिक और नैतिक प्रभावों में भेद करना कठिन ही होता है परन्तु हम यहाँ पर बेकारी के उन नैतिक प्रभावों का वर्णन करेंगे

जो व्यक्तिगत रूप से बेकार व्यक्ति पर पड़ते हैं। व्यक्ति का नैतिक स्तर इतना गिर जाता है कि वह बेकार रहना ही पसंद करता है। वह अपने कुटुम्ब की स्त्रियों की कमाई हुई जीविका का उपभोग करता है, किन्तु स्वयं काम ढूंढने नहीं जाता। नियमित कार्य से अलग रहने के कारण उसमें जिम्मेदारी की कमी आ जाती है और वह अपने कर्त्तव्यों को भी भूल जाता है। शराब पीने और जुआ खेलने जैसी अनैतिक आदतें उसमें आ जाती हैं। वास्तव में उनका सारा जीवन ही अनियमित एवं अनुशासन हीन हो जाता है। यदि बेकार व्यक्ति जवान हैं तो वह अनेकों जुर्म करने को तैयार हो जाते हैं और अपनी शारीरिक शक्ति का प्रयोग अच्छे कार्यों में नहीं करते। बेकार व्यक्ति तनिक सी बात पर झगड़ा, मार पीट और खून तक करने के लिये उतारू हो जाते हैं। बेकारी के काल में मनुष्यों में जुर्म करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। सिंग सींग जेल के वार्डन श्री लौस ने बताया है कि १६२८–२६ में जब कैदियों की संख्या केवल १०६८ थी सन् १६३०–३१ में संख्या १३६३ हो गई और चोरी व डकैतियों के जुर्म में कैद की सजा भुगतने वालों की संख्या इसी साल में ३०८ से ५३२ हो गई थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में खास एन्जलिस में विश्व मन्दी काल में बेकारी और जुर्म के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण निम्न आंकड़ों से भली भाँति विदित हो जाता है। जितने भी बड़े-बड़े जुर्म बालिगों द्वारा किये गये थे और जितने भी गम्भीर जुर्म बालकों ने किये थे, उन सभी में सन् १६३० के बाद वृद्धि हुई थी। सन् १६२८ के बाद विशेषकर आर्थिक उद्देश्यों से किये गये जुर्मों की मात्रा में वृद्धि हुई थी। पुलिस विभाग के आंकड़ों से स्पष्ट होता है कि सन् १६२८–२६ से सन् १६३१–३२ के काल में डकैतियों की संख्या दुगुनी हो गई थी। इस काल में सेंध लगाकर चोरी करने में ६२.५% से ७२.३% की वृद्धि हुई थी और छोटी चोरियों में ७३.१ की वृद्धि हुई थी। यद्यपि भारत में इन जुर्मों से सम्बन्धित आंकड़ों को प्राप्त करना असम्भव है, किन्तु समाचार पत्रों की सूचनाओं से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भी चोरी डकैती की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है। और अब तो शिक्षित व्यक्तियों द्वारा उन जुर्मों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हो रही है।

(द) बेकारी और समाज—निरन्तर चलने वाली अनिश्चित बेकारी से समाज इतना असुरक्षित रहता है और समाज के सदस्यों को इतनी कठिनाईयाँ सहन करनी पड़ती हैं कि उनकी गणना करना सरल नहीं होता। जीवन की नीरसता को कम करने के लिए अवकाश भी बहुत आवश्यक है परन्तु बेकारी जैसा लम्बा अवकाश तो मनुष्य को पूर्णतया बेकार कर देता है जिसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर हो पड़ता है। सन् १६३० में संयुक्त राज्य में मन्दीकाल का सबसे बुरा परिणाम यह था कि २ लाख से ३ लाख तक बच्चे बे घर के हो गए थे, और इनमें बहुत सी लड़कियाँ वीरान इधर से उधर मारी मारी फिरती थी।

कैलीफोर्निया बेकारी आयोग ने अपने निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार दिया है —"कार्यहीनता केवल क्रय शक्ति को ही नष्ट करके जीवन स्तर को नीचा नहीं

गिराती वरन् कार्य कुशलता को भी नष्ट कर देती है और अन्त में स्फूर्ति को ही समाप्त कर देती है। एक समय का मेहनती और साधन सम्पन्न श्रमिक निर्धन हो जाता है अपने में और समाज में विश्वास खो बैठता है।'

वास्तव में बेकारी सबसे बुरी सामाजिक घटना है। आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में जहाँ साधनों की कोई कमी नहीं लाखों व्यक्ति इस तरह मारे मारे फिरें बिना भोजन और कपड़े के जीवन व्यतीत करें आधुनिक सभ्यता एवं हमारी वैज्ञानिक प्रगति के मुँह पर एक तमाचा है। बेकारी से उत्पन्न होने वाली अनेकों बुराईयाँ तो समाज की दशा को और भी हीन कर देती हैं। बहुत लम्बे काल तक यह स्थिति चलना असम्भव है। सरकार को इस स्थिति को सुधारने के लिए और भी अधिक प्रयत्न करने ही होंगे अन्यथा बेकार व्यक्तियों को अपने भाग्य का निर्माण करने के लिए स्वयं पग उठाना पड़ेगा।

बेकारी दूर करने के सामान्य उपाय—अभी हमने बेकारी के विभिन्न प्रकार के प्रभावों का अध्ययन किया है। वैसे तो अपने अपने क्षेत्र में यह बड़े घातक हैं, किन्तु बेकारी के सामूहिक प्रभाव अति तीव्र और इतने भीषण होते हैं कि उनसे उत्पन्न होने वाली हानियों को अच्छे से अच्छे समयों में पूरा नहीं किया जा सकता। श्रमिक की क्षमता का जो ह्रास होता है वह स्थायी होता है और उसको वह अपने जीवन के शेष वर्षों में पूरा नहीं कर सकता। उसके सारे कुटुम्ब का कम से कम कुछ अवधि तक तो अवश्य ही नैतिक स्तर गिर जाता है और स्वयं तो वह चरित्र-हीन हो ही जाता है। वह आत्म विश्वास खो बैठता है। इन सब का सामूहिक परिणाम यह होता है कि देश की राष्ट्रीय आय गिरती जाती है और इस प्रकार आने वाली पीढ़ियों का भविष्य भी अन्धकारमयी होता जाता है। इन सब दोषों को दूर करने के लिये भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न उपचार बताये हैं। इन सब उपायों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जाता है —

(१) सकारात्मक उपाय (Positive measures)।

(२) नकारात्मक उपाय (Negative measures)।

पहले प्रकार के उपायों का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक संख्या में बेकार व्यक्तियों को काम देना होता है। यह दो प्रकार के होते हैं—दीर्घकालीन और अल्पकालीन। दीर्घकालीन उपाय वे होते हैं जो एक लम्बी अवधि के बाद रोजगार में वृद्धि करते हैं जैसे नये-नये औद्योगिक उपक्रम बहुउद्देशीय योजनायें इत्यादि। अल्पकालीन उपायों से रोजगारों में तुरन्त ही वृद्धि होती है। जैसे बेकारों को आर्थिक सहायता देना। नकारात्मक उपायों का उद्देश्य बेकारों को नई नई नौकरियाँ प्रदान करके कम करना नहीं होता बल्कि काम ढूंढने वालों की संख्या को कम करके बेकार मनुष्यों की संख्या को कम करना था। जैसे युद्ध प्रवास, जनसंख्या नियन्त्रण इत्यादि। बहुधा नकारात्मक उपायों का ही उपयोग हुआ है। आधुनिक जगत नकारात्मक उपायों के पक्ष में बिल्कुल भी नहीं है।

सामान्य रूप से, श्रमिकों की माँग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करना,

बेकारी को दूर करने का सबसे उपयुक्त उपाय है। इसके लिये श्रम दफ्तरों को स्थापित करना होगा। भिन्न-भिन्न देशों में श्रम दफ्तर (labour exchanges) पिछले वर्षों मे स्थापित किये गये हैं और इनसे देश मे श्रम की मॉग और पूर्ति में सामजस्य स्थापित करने म काफी सफलता प्राप्त हुई है। इन सस्थाओं की स्थापना के अतिरिक्त देश मे अधिक नियमित कार्य भी प्रदान करना और आकस्मिक श्रमिकों को नौकर रखने की प्रथा को भी कम किया जाये। जो बेकारी मन्दी काल मे उत्पन्न होती है, उसको सरकारी प्रयत्नो द्वारा रोका जा सकता है। अल्पकालीन उद्योग चालू किये जा सकते है और फॅक्ट्रियो मे श्रम समय वाली फेरियाँ (Shifts) चालू करके नये श्रमिको को कार्य दिया जा सकता है। श्रमिकों की माँग मे सामान्य वृद्धि करने के लिये और राजकीय क्षेत्रों मे श्रमिको की माँग बढाने के लिये, नये नये राजकीय उद्योग, सार्वजनिक निर्माण कार्य स्थापित किये जा सकते हैं, जैसे, इमारतो को बनवाना, रेलो, नहरो, बाधो, सडको आदि को बनाना इत्यादि। इन सब प्रयत्नों से, केवल उन्ही व्यक्तियो को नौकरी नहीं मिलेगी जो तत्कालीन इन उद्योगों मे लगे हुये हैं और जिनके निकाले जाने का भय है वरन् निजी उपक्रम को भी प्रोत्साहन मिलेगा, क्योंकि, इन कार्यों मे अधिक श्रमिकों के नौकर होने से उनकी उपभोक्ता वस्तुओं की माँग म वृद्धि होगी। परन्तु इन कार्यक्रमो को बडे सोच विचार कर चालू करने की आवश्यकता है और बडी सावधानी बर्तने की आवश्यकता है। ऐसी सस्थाएँ स्थापित की जाये जो क्षति पूरक राजकीय व्यय को नियोजित करने तथा उसको कार्यान्वित करने का काम कर सकें। मौसमी बेकारी को दूर करने के लिये, विभिन्न व्यवसायो मे सामजस्य स्थापित किया जाये और रोजगार को पूरे वर्ष पर फैलाया जाये। ऐसे श्रमिक जो नौकरी करने योग्य नही हैं, उनकी शारीरिक अयोग्यता को दूर करने के लिये सरकार को उचित प्रबन्ध करना चाहिये और जो नौकरी नही करना चाहते और ठलुआ जीवन व्यतीत करने के आदी हो गये है, उनको जबरदस्ती काम पर लगाया जाये तथा अनइच्छित बेकारी को दूर करने के लिये और देश को बेकारी के सामूहिक परिणामों से बचाने के लिये बेकारी बीमा योजनाएँ चालू की जायें।

अध्याय ?

पूर्ण-रोज़गार एवं राजस्व नीति
(Full-Employment and Fiscal Policy)

पूर्ण रोजगार का अर्थ—

पिछले अध्याय में हमने बेरोज़गारी के विभिन्न कारणों रूपों और परिणामों का विश्लेषण किया था। हमने देखा था कि बेकारी मनुष्य को ही नहीं वरन सम्पूर्ण देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन को नष्ट कर देती है। हमने पिछले अध्याय में बेकारी को दूर करने के विभिन्न उपायों की भी विवेचना की है। आज सभी इस विचार से सहमत हैं कि सरकार अपनी राजस्व सम्बन्धी नीति (Fiscal Policy) से देश में रोजगार की स्थिति को स्थायी बना सकती है। वास्तव में बेरोजगारी की समस्या एक निरन्तर बदलने वाली समस्या है। इसके लिये एक स्थायी नीति निर्मित नहीं की जा सकती। जनसंख्या के बढ़ने से यदि अन्य परिस्थितियाँ स्थिर रहें तो, बेकारी उत्पन्न होना स्वाभाविक है। किन्तु यह तो बेकारी की दीर्घकालीन समस्या है और उसके लिये एक स्थायी किन्तु लोचपूर्ण नीति की आवश्यकता है। यदि देखा जाय तो दीर्घकालीन बेकारी की समस्या अधिक दुखदायी नहीं होती क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि से सक्रिय माग में वृद्धि होती जाती है। किन्तु अल्पकालीन समस्या अत्यन्त ही विषम होती है क्योंकि सक्रिय माग के कम होते ही बेकारी उत्पन्न हो जाती है। हम देख चुके हैं कि व्यापार चक्रीय परिवर्तनों के कारण जो बेकारी उत्पन्न होती रहती है वह समस्त आर्थिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर देती है और इसके लिये सरकार के अतिरिक्त और किसी भी ओर से नीति निर्मित होना या सक्रिय माग की उत्पत्ति के लिये प्रयत्न होना असम्भव ही होता है बेकारी का एक चक्र एक बार आरम्भ होकर फिर बड़ी कठिनाई से ही रुक पाता है। इसीलिये निर्बाधावादी नीति के अन्त और आर्थिक नियोजन के विचार की प्रगति के साथ-साथ बेकारी को दूर करना और देश के सभी नागरिकों के लिये समुचित रोजगार सुविधाओं की व्यवस्था करना आधुनिक राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य समझा जाने लगा है। आजकल राज्य का महत्त्व केवल जनता की सुरक्षा या देश के प्रशासन के लिये ही नहीं है वरन् व्यक्तियों के कल्याण के लिये भी है। इसीलिये आधुनिक राज्यों को कल्याणकारी राज्य कहते हैं। इस राज्य में सभी नागरिकों के लिये रोजगार सुविधायें प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है और

देश मे पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करना मुख्य नीति मानी जाने लगी है । यहाँ यह बताना अनुचित न होगा कि विशेष रूप से पूंजीवादी देशों के लिये इस नीति को कार्यान्वित करना तथा निर्मित करना आवश्यक है, क्योंकि व्यापार चक्र की समस्या केवल पूंजीवादी देशो मे ही मुख्य होती है । समाजवादी तथा साम्यवादी देशो मे तो इस समस्या की गम्भीरता एव रूप और आकार बहुत अधिक नही होता और वहाँ तो राज्य की नीति पहले से ही पूर्ण रोजगार स्थापित करने की होती है। किन्तु पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था मे, जहाँ व्यापारिक तथा व्यवसायिक क्षेत्रों मे प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होता है, जहाँ सरकारी नियन्त्रण या तो होता ही नही है या यदि होता भी है तो बहुत ढीला ढाला होता है पूर्ण रोजगार नीति का निर्मित होना तथा उसको कार्यान्वित करने के विभिन्न उपायो का स्पष्टीकरण करना सरकारी नीति का एक मुख्य अग होना चाहिये । परन्तु प्रश्न यह है कि पूर्ण रोजगार क्या होता है ? अर्थात् पूर्ण रोजगार का क्या अर्थ है ?

सर विलियम बैवरिज के अनुसार पूर्ण रोजगार एक ऐसी परिस्थिति है, जहाँ बेकार व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक खाली नौकरियाँ होती हैं । इसका यह भी अर्थ है कि, "नौकरियाँ उचित मजदूरियों पर है और इस प्रकार की हैं तथा ऐसे स्थानो पर स्थित हैं कि बेकार व्यक्ति से यह सरलता से आशा की जा सकती है कि वे उन्हे गृहण करलें । परिणामस्वरूप एक नौकरी के छूटने और दूसरी नौकरी को ढूंढने में बहुत कम समय लगता है ।" प्रो० पीगू उस अवस्था का पूर्ण रोजगार की दशा कहते हैं जब सभी स्वस्थ व्यक्ति नौकर होते हैं यदि वे प्रचलित मजदूरी की दर पर काम करना चाहते हैं तो ।

उपर्युक्त परिभाषाओ म बैवरिज की परिभाषा तो अत्यन्त ही आदर्शवादी और सैद्धान्तिक है क्योंकि ऐसी अवस्था आना, जबकि बेकार व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक नौकरियाँ हो, सोचा भी नही जा सकता और न ही यह सम्भव है । आजकल जब कि जनसख्या इतनी तीव्र गति मे बढ रही है ऐसी स्थिति कदापि भी स्थापित नही हो सकती है । पीगू के अनुसार सभी स्वस्थ व्यक्तियों को नौकर होना चाहिये । स्वस्थ व्यक्तियो के बेकार रहने की दशा मे भी पूर्ण रोजगार की दशा उत्पन्न हो सकती है । वृद्धावस्था म जब कि व्यक्ति नौकरी करने योग्य भी है परन्तु सरकारी कानून के अनुसार उनको रिटायर होना पडता है ऐसे व्यक्ति यदि नौकरी नही करते और न उन्हे नौकरी मिलती ही है, तो इनकी बेकारी के उपस्थित होते हुये भी क्या पूर्ण रोजगार की स्थिति नही कही जा सकती ? इसके अतिरिक्त प्रचलित मजदूरी की दर से क्या अभिप्राय है ? भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न भिन्न उद्योगों की तो बात ही क्या करना, एक स्थान पर एक ही उद्योग की विभिन्न इकाईयो तक मे मजदूरी की दरो मे समानता देखने को नही मिलती । इसी भिन्नता के कारण ही श्रमिकों मे गतिशीलता उत्पन्न होती है । मजदूरी की दर की भिन्नतायें तो सदैव ही रहेगी, जब तक कि सरकार प्रत्येक उद्योग के लिये न्यूनतम मजदूरी निर्धारित नहीं कर देती । इस प्रकार इस परिभाषा में भी अस्पष्टता है और

इसका भी केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही है। हम निम्न में एक परिभाषा और देते हैं :

पूर्ण रोजगार, "एक ऐसी दशा है जिसमें खाली नौकरियों की संख्या, बेकार व्यक्तियों की संख्या से अधिक कम नहीं है ताकि किसी भी समय पर बेकारी, एक व्यक्ति के एक नौकरी छूटने और दूसरी नौकरी ढूंढने में सामान्य विलम्ब के कारण होती है।"

यह परिभाषा भी केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही उचित है। सच तो यह है कि पूर्ण स्थिति का विचार स्वयं एक आदर्शवादी विचार है। यह एक उपरिक सिद्धान्त है और क्योंकि यह व्यवहारिक नहीं है इसलिये, जितनी भी परिभाषायें इसकी दी गई हैं वह भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। एक लम्बे वाद विवाद के बाद अब सभी इस विचार से सहमत हैं कि पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित होना केवल एक स्वप्न है। न तो प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को नौकरी मिलना सम्भव ही है और न बेकार व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक खाली नौकरियों का होना ही सम्भव है। इसलिये अबसभी इसको स्वीकार करने लगे हैं कि प्रत्येक समय पर कुछ न कुछ व्यक्ति अवश्य ही बेरोजगार रहेंगे, चाहे सरकार कितने ही प्रयत्न क्यों न करे। इस बेकारी के निम्न कारण होते हैं —

(१) प्रत्येक समय में समाज के कुछ सदस्य ऐसे अवश्य ही होते हैं, जिन्हें, कितने ही प्रलोभन क्यों न दिये जाये, कितनी भी मजदूरी क्या न दी जाये, किन्तु उन्हें काम करना अच्छा ही नहीं लगता। ऐसे व्यक्ति ठलुआ जीवन व्यतीत करने के आदी हो जाते हैं और उनकी नस नस में आलस्य भर जाता है। ऐसे व्यक्ति हमेशा ही बेकार रहेंगे।

(२) श्रमिकों में गतिशीलता तो होती ही है। मनुष्य एक स्थान पर टिक कर काम करना नहीं चाहता। उसका जीवन नीरस हो जाता है। और फिर परिवर्तन तो प्रकृति का नियम भी है। इसलिये श्रमिक एक व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे व्यवसाय या एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान को जाना चाहते हैं। एक काम को छोड़कर दूसरे काम का तुरन्त ही मिलना सम्भव नहीं होता। कुछ न कुछ समय अवश्य ही लगता है। इसलिये जब तक कोई दूसरा काम नहीं मिलता तब तक श्रमिक बेकार रहेगा। इस प्रकार की बेकारी समाज में सदैव ही रहेगी।

(३) इसके अतिरिक्त काम को छोड़ना तो सरल होता है किन्तु काम को ढूंढना कठिन होता है। हो सकता है श्रमिक को दूसरा काम ऐसा मिले जिसके लिये उसे कुछ प्रशिक्षण लेना पड़े। इसलिये काम को छोड़कर प्रशिक्षण लेने और दूसरे काम के मिलने में जो समय लगता है, उसमें व्यक्ति बेकार ही रहेगा।

(४) आकस्मिक श्रमिकों को नौकर रखने की प्रथा प्रायः सभी देशों में है। कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जहाँ अनिश्चित समय अवधि के बाद काम कुछ दिनों के लिये ही निकलता है और फिर काम बन्द हो जाता है। ऐसे व्यवसायों में मालिकों के लिये यह कभी भी लाभप्रद नहीं हो सकता कि वे श्रमिकों को स्थायी रूप से काम पर रखें, जैसे, जहाज पर माल लादने तथा ढोने का काम, क्योंकि श्रमिकों को केवल

जहाज आने तथा जहाज जाने पर ही काम मिलता है। अत. ऐसे कार्यों के लिये आकस्मिक श्रमिक नौकर रक्खे जाते हैं। अर्थात् काम उत्पन्न होने पर मजदूर बुला लिये जाते हैं और काम समाप्त होने पर उन्हें हटा दिया जाता है। आकस्मिक बेकारी भी अवश्य ही हर समय में कुछ न कुछ अश में होगी।

(५) कुछ उद्योग ऐसे होते हैं जिनमे वर्ष म केवल कुछ ही महीनों के लिये काम होता है और शेप महीनों मे फैक्ट्रियाँ बन्द रहती हैं, जैसे, चीनी उद्योग में। चीनी उद्योग म काम करने वाले फैक्ट्री बन्द होने पर अधिकाश श्रमिक बेकार हो जाते हैं। इसे मौसमी बेकारी कहते हैं। इस प्रकार की बेकारी भी कुछ न कुछ अश में सदैव ही बनी रहेगी।

(६) समय समय पर मशीनों तथा उत्पादनकला मे परिवर्तन होते रहते हैं। पुरानी फैक्ट्रियों म नये परिवर्तनो के अनुसार परिवर्तन करने के लिये कुछ समय तक के लिये काम बन्द कर दिया जाता है, जिस कारण भी कुछ श्रमिक बेकार हो जाते हैं।

उपर्युक्त सभी कारणो से समाज म हर समय मे कुछ न कुछ बेकारी अवश्य ही रहेगी। यह अनुमान है कि यह बेकारी कुल रोजगारो की सख्या की २% से ५% तक होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि हम पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने का प्रयत्न करें भी तो भी अधिक से अधिक ९५% से ९८% तक ही श्रमिकों को काम पर लगाया जा सकता है। अधिकतर इसी अर्थ म पूर्ण रोजगार शब्द का प्रयोग किया जाता है।

पूर्ण रोजगार स्थिति-प्राप्त करने की रीतियां—यह तो हम पहले ही कह चुके है कि एक स्वतन्त्र अथवा पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था म पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने के लिये ही सरकारी प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। इस भाग मे हम केवल ऐसी ही प्रणाली मे पूर्ण रोजगार स्थिति प्राप्त करने के लिये किये जा सकने वाले प्रयत्नों का विश्लेषण करेंगे। ऐसे प्रयत्न तीन प्रकार के हो सकते हैं—

(१) राजकीय विनियोगों जैसे, स्कूल, अस्पताल, सडकें, जल-विद्युत इत्यादि या जनता के उपभोग को बढाने (जैसे, कुटुम्ब भत्ते, अप्रत्यक्ष करो को कम करके, आवश्यक वस्तुओं के उत्पादकों को आर्थिक सहायता देकर उनके मूल्यों को नीचा रखना) के लिये, सरकारी व्यय द्वारा रोजगार उत्पन्न करना, परन्तु शर्त यह है कि यह व्यय ऋणों द्वारा प्राप्त धन म से किया जाये। इसे घाटे का व्यय (Deficit Spending) कहते हैं।

(२) निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देकर, ब्याज की दर, आय कर को कम करके या अन्य उपायों द्वारा।

(३) अधिक ऊँची आय वाले वर्गों से नीची आय वाले वर्गों में आय का पुनर्वितरण करके।

घाटे का व्यय—इस विधि के अनुसार सरकार ऋणों द्वारा धन प्राप्त करती है और उसको सक्रिय माँग उत्पन्न करने में खर्च करती है। यह धन नये नये

अनुपात रहना अत्यन्त आवश्यक है। एक समय विशेष पर देश में जितने भी श्रमिक हों उनके काम करने के लिये जितनी मशीनों की आवश्यकता हो उतनी मात्रा में तो मशीनें हो ही, बल्कि कुछ मशीनें अलग सुरक्षित कोष में रक्खी रहें ताकि बढ़ती हुई श्रमशक्ति के लिये उपलब्ध हो सकें। यदि मशीनें, उपलब्ध श्रम शक्ति को काम पर लगाने के लिये अपर्याप्त हैं जैसा पिछड़े हुये देशों में होता है, तो पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करने में बहुत समय लगेगा और देश में मुद्रा प्रसार और उत्पन्न हो जायेगा। इसलिये पिछड़े हुये देशों को पहले अपने देश में मशीनों के उत्पादन करने के प्रयत्न करने चाहिये और उसके बाद फिर पूर्ण रोजगार की ओर पग उठाना चाहिये। एक दूसरे प्रकार से भी मूल्य में वृद्धि हो सकती है किन्तु इस घटना को मुद्रा-प्रसार नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह वृद्धि उपभोग की वस्तुओं की माँग और पूर्ति के असन्तुलन द्वारा उत्पन्न होती है। पूर्ण रोजगार की स्थिति से श्रम संघों की सौदा करने की शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि हो जाने से मौद्रिक मजदूरी की दर में वृद्धि हो जाती है जिससे मूल्य बढ़ने लगते हैं और यह क्रम यूँ ही चलता रहता है। हाँ इतना अवश्य है कि यदि मजदूरी की दरें श्रमिकों की उत्पादन शक्ति के अनुपात में बढ़ रही हैं तो मूल्य वृद्धि की सम्भावना उत्पन्न ही नहीं होती क्योंकि प्रति इकाई श्रम लागत लगभग समान रहेगी और इसलिये मूल्य बढ़ने का कोई कारण ही नहीं होता। परन्तु यदि मजदूरी श्रम की उत्पादन शक्ति के अनुपात से अधिक में बढ़ती है तब मूल्य वृद्धि का भय अवश्य ही रहता है और इसीलिये सरकार को चाहिये कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे मूल्य बढ़ने न पाये।

घाटे के व्यय के सम्बन्ध में कुछ लोगों को यह भी आपत्ति है कि राष्ट्रीय ऋण की निरन्तर वृद्धि से ऋण भार में भी वृद्धि होती जायेगी। परन्तु यह भय भी निराधार है, क्योंकि एक तो बढ़ते हुए राष्ट्रीय ऋण के ब्याज का भार समाज पर नहीं पड़ता और इस क्रिया में केवल धन का हस्तान्तरण ही एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को होना है और वह भी देश के अन्दर ही और दूसरे एक ऐसी अर्थ व्यवस्था में जिसकी प्रवृत्ति विस्तार की हो यह आवश्यक नहीं कि धन का हस्तान्तरण तत्कालीन कर की दरों पर प्राप्त होने वाली कर आय के अनुपात में अधिक हो।

उपर्युक्त विवरण में हमने घाटे के व्यय के विरुद्ध उत्पन्न होने वाले भयों को दूर करने का प्रयत्न किया है। अब हम इस स्थिति में हैं कि इस नीति की कार्य प्रणाली का स्पष्टीकरण तनिक विस्तार में कर सकें।

घाटे के व्यय का सामान्य सिद्धान्त यह है कि सरकार अपने व्यय को राजकीय विनियोगों तथा जनता के उपभोग के स्तर को बढ़ाने पर, बिना कर की दरों में परिवर्तन किये उस बिन्दु तक बढ़ाती जाती है जिस पर इस व्यय द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होने वाली सक्रिय माँग से पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित हो जाती है। यदि यह मान लें कि सरकार पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करने में सफल हो जाती है तो प्रश्न यह है कि निजी विनियोगों की स्थिति क्या होगी? प्रथम, क्या निजी विनियोगों में चक्रीय परिवर्तन होते रहेंगे? और दूसरे निजी

विनियोगों का सन्तुलन स्तर क्या होना चाहिये ?

यह तो स्पष्ट ही है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति में निजी विनियोगों का विकास लगभग स्थिर ही रहेगा। स्वतन्त्र उपक्रम की प्रणाली में मुनाफों में तीव्र उतार चढ़ाव होने के कारण ही तीव्र गति से विनियोगों में भी चक्रीय उतार-चढ़ाव होते हैं परन्तु पूर्ण रोजगार में उत्पादन तथा लाभों में जनसंख्या की वृद्धि और श्रम की बढ़ती हुई उत्पादन शक्ति के कारण ही दीर्घकालीन परिवर्तन होंगे। यह हो सकता है कि निजी विनियोगों की दर में आकस्मिक उतार-चढ़ाव उत्पन्न हों, किन्तु इनको दूर करने के लिए सरकार उनके साथ-साथ निजी विनियोगों को बढ़ा सकती है। जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है अर्थात् निजी विनियोगों का सन्तुलन स्तर क्या होना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में संक्षेप में इतना ही कहना आवश्यक होगा कि निजी विनियोग ऐसे स्तर पर होना चाहिए जो काम करने योग्य जनसंख्या तथा श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होने के साथ साथ मशीनों की कार्य शक्ति को बढ़ाने के लिये पर्याप्त हो, अर्थात् निजी विनियोग पूर्ण रोजगार में होने वाले उत्पादन के अनुपात में हो। इस उद्देश्य की पूर्ति कई विधियों द्वारा की जा सकती है। जैसे ब्याज की दरों को घटा-बढ़ा कर और आय कर की दरों को घटा बढ़ा कर। जब निजी विनियोग बहुत नीचे स्तर पर हो तब सरकार इन दरों को कम कर सकती है और जब निजी विनियोग बहुत ऊँचे स्तर पर हो तब सरकार इन दरों को बढ़ा सकती है। परन्तु यह ध्यान रहे कि पूर्ण रोजगार की स्थिति में इन दरों में हेर-फेर करना इतना सरल नहीं होता।

निजी विनियोगों को प्रोत्साहित या हतोत्साहित करने के अतिरिक्त सरकार प्रत्यक्ष रूप से निजी विनियोगों के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती है, जैसे, उनको कम करने के लिये प्रत्यक्ष नियन्त्रण लगा सकती है। यदि सरकार को कुछ विशेष उद्योगों में उत्पत्ति को बढ़ाना है तो सरकार स्वयं उनका उत्पादन आरम्भ कर सकती है। गन्दी बस्तियों को समाप्त करना (Slum clearance) एक उपयुक्त उदाहरण है।

अब प्रश्न यह है कि सरकार अपने व्यय का कितना भाग विनियोगों पर और कितना निजी उपभोग स्तर को बढ़ाने पर खर्च करे। अधिकतर लोगों का यही विचार है कि सरकार को घाटे का व्यय केवल विनियोगों के सम्बन्ध में ही करना चाहिये। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बताना अनुचित न होगा कि कुछ समय बाद राजकीय विनियोग लगभग बेकार ही हो जायेंगे और इसलिये सरकारी व्यय को केवल राजकीय विनियोगों तक ही सीमित रखने का विचार अनुचित होगा जबकि उपभोग बढ़ाने के कार्यक्रम पर किया गया व्यय भी जीवन स्तर को ऊँचा करने में सफल हो सकता है। अतः सामान्य सिद्धान्त यह होना चाहिये कि सरकारी व्यय का कार्य-क्रम सामाजिक आवश्यकताओं की प्राथमिकताओं द्वारा निश्चित हो।

निजी विनियोगों को प्रोत्साहित करना—अब हम निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देकर पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने के विषय पर प्रकाश डालेंगे।

इस विचार के अनुसार *निजी विनियोगों को इतना प्रोत्साहित करना चाहिये कि उनसे* प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से उत्पन्न होने वाली सक्रिय माँग पूर्ण रोजगार स्थापित कर सके। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि यदि घाटे के व्यय से पूर्ण रोजगार स्थापित करना है तो निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देने वाले उपाय आवश्यक होते हैं। यह ध्यान रहे कि इस प्रकार की सहायता से सक्रिय माँग उत्पन्न नहीं होती, (यह केवल घाटे के व्यय द्वारा ही उत्पन्न होती है), वरन् इसकी आवश्यकता इसलिये होती है कि यह निश्चित किया जा सके कि विनियोग स्तर द्वारा दीर्घकालीन *पूर्ण रोजगार उत्पादन की वृद्धि के अनुपात में, उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो रही है।* परन्तु यह आवश्यक नहीं, कि दीर्घकालीन विनियोग की दर उस विनियोग की दर के बराबर हो ही जाय जो पूर्ण रोजगार के लिये सक्रिय माँग उत्पन्न करने के लिये आवश्यक होती है। हमने केवल यह मान लिया है कि यदि *ऐसा* नहीं हो रहा है तो सरकार उसको अपने ऋण व्यय द्वारा पूरा करने का प्रयत्न करेगी। यदि यह दर कहीं पूर्ण रोजगार उत्पादन के लिये, जितनी उत्पादन शक्ति को उत्पन्न करने के लिये आवश्यक होती है उससे अधिक हो जाती है तो मशीनों के उपयोग के अंश *में निरन्तर कमी होती जायगी और फिर भी निजी विनियोगों को प्रोत्साहित करने* का कोई लाभ न होगा। इसके अतिरिक्त मशीनों का कम उपयोग होने से लाभ की दर भी कम होती जायगी जो निजी विनियोगों को हतोत्साहित करेगी। इस स्थिति को सुधारने के लिये सरकार के *व्यय की आवश्यकता फिर होगी* और ब्याज और आय-कर की दरों को कम करके फिर निजी विनियोगों को प्रोत्साहित करना होगा। परन्तु कुछ समय बाद यह समस्या फिर उत्पन्न होगी। इसलिये निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देकर पूर्ण रोजगार उत्पन्न करना उपयुक्त रीति नहीं है। परन्तु कुछ लेखकों को इसमें आपत्ति हो सकती है और वह यह सोच सकते हैं कि निजी विनियोगों को प्रोत्साहित करने से श्रम की तुलना में अधिक मशीनों का उपयोग होता है और उत्पादकता में वृद्धि होने से जीवन-स्तर ऊपर उठने लगेगा। यह केवल उसी समय सम्भव होता है जब नियोजित उत्पादन की मात्रा निश्चित होती है और यदि विनियोग की जाने वाली पूँजी की मात्रा निश्चित है तो पहली ही स्थिति उत्पन्न हो जायगी। वास्तविक जीवन में दोनों ही स्थितियों के बीच की स्थिति पाई *जाती है, क्योंकि वस्तुओं के बाजार की अपूर्णताएँ नियोजित उत्पत्ति की मात्रा निर्धा-* रित करेंगी और पूँजी बाजार की अपूर्णताएँ उपलब्ध पूँजी की मात्रा को निश्चित करेंगी और इसलिये सूद की दर कम होने से पूँजी के विनियोग में वृद्धि तो हो जायगी किन्तु उतनी नहीं जितनी *अनुमान की जाती थी,* किन्तु व्यवहारिक जीवन में यह स्थिति सन्देहजनक होती है। वास्तव में प्रति व्यक्ति अधिक पूँजी का उपयोग होने के लिए प्रोत्साहन नये-नये आविष्कारों द्वारा प्राप्त होता है। इसमें सूद की दर का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि पिछड़े हुये देशों में सूद की दर ऊँची होते हुये भी उतनी ही आधुनिक मशीनों का प्रयोग होता है जितना कि विक-सित देशों में। हमने अभी तक यह माना है कि सूद की दर कम होने से विनियोग

प्रोत्साहित होते है । किन्तु हम पहले भी कह चुके हैं कि यह विधि अधिक प्रभाविक नही है, क्योंकि एक तो ब्याज की दीर्घकालीन दरा मे बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन होते है और फिर एक निश्चित सीमा से नीचे इनको गिराया भी तो नही जा सकता। इसी प्रकार आयकर की दरा को कम करने से जो विनियोग प्रोत्साहित होगे उनमे अधिक पूँजीकरण की सम्भावना इसलिय नही होती, क्योकि अधिकाश पूँजीकरण से जो अधिक लाभ होंगे उन पर भी कर देना होगा। इस प्रकार निजी विनियोगो मे अधिक उत्पत्ति को प्रोत्साहित करने के लिये या तो प्रत्यक्ष रूप से आधुनिक मशीनो के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करना अच्छा होगा या फिर सरकार स्वय आधुनिक ढग पर कारखाना का निर्माण करे ताकि निजी उद्योगपति प्रतियोगिता के भय से स्वय अपने कारखाना को आधुनिक बनाने का प्रयत्न करे।

परन्तु वास्तव में यह नीति पूर्ण रोजगार उत्पन्न करने के लिये सतोषजनक नही है। निजी विनियोगो का मुख्य कार्य देश म उपभोग वस्तुओं का उत्पादन करना है। उपलब्ध श्रम शक्ति के लिये रोजगार प्रदान करना नही है। इसके अतिरिक्त विनियोग सुविधायें उपलब्ध होने से निजी विनियोगकर्ता कितने प्रोत्साहित होगे यह उनकी मानसिक अवस्था पर निर्भर करता है, क्योकि यदि विनियोगकर्ता अत्यन्त निराशाजनक है तो किसी अश तक भी प्रलोभन काम नही करेगा। इसीलिये निजी विनियोगो को पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित करने की नीति सतोषजनक नहीं होती।

आय का पुनर्वितरण—बहुधा इस नीति का प्रस्ताव पूर्ण आय प्राप्त करने के लिए दिया गया है। इस नीति का आधारभूत विचार यह है कि जब धनी व्यक्तियो से निर्धनो को आय का हस्तान्तरण किया जाता है तो उसके परिणामस्वरूप देश के कुल उपभोग म वृद्धि हो जाती है, क्योकि निर्धनो म धनी व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक उपभोग करने की प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ, यदि हम धनी व्यक्तियो पर आय कर बढाकर और साथ ही अनिवार्य वस्तुओ तथा अर्ध आवश्यक वस्तुओ पर अप्रत्यक्ष कर को उसी सीमा तक कम करदें या परिवार भत्ता को समान राशि दें तो औसत उपभोग करने की प्रवृत्ति म वृद्धि होगी। यदि आयकर से प्राप्त आय को राजकीय विनियोगो म लगा दिया जाय तो भी सक्रिय माग म वृद्धि होगी, यदि निजी विनियोगो म कोई भी कमी उत्पन्न नही होती। आयकर की दर इस प्रकार ऊँचे स्तर पर निर्धारित की जाय कि निजी विनियोग हतोत्साहित न हो। इसलिये यह आवश्यक है कि ऊँची आय पर आयकर की अपेक्षा पूँजी कर लगाया जाये। सरकारी व्यय सदैव ही, पूर्ण रोजगार के लिये, साधारण आयकर प्रणाली की अपेक्षा अधिक होता है जबकि घाटे के व्यय का सहारा लिया जा रहा हो, क्योकि घाटे के व्यया की तुलना म करारोपण से उपभोग म कमी आ जाती है और इसलिये केवल उसी सीमा तक सक्रिय माँग उत्पन्न होती है जब तक कि कर का भुगतान बचतो म से किया जाता है। आयकर प्रणाली घाटे के बजटो की तुलना म केवल इसी दृष्टि से अच्छी होती है कि इसम आय का वितरण

अधिक न्यायपूर्ण हो जाता है, किन्तु साथ ही साथ इस नीति से जनता को आपत्ति भी अधिक होती है। दोनों ही नीतियाँ अपनाई जा सकती हैं। पहले आयकर को बढ़ाया जा सकता है और फिर उसी के साथ साथ घाटे के बजट से भी काम लिया जा सकता है।

आय का पुनर्वितरण, आयकर लागू करने से पहले, मूल्य नियन्त्रण द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। यदि मजदूरी स्थिर रहे और उपभोग की वस्तुओं के मूल्य कम कर दिए जाय तो लगभग उसी प्रकार वास्तविक लाभों का स्थानान्तरण वास्तविक मजदूरी की ओर होगा, जिस प्रकार उपभोग की वस्तुओं के मूल्य स्थिर रहने और मजदूरी बढ़ने की स्थिति में होता। यह नीति उपर्युक्त नीतियों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होगी यदि निजी विनियोगों की स्थिति पहले ही जैसी रहे। हाँ इतना अवश्य है कि इसका प्रशासन एवं प्रबन्ध उतना सरल नहीं होता। यह भी हो सकता है कि मूल्य नियन्त्रण द्वारा मूल्य स्थिर रक्खे जाय और मजदूरी में वृद्धि कर दी जाये किन्तु इसमें कठिनाई यह होगी कि मजदूरी दे आने की माँग फिर उन उद्योगों में भी होने लगेगा जिनमें लाभ की दर ऊंची नहीं है और इसलिये इन उद्योगों को बिना आर्थिक सहायता दिये मूल्य स्थिर रखना कठिन हो जायगा। इसीलिये व्यवहार में दोनों ही नीतियों को अपनाया जाता है। अब हम यह देखना है कि मूल्य स्थिर रहने पर जब मजदूरी बढ़ाई जाती है तो पूर्ण रोजगार वाली अर्थ व्यवस्था में उसके क्या प्रभाव होंगे। इस रीति में भी पहली रीति की भाँति मजदूरी बढ़ेगी और लाभ गिरने लगेंगे। परिणामस्वरूप सक्रिय माँग में वृद्धि होगी और इसलिये पूर्ण रोजगार में, ऊंची आय वालों के उपभोग में कमी करना आवश्यक हो जायगा। अतः लाभों का मजदूरियों की ओर स्थानान्तरण करने के अतिरिक्त उचित दर पर आयकर भी लागू करना चाहिये, जिससे उतने ही बजट के घाटे कम हो जायेंगे। कुछ भी हो, दोनों ही स्थितियों में बजट के घाटे उसी अनुपात में कम हो जायेंगे जिस अनुपात में पुनर्वितरण से उपभोग पर उत्पन्न होने वाले प्रभाव होते हैं, उनको दूर करने के लिये अतिरिक्त आयकर लगाया जाता है। अब हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं —

प्रत्येक प्रकार के सरकारी व्यय से चाहे वह राजकीय विनियोगों पर किया जाय या सामूहिक उपभोग बढ़ाने के लिए, आर्थिक सहायता देने के लिए या तो घाटे के व्यय द्वारा या आयकर में वृद्धि करके, पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। दूसरी स्थिति में सरकार का व्यय अधिक होगा क्योंकि आयकर का भुगतान करने वालों के उपभोग पर अधिक भार पड़ेगा। व्यवहार में जो व्यय आयकर द्वारा प्राप्त धन में से किया जाता है जो केवल पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिये ही लाभकारी नहीं होता बल्कि आय के वितरण की असमानताओं को भी दूर करता है, जहाँ तक सम्भव हो अधिक से अधिक किया जाये और यदि वह पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं है तो ऋण प्राप्त करके व्यय को, जितनी आवश्यकता हो बढ़ाया जाये। लाभ की दरों को भी कम करके—चाहे यह कमी उपभोग की वस्तुओं के

मूल्यों में कमी करके या स्थिर मूल्यों के साथ मजदूरी को बढ़ाकर—प्राप्त की जायें, और उसको मूल्य नियन्त्रण के ढांचे के ही अन्दर रक्खा जाये तो भी सक्रिय माँग में वृद्धि होगी और पूर्ण रोजगार स्थिति प्राप्त करने में सरकारी व्यय का काम और भी सरल हो जायगा।

निजी विनियोगों को उसी सीमा तक बढ़ाना चाहिये जो जनसंख्या के बढ़ने और श्रम की आवश्यकता के साथ साथ मशीनों की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के लिये पर्याप्त हो। यह आयकर को संशोधित करके या ऊँची आय वालों के लिये कर की दरों को कम करके या आयकर के एक भाग के स्थान पर पूँजी कर लगाकर (ताकि लाभशीलता पर बुरा प्रभाव न पड़े) किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक होता है कि सरकार स्वयं निजी विनियोगों में भाग ले (जैसे श्रमिकों के रहने के गन्दे स्थानों की सफाई)। परन्तु सरकारी व्यय ऐसा होना चाहिये जो निजी विनियोगों के साथ मिलकर पूर्ण रोजगार उत्पन्न कर सके। राजकीय विनियोगों तथा उपभोग सम्बन्धी आर्थिक सहायता, दोनों मदों के बीच सरकारी व्यय का बटवारा सामाजिक प्राथमिकताओं के सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिये।[1]

राजस्व एवं पूर्ण रोजगार—हम अभी तक पूर्ण रोजगार स्थापित करने की विभिन्न रीतियों का वर्णन कर रहे थे। यद्यपि ऊपर के पृष्ठों में जो विवेचना दी गई है वह सब पूर्ण रोजगार और राजस्व के घनिष्ठ सम्बन्धों का ही एक अध्ययन है, किन्तु वह सामान्य नीतियों का ही विश्लेषण था और उनका सम्बन्ध राजस्व से केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही था। अब हम निम्न में प्रत्यक्ष रूप से राजस्व और पूर्ण रोजगार की पारस्परिक निर्भरता की विवेचना करेंगे।

राजस्व के प्राचीन एवं नये सिद्धान्त—प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्रियों का विचार था कि पूर्ति स्वयं अपनी माँग उत्पन्न कर लेती है और निजी उपक्रम सभी उपलब्ध साधनों का उपयोग कर लेता है यदि मजदूरी तथा लाभों में पर्याप्त लोचपूर्णता है। वे आधुनिक अर्थशास्त्रियों की भांति इस बात को स्वीकार नहीं करते थे, कि एक व्यक्ति की आय दूसरे व्यक्ति के व्यय पर निर्भर करती है और यदि कोई व्यक्ति अपनी आय को खर्च न करके बचाता है तो उससे दूसरे व्यक्तियों की आय कम हो जायगी वरन उनका विश्वास था कि समाज में एक व्यक्ति की बचत सदैव दूसरे व्यक्तियों द्वारा विनियोग में लग जाती है। बेकार नहीं पड़ी रहती। इसलिये यदि सरकार इन साधनों का उपयोग करना चाहती है तो वह निजी उद्योगपतियों को वंचित करके ही कर सकती है। जिसका अभिप्राय यह हुआ कि राजकीय विनियोगों या सरकारी व्यय से किसी प्रकार भी सक्रिय माँग उत्पन्न नहीं होगी और न ही रोजगारों में वृद्धि ही होगी। इसलिये सरकार को अपना बजट सतुलित

1 उपर्युक्त सभी विवेचना M. Kalecki के विचारों पर आधारित है—
Cf M. Kalecki's '*Three ways to Full Employment*'—Part II *Economics of full Employment* PP 39 58

रखना चाहिये। यही राजस्व का प्रमुख सिद्धान्त था। इससे अतिरिक्त और भी कई सिद्धान्त थे।

(१) बजट को सन्तुलित रखना चाहिये।

(२) बजट को छोटे से छोटा रखना चाहिये।

(३) उपभोग पर कर लगाने चाहियें और बचतो को करमुक्त रखना चाहिये।

(४) यदि बजट के घाटो का होना अनिवार्य हो तो दीर्घकालीन बौड चालू किये जायें।

(५) ऋण केवल उत्पादक विनियोगो के लिये ही प्राप्त किये जाये।

(६) राष्ट्रीय ऋणो का भुगतान करने के लिए ऐसे कर लागू किय जाये जो चालू उपभोग को कम करें।

ये सब विचार एक इस मान्यता पर आधारित थे कि निजी विनियोग स्वय पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित करते है और राज्य हस्तक्षेप इस स्थिति को भग कर देता है।

किन्तु कीन्स ने अपने सामान्य सिद्धान्त (General Theory) द्वारा प्राचीन लेखको के विचारो को छिन्न-भिन्न कर दिया। कीन्स ने यह सिद्ध कर दिया कि उपभोग को कम करके और आय को बचाकर पूँजी का एकत्रीकरण नही होता बल्कि बेकारी उत्पन्न होती है, राष्ट्रीय आय गिरती है और विनियोग कम होने से पूँजी का एकत्रीकरण कम हो जाता है। आजकल यह कहना सम्भव नही है कि 'जो कुछ हम उपभोग नही कर पाते व्यापारी उसका उपयोग विनियोग के लिए कर लेता है, बल्कि अब तो यह कहा जाता है कि 'यदि हम उपभोग न करें तो व्यापारी विनियोग करने के लिए तैयार नही होगे।' पुराने लेखको के अनुसार ऐसा प्रतीत होता था कि मनुष्यों के लिए केवल एक ही मार्ग खुला हुआ था—या तो उपभोग करें या विनियोग। किन्तु आज यह गलत सिद्ध हो गया है और अब विनियोग और उपभोग दोनो एक दूसरे पर निर्भर होते है। बिना उपभोग के विनियोग सम्भव नही होते और दोनो एक साथ गिरते है और एक साथ बढते है। इन नये विचारो ने राजस्व के सिद्धन्तो में हलचल उत्पन्न कर दी। आजकल यह स्वीकार कर लिया गया है कि निजी उपक्रम पूर्ण रोजगार स्थापित नही करते और जितने भी उत्पादक साधन निजी उपक्रम द्वारा उपयोग मे नही लाये जाते, उन सब पर राज्य, करारोपण के अतिरिक्त अन्य उपायो से, अपना स्वामित्व स्थापित कर लेता है या अब हम यह स्वीकार करते हैं कि समाज का व्यय इतना नही है कि सारे उपलब्ध उत्पादक साधन उपयोग मे ले लिये जायें और अधिकतम राष्ट्रीय आय उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नही हैं, हम यह भी स्वीकार करते है कि यदि राज्य अपनी आय की अपेक्षा अधिक व्यय करे तो राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो सकती है। अत सन्तुलित बजटो के विचार को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त राजस्व के सिद्धान्तो मे और भी अनेको परिवर्तन हुए है।

यदि हम यह मान कर कि पूर्ण रोजगार स्थापित करना राज्य का कर्तव्य है तो सतुलित बजटों की नीति द्वारा अर्थात बिना ऋण प्राप्त किये हुए पूर्ण रोजगार की स्थापना सम्बन्धी नीति की ओर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि सरकार को आय का वितरण समान करने का प्रयत्न करना होगा। उसको ऐसी नीति अपनानी होगी कि व्यक्ति चालू विनियोग सुविधाओं की तुलना मे अधिक बचाने का प्रयत्न करे। आय के समान वितरण म व्यक्तियों के उपभोग करने की सामान्य प्रवृत्ति अधिक होती है। इसलिए जब कि निजी विनियोग के अवसर स्वय निश्चित मात्रा म नही होते पूर्ण रोजगार की स्थापना के लिए और आय क पुनर्वितरण के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करने होगे—करारोपण के ढाँचे म आर्थिक सहायताओ और मूल्य नियन्त्रण म परिवर्तन करने पडेगे ताकि अर्थ-व्यवस्था एक समान स्तर पर रहे। यहा पर हम केवल करारोपण को ही आय का समान वितरण प्राप्त करने के एक उपाय के रूप में प्रयोग करेंगे।

आधुनिक विचारधारा के अनुसार करारोपण केवल आय प्राप्त करने का ही एक साधन नहीं है वरन आय के पुनर्वितरण का एक अस्त्र भी है जब कि प्राचीन लेखको के लिए यह आय प्राप्त करने का एक साधनमात्र था। उन लोगो का विचार था कि करारोपण से पूजी का सचय कम हो जाता है। उनके अनुसार क्या यह अधिक अच्छा नहा है कि रोटी के वितरण की चिन्ता छोड कर हम रोटी के आकार को बढाने की ओर ध्यान द? प्राचीन काल म आय का समान वितरण आर्थिक दृष्टिकोण से नहा बरन सामाजिक न्याय के दृष्टिकोण से उपयुक्त माना जाता था। परन्तु आजकल आय के पुनर्वितरण सम्बन्धी उपायो को सामाजिक दृष्टि से नहीं बल्कि आर्थिक दृष्टिकोण से अधिक महत्व दिया जाता है। आजकल उपभोग की अपेक्षा बचतो पर कर लगाने को अधिक उचित स्वीकार किया जाता है। और पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण को आर्थिक एव सामाजिक दोनो ही दृष्टिकोणो से आवश्यक समझा गया है। आर्थिक दृष्टिकोण से यह निजी बचतो को कम करने में सहायक सिद्ध होता है जो बेकारी दूर करने के लिए आवश्यक है। सामाजिक दृष्टिकोण से यह जीवन स्तरो म समानता स्थापित करता है जो न्याय की दृष्टि से उचित है। अत पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण केवल बेकारी दूर करने के लिए ही आवश्यक नही है वरन सामाजिक न्याय प्राप्त करने के लिये भी आवश्यक है। हम इस अध्याय के आरम्भ म ही कह चुके हैं कि आय के पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण की नीति निर्धारित करते समय बडी सतर्कता स काम करना चाहिये और मुख्य रूप से दो बातो को ध्यान म रखना चाहिए—प्रथम आय के समुचित वितरण (gross distribution of incomes) न कि शुद्ध वितरण पर कर लगाना चाहिये और दूसरे करारोपण इस प्रकार किया जाये कि कर दाताओ की विनियोग करने की रुचि कम न हो। उपयुक्त दोनो बातो को आयकर लागू करते समय ध्यान में रखना चाहिए।

पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण केवल आयो के आधिक्य को ही कम नहीं

करता, वरन् यह निर्धन व्यक्तियों की आय को बढा भी सकता है। आय की यह वृद्धि या तो मुद्रा के रूप म हो सकती है या वस्तु के रूप में, जैसे पारिवारिक भत्ते या नि शुल्क शिक्षा। कुछ लेखको का विचार है कि बडी आयों पर कर लगा कर छोटी आयो मे वृद्धि करने से व्यक्तियों के कार्य करने की इच्छा कम हो जाती है। परन्तु न तो यह सदैव होता ही है और न प्रत्येक प्रकार की सहायता ही के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है। उपभोग की आवश्यक वस्तुओं के मूल्य कम करने के लिए दी गई आर्थिक सहायताओ पर कम से कम यह बात लागू नही होती। वैसे भी सरकार के लिए यह तो सदैव ही सम्भव है कि आर्थिक सहायता देने की अपेक्षा, मूल्य कम करने के लिए अप्रत्यक्ष कर न लगाये। उपभोग की वस्तुओ पर लगे हुए प्रत्यक्ष कर से उपभोग कम होता है और आर्थिक सहायता से उपभोग बढता है। प्रत्येक कर या आर्थिक सहायता का प्रभाव विशेष इस बात पर निर्भर करता है कि वस्तु विशेष की माँग की लोच कैसी है। साधारणतया यह देखा गया है कि सामूहिक उपभोग की अधिकाश वस्तुओं की माँग आय के परिवर्तनो के सम्बन्ध मे लोचदार होती है और मूल्य-नियन्त्रण के सम्बन्ध म बेलोच होती है।

पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण से पूँजी का सचय कम नही होता वरन् उसमें वृद्धि होती है, यदि कर इस प्रकार लगाय जायें कि व्यापारियो की विनियोग करने की रुचि कम नही होती। निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देने के लिए अर्थात् धन का सचय अधिक तीव्र गति से होने देने के लिए—सबसे उत्तम विधि यह है कि उन वस्तुओ के उपभोग को बढावा दिया जाये, जिनके उत्पादन मे उस पूँजी का विनियोग किया जा सके। उपभोग की वस्तुओ की माँग बढने से निजी विनियोगों पर कभी भी बुरा प्रभाव नही पडता। यदि पूर्ण रोजगार भी स्थापित हो गया है तो भी उपभोग की वस्तुओं की माँग बढने से निजी विनियोग हतोत्साहित नही होगे, वरन वस्तुओ के मूल्य बढने से उपभोक्ताओं की ही वास्तविक आय कम होगी। अत यदि व्यक्तियों की उपभोग करने की प्रवृत्ति म वृद्धि करने के लिए करारोपण किया जाता है तो वह विनियोगों को हतोत्साहित न करके प्रोत्साहित करेगा। किन्तु यह उसी समय होगा जब कि कर ऐसे लगाय गए हो जिनसे व्यक्तियो के विनियोगो से प्राप्त होने वाले लाभों में कमी नही होती।

उपभोग करने की प्रवृत्ति मे इतनी वृद्धि हो सकती है कि मुद्रा-प्रसार उत्पन्न हो जाये। किन्तु आधुनिक अर्थव्यवस्था में ऐसे मुद्राप्रसार का आजकल कुछ भी भय नही है। निजी और सरकारी दोनों ही प्रकार के व्ययों से ऐसा हो सकता है। हम यहाँ पर केवल सरकारी व्यय की ओर ही दृष्टिपात करनी है। पूर्ण रोजगार के सम्बन्ध मे साधारणतया यह मान लिया जाता है कि सरकार केवल उसी सीमा तक अपना व्यय बढाती है जितना पूर्ण रोजगार की स्थिति को स्थापित करने तथा बनाये रखने के लिए आवश्यक होता है। किन्तु यह मान्यता अवास्तविक है। आधुनिक समाज मे कुछ सामूहिक क्रियायें ऐसी होती है जिनको प्राथमिकता देनी होती है और जिन पर बहुत अधिक खर्च करना पडता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि

समाज में धन का वितरण इस प्रकार हो रहा है कि देश में उपलब्ध सभी साधनों का उपयोग करने के लिए पर्याप्त है तो भी स्वतंत्र वास्तविक साधनों को अपने उपयोग के लिए प्राप्त करने के हेतु सरकार करारोपण करेगी। इस प्रकार करारोपण नीति के दो कार्य होते हैं—प्रथम सरकार इस अस्त्र के द्वारा उन साधनों के निजी उपयोग को नियन्त्रित करती है जिनकी आवश्यकता स्वयं उसको होती है और दूसरे इसके द्वारा देश में आय या वितरण ठीक किया जाता है। करारोपण मुद्रा प्रसार विरोधक भी होता है अर्थात करारोपण से सरकार मुद्रा प्रसार को भी नियन्त्रित कर सकती है। ऐसा करारोपण उपभोग को हतोत्साहित करता है और वास्तविक साधनों को सरकार के उपयोग के लिए उपलब्ध करता है। किन्तु ऐसे करों को केवल उसी समय अच्छा कहा जा सकता है जब सरकार उन साधनों का इस प्रकार उपयोग करती है कि सामूहिक कल्याण में इतनी वृद्धि होती है जितनी निजी उपयोग में नहीं होती। वास्तव में उपभोग पर जो कर लगाये जाते हैं उनसे प्राप्त होने वाली आय को सरकार को बड़ी सावधानी से और उसका बड़ा ही उत्तम उपयोग करना चाहिये। ऋणों तथा निजी बचत पर लगाये हुए करों द्वारा जो धन प्राप्त होता है उसके सम्बन्ध में इतनी सतर्कता बरतने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि पहली स्थिति में सरकार उन साधनों को निकाल लेती है जिनका उपयोग व्यक्ति अपने लिये करते किन्तु दूसरी स्थिति में वह ऐसे साधन निकालती है जिनका उपयोग व्यक्ति अपने काम के लिए नहीं करते और उनको बिना उपयोग के पड़ा रहने देते। प्राचीन विचारधारा में इस प्रकार की कोई भी कठिनाई उत्पन्न नहीं होती क्योंकि प्राचीन लेखकों के अनुसार प्रत्यक्ष कर ही उद्देश्य की पूर्ति करता है, अर्थात प्रत्यक्ष कर में ही साधन निजी उपयोगों में से निकाल लिए जाते हैं और प्रत्यक्ष कर ही मुद्रा प्रसार निरोधक होता है। आधुनिक विचारधारा में प्रत्यक्ष कर के प्रभाव अलग अलग होते हैं और इसी प्रकार हर प्रकार के ऋण के प्रभाव भी अलग अलग होते हैं। इसलिए सामान्यरूप से यह कहना कि राजकीय व्यय का इतना प्रतिशत (जैसे ४०%) करों द्वारा प्राप्त आय में से और इतना प्रतिशत (जैसे ६०%) ऋणों से पूरा होना चाहिए सभी परिस्थितियों के लिए उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त इन सूचनाओं तथा अनुमानों से मुद्रा प्रसार की नीति के सम्बन्ध में भी कुछ लाभ नहीं होता जब तक यह न मालूम हो कि करों और ऋणों के स्रोत क्या हैं। अतः पुनर्वितरण संबंधी करारोपण नीति का निर्माण तथा करों का चुनाव बड़ी सावधानी एवं बुद्धिमानी से करना चाहिए।

अभी तक हम सन्तुलित बजट के आर्थिक प्रभावों का विश्लेषण कर रहे थे। अब हम असन्तुलित बजटों के प्रभावों की विवेचना करेंगे। मान लीजिए कि पूर्ण रोजगार के लिए आय के पुनर्वितरण से सन्तोषजनक परिणाम प्राप्त नहीं हो पाते और घाटे के बजटों का सहारा लेना पड़ता है तो इसके क्या परिणाम होंगे?

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि बजट के हर घाटे से राष्ट्रीय ऋण में वृद्धि होती है। यहाँ पर दो प्रश्न उठते हैं—प्रथम राष्ट्रीय ऋण के आकार का

कोई सीमा होनी चाहिए या नही ? और दूसरे राष्ट्रीय ऋण म किस प्रकार के ऋणा द्वारा वृद्धि करनी चाहिए ? पहला प्रश्न राष्ट्रीय ऋण की राशि से सम्बन्धित है और दूसरा उसके गुणो से, अर्थात् ऋण दीर्घकालीन बौंड मे होना चाहिए या अल्पकालीन पत्रो म या नकदी म।

आन्तरिक राष्ट्रीय ऋण के सम्बन्ध मे बहुधा यह आपत्ति दिखाई जाती है कि ऋणा द्वारा जो धन का स्थानान्तरण होता है वह अनुचित होता है और इन ऋणो के भार का वितरण भी उचित नही होता अर्थात् जिन व्यक्तियो पर भार नही पडना चाहिये उन पर पडता है और जिनको सहन करना चाहिये वे बच जाते हैं। कुछ लोगो का यह भी कहना है कि य ऋण ऐसे व्यक्तियो से प्राप्त किय जाते हैं जो देने योग्य नही हैं। इसलिए जितना ऋण का आकार बढता जाता है उतना ही उसका भार भी जनता पर बढता जाता है। किन्तु यह सही नही है। राष्ट्रीय ऋण केवल उसी समय भार युक्त होता है जबकि सम्पूर्ण ऋण की राशि केवल मुट्ठी भर व्यक्तियो द्वारा ही प्रदान की जाती है और जिनको प्रत्यक वर्ष सूद के रूप म एक बहुत बडी धनराशि प्राप्त होती है और इसलिए ये थोडे से व्यक्ति प्रत्यक वर्ष और अधिक धनी होते जाते ह, जो अन्यायपूर्ण है। अत ऋणभार ऋण के बडे या छोटे आकार के कारण बडा या छोटा नही होता वरन् ऋण पत्रो के स्वामित्व के कारण ऋणभार कम या अधिक होता है। राष्ट्रीय ऋण, इसलिए आय के वितरण की असमानतायें भी उत्पन्न कर देते हैं—वास्तव म यही मौलिक समस्या है।

पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के लिए, जहाँ तक ऋण की राशि का सम्बन्ध है, तो समस्या ऋण के तत्कालीन प्रभावो की इतनी विषम नही होती जितनी कि इस बात की होती है कि हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा पूर्ण रोजगार प्राप्त करने की नीति उचित है या अनुचित ? युद्ध के लिए प्राप्त की गई ऋण राशि में प्रत्येक वर्ष वृद्धि होती जाती है, क्योकि प्रत्येक वर्ष सूद दर सूद लगता जाता है और राशि बढती जाती है। ऐसी वृद्धि से आय के वितरण की असमानतायें और भी बढती जाती हैं। इसलिए राष्ट्रीय ऋण की बहुत बडी समस्या आय के वितरण के सम्बन्ध मे है और ऋण-भार के स्थानान्तरण की समस्या तो केवल एक सहायक समस्या ही है।

सरकारी बौंडो का स्वामित्व व्यक्ति को केवल धन प्राप्त करने का अधिकार ही प्रस्तुत नही करता वल्कि वार्षिक आय प्राप्त करने के लिए भी अधिकार प्रदान करता है। जब ऋण पर केवल थोडे से व्यक्तियो का ही स्वामित्व होता है और ऋण की राशि म प्रत्येक वर्ष वृद्धि होती जाती है तो आय तथा धन प्राप्त करने के अधिकार भी थोडे मे ही व्यक्तियो के हाथो म एकत्रित होते जाते हैं। यदि करो में इस प्रकार हेर-फेर कर दी जाए कि यह अधिकार कम हो जायें तब भी धन प्राप्त करने के अधिकार तो एकत्रित होते ही रहेगे, चाहे वार्षिक आय प्राप्त करने के अधिकारो मे कमी भले ही हो जाए। इस प्रकार धनी व्यक्तियो की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती ही रहेगी जो सामाजिक एव आर्थिक दोनो ही दृष्टिकोणो से अनुचित है। हाँ पूर्ण रोजगार की दृष्टि मे यह उचित हो सकता है, क्योकि धनी व्यक्तियो की

आय म वृद्धि होने से उनके उपभोग करने की प्रवृत्ति भी बढती जाती है, जिससे पूर्ण रोजगार स्थिति स्थापित होने मे सहायता मिलती है। परन्तु ऐसे पूर्ण रोजगार को सामाजिक एव आर्थिक दृष्टिकोण से न्यायोचित नही कहा जा सकता। यह ध्यान रहे कि इन मुद्रा स्वत्वों (money titles) का एकत्रीकरण पूर्ण रोजगार की नीति के कारण नही होता बल्कि यह धन की उन असमानताओ के कारण उत्पन्न होता है जो ऋण प्राप्त करने के पहले ही से विद्यमान थी। इसीलिए तो समय समय पर उत्पन्न होने वाले अवसाद आवश्यक होते है क्योकि वह इन मुद्रा स्वत्वो के मूल्य को गिरा देते है।

ऋणो द्वारा प्राप्त राशि को खर्च करने के उद्देश्य या खर्च करने की विधि का न तो ऋण ग्रस्तता के आकार पर और न सूद की दर पर ही कोई प्रभाव पडता है। सरकार इस राशि को जिस प्रकार चाहे व्यय कर सकती है। सरकार के निर्णय आर्थिक उद्देश्यो से निर्धारित नहा होते बल्कि सामाजिक प्राथमिकता (Social priority) से निश्चित होते है या यह भी देखकर निर्णय लिए जा सकते है कि देश म कौन से आर्थिक साधन बेकार है और उनमे से किन को बिना कठिनाई के प्राप्त किया जा सकता है। सामाजिक प्राथमिकता के विचारो से प्रेरित होकर सरकार यह भी सोच सकती है कि स्थायी पूँजी का निर्माण करना अधिक वाछनीय हो सकता है जैसे, सडका स्कूलो अस्पताला आदि का निर्माण या सरकार यह भी निर्णय कर सकती है कि वह अपने व्यय को उपभोक्ताओ के व्यय को बढाने के उद्देश्य से करे। दोनो ही स्थितियो मे केवल उपभोग मे ही वृद्धि नही होती बल्कि उत्पादक पूजी मे भी वृद्धि होती है क्योकि मशीनो तथा स्थायी पूजी की माग केवल वस्तुओ की माग से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार मुख्य ध्यान देने योग्य बात यह है कि निजी विनियोग की क्रिया एक उत्पादित घटना है जो लाभ की आशा से प्रेरित होती है और लाभ की आशा स्वय अन्तिम वस्तु की वास्तविक या आशातीत माग की वृद्धि पर निर्भर करती है। सरकारी विनियोगो मे यह बात नही होती। सरकार चाहे तो उपभोग को बढा सकती है या निजी विनियोगो को प्रोत्साहित कर सकती है। किन्तु राशनिंग व्यवस्था मे इस प्रकार की स्वतन्त्रता नही होती।

जिन लखको ने पूर्ण रोजगार के लिए निजी विनियोगों को प्रोत्साहन देने का समर्थन किया है उन्होने इस ओर कोई ध्यान नही दिया कि निजी विनियोग केवल उत्पादित (derived) होते है। कर म रियायत करने और आर्थिक सहायता प्रदान करने से निजी विनियोग प्रोत्साहित तो अवश्य हो सकते हैं किन्तु पूँजीगत वस्तुओ का सचय उस समय तक निराधार होगा जब तक उपभोक्ताओ की क्रय-शक्ति म वृद्धि नही होती। अत दीर्घकाल मे केवल निजी विनियोगो को आर्थिक सहायता प्रदान करने ही समस्या नही हल हो जाती। यह केवल मन्दी काल मे रोजगार के स्तर को ऊँचा उठाने मे सफल हो सकती है पूर्ण रोजगार के बनाये रखने म नही। हम पहले भी इस विषय पर काफी दृष्टि डाल चुके है। अब हम इस प्रश्न पर विचार प्रकट करेंगे कि एक बडे राष्ट्रीय ऋण से मुद्रा-स्फीति उत्पन्न

होती है या नहीं ?

व्यक्तियों के पास केवल मुद्रा के एकत्रित होने या मुद्रा-स्वत्वों के अधिकार एकत्रित हो जाने से ही मुद्रा स्फीति उत्पन्न नहीं होती। मुद्रा-स्फीति उसी समय आरम्भ होती है जब लोग अपनी मुद्रा को खर्च करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि मुद्रा की उपस्थिति या मुद्रा प्राप्त करने के अधिकारों की उपस्थिति निजी व्यय पर कोई प्रभाव डालती है या नहीं ? मनुष्य का खर्चा उसकी आय से निर्धारित होता है। यदि मनुष्य कुछ भी न बचाकर अपनी पूरी आय खर्च कर देते हैं तो उनका व्यय उस स्थिति की अपेक्षा अधिक होगा जबकि आय में से वह कुछ बचत कर रहे थे। इसी प्रकार व्यय में और भी वृद्धि हो सकती है यदि मनुष्य अपनी पुरानी बचतों को चालू आवश्यकताओं पर खर्च करने लगे। पूर्ण रोजगार वाली अर्थ-व्यवस्था में एकत्रित धन या मुद्रा प्राप्त करने के अधिकारों के एकत्रित करने का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता केवल इसी का प्रभाव पड़ता है कि व्यक्ति अपनी पूरी चालू आय उपभोग पर व्यय करना आरम्भ कर रहे हैं या नहीं। यदि वे पूरी आय खर्च करना आरम्भ कर देते हैं तो अवश्य ही मुद्रा-स्फीति उत्पन्न हो जायेगी। सारांश में उपभोग करने की प्रवृत्ति में तनिक भी वृद्धि होने से पूर्ण रोजगार व्यवस्था में मुद्रा-स्फीति आरम्भ हो जाती है यदि सरकार वास्तविक साधनों का उपयोग उसी अनुपात में कम नहीं कर देती। इस प्रकार एक बड़ा राष्ट्रीय ऋण मुद्रा-स्फीति को उत्पन्न नहीं करता।

जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है कि बजट के घाटों के लिये वित्त प्रबन्ध की कौन सी रीति अपनाई जाये जिससे मुद्रा-प्रसार कम हो, इसके सम्बन्ध में यही कहना होगा कि सरकार को सभी नीतियाँ अपनानी चाहिये, किन्तु किसी समय विशेष पर केवल वही विधि अपनाई जाये जिसका स्वागत करने के लिये जनता तैयार हो अर्थात् जिसको जनता स्वीकार करले। हम बता ही चुके हैं कि घाटे स्वयं अपने लिये आवश्यक बचतें उत्पन्न कर लेते हैं। यदि यह बचतें इच्छित हैं अर्थात्, व्यक्तियों ने अपनी सारी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करके अपनी आय में से यदि कुछ धन बचाया है तो उसका उपभोग पर या विनियोगों में एकदम अकस्मात् ही खर्च होना सम्भव नहीं है। यदि सरकार इन घाटों को पूरा करने के लिये केवल दीर्घकालीन बाँड ही चालू करती है तो बिना किसी उद्देश्य या लाभ के सूद की दर बढ़ जायेगी और यदि सरकार सूद की दर को नीचा रखने के लिये केवल अल्प-कालीन ऋणों या सस्ती मुद्रा नियन्त्रण (ways and means advances) द्वारा घाटा को पूरा करना चाहती है तो बैंकों के नकद आधार (cash basis) में इस प्रकार वृद्धि करने से सूद की दरों का समस्त ढाँचा छिन्न-भिन्न हो जायेगा और परिणामस्वरूप पूंजीगत मूल्यों पर बहुत बुरे प्रभाव पड़ेंगे। अतः इन दोनों विधियों में से कोई भी वांछनीय नहीं है। पहली विधि में निजी विनियोग की क्रियाओं को हानि होगी और दूसरी में मुद्रा-स्फीति होगी और विलास की वस्तुओं का उपभोग बढ़ने लगेगा। वास्तव में सरकार को दोनों ही विधियों का प्रयोग करना चाहिये

अर्थात् अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनो ही प्रकार के ऋण-पत्रों को चालू करना चाहिये और यदि फिर भी कुछ कमी रह जाये तो उसकी पूर्ति सस्ती मुद्रा की निकासी करके की जाये। इसकी कोई भी आवश्यकता नही है कि बैंको पर या जनता पर अत्यधिक दबाव डाला जाये या उन्हे समझाया बुझाया जाये और जो ऋण दान स्वेच्छा मे प्राप्त हो रहे हैं उनकी गति को तीव्र किया जाये। यदि व्यक्तियों मे यह प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है कि वे अल्पकालीन ऋण-पत्रों को दीर्घकालीन बौंड में बदलना चाहते हैं तो सरकार सूद की दर कम कर सकती है या दीर्घकालीन बौंड को खरीदने तथा बेचने के मूल्यो के बीच एक कृत्रिम अन्तर उत्पन्न कर सकती है। पूर्ण रोजगार मे निजी विनियोग क्रियाओं को केवल सूद की दर में फेर बदल करके ही नियन्त्रित करना सम्भव नही होगा। केवल असाधारण परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होने वाली मुद्रा-स्फीति को, भयभीत होकर, मौद्रिक नीति म उलट फेर करके नियन्त्रित नही करना चाहिए। वास्तविक मुद्रा-स्फीति को भारी प्रगतिशील करारोपण से रोकना चाहिये और यदि आवश्यकता हो तो राशनिंग और कन्ट्रोल जैसी अप्रत्यक्ष रीतियाँ भी अपनानी चाहियें। इन रीतियों को अपनाने म यह सोचने की आवश्यकता नही है कि क्योंकि यह पूर्ण रोजगार के स्थायित्व को क्षति पहुँचायेगी इसलिये इनको न अपनाया जाये। वास्तव में पूर्ण रोजगार से प्राप्त होने वाले लाभ मुद्रा स्फीति की हानियो की अपेक्षा बहुत कम होते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि नयी विचारधारा का यह विश्वास है कि अब यह सरकार की शक्ति म है कि वह साधनों का अधिकतम तथा पूर्ण उपयोग को सम्भव बनाये, क्योंकि उसको यह भी अधिकार है कि व्यक्तियों की आय का एक भाग करो द्वारा प्राप्त करले और इस प्रकार प्राप्त की हुई आय को जिस प्रकार चाहे खर्च करे और उसको यह भी अधिकार है कि वह जनता की इच्छानुसार जिस प्रकार के ऋण पत्र चाहे छापे चाहे कागजी मुद्रा के रूप मे या बौंड और प्रतिभूतियों क रूप में। पूर्ण रोजगार स्थापित करने के लिये वह पुनर्वितरण सम्बन्धी करारोपण (redistributive taxation) भी कर सकती है और घाटे के बजटो का भी सहारा ले सकती है। किन्तु व्यवहार म अकेली कोई भी एक नीति सफल नही हो पायेगी। इसलिये व्यावहारिक नीति म दोनो का ही मिश्रण होना चाहिये। परन्तु इसकी सफलता भी इसी बात पर निर्भर करती है कि आय का समुचित या कुल वितरण (gross distribution of incomes) ठीक हो। नयी विचारधारा यह भी स्वीकार करती है कि सरकार सूद की दर को भी नियन्त्रित कर सकती है और लाभकर्ता (rentier) की सामोशी या निराशा को भी समाप्त कर सकती है। इसलिये नयी विचारधारा को लागू करना, सामाजिक और आर्थिक, दोनो ही दृष्टिकोणो से महत्वपूर्ण हैं। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता म हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नही है। कर लगाना और ऋण प्राप्त करना कोई नई बात नही है। यह तो सरकार नई विचारधारा के आगमन से पहले ही करती आ रही है, किन्तु आज नई विचारधारा ने इनके उद्देश्य और इनको उपयोग करने के नियमों में परिवर्तन कर दिया

है : अब इनका उपयोग निम्न नियमों के अनुसार होना चाहिये[2] —

प्रथम, सरकार को प्रचलित कर प्रणाली का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिये और विभिन्न करों के उपभोग, निजी विनियोग तथा निजी बचतों पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर उनमें भेद करना चाहिये। इस अध्ययन से सरकार यह पता लगा सकेगी कि जिन साधनों को उद्योगपति काम में लगाना नहीं चाहते उन के आकार पर करारोपण के क्या प्रभाव होंगे।

दूसरे, करारोपण का उपयोग केवल, काम में न लाये जाने वाले साधनों के आकार में फेर बदल करना ही होना चाहिये, जिसकी कमी और वृद्धि सामाजिक प्राथमिकताओं पर निर्भर करेगी।

तीसरे, जो कुछ भी शेष रहता है (दूसरे नियम के अन्तर्गत निर्णय लेने के बाद) सरकार इन प्रकार साधनों को हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा अपने उपयोग में ले ले।

अतः आज नई विचारधारा के प्रभाव में राजकीय वित्त (राजस्व) का रूप और उद्देश्य पूर्णतया बदल गया है। आज राजस्व का प्रमुख उद्देश्य देश में साधनों के पूर्ण उपयोग को सम्भव बनाना है केवल *आय और व्यय या शुद्ध वित्तीय दृष्टिकोण* से आय प्राप्त करना या व्यय करना नहीं है। नयी विचारधारा में सामाजिक कल्याण का तत्व है और राजस्व का उद्देश्य सामाजिक कल्याण में वृद्धि करना है जब कि प्राचीन विचारधारा में वित्तीय तत्व था और उस समय राजस्व का उद्देश्य व्यक्तिगत हित को अग्रसर करना था। *सारांश में राजस्व पूर्ण रोजगार स्थापित* करने का एकमात्र अस्त्र है।

2. T Balogh & others, '*The Economics of Full Employment*.' p. 122.

४

अध्याय ३

भारत में बेरोजगारी की समस्या

(Problem of Unemployment in India)

प्राक्कथन—

बेकारी, पूंजीवादी देशों की एक प्रमुख विशेषता है। अन्तर केवल इतना है कि इस समस्या का आकार एवं प्रकृति प्रत्येक देश में अलग अलग है। भारत की अर्थ-व्यवस्था भी पूंजीवादी होने के कारण यहाँ पर बेकारी की समस्या भी बहुत विषम है। भारत की बेकारी की समस्या है तो बहुत पुरानी किन्तु दूसरे महायुद्ध के बाद से इस समस्या के आकार और विषमता दोनों ही में बहुत अधिक वृद्धि हो गई है। बेकारी पिछड़े हुए देशों का एक प्रमुख लक्षण होता है। विकसित देशों में जबकि बेकारी मुख्य रूप से औद्योगिक श्रमिकों के बीच होती है पिछड़े हुए देशों में बेकारी लगभग अर्थ व्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में ही पाई जाती है। पिछड़े हुए एवं अर्ध-विकसित देश में बेकारी प्राकृतिक साधनों के अभाव में नहीं होती जैसे भारत में। हमारे देश में प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में होते हुए भी बेकारी अपनी चरम सीमा पर है। विकसित देशों में बेकारी केवल क्षणिक और अस्थायी होती है और केवल उत्पादन विधि में उलट फेर होने के कारण ही बेकारी को जन्म मिलता है। किन्तु पिछड़े हुए देशों में बेकारी की समस्या बहुत कुछ स्थायी होती है। भारत भी एक पिछड़ा हुआ देश है और यहाँ पर बेकारी और कम रोजगारी (Under-employment) दोनों ही का प्रकोप बहुत कुछ अटल है। यहाँ पर बेकारी तीन प्रकार की है—अर्थात् (अ) कृषि बेरोजगारी (ब) औद्योगिक बेरोजगारी और (स) शिक्षित वर्ग की बेरोजगारी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से ही हमारे देश में बेकारी की कठोरता को समझने का प्रयास किया जा रहा है किन्तु अभी तक कोई उत्तम उपाय इस समस्या को दूर करने के लिए ढूंढ निकालने में सफल नहीं हो पाये हैं। हम इस समस्या के वास्तविक आकार को बताने में भी असमर्थ हैं क्योंकि हमारे देश में पर्याप्त आँकड़ों का अभाव है। किन्तु यह एक ऐसा अटल सत्य है कि इसको सिद्ध करने के लिये आँकड़ों की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि रोजगार दफ्तरों की स्थापना के पश्चात से कुछ आँकड़े अवश्य प्राप्त होने लगे हैं किन्तु वह भी केवल शहरी क्षेत्रों से और कुछ सीमित व्यवसायों से ही सम्बन्धित हैं और इनसे

आधार पर बेकारी की समस्या का वास्तविक आकार का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। रोजगार दफ्तरों के आँकड़ों पर एक दृष्टि डालने से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर काम ढूढने वालों की संख्या में वृद्धि हो रही है दूसरी ओर रोजगार के अवसरों में कमी होती जा रही है और इस प्रकार काम ढूढने वालों की संख्या दिन प्रति-दिन बढती ही जा रही है। किन्तु यह भी पूर्णतया सत्य नहीं है। वास्तव मे काम ढूढने वालों में बहुत से आदमी ऐसे हैं जो काम पर लगे हुए हैं किन्तु अच्छी और स्थायी नौकरी प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्होंने रोजगार के दफ्तरों में अपने नाम लिखवा रखे है। दूसरी ओर रोजगार दफ्तरों की कार्य विधि में काम दिलाने का अर्थ बहुत अजीब है। बहुधा यह देखा गया है कि आकस्मिक रोजगार को भी ये दफ्तर काम दिलाने की सूची में सम्मिलित कर देते हैं। इस प्रकार एक मजदूर जो प्रतिदिन एक नये मालिक के साथ माल लादने और ढोने पर सुबह नौकर रखा जाता है और शाम को वह फिर बेकार हो जाता है किन्तु वही मज़दूर रोजगार के दफ्तरों के रजिस्टरों में हर रोज बेकार रहते हुए भी काम पाने वाले व्यक्तियों की संख्या वृद्धि करता रहता है। केवल यही नहीं काम देने वाले मालिक भी अधिकतर व्यक्तियों को रोजगार दफ्तरों से प्राप्त नहीं करते हैं। घरों में काम करने वाले नौकरों को रोजगार के दफ्तरों से प्राप्त नहीं किया जाता। इसलिये हर दिशा में गड़बड़ी इतनी फैली हुई है कि बेकारी की समस्या का वास्तविक रूप पता लगाना सम्भव नहीं है। हमारे देश में एक अजीब बात यह है कि एक ओर जबकि शिक्षा का विस्तार हो रहा है, लोगों को शिकायत है कि देश मे शिक्षा का बहुत अभाव है और इसी प्रकार लोगों को यह भी शिकायत है कि देश में प्रशिक्षित व्यक्ति तथा यन्त्रकला और विज्ञान का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों की बहुत कमी है और दूसरी ओर आश्चर्यजनक बात यह है कि अधिकतर बेकारी इन्ही वर्गों मे है। ग्रामीण क्षेत्रों में तो यह सभी को ज्ञात है कि किसान साल में ४ से ६ महीने बेकार रहता है और इसके अतिरिक्त गाँव में छिपी हुई बेकारी (*Disguised Unemployment*) की समस्या भी बहुत गम्भीर है।

बेकारी के कारण—

सामान्य रूप से किसी भी देश में बेकारी तीन प्रकार से होती है। प्रथम, सक्रिय माँग में कमी होने के कारण, दूसरे, मूल्य तथा लागतों में असन्तुलन उत्पन्न होने के कारण और तीसरे, श्रम शक्ति के अनुपात में मशीनों तथा यन्त्रों के न होने के कारण। पूर्ण विकसित पाश्चात्य देशों में बेकारी मुख्य रूप से सक्रिय माँग में कमी होने के कारण उत्पन्न होती है। वहाँ पर अधिकतर मौद्रिक मजदूरी स्थायी रहती है और इसलिए सक्रिय माँग में थोड़े से परिवर्तन होने से भी रोजगार के स्तर में काफी परिवर्तन हो जाते हैं। हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में व्यक्तियों की अधिकतर 'लाभ' मजदूरियाँ होती हैं (क्योंकि अधिकतर लोग अपने ही खेतों पर काम करते हैं और किसी के नौकर नहीं होते हैं)। साथ ही एक प्रकार की वास्तविक मजदूरी (बहुत

का अनाज किसान अपने और अपने कुटुम्ब के उपभोग के लिए एकत्रित करके रख लेता है) भी इसके अतिरिक्त प्राप्त होती है। इस प्रकार की मजदूरियों में परिवर्तनों के लिए अधिक गुंजायश रहती है। और इसलिए भारत में रोजगार का स्तर सक्रिय माँग के अनुपात में घटता बढ़ता नहीं है। भारत में बेकारी की मुख्य समस्या इस बात की है कि पूँजीगत वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि करके और अर्थ व्यवस्था में संगठन सम्बन्धी उचित परिवर्तन करके रोजगार अवसरों की मात्रा को कैसे बढ़ाया जाये। हमारे देश में पूर्ण रोजगार की स्थापना वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए स्वप्न मात्र है। ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में करोड़ों व्यक्ति बेकार हैं और प्रतिवर्ष जनसंख्या की वृद्धि से इनकी संख्या बढ़ती ही जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारी के मुख्य कारण श्रमिकों की अगतिशीलता, अशिक्षित, शारीरिक श्रमिकों की अधिकता और दस्तकला में प्रशिक्षित श्रमिकों का अभाव, ग्रामीण क्षेत्रों में पूँजी का अपर्याप्त प्रवाह, खेती केवल जीविका-उपार्जन का साधन होने के कारण और अधिकतर श्रमिकों को रोजगार प्रदान करने के लिए कुटीर उद्योगों का अभाव है। इन कारणों से केवल ग्रामीण अर्थ व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न नहीं होती बल्कि बेकारी सम्बन्धी नियोजन के कार्यों को सफल बनाने में अनेक बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं। यद्यपि भारत में प्रत्येक प्रकार की बेकारी के कारण अलग अलग हैं किन्तु हम इन कारणों की विवेचना करने से पहले कुछ सामान्य कारणों को बतायेंगे। बेकारी के सामान्य कारण निम्न प्रकार हैं—

(१) **विकास कार्य-क्रम की धीमी प्रगति**—बड़े आश्चर्य की बात है कि जब प्रथम योजना की प्रगति एवं सफलता के कारण रोजगार अवसरों में वृद्धि होनी चाहिये थी इसके विपरीत प्रथम योजना काल में बेकारों की संख्या और भी अधिक हो गई। इसका मुख्य कारण यह है कि रोजगार अवसरों में जो वृद्धि हुई है वह जनसंख्या की वृद्धि के अनुकूल नहीं है, और साथ ही बढ़ती हुई श्रम पूर्ति के लिए भी हमारी योजनाओं में कोई प्रबन्ध नहीं किया गया है। हमारे पूर्व वित्तमंत्री श्री देशमुख के अनुसार हमारे देश में जनसंख्या की वृद्धि के कारण प्रत्येक वर्ष बेकार व्यक्तियों की संख्या में १२ लाख काम ढूंढने वालों की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार हमारे देश में बेकारी का मौलिक कारण यह है कि विकास कार्य-क्रम की प्रगति जनसंख्या की वृद्धि की दृष्टि से बढ़ती हुई बेकारी के अनुकूल नहीं है।

(२) **भारतीय विश्वविद्यालयों से निकलने वाले शिक्षित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि**—हमारे देश में प्रति वर्ष विश्वविद्यालयों में बी०ए० एम०ए० पास करने वालों की संख्या बढ़ती ही जाती है जबकि इन शिक्षित व्यक्तियों के लिए रोजगार अवसरों में कोई विशेष वृद्धि नहीं होती है। अनुमान है कि सन् १९४७–४८ के बाद हाई स्कूल और इन्टरमीडिएट परीक्षा पास करने वालों की संख्या दुगनी से भी अधिक हो गई है और बी०ए० तथा एम०ए० पास करने वालों की संख्या में ८९% की वृद्धि हो गई है। शिक्षित व्यक्तियों के रोजगार अवसरों में कमी होती जा रही है।

(३) **उद्योग तथा व्यापार में मंदी**—सन् १९५२ के आरम्भ में गिरते हुए मूल्यों के कारण कोरिया युद्ध समाप्त होने के कारण और अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में कमी होने के कारण, व्यापार तथा उद्योग क्षेत्रों में भाग लेने वाले व्यक्तियों को कुछ यह महसूस हुआ कि संसार में वैसे ही मंदी आरम्भ होने वाली है जैसी प्रथम महायुद्ध के बाद उत्पन्न हुई थी। परिणामस्वरूप व्यापारियों और उद्योगपतियों ने अपनी क्रियाओं को संकीर्ण करना आरम्भ कर दिया। निर्यात उद्योगों जैसे जूट अबरक आदि उद्योगों में तो उत्पादन बहुत ही कम कर दिया जिसके कारण इन उद्योगों में बहुत बेकारी उत्पन्न हो गई। देश के विभाजन होने से कच्चा जूट पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो पाने के कारण विभाजन के बाद काफी वर्षों तक अधिकांश जूट के कारखाने बन्द रहे और अभी तक उनमें उत्पादन युद्ध से पहले की स्थिति प्राप्त नहीं कर पाया है। परिणामस्वरूप इस उद्योग में काफी बेकारी उत्पन्न हो गई है। कपड़ा उद्योग में माल की निकासी न हो पाने के कारण काफी कारखाने बीच-बीच में बन्द होते गये और इस कारण भी बेकारी की समस्या बढ़ती गई।

(४) **व्यक्तियों की गिरती हुई क्रय शक्ति**—युद्ध काल में आरम्भ हुआ मुद्रा-स्फीति का चक्र समाप्त होने के स्थान पर तीव्र गति से बढ़ता ही जा रहा है। मूल्य वृद्धि के कारण व्यक्तियों की क्रय शक्ति दिन प्रति दिन कम होती जा रही है। व्यक्तियों में केवल अपनी चालू आय में से आवश्यकताओं को पूरा करने की ही सामर्थ नहीं है बल्कि उन्होंने अपनी पुरानी बचतें भी समाप्त कर दी। यही कारण है कि आजकल इतनी चोर बाजारी नहीं है और बाजार में वस्तुएँ होते हुए भी उनको खरीदने के लिये व्यक्ति नहीं मिलते।

(५) **लागतों तथा मूल्यों के समायोजन का अभाव**—गत वर्षों में विक्रेताओं का प्रभाव कम हो गया है और क्रेताओं की शक्ति बढ़ती जा रही है। इसीलिये विक्रेताओं को वस्तुओं के विक्रय में कठिनाइयाँ हो रही हैं। यदि उन्हें वस्तुओं का निकासी करनी है तो वस्तुओं के मूल्य नीचे गिराने ही होंगे। किन्तु उत्पादकों ने अपनी पूँजी का विनियोग मशीनों इत्यादि में उस समय किया था जबकि युद्ध के कारण मूल्य काफी ऊँचे थे। इसके अतिरिक्त मजदूरी की दरें भी लगभग उतनी ही हैं जितनी युद्ध काल में थी। इसीलिये वस्तुओं का उत्पादन व्यय अधिक है और उत्पादकों के लिये यह सम्भव नहीं है कि वे अपने मूल्यों को कम कर सकें। अतः मूल्य और लागतों में समायोजन न हो पाने के कारण भंडार में वस्तुएँ जमा होती जाती हैं। उत्पादकों को अपना उत्पादन कम करना पड़ता है और इस प्रकार श्रमिक बेकार हो जाते हैं।

(६) **सयुक्तिकरण**—पिछले वर्षों में कुछ उद्योगों में आधुनिकीकरण तथा सयुक्तिकरण की ओर प्रयत्न आरम्भ कर दिये गये हैं जिससे आधुनिक मशीनों के उपयोग के कारण बेकारी बढ़ती गई है।

(७) **छटनी (*Retrenchment*)**—युद्ध काल में जो बहुत से नये-नये विभाग स्थापित किये गये थे उनको युद्ध समाप्त होते ही बन्द करना पड़ा। परिणाम

राज्य के ग्रामीण क्षेत्रो मे किसान ६ घटे प्रति दिन की दर से साल मे केवल ६ से ८ महीने तक ही व्यस्त रहता है। इस समिति के अनुसार भूमिहीन कृषक तो साल म ६ से ७ महीने तक बेकार रहते हैं। कृषि क्षेत्र म बेकारी कई कारणो से है। यह कारण सक्षेप म इस प्रकार हैं —(१) भारतीय कृषि की प्रकृति एकदम अनिश्चित है। यह वर्षा पर निभर है जो कभी भी समय पर नही होती। परिणामस्वरूप समय-समय पर अकालो का सामना करना पडता है और मौसमी बेकारी उत्पन्न होती है। (२) ग्रामीण तथा कुटीर उद्योगो के समाप्त हो जाने के कारण बहुत से व्यक्ति जो इन उद्योगो म लगे हुए थे वे बेकार हो गये। इसके अतिरिक्त जो कुछ व्यक्ति इन उद्योगो म रह भी गये हैं उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नही रहती क्योकि वे अपनी लागतो और बाजारी मूल्यो मे सामजस्य स्थापित नही कर पाते हैं। परिणामस्वरूप या तो बहुत से व्यक्ति बिना लाभ प्राप्त किये ही उन उद्योगो को चलाते रहते हैं जिसका अर्थ कम रोजगारी है या वे उन उद्योगो को छोड कर कृषि म भूमिहीन मजदूरो की भाँति काम करना आरम्भ कर देते ह जिसम वे मौसमी बेकारी तथा स्थायी बेकारी के शिकार हो जाते हैं। (३) हमारे ग्रामीण क्षेत्रो में अभी तक ग्रामीण उद्योगा की पुन स्थापना नही हो पाई है। जिसके कारण जो लोग बेकार होते हैं उनको जीविका उपार्जन का कोई दूसरा साधन उपलब्ध नही हो पाता है। (४) जन सख्या की वृद्धि के कारण भी ग्रामीण क्षेत्रो म बकारी बढती जा रही है। एक तो पहले ही भूमि पर दबाव बहुत अधिक है। जनसख्या की वृद्धि से छिपी हुई बेकारी म दिन-प्रति दिन वृद्धि हो रही है। (५) हमारे देश म उपज को बेचने की व्यवस्था भी बहुत खराब है। परिणामस्वरूप कृषको को उचित 'लाभ' मजदूरी प्राप्त नही हो पाती और व कम रोजगारी के शिकार रहते हैं। (६) अन्त म किसान ऋण गृस्त होन क कारण उनकी भूमि महाजनो तथा अन्य ऋण दाताओ के हाथो म स्थानान्तरित हो जाने के कारण वे भूमिहीन मजदूरा की स्थिति म रह जाते हैं और कुछ समय बाद बकारो की श्रेणी में शामिल हो जाते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रा की बेकारी मुख्य रूप से इन्ही कारणा से है। इस बेकारी को दूर करने के लिय निम्न कारण अपनाय जाने की सिफारिशे समय समय पर की जा चुकी हैं —(१) भूमि पर जनसख्या के बढते हुए भार को कम करने के लिय ग्रामीण उद्योगो का विकास अति तीव्रगति से होना चाहिय। (२) मौसमी बेकारी को दूर करन के लिये उत्पादक कार्यो को प्रोत्साहन दिया जाय और अतिरिक्त श्रम शक्ति का सावजनिक निर्माण कार्यो मे लगाया जाये जैसे, कुऐं बनाना, सडक बनाना, तालाब बनाना, खाद के गड्ढे खोदना इत्यादि। यह सब कार्य सामुदायिक विकास योजना के अन्तगत किय जा सकत हैं। इसके अतिरिक्त मुर्गी पालन, डेयरी उद्योग तथा फल इत्यादि उगाने को अधिक प्रोत्साहन दिया जाय। हमारी योजनाओं मे इन सब के लिय उचित व्यवस्था की गई है। (३) भूमिहीन मजदूरा को भूमि देने की व्यवस्था की जाये ताकि उनकी बेकारी कम हो। इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों म सरकारो ने भूमि की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी है और आशा है कि तीसरी पचवर्षीय

योजना तक भूमिहीन मजदूरों की समस्या पूर्णतया समाप्त हो जायेगी। (४) ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगीकरण को प्रोत्साहन देने के लिये विद्युत शक्ति अधिकाधिक मात्रा में प्रदान की जाय और ग्रामीण क्षेत्रों में यातायात तथा सम्वादवाहन के साधनों के विकास की ओर ध्यान दिया जाय।

औद्योगिक क्षेत्रों में बेकारी—हमारे देश में एक समय वह भी था जब हमारे उद्योग-धन्धे इतने उन्नत थे कि विदेशी ईर्ष्या किया करते थे और भारत दूर दूर देशों से व्यापार किया करता था। साथ ही साथ हमारी कृषि भी काफी उन्नत अवस्था में थी। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ होने से हमारे उद्योग धन्धों का तो विनाश हो ही गया किन्तु कृषि की भी स्थिति ठीक न रह सकी। परिणामस्वरूप सामाजिक तथा आर्थिक कठिनाइयों से विवश होकर ग्रामीण क्षेत्रों से हजारों की संख्या में लोग शहरों को काम की तलाश में आने लगे। जिसका परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक क्षेत्रों में भी बेकारी बढ़ने लगी। औद्योगिक बेकारी के इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हैं जैसे—(१) हमारे देश में औद्योगिक विकास आदि अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही है और इसमें अभी इतनी शक्ति नहीं है कि अधिक व्यक्तियों को काम मिल सके। (२) भारत में उद्योगों का स्थानीयकरण भी दोषपूर्ण है और सभी क्षेत्रों का औद्योगिक विकास समान रूप से नहीं हो पाया है। (३) युद्ध के बाद मशीनों तथा कच्ची सामग्री के पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो पाने के कारण स्थिति सतोषजनक नहीं है जिसके फलस्वरूप औद्योगिक श्रमिकों की खपत नहीं हो पा रही है। (४) संयुक्तिकरण तथा आधुनिकीकरण के कारण उद्योगों में बेकारी बढ़ रही है। (५) वस्तुओं की सक्रिय माँग में कमी होती जा रही है क्योंकि व्यक्तियों की आय मूल्यों के अनुपात में नहीं बढ़ रही है। अन्त में दूसरी योजना में औद्योगीकरण के जो लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं उनकी पूर्ति में विदेशी विनिमय की कठिनाइयों से नई बाधाएं उत्पन्न हो रही हैं।

औद्योगिक बेरोजगारी को दूर करने के लिये बहुधा यह उपाय दिये गये हैं—(१) उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण की ओर उचित प्रबन्ध किये जाने चाहिये ताकि देश के सभी भागों का सामान्य विकास हो सके और सभी भागों में श्रमिकों को रोजगार अवसर प्राप्त हो सके। (२) देश में नये नये उद्योगों का प्रोत्साहन देने के लिये प्रयत्न होने चाहियें। पुराने उद्योगों की उत्पादन शक्ति अपनी अधिकतम सीमा पर पहुँच जाने के कारण उनमें अधिक विस्तार करने तथा अधिक रोजगार प्रदान करने की शक्ति उस समय तक नहीं उत्पन्न हो पायेगी जब तक कि उनमें आधुनिक मशीनों का उपयोग नहीं होता। आधुनिक मशीनों का उपलब्ध होना उस समय तक सम्भव नहीं होगा जब तक भारत को पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा प्राप्त नहीं होती तथा भारत स्वयं मशीनों के उत्पादन में स्वावलम्बी नहीं हो जाता। इसीलिये दूसरी योजना में भारी उद्योगों के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया गया है और कुटीर तथा छोटे उद्योगों पर उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन की जिम्मेदारी रखी गई। (३) औद्योगिक श्रमिकों को अधिक कुशल बनाने के लिये औद्योगिक प्रशिक्षण की

व्यवस्था होनी चाहिये। (४) आवश्यक मात्रा में पूँजी प्राप्त करने के लिये उचित प्रयत्न किये जायें तथा औद्योगिक सगठन एव प्रबन्ध को कुशल बनाने का प्रयास किया जाये। (५) अन्त में क्योंकि भारत म औद्योगिक विकास के लिये पर्याप्त मात्रा में घरेलू पूँजी उपलब्ध नहीं हो पा रही है इसलिये अधिकाधिक मात्रा म विदेशी पूँजी के विनियोगों के लिये सुविधाएँ प्रदान की जायें।

शिक्षित वर्ग में बेकारी की समस्या—भारत में शिक्षित वर्ग की बेकारी की समस्या भी कुछ कम विषम नहीं है। पिछले वर्षों मे इस समस्या ने बडा ही विकराल रूप धारण कर लिया है। यह समस्या सारे भारतवर्ष म फैली हुई है। उत्तर प्रदेश की सप्रू कमेटी ने भी इस बात का समर्थन किया था। मद्रास समिति ने बताया है कि काम ढूँडने वाले शिक्षित व्यक्तियों और उनके लिये उपस्थित रोजगार अवसरों का अनुपात २१ है। सन् १९२७ की पजाब समिति का भी यही विचार था। इस प्रकार की बेकारी से मनुष्य आत्म विश्वास खो बैठता है और मनुष्य म शिक्षा के प्रति रुचि समाप्त हो जाती है। शिक्षित नवयुवकों की बेकारी देश की राजनैतिक स्थिरता के लिये भी हानिकारक होती है। एडलर कमीशन ने कहा था कि '*इस प्रकार के शिक्षित बेरोजगार समुदाय की उपस्थित तथा निरन्तर* वृद्धि किसी भी देश म और विशेषकर ऐसे देश म जहाँ पर शिक्षित व्यक्तियों की मात्रा थोडी ही हो, किसी भी प्रकार की सुव्यवस्थित सरकार के लिय भयकर है। जब तक देश की बुद्धिमान मानव जाति का एक बडा भाग निरन्तर बढती हुई सख्या में इस प्रकार के अध्ययन मे सलग्न है जिससे कि ऐसी ऊँची आशायें उत्पन्न हो जाती हैं जो पूरी नहीं हो पाती हैं और जो पढने वालो को देश और अपने हित के लिये किये जाने वाले कितने ही व्यवसायों के लिये बेकार बना देता है, तब तक कोई भी *सरकार चाहे वह कितनी ही अच्छी प्रकार से सगठित हो, अपना मार्ग आलोचना* तथा प्रत्यालोचना से रोक नहीं पायेगी। सहायता की एक ऐसी माँग निरन्तर बढ़ती जायेगी जिसको किसी प्रकार भी पूरा नहीं किया जायेगा।" बम्बई राज्य की एक खोज के अनुसार यह बेकारी अधिकतर २७ वर्ष से नीचे के नवयुवकों में है। इन लोगों में उन लोगों की सख्या अधिक है जिनका ज्ञान मुख्यतया साहित्यिक है तथा उस वर्ग में भी अधिक है जो १० वा दर्जा पास नहीं है। यह आश्चर्य की बात है कि शिक्षा के क्षेत्र में प्रशिक्षित व्यक्तियों म अप्रशिक्षित व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक बेकारी है। इसी प्रकार शहरी क्षेत्रों में कानूनी पेशे तथा डाक्टरी पेशे के लोगों में बहुत बेकारी है। इजीनियरी पेशे की दशा अभी तक सतोषजनक है। रेलो में काम ढूँढने वालो की सख्या बहुत अधिक है किन्तु इनमें से अधिकाश व्यक्ति प्रशिक्षित नहीं हैं। शिक्षित बेकारी का मुख्य कारण हमारी शिक्षा प्रणाली है। बहुत पहले महात्मा गाँधी ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए कहा था कि 'नई शिक्षा प्रणाली किसी भी प्रकार से हमारी आवश्यकताओं को पूरा नहीं करती। शिक्षा के ऊँचे क्षेत्र म अग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बना देने से ऊपर के शिक्षित व्यक्तियों और नीचे के अशिक्षित व्यक्तियों जिनकी सख्या करोडो में है, के बीच

एक स्थायी दीवार खडी हो गई है। इसके कारण ज्ञान, नीचे की जनता तक नही पहुँच पाता। अग्रेजी भारतीय जीवन को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पगु बना देती है और व्यक्ति अपने ही देश में अजनवी बन जाता है।" इस प्रकार यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षा प्रणाली का रूप ही बदल जाना चाहिये। क्योकि यह हमारी आर्थिक विकास सम्बन्धी आवश्यकताओ के अनुकूल नही है। आर्थिक विकास की दृष्टि से शिक्षित बेकारी को दूर करने के लिये निम्न सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं — (१) वर्तमान शिक्षा प्रणाली में इस प्रकार सुधार होना चाहिये कि व्यक्तियों को पढने के तुरन्त बाद ही रोजगार प्राप्त हो जाये। इसके लिये यह आवश्यक होगा कि पहले हमें उन व्यक्तियों की सख्या मालूम करनी होगी जिनकी वास्तविक खपत विभिन्न व्यवसायो मे व्यक्तिगत रूप से हो सकती है, या जिनकी माँग उत्पन्न होने की आशा है। तत्पश्चात् विभिन्न व्यवसायो के लिये प्रशिक्षित व्यक्तियों की पूर्ति करने के लिये शिक्षा प्रणाली म उचित परिवर्तन करने होगे। (२) देश में यत्र कला तथा औद्योगिक प्रशिक्षण के लिये अधिक मात्रा म विशेष सस्थाएं स्थापित करनी चाहिये, और (३) देश मे एक अखिल भारतीय शिक्षा आयोग नियुक्त होना चाहिये जो नियोजन अवधि मे प्रत्येक अवस्था पर शिक्षित व्यक्तियो की माँग और पूर्ति का अध्ययन करता रहे और शिक्षा प्रणाली को सशोधित करने के लिये उचित सुझाव देता रहे। उत्तर प्रदेश की सरकार ने बेकारी की समस्या का अध्ययन करने के लिये सप्रू कमेटी की नियुक्ति की थी। यद्यपि समिति का कार्य क्षेत्र केवल उत्तर प्रदेश तक ही सीमित था और जो कुछ सुझाव इसने दिये वह मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश के लिये ही थे किन्तु उसके सुझावो को सारे ही भारत में लागू किया जा सकता है। हम यहाँ पर समिति के मुख्य सुझावों का उल्लेख करते हैं।

समिति का सुझाव था कि जिला बोर्डों तथा नगरपालिकाओ को बाध्य करना चाहिये कि वे सडके तथा इमारतो को अच्छी हालत म बनाये रखने के लिये कुशल तथा योग्य इजीनियरो की सेवाएं प्राप्त करें। यदि सरकार चाहे तो वह सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमो मे योग्य व्यक्तियों को नौकरी दे सकती है। ५५ साल पर रिटायर होने के क़ानून का कडा पालन किया जाये और किसी भी स्थिति म व्यक्तियो की सेवा अवधि को बढाया न जाये। किन्तु आश्चर्य की बात है कि उत्तर प्रदेश की सरकार ने समिति के सुझावो के विपरीत रिटायर होने की आयु ५५ से ५८ साल कर दी है। ऐसा कर देने से नवयुवको को रोजगार के अवसर तुरन्त ही प्राप्त नही हो सकेंगे। समिति का सुझाव था कि बडे और छोटे पैमाने के उद्योगो का साथ ही साथ विकास किया जाये ताकि वे अधिकाधिक सख्या में मनुष्यों को रोजगार प्रदान कर सकें। अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था तुरन्त ही की जाये। हाई स्कूल की परीक्षा मे दो प्रकार के प्रमाण-पत्र होने चाहियें। प्रथम शिक्षा की समाप्ती का और दूसरा कला विज्ञान व वाणिज्य सम्बन्धी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये होना चाहिये। इस प्रकार उच्च शिक्षा केवल उन्ही व्यक्तियो को प्राप्त होगी जो उसके योग्य हैं तथा यूनीवर्सिटी शिक्षा म अयोग्य विद्यार्थियो की सख्या

कम हो जायगी और शिक्षा का स्तर भी ऊँचा हो सकेगा। व्यवहारिक शिक्षा प्रदान करने के लिय जैसे डाक्टरी शिक्षा, निर्माण कला, हिसाब किताब रखने की कला, बीमा कार्य, हस्तकला आदि के विकास के लिये अधिक सुविधाऐं प्राप्त की जायें। सरकार का प्रयत्न यह होना चाहिये कि वह प्रशिक्षित व्यक्तियों का ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रो मे उचित बटवारा करने के लिये प्रयास करे।

रोजगार तथा प्रथम पचवर्षीय योजना—प्रथम योजना का निर्माण ऐसे समय पर हुआ था जब कि नियोजन आयोग को बेकारी की समस्या का आकार एव प्रकृति पूर्ण रूप से स्पष्ट नही थी और युद्धोत्तर काल की परिस्थितिया से उनकी दृष्टि बहुत कुछ धुधली हो गई थी। सन् १६५३ के आरम्भ से ही रोजगार सम्बन्धी चित्र म परिवर्तन होना आरम्भ हुआ और नियोजन आयोग के सामने जो आशावादी चित्र था वह अकस्मात ही अदृश्य हो गया और उसको कठोर वास्तविकताओं का सामना करना पडा। आयोग ने अतिरिक्त रोजगारो को प्रदान करने के लिये व्यवस्था की और इसी उद्देश्य से प्रथम योजना म व्यय की प्रारम्भिक राशि, जो २६६ करोड रुपये थी उसम ३०६ करोड रुपये की वृद्धि करनी पडी। नियोजन आयोग द्वारा सन् १६५३ के अन्त म रोजगार अवसरो म वृद्धि करने के लिये एक कार्यक्रम घोषित किया गया था जिसकी ११ मुख्य बाते थी। यह निम्न प्रकार है —

(१) सिंचाई शक्ति और निर्माण कार्यो से निकट स्थानो पर प्रशिक्षण क्षेत्रो की स्थापना करना ताकि व्यक्तियों को रोजगार अवसर प्राप्त हो सकें।

(२) व्यक्तियों को छोटे उद्योग तथा व्यापार स्थापित करने के लिए विशेष सहायता दी जाएगी।

(३) उन क्षेत्रो म जहाँ श्रम शक्ति का अभाव है प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान की जायेगी।

(४) कुटीर तथा लघु उद्योगो की वस्तुओं को प्रोत्साहन देने के लिए सरकारी दफ्तरों म अधिकाधिक मात्राओं मे खरीदा जायेगा।

(५) शिक्षा सम्बन्धी सस्था मे शहरो मे बालिग व्यक्तियों को शिक्षा प्रदान करने के लिए स्कूल खोले जायेंगे और ग्रामो मे एक मास्टर वाले स्कूल स्थापित किए जायेंगे या उनकी स्थापना के लिये उचित सुविधायें दी जायेगी।

(६) राष्ट्रीय विस्तार सेवा का तीव्र गति से विस्तार किया जायेगा।

(७) सडक यातायात का विकास किया जायेगा।

(८) श्रमिको के रहने के गन्दे स्थानो की सफाई सम्बन्धी योजनायें बनाई जायेंगी और शहरी क्षेत्रो म निम्न आय वर्गों के रहने के लिए मकान बनाने के कार्यक्रमो को कार्यान्वित किया जायेगा।

(६) निजी गृह निर्माण क्रियाओं को प्रोत्साहित किया जायेगा।

(१०) शरणार्थियो की कालोनी स्थापित करने के लिए नियोजित रूप से सहायता प्रदान करने की व्यवस्था की जायगी।

(११) प्रथम पचवर्षीय योजना में इस प्रकार उचित सशोधन किए जायेंगे

कि उन कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जा सके जिनमें रोज़गार प्रदान करने की अधिक क्षमता है।

इतने उत्साह पूर्ण कार्यक्रम की घोषणा के बाद भी प्रथम योजना बेकारी की समस्या को सुलझाने में लगभग असमर्थ ही रही। एक पिछड़े हुए देश में बेकारी की समस्या, विकास कार्यक्रम की मुख्य समस्या होती है, जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध देश में किये जाने वाले विनियोगों की मात्रा से होता है। प्रथम योजना काल में न तो विनियोगों में ही उन्नति हो सकी और न पूँजी निर्माण की गति ही तीव्र हो सकी। फिर भी प्रथम योजना भारतीय अर्थ व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने में सफल हुई और नियोजन आयोग को शक्ति प्रदान कर सकी कि वे दूसरी योजना में बेकारी की समस्या पर उचित ध्यान दे सके।

रोज़गार तथा दूसरी योजना—यह अनुमान है कि यदि भारत में बेकारी की समस्या को पूर्ण रूप से दूर करना है तो दूसरी योजना में लगभग १ ५३ करोड़ नये व्यक्तियों को रोज़गार प्रदान किया जाये। नियोजन आयोग ने नेशनल सेम्पिल सर्वे (National Sample Survey) के आँकड़ों का विश्लेषण करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला था कि दूसरी योजना के आरम्भ होने पर शहरों में लगभग २५ लाख व्यक्ति बेकार थे और जनसंख्या की वृद्धि के कारण ३८ लाख व्यक्ति और अधिक बढ़ गये थे। अत शहरों में बेकारों की संख्या ६३ लाख थी। अभी हाल ही में कृषि श्रम जाँच द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि प्रथम योजना के अन्त में कृषि क्षेत्र में बेकारों की संख्या २८ लाख थी जिसमें ६२ लाख व्यक्ति और बढ़ जायेंगे। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में बेकारों की कुल संख्या ९० लाख होगी। प्रश्न यह है कि क्या दूसरी योजना १५० लाख नये रोज़गार अवसर प्रदान कर सकेगी? वास्तव में ऐसा सोचना इस योजना से बहुत ऊँची आशा करना होगा और यदि हम आशावादी दृष्टिकोण अपना भी लें तो भी इतने व्यक्तियों को नौकरियाँ प्रदान करने के बाद भी स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं होगा क्योंकि दूसरी योजना के ५ वर्षों में जनसंख्या की वृद्धि से इतने ही व्यक्ति और बेकार हो जायेंगे।

दूसरी योजना में बेकारी दूर करने के लिये त्रिमुखी कार्य किया जायेगा। प्रथम, शहरों तथा गाँव में इस समय जो बेकार लोग हैं उनके लिये काम की व्यवस्था करनी होगी। दूसरे, काम ढूँढने वाले व्यक्तियों की संख्या में प्रति वर्ष २० लाख की जो वृद्धि होती है उसके लिये भी समुचित उपाय करना होगा, और तीसरे, ग्रामीण क्षेत्रों में जिन लोगों को पूरा काम नहीं मिलता तथा शहरों में जो व्यक्ति घरेलू कामों में लगे हुए हैं उनके लिये अधिक या पूरे समय के लिये काम की व्यवस्था करनी होगी। राज्य तथा केन्द्र मन्त्रालयों ने जो आँकड़े भेजे हैं और निजी क्षेत्र में उत्पादन बढ़ने से जो नये रोज़गार मिलने का अनुमान है उनके आधार पर यह हिसाब लगाना सम्भव हो गया है कि दूसरी योजना के कार्यान्वित होने पर नौकरी के जो अतिरिक्त स्थान प्राप्त होंगे वे निम्न प्रकार हैं :—

(संख्या लाखों में)

१	निर्माण कार्य	२१००
२	सिंचाई तथा बिजली	५१
३	रेलवे	२५३
४	अन्य परिवहन तथा संचार	१८०
५	उद्योग तथा खनिज	८००
६	कुटीर तथा छोटे उद्योग	४·५०
७.	वन विकास, मत्स्य पालन, राष्ट्रीय विस्तार सेवा तथा अन्य योजनायें	४·१३
८	शिक्षा	२·६०
९.	स्वास्थ्य	११६
१०.	अन्य सामाजिक सेवायें	१४२
११	सरकारी सेवायें	४३४
	(१ से ११ तक का योग)	५१९९
१२.	व्यापार और उद्योग समेत 'अन्य रोजगार में	२७०४
	कुल योग	७९·०३

अर्थात् ८० लाख के आस-पास

यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि विकास सम्बन्धी व्यय से दो प्रकार के रोजगार सुलभ हो सकते हैं। प्रथम, उत्पादक या आर्थिक रोजगार जिससे देश के उत्पादन में वास्तविक वृद्धि होती है, और दूसरा 'मुक्ति रोजगार' जो आय तथा रोजगार में वृद्धि तो करता है किन्तु देश के वास्तविक उत्पादन में वृद्धि नहीं करता है। यदि यह निर्माण कार्यों में उत्पन्न होता है तो एक ओर तो सामाजिक पूँजी में वृद्धि होती है और दूसरी ओर बेकार व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त होता है। यह रोजगार ऐसी योजनाओं में प्राप्त हो सकता है जैसे सड़क व पुल बनाना, बाँध बनाना इत्यादि। किन्तु यदि मुक्ति रोजगार घरेलू तथा कुटीर उद्योगों के विस्तार द्वारा प्रदान होता है तो सामाजिक उत्पत्ति में कठिनाई से ही कोई वृद्धि हो सकेगी। सरक्षित कुटीर उद्योगों में जो रोजगार में वृद्धि होती है उसको आर्थिक रोजगार की वृद्धि नहीं स्वीकार किया जा सकता। वह तो केवल एक प्रकार का 'मुक्ति रोजगार' ही है जिसकी तुलना अन्य प्रकार के अनुत्पादक कार्यक्रमों पर किय गये व्यय से भली-भाँति की जा सकती है।

दूसरी योजना में रोजगार सम्बन्धी नीति की मुख्य विशेषता यह है कि नियोजन आयोग ने अधिक से अधिक रोजगार अवसरों को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है और मुक्ति रोजगार को अधिक महत्व प्रदान किया है। घरेलू तथा कुटीर उद्योगों के साथ साथ भारी उद्योगों का विकास करने का विचार सर्वप्रथम प्रो० महलनोबिस ने प्रस्तुत किया था। "सरकारी क्षेत्र में भारी उद्योगों में विनियोगों

द्वारा क्रय शक्ति में वृद्धि करके और स्वास्थ्य शिक्षा एवं सामाजिक सेवाओं पर व्यय करके और उपभोक्ता वस्तुओं की बढ़ती हुई मांग को एक ऐसी वस्तुओं की नियोजित वस्तुओं द्वारा पूरी करके", प्रो० महलनोबिस ने तीव्र औद्योगीकरण और बेकारी की समस्याओं को दूर करने का प्रस्ताव दिया था। और यह प्रस्ताव दूसरी योजना का आधार-स्तम्भ बन गया। बाद में यह ज्ञात हुआ कि उपलब्ध पूँजी का अधिकांश भाग भारी उद्योगों के विकास के लिए ही उपयोग कर लिया जायेगा और तब भी पर्याप्त रोज़गार अवसर सुलभ नहीं हो सकेंगे। भारी उद्योगों के विकास के बाद जो कुछ थोड़ी पूंजी बच रहेगी वह उपभोक्ता सगठित वस्तुओं के उद्योगों के विकास के लिए काफी नहीं रहेगी। इसीलिये उपभोक्ता वस्तुओं की नियोजित पूर्ति तथा बेकारी की समस्याओं को सुलझाने के लिये कुटीर तथा घरेलू उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया गया। किन्तु घरेलू तथा कुटीर उद्योगों में, उत्पत्ति के प्राचीन ढगों तथा औज़ारों के प्रयोग के कारण, इतनी शक्ति नहीं है कि वे एक ही प्रकार की वस्तुओं के उत्पन्न करने में उपभोक्ता वस्तुओं के सगठित उद्योगों से प्रतियोगिता कर सकें। इसीलिये यह निश्चय किया गया था कि कुटीर तथा घरेलू उद्योगों के विकास के लिए एक बड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता प्रदान की जाय और मशीन से उत्पन्न की जाने वाली उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित न किया जाय। इस नीति का परिणाम यह हुआ, जैसा कि दूसरी योजना के प्रथम दो वर्षों की प्रगति से स्पष्ट है कि मुक्ति' प्रकार के रोजगार में कुछ वृद्धि अवश्य हुई किन्तु यह वृद्धि दीर्घकालीन दृष्टिकोण से पूर्णतया अनार्थिक है। अब जब कि यह पूर्णतया निश्चित है कि योजना में सम्मिलित किये गये सारे कार्यक्रमों को पूरा करना सम्भव नहीं है तो यह अच्छा होगा कि नियोजन आयोग विनियोगों के कार्यक्रमों को पुन निर्धारित करे ताकि उपभोक्ता वस्तुओं के सगठित उद्योग जिनमें घरेलू उद्योगों की अपेक्षा उत्पत्ति के उन्नत ढगों का प्रयोग होता है, अपनी पुरानी स्थिति को प्राप्त करने योग्य हो जायें और समाज को अधिक लाभ प्रदान कर सकें। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम कुटीर उद्योगों के विकास एवं विस्तार सम्बन्धी नीति का तिरस्कार कर रहे हैं किन्तु हमारा विचार यह अवश्य है कि कृषि से सम्बन्धित ग्रामीण उद्योगों का ही विकास किया जाय, क्योंकि एक तो यह उत्पादक रोज़गार अवसरों को प्रदान करने के सामर्थ्य है और दूसरे इनका विकास कृषि के विकास के साथ साथ ही सुगमता से किया जा सकता है। मशीनों तथा यन्त्र कला से सम्बन्धित छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों का विकास भी आवश्यक है क्योंकि यह बड़े उद्योगों के सहायक उद्योग हैं। निरन्तर बढ़ती हुई अर्थ व्यवस्था में जहाँ कृषि, यातायात और उद्योगों के विकास को उचित महत्व दिया जा रहा है, मरम्मत करने वाले छोटे-छोटे उद्योगों का भी विशेष महत्व है क्योंकि इन उद्योगों में उत्पादक रोजगार सुलभ हो सकेंगे। यह सराहनीय है कि नियोजन आयोग ने दूसरी योजना के अन्तिम रूप में इस समस्या की ओर ध्यान दिया है। यह अधिक अच्छा होता यदि दूसरी योजना को बनाते समय भारी उद्योगों में विनियोग की राशि को कुछ कम कर दिया जाता

और इस प्रकार जो पूँजी बचती उसको उपभोक्ता वस्तुओं के सगठित उद्योगों के विकास में लगा दिया जाता जिससे न केवल मुद्रा प्रसार को रोकने में ही सहायता मिलती वरन् उत्पादक रोज़गारों के नये अवसर भी प्राप्त हो जाते। वास्तव में नियोजन आयोग को उपलब्ध वास्तविक साधनों तथा रोजगार और उत्पादन लक्ष्यों में सामजस्य स्थापित करने में अधिक समय देना चाहिये था और अधिक बुद्धिमानी स काम लेना चाहिये था।

यह स्वीकार करने मे किसी को भी आपत्ति नहीं होगी कि भारत में बेकारी की समस्या बहुत ही भीषण है और केवल विभिन्न प्रकार के छोटे तथा बडे उद्योगों के विकास से ही दूर नही की जा सकती। इसीलिए यह आवश्यक है कि हम ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कें, कुएँ, नहरों नालियों आदि को बनवाने, बेकार भूमि को खेती योग्य बनाने आदि जैसे कामों मे जिनम अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है, 'मुक्ति' प्रकार के रोजगार प्रदान करने पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करें और कुटीर उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर रोजगार प्रदान करने की ओर अधिक महत्व न दें। यद्यपि नियोजन आयोग ने सामुदायिक विकास क्षेत्रों में इस प्रकार के कार्यक्रमों को कार्य-रोपित करने का प्रयत्न किया है किन्तु उन्होंने प्रो० महल नॉविस की विधि को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करके और उपभोक्ता वस्तुओं के सगठित उद्योगों की अपेक्षा भारी उद्योगों के विकास की ओर ध्यान देकर एक न्यायशील रोज़गार नीति का निर्माण नहीं किया है।

पुस्तक—चौथी



आर्थिक नियोजन

अध्याय 1

आर्थिक नियोजन के सिद्धान्त
(Fundamentals of Planning)

प्राक्कथन—

आर्थिक नियोजन का विचार मुख्य रूप से २०वी शताब्दी की ही देन है। वैसे तो नियोजन मानवीय जीवन का एक अग है और कोई भी मानवीय क्रिया ऐसी नही है जिसम सफलता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति पहले से उसकी कार्यविधि का नियोजन न करता हो। अनादि काल से ही मनुष्य की यह प्रकृति चली आ रही है। किन्तु सभ्यता के विकास, जनसख्या की वृद्धि, विज्ञान की प्रगति अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एव निर्भरता की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य का आर्थिक जीवन इतना सरल एव साधारण नही रहा जितना मानव जीवन की प्रारम्भिक अवस्था मे था। आर्थिक जीवन की जटिलता, विषमता एव अनिश्चितताये इतनी अधिक होती गई कि मनुष्य की जीवन नौका सदैव ही मूल्यो के उतार चढाव रूपी थपेडो से टकरा कर इधर-उधर शांति एव स्थिरता की खोज में भटकने लगी। आर्थिक जीवन की कठोर परम्पराओ ने सामाजिक एव राजनैतिक जीवन पर भी अपनी छाया डालनी आरम्भ कर दी और इस प्रकार सम्य तथा शिक्षित मानव समृद्धि एव मदी के बीच भटकने लगा। अन्त में मनुष्य ने अपने आर्थिक जीवन को नियोजित करने की ठानी। वास्तव में आजकल बिना नियोजन के आर्थिक जीवन सम्भव ही नही है। अनियोजित क्रियाओ से लक्ष्य की पूर्ति कदापि सम्भव नही है। प्रो० रॉबिन्स ने ठीक ही तो कहा है कि सही शब्दो म "सम्पूर्ण आर्थिक जीवन में नियोजन की आवश्यकता होती है ··· ··योजना बनाना किसी उद्देश्य से कार्य करना, चुनना है और चुनाव ही आर्थिक क्रिया का निचोड है।"[1] इसम कोई सदेह नही कि नियोजन कार्य म एक लक्ष्य निर्धारित करना पडता है, देश के उपलब्ध साधनो को छाटना पडता है और प्रारम्भिक अवस्था मे आर्थिक जीवन की अनेको समस्याओ म से केवल कुछ ही समस्याओ को चुन कर उनका समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है। मनुष्य का आर्थिक जीवन बडा ही जटिल है। अनन्त आवश्यकताओ की पूर्ति मनुष्य को सीमित साधनों द्वारा करनी पडती है, उसे चुनाव की आवश्यकता होती है और नियोजन का सहारा लेना

1 L. Robbins, *Economic Planning and International Order*, Page 4

पडता है क्योंकि साधनों को असीमित बनाना उसके वश की बात नहीं और आवश्यकताओं को सीमित करने का काम केवल वह चुनाव द्वारा काँट-छाँट करके ही करता है। इसीलिए तो रॉबिन्स 'चुनाव' को आर्थिक क्रिया का निचोड़' मानता है। किन्तु रॉबिन्स की इस परिभाषा से आर्थिक नियोजन का असली रूप पता नहीं लगता। वास्तव में यह परिभाषा तनिक विस्तृत है। जिन लोगों को आर्थिक सिद्धान्तों का कुछ थोड़ा सा भी ज्ञान है उन लोगों के अनुसार नियोजन एक ऐसी विधि है जिसमें सावधानी तथा पूर्वनिश्चित केन्द्रीय नियन्त्रण द्वारा सामाजिक ढांचे के रूप को बदलने का प्रयत्न किया जाता है और देश के प्राकृतिक साधनों का उपयोग पूर्वनिश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। नियोजन संस्था का मुख्य कर्त्तव्य यह होता है कि वह यह मालूम करे कि योजना के उद्देश्यों की पूर्ति अधिक से अधिक मितव्ययिता के साथ किस प्रकार की जा सकती है। रॉबिन्स की परिभाषा में यही त्रुटि है कि उन्होंने जिस अर्थ में नियोजन शब्द का प्रयोग किया है अधिकतर उसका प्रयोग इस अर्थ में होता नहीं है। यदि हम आर्थिक नियोजन का यह अर्थ लें तो सयुक्तिकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध इत्यादि भी नियोजन में ही सम्मिलित किये जा सकते हैं। रॉबिन्स का अभिप्राय व्यक्तिगत नियोजन से था परन्तु आर्थिक नियोजन का अर्थ सामूहिक एवं केन्द्रीय नियोजन से लिया जाता है। आजकल मनुष्य के जीवन को सुखी बनाने के लिए तथा आर्थिक जीवन में स्थिरता लाने के लिए देश की अर्थ व्यवस्था के समस्त भागों में समन्वय स्थापित करना पड़ता है और उसमें बुनियादी परिवर्तन करने पड़ते हैं जो केवल केन्द्रीय नियोजन द्वारा ही सम्भव होता है।[2]

लिवू लार्विन के शब्दों में योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था, 'आर्थिक संगठन की एक ऐसी प्रणाली है जिसमें सारे व्यक्ति तथा अन्य यन्त्रादि, उपक्रम और उद्योग एक सम्पूर्ण व्यवस्था की समन्वित इकाइयाँ मानी जाती हैं, ताकि तमाम उपलब्ध साधनों का एक निश्चित अवधि के अन्दर किसी समुदाय की आवश्यकताओं की अधिकतम सतुष्टी करने के उद्देश्य से उपयोग किया जा सके। इसके मुख्य लक्षण यह हैं, प्रत्येक उत्पादक इकाई की सम्पूर्ण प्रणाली पर निर्भरता, उत्पादन तथा उपभोग का सतुलन और किसी ऐसे मिलान कराने वाले केन्द्र की उपस्थिति जो जानबूझ कर आर्थिक प्रणाली के उद्देश्यों को निश्चित करे और उसके अलग अलग तथा भिन्न भिन्न तत्वों का उचित उपयोग करने का निश्चय करे।"[3]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार आर्थिक नियोजन के तीन उद्देश्य होते हैं। प्रथम देश के सम्पूर्ण साधनों का अधिकतम उपयोग करना। दूसरे, उत्पत्ति तथा उपभोग के बीच सन्तुलन स्थापित करना और तीसरे, व्यक्तियों की आवश्यकताओं की अधिकतम सतुष्टि करने के लिए साधनों का उपयोग करना। जैसा कि उपर्युक्त परिभाषा में

2 A Ghosh, *New Horizons in Planning* Page 1

3 Lewis Lorwin, *Report of the Amsterdam Conference on World Social Planning*, Page 714.

बताया गया है आर्थिक नियोजन का कार्य केवल एक मिलान करने वाले केन्द्र द्वारा ही होता है, अर्थात् आर्थिक नियोजन के लिए एक केन्द्रीय संस्था का होना आवश्यक है।

डिकिनसन ने बड़े ही सुन्दर ढंग से आर्थिक नियोजन की विशेषताओं का उल्लेख किया है। वह कहते हैं कि, "आर्थिक नियोजन बड़े-बड़े आर्थिक निर्णयों का करना है—क्या और कितना उत्पन्न होना है, किस प्रकार, कब और कहाँ यह उत्पन्न होना है और इसका निर्धारण किसके लिए होना है—एक ऐसे निश्चय करने वाले पदाधिकारी के जाने बूझे निर्णय के अनुसार होता है जो सम्पूर्ण प्रणाली की विस्तृत जाँच द्वारा निश्चित होता है।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर आर्थिक नियोजन की विशेषताओं की गणना निम्न प्रकार की जा सकती है —

आर्थिक नियोजन की विशेषतायें—(१) प्रथम, एक निश्चित नियोजन अधिकारी की उपस्थिति अनिवार्य है जो देश के विकास के सम्बन्ध में निश्चित निर्णय लेता है। यह अधिकारी या तो सरकार स्वयं हो सकती है या कोई अन्य संस्था, जिसको सरकार नियुक्त करदे। यह अधिकारी देश के सम्पूर्ण साधनों की जाँच पड़ताल करती है, विकास के लक्ष्यों को निर्धारित करता है और उनकी प्राप्ति के लिए विधि निश्चित करता है। नियोजन अधिकारी स्वतन्त्र या तानाशाही भी हो सकता है और इस पर संसद का नियन्त्रण भी हो सकता है।

(२) दूसरे, नियोजन अधिकारी जितने भी निर्णय लेता है वे सब सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की विस्तृत जाँच पर निर्भर होते हैं। यह सभी उपलब्ध साधनों की गणना करता है, सारी अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रखता है और साधनों का बटवारा करते समय सारी अर्थव्यवस्था को दृष्टि में रखता है, अर्थात् यह किसी एक वर्ग विशेष को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से कार्य नहीं करता।

(३) तीसरे, नियोजन अधिकारी विभिन्न साधनों को विभिन्न उपयोगों में बाँटते समय सचेत होकर बड़ी सावधानी से निर्णय लेता है, क्योंकि उसके द्वारा लिये गये निर्णयों के परिणाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। वास्तव में यह सच ही है कि, "नई प्रणाली तथा नई कला से जो कुछ प्राप्त करने के प्रयत्न किये जाते हैं वे उत्पादन की कुशलता, अर्थ व्यवस्था की स्थिरता और वितरण की न्यायशीलता है।"[5] श्रीमती बारबरा ऊटन का भी यही कथन है कि नियोजन का अभिप्राय "किसी राजकीय पदाधिकारी द्वारा आर्थिक प्राथमिकताओं के जाने बूझे तथा सचेत निर्णय", में है।[6]

उपर्युक्त विवरण से आर्थिक नियोजन का अर्थ तथा उसके उद्देश्यों का भली भाँति स्पष्टीकरण हो गया होगा। किन्तु प्रश्न यह है कि आर्थिक नियोजन की

4. *Economics of Socialism* Page 14
5. N S Subba Rao, *Some Aspects of Planning*, Page 5.
6. *Freedom under Planning*, Page 12

आवश्यकता क्यों होती है ?

आर्थिक नियोजन की आवश्यकता क्यों ?—१९ वी शताब्दी के अन्त तक संसार में निर्बाधावादी नीति का बोलबाला था। लेखकों का विचार था कि यदि व्यक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये तो वह पूर्ण प्रतियोगिता तथा स्वय हित के प्रभाव से अपने अपने साधनों का अधिकतम उपयोग करने का प्रयत्न करेंगे जिससे अन्त में अपने आप ही समाज के साधनों का अधिकतम उपयोग हो जायेगा। उनका विचार था कि अनियोजित अर्थव्यवस्था योजनाहीन नहीं होती। वास्तव में मूल्य यन्त्र के निर्देशन में उसमें नियोजन का अंश योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था की अपेक्षा अधिक होता है। किन्तु उनके यह विचार बहुत अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रह सके और विभिन्न आर्थिक घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि अनियोजित अर्थ व्यवस्था ने बहुत सी ऐसी विषमताओं को जन्म दिया है जिन से मनुष्य का आर्थिक जीवन पूर्ण रूप से अनिश्चित हो गया। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की व्यवस्था में प्रतियोगिता के कारण होने वाली अपव्ययिता पाई जाती है तथा निजी लाभ के कारण देश के साधनों का अधिकतम उपयोग भी नहीं होता क्योंकि साधन ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में लगाये जाते हैं जिनसे सामान्य हित में वृद्धि न होकर केवल व्यक्तिगत हित ही अग्रसर होता है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में धन का वितरण असमान होता है आर्थिक अस्थिरता आती है और एकाधिकार संघों को जन्म मिलता है। हम इस शताब्दी के आरम्भ के तीस वर्षों में मंदीकाल के कठोर परिणामों को देख ही चुके हैं। अतः इन सब दोषों को दूर करने के लिये नियोजन ही एकमात्र अस्त्र है।

आर्थिक नियोजन के ढङ्ग—नियोजन का कार्य या तो नियोजन अधिकारी के (1) निर्देशनों के अनुसार हो (2) सकता है या नियोजन अधिकारी द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए व्यक्तियों में सहयोग प्रदान करने की रुचि उत्पन्न करके किया जा सकता है। निर्देशन द्वारा नियोजन में नियोजन अधिकारी उत्पादन के लक्ष्यों को निर्धारित करने के पश्चात व्यक्तियों को निश्चित विधि के अनुसार काम करने का आदेश देता है या उनको कुछ विशेष क्रियाओं को करने से रोकता है अर्थात ऐसी क्रियाओं जिनसे लक्ष्यों की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होने का डर होता है। उदाहरणार्थ नियोजन अधिकारी आयात तथा निर्यात पर नियन्त्रण लगा सकता है कुछ विशेष वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण पर प्रतिबन्ध लगा सकता है वस्तुओं के मूल्य तथा गुणों को नियन्त्रित कर सकता है, केन्द्रीय बैंक की नोट प्रकाशित करने की नीति को निश्चित कर सकता है विदेशी विनिमय सम्बन्धी नियन्त्रण लगा सकता है इत्यादि। सारांश में वह व्यक्तियों की उन सारी क्रियाओं को नियन्त्रित कर सकता है जिनमें अर्थव्यवस्था में हानि पहुँचने की आशा होती है और साथ ही वह साधनों को विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों में बाँट देता है और व्यक्तियों को उसके द्वारा निर्धारित उपयोगों में ही साधनों का प्रयोग करना पड़ता है।

किन्तु निर्देशन द्वारा नियोजन का कार्य सरल नहीं होता। इसमें अनेकों

कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं।[7] प्रथम इस प्रकार का नियोजन तानाशाही को जन्म देता है। अधिकारीगण सभी दिशाओं में अपना रौब जमाने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। क्योंकि संसद किसी प्रकार से भी नियोजन अधिकारी के कार्यों पर कड़ी निगाह नहीं रख सकती है और इस प्रकार ऐसे नियोजन में ऐसे निर्णय लिये जाते हैं जिनसे कभी कभी व्यक्तियों का अहित भी हो जाता है। दूसरे, ऐसे नियोजन में एक बिलकुल निश्चित एवं सही निश्चय की आवश्यकता होती है ताकि यह तय किया जा सके कि विभिन्न साधनों का उपयोग किस प्रकार किया जायेगा। किन्तु ऐसी सही और सम्पूर्ण गणना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है, क्योंकि एक ही साधन कई उपयोगों में रखा जा सकता है और साधन विशेष के विभिन्न उपयोग वातावरण तथा परिस्थितियों के अनुसार निश्चित होते रहते हैं। तीसरे, यदि किसी एक निश्चित समय में यह गणना सम्भव भी हो तो परिस्थितियों के परिवर्तनों से उसमें गड़बड़ी उत्पन्न हो जायेगी। प्राकृतिक आपत्तियाँ तो बड़े से बड़े निश्चय को समाप्त कर देती हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी देश में अनाज का इतना भण्डार जमा कर लिया है कि जनसंख्या की आवश्यकताओं को देखते हुए वह कई वर्षों के लिए काफी होगा किन्तु यदि किसी एक वर्ष में बाढ़ आ जाने के कारण या सूखा पड़ जाने के कारण या भूचाल आ जाने के कारण अनाज का वह भण्डार जितने वर्षों के लिए पर्याप्त था उतने समय के लिये अब पूरा नहीं हो पायगा और यह स्पष्ट ही है कि नियोजन अधिकारी के समस्त निर्णयों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। चौथी कठिनाई इस प्रकार के नियोजन में यह होती है कि क्योंकि देश के सभी भागों का विकास एक दूसरे से सम्बन्धित होता है और उत्पादन के विभिन्न लक्ष्य भी एक दूसरे पर निर्भर होते हैं और किसी एक क्षेत्र में संशोधन करने का अभिप्राय यह होगा कि सभी क्षेत्रों में संशोधन करने होंगे इस लिये नियोजन अधिकारी सदैव ही इस बात का प्रयत्न करता है कि योजना के किसी भाग में भी कोई परिवर्तन न किया जाये, और वह इस ओर किये जाने वाले प्रत्येक प्रयत्न का विरोध करता रहता है चाहे योजना का संशोधन देश के हित ही में क्यों न हो। इस प्रकार के नियोजन की अन्तिम कठिनाई यह है कि योजना को बनाने तथा कार्यान्वित करने के लिये एक बहुत बड़े संगठन की आवश्यकता होती है। ऐसा संगठन महँगा भी होता है और अपव्ययी भी। इसका सम्पूर्ण नियन्त्रण सम्भव नहीं होता और संगठन के विभिन्न भागों में समन्वय भी स्थापित नहीं हो पाता।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं दूसरे प्रकार के नियोजन में नियोजन अधिकारी व्यक्तियों को समझा बुझा कर या अपनी कर सम्बन्धी तथा वित्तीय और मूल्य सम्बन्धी नीतियों से व्यक्तियों को अप्रत्यक्ष रूप से इस बात के लिये विवश कर देता है कि वे उसी प्रकार काम करें जैसा कि नियोजन अधिकारी चाहता है। उत्पादन तथा उपभोग को बहुत सीमा तक करारोपण तथा राजकीय व्यय द्वारा प्रभावित

7. Cf W. A. Lewis, *The Principles of Economic Planning*, page 19

किया जा सकता है। जिन उद्योगो को सरकार प्रोत्साहित करना चाहती है उनकी वस्तुओ को कर मुक्त कर सकती है या उनको आर्थिक सहायता दे सकती है या संरक्षण प्रदान कर सकती है और जिन वस्तुओ के उत्पादन को वह कम करना चाहती है उन पर वह कर लगा सकती है या उनको प्रदान की गई कर सम्बन्धी रियायतो को समाप्त कर सकती है। सरकार किसी वस्तु का उत्पादन बढाने के लिये स्वय भी उस उद्योग मे भाग ले सकती है। इसी प्रकार सरकार अपनी मौद्रिक नीति से देश मे उत्पादन तथा व्यापार की क्रियाओ को बढावा दे सकती है या शिथिल कर सकती है। मूल्य प्रणाली में उचित परिवर्तन करके सरकार अपनी इच्छानुसार देश मे व्यक्तियो की क्रियाओ की दिशाओ को निर्धारित कर सकती है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि व्यक्तियो को समझा बुझा कर नियोजन करने का कार्य प्रत्येक अवस्था मे सफल हो जाता है। इस प्रकार के नियोजन के मार्ग मे भी अनेकों प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। प्रथम, इस प्रकार का नियोजन देश की आवश्यकताओ तथा वस्तुओ की पूर्ति के बीच समायोजन स्थापित करने में असमर्थ रहता है और इसलिये किसी न किसी प्रकार की कमी या आधिक्य उपस्थित रहता है। दूसरे, उत्पत्ति के साधनों म इतनी कम गतिशीलता होती है कि केवल समझाने बुझाने से ही उनमे आवश्यक परिवर्तन उत्पन्न नही किये जा सकते। तीसरे मनुष्यों की प्रकृति ही कुछ ऐसी होती है कि यदि कुछ आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति कम है तो व्यक्ति को उन वस्तुओ के उपभोग को कम करने के लिये केवल समझाना बुझाना ही काफी नही होता। अन्त म, आवश्यकता से अधिक करारोपण देश म व्यक्तियो की बचत करने तथा कार्य करने की शक्ति एव इच्छा पर बुरा प्रभाव डाल सकता है और इसी प्रकार अनुचित मौद्रिक उपायो से देश मे मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा सकुचन उत्पन्न होने का भय होता है।

अत, स्पष्ट है कि व्यावहारिक जीवन में दोना ही प्रकार के नियोजन अपने अपने स्थान पर अकेले ही सफल नही हो सकते। किसी क्षेत्र मे व्यक्तियो को समझा बुझा कर लक्ष्यो की पूर्ति की जा सकती है और किसी क्षेत्र मे व्यक्तियो को आदेश देकर और दबाव डाल कर सहयोग प्रदान करने के लिये बाध्य किया जा सकता है। इसलिये आवश्यक यह है कि दोनो ही प्रकार के नियोजनो का प्रयोग किया जाये। नियोजन काल में कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रो मे पहले प्रकार की विधि अपनाई जाये और कुछ एसे क्षेत्रो में जहाँ दबाव की आवश्यकता नही है दूसरी विधि का प्रयोग किया जाये। लियड्स का कहना है, कि साधारण परिस्थितियो में नियोजन का प्रमुख अस्त्र बजट होना चाहिये। किन्तु, 'प्रगतिशीलताओ के कारण अर्थ व्यवस्था के उन सभी भागो मे नियन्त्रणो का उपयोग करना होगा जहां पर माग तथा पूर्ति के बीच असन्तुलन है।"[8]

आर्थिक नियोजन के विभिन्न रूप—आर्थिक नियोजन के दो रूप होते हैं एक तो साम्यवादी नियोजन और दूसरा प्रजातन्त्रीय नियोजन। साम्यवादी नियोजन के

8 *Op cit*, Page 28.

अन्तर्गत एक साम्यवादी अर्थ व्यवस्था स्थापित करने के लिये नियोजन किया जाता है और प्रजातन्त्र स्थापित करने के लिये जो नियोजन कार्य किया जाता है वह पूर्णरूप से प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार होता है। साम्यवादी नियोजन में सरकार का, उत्पादन, उपभोग, वितरण आदि सभी क्षेत्रों में स्वामित्व होता है। दूसरी ओर प्रजातन्त्रीय नियोजन में योजना के बनाने, उसको कार्यान्वित करने, लक्ष्यों को निर्धारित करने आदि सभी काम जनता की सलाह तथा परामर्श से किया जाता है। साम्यवादी रूस ने साम्यवादी नियोजन को सर्वप्रथम अपनाया था। सोवियत नियोजित अर्थ व्यवस्था में व्यक्तिगत जीवन पर कड़े नियन्त्रण लगा दिये गये और व्यक्तिगत क्रियाओं पर सरकारी नियमों का एक जाल सा बिछा दिया गया था। निजी उपक्रमों तथा स्वतन्त्र बाजार प्रणालियों को पूर्णतः कुचल दिया गया था। रूसी नियोजकों का मुख्य उद्देश्य अर्थ व्यवस्था में शीघ्र ही भारी परिवर्तन उत्पन्न करना था और विकास कार्यक्रम को तीव्र गति से सम्पन्न करना था, इसलिये उन्होंने अपनी दृष्टि केवल पूँजीगत वस्तुओं, मशीनों आदि पर ही केन्द्रित की और उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन को बढाने की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया। रूसी जनता को अपना स्तर कम करने के लिये विवश किया गया और अनेकों प्रकार की कठिनाइयाँ जनता को सहन करनी पड़ीं। इस प्रकार रूसी साम्यवादी नियोजन में जनता की अन्तरात्मा कराह उठी थी और आर्थिक विकास की वेदी पर जनता के सुख और उसकी स्वतन्त्रता की बलि चढ़ गई थी। साम्यवादी नियोजित अर्थ व्यवस्था की विशेषतायें संक्षेप में इस प्रकार हैं—प्रथम, देश के समस्त साधनों पर सरकार का स्वामित्व होता है और सरकार उनका उपयोग अपने आप ही निर्धारित किये हुये उद्देश्यों की पूर्ति के लिये करती है। दूसरे, ऐसी अर्थ व्यवस्था में निजी उपक्रम का कोई भी स्थान नहीं होता, तीसरे, नियोजन कार्य सरकार के निर्देशन के अनुसार किया जाता है। यद्यपि इसमें व्यक्तियों को समझा बुझा कर लक्ष्यों की पूर्ति की जाती है किन्तु समझाने बुझाने का महत्त्व बहुत ही कम होता है।

साम्यवादी नियोजन के बिल्कुल विपरीत प्रजातन्त्रीय नियोजन होता है। इस के दो रूप होते है, एक तो पूंजीवादी आर्थिक नियोजन और दूसरा अमेरिका, इंगलैंड आदि देशों में अपनाया गया था। अमेरिका में नियोजन कार्य मुख्य रूप से सन् १९३० के महान अवसाद की बुराइयों को दूर करने के लिये किया गया था और इंगलैंड में दूसरे महायुद्ध के बाद इङ्गलैंड की अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण के हेतु आर्थिक नियोजन का सहारा लिया गया था। जर्मनी और इटली में भी इसी प्रकार का नियोजन किया गया था, किन्तु वह अधिक विस्तृत था। ऐसे नियोजन कार्य में व्यक्तियों की निजी क्रियाओं को नियमित किया जाता है और जानबूझ कर आर्थिक सम्बन्धों की व्यवस्था की जाती है। यह व्यवस्था स्वतन्त्र प्रतियोगिता और निजी उपक्रम पर आधारित की जाती है। इस प्रकार के प्रजातन्त्रीय नियोजन से व्यक्तियों की आर्थिक दशा भी सुधर जाती है, रोजगार के नये अवसर भी प्राप्त होते हैं,

व्यक्तियों की क्रय शक्ति में वृद्धि होती है और उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है। किन्तु इसमें व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों में कोई हेरफेर नहीं होते हैं और न व्यक्तियों में कोई अशान्ति ही उत्पन्न होती है। वास्तव में इस प्रकार की अर्थ व्यवस्था को सही अर्थ में नियोजित अर्थ व्यवस्था नहीं कह सकते, क्योंकि सरकार केवल कुछ ही क्षेत्रों में हस्तक्षेप करती है और काफी अंश तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बनी रहती है। इटली और जर्मनी में नियोजित पूँजीवाद को जन्म दिया गया था। इसमें आर्थिक नियोजन का अंश अमेरिका और इङ्गलैंड की अपेक्षा अधिक था। उत्पत्ति के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व रहते हुए भी उत्पादन, मूल्य निर्धारण, व्यापार, संक्षेप में सम्पूर्ण आर्थिक जीवन पर सरकार का नियन्त्रण था और सभी क्रियाएँ सरकार के निर्देशन में की जाती थीं।

दूसरे प्रकार का प्रजातन्त्रीय नियोजन पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत और अधिक केन्द्रीय होता है। वास्तव में यह साम्यवादी नियोजन और पहले प्रकार के प्रजातन्त्रीय नियोजन के बीच की व्यवस्था होती है और यह अर्ध विकसित देशों की प्रजातन्त्रीय सरकार के लिये सबसे उपयुक्त विधि होती है। पिछड़े हुए देशों की सरकार द्वारा इस विधि को अपनाने का अभिप्राय यह होगा कि सरकार का कर्त्तव्य राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना है और यह निश्चित करना है कि बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय का उपयोग उपभोग के लिए न होकर विनियोग के लिए किया जाता है। किन्तु यदि सरकार वास्तव में प्रजातन्त्रीय है तो यह लगभग असम्भव होगा कि वह देश का आर्थिक विकास तेजी से करने के लिए उपभोग को निम्नतम सीमा पर स्थिर कर दे। प्रजातन्त्रीय नियोजन में जनता की भलाई एवं कल्याण का विशेष महत्व होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि विकास और कल्याण के उद्देश्यों में एक ऐसा समझौता स्थापित किया जाये कि दोनों की उन्नति होती रहे। वास्तव में भारतीय आर्थिक नियोजन में यही विधि अपनाई गई है। भारत जैसे पिछड़े हुए देश की जनता के कल्याण एवं देश के विकास के लिए साधनों का सप्रभाविक उपयोग की ओर किये गये समुचित एवं केन्द्रीय नियोजन के कार्यों के उत्तम उदाहरण, भारत की पंचवर्षीय योजनायें हैं। दूसरी योजना में भारी उद्योगों के साथ साथ छोटे उद्योगों का भी विकास किया जा रहा है। भारी उद्योगों से मशीनों का उत्पादन बढ़ेगा जो देश के भावी उद्योगीकरण के लिये नितान्त आवश्यक है। छोटे उद्योगों से, दूसरी ओर घरेलू जीवन की आवश्यक उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त होंगी। देश की अर्थ-व्यवस्था के विकास के कार्यों को दो क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया है। सरकारी तथा निजी। भारत की अर्थ-व्यवस्था में इस प्रकार निजी उपक्रम को भी उचित स्थान दिया गया है। सरकारी क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण विकास की योजनाओं को सम्मिलित किया गया है। भारत के आर्थिक नियोजन में निजी उपक्रम तथा राजकीय उपक्रम एक दूसरे से कंधा मिला कर देश का विकास कर रहे हैं और इस प्रकार भारत में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) की स्थापना की जा

रही है। इस प्रकार के आर्थिक नियोजन में समझाने और बुझाने तथा सरकारी निर्देशन, दोनों ही नियोजन विधियों का प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार का नियोजन सही अर्थ में प्रजातन्त्रीय नियोजन कहलाना चाहिये, क्योंकि निजी उपक्रम की उपस्थिति से एक तो राज्य के आतंक का अत्यधिक प्रसार नहीं होने पाता और दूसरे नियोजन कार्य पर संसद का पूरा नियंत्रण भी रहता है।

कुछ लोगों को आर्थिक नियोजन की सफलता के विषय में सन्देह रहा है। इन लोगों का विश्वास है कि निजी उपक्रम तथा मूल्य नियन्त्रण के सफल संचालन के अभाव में देश के साधनों का अधिकतम उपयोग नहीं हो पाता और उत्पादन कार्य भी विवेकशीलता के आधार पर नहीं किया जाता। किन्तु नियोजन की सफलताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि स्वतन्त्र मूल्य प्रणाली नियोजन की सफलता के लिये आवश्यक नहीं होती। यह अवश्य है कि मूल्य निर्धारण इतना स्वतन्त्र रूप से स्वयं संचालित नहीं होता जितना कि अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में होता है। किन्तु वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति में समन्वय स्थापित करके मूल्यों में समायोजन स्थापित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों को नियोजित अर्थ-व्यवस्था के विरुद्ध एक यह भी आपत्ति है कि इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई भी स्थान नहीं होता। किन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि नियोजन के आलोचक स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं। यदि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ अपने कर्त्तव्यों का पालन न करके केवल अपने अधिकारों की माँग ही करते रहना है चाहे इससे समाज की कितनी ही हानि होती रहे तो सच है कि ऐसी स्वतन्त्रता नियोजित अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तियों को प्राप्त नहीं होती। किन्तु प्रजातन्त्रीय नियोजन में तो सभी प्रकार की स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं जो सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से किसी भी मनुष्य को प्राप्त होनी चाहिये, जैसे राजनैतिक क्षेत्र में मतदान करने, सरकार की आलोचना करने और यहाँ तक कि सरकार को बदलने की स्वतन्त्रता, नागरिकता के क्षेत्र में न्याय प्राप्त करने की स्वतन्त्रता, सभ्यता के क्षेत्र में अपना जीवन जिस ढंग से मनुष्य चाहे व्यतीत करने की स्वतन्त्रता और आर्थिक क्षेत्र में उपभोग, उत्पादन तथा व्यवसायों को चुनने की स्वतन्त्रता होती है। वास्तव में आर्थिक नियोजन के आलोचकों के मस्तिष्क में केवल साम्यवादी आर्थिक नियोजन की विशेषतायें ही हैं। उन्होंने प्रजातन्त्रीय नियोजन के गुणों की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया। साम्यवादी नियोजन में तो यह सच है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पूर्णतया समाप्त हो जाती है और यह भी सच है कि आर्थिक नियोजन स्वयं ही कुछ न कुछ प्रतिबन्धों को लेकर चलता है, क्योंकि आर्थिक नियोजन में प्राथमिक रूप से देश के आर्थिक जीवन को नियमित करना पड़ता है जिसका अभिप्राय यह हुआ कि व्यक्तियों की क्रियाओं पर थोड़े बहुत प्रतिबन्ध योजना को सफल बनाने के लिये अवश्य ही लागू करने पड़ेंगे। किन्तु नियोजन का अन्तिम तथा प्राथमिक उद्देश्य व्यक्तियों को आर्थिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता प्रदान करना

भी हो सकता है। आर्थिक नियोजन के लाभ और दोष, वास्तव में व्यक्तियों के अपने स्वभाव और प्रकृति पर निर्भर करते हैं। यदि व्यक्ति बुद्धिमान हैं और नियोजन कार्य की कठिनाइयों को स्वइच्छा से सहन करते चले जाते हैं और अपना सहयोग देते हैं तो अन्त में नियोजन कार्य की समाप्ति के बाद बहुत अधिक मात्रा में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।[१]

अध्याय ?

अर्ध-विकसित देशों में आर्थिक नियोजन की समस्यायें

(Problems of Economic Planning in Under-developed Countries)

अर्ध-विकसित देश का अर्थ—

अर्ध-विकसित क्षेत्र या देश की सही परिभाषा करना एक कठिन कार्य है। सच तो यह है कि 'विकास' सम्बन्धी विचार १९वी शताब्दी की पाश्चात्य विचार-धारा का देन है। इससे पहले यह शब्द आर्थिक स्थिति के सदर्भ मे कभी भी उपयोग नही हुआ था। देखा जाये तो विकसित तथा अविकसित क्षेत्रो मे भेद करना सरल नही है। पुराने समय मे या यूँ कहिये कि पिछली शताब्दी मे जो देश पाश्चात्य देशो की बस्तियाँ (Colonies) थी, जहाँ के आर्थिक साधन शासक देश के हित के लिये उपयोग किये जाते थे, वे ही देश पिछडे हुये, या अविकसित या अर्ध-विकसित देशो के नाम से पुकारे जाते हैं।[1] पाश्चात्य देश तो अपना विकास करते ही रहे किन्तु उनके आधीन देश जिनको वे 'कालोनी' के नाम से पुकारते थे, जब स्वतन्त्र हुये तो वे अपने शासक देशों की तुलना मे सच मे ही अविकसित या अर्ध-विकसित क्षेत्र हैं। अत विकसित देशो का अभिप्राय पाश्चात्य देशों से लेना चाहिए और अविकसित देशो का अभिप्राय रूस को छोडकर अन्य देशो से लेना चाहिए। पाश्चात्य देशों की कुछ अपनी विशेषतायें होती हैं।[2] जैसे, वहाँ पर व्यक्तिवाद का प्रभुत्व है, किन्तु उसमें विवेकशीलता है। प्राणी सामाजिक परम्पराओ या पूर्वजो के कार्यो से बधा हुआ नही होता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे वह पहला पग बढाने के लिए स्वतन्त्र होता है और मार्ग मे जो कठिनाईयाँ आती हैं उन्हे वह स्वय सोच समझ कर दूर करने का प्रयत्न करता है और सफल होता है। दूसरी आश्चर्यजनक घटना यह हुई कि वहाँ के व्यक्तियो ने यन्त्र विज्ञान (technology) मे बहुत उन्नति कर ली है, प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है और उनमे इतनी यन्त्रात्मक सामर्थ्य है कि वे अपने साथियो को ऐसे साधन उपलब्ध कर सकें ताकि वे धनी और धनी होते

1 Cf. Phillips Ruopp, *Approaches to Community Development*, Page 61.
2. Ibid, Page 64.

जायें। यह सब सामर्थ्य उनमें केवल विज्ञान की उन्नति के कारण ही आई है, जो पाश्चात्य सभ्यता का ही एक अंग है। पाश्चात्य वातावरण एवं सभ्यता से अलग हट कर उनका वैज्ञानिक ज्ञान पूर्णतया समझ में नहीं आ सकता।[3] अन्त में पाश्चात्य देशों ने आगे बढ़कर लगभग सभी देशों के मामलों में अपने धन, ज्ञान, अपनी शक्ति से हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया है। इसके बड़े ही महत्वपूर्ण परिणाम दृष्टिगोचर हुये हैं। सच तो यह है कि अर्ध-विकसित देशों की विशेषताओं का उल्लेख ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी मुख्य विशेषताओं का पता लगाना कठिन है, क्योंकि इनकी संस्कृति के नमूने इतने विविध हैं कि किसी एक को सारे क्षेत्र का प्रतिनिधि नहीं कह सकते। पाश्चात्य तथा गैर-पाश्चात्य देशों में एक अन्तर यह है कि जब कि पहले देशों में व्यक्ति समाज पर निर्भर रहते हुए भी अलग और स्वतन्त्र होता है, दूसरे देशों में व्यक्ति पर समाज का प्रभुत्व होता है। राज्य और शासन प्रबन्ध मुख्यतया देश के रीति रिवाज और जाति प्रथा पर निर्भर करता है। न्याय सम्बन्धी निर्णय तथा कानून बनाने में ज्ञान तथा अनुभव की आवश्यकता नहीं होती। ये सब निर्णय तुरन्त ही ले लिये जाते हैं।[4] गैर पाश्चात्य देशों में दर्शन शास्त्र की विशेष प्रगति हुई है। विज्ञान और यन्त्र कला की उन्नति पाश्चात्य देशों की भाँति नहीं हुई है और जो कुछ उन्नति हुई है वह वहाँ के वातावरण और संस्कृति को देखते हुए सराहनीय है, किन्तु वह पूर्व स्थित व्यवस्था को ही बनाये रखने के लिये काफी है। वह नई बातों को जन्म नहीं दे सकती और न नये विचारों को स्वीकार ही कर सकती है। फिर भी यह नहीं कह सकते कि ये सारी विशेषतायें सभी गैर पाश्चात्य देशों में सामान्य रूप से पाई जाती हैं। वास्तव में यह सब विशेषतायें सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अनुसार हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से विकसित तथा अविकसित देशों के बीच भेद करना यद्यपि सरल नहीं होता फिर भी सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण की अपेक्षा सरल होता है। अविकसित या अर्ध विकसित देशों में राष्ट्रीय आय बहुत कम होती है, जीवन-स्तर बहुत गिरा हुआ होता है, पूंजी निर्माण बहुत धीमा और व्यापार तथा उद्योग की अवस्था बहुत पिछड़ी हुई होती है और अधिकतर विदेशों पर निर्भरता रहती है। हम इन्हीं आधारों पर विकसित तथा अविकसित देशों में की गई तुलना का उल्लेख यहाँ पर करेंगे। सन १९४७ में संयुक्त राज्य अमेरिका में अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक तथा वित्तीय समस्याओं पर (National Advisory Council) 'नेशनल एडवाइजरी काउन्सिल' ने सन् १९३९ के आधार पर ५३ देशों को, जिसमें संसार की ८५% जनसंख्या थी, प्रति व्यक्ति आय का अध्ययन किया था। काउन्सिल ने ५३ देशों को तीन मोटे वर्गों में विभाजित किया था। पहले वर्ग में संयुक्त राज्य, जर्मनी, फ्रांस और यू० के० थे जहाँ पर औसत प्रति व्यक्ति आय $ २०० अर्थात् १००० रुपयों के लगभग थी। दूसरे वर्ग में अर्ध विकसित देश थे जैसे दक्षिणी अफ्रीका की यूनियन, फिनलैण्ड, आस्ट्रिया, इटली, यूनान, जिनकी औसत

3 *Ibid*, Page 66.
4 *Ibid*, Page 72.

क्योंकि उद्योग और व्यापार कुछ थोड़े से ही व्यक्तियों के हाथों में रहते हैं। एक निरन्तर बढ़ती हुई अर्थ व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि नये विनियोगों का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता ही रहे और चक्र कभी बीच में नहीं टूटे। नये विनियोगों से नई नई वस्तुओं का उत्पादन होगा और नये नये क्षेत्रों का विकास होगा। श्रम तथा पूँजी की गतिशीलता में वृद्धि होगी, पूँजी का निर्माण होगा और देश में बेरोजगारी कम होगी। किन्तु भारत जैसे देश में जाति प्रथा की बुराइयों के कारण आर्थिक विकास की गति बहुत ही धीमी हुई है, और सच तो यह है कि इसने आर्थिक विकास की क्रियाओं का गला ही घोट दिया है। वास्तव में जाति प्रथा से मनुष्य का दृष्टिकोण बहुत ही सकीर्ण हो गया है। वह हर समय हर विषय में अपनी जाति से ही सम्बन्धित बातों का ध्यान रखता है। वह अपने देश और सारे ससार के आर्थिक उत्थान की ओर ध्यान ही नहीं देता और न उन पुराने रीति-रिवाजों की कैद से बाहर निकलना चाहता है। जाति प्रथा की भाँति सयुक्त परिवार प्रणाली ने भी भारत के आर्थिक विकास में अनेकों कठिनाइयाँ उत्पन्न की हैं। सयुक्त परिवार प्रणाली में, क्योंकि प्रत्येक सदस्य भोजन तथा कपड़े के विषय में निश्चित रहता है इसलिये वह आलसी हो जाता है उसमे जोखिम सहन करने की शक्ति समाप्त हो जाती है और उसे काम करने के लिए कोई भी प्रेरणा नहीं मिलती है। व्यक्तियों का दृष्टिकोण भी सकीर्ण रहता है क्योंकि वे घर में पड़े-पड़े ठलुआ जीवन व्यतीत करते रहते हैं। इस प्रकार सयुक्त परिवार से भी श्रमिकों की गतिशीलता बहुत सीमित रही है और पूँजी निर्माण भी बहुत कम हुआ है।

दक्षिणी पूर्वी एशिया के अधिकांश देश कृषि प्रधान हैं जनसख्या तीव्र गति से बढ़ती जा रही है और भूमि पर जनसख्या का भार भी दिन प्रति दिन अधिक होता जा रहा है। परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति उपज कम होती जा रही है। व्यक्ति इस अवस्था में ही नहीं है कि वह कुछ जमा कर सकें और अपना जीवन स्तर ऊँचा कर सकें। इन देशों की जन्म दर भी अधिक होने के कारण सामाजिक और आर्थिक उत्थान की सारी योजनायें बेकार हो जाती हैं। बिना उत्पत्ति में वृद्धि किये किसी भी देश में व्यक्तियों का जीवन-स्तर ऊँचा नहीं हो सकता और साथ ही यदि उत्पादन जनसख्या की तुलना में तीव्र गति से नहीं बढ़ रहा है तो भी देश के आर्थिक विकास की गति धीमी रहेगी। इसलिए दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों की मुख्य समस्या, सामाजिक दृष्टिकोण से यह भी है, कि जनसख्या वृद्धि को नियन्त्रित किया जाय और श्रमिकों की गतिशीलता में बाधा उत्पन्न करने वाले कारणों को समाप्त किया जाय।

(२) राजनैतिक कारण—किसी भी देश की सामाजिक परिस्थितियाँ वहाँ की राजनैतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि अविकसित देशों में से अधिकाश देश पहले विकसित देशों की कालोनीज थी, जिनमें शासक देशों ने सरकार स्थापित कर रखी थी। यह सरकारें जनता के सर पर बिना उनकी इच्छा के शासक देशों ने स्थापित कर दी थीं, अर्थात् ऐसी सरकारों की स्थापना प्रजातन्त्रीय शक्तियों द्वारा नहीं हुई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि

इन देशों मे व्यापार और वाणिज्य ही प्रमुख व्यवसाय थे जिन्हे व्यक्तियो ने अपनाया था। इन व्यवसायो को अपनाने का मुख्य कारण यह था कि इनसे लाभ की प्राप्ति शीघ्र ही होती थी। किन्तु दुर्भाग्य यह था कि न तो जनता ही ने और न सरकार ने ही अपने लाभो को उन योजनाओ पर खर्च किया जिनसे स्थानीय जनता का कल्याण हो सकता। अधिकतर लाभ कमाने वाले व्यक्तियो की सख्या बहुत थोडी ही थी। धनी व्यक्तियो के पास राजनैतिक और आर्थिक दोनो ही प्रकार की सत्ता थी। निर्धन व्यक्ति तो केवल जीवित थे। धीरे धीरे इन मनुष्यो में देश प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई और इन्होने स्वतन्त्रता सग्राम लडा और स्वतन्त्रता प्राप्त की। अभी इन देशो का स्वतन्त्रता प्राप्त किये अधिक समय नही हुआ है और इनमे आज भी थोडे बहुत अश मे यही चिन्ह दीखते हैं जो उस समय थे जबकि वह दासता की बेडियो म जकडे हुए थे। जैसे-जैसे दासता की छाप मिटती जायगी इन देशो की उन्नति होती जायगी।

(३) **आर्थिक कारण**—किसी भी अविकसित देश का एक बडा लक्षण यह भी है कि वहां पर उत्पादन व्यक्तियों की आवश्यकता की अपेक्षा बहुत कम होता है। परिणामस्वरूप व्यक्तियो का जीवन स्तर बहुत नीचा रहता है और मूल्य ऊँचे होने के साथ-साथ वस्तुओ की पूर्ति के लिये अधिकतर विदेशो पर निर्भर रहना पडता है। यदि अविकसित देशों के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि करनी है तो यह आवश्यक है कि उत्पादन इतना किया जाय जो व्यक्तियो की न्यूनतम आवश्यकताओ मे अधिक हो। इसलिये ऐसे देशों के आर्थिक विकास की प्रमुख समस्या यह है कि उत्पादन में वृद्धि की जाय और एक क्षेत्र में सभी भागों का आर्थिक विकास समान है। परन्तु प्रश्न यह है कि उत्पादन म वृद्धि किस प्रकार की जाय? क्योंकि जब पूँजी और भूमि की अपेक्षा श्रमिको की सख्या अधिक होती है तो प्रति व्यक्ति कम उत्पादन होना स्वाभाविक ही है। हमारे देश की भी यही स्थिति है। उत्पत्ति के अन्य साधनो की अपेक्षा श्रमिको की सख्या अधिक होती जा रही है इसीलिये जीवन स्तर भी गिरता जा रहा है। बचतें भी इसीलिये निम्न स्तर पर हैं और केवल वही व्यक्ति सर्व सम्पन्न हैं जो व्यापार और उद्योग मे भाग ले रहे हैं। परन्तु इनकी सख्या बहुत थोडी होने के कारण धन की असमानताएँ काफी कठोर हैं। स्पष्ट है कि अर्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिये सबसे पहली शर्त यह है कि इनकी सामाजिक दशायें उन्नत की जायें और बढती हुई श्रम शक्ति का उपयोग करने के लिये उचित व्यवस्था की जाये। यह सब लक्ष्य उसी समय पूरे हो सकते हैं जबकि सम्पूर्ण देश के विकास के लिये एक समुचित योजना तैयार की जाय या आर्थिक नियोजन का एक समुचित तथा विस्तृत कार्य क्रम आरम्भ किया जाय। अर्ध-विकसित देशों म जनसख्या के बढने के कारण देश के साधनो का सप्रभाविक उपयोग केवल आर्थिक नियोजन द्वारा ही सम्भव हो सकता है। नियोजन अधिकारी ही देश के साधनो को ध्यान मे रख कर देश के विकास के लिये एक समुचित योजना का निर्माण कर सकता है।

हम पिछले अध्याय में यह बता चुके हैं कि आर्थिक नियोजन का मुख्य उद्देश्य साधनों का अधिकतम उपयोग करके जीवन स्तर को ऊँचा उठाना है। किन्तु यह केवल औद्योगीकरण, कृषि के आधुनिकीकरण या यन्त्रीकरण या वस्तुओं के विक्रय के लिये विस्तृत बाजार उत्पन्न करके ही प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इन सबके लिये एक उचित वातावरण का होना आवश्यक है। अन्य बातों के साथ-साथ देश की कर प्रणाली, मुद्रा प्रणाली और साख प्रणाली उचित होनी चाहिये और देश में व्यय प्रणाली भी सुव्यवस्थित होनी चाहिये, और यह सब बातें एक शक्तिशाली सरकार ही प्रदान कर सकती है। अर्ध-विकसित देशों में केवल सरकार ही व्यक्तियों को आधुनिक सेवाएँ प्रदान कर सकती है। अधिकतर अर्धविकसित देशों में यातायात के साधन अपर्याप्त हैं और प्रारम्भिक शिक्षा की सुविधाएँ बहुत कम हैं। यातायात के साधनों के अभाव में बाजार का विस्तार अत्यन्त सीमित होता है और इसलिये उत्पादन में विशिष्टीकरण तथा श्रम विभाजन के पूरे लाभ प्राप्त नहीं हो पाते और आर्थिक विकास की गति भी तीव्र नहीं हो पाती। व्यक्तियों के लिये शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ भी आवश्यक होती हैं, क्योंकि शिक्षा से व्यक्तियों का दृष्टिकोण विकसित हो जाता है और वह देश के औद्योगीकरण में अपने महत्त्व को भली भाँति ही समझने लगता है। आर्थिक विकास में सरकार का उतना ही महत्त्व है जितना कि निजी उपक्रम का और ऐसे देश जहाँ निजी उपक्रम बहुत शर्मीला है सरकार की जिम्मेदारी और भी अधिक हो जाती है। इस प्रकार अर्धविकसित देशों में सब से पहले राजनैतिक जागृति उत्पन्न होनी चाहिये ताकि वहां के लोग औद्योगीकरण तथा अपने आर्थिक उत्थान के लिये सरकार की उन्नति के महत्त्व को समझ सकें।

अर्ध-विकसित देशों में आय और उत्पादन के स्तर अपने न्यूनतम स्तर पर हैं और चालू आवश्यकताओं तथा भावी उत्पत्ति के बीच एक बहुत बड़ी खाई है। ऐसे देशों में थोड़ी-थोड़ी मात्रा में आर्थिक विकास का कार्यक्रम अधिक लाभप्रद नहीं होगा, क्योंकि विकसित देशों की तुलना में उन्होंने विकास कार्य क्रम वैसे ही बहुत देर से आरम्भ किया है और यदि वे अपने विकास कार्यक्रम को तीव्रगति से कार्यान्वित नहीं करेंगे तो उनका विकसित देशों द्वारा निरन्तर शोषण होता ही रहेगा। इसलिये अधिक समय नष्ट करना उनके हित में नहीं है और बढ़ती हुई जन सख्या की दृष्टि से उनको अपना आर्थिक विकास अति तीव्र गति से करना होगा और यह सब केवल सरकार की सहायता द्वारा ही हो सकता है। सरकार के साधन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होते हैं, जिनका उपयोग वह देश के आर्थिक विकास के लिये सरलता से कर सकती है। किन्तु यह ध्यान रहे कि आर्थिक विकास के लिये वित्त आवश्यक तो है, परन्तु यह अनेकों बातों पर निर्भर होता है, जैसे, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक।[8]

किसी भी अर्ध-विकसित देश के आर्थिक विकास के कार्यक्रम के अन्तर्गत तीन

8 Cf H Ellis *The Financing of Economic Development in Under—deve loped Areas*—*Indian Economic Journal*, January 1956, Page 253

मुख्य उद्देश्य होने चाहिये। प्रथम, कृषि उत्पादन की उन्नति, दूसरे, सरकार द्वारा बहुत सी आर्थिक तथा सामाजिक सेवाओं का निर्माण और तीसरे, देश के औद्योगीकरण में सम्बन्धित वस्तुओं की पूर्ति।

कृषि उत्पादन के क्षेत्र में मुख्यतया दो समस्यायें पाई जाती हैं। एक तो बढ़ती हुई जन-संख्या के लिये रोजगार के नये अवसर प्रदान करना और दूसरे, कृषि क्षेत्र की विकास सम्बन्धी शक्ति को बढ़ाना, अर्थात् नई विधियों तथा कार्यक्रमों द्वारा कृषि में लगे हुए व्यक्तियों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करना। कृषि उत्पादन में वृद्धि करना केवल इसीलिये आवश्यक नहीं है कि कृषकों तथा उनके निर्भर कर्ताओं का जीवन स्तर ऊँचा हो, वल्कि इसलिये भी आवश्यक है कि अर्थ-व्यवस्था के लिये गैर कृषि क्षेत्र की खाद्यान्न तथा कच्ची सामग्री सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। कृषि उत्पादन में वृद्धि करने की एक सरल विधि यह है कि उसमें मशीनों का प्रयोग किया जाय। किन्तु भारत, चीन तथा अधिकतर अविकसित देशों में कृषि भूमि बहुत छोटे छोटे टुकड़ों में बटी हुई है। इसलिये सबसे पहले जमीन की चकबन्दी होनी चाहिये क्योंकि तब ही बड़े पैमाने पर कृषि की जा सकती है और मशीनों का उपयोग हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन कृषि उत्पादन की विधियों में भी सुधार होने चाहियें। ये सुधार उसी समय सम्भव हो सकते हैं जब कि अधिकाधिक संख्या में ग्रामीण जनता को कृषि शिक्षा प्रदान की जाय और अधिकाधिक मात्रा में अनुसंधान कार्यक्रम आरम्भ किये जाय। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में इस ओर खूब ध्यान दिया गया है।

अधिकतर अर्ध-विकसित देशों में भूमि सम्बन्धी अधिकार अनिश्चित हैं। जमींदार किसानों का शोषण करता है और कृषि विकास में बाधाएँ उत्पन्न करता है। अत यह आवश्यक है कि क्रान्तिकारी भूमि सुधार के कार्यक्रम चालू किये जायें। चीन में (Peoples' China) में नियोजन कार्य आरम्भ करने से पहले ही भूमि सम्बन्धी सुधार आरम्भ कर दिये गये थे। यह ध्यान रहे कि केवल कानून बना देने से ही सफलता प्राप्त नहीं होती। वास्तव में कृषि विकास उसी समय सम्भव हो सकता है जब कि जमींदारी का अन्त कर दिया जाय। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में भूमि सुधार पर बहुत जोर दिया गया है और अधिकतर राज्यों में जमींदारी उन्मूलन कर दिया गया है।

कृषि उन्नति में सबसे बड़ी बाधा ग्रामीण जनता की ऋणग्रस्तता द्वारा उपस्थित होती है। भूमि सुधार के सभी प्रयत्न ऋणग्रस्तता के कारण विफल हो जाते हैं। इस विषय में भी केवल कानून बनाने से काम नहीं चलता। यह आवश्यक है कि सरकार ग्रामीण साख व्यवस्था में सम्पूर्ण परिवर्तन कर दे अर्थात ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकाधिक मात्रा में बैंकिंग सुविधायें प्रदान की जाय सहकारी साख संस्थायें स्थापित की जायें और फसल बीमा योजनायें चालू की जायें। इसके साथ-साथ कृषि सहकारी सेवाओं के लिये समितियां भी स्थापित की जायें। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में इन सब बातों के लिये भी उचित व्यवस्था की गई है।

यदि उपयुक्त सभी उपायों को अपनाया जाये तो अर्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास का कार्य सफल हो जायेगा, क्योंकि औद्योगीकरण की ओर कृषि-विकास एक पहला पग है किन्तु कृषि विकास और औद्योगीकरण की प्रगति को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि "सामाजिक पूंजी" (Social Capital) का उचित मात्रा में निर्माण किया जाये।

'सामाजिक पूंजी' से हमारा अभिप्राय उन सामाजिक और आर्थिक सेवाओं से है जिनके द्वारा मनुष्य का जीवनस्तर ऊँचा होता है, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, समाचार-पत्रों, बिजली, यातायात आदि की सुविधाएँ। अधिकतर अर्धविकसित देशों में शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवस्था बिल्कुल निम्नस्तर पर है। ऐसी सुविधाओं को प्राप्त करने के लिये बहुत बड़ी मात्रा में पूंजी का विनियोग करना पड़ता है और तुरन्त ही लाभ प्राप्त नहीं होते। इसलिये निजी विनियोगकर्त्ता सरलता से इन पर अपनी पूंजी का विनियोग करने के लिये तैयार नहीं होते हैं। यह सम्भव है कि पिछड़े हुये देशों में सामाजिक पूंजी का प्रबन्ध पूर्णरूप से सरकार को ही करना पड़े। आधुनिक समय में तो सरकार को सामाजिक सेवायें प्रदान करने में कोई आपत्ति भी नहीं होती, क्योंकि उनका उद्देश्य एक कल्याणकारी राज्य स्थापित करना होता है और इसलिये वह ऐसी सेवायें प्रदान कर रही हैं। इसके अतिरिक्त यदि आधुनिक सरकारें अपने ऊपर देश के आर्थिक विकास की जिम्मेदारी लेती हैं तो विकास कार्यक्रम को तीव्रगति से सम्पन्न करने के लिये उनको गोदामों, सड़कों तथा रेलों, बिजली का उत्पादन करने के लिये मशीनों आदि का प्रबन्ध करना ही होगा। अन्त में विदेशी पूंजी भी सरलता से उपलब्ध नहीं होती है। इसलिये देश में निजी पूंजी उपलब्ध न हो पाने और विदेशी पूंजी न मिल पाने की स्थिति में केवल एक ही उपाय रह जाता है और वह है कि, सरकार स्वयं ही उद्योगों को चलाये और उसके लिये आवश्यक धन की व्यवस्था करे। यदि सरकार देश में पूंजी की व्यवस्था नहीं कर पाती है तो उसको विदेशों से पूंजी का प्रबन्ध कर लेना चाहिए, जो उसके लिये कठिन नहीं होगा। यदि फिर भी आवश्यक पूंजी की कमी रहती है तो सरकार हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा ले सकती है। यह सराहनीय है कि भारत सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं में सामाजिक सेवाओं के लिये उचित व्यवस्था की है।

कृषि उत्पादन में वृद्धि हो जाने पर और आवश्यक मात्रा में सामाजिक पूंजी की व्यवस्था होने के बाद भी यह आवश्यक नहीं है कि देश का औद्योगीकरण तीव्र-गति से हो जाय। औद्योगीकरण के लिये और भी अनेकों बातों की आवश्यकता होती है जैसे प्राकृतिक साधन, देश के मानवीय साधन तथा देश में कृषि एवं उद्योगों का अनुपात। यदि अर्धविकसित देश में कोयला, लोहा, तेल आदि जैसे खनिज पदार्थ उपलब्ध हैं तो उसके विकास में अधिक समय नहीं लगेगा। इस सम्बन्ध में भारत एक भाग्यशाली देश है। यद्यपि भारत के प्राकृतिक साधनों का उपयोग ब्रिटिश शासन काल में उचित रूप से नहीं हो पाया और भारी तथा आधारभूत उद्योगों का विकास नहीं हो पाया किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारी सरकार ने इन

वस्तुओं के उपयोग के लिये पंचवर्षीय योजनाओं में उचित व्यवस्था की है और अनेकों अनुसंधान केन्द्र स्थापित किए हैं। तेल निकालने के लिए आसाम क्षेत्र में प्रयत्न किए जा रहे हैं और अन्य स्थानों में भी तेल की खोज जारी है। प्राकृतिक साधनों के साथ साथ इन साधनों का अधिकतम उपयोग करने के लिए देश में श्रम आदि भी पर्याप्त मात्रा में होना आवश्यक है। देश के श्रमिकों में मशीनों का प्रयोग करने के लिए रुचि और चेतन्यता होनी चाहिये परन्तु एक पिछड़े हुए देश में ऐसे श्रमिकों का मिलना कठिन ही होता है। इसलिए ऐसे देशों के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने श्रमिकों को विदेशों में मशीनों के उपयोग के लिए शिक्षित कराये और प्रारम्भिक अवस्था में विदेशों से इस सम्बन्ध में आवश्यक सहायता प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त क्योंकि इन देशों का सामाजिक आर्थिक ढांचा पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भिन्न है इसलिए यह भी आवश्यक है कि वे पाश्चात्य विधियों का प्रयोग करने में या तो अपनी स्थिति को उनके अनुकूल बनायें या पाश्चात्य विधियों को अपनी परिस्थितियों के अनुकूल बनायें। यह स्पष्ट ही है कि केवल पाश्चात्य देशों की नकल करने से ही इन देशों का उत्थान नहीं होगा। पिछड़े हुये देशों की सरकारों को इस क्षेत्र में अनुसंधान तथा खोज सम्बन्धी सुविधायें अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध करनी होंगी। साथ ही देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के आधार एवं चरित्र को भी नियमित करना होगा और देश की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना होगा। यद्यपि भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में इस समस्या की ओर ध्यान दिया गया है किन्तु समस्या को देखते हुये वह पर्याप्त नहीं है। औद्योगीकरण में ध्यान देने योग्य अन्तिम समस्या यह है कि देश में प्रधानता किस क्षेत्र की अधिक है अर्थात् देश में कृषि व्यवसाय अधिक प्रधान है या उद्योग धन्धे। दक्षिण पूर्वी एशिया के अधिकतर पिछड़े हुए देशों में कृषि का ही प्रधान महत्व है। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे देशों में औद्योगीकरण की गति को तीव्र नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त कृषि प्रधान क्षेत्रों में जो अधिक जनसंख्या है उसको शहर में औद्योगिक क्षेत्रों के लिए स्थानान्तरण करना होगा। यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिये कि पिछड़े हुए देशों में जनसंख्या को स्थानान्तरित करना सरल नहीं होता क्योंकि व्यक्ति अपनी भूमि छोड़ कर शहरों को नहीं आना चाहते, चाहे वे भूख ही क्यों न मर जायें। ऊँची मजदूरी प्राप्त करने के लालच में वे अपने घरों को छोड़ने के लिए विवश नहीं किए जा सकते। इसलिए यह आवश्यक है कि उन्हें ग्रामों में ही कृषि के अतिरिक्त काम करने की अन्य सुविधायें प्रदान की जायें जैसे कुटीर उद्योग धन्धे इत्यादि। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर तथा ग्रामीण उद्योग धन्धों के विकास के लिए भी उचित व्यवस्था की गई है। किसी भी देश का औद्योगीकरण भारी तथा आधारभूत उद्योगों पर निर्भर करता है। अर्थात् औद्योगीकरण के लिए लोहा तथा इस्पात, कोयला तथा बिजली सीमेंट तथा भारी रासायनिक पदार्थ का विकास करना परम आवश्यक है क्योंकि इनके अभाव में किसी प्रकार का औद्योगीकरण भी सम्भव नहीं हो सकता। हमारी दूसरी पंचवर्षीय योजना में इन

उद्योगों के विकास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

आर्थिक विकास के इन सब उद्देश्यों की पूर्ति, जैसा हम पहले कह चुके हैं, सरकार पर निर्भर करती है और आर्थिक नियोजन ही एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा देश का समुचित तथा तीव्र विकास सम्भव हो सकता है। आर्थिक नियोजन के क्षेत्र में सभी विकसित देशों की अपनी कुछ विशेष समस्यायें होती हैं। ऐसे देशों में अर्थ व्यवस्था मुख्य रूप से दो स्पष्ट भागों में विभाजित होती है। पहला भाग सुसगठित क्षेत्र अर्थात् पूंजीपति सम्बन्धी क्षेत्र (Capitalist Sector) होता है और दूसरा वह क्षेत्र है जिसमें केवल जीविका उपार्जन की ही समस्या होती है और जो अव्यवस्थित तथा असगठित होता है। पहला क्षेत्र दूसरे की अपेक्षा अधिक आधुनिक होता है। इसमें देश के निर्माण उद्योग होते हैं, जो अधिकतर निजी व्यक्तियों द्वारा चलाये जाते हैं। इस क्षेत्र में सरकार भी अपने फार्म या कारखानों को स्थापित कर सकती है। इस क्षेत्र में देश की बहुत थोड़ी सी जनसख्या होती है और इस क्षेत्र में भाग लेने वाले व्यक्ति पूंजीपति, जमींदार तथा अन्य धनी व्यक्ति होते हैं। दूसरे क्षेत्र में छोटे छोटे दुकानदार, व्यापारी, कृषक तथा कारीगर होते हैं। देश में सुसगठित क्षेत्र ही बचतों का मुख्य क्षेत्र होता है, क्योंकि देश के सारे सुसगठित उद्योग इसी क्षेत्र में स्थापित होते हैं और इन उद्योगों के मालिकों को काफी आय प्राप्त होती है। इसलिये अर्ध-विकसित देशों का आर्थिक विकास इसी क्षेत्र को विकसित करके तथा उसका विस्तार करके आरम्भ किया जा सकता है। इस क्षेत्र में आधुनिक बैंकिंग सुविधायें उपलब्ध होती हैं और नई-नई मशीनों का प्रयोग होता है और लोगों का दृष्टिकोण प्रगतिशील होता है। वे नये-नये आविष्कारों तथा परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिये सदैव ही तैयार रहते हैं। इसलिये इस क्षेत्र में पूंजी-निर्माण तथा यन्त्रकला की उन्नति की दर काफी ऊँची रहती है। किन्तु जो कुछ भी लाभ प्राप्त होते हैं वे थोड़े से ही व्यक्तियों की जेब में चले जाते हैं।

असगठित क्षेत्र जिसको जीवन निर्वाह क्षेत्र भी कहते हैं, पिछड़े हुये देशों का मुख्य भाग होता है। इस क्षेत्र का मुख्य व्यवसाय कृषि होता है। अधिकाश देशों में जनसख्या बढ़ने के कारण भूमि पर जनसख्या का दबाव बढ़ता गया है और कृषि पिछड़ी हुई अवस्था में है। परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति उपज बहुत कम होती है और एक छिपी हुई बेकारी उपस्थित रहती है। बात यह है कि वैसे तो भूमि की कमी और कृषि के पुराने ढगों के कारण प्रति एकड़ उपज तो कम होती ही है, किन्तु जो कुछ उपज होती भी है उसमें हिस्सा बटाने वाले लोग बहुत होते हैं और काम करने वाले बहुत कम। इसका यह अभिप्राय नहीं कि लोग कृषि उत्पादन में हाथ बटाना नहीं चाहते हैं वरन् इसका अर्थ यह है कि पूरे परिवार के सदस्यों के लिये भूमि पर्याप्त मात्रा में नहीं होती और भूमि के अनुपात में परिवार के जितने सदस्य अधिक होते हैं वे कृषि के अतिरिक्त और कोई दूसरा काम करना पसन्द नहीं करते हैं। इसलिये उन्हें उस भूमि से खाना तो मिल जाता है, और वैसे ऊपर से देखने में तो परिवार के सभी सदस्य उस छोटी सी भूमि के टुकड़े पर काम करते दिखाई देते

हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे मेहनत करके जीविका उपार्जन कर रहे हों, परन्तु तनिक गहराई में जाकर देखने से स्पष्ट यह स्पष्ट होता है कि परिवार के अधिकांश सदस्य बेकार तथा बेरोजगार होते हैं, क्योंकि उनकी उपस्थिति से भूमि की कम उपज या परिवार की कम आय में कोई वृद्धि नहीं होती। इस क्षेत्र के लोग अपने पुराने ढंगों को बदलना नहीं चाहते और इनकी बचतें बहुत कम होती हैं। इस प्रकार अर्ध विकसित देशों के अधिकांश भाग की उन्नति स्थिर रहती है और यह स्पष्ट ही है कि बिना इस भाग की उन्नति के तथा आधुनिकीकरण के सुसंगठित क्षेत्रों का विकास सम्भव नहीं है। भारत की भी यही स्थिति है। कुछ लोगों का विचार है कि असंगठित क्षेत्रों को परिवर्तनशील बनाने के लिए प्रयत्न किये जाने चाहियें, और उन अनुत्पादक उपभोक्ताओं को (जो छुपे हुए रूप में बेकार हैं) उत्पादक कार्यों में लगाना चाहिए। अर्थात् जीवन निर्वाह क्षेत्र में या असंगठित क्षेत्र में जो बचत करने की अदृश्य शक्ति (Saving Potential) है उसको सुसंगठित क्षेत्र के विस्तार के लिए क्यों न उपयोग किया जाये ?[9] इसका यह अभिप्राय नहीं कि असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों को सुसंगठित क्षेत्रों में स्थानान्तरित कर दिया जाये, अर्थात् इससे यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि ग्रामीण क्षेत्रों में जो श्रमिक अधिक संख्या में हैं उनको लाकर शहरी क्षेत्रों में कारखानों में काम पर लगा दिया जाये। वह शहरों में अधिक दिन काम पर रह ही नहीं सकते इसलिये उनको ग्रामीण क्षेत्रों में ही छोटे छोटे विकास कार्यक्रमों में जैसे बाँध बनाना, नहरें खोदना, सड़कें बनाना इत्यादि के लिये उपयोग में लाया जा सकता है और उनके उत्पादक भाईयों की जो बचतें होंगी उनको पूँजीगत योजनाओं को पूरा करने के लिये उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार नर्क्से छिपी हुई बेकारी को दूर करने के लिये उत्पत्ति का पुनर्भाविक वितरण उत्पादक उपयोग और अनुत्पादक उपयोग में करना चाहता है। उत्पादक उपयोग से उसका अभिप्राय उस काम से है जो कि छिपे हुए बेकार व्यक्ति उस समय करते हैं जबकि वे किसी उत्पादक व्यवसाय में लगा दिये जाते हैं और अनुत्पादक उपयोग वह काम होता है जो कि छिपे हुए बेकार व्यक्ति उस समय करते हैं जबकि वे अपने पारिवारिक खेत पर काम करते हैं। किन्तु छिपी हुई बेकारी की समस्या इस प्रकार से भी दूर नहीं हो पायेगी, यदि उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन आवश्यकता से कम हो रहा हो। अभी हाल ही में प्रो० वकील और डा० ब्रह्मानन्द ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है

---

9 Cf Ragner Nurksae Op Cit

प्रो० नर्क्से के अनुसार बचत करने की शक्ति (Saving Potential), उत्पादक श्रमिक की वह बचत है जो वह अनुत्पादक श्रमिकों के जीविका उपार्जन पर खर्च करता है। यदि यह अनुत्पादक सम्बन्धी परिवार के सदस्य न हों तो उत्पादक श्रमिक या कृषक अपनी आय में से कुछ न कुछ अवश्य ही बचा सकता है, या उपभोग पर खर्च कर सकता है जिससे उसका जीवन-स्तर ऊँचा होगा। दोनों ही स्थितियों में देश को लाभ होगा।

कि छिपे हुए बेकार व्यक्तियो को ग्रामीण क्षेत्रों से सगठित क्षेत्र को स्थानान्तरित कर देने से छिपी हुइ बेकारी दूर हो सकती है और असगठित क्षेत्र के बचत करने की अदृश्य शक्ति (Saving Potential) का उचित उपयोग भी हो सकता है, यदि असगठित क्षेत्र मे सबसे पहली बार आने वाले समूह के लिये आवश्यक उपभोग की वस्तुओं का प्रबन्ध हो जाये। किन्तु सगठित क्षेत्र म इन व्यक्तियो को रोजगार प्रदान करने के लिये यह आवश्यक होगा कि सगठित क्षेत्र की बचतों को करारोपण द्वारा प्राप्त करा जाय। प्रो० वकील और डा० ब्रह्मानन्द का कहना यह है कि उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने की कोई विशेष आवश्यकता नही है क्योकि पहले समूह को केवल उपभोग की वस्तुऍं प्रदान कर देने से ही स्वय असगठित क्षेत्र से इतनी उपभोग की वस्तुऍं प्राप्त होने लगेंगी जो अन्त म सब आदमियों के लिये काफी रहेगी। इस विचार को उपभोग वस्तुओं का गुणक (Consumption Goods Multiplier) का नाम दिया गया है। इस विचार को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये कि आरम्भ म एक व्यक्ति के लिये जितनी उपभोग की वस्तुऍं आवश्यक होती है उनका प्रबन्ध किसी प्रकार हो जाता है। अब यह सम्भव हो जायगा कि छिपे हुए बेकार व्यक्तियो में से एक को काम म लगाया जा सके। जब वह सगठित क्षेत्र मे आयेगा तो फिर वह उपभोग की वस्तुऍं फालतू बच रहेगी जिनका उपभोग वह अभी तक कर रहा था और फिर इन उपभोग की वस्तुओं के आधार पर हम दूसरे व्यक्ति को सगठित क्षेत्र म काम पर लगा सकते हैं। जब यह व्यक्ति सगठित क्षेत्र में आयेगा तो फिर वह उपभोग की वस्तुऍं फालतू रह जायेंगी जिनका वह अभी तक उपभोग कर रहा था और फिर इन वस्तुओं के आधार पर तीसरे व्यक्ति को नौकर रखा जा सकता है और इसी प्रकार क्रम चलता रहेगा। किन्तु यह बडा ही आशावादी चित्र है और यह स्वाभाविक है कि इन विचारकों की आशा पूणतया सफल न हो सके, क्योकि असगठित क्षेत्र से उतनी उपभोग वस्तुऍं प्राप्त न हो सकें जितनी की आशा की गई है।

असगठित क्षेत्र से सगठित क्षेत्र म छिपे हुए बेकार श्रमिकों को लाने और काम पर लगाने म उपर्युक्त विचार को कार्यरोपित करने के लिये दो प्रारम्भिक समस्याओं को हल करना होगा। प्रथम, उपभोग वस्तुओं की प्रारम्भिक कमी को दूर करना होगा। किन्तु इस सम्बन्ध मे कठिनाई यह है कि अर्ध विकसित देश के सफल अवरगत सीमित होते हैं और यदि उनका उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करने मे उपयोग किया जाये और यदि भारी उद्योगो के निर्माण की ओर उचित ध्यान न दिया गया तो यह स्पष्ट ही है कि कुछ समय बाद उपभोग की वस्तुओं को उत्पन्न करने वाले उद्योग भी मशीनो के न मिल पाने के कारण बन्द हो जायेंगे। टर्की का उदाहरण हमारे सामने है। इसीलिये भारत म नियोजन आयोग ने भारी उद्योगों के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया और आवश्यक उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन की जिम्मेदारी कुटीर उद्योगो पर छोड दी है। साथ ही साथ कुटीर उद्योगो के विकास से असगठित क्षेत्र की छिपी हुई बेकारी भी दूर हो जायेगी। इस सम्बन्ध म दूसरी कठिनाई

यह है कि असगठित क्षेत्र की बचत करने की अदृश्य शक्ति का अधिकतम उपयोग उस समय करना असम्भव हो जायगा जब कि छिपे हुए बेकार व्यक्तियों को सगठित क्षेत्र म कारखानो म काम पर लगा दिया जाता है। इसका कारण यह है कि जब बेकार व्यक्ति अपने घर स दूर रहग तो उनके घर वाले अब अपने आपको सारी जिम्मेदारियों से मुक्त समझेंग और यह समझग कि अब उन पर उन व्यक्तियों के पालन पोषण की कोई भी जिम्मेदारी नहीं है जो सगठित क्षेत्र म काम कर रहे हं और यह सब सोच कर वह अपनी आय म से कुछ बचाने के स्थान पर अपने उपभोग को और भी अधिक बढा देंग। इसलिए बचत करने की वह अदृश्य शक्ति जिससे आर्थिक विकास को सहायता मिलती और निधनता का दूषित चक्र समाप्त होता, उसका महत्व धीरे धीरे कम हो जायगा। अत जब तक सरकार इन बचतो को प्राप्त करने के लिए उचित मात्रा म कर न लागू करे उस समय तक किसी प्रकार की भी आशा करना बेकार होगा। किन्तु भारत जैसे प्रजातान्त्रिक देश म एसे कठोर उपायो को अपनाना न तो सम्भव ही है और न जनता ही उनका स्वागत करेगी। इस प्रकार पिछडे हुए देशो म असगठित क्षेत्र म बेकार व्यक्तियो का स्थानान्तरण एक व्यावहारिक प्रस्ताव नहीं है। यही कारण है कि नियोजन आयोग ने ग्रामो म ही छिपे हुए बेकार व्यक्तियो को काम दिलाने का प्रयत्न किया है।

अर्ध विकसित देशों में नियोजन विधि—हमने पिछले पृष्ठो म अर्ध विकसित देशो की विशेषताओ तथा आर्थिक विकास सम्बन्धी विभिन्न समस्याओ की विवेचना की थी। उक्त विवेचना के बाद हम अब इस स्थिति म हं कि नियोजन की उस काय विधि का स्पष्टीकरण कर सके जो अर्ध विकसित देशो के लिए आवश्यक है और जिसके अनुसार अर्ध विकसित देशो म नियोजन काय सम्पन्न होना चाहिए। अर्ध विकसित देशो म नियोजन का प्राथमिक उद्देश्य केवल वतमान आय और उत्पादन शक्ति म वृद्धि करना ही नहीं होना चाहिए वरन भावी उन्नति के लिए भी प्रयत्न किए जाने चाहिये। प्रारम्भिक स्थिति म जब अर्थ व्यवस्था को अर्ध स्थिर (Semi Stagnant) अवस्था से बाहर निकालने के लिए प्रयत्न किए जाते हं तो इस अवस्था को बाहर निकालने की (Take off) अवस्था कहा जाता है। इस काल म विकास का काय बहुत तेजी स होना चाहिए क्योंकि यही भावी आर्थिक विकास के लिए शक्ति प्रदान करता है। वास्तव म यही काल सबसे महत्वपूर्ण होता है और अर्ध स्थिर अवस्था से बाहर निकालने की अवस्था तक तीव्र गति म विकास कार्यक्रम को पूरा करने के लिए विकास सम्बन्धी नियोजन पूर्ण रूप से सतुलित और सप्रभाविक होना चाहिये। अर्ध विकसित देशो की समस्यायें इतनी विशाल और कठोर होती हं कि छोटे छोटे टुकडो म नियोजन का काय कभी भी सफल नहीं हो सकता। यह आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्था में एक बडी मात्रा मे पूंजी का विनियोग किया जाय और यातायात व सवादवाहन के साधनो विद्युत शक्ति और भारी तथा आधारभूत उद्योगो का विकास किया जाय। इन कायक्रमो के समाप्त होने के बाद ही अर्थ व्यवस्था का उचित विकास आरम्भ होगा। इसमे कोई सदेह

नहीं कि इस प्रकार के विनियोग से तुरन्त लाभ प्राप्त नहीं होंगे इसलिये सरकार को ही इन क्षेत्रों के विकास के लिये आवश्यक पूंजी का प्रबन्ध करना होगा। इसलिये अर्ध-विकसित देशों में विकास सम्बन्धी नियोजन की सफलता का प्रथम रहस्य भारी उद्योगों के विकास, यातायात के साधनों की उन्नति और विद्युत शक्ति के अधिकाधिक उत्पादन में ही है। भारी उद्योगों के विकास से नये-नये विनियोगों को प्रोत्साहन मिलेगा और निरन्तर बढ़ते हुए विनियोग इस बात का सूचक हैं कि देश की अर्थ-व्यवस्था अर्ध-स्थिर अवस्था से बाहर निकल चुकी है। यातायात के साधनों के विकास, सिंचाई तथा विद्युत शक्ति की उन्नति से देश के नये-नये क्षेत्रों में विनियोग के लिये सुविधायें उपलब्ध होती हैं और वस्तुओं का बाजार विस्तृत होता है। इन सुविधाओं के अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध होने से देश में पूंजी निर्माण की गति तीव्र होती है और व्यक्तियों के कल्याण में वृद्धि होती है। इन सुविधाओं के अभाव में बहुधा अर्ध स्थिर अवस्था से बाहर निकलने की स्थिति तक काफी समय लग जाता है और इस प्रकार समय नष्ट होने से देश के आर्थिक विकास में उतना ही समय अधिक लग जाता है। इन सुविधाओं के विकास के लिये सरकार की उपस्थिति बहुत आवश्यक है या यूं कहना चाहिये कि बिना सरकारी प्रयत्नों के इन सुविधाओं का विकास सम्भव ही नहीं है, क्योंकि सामान्य रूप से आर्थिक विकास की दर निम्न बातों पर निर्भर करती है। (१) आर्थिक विकास और व्यक्तियों के आर्थिक कल्याण के लिये किये गये राजकीय व्यय की मात्रा (२) देश में पूंजी निर्माण की दर और (३) सामाजिक राजनैतिक कारण जिनके अन्तर्गत जनता का सहयोग, जनता की नियोजन के प्रति रुचि और सामाजिक ढांचे में उचित परिवर्तन सम्मिलित होते हैं। यदि आर्थिक विकास की गति में वृद्धि करनी है तो यह आवश्यक है कि राजकीय व्यय उचित कार्यक्रमों पर किया जाय, नये-नये विनियोगों को प्रोत्साहित किया जाय, सामाजिक ढाँचे में उचित परिवर्तन किये जायें और नियोजन कार्य को लोकप्रिय बनाया जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक अवस्था में राजकीय व्यय बहुत अधिक होगा, क्योंकि अर्ध विकसित देशों में निजी उपक्रम सामान्य रूप से शर्मीला होता है और जोखिम सहन करने में उसे झिझक होती है।

यह निश्चय है कि राजकीय व्यय से आर्थिक विकास की गति तीव्र हो जायगी, किन्तु प्रजातन्त्रीय नियोजकों की सफलता आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने में ही नहीं है। उनका कर्तव्य यह भी होना चाहिये कि उपलब्ध पूंजी को विभिन्न राजकीय योजनाओं में इस प्रकार बाटें कि जनता का कल्याण अधिक से अधिक हो जाये। यही कारण है कि कृषि प्रधान अर्ध-विकसित देश में धन की एक बड़ी मात्रा सामुदायिक विकास योजनाओं और ग्राम विस्तार सेवाओं पर व्यय की जाती है। इस प्रकार के व्यय से पूंजी निर्माण की गति कुछ धीमी तो अवश्य हो जाती है किन्तु प्रजातन्त्रीय नियोजन जिसका मुख्य उद्देश्य जनता के कल्याण में वृद्धि करना है उसको जनता के कल्याण और देश के अधिकतम आर्थिक विकास के बीच एक समझौता स्थापित करना पड़ता है। प्रजातन्त्रीय नियोजन की सफलता के लिये जनता का

सहयोग नितान्त आवश्यक है। अर्ध विकसित देशों की अधिकांश जनता अशिक्षित होती है इसलिये उनका सहयोग प्राप्त करने के हेतु अधिकाधिक मात्रा में उन्हें सामाजिक और राजनैतिक सेवाएँ प्रदान की जायें।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक कृषि प्रधान अर्ध-विकसित देश में प्रजातन्त्रीय नियोजन उसी समय सफल हो सकता है जब प्रारम्भिक अवस्था में सरकार भारी तथा आधारभूत उद्योगों, यातायात, सिंचाई और बिजली के तीव्र विकास पर बड़ी मात्रा में धन का व्यय करे और साथ ही साथ यह भी ध्यान रखे कि व्यक्तियों के सामाजिक और राजनैतिक कल्याण में वृद्धि हो रही है या नहीं, अर्थात् आर्थिक विकास के साथ-साथ सामुदायिक विकास कार्यक्रम भी चालू किया जाये। हमारे देश में नियोजन आयोग ने आर्थिक विकास की इसी विधि का प्रयोग किया है।

अध्याय 3

आर्थिक विकास सम्बन्धी वित्त-व्यवस्था
(Finance for Economic Development)

प्राक्कथन–

हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि आर्थिक विकास एक निरन्तर चलती रहने वाली क्रिया है। स्पष्ट ही है कि एक देश जो शताब्दियों से विदेशों पर निर्भर रहा हो, जहाँ वैज्ञानिक तथा औद्योगिक उन्नति अपनी निम्नतम सीमाओं पर हो, जहाँ पूँजी निर्माण, जीवनस्तर और राष्ट्रीय आय बहुत ही कम हो और जहाँ मनुष्य अपनी सामाजिक शृङ्खलाओं को तोड़ कर स्वतन्त्र होना नहीं चाहता हो, बेकारी, निर्धनता और अशिक्षितता जहाँ की विशेषतायें हों—उसका आर्थिक विकास करना कोई सरल कार्य नहीं है। सबसे बड़ी समस्या यह है कि इन देशों के पास करने के लिए काम तो बहुत अधिक है किन्तु समय नहीं है क्योंकि एक तो यह पाश्चात्य देशों की अपेक्षा वैसी ही बहुत पिछड़े हुए हैं और अब यह और अधिक समय अपना विकास करने में लगायेंगे तो और भी पिछड़ जायेंगे। दूसरे जनसंख्या तेजी से बढ़ने के कारण जो भी कार्य आरम्भ किया जाय, यदि वह उचित समय में पूरा न कर लिया जाये तो सारा काम बेकार हो जाता है। परन्तु इन सबके लिए धन चाहिए—यातायात के साधनों का विकास अर्थात् सड़कों तथा रेलों का विकास एवं विस्तार, ताकि वे विकास कार्यक्रम के भार को सहन कर सकें, औद्योगीकरण के लिये नयी-नयी मशीनें, कृषि विकास के लिए सिंचाई एवं विद्युतशक्ति के विकास के लिये नये-नये बाँध बनाना और बिजली तैयार करने के स्टेशनों की स्थापना, व्यक्तियों की सामाजिक बेड़ियां काटने के लिये सामुदायिक विकास शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की सुविधायें उपलब्ध कराने के लिये एक बहुत बड़ी मात्रा में धन चाहिये। किन्तु यह धन की व्यवस्था स्वयं पिछड़े हुये देशों के बस की बात नहीं है। बचतों तथा विनियोगों का स्तर बहुत नीचा होने के कारण पूँजी निर्माण की गति बहुत धीमी होती है और अधिकांश जनता निर्धन होती है। समय बीतने के साथ-साथ निर्धनों की संख्या तो दिन दूनी रात चौगनी होती जाती है किन्तु धनी व्यक्तियों की संख्या पूर्ववत् ही रहती है। ऐसे देशों की साख भी बहुधा सीमित होती है, इसलिए विदेशी सहायता मिलना भी इतना सरल नहीं होता। पूंजी तथा धन की व्यवस्था के अतिरिक्त अर्धविकसित देशों के विकास के सम्बन्ध में और भी अनेकों कठिनाइयां होती हैं, जैसे संगठन तथा व्यवस्था सम्बन्धी

कठिनाइयाँ। इन देशों में अधिकतर कुशल संगठनकर्ताओं का अभाव होता है। यदि पूँजी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो भी जाये तो भी कुशल संगठनकर्ताओं के अभाव में उसका उचित उपयोग नहीं हो सकेगा। यह सच ही कहा गया है कि आर्थिक विकास की समस्या वित्त की इतनी नहीं है जितनी आर्थिक संगठन की।[1] इसके अतिरिक्त इन देशों में यन्त्रकला बहुत पिछड़ी हुई है। मशीनों के बिना साधनों का अधिकतम उपयोग नहीं हो सकता और इस प्रकार उत्पादन भी अधिकतम होना सम्भव नहीं है। जनसंख्या की वृद्धि अग्नि में तेल का काम कर रही है। यह सच है कि मुद्रा से विकास खरीदा नहीं जा सकता[2] किन्तु इन सब समस्याओं में सब से बड़ी समस्या वित्तीय प्रबन्ध की ही है। यातायात और औद्योगीकरण की प्रगति तथा विकास से साथ साथ अन्य समस्याएँ स्वयं समाप्त होती जायगी किन्तु फिर वही प्रश्न है कि वित्त का प्रबन्ध कैसे किया जाय?

आर्थिक विकास सम्बन्धी पूँजी के स्रोत—विकास सम्बन्धी कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए जैसा हम अभी कह चुके हैं पूँजी की आवश्यकता होती है। आवश्यक पूँजी या तो देश के अन्दर से ही उपलब्ध की जा सकती है या विदेशों से प्राप्त की जा सकती है। हम जानते हैं कि अर्ध विकसित देशों में पूँजी का निर्माण धीमा होने के कारण पुरानी जमा की हुई पूँजी बहुत कम होती है। यह पूँजी भी केवल थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में होती है जो उसे देना नहीं चाहते क्योंकि यदि वह उसे अपने पास से अलग कर दें तो अपने व्यापार और उद्योगों का क्या करेंगे? सरकार उनसे जबरदस्ती भी छीन नहीं सकती। यह ध्यान रहे कि हम केवल प्रजातन्त्रीय आर्थिक विकास की ही बात कर रहे हैं और जो कुछ भी कहेंगे इसी को दृष्टि में रख कर कहेंगे। इसलिए देश के भीतर पूँजी दो स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है— (१) साधनों को अनुत्पादक उपयोगों से निकाल कर उत्पादक उपयोगों में लगाना और (२) चालू आय को उपयोग से बचतों की ओर मोड़ देना। इन दोनों विधियों की विवेचना हम यहाँ पर करेंगे।

सभी जानते हैं कि पिछड़े हुए देशों में प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग नहीं हो पाता। कृषि में आवश्यकता से अधिक व्यक्ति लगे होते हैं। समाज में बहुत से बेकार व्यक्ति भार बने फिरते हैं जैसे भिखारी साधु धार्मिक उपदेशक या बेकार कर्मचारी—ऐसी श्रमशक्ति का उचित उपयोग होना चाहिए। इसी प्रकार जो भूमि बेकार पड़ी हो तो उस पर कृषि की जाय। पेड़ों की पत्तियों मनुष्य तथा पशुओं के मल से खाद बनाई जानी चाहिए। नदियों का बहुत सा पानी बेकार जाता है उसका उचित उपयोग किया जाए। बहुत सी पूँजी ऐसे उद्योगों में लगी हुई है जिन की वस्तुओं का उपभोग करने से मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का ह्रास होता है इसलिए ऐसी वस्तुओं का उत्पादन बन्द करके अधिक उपयोगी वस्तुओं

1 Cf Maurice Dobb *Some Aspects of Econom c Development* Page 37
2 Cf H Ellis *The Financing of Economc Development in Underdevelop ed A eas —Ind an Econom c Journal* January 1956 Page 253

का उत्पादन आरम्भ किया जाये। संक्षेप में साधनों को अनुत्पादक उपयोगों से निकाल कर उत्पादक उपयोगों में लगाया जाये। ऐसा करने से हमारी पूंजी की प्रारम्भिक आवश्यकता काफी कम हो जायेगी।

दूसरी विधि में उपभोग को कम करना होगा और बचतों को प्रोत्साहन देना होगा, अर्थात् पूंजी निर्माण की गति को बढ़ाना होगा। बचतों का यह अभिप्राय नहीं कि व्यक्ति अपने उपभोग को कम करके आय के शेष भाग को तिजौरी में बन्द करके या जमीन में गाड़ कर सुरक्षित रक्खेंगे। बचतों से हमारा अभिप्राय यह है कि व्यक्ति बचे हुए धन का विनियोग करेंगे। नयी-नयी मशीनों और औज़ारों के उत्पादन को प्रोत्साहन देंगे। पूंजीगत वस्तुओं का उत्पादन करेंगे ताकि उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो। अधिकांश अर्ध-विकसित देशों में निर्धनता का एक दूषित चक्र चलता रहता है—आय कम होने से बचतें कम होती हैं, पूंजी निर्माण कम होता है, परिणामस्वरूप उत्पादन शक्ति कम होती है और अन्त में उत्पादन कम होने से आय और भी कम हो जाती है—यह चक्र यूंही चलता रहता है। दूसरी ओर एक दूसरा चक्र आरम्भ हो जाता है। नीची आय के कारण व्यक्तियों की क्रयशक्ति कम हो जाती है वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग कम होने लगती है, विनियोगों को प्रोत्साहन नहीं मिलता मशीनों का पूरा उपयोग नहीं हो पाता और उत्पादन गिरता जाता है परिणामतया, आय और कम होती जाती है। इस प्रकार पूंजी निर्माण की धीमी गति ही सारी मुसीबतों की जड़ होती है जिसकी ओर सरकार को पूरा ध्यान देना चाहिए।

पिछड़े हुए देशों में पूंजी निर्माण की गति धीमी होने के कारण विदेशों से सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि आन्तरिक स्रोतों का स्थान विदेशी सहायता ले सकती है। विदेशी सहायता तो केवल अस्थायी रूप में ही प्राप्त की जा सकती है और केवल आन्तरिक स्रोतों के साथ-साथ ही चल सकती है, देश में निर्धनता के दूषित चक्र को तोड़ने में सहायक सिद्ध हो सकती है और देश में पूंजी निर्माण का कार्य आरम्भ कर सकती है। किन्तु विदेशी सहायता को आर्थिक विकास का एक स्थाई स्रोत नहीं बनाया जा सकता इसलिए हम देश में ही आय के स्रोत को प्राप्त करना होगा।

सरकार देश में ही आवश्यक पूंजी प्राप्त करने के लिए या तो लोगों को बचत करने को विवश कर सकती है, या उन्हें समझाबुझा सकती है, या स्वयं व्यक्ति भी अपनी इच्छा से बचतें कर सकते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा से बचाया करते थे और पूंजीगत वस्तुओं के निर्माण में लगाया करते थे। यही कारण है कि अमेरिका, इंगलैंड आदि विकसित देशों में मशीनों के उपयोग को प्रोत्साहन मिला, व्यापार का विकास हुआ और आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का जन्म हुआ। व्यक्तियों को बचत करने के लिए प्रेरणा भी दी जा सकती है। सरकार उनको विनियोग करने तथा बचाने के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधायें प्रदान कर सकती है। सरकार करारोपण द्वारा व्यक्तियों से जबरदस्ती

है और परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी आय को उपभोग पर खर्च करना चाहते हैं और अपना जीवन-स्तर पूर्ण विकसित देशों की भाँति ऊँचा करना चाहते हैं। इन सब कारणों से यह सम्भव हो सकता है कि सरकार को व्यक्तियों से जबरदस्ती बचतें प्राप्त करनी पड़ें अर्थात् सरकार को करारोपण करना पड़े। किन्तु करारोपण की विधि भी कुछ अधिक सरल नहीं होती। सरकार को कर लगाते समय बड़ी सावधानी बरतनी होगी। परन्तु करारोपण से व्यक्तियों की कार्य करने तथा बचत करने की शक्ति पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये और देश में धन के वितरण में भी असमानतायें बढ़नी नहीं चाहियें। इसके अतिरिक्त करारोपण की भी अपनी एक सीमा होती है जिसका उल्लंघन होना देश के लिये घातक हो सकता है। बहुत अधिक करारोपण से व्यक्तियों को अपनी आवश्यक वस्तुओं के उपभोग को भी कम करना पड़ेगा, और उनकी उत्पादन शक्ति कम होगी। करारोपण, विनियोग तथा बचत करने की शक्ति पर भी बुरा प्रभाव डाल सकता है। इसलिये करारोपण नीति ऐसी होनी चाहिये कि सरकार को अधिक से अधिक धन प्राप्त हो सके, बचतें और विनियोग हतोत्साहित न हों उपभोग तथा उत्पादन कम न हों और धन का वितरण समान हो। इस प्रकार कुछ क्षेत्रों में करारोपण बहुत भारी हो और प्रगतिशील भी और कुछ क्षेत्रों में बहुत हलका तथा कुछ क्षेत्रों को कर मुक्त भी रक्खा जा सकता है।

जब आन्तरिक ऋण तथा करारोपण से पर्याप्त धन एकत्रित न हो पाये तो अर्ध विकसित देशों की सरकारों को घाटे के बजटों द्वारा विकास कार्यक्रम पूरा करना चाहिये। हीनार्थ प्रबन्धन, यदि उचित सीमाओं के अन्दर रहे, तो सब से उपयुक्त उपाय है। इस नीति से देश में सामाजिक तथा आर्थिक सेवाओं की वृद्धि होती है, बेकार व्यक्तियों को काम मिलता है और क्योंकि सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्यों को पूरा करने के लिये अनेक प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता होगी, इसलिये निजी विनियोगों को प्रोत्साहन मिलेगा। हीनार्थ प्रबन्धन में सरकार प्रतिभूतियों के आधार पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लेती है और केन्द्रीय बैंक उन प्रतिभूतियों के आधार पर नये नोट छाप कर सरकार की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। परन्तु आवश्यकता से अधिक हीनार्थ प्रबन्धन देश के लिये घातक सिद्ध होता है। अधिक मुद्रा निकासी से मुद्रा स्फीति को जन्म मिलता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि हीनार्थ प्रबन्धन से मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो। यदि सरकार नयी मुद्रा को उत्पादन कार्यों पर व्यय करती है और यदि व्यक्ति तीव्र गति से काम करते हैं और बढ़ी हुई आय में से बचत करते हैं तो मुद्रा स्फीति का भय कभी भी नहीं होता। वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होती तो अवश्य है किन्तु मूल्य की हर वृद्धि भी तो बुरी नहीं होती और न ही मुद्रा प्रसार का सूचक होती है। केवल वही मूल्य वृद्धि स्फीतिक होती है जो मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होते रहने का एक क्रम आरम्भ कर दे। हीनार्थ प्रबन्धन को बुराइयों से सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक यह है कि उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में भी वृद्धि हो और सरकार करारोपण तथा ऋण सम्बन्धी नीति भी साथ-साथ चलाती रहे

ताकि व्यक्तियो की अतिरिक्त क्रय शक्ति को सरकार अपने पास वापिस ले ले।

जब आन्तरिक साधन विकास कार्य क्रम के व्यय के अनुपात मे एकत्रित नही हो पाते तो सरकार को विदेशो से सहायता मागनी पडती है। विकास कार्य क्रम इतना विशाल होता है कि किसी भी देश के आन्तरिक साधन इतने नही हो सकते कि उसके लिये पर्याप्त हो, इसलिये उसे विदेशी सहायता लेनी ही पडेगी। पिछडे हुये देशो को पूँजी के अतिरिक्त मशीनो की भी आवश्यकता होती है, मन्त्रात्मक सलाह भी चाहिये तथा वैज्ञानिक जानकारी और अनुसधान के लिये उचित ज्ञान तथा सामग्री भी चाहिये, जो उन्हे विदेशो से ही प्राप्त होती है। इस प्रकार विदेशी पूँजी या तो ऋणा के रूप मे या सहायता के रूप मे प्राप्त होती है। विदेशी सहायता या तो आर्थिक हो सकती है या ज्ञान के रूप मे प्राप्त हो सकती है। सरकार या तो विदेशा के व्यापारियों या निजी व्यक्ति एव सस्थाओ से ऋण प्राप्त कर सकती है या विदेशी सरकारा से ऋण ले सकती है या विदेशी सरकारा से प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त कर सकती है या अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से ऋण ले सकती है। दूसरी लडाई के बाद कोलम्बो योजना तथा अन्य योजनाओ मे विभिन्न सरकारें एक दूसरे को यथा-शक्ति सहायता प्रदान करती रही हैं। इसी प्रकार अमेरिका की सरकार ने भी पिछडे हुये तथा अर्ध विकसित देशो को अनेक प्रकार की सहायतायें दी हैं। अमेरिका के प्रेजीडेन्ट ट्रूमेन पौइन्ट फोर प्रोग्राम (President Trumen's 'Point Four' Programme) के अन्तर्गत, युद्ध के बाद बहुत से देशो को अमेरिका ने प्रत्यक्ष सहायता प्रदान की है। गत वर्षो मे रूस ने भी इस प्रकार की सहायता दी हैं। इसी प्रकार विश्व बैंक, तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं से भी अर्ध विकसित देशो को काफी सहायता प्राप्त हुई है। सच म विदेशी पूजी न विभिन्न देशो के आर्थिक विकास में इतनी सहायता दी है कि उसके पक्ष म जितना कहा जाये उतना कम है। यह सहायता केवल मुद्रा के रूप मे ही प्राप्त नही हुई है वरन् डाक्टरो, इन्जीनीयरो, वैज्ञानिको, कारीगरों, सलाहकारो, मशीनो, वस्तुओ, कच्ची सामग्री के रूप म भी प्राप्त हुई है। किन्तु विदेशी सहायता म भी कुछ कठिनाइयाँ होती हैं। प्रथम, विदेशी ऋणो या सहायता के सम्बन्ध मे यह निश्चित नही, कि समय पर उपलब्ध हो सकेगी। दूसरे ऐसी सहायता के साथ बहुधा राजनैतिक या आर्थिक शर्तें लगी होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से जो आर्थिक सहायता या ऋण प्राप्त होते हैं, उनके साथ इस प्रकार की कोई भी शर्तें नही होती और इस प्रकार यह विदेशी सहायता का सबसे अच्छा रूप है।, किन्तु, विदेशी सहायता को केवल द्वितीय महत्व ही देना चाहिये।[3] विदेशी सहायता से केवल उसी प्रकार काम लेना चाहिये जैसे मशीन में तेल काम देता है, अर्थात् आर्थिक विकास कार्य क्रम की मशीनो को चलाने के लिये शक्ति तो आन्तरिक साधनो से ही प्राप्त करनी चाहिये केवल चिकनाई के लिये विदेशी सहायता से तेल का काम लेना चाहिये। बडे बडे अर्थशास्त्रियों ने इस बात को स्वीकार किया है

3 United Nations, *Methods of Financing Economic Development in Under—developed Areas*, page 94

कि स्थायी लाभ केवल आन्तरिक साधनों से ही प्राप्त हो सकते हैं। व्यक्तियों में स्वयं बचाने की आदत डालनी चाहिये। विदेशी सहायता से केवल अस्थायी लाभ ही प्राप्त होते हैं। ऊँचे जीवनस्तरों के लिये एक स्थायी आधार समाज के भीतर से ही उत्पन्न होना चाहिये।[4]

भारत में विकास सम्बन्धी वित्त व्यवस्था—

भारत में सरकार की ओर से आर्थिक नियोजन के हेतु सबसे पहला प्रयत्न सन् १९४३ में हुआ था जबकि वाइसराय की एक्ज़ीक्यूटिव काउन्सिल (Viceroy's Executive Council) की एक पुनर्निमाण समिति नियुक्त की गई थी। सन् १९४५ में केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय सरकारों से उनकी अपनी अपनी विकास योजनाओं की रूप रेखा मांगी, जिनमें से सरकार ने ४० करोड़ रुपयों की लागत की योजनायें चुनी थीं और प्रान्तीय सरकारों को इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये ३५० करोड़ रुपयों के पेशगी अनुदान दिये और १५० करोड़ रुपयों के ऋण दिये।[5] किन्तु युद्धोत्तर काल में उत्पन्न होने वाली अनेकों कठिनाईयों से इन योजनाओं को उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई जितनी आशा की जाती थी। युद्धकाल में मूल्य तो काफी बढ़ ही गये थे, किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद सरकार को मुख्य भय यह था कि कहीं पहली लड़ाई की भाँति, अब भी मन्दी उत्पन्न न हो, इसलिये सरकार ने ऐसी आर्थिक नीति अपनाई कि मुद्रा स्फीति कम होने के स्थान पर और बढ़ने लगी। सन् १९४७ में देश के विभाजन से भारत के लिये पूर्णतया नई समस्याएँ उत्पन्न हो गई। खाद्यान्न की कमी और भी अधिक होगई क्योंकि विभाजन के बाद भारत के हिस्से में ८०% जनसंख्या आई लेकिन गेहूँ उपजाने वाले क्षेत्रों का ६५% और चावल उपजाने वाले क्षेत्रों का केवल ६९% भाग ही आया। इसके अतिरिक्त भारत को शरणार्थियों के पुनर्वास की भी समस्या थी। अनुमान है कि सन् १९४८ से १९५३ तक भारत सरकार ने शरणार्थियों के पुनर्वासन पर लगभग ७५ करोड़ रुपये खर्च किये थे। सन् १९४९ में रुपया के अवमूल्यन से भारत और पाकिस्तान के बीच आर्थिक सम्बन्ध सुधारने के स्थान पर और भी बिगड़ गये और व्यापार तो लगभग बन्द ही हो गया। इन सब कठिनाइयों के कारण भारत सरकार का विकास कार्य क्रमों पर व्यय बहुत कम होगया। सन् १९५१ में जब कि रिजर्व बैंक ने मुद्रा स्फीति को रोकने के लिये उचित उपाय किये, तब से बजट में विकास सम्बन्धी वित्त को एक प्रमुख स्थान प्राप्त होना आरम्भ हुआ और सरकार के 'विनियोगों' तथा विकास कार्यों के लिये ऋणों की राशि बढ़ने लगी। केन्द्रीय सरकार के व्यय में विनियोगों का भाग सन् १९४९ में ३०% से सन् १९५३ में ४०% होगया था।[6]

---

4. Cf. Buchanan and Ellis, *Approaches to Economic Development*. Page 201

5. Report of the *Reserve Bank of India on Currency and Finance*, 1945-46, Page 26

6. U. N.. *Economic Survey of Asia and the Far East*, 1953 Page 13

दिसम्बर सन् १९५२ मे नियोजन आयोग ने पहली योजना का अन्तिम रूप प्रस्तुत किया और ५ वर्षो मे २०६९ करोड रुपयों को व्यय करने का निश्चय किया। बाद मे यह राशि २३७८ करोड रुपये कर दी गई थी। प्रारम्भिक व्यय राशि के अनुसार केन्द्रीय तथा राजकीय सरकारो द्वारा १२५८ करोड रुपये ऋणो तथा बजट सम्बन्धी साधनो से प्राप्त होने का निश्चय किया गया था और ८११ करोड रुपयो की इस प्रकार कमी रही थी। इसको पूरा करने के लिये २९० करोड रुपयो का हीनार्थ प्रबन्धन किया गया और शेष ५२१ करोड रुपयो की कमी को विदेशी सहायता, अतिरिक्त ऋणो तथा अतिरिक्त हीनार्थ प्रबन्धन से पूरा करने का निश्चय किया गया था। किन्तु जब योजना में व्यय की राशि को २३७८ करोड रुपये कर दिया गया तब ५२१ करोड रुपयो की प्रारम्भिक कमी ८२० करोड रुपयों की कमी में बदल गई थी। योजना के ५ वर्षों मे १२७७ करोड रुपये बजट से प्राप्त हुए थे, २०३ करोड रुपये विदेशी सहायता से प्राप्त हुए थे और ५३२ करोड रुपयो का हीनार्थ प्रबन्धन करना पडा था। इस प्रकार योजना के लिये कुल धन इन चार स्रोतो से प्राप्त हुआ था। (१) ऋणों (२) करारोपण (३) हीनार्थ प्रबन्धन और (४) विदेशी सहायता।

ऋण प्राप्त करने में सरकार को आशा से भी अधिक सहायता प्राप्त हुई थी। यह ध्यान रहे कि योजना के पहले वर्ष में सरकार को ऋण प्राप्त करने मे कोई विशेष सफलता प्राप्त नही हुई थी, क्योकि उस वक्त मुद्रा बाजार की स्थिति बहुत खराब थी किन्तु अगले दो वर्षों मे मुद्रा बाजार की स्थिति सुधर जाने से सरकार को बहुत सफलता प्राप्त हुई और योजना के चौथे वर्ष में सरकार ने बाजार से बहुत बडी मात्रा में ऋण इकट्ठे किये, और ५ वर्षों मे जो ऋण प्राप्त हुए उनकी राशि निर्धारित लक्ष्य की अपेक्षा ८७ करोड रुपये अधिक थी। योजना के ५ वर्षों में २०२ करोड के ऋण प्राप्त हुए थे जबकि लक्ष्य केवल ११५ करोड रुपये ही एकत्रित करने का था। इन ५ वर्षों मे अल्प बचतो, प्रावदान कोषो इत्यादि से २७० करोड रुपयो के स्थान पर ३०४ करोड रुपये प्राप्त हुए थे। यह हर्ष की बात है कि सन् १९५०-५१ की अपेक्षा अल्प बचतो से एकत्रित हुई राशि योजना के अन्तिम वर्ष मे दुगनी हो गई थी।

प्रथम योजना के काल म केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को करारोपण से प्राप्त होने वाली राशि में कोई विशेष वृद्धि नही हो पाई थी। सन् १९५०-५१ म करो से लगभग ६२६ करोड रुपये प्राप्त हुए थे। सन् १९५१-५२ मे कोरिया युद्ध के कारण अधिक लाभ प्राप्त होने से करारोपण से ७३८ करोड रुपये प्राप्त हुए थे। इसके बाद अगले २ वर्षों मे करो से प्राप्त आय मे कुछ कमी हो गई किन्तु योजना के चौथे वर्ष मे इस आय में फिर वृद्धि हुई और सन् १९५५-५६ मे करो से लगभग ७५० करोड रुपये प्राप्त हुए थे। योजना के ५ वर्षो में अतिरिक्त करारोपण से १७५ करोड रुपयो की अतिरिक्त आय प्राप्त हुई थी और राष्ट्रीय आय मे करो का अनुपात जो सन् १९५०-५१ म ६·६% था वह सन् १९५५-५६

में वृद्धि कर केवल ७% ही हो पाया। भारत जैसे देश के लिये जहाँ करारोपण प्रणाली काफी सुव्यवस्थित है करों से इतनी कम राशि प्राप्त होना आश्चर्यजनक बात है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में हीनार्थ प्रबन्धन की नीति को बड़ी सावधानी से लागू किया गया था। अर्ध विकसित देश में हीनार्थ प्रबन्धन की नीति बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। एक तो यह रोजगारों की संख्या में वृद्धि करने में सहायक हो सकती है और दूसरे पूँजी निर्माण की गति को तीव्र कर सकती है। प्रथम योजना में सरकार के बजट के घाटों ने राष्ट्रीय व्यय में वृद्धि की थी और बजट के घाटों को सरकार ने अपने एकत्रित कोषों से तथा रिजर्व बैंक से ऋण लेकर पूरा किया था। प्रथम योजना में सरकार को यह आशा थी कि २९० करोड़ रुपयों का हीनार्थ प्रबन्धन होगा, और क्योंकि यह राशि पौंड पावनों के कोषों से प्राप्त की जानी थी, इसलिये हीनार्थ प्रबन्धन से मुद्रा प्रसार में वृद्धि होने का भय नहीं था। योजना के प्रथम वर्ष में हीनार्थ प्रबन्धन करने की कोई आवश्यकता नहीं हुई क्योंकि सरकार को आवश्यकता से अधिक राशि बजट से ही प्राप्त हो गई थी। योजना के दूसरे और तीसरे वर्षों में घाटों को नकद कोषों से पूरा किया गया था। किन्तु सन् १९५४-५५ के बाद बजट के घाटों को कोष बिलों (Treasury Bills) में वृद्धि करके पूरा किया गया था। योजनाकाल में राज्य सरकारों के बजट के घाटों का अनुमान लगभग २८० करोड़ रुपयों का था।[7] किन्तु क्योंकि यह राशि अधिकतर जनता से ऋणों द्वारा प्राप्त की गई थी इसलिये इसे हीनार्थ प्रबन्धन नहीं कहा जा सकता। इतना हीनार्थ प्रबन्धन होने के बाद भी भारत में मुद्रा स्फीति में कोई विशेष वृद्धि नहीं होने पाई थी। यह निम्न तालिका से विदित हो जाता है —

	थोक मूल्यों सम्बन्धी सूचक अंक (१९३९—१००)	रहन सहन की लागत सम्बन्धी सूचक अंक (१९४९—१००)
१९५०—५१	४५०	१०१
१९५१—५२	४३५	१०४
१९५२—५३	३८५	१०४
१९५३—५४	३९७	१०६
१९५४—५५	३४०	९९
१९५५—५६	३९०	९६

मुद्रा प्रसार में वृद्धि न होने के कई कारण थे। पहला कारण तो यह था कि योजना के अन्तिम दो वर्षों में ही मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि हुई थी, जिसके प्रभाव

7. U. N., *Economic Survey of Asia and the Far East*, 1953, Page 201.

को प्राप्त करने के विभिन्न स्रोतों की विवेचना निम्न पृष्ठों में करेंगे और यह देखेंगे कि नियोजन आयोग के अनुमान कहाँ तक सफल हो सकते है।

भारत मे आर्थिक नियोजन कार्यक्रम का मौलिक उद्देश्य राष्ट्रीय आय की वृद्धि में से अधिकाधिक मात्रा में बचतें प्राप्त करना है और इन बचतों से विनियोग के एक निरन्तर बढते हुये कार्यक्रम के लिये आवश्यक वित्त की व्यवस्था इस उद्देश्य से, करना है कि राष्ट्रीय आय म निरन्तर वृद्धि होती रहे। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भारतीय कर प्रणाली मे इस प्रकार उलट फेर करनी होगी कि योजना-काल मे अधिक से अधिक मात्रा में बचतें प्राप्त हो सकें। दूसरे शब्दों म उन सभी व्यक्तियो पर अधिकाधिक मात्रा में कर लगाने होंगे जिनके लाभों की मात्रा में विकास कार्यक्रम के कार्यान्वित होने से वृद्धि हो रही है। उन्हें कर का बढता हुआ भार महसूस भी नहीं होगा। दूसरी योजना मे धन को व्यय करने का जो कार्यक्रम निश्चित हुआ है, उसके आधार पर भावी कर प्रणाली की प्रकृति को भली प्रकार से जाना जा सकता है। योजना में अधिकांश व्यय सामाजिक सेवाओं और भारी उद्योगों के विकास पर किया जायेगा। इसलिये भविष्य म मुद्रा स्फीति की सम्भावना बहुत अधिक रहेगी। आयों की वृद्धि से वस्तुओं की माँग उनकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक होगी और मूल्यों में वृद्धि होगी, किन्तु सरकार इसको अप्रत्यक्षकर लगाकर रोक सकती है और प्रत्यक्ष करो में भी आवश्यक फेर बदल उसको करने होंगे। कर जाँच आयोग ने इन सब स्थितियों को देखकर ही अपनी करारोपण नीति निश्चित की थी जिसका मुख्य उद्देश्य भारतीय कर प्रणाली को विकास सम्बन्धी नियोजन के अनुकूल बनाना था। ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरी योजना मे करों की सख्या एव दरों म इस प्रकार परिवर्तन करने होंगे कि अधिकाधिक मात्रा में अप्रत्यक्ष कर लगाने होंगे और विलासिता की वस्तुओं के अतिरिक्त आवश्यक उपभोग की वस्तुओं पर भी कर लगाने होंगे। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे ऐसे करों की बहुत आवश्यकता होती है, क्योंकि वस्तुओं की पूर्ति उतनी तेजी से नहीं बढ पाती है जितनी तेजी से क्रयशक्ति बढती है और ऐसे कर व्यक्तियों की अतिरिक्त क्रय शक्ति को कम करने में सहायक होते हैं। किन्तु यदि अप्रत्यक्ष करारोपण का प्रयोग आवश्यकता से अधिक होता है तो इससे विकास कार्यक्रम को हानि होती है और प्रजातन्त्रीय नियोजन का वास्तविक उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ प्रत्यक्षकरों को भी लागू करना होगा जैसे व्यक्तिगत आयकर, व्ययकर, पूंजीकर, किन्तु इस प्रकार, कि उत्पादन पर बुरा प्रभाव न पडे।

दूसरी योजना मे कृषि क्षेत्र मे आय मे अधिक वृद्धि होगी। हमारे देश मे ग्रामीण जनता के ऊपर शहरी जनता की अपेक्षा कर भार कम है, क्योंकि अधिकतर अप्रत्यक्ष कर गैर-कृषि वस्तुओं पर लगे हुये हैं, जिनका उपभोग ग्रामीण क्षेत्र वाले नहीं करते हैं। कर जाँच आयोग के अनुसार शहरी क्षेत्रों मे कर भार ६·५% है और ग्रामीण क्षेत्रों में ५·३% है। अत ग्रामीण क्षेत्रों मे कर बढाने की अधिक गुन्जाइश है और सरकार को ग्रामीण क्षेत्रों मे अप्रत्यक्ष कर बढाने के अतिरिक्त

कृषि कर या उन्नति या उपकर उन क्षेत्रो में लगाने होंगे जहाँ उन्नति के चिन्ह अधिक दृष्टिगोचर हो रहे हो। किन्तु यह ध्यान रहे कि करारोपण से कृषि उत्पादन पर बुरे प्रभाव न पड़ें। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में खाद्यान्न की माँग म बहुत वृद्धि होती है, इसलिये करारोपण के साथ साथ उत्पादन की मात्रा एव गुणो म आवश्यक उन्नति प्राप्त करने के लिये कृषको को कुछ रियायतें देनी होंगी और आर्थिक सहायता भी देनी होगी। प्रत्यक्ष करो मे भी इस प्रकार समायोजन स्थापित करना होगा कि सरकार को अधिक आय प्रदान करने के साथ साथ वे पूजी निर्माण को भी प्रोत्साहन दे सकें। नियोजित अर्थ-व्यवस्था में प्रत्यक्ष करो की दरों के थोडी सी ऊँची होने से कोई हानि नही होती क्योकि ऐसी अर्थव्यवस्था में सरकार की सावधानी के कारण लाभ की दरें भी ऊँची होती हैं और जोखिम का भय भी कम होता है। यह ध्यान रहे कि दूसरी योजना मे कुल उपभोग व्यय के २१% की वृद्धि होने की आशा है जबकि राष्ट्रीय आय मे केवल २५% की वृद्धि होगी। इस प्रकार कर आय मे वृद्धि तो अवश्य होगी परन्तु यह आशा करना कि १२०० करोड रुपये (८०० करोड का तो साधारण लक्ष्य है ही और ४०० करोड साधनों की कमी को पूरा करने के लिये) प्राप्त हो सकेंगे, अनुचित है।

दूसरी योजना में जनता से १२०० करोड रुपये प्राप्त होने का अनुमान है, ७०० करोड रुपये, ऋणो से और ५०० करोड रुपये अल्प बचतो से। सरकार को अन्य उपायों की अपेक्षा अल्प बचतो को एकत्रित करने की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। इसी में सफलता की अधिक आशा है। सरकारी व्यय की मात्रा अधिक होने के कारण और रोजगार में वृद्धि होने के कारण सरकार को अल्प बचतो से अधिक धन प्राप्त हो सकता है। कुछ लेखको ने 'स्थगित साख प्रणाली' का प्रस्ताव दिया है।[9] इस प्रणाली मे नयी आयो का भुगतान करते समय, कुछ भाग के भुगतान को सरकार स्थगित करदे और इस प्रकार प्राप्त धन को विकास कार्यो में खर्च करे और जो आय कमाने वाले हैं जिनकी आय का वह भाग जिस का भुगतान स्थगित कर दिया गया था, उनको कुछ निश्चित समय बाद मये सूद के वापिस करदे। वास्तव में व्यक्ति करारोपण की अपेक्षा अनिवाय बचतो को अधिक पसद करेंगे।

हम पहले ही कह चुके हैं कि दूसरी योजना म १२०० करोड रुपयो का हीनार्थ प्रबन्धन होगा। १२०० करोड रुपयो म से २०० करोड रुपये तो पौण्ड पावने निकाल लिये जायेंगे और १००० करोड रुपयो की राशि के नये नोट प्रकाशित किये जायेंगे। इस प्रकार दूसरी योजना मे जितनी धन राशि व्यय की जायेगी उसका लगभग २०% नई मुद्रा की निकासी करके प्राप्त किया जायेगा। यह ध्यान रहे कि मुद्रा की पूर्ति में यह वृद्धि एक दम और एक साथ झटके के साथ नहीं होनी चाहिये क्योंकि इससे अत्यधिक मुद्रा प्रसार होने का भय रहता है। इसलिये एक अर्थ

9 A. Ghosh, *Indian Economy—Its Nature and Problems*, Page 70.

विकसित देश में मुद्रा की पूर्ति धीरे धीरे समान गति से बढ़ाई जानी चाहिये ताकि मुद्रा प्रसार की गति धीमी ही रहे। मूल्य वृद्धि को रोकने के लिए अन्य प्रकार के उपाय भी किये जा सकते हैं, जैसे, कर ढाँचे को कस कर, मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग इत्यादि। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय नियोजन आयोग राशनिंग और मूल्य नियन्त्रण के पक्ष में नहीं है। मूल्य नियन्त्रण से दीर्घकाल में काम करने की इच्छा हतोत्साहित होती है, उत्पादन में बाधा उत्पन्न होती है, धन को गुप्त रूप से सचय करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, चोर बाजारी बढ़ती है, और स्वभाविक रूप से सरकार मुद्रा स्फीति को रोकने में सफल नहीं होती। इस प्रकार हीनार्थ प्रबन्धन के बुरे प्रभावों को रोकने के लिये करारोपण ही एक उपयुक्त उपाय प्रतीत होता है।

साधारणतया मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने के साथ साथ वस्तुओं की पूर्ति भी बढ़नी चाहिये। यदि ऐसा नहीं होता तो वस्तुओं के मूल्य बढ़ने लगेंगे। किन्तु एक महत्व-पूर्ण बात और ध्यान देने योग्य है, वह यह कि जितना हीनार्थ प्रबन्धन करने का निश्चय सरकार ने किया है, उससे नोटों की मात्रा में वृद्धि न होने पर भी मुद्रा प्रसार उत्पन्न होना स्वभाविक ही है। बात यह है कि जब विनियोगों में धन राशि हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा लगाई जाती है, तो व्यक्तियों की आय बढ़ने लगती है, और यदि इसके साथ साथ उपभोग तथा अन्य प्रकार की वस्तुओं में वृद्धि नहीं होती तो वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि अनिवार्य रूप से होगी। यदि सरकार ने विनियोगों में जो राशि लगाई है, उसे अतिरिक्त करारोपण या ऋणों द्वारा प्राप्त *किया गया है तो मूल्यों में वृद्धि होने की सम्भावना होगी ही नहीं, क्योंकि एक तो* वास्तविक मुद्रा की पूर्ति में कोई वृद्धि हुई ही नहीं है, और इसके अतिरिक्त लोगों के पास जो क्रय शक्ति थी वह सरकार ने अपने लिये प्राप्त करली और दूसरे जो कुछ क्रय शक्ति व्यक्तियों के पास रह गई है, उसके लिये वस्तुएँ पहले से ही उपलब्ध थी।

साधारणतया यह कहा जाता है कि जो अतिरिक्त धन का विनियोग किया जाता है, उससे वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होने से वस्तुओं के मूल्यों में स्फीतिक वृद्धि नहीं होती। किन्तु भारत में जैसी परिस्थितियाँ हैं, उनमें यह आशा करना निरर्थक होगा कि *हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा व्यक्तियों की वस्तुओं की माँग में जो वृद्धि होगी* उसके साथ साथ वस्तुओं की पूर्ति उसी अनुपात में बढ़ेगी। इसके कई *कारण हैं —प्रथम, क्योंकि दूसरी योजना में भारी उद्योगों के विकास पर मुख्य* प्रकार से ध्यान दिया गया है, इसलिये उपभोग की वस्तुओं में एकदम वृद्धि नहीं होगी, कुछ समय बाद उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाया जा सकेगा, और इतने समय में मूल्यों में स्फीतिक, वृद्धि हो जायेगी। दूसरे, मशीनों आदि में जितनी फालतू उत्पादन शक्ति थी, उसका पूरा उपयोग पहली योजना में ही हो चुका है, इसलिये अब उधर भी उत्पादन बढ़ने की कोई गुन्जाइश नहीं दीखती। तीसरे, यद्यपि कुछ प्रकार के श्रमिक बहुतायत में हैं, किन्तु निपुण तथा यन्त्रकला और अन्य उद्योगों के

अध्याय ४

भारत में आर्थिक नियोजन का प्रारम्भिक इतिहास
(Early History of Economic Planning in India)

प्रारम्भिक इतिहास—

विदेशियों के आने से पहले हमारा देश सोने की चिड़िया के नाम से प्रसिद्ध था। परन्तु विदेशियों ने हमारे देश को ऐसा खोखला कर दिया कि आज भारत की सम्पन्नता निम्न स्तर पर है और उसको अविकसित और पिछड़े हुए देशों की सूची में सम्मिलित किया जाता है। पिछली दो शताब्दियों में भारत की जो आर्थिक अवनति हुई है जिसका प्रभाव देश के सम्पूर्ण जीवन पर पड़ा है, उसके इतिहास के विषय में हम सभी ही भली भाँति जानते हैं। आज हम निर्धन हैं और अपने निर्माण के लिए विदेशों का मुँह ताक रहे हैं। हमारे देश में प्रति व्यक्ति आय निम्नतम है, हमारी कृषि पिछड़ी हुई अवस्था में है और हमारे उद्योग अन्य देशों की अपेक्षा आधुनिक ढंग पर नहीं चलाये जाते। हमारे देश में वैज्ञानिक अनुसंधान का स्तर बहुत नीचा है और हर क्षेत्र में आज हम विदेशों की तुलना में बहुत गिरे हुए हैं। पिछले २० वर्षों तक भारत में निर्बाधावादी नीति का बोलबाला रहा है और विदेशी प्रतियोगिता तथा विदेशी सरकार की नीतियों ने हमारे देश की आर्थिक सम्पन्नता की जड़ों को हिलाकर रख दिया था। किन्तु भारतवासी इससे अनभिज्ञ न थे। भारत की जनता ने बहुत पहले से ही ब्रिटिश सरकार की नीतियों का विरोध तथा उल्लंघन तक करना आरम्भ कर दिया था। ब्रिटिश सरकार ने भी धीरे-धीरे निर्बाधावादी नीति को त्याग दिया और अन्य देशों के साथ-साथ भारत में भी नियन्त्रित व्यापार की नीति को अपनाया गया। वैसे तो संसार में २०वीं शताब्दी के आरम्भ से ही आर्थिक नियोजन की नीति का महत्व बढ़ना आरम्भ हो गया था, परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद तो प्रत्येक देश की सरकार ने आर्थिक नियोजन को अपनी नीति का एक मुख्य अंग बना लिया और आज आर्थिक नियोजन प्रत्येक देश के आर्थिक विकास के लिए एक आवश्यक अंग बन गया है। भारत में आर्थिक नियोजन का कार्य बहुत पहले ही आरम्भ हो जाना चाहिये था परन्तु ब्रिटिश शासकों ने भारत के आर्थिक विकास की ओर ध्यान ही नहीं दिया और उसका परिणाम यह है कि आज भी देश की ७०% से अधिक जनसंख्या कृषि पर निर्भर है और हमारे यहाँ का जीवन स्तर

इतना गिरा हुआ है। देश में दरिद्रता अपनी चरम सीमा पर है, मूल्य बढ़ते जा रहे हैं और आय में उतनी वृद्धि नही हो रही है जिसके कारण मनुष्य एक साधारण श्रेणी का जीवन भी व्यतीत नही कर सकता। हमारी राष्ट्रीय आय अन्य देशो की तुलना में बहुत कम है। इसका अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है :—

देश	वर्ष	कुल जनसंख्या	कुल राष्ट्रीय आय	प्रति व्यक्ति आय
अमेरिका	१९५२	१५६ ९८ मि०	१,३८,२८० करोड़ रु०	८,८०८ रु०
ब्रिटेन	१९५२	५० ४३ मि०	१८,१९७ ,, ,,	३,६०८ ,,
जापान	१९५१	८४ ३० मि०	६,४१४ ,, ,,	७६१ ,,
लंका	१९५२	७ ४४ मि०	४४१ ,, ,,	५९५ ,,
भारत	१९५५	३५९ ३३ मि०	९,५३० ,, ,,	२८१ ,,

परन्तु उपर्युक्त तालिका को देखकर भयभीत होने के स्थान पर हमें कुछ प्रेरणा लेनी चाहिये। भारत में प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं है। हम इन साधनों का उचित उपयोग करके अपने देश की सम्पन्नता को वापिस ला सकते हैं और यह केवल आर्थिक नियोजन द्वारा ही सम्भव है।

वैसे तो नियोजन मनुष्य के विकास का मुख्य अंग है परन्तु आर्थिक क्षेत्र में सामाजिक हित की दृष्टि से नियोजन का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। मनुष्य की विवेकशीलता उसको अपने जीवन के हर पहलू में नियोजन करने के लिए बाध्य करती है और इसीलिये मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन नियोजित होता भी है। परन्तु देश के आर्थिक जीवन का नियोजन इस शताब्दी से पहले सम्भव नहीं हो सका था। भारत में सन् १९३७ में सर्व प्रथम नियोजन कार्य की ओर ध्यान दिया गया था। उस वर्ष देश के कुछ प्रान्तों में कांग्रेस सरकार स्थापित हुई थी। परिणामस्वरूप अक्तूबर सन् १९३८ में प० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय नियोजन समिति का निर्माण हुआ। इस समिति ने बड़े ही लगन से काम किया परन्तु सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के छिड़ने और कांग्रेसी नेताओं द्वारा ब्रिटिश सरकार की युद्ध नीति का समर्थन न हो पाने पर बहुत से नेता गिरफ्तार कर लिये गये और समिति के कार्य में बाधाएँ उत्पन्न हुईं। फिर भी इसका काम जारी रहा। समिति जनता को नियोजित अर्थ-व्यवस्था के महत्व को समझाती रही और आवश्यक आँकड़े प्राप्त करती रही। नियोजन समिति ने देश की महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया, आँकड़े एकत्रित किये और अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, जिनके आधार पर अनेकों योजनाएँ प्रस्तुत की गईं, जैसे बम्बई योजना, जनता की योजना, गाँधीवादी योजना और अन्त में भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ।

भारत में आर्थिक नियोजन की प्रगति एवं इतिहास को समझने के लिये यह आवश्यक है कि इन सभी योजनाओं की एक झाँकी दे देनी जाये जो गैर सरकारी

प्रयत्नो द्वारा देश के आर्थिक विकास के हेतु समय-समय पर प्रस्तुत की गई थी। हम निम्न में इन योजनाओ का एक संक्षिप्त विवरण देते है :—

(१) बम्बई योजना (Bombay Plan)—यह योजना सन् १९४४ मे प्रकाशित की गई थी। इस योजना के आने से पहले नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रमो पर विचार विमर्श तो बहुत हुए थे परन्तु कोई भी क्रमबद्ध योजना जनता के सम्मुख नही आई थी। इसका वास्तविक शीर्षक 'भारत के आर्थिक विकास के लिये एक योजना' था। परन्तु क्योकि इसके निर्माणकर्त्ताओ में से ७ बम्बई के प्रमुख उद्योगपति थे इसलिये यह बम्बई योजना के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इस योजना के मुख्य लक्ष्य थे : प्रथम, भारत की प्रति व्यक्ति आय १५ वर्ष के अन्दर वर्तमान स्तर की अपेक्षा दुगनी करना और दूसरे, कृषि आय तथा औद्योगिक आय दुगनी करना। इस योजना की कुल लागत १० हजार करोड रुपये रखी गई थी और इस राशि का व्यय निम्न प्रकार होना था —

			(करोड रुपयो मे)
उद्योग	...	...	४४८०
कृषि	...	...	१२८०
यातायात	...	...	९००
शिक्षा	..	...	४९०
स्वास्थ्य	...	...	४५०
गृह व्यवस्था	...	...	२,२००
विविध	...	...	२००

यह राशि निम्न स्रोतो से प्राप्त की जानी थी —

बाह्य साधन—

संचित धन	...	...	३०० करोड रु०
पौंड प्रतिभूतियाँ	...	...	१,००० ,, ,,
व्यापार	...	...	६०० ,, ,,
विदेशी ऋण	...	..	७०० ,, ,,
योग	...	...	२,६०० ,, ,,

आन्तरिक साधन—

बचत	...	...	४,००० करोड रु०
मुद्रा प्रसार	...	...	३,४०० ,, ,,
योग	...	...	१०,००० ,, ,,

इस योजना की प्रमुख बातें निम्न प्रकार है —

(१) कृषि विकास—योजना का मुख्य लक्ष्य कृषि उत्पादन को दो गुने से अधिक करना था, जिसके लिये कृषि भूमि का विभिन्न फसलों में पुर्नवितरण होना था। साथ ही कृषि के वर्तमान दोषो जैसे अनार्थिक जोत, ग्रामीण ऋण, भूमि का

कटाव आदि को कम करना था। इसलिए योजना में नये-नये जंगल लगाने तथा महत्राग्नि के आधार पर कृषि करने की विधि पर जोर दिया गया था। योजना में वैज्ञानिक खेती पर भी जोर दिया गया था। कृषि विकास के लिये धन के व्यय की आवश्यकतायें निम्न प्रकार थी:—

	आवर्तक राशि (Recurring)	अनावर्तक राशि (Non Recurring)
भूमि की सुरक्षा	१० करोड़ रु०	२०० करोड़ रु०
कार्यशील पूंजी	२५० ,, ,,	—
सिंचाई—		
नहरें	१० ,, ,,	४०० ,, ,,
कुयें	—	५० ,, ,,
आदश खेत	१३० ,, ,,	१६५ ,, ,,
योग	४०० ,, ,,	८४५ ,, ,,

(२) **उद्योग**—योजना में औद्योगिक विकास के क्षेत्र में आधारभूत उद्योगों को प्राथमिक स्थान दिया गया था। उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों का उत्पादन भी दो गुना करने का उद्देश्य था। इसके साथ-साथ उपलब्ध श्रमशक्ति का अधिकतम उपयोग करने में बड़ी-बड़ी तथा कीमती मशीनों को खरीदने में भारी व्यय को कम करने के लिए छोटे छोटे तथा कुटीर उद्योगों के विकास को विशेष महत्व प्रदान किया गया था। योजना समाप्त होने के बाद उद्योगों से जो शुद्ध उत्पादन प्राप्त होता है उसके आधार पर पूंजी सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुमान लगाये गये थे। इनका मूल्य २,२४० करोड़ रुपये आँका गया था और पूंजी और शुद्ध उत्पादन का अनुपात २ : ४ रखा गया था। इसीलिए उद्योगों पर ४४८० करोड़ रुपये का व्यय आवश्यक था। योजना में छोटे तथा बड़े पैमाने दोनों ही प्रकार के उद्योगों के विकास के लिये प्रबन्ध किया गया था। परन्तु आधारभूत उद्योगों, जैसे शक्ति, खान, रसायन पदार्थ, रंग, यातायात, सीमेंट आदि के विकास को अधिक बल प्रदान किया गया था। उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों में कपड़ा, काँच, चमड़ा, चीनी, कागज, तम्बाकू और तेल उद्योगों के विकास की व्यवस्था की गई। देश में बेकारी को दूर करने तथा विदेशी पूंजी की आवश्यकताओं को कम करने के लिये योजना में कुटीर उद्योगों को उचित महत्त्व प्रदान किया गया था।

(३) **यातायात**—यातायात में रेलें, सड़कें तथा बन्दरगाह आदि की उन्नति तथा प्रगति के लिए प्रबन्ध किये गये थे। योजना काल में रेलों की कुल लम्बाई में २१,००० मील की वृद्धि होनी थी। सड़कों की लम्बाई दुगुनी करनी थी और विदेशी व्यापार बढ़ाने के लिये बन्दरगाहों को विकसित करना था। योजना में यह

भली-भाँति स्वीकार कर लिया गया था कि कृषि एव औद्योगिक विकास बिना आवागमन के साधनो के सम्भव नही हो सकता ।

इसके अतिरिक्त योजना मे स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, भोजन आदि के लिये भी व्यवस्था की गई थी ।

जहाँ तक योजना के अर्थ प्रबन्ध का सम्बन्ध है, उसम मुद्रा प्रसार का महत्त्वपूर्ण स्थान था । मुद्रा प्रसार से मूल्यो में वृद्धि होने का भय होता है इसलिए योजना काल मे अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षत्रो पर मुद्रा प्रसार द्वारा पडने वाले प्रभावो की विपमता को दूर करने के लिए योजना मे सरकारी नियन्त्रण को आवश्यक बताया गया था और यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि अस्थायी तौर पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान नही की जा सकेगी । व्यक्तिगत दृष्टिकोण से यह योजना का एक दोष था किन्तु योजना के निर्माणकर्त्ताओ ने यह स्पष्ट कर दिया था कि 'बिना त्याग के नियोजन असम्भव होता है ।'

योजना बनाने वालो का अनुमान था कि योजना के लिए आवश्यक कच्चा माल अधिकतर देश म ही मिल जाएगा फिर भी इसको कार्यान्वित करने से पहले योजना के लिए नियत किए गए आय के विभिन्न स्रोतो कृषि भूमि, शक्ति तथा अन्य साधनो की विस्तृत जाँच करनी आवश्यक होगी । इसी प्रकार जब तक कुशल एव शिक्षित श्रमिक प्राप्त नही होते तब तक भारत को विदेशी श्रमिको तथा पूँजीगत वस्तुओ का उपयोग करना होगा । यह योजना एक पूँजीवादी योजना थी और इसको तीन मुख्य खण्डो मे विभाजित किया गया था । प्रत्येक खण्ड की अवधि ५ वर्ष रखी गई थी ।

बम्बई योजना से स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीवादी नियोजको ने आर्थिक ढाँचे की नीव आधारभूत उद्योगो पर रखने का निश्चय किया था और इस प्रकार उन्होन रूसी ढग को अपनाया था । साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लघु तथा कुटीर उद्योगों को बडे उद्योगो के साथ साथ विकसित करने मे उन्होने रूसी नियोजन विधि मे कुछ सशोधन भी कर दिए थे, जबकि रूसी नियोजकों का मुख्य उद्देश्य उपभोग स्तर को न्यूनतम रखना था और आधारभूत उद्योगो को प्राथमिक महत्त्व देना था । भारत के पूँजीवादी नियोजकों का उद्देश्य उपभोग तथा उत्पादन दोनों ही प्रकार की वस्तुओ को साथ-साथ उत्पन्न करना था । यदि देखा जाय तो हमारी द्वितीय पचवर्षीय योजना, बम्बई योजना के आधार पर ही बनाई गई है । वैसे तो उनका दृष्टिकोण मोटे तौर पर सही था, परन्तु उन्होंने जो लक्ष्य नियत किए थे वह न तो देश की परिस्थितियो के अनुकूल थे और न एक दूसरे से सम्बन्धित ही । क्योंकि बम्बई योजना के निर्माता अधिकतर व्यापारी थे इसलिए वह नियोजन की सही विधि पर पूरा ध्यान नही दे पाये थे । इसलिए वह प्रत्यक क्षेत्र का सही आधार नही निश्चित कर पाये थे और वे इस ओर ध्यान देने म पूर्णतया असमर्थ रहे कि एक क्षेत्र का विकास अन्य क्षेत्रों के विकास पर निर्भर करता है । इस मौलिक दोप के कारण और किसी भी आर्थिक योजना की पूर्ति के लिए जो वातवरण आवश्यक

होता है उसके प्रभाव में बम्बई योजना को कार्यान्वित करने की ओर कोई गम्भीर ध्यान नहीं दिया गया। यद्यपि यह योजना भारतीय नियोजकों के लिये प्रेरणा प्रदान करने में पूर्णतया सफल हुई।

(२) जनता की योजना (Peoples' Plan)—इस योजना को रायवादी योजना भी कहा जाता है क्योंकि यह इण्डियन फैडरेशन ऑफ लेबर की पुनर्निमाण समिति द्वारा बनाई गई थी जिसमें श्री एम० एन० रॉय का प्रमुख हाथ था। कुछ व्यक्तियों के अनुसार यह योजना बम्बई योजना की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक और अच्छी बताई जाती है, क्योंकि इसमें नियोजन तथा भारत की आर्थिक दशा के प्रत्यक पहलू पर खूब सोच विचार करने के बाद लक्ष्य निश्चित किये गए थे। योजना में उसको कार्यान्वित करने की विधि का भी वर्णन दिया गया है। योजना के निर्माताओं ने इस योजना को तीन मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित किया है —

(अ) निजी लाभ की प्रथा सामान्य जनता के हितों के लिये विरोधी है,

(ब) इसलिये निजी लाभ पर कड़े नियन्त्रण लगने चाहिएँ, और

(स) उत्पादन विनिमय के लिये न होकर उपभोग के लिये होना चाहिए।

योजना के उद्देश्य —

निर्माताओं के अनुसार योजना का मुख्य उद्देश्य १० वर्षों में जनता की वर्तमान तथा अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। इसीलिये उद्योगों और कृषि विकास को समान महत्व दिया गया था। औद्योगिक विकास में उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों को आधारभूत उद्योगों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया था। इस योजना में कुटीर उद्योगों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया था जो इस का सबसे बड़ा दोष था।

१० वर्ष की अवधि में कुल १५,००० करोड़ रुपया व्यय किये जाने का अनुमान था। यह व्यय निम्न प्रकार किया जाता —

१ कृषि	...	...	२९५० करोड़ रु०
२ उद्योग	..	...	५६०० ,, ,,
३ गृह निर्माण		..	३१५० ,, ,,
४ यातायात	.	...	१५०० ,, ,,
५ शिक्षा	...	..	१०४० ,, ,,
६ स्वास्थ्य	...	..	७६० ,, ,,
		कुल	१५,००० ,, ,,

१५,००० करोड़ रुपयों की राशि की व्यवस्था करने के लिये योजना में निम्न स्रोतों की तरफ संकेत था —

			(करोड रुपयों म)
१	कृषि आय	...	१०,८१६
२	औद्योगिक आय	...	२,८३४
३	प्रारम्भिक अर्थ व्यवस्था	...	८१०
४	पौड पावने	...	४५०
५	भूमि के राष्ट्रीयकरण से प्राप्त आय	...	६०
		कुल	१५०००

योजना के अनुसार पहले तीन वर्षों म लगभग १६०० करोड रुपये खर्च की जाने की आशा थी। इस राशि को ऐसी मदों पर खर्च किये जाने का विचार था, जिनसे तुरन्त ही आय प्राप्त होती ताकि इस आय से योजना के बाद के वर्षों के लिये धन प्राप्त हो सकना। इस प्रकार योजना की दूसरी विशेषता स्वय वित्त प्राप्त करन के साधनों का प्रबन्ध करना था।

योजना के निर्माताओं का विचार था कि जनता की आय म उचित वृद्धि करने के लिये कृषि विकास पर ही ध्यान देना अधिक उपयुक्त था, क्योंकि देश की ७०% से भी अधिक जनता कृषि व्यवसाय पर निर्भर है। इसी उद्देश्य से योजना को समय के अनुसार दो खण्डों म विभाजित किया गया था। पहले ५ वर्षों म कृषि विकास की ओर ध्यान देना था और दूसरे ५ वर्षों म औद्योगिक विकास पर दृष्टि को केन्द्रित करना था। जहाँ तक अन्य सामाजिक सेवाओं का सम्बन्ध था जैसे, स्वास्थ्य, शिक्षा, गृहनिर्माण आदि इन पर किये जाने वाले व्यय की राशि कृषि से प्राप्त होने वाली अन्य अतिरिक्त आय पर निर्भर रखी गई थी। फिर भी योजना के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम २६०० केलोरीज भोजन तथा ५० गज कपडा देने की व्यवस्था की जाती। योजना के अनुसार शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों म स्वास्थ्य एव चिकित्सा सम्बधी सेवायें प्रदान करने के लिये औषधालया, प्रसूत गृहा, सैनीटोरियम आदि की व्यवस्था करने का विचार था। शिक्षा प्रसार के लिये प्राथमिक एव माध्यमिक स्कूलों तथा यूनिवर्सिटी और साँस्कृतिक केन्द्रों की सम्पूर्ण व्यवस्था करने का आयोजन किया गया था।

औद्योगिक विकास का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नही था वरन् जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। लाभ का वितरण व्यक्तियों मे नहीं किया जाता बल्कि सरकारी खजाना में जमा किया जाता है। वितरण एव उत्पादन पर पूर्ण रूप से सरकारी नियत्रण रहता है। इस प्रकार निजी उपक्रम भी सरकारी नियन्त्रण म कार्य करते हैं। योजना म यातायात और सवाद वाहन के साधनों म वृद्धि करने की भी उचित व्यवस्था की गई थी। जिसके अनुसार रेलों की लम्बाई म ५०%, सडकों की लम्बाई म १५०%, जहाजों की क्षमता में ३ ३ लाख टन की वृद्धि करने का मुख्य लक्ष्य था तथा नय नये बन्दरगाहों का विकास एव विस्तार भी किये जाने की व्यवस्था की गई थी।

कृषि विकास का मुख्य अंग कृषि भूमि का राष्ट्रीयकरण था। योजना के निर्माणकर्त्ताओं के अनुसार लगभग १,०२२ करोड़ रुपयों की राशि मुआवजों के रूप में भूमि के राष्ट्रीयकरण करने के बदले में दी जाती। योजनाकाल में कृषि भूमि में ७०% की वृद्धि करने का लक्ष्य था, २५,००० आदर्श खेतों का निर्माण होना था तथा किसानों के ऋणों में कम से कम २५% की कमी होनी थी। सिंचाई की व्यवस्था के लिये तथा भूमि के कटाव को रोकने के लिए भी योजना में उचित प्रबन्ध किया गया था। योजना में कृषि में मशीनों का प्रयोग करने के विचार को अपनाया गया था और इन सब प्रयत्नों से कृषि उत्पादन में ४ गुनी वृद्धि करने का लक्ष्य निश्चित किया गया था।

निर्माणकर्त्ताओं ने योजना में यह भी स्पष्ट कर दिया था कि बैंकों तथा अन्य साख संस्थाओं पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहेगा और विदेशी व्यापार तथा विदेशों से आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने का पूर्ण अधिकार सरकार को प्राप्त होगा।

(३) **गांधीवादी योजना**—यद्यपि यह योजना गांधीजी द्वारा प्रस्तुत नहीं की गई थी किन्तु इसको गाँधीवादी योजना केवल इसलिये कहते हैं कि इसको गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत किय गये विचारों पर आधारित किया गया था। इसके निर्माता श्रीमन्नारायण अग्रवाल थे। भारत की निर्धनता को ध्यान में रखते हुये योजना का कुल व्यय १० वर्षों में ३५०० करोड़ रुपय रखा गया था। योजना का निर्माण करते समय मुख्यरूप से दो दृष्टिकोण अपनाये गय थे—प्रथम नैतिक, और दूसरा सांस्कृतिक। इन दृष्टिकोणों के आधार पर चार आधारभूत सिद्धान्तों की रचना की गई थी—(१) सादा जीवन, (२) अहिंसा, (३) मानवीय आदर्श और (४) श्रम का महत्त्व। योजना में मशीनों के उद्योगों को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया था और चर्खे एवं कुटीर उद्योगों को प्रमुख महत्त्व प्रदान किया गया था।

योजना के मुख्य उद्देश्य निम्न प्रकार थे—

योजना अवधि में जनता का आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन उन्नत करना, देश के नागरिकों के लिये पर्याप्त भोजन, वस्त्र एवं गृहों की व्यवस्था करना तथा जन उपयोगी सेवाओं को प्रदान करना और बालकों के लिये अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना। इस उद्देश्य से योजना का लक्ष्य कम से कम ६०% जनसंख्या की प्रति व्यक्ति आय को योजना अवधि में चार गुना बढ़ाना था। इन लक्ष्यों की पूर्ति करने के लिये योजना में व्यय की राशि को विभिन्न मदों पर निम्न प्रकार बाँटा गया था—

	(करोड़ रुपयों में)
१ कृषि	१,१७५
२ वृहत उद्योग	१,०३०
३ ग्रामीण उद्योग ...	३५०
४. यातायात	४००
५ सामाजिक सेवायें	५४५
कुल	३,५००

उपर्युक्त राशि को निम्न स्रोतों से प्राप्त करने का विचार था—

१ आन्तरिक ऋणों द्वारा	... ...	२,००० करोड़ रु०
२. निर्मित मुद्रा द्वारा	... ...	१,००० ,, ,,
३ करारोपण द्वारा	... ...	५०० ,, ,,
	कुल	३,५०० ,, ,,

भोजन, वस्त्र एव गृहो की समुचित व्यवस्था करना योजना का मुख्य लक्ष्य था। योजना के अनुसार प्रति व्यक्ति १६०० कैलोरीज भोजन, २० गज कपडा तथा १०० वर्ग फुट भूमि प्रत्येक व्यक्ति को प्रदान करने के लिये व्यवस्था की जायेगी। योजना में ग्रामीण हित, कृषि एव कृषि सम्बन्धी उद्योगों के उचित विकास को बहुत महत्त्व दिया गया था, जिसका मुख्य उद्देश्य गांवों को आर्थिक दृष्टिकोण से स्वावलम्बी बनाना था। *योजना को कार्यान्वित करने में ग्राम पंचायतों को विशेष स्थान दिया* गया था। ग्राम पचायतो के निर्माण तथा विकास की ओर ध्यान देना योजना के उद्देश्यो में से एक था। यद्यपि यह पचायते कस्बा, जिला और प्रान्तो मे स्थापित की जायेंगी किन्तु अपने क्षेत्रों मे इनको बहुत अधिक अधिकार देने का विचार था।

वर्तमान जमींदारी प्रथा को अन्त करने का विचार भी योजना मे प्रकट किया गया था और कुटीर उद्योगों तथा कृषि सम्बन्धी अन्य उद्योगों का विकास सहकारिता के आधार पर करने का निश्चय किया गया था। इन उद्योगो में मुख्य-रूप से डेरी फार्मिंग, चमडा उद्योग, सब्जी, फल इत्यादि की खेती पर अधिक जोर दिया जाता। उपभोक्ता सम्बन्धी वस्तुओ के उद्योगो को पूँजीगत वस्तुओ की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया गया था जैसे कागज, तेल, गुड, खादी, शहद, ईंटे, लकडी आदि उद्योग। *योजना मे आधारभूत तथा बडे उद्योगो के विकास पर भी ध्यान* दिया गया था, परन्तु इनका विकास केवल इसी दृष्टिकोण से किया जाता कि यह कुटीर उद्योगों की उन्नति मे बाधक सिद्ध न हों।

(४) राष्ट्रीय नियोजन समिति—सन् १९३७ मे प्रान्तो म कांग्रेस द्वारा शासन की बागडोर सम्भालने के बाद सन् १९३८ मे प० नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय नियोजन समिति का निर्माण हुआ। इस समिति ने २९ उप समितियों की नियुक्ति की थी, जिनका उद्देश्य देश की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करना था और उनके विकास के लिये योजनायें प्रस्तुत करना था। इन उपसमितियों की रिपोर्ट बाद में प्रकाशित हुई थी, क्योंकि इसी बीच दूसरी लड़ाई छिड जाने के कारण कांग्रेस मत्रालयो ने प्रान्तीय शासन को त्याग दिया था, जिसके कारण समितियो के काम कुछ धीमे पड गये थे। इन समितियों के कार्य वास्तव मे सराहनीय थे, क्योकि इनकी रिपोर्टों पर ही वर्तमान योजनायें आधारित की गई हैं। समिति ने जिन योजनाओं को प्रस्तुत किया था उनमें कुटीर उद्योगों, छोटे-बडे पैमाने के उद्योगों, आधारभूत तथा रक्षात्मक उद्योगो की स्थापना एव विकास पर जोर दिया गया है। इनके अनुसार आधारभूत तथा रक्षात्मक उद्योगो और जनोपयोगी उद्योगो

तथा विदेशी व्यापार पर सरकारी नियंत्रण होना आवश्यक था। अन्य औद्योगिक क्षेत्रों में निजी उपक्रम को पर्याप्त स्वतन्त्रता दी जानी चाहिये। कृषि क्षेत्र में जमींदारी उन्मूलन तथा सहकारी खेती को प्रोत्साहन देकर कृषि के यन्त्रीकरण की सिफारिश समिति ने की थी। अत नियोजन समिति ने देश में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था स्थापित करने की सिफारिश की थी।

(५) **युद्धोत्तर-पुनर्निर्माण समिति**—दूसरी लडाई समाप्त होते ही भारत के लिये नई नई जटिल समस्यायें उत्पन्न हुई जिनमें से कुछ तो अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति की थी और कुछ राष्ट्रीय प्रकृति की थी। जहा तक पहले प्रकार की समस्याओं का सम्बन्ध था वे केवल अन्तर्राष्ट्रीय सामूहिक प्रयत्नों द्वारा ही पूरी की जा सकती थी किन्तु आन्तरिक कठिनाइयों के लिये यह आवश्यक था कि देश में ही ऐसे प्रयत्न किये जायें जिनसे यह समस्याये दूर की जा सकें। वास्तव मे यह समस्यायें युद्ध के आर्थिक एव सामाजिक परिणाम थे। युद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद ही बढती हुई बेकारी की समस्या सबसे पहली थी। युद्धकाल में नये नये विभागों तथा उद्योगों की स्थापना के कारण हजारों व्यक्तियों को नौकरियाँ प्राप्त हो गई थी परन्तु युद्ध समाप्त होते ही इन व्यक्तियों के बेकार होने की विषम समस्या देश के सम्मुख थी। दूसरी समस्या उद्योगो से सम्बन्धित थी। देश के उद्योगो को युद्धकालीन स्तर से शान्तिकालीन स्तर पर लाना था। युद्धकाल में बहुत से युद्ध सम्बन्धी उद्योग स्थापित हो गये थे जिनकी अब कोई आवश्यकता न थी। साथ ही पुराने उद्योगों का विस्तार भी बढ गया था। मशीनें बहुत अधिक घिस गई थी और अधिकतर बेकार हो गई थी। युद्ध सम्बन्धी वस्तुओं के स्थान पर अब साधारण नागरिकों के लिये उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादन का प्रश्न था। तीसरी समस्या युद्धकाल में एकत्रित किये गये वस्तुओं के स्टाकों को बेचना था। इनको एकदम बेच देने से बाजार पर बुरा प्रभाव पडने की आशा थी इसलिये समस्या इस बात की थी कि इनको ऐसे बेचा जाये कि उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों के हितो को क्षति न पहुँचे। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में होने वाले मुद्रा सम्बन्धी, व्यापार सम्बन्धी, मूल्य सम्बन्धी प्रयत्नों का भी प्रभाव भारत की अर्थव्यवस्था पर पड रहा था। एक समस्या यह भी थी कि भारतीय मूल्यस्तर को कैसे नियन्त्रित किया जाये। भारतीय मुद्रा का आन्तरिक मूल्य बाह्य मूल्य की अपेक्षा बहुत अधिक था जिसके कारण हमारे विदेशी व्यापार को बहुत हानि पहुँच रही थी। सबसे बडी समस्या नागरिकों के स्वास्थ्य तथा सामाजिक जीवन को युद्धकाल में जो क्षति पहुँची थी उसकी पूर्ति करने की थी, और फिर युद्धकाल मे जो मूल्य तथा वस्तु सम्बन्धी नियन्त्रण लागू किये गये थे उनमें भी ऐसे परिवर्तन करने की समस्या थी जिससे वे शान्तिकालीन परिस्थितियो के अनुकूल बनाये जा सकें। यद्यपि सरकार ने विभिन्न प्रयत्नों द्वारा इन समस्याओं को अस्थायी रूप से दूर करने के प्रयत्न करने आरम्भ कर दिये थे परन्तु दीर्घकालीन नियोजन की ओर उनका ध्यान आकर्षित तनिक देर से हुआ। युद्ध से पहले आर्थिक नियोजन सम्बन्धी जो योजनायें बन चुकी थी उनमें सरकार

को काफी प्रेरणा मिली थी। बम्बई योजना की देश तथा विदेशों में पहले ही काफी प्रशंसा की जा चुकी थी। सरकार ने इसी बीच युद्धोत्तर पुनर्निर्माण समिति स्थापित की जिसका मुख्य कार्य युद्ध सम्बन्धी समस्याओं को दूर करने के लिये प्रयत्न करने थे। परन्तु बाद में इस समिति को दीर्घकालीन नियोजन का कार्य भी सौंप दिया गया और बम्बई योजना के निर्माणकर्त्ताओं में से एक निर्माणकर्त्ता श्री आर० देसर दलाल को इस समिति का अध्यक्ष होने और वाइसराय की कार्यकारिणी सभा के सदस्य बनने का निमन्त्रण दिया गया। श्री दलाल द्वारा इस नये पद की स्वीकृति के बाद समिति का दृष्टिकोण ही बदल गया। इस प्रकार भारत में सरकार ने एक नियोजन विभाग स्थापित कर दिया।

दीर्घकालीन नियोजन के लिये समिति ने जो सुझाव दिये थे उनको संक्षेप में हम निम्न में देते हैं —

दीर्घकालीन कार्यक्रमों में कृषि तथा उद्योग सम्बन्धी विकास की योजनाओं में एक सड़क विकास योजना, सामाजिक सुरक्षा योजना, एक शिक्षा सम्बन्धी योजना और ग्रामीण तथा शहरी योजनाएँ सम्मिलित हैं।

समिति ने दीर्घकालीन योजनाओं की रूप रेखा इस प्रकार प्रस्तुत की थी— (१) औद्योगिक विकास तथा कुछ सीमा तक कृषि विकास, नल द्वारा सिंचाई तथा ग्रामीण उद्योगों के विकास के लिये विद्युत शक्ति को विकसित करना (२) पूंजी वस्तुओं तथा उपभोक्ता वस्तुओं जिनकी अधिकांश जनता को आवश्यकता है, की ओर विशेष ध्यान देकर औद्योगिक विकास करना (३) सड़क यातायात तथा अन्य यातायात सेवाओं का विस्तृत विकास करना विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों में (४) सिंचाई के लिये भूमि कटाव को रोकने के उपाय तथा भूमि को पुनः कृषि योग्य बनाने इत्यादि सम्बन्धी विकास की योजनायें।

योजना में यन्त्रात्मक तथा सामान्य शिक्षा, स्वास्थ्य और गृह-निर्माण के एक साथ विकास के लिये भी प्रस्ताव रखे गये थे। इसके अतिरिक्त ग्रामीण तथा शहरी विकास के लिये अलग अलग सामाजिक सुधारों की आवश्यकताओं को भी समझा गया था और सम्मिलित ग्रामीण विकास पर जोर दिया गया था। समिति ने इस बात पर अधिक जोर दिया था कि ग्रामीण विकास ग्रामों के शिक्षकों, पंचायतों तथा सहकारी उपभोक्ता स्टोरों के नेतृत्व में होना चाहिये तथा शहर से शिक्षित व्यक्तियों जैसे डाक्टरों, नर्सों, शिक्षकों इत्यादि के लिये ग्रामीण जीवन को वर्त्तमान की अपेक्षा अधिक आकर्षित बनाने का भी उद्देश्य रखा गया था। ग्रामों में स्त्रियों की शिक्षा को भी महत्त्व दिया गया था। रिपोर्ट का प्रस्ताव था कि विकास अफसर नियुक्त किये जायें जिनका मुख्य कार्य स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि आदि में समन्वय स्थापित करना होगा। समिति का यह भी प्रस्ताव था कि ग्रामीण विकास का कार्य आरम्भ में कुछ चुने हुए क्षेत्रों में ही आरम्भ किया जाये, क्योंकि भारत की जनता प्रत्येक वर्ष में ११ से १५ प्रतिशत की दर से बढ़ रही है इसीलिये बढ़ती हुई बेकारी की समस्या को दूर करने के लिये समिति का सुझाव था कि औद्योगिक विकास के

साथ साथ भूमि विकास भी आवश्यक है। समिति ने शहरों के विकास के लिये भी अपने प्रस्ताव प्रस्तुत किये और औद्योगिक विकास की ओर समिति ने विशेष ध्यान दिया।

(६) **सलाहकार नियोजन बोर्ड**—सन् १९४५ में सरकार ने अपनी नई औद्योगिक नीति की घोषणा की जिसमे औद्योगिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप तथा नियन्त्रण को आवश्यक स्थान दिया था। इसके साथ साथ नियोजन की दशा में महत्त्वपूर्ण एवं सक्रिय पग सन् १९४६ मे सलाहकार नियोजन बोर्ड का निर्माण था। यह बोर्ड श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता मे स्थापित किया गया था जिस ने अपनी रिपोर्ट फरवरी सन् १९४७ में प्रकाशित की थी। इस बोर्ड का उद्देश्य देश मे समय समय पर बनाई गई विभिन्न योजनाओं की समालोचना करके उस सम्बन्ध मे अपना सुझाव देना था, कार्यक्रमो की प्राथमिकता तथा नियोजन मशीनरी के सामजस्य के सम्बन्ध म सिफारिश करना था। इस बोर्ड की सिफारिशें सक्षेप म निम्न प्रकार थी —

(१) नियोजन के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार बताये जाते हैं सामान्य जीवन स्तर मे वृद्धि, सभी के लिये लाभप्रद रोजगार प्रस्तुत करना, अधिकतम उत्पादन, सामान्य वितरण और आर्थिक विकास का क्षेत्रीकरण (Regionalisation)। यद्यपि सम्पूर्ण स्वावलम्बन न तो सम्भव ही है और न वाछनीय ही, क्योकि यह आर्थिक दृष्टिकोण से अपव्ययी होता है, इसलिये बोर्ड का प्रस्ताव था कि आवश्यक खाद्य पदार्थो की पूर्ति जैसे क्षेत्रो मे हो देश को सम्पन्न बनाने का उद्देश्य निश्चित होना चाहिए। पर्याप्त आँकड़ो के अभाव म तथा आर्थिक क्रियाओं पर सक्रिय नियन्त्रण के अभाव में यह सम्भव नहीं था कि प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि के सम्बध मे प्रमाणात्मक लक्ष्य प्राप्त किये जा सके। किन्तु व्यक्तिगत उद्योगो, कृषि के कुछ विशेष क्षेत्रो तथा यातायात शिक्षा और स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे विशेष लक्ष्य अवश्य ही निश्चित होने चाहिएँ।

(२) जहाँ तक प्राथमिकता का सम्बन्ध था बोर्ड ने प्रशिक्षण प्राप्त कर्मचारियों की वृद्धि को पहला स्थान दिया था। कृषि म केवल खाद्य अन्न के उत्पादन म ९९ करोड़ टन की कमी थी इसलिये इसको भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिये ताकि अगले ५ वर्षो म कम से कम ४० लाख टन से खाद्य अन्न के उत्पादन म वृद्धि हो सके। औद्योगिक विकास के क्षेत्र मे किन उद्योगों को पहला स्थान दिया जाये यह मशीनो की उपलब्धि पर निर्भर करता है। फिर भी रक्षा सम्बन्धी उद्योग, सिंचाई, जल-विद्युत शक्ति, लोहा तथा स्पात और रसायन उद्योगों को पहला महत्व दिया जाये और मशीनो, अत्यावश्यक उपभोक्ता वस्तुओं को दूसरा और तीसरा स्थान दिया जाये। रेलो का विकास सबसे अधिक महत्वपूर्ण था और जहाँ तक स्पात, लकड़ी, सीमेन्ट तथा अन्य वस्तुओं ने अपर्याप्त साधनो का सम्बन्ध था अन्य निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रमो की अपेक्षा रेलो को इन वस्तुओं का उपयोग करने मे प्राथमिकता मिलनी चाहिये। परन्तु रेलो का विकास उन्ही क्षेत्रो से किया जाये

जहाँ से या तो कोयले की पूर्ति बढने की आशा है या जहाँ पर रेलो मे बिजली का उपयोग होने से कोयले की कम मात्रा के उपयोग होने की आशा है। बोर्ड का सुझाव था कि एक प्राथमिकता बोर्ड स्थापित किया जाये जिसका कार्य आवश्यक आधारभूत साधनों का वितरण करना होगा।

(३) कृषि में प्रशसात्मक विकास के लिये केवल लाखो कृषिको का सहयोग और खाद्य, बीज, पशु और औजारो की पूर्ति ही आवश्यक नही है बल्कि छोटे तथा मध्यम पैमाने के उपायों की भी एक बहुत बडी सख्या म आवश्यकता है। इन उपायों म कुँआ बनवाना, टच्व बैल लगवाना, तालाब तथा नहरें बनवाना नालियों का प्रबन्ध करना, बांध बनवाना, भूमि के कटाव को रोकना आदि योजनायें आती हैं। केन्द्रीय सरकार को प्रान्तीय सरकारो को आवश्यक वित्तीय सहायता देनी *चाहिये तथा आवश्यक सामग्री और मँहगी कृषि सम्बन्धी मशीनों की व्यवस्था भी* करनी चाहिये और अनुसधान के विकास एव समन्वय का भी प्रबन्ध करना चाहियें।

(४) यद्यपि प्रान्तीय सरकारों का २ करोड एकड भूमि पर सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करने का लक्ष्य अगले १० या १२ वर्षों के लिये काफी सतोषजनक है, किन्तु बोर्ड ६ लाख ५० हजार किलोवाट जल-विद्युत शक्ति के अतिरिक्त उत्पादन के लक्ष्य से सतुष्ट नही था और इसलिये उसने अधिक जल-विद्युत योजनाओं, विशेष कर बहुउद्देशीय नदी विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने की आवश्यकताओं पर अधिक जोर दिया था।

(५) देश म औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं को मालूम करने के लिये जो पैनल पूर्व स्थित नियोजन तथा विकास विभाग द्वारा स्थापित किये गए थे बोर्ड के विचार में वे इस कार्य के लिये उपयुक्त थे। किन्तु बोर्ड का *सुझाव था कि इन* पैनलो की सिफारिशो को कार्यान्वित करते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाये कि उपभोक्ताओं और देश के हित सुरक्षित रहे।

(६) देश के साधनो के अच्छे तथा अधिकतम उपयोग के लिये अपव्ययी प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिये और असतुलित आर्थिक विकास को दूर करने के लिये केन्द्रीय नियोजन अधिक अच्छा समझा जाता है। इसलिये बोर्ड का प्रस्ताव था कि लगभग सभी महत्वपूर्ण आधारभूत उद्योगो का नियोजन केन्द्र द्वारा किया *जाये। उसकी यह भी सिफारिश थी कि रक्षा सम्बन्धी उद्योग कोयला, खनिज तेल,* लोहा तथा स्पात, रेल, मोटर, हवा तथा नदी यातायात और वे सभी उद्योग जिनके लिये निजी पूजी उपलब्ध नही हो पा रही है उनका अभिनवीकरण कर दिया जाये।

(७) भारत के आर्थिक नियोजन के सम्बन्ध म मुख्य रूप से तीन समस्यायें थी —पहली वित्त सम्बन्धी, दूसरी मशीनों तथा कच्ची माल सम्बन्धी और तीसरी प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओ सम्बन्धी। बोर्ड का विचार था कि वित्त सम्बन्धी समस्या सबसे कम कठिन थी क्योंकि *केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के सयुक्त प्रयत्नों* द्वारा यह समस्या शीघ्र ही दूर हो सकती है। नियोजन के प्रथम ५ वर्षों में बोर्ड के

अनुमान के अनुसार केन्द्रीय सरकार को अतिरिक्त करो द्वारा ऋणों तथा अतिरिक्त मुद्रा निकासी द्वारा एक हजार करोड रुपयों की व्यवस्था तो कर ही लेनी चाहिये। नोट प्रकाशन का कार्य केवल उत्पादक उद्देश्यों के लिये ही अपनाया जावे। करारोपण कार्यक्रम में मृत्यु कर लाभ वितरण पर नियन्त्रण तथा मालगुजारी प्रथा में सुधार सम्बन्धी उपाय सम्मिलित होने चाहिएँ। वित्त का मुख्य स्रोत आन्तरिक ऋण होना चाहिये। विदेशी ऋण केवल उसी सीमा तक प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये जहाँ तक वे सम्भव हो और जहाँ तक वे बिना किसी प्रभावों के प्राप्त हो सके।

(८) यद्यपि मशीनों की पूर्ति के लिये भारतवर्ष पूर्ण रूप से विदेशों पर निर्भर है बोर्ड का विचार था कि भारतवर्ष को पर्याप्त विदेशी मुद्रा पौंड पावना तथा विदेशी ऋण द्वारा प्राप्त हो जायेगी।

(९) बोर्ड के अनुसार प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव सबसे बडी बाधा थी जिसको दूर करने के लिये बोर्ड ने यन्त्रात्मक शिक्षा तथा प्रशिक्षण सम्बन्धी अनेकों सुझाव दिये हैं।

(१०) बोर्ड का प्रस्ताव था कि एक केन्द्रीय नियोजन संस्था स्थापित की जाय जिसके कार्य निम्न प्रकार होने चाहिये —

(अ) योजनाओं की जाँच करना तथा उनमें समन्वय स्थापित करना।

(ब) प्राथमिकता बोर्ड द्वारा निश्चित की गई प्राथमिकताओं के अनुसार भौतिक साधनों का वितरण।

(स) केन्द्रीय कोषों के वितरण सरकारी सहायता एवं नियन्त्रण के विस्तार, आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार और देश के नियोजित विकास को प्रभावित करने वाली मौद्रिक तथा वित्तीय नीतियों का नियमन और

(द) वैज्ञानिक अनुसंधान के सामाजिक कल्याण पर पड़ने वाले प्रभावों की जाँच करना।

यह सभी कार्य एक नियोजन आयोग को सौंपने का प्रस्ताव दिया गया था। नियोजन आयोग को सहायता प्रदान करने के लिये एक वैज्ञानिक सलाहकार समिति, (Scientific Consultative Committee), एक स्थायी टैरिफ बोर्ड (Tariff Board) एक केन्द्रीय सांख्यिकी दफ्तर (Central Statistical Office) और २५ से ३० सदस्यों तक की एक सलाहकार संस्था (Consultative Body) की स्थापना की भी सिफारिश बोर्ड ने की थी। ठीक इसी प्रकार के संगठन के लिये बोर्ड ने प्रान्तों के सम्बन्ध में भी सिफारिश की थी।

सन् १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा देश के विभाजन से नई नई योजनाएँ स्थापित हुईं जैसे खाद्य समस्या की तीव्रता कपास एवं जूट की कमी शरणार्थियों की समस्या आदि को दूर करने के लिये योजनाएं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की अनेकों योजनाएँ चल रही थी, जिनमें परस्पर सामंजस्य न था, जैसे दामोदर घाटी योजना तुंगभद्र तथा भाकडा बांध योजनाएँ आदि। इसके अतिरिक्त देश में बढती हुई बेकारी ने भी एक भीषण रूप धारण कर लिया था और

प्रत्येक वर्ष लाखा नये व्यक्तियों की बाढ जनसख्या के रूप मे भारत मे आ रही थी। इन सब समस्याओं का समाधान करने के लिये एक योजना बनाना अनिवार्य हो गया था।

(७) योजना आयोग सन् १९५०—यद्यपि सन् १९४७ में ही सलाहकार नियोजन बोर्ड ने एक नियोजन आयोग की स्थापना की सिफारिश की थी, किन्तु यह सन् १९५० से पहले सम्भव न हो सका क्योंकि इन वर्षो म भारत के लिये अनेकों नई नई समस्याऐं उत्पन्न हो गई थी। जैसे ही स्थिति म कुछ सुधार हुआ भारत सरकार न सन् १९५० म एक नियोजन आयोग श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता म स्थापित किया। इस आयोग के निम्न काय थे —

(१) देश की पूजी, भौतिक एव मानवीय स्रोतो का अनुमान लगाना और राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुसार सीमित साधनो की वृद्धि करने की सम्भावनाओ की जाँच करना।

(२) देश के साधना का सतुलित एव प्रभाव युक्त उपयोग करने के लिये योजना बनाना।

(३) प्राथमिकता स्थापित करना, योजना को कार्यान्वित करने की सीढियों को निर्धारित करना और उनम साधनों का उचित बटवारा करना।

(४) आर्थिक विकास म बाधा उत्पन्न करने वाली बातो की ओर सकेत करना तथा योजना की सफलता के लिये वर्त्तमान सामाजिक एव राजकीय स्थिति म आवश्यक शर्तें निश्चित करना।

(५) योजना की सफलता के लिये आवश्यक प्रशासन सम्बन्धी उद्देश्य निश्चित करना।

(६) योजना की सामयिक प्रगति की जाँच करना और आवश्यक हो तो नीति एव साधनो में समन्वय स्थापित करने के लिये अपने सुझाव पेश करना।

(७) अन्य ऐसी बातो पर सिफारिश करना जो केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा आयोग के पास विचार करने के लिये भेजी जायें।[1]

इस आयोग ने जुलाई सन् १९५१ में एक पचवर्षीय योजना प्रस्तुत की जिसकी अवधि सन् १९५१ से १९५६ तक निश्चित की गई। इस योजना का वर्णन हम अगले अध्याय म देते है।

---

1. *The First Five Year Plan—A Summary*, A Govt cf India Page 3

अध्याय ५

भारत की प्रथम पंच-वर्षीय योजना

(First Five year Plan of India)

प्राक्कथन--

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना को प्रारम्भिक अवस्था मे दो भागो मे विभाजित किया गया था। पहले भाग में वह योजनाय थी जिन पर पहले से काम हो रहा था और जिन पर योजना काल म १४९३ करोड रुपयों का खर्चा होना था। दूसरे भाग म नई नई योजनायें थी जिनका व्यय ३०० करोड रुपय रखा गया था। इस प्रकार प्रारम्भिक स्थिति म ५ वर्षों म १७९३ करोड रुपयो का व्यय आका गया था। योजना का अंतिम रूप दिसम्बर १९५२ में प्रकाशित हुआ था। जिसमें विकास कायक्रम को दो भागो म विभाजित न करके विकास का समुचित कायकम एक ही योजना म दिया गया था और उसकी अवधि भी वही रखी गई थी। इस योजना काल म २०६८ ७८ करोड रुपया खच करने की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार प्रारम्भिक योजना तथा अन्तिम योजना म तुलनात्मक दृष्टि से निश्चित किया गया व्यय निम्न प्रकार था —

तालिका (१)

(करोड रुपयो म)

	१९५१–५६ मे व्यय		कुल व्यय के साथ प्रतिशत	
	प्रारम्भिक योजना	अंतिम योजना	प्रारम्भिक योजना	अंतिम योजना
कृषि एव सामुदायिक विकास	१९१ ६९	३६० ४३	१२ ८	१७ ४
सिंचाई एव शक्ति	४५० ३६	५६१ ४१	३० ०	२७ २
यातायात एव सवाद वाहन	३८८ १२	४९७ १०	२६ १	२४ ०
उद्योग	१०० ९९	१७३ ०४	६ ७	८ ४
सामाजिक सेवायें	२५४ २२	३३९ ८१	१७ ०	१६ ६४
पुनर्निवास (Rehabilitation)	७९ ००	८५ ००	५ ३	४ १
विविध	२८ ५४	५१ ९९	१ ९	२ ५
	१४९२ ९२	२०६८ ७८	१०० ०%	१०० ०%

इस राशि को केन्द्र तथा राज्यो में निम्न प्रकार विभाजित किया गया था —

तालिका (२)

(करोड रुपयो म)

	केन्द्र	राज्य	कुल
कृषि एव सामुदायिक विकास	१८६ ३	१७४ १	३६० ४
सिचाई एव शक्ति	२६५ ९	२९५ ५	५६१ ४
यातायात एव सवाद वाहन	४०९ ५	८७ ६	४९७ १
उद्योग	१४६·७	२६ ३	१७३ ०
सामाजिक सेवाएँ पुनर्निवास (Rehabilitation)	१९१ ४	२३२ ५	४२४ ९
विविध	४० ७	११ २	५१ ९
	१२४० ५	८२८ २	२०६८ ७

योजना के उद्देश्य—

(१) विकास की एक एसी प्रणाली का आरम्भ करना जिसके आधार पर भविष्य मे और बडी योजनाओं को कार्यान्वित किया जा सके।

(२) विकास कायक्रम को कार्यान्वित करने के लिए देश के स्रोतो की उपलब्धता।

(३) निजी एव सरकारी क्षेत्रो में स्रोता की आवश्यकता एव विकास की गति में घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना।

(४) योजना लागू होने क पूर्व केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो द्वारा आरम्भ की गई विभिन्न तत्कालीन विकास योजनाओ की पूर्ति करने की आवश्यकता, और

(५) युद्ध तथा देश विभाजन से देश की असतुलित आर्थिक व्यवस्था को ठीक करना।

इन दृष्टिकोणो से नियोजन आयोग ने विभिन्न विकास कायक्रम बनाय थे। हमारे देश की आर्थिक स्थिति म सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारी जनसख्या प्रति वप १½ प्रतिशत की दर से बढ रही है। इस बात को तथा देश के उपलब्ध साधनो को ध्यान मे रख कर आयोग ने यह व्यवस्था की है कि सन १९७७ तक प्रति व्यक्ति आय दुगनी हो जाये। इसमें कोई सदेह नही कि अन्य विकसित देशो म प्रति व्यक्ति आय दुगनी करने के लिए कम समय लगेगा। परन्तु भारत जैसे पिछडे हुए देश म अधिक समय लगना स्वाभाविक ही है। क्योकि न तो यहा साधन ही पर्याप्त हैं, न यत्रात्मक कुशलता ही है और न यहाँ का सगठन ही शक्तिशाली है। आयोग ने यह स्वीकार किया है कि भारत म पूजी निर्माण की गति बहुत धीमी है। सन् १९५०–५१ म भारत की राष्ट्रीय आय ९००० करोड रुपया थी

और जनता की कुल बचत की राशि ४५० करोड रुपया थी अर्थात् यहाँ पर कुल राष्ट्रीय आय का औसतन ५% बचत की जाती थी। इसलिए आयोग के विचार में यदि योजना अवधि में प्रति वर्ष २०% अतिरिक्त आय पूजी निर्माण मे लगा दी जाये अर्थात् मशीनों तथा स्थायी पूजी में लगाई जाये तो प्रथम योजना के अन्त तक भारत की राष्ट्रीय आय १०००० करोड रुपये तक बढ जायेगी और बचत की वार्षिक दर ६¾% हो जायेगी और बचत की कुल राशि सन् १९५५–५६ मे ६७५ करोड रुपया हो जायेगी। आयोग ने अनुमान लगाते हुए बताया कि अगले १० वर्षों मे केवल २०% ही नहीं बल्कि ५०% अतिरिक्त राष्ट्रीय आय यदि प्रति वर्ष पूजी निर्माण मे लगाई जाती रहे तो सन् १९७७ तक प्रति व्यक्ति आय दुगनी हो जायेगी। इन लक्ष्यों को ध्यान मे रख कर आयोग ने २०६९ करोड रुपया व्यय करने का निश्चय किया था। भारतीय अर्थ व्यवस्था को निजी तथा सरकारी क्षेत्रों म विभाजित किया गया है। सरकारी क्षेत्रों म उन उद्योगों को सम्मिलित किया गया है जिनका सचालन स्वय सरकार करेगी और जिन पर केन्द्रीय और राज्य सरकारो का नियन्त्रण है या जिन पर इन सरकारो के आधीन पदाधिकारियो का नियन्त्रण है। निजी क्षेत्र मे वे उद्योग सम्मिलित किए गए है जिनका नियन्त्रण निजी व्यक्तियो द्वारा होगा। यद्यपि इन दोनों क्षेत्रों मे विकास सम्बन्धी समस्यायें लगभग समान है और दोनो क्षेत्रो को स्पष्ट रूप म विभाजित करना सरल नही है किन्तु सुविधा के लिए योजना मे इन दोनों क्षेत्रो पर अलग अलग रूप से विचार किया गया है। सरकारी क्षेत्र के लिए लागत की एक निश्चित राशि निर्धारित कर ली गई है जिसके लिए आवश्यक धन की व्यवस्था सरकार करेगी। योजना मे निजी क्षेत्र के निर्धारित लक्ष्य के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा गया है बल्कि केवल सामान्य लक्ष्य बताकर उसके लिए आवश्यक धन प्राप्त करने के लिए निजी क्षेत्र को स्वतन्त्र छोड दिया गया है। इसके अतिरिक्त सरकारी क्षेत्र मे लक्ष्य की पूर्ति करना सरकार का प्रत्यक्ष दायित्व होगा परन्तु निजी क्षेत्र म ऐसी बात नही है क्योंकि उसमे सरकार केवल अप्रत्यक्ष रूप से ही सहायता करती है और प्रगति का निरीक्षण करती रहती है। ऐसा करने म मुख्य उद्देश्य यह है कि यदि निजी क्षेत्र निर्धारित किए गये लक्ष्यों की पूर्ति नही कर पाता है और आशातीत प्रगति करने म असफल रहता है तो सरकारी क्षेत्र का कार्यक्षेत्र बढा दिया जायेगा और निजी क्षेत्र के विभिन्न भागों के कार्यों को सरकार स्वय ग्रहण कर लेगी। इन सब बातो को ध्यान मे रख कर आयोग ने प्राथमिकताओं को निश्चित किया है। प्राथमिकता का साधारण अर्थ यह है कि विभिन्न विकास कार्यक्रमों मे कौन सा कार्य पहले किया जाये और कौन सा बाद मे। भारत के खेतीहर देश होने के कारण कृषि को पहली प्राथमिकता दी गई और उसके बाद यातायात तथा संवाद वाहन, सामाजिक सेवायें और उद्योगों को। औद्योगिक क्षेत्र में प्राथमिकता के सम्बन्ध मे निश्चित किया गया क्रम निम्न प्रकार है —

(अ) उत्पादकों के लिये आवश्यक वस्तुओं सम्बन्धी उद्योग जैसे पटसन, तथा

उपभोक्ताओं के लिये आवश्यक वस्तुओं जैसे कपड़ा, शकर, साबुन इत्यादि के उद्योगों की वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूरा उपयोग करना,

(ब) पूंजीगत वस्तुओं तथा उत्पादकों के लिये आवश्यक वस्तुओं सम्बन्धी उद्योगों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करना, जैसे लोहा तथा इस्पात, सीमेंट, अल्यूमीनियम, खाद, रसायन, मशीनें इत्यादि,

(स) जिन औद्योगिक कार्यक्रमों में काफी पूंजी लग चुकी है उनको पूरा करना,

(द) औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक आधारभूत वस्तुओं से सम्बन्धित नये उद्योगों को स्थापित करना जैसे जिप्सम से गंधक बनाने का कार्य, रेयन से लुगदी बनाने का कार्य।

यदि प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तिम रूप की तुलना प्रारम्भिक रूप से की जाये तो स्पष्ट होगा कि योजना के अन्तिम रूप में उद्योगों के महत्त्व में कुछ वृद्धि कर दी गई थी परन्तु योजना का प्राथमिकता का क्रम पूर्ववत् ही रहा। योजना के अन्तिम रूप में कृषि, सिंचाई और बिजली पर कुल लागत का ४४३/४% व्यय करने का निश्चय किया गया था, यातायात तथा संवाद वाहन पर २८%, समाज सेवा कार्यों पर १६१/२% और उद्योगों पर केवल ८१/२% व्यय की राशि निश्चित की गई थी जैसा कि तालिका १ में दिखाया गया है। आयोग ने कृषि को पहली प्राथमिकता देने के कारणों का विश्लेषण करते हुए बताया कि खाद्यान्न और कच्चे माल के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि न होने से उद्योगों के विकास की गति तीव्र होने की सम्भावना नहीं होगी। आयोग का मत था कि आर्थिक स्थिति के आधार को बिना मजबूत किये विकास कार्यक्रम उचित गति से नहीं पूरा किया जा सकता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि कृषि क्षेत्र में पर्याप्त अतिरिक्त खाद्यान्न तथा कच्चा माल उत्पन्न किया जाये ताकि अन्य क्षेत्रों के कार्यों को बढ़ाया जा सके। इन्हीं कारणों से कृषि को प्राथमिकता दी गई थी।

योजना की मुख्य बातें—योजना में विभिन्न मदों पर जो रुपया व्यय किया जायेगा उसकी प्रमुख विशेषता यह है कि भविष्य में निजी तथा सरकारी क्षेत्रों में उत्पादक वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकेंगी। यह व्यय निम्न प्रकार होगा —

१ केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की उत्पादक पूंजी में वृद्धि करने वाले व्यय की राशि ११६६ करोड़ रुपया

२ व्यक्तिगत क्षेत्र में उत्पादक पूंजी में वृद्धि करने के लिये होने वाला व्यय —

(अ) ग्रामीण विकास एवं कृषि पर (सामुदायिक विकास योजना के अतिरिक्त) ··· ··· ···	२४४ करोड़ रुपया
(ब) यातायात एवं उद्योगों को ऋण की राशि··· ···	४७ ,, ,,
(स) स्थानीय विकास को प्रोत्साहन देने में (सामुदायिक तथा स्थानीय विकास योजनाएँ) ···	१०५ ,, ,,

३ सामाजिक पूँजी के लिये व्यय	४२५ करोड़ रुपया	
४ विविध	४६ ,,	,,
कुल ...	२६६ ,,	,,

इन राशियों का वितरण केन्द्र एवं राज्य सरकारों में निम्न प्रकार किया गया था :—

१ केन्द्रीय सरकार (रेलों को शामिल करते हुए)	१२४१ करोड़ रुपये	
२ राज्य सरकारें —		
(अ) 'अ' राज्यों के लिये	६१० ,,	,,
(ब) 'ब' राज्यों के लिये	१७२ ,,	,,
(स) 'स' राज्यों के लिये	३२ ,,	,,
जम्मू एवं कश्मीर राज्य	१३ ,,	,,
कुल ...	२०६६ ,,	,,

वित्त प्रबन्ध—किसी भी योजना की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि उसके वित्तीय प्रबन्ध समुचित एवं कुशल हों और उसका आर्थिक आधार शक्तिशाली हो। आयोग ने योजना का आर्थिक आधार निश्चित करते समय देश में उपलब्ध साधनों, विदेशी सहायता तथा विदेशी ऋणों का अनुमान लगाया था और यह अनुमान था कि बजट में १२५८ करोड़ रुपये उपलब्ध होंगे और १५६ करोड़ रुपये विदेशी ऋणों से (जो प्राप्त हो चुके हैं) शेष ६५५ करोड़ रुपये की राशि के लिये आन्तरिक ऋणों, अल्प बचतों तथा हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लेना होगा। इस उद्देश्य से योजना का आर्थिक आधार निम्न प्रकार निर्धारित किया गया था :—

(करोड़ रुपयों में)

प्रथम योजना में बजट से प्राप्त होने वाली सहायता	केन्द्र	राज्य	योग
१ राजकीय बचतों के स्रोत —			
(अ) चालू आय	१६०	४१०	५७०
(ब) रेलें	१७०	...	१७०
२. निजी बचतों के स्रोत :—			
(अ) जनता से ऋण	३६	७६	११५
(ब) अल्प बचत तथा बिना भुगतान किये हुए ऋण	२७०	...	२७०
(स) जमा, कोष तथा अन्य स्रोत ...	६०	४३	१२३
योग	७२६	५३२	१२५८

उपर्युक्त तालिका में यह स्पष्ट किया गया है कि योजना काल में जनता तथा राजकीय बचतों से १२५८ करोड रुपये प्राप्त किये जायेंगे। २६० करोड रुपयों का हीनार्थ प्रबन्धन, (जो पौंड पावनों के विरुद्ध किया जायेगा) करने के बाद कुल कमी ५२१ करोड रुपयों की होगी। यह निम्न तालिका से स्पष्ट होता है —

प्रथम योजना की कुल राशि का वित्तीय प्रबन्ध (राजकीय क्षेत्र में)

वित्तीय साधन	राशि करोड़ रुपयों में
(१) चालू बचता से प्राप्त आय (रेलों सहित)	७३८
(२) जनता से ऋण	५२०
१ + २ = ऋण तथा बजटीय साधन	१२५८
(३) हीनार्थ प्रवन्धन (पौंड पावनों के विरुद्ध)	२६०
(४) कमी जिसको विदेशी सहायता अतिरिक्त ऋण और/या अतिरिक्त हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा पूरा करना था ··· ···	५२१
योग	२०६९

योजना के साधनों मे जो ५२१ करोड रुपयों की कमी जो उपर्युक्त तालिका म दिखाई गई है उसमें से १५६ करोड रुपया विदेशी सहायता के रूप म प्राप्त हो ही चुका था इसलिये केवल ३६५ करोड रुपयों की पूर्ति ही शेष रह जाती है। परन्तु यह कमी और भी अधिक हो सकती थी यदि राज्य तथा निजी बचतों की स्थिति आशा के अनुकूल न रहती। यदि सारी स्थिति पर ध्यान दिया जाये तो ज्ञात हो जायगा कि सरकारी क्षेत्र में २६९ करोड रुपयों का जो व्यय निश्चित किया गया था उसम से पूजीगत व्ययों के लिये केवल १६०० से १७०० करोड रुपयों की राशि निश्चित की गई थी और यदि इसमे निजी क्षेत्र मे लगाई गई पूंजी को भी शामिल कर लिया जाये तो ५ वर्षो मे आन्तरिक स्रोतों से ही पूजीगत व्यय की २७०० से २८०० करोड रुपयों की राशि पूरी करनी थी। यदि इस अवधि में पौंड पावनों की आड पर किये जाने वाले हीनार्थ प्रवन्धन की राशि जो २६० करोड रुपयों की थी और विदेशी ऋण जो विश्व बैंक अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड इत्यादि से प्राप्त होने वाले १५६ करोड रुपयों को भी मिला लिया जाये तो कुल साधन ३१५० करोड रुपयों से ३२५० करोड रुपयों तक के बीच मे ही रहते हैं।

योजना में कृषि— जैसा कि हम पहले कह चुके हैं योजना के विभिन्न कार्यक्रमों मे कृषि को प्राथमिकता दी गई है। कृषि पर व्यय की जाने वाली राशि योजना की कुल राशि का ४२ ८ प्रतिशत है। सिंचाई एव विद्युत कार्यक्रमों को भी कृषि मे ही सम्मिलित किया जा सकता है क्योंकि सिंचाई से कृषि की उन्नति होती है। अतः

कृषि सिंचाई एव विद्युत पर होने वाले व्यय की राशि (३६० ४३+५६१·४१)= ६२१ ८४ करोड रुपये हैं। योजना की अवधि म खाद्यान्न के उत्पादन म ७६ लाख टन की वृद्धि होगी अर्थात् कुल खाद्यान्न का उत्पादन १४% से बढ जायेगा। इसी प्रकार रुई की उपज म ४२%, जूट की उपज म ६३%, गन्ने म ७% और तिलहन म ८% की वृद्धि की जायगी। यदि इस वृद्धि को उत्पत्ति की मात्रा म व्यक्त किया जाये तो रुई का उत्पादन १२ ६ लाख गाँठें, जूट का २० ६ लाख गाँठें, गन्ने का ७ लाख टन और तिलहन का उत्पादन ४ लाख टन अधिक हो जायेगा।

सिंचाई एव विद्युत— इस मद पर होने वाले व्यय की कुल राशि ५६१ करोड रुपये थी जो कुल लागत की ३०% थी। इस कार्यक्रम म तत्कालीन योजनाओं पर होने वाले व्यय की कुल राशि ५१८ करोड रुपये निश्चित की गई थी और इनकी कुल अनुमानित लागत ७६५ करोड रुपये थी। इन योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने के बाद १,६६४२,००० एकड अतिरिक्त भूमि की सिंचाई होने लगी थी तथा १४६८००० किलोवाट बिजली का अधिक उत्पादन होगा।

उद्योग—औद्योगिक क्षेत्र में योजना आयोग का विचार था कि अभी तक केवल उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन से सम्बन्धित उद्योगो का ही विकास हुआ है और आधारभूत उद्योगो के विकास की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इसलिये भविष्य में पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा जिससे भारत का औद्योगिक स्तर अधिक शक्तिशाली बनाया जा सके। इनकी प्राथमिकता हम ऊपर दे ही चुके हैं। औद्योगिक विकास के सम्बन्ध म उसी नीति को अपनाने का निश्चय किया गया था जो सन् १९४८ म म घोषित की गई थी।

योजना म केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के औद्योगिक कार्यक्रमो के लिये ९४ करोड रुपया की व्यवस्था की गई थी जिसम तत्कालीन योजनाओं की पूर्ति के अतिरिक्त कुछ नई योजनाओ को आरम्भ करने का निश्चय किया गया था। इसके अतिरिक्त १५ करोड रुपया की राशि एक नये लोहा तथा इस्पात के कारखाने की स्थापना के लिये नियत की गयी थी और शेष राशि को निजी स्रोतों से प्राप्त करना था। सहकारी क्षेत्र में अधिकतर योजनाएँ ऐसी थी जो पूँजीगत उद्योगो तथा ऐसी आवश्यक वस्तुओ के उद्योगो को विकसित करेंगी, जो भविष्य में औद्योगिक विकास म सहायता देंगी। इसके लिये ५० करोड रुपया की राशि की व्यवस्था की गई थी। इस योजना म ४२ उद्योगो के लक्ष्य निर्धारित किय गये थ और यह अनुमान था कि इन लक्ष्यो की पूर्ति के लिये ५ वर्षों म कुल ३२७ करोड रुपये व्यय किये जायेंगे (९४ करोड रुपये सरकारी क्षेत्र म और २३३ करोड रुपया निजी क्षेत्र म)। इसके अतिरिक्त तत्कालीन उद्योगो के आधुनिकीकरण म और मशीनो के बदलने म १५० करोड रुपयों के और खर्च किये जाने का अनुमान था। इस प्रकार यदि हम चालू पूंजी की रकम को और जोड दें तो केवल उद्योगो म ही ५ वर्षों म ७०७ करोड रुपयो के व्यय होने का अनुमान था जिसकी पूर्ति निजी उद्योगो को

अपने साधनों से करनी थी। इसके अतिरिक्त कुटीर उद्योगों एवं ग्रामीण के विकास एवं उनकी सुरक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया था।

यातायात एवं संवाद वाहन—यातायात एवं संवाद वाहन के साधनों के विकास के लिये कुल ४९७ १० करोड रुपयों की राशि निश्चित की गई थी जिसमें से रेलों के विकास पर ४०० करोड रुपयों का व्यय निश्चित किया गया था। इस राशि में से ८० करोड रुपया केन्द्रीय सरकार को देना था और शेष रेलों को अपने साधनों में से देना था। जहाजरानी में ६ लाख टन की वृद्धि करने का लक्ष्य था। इसी प्रकार जहाजी कम्पनियों को जहाज आदि खरीदने के लिए १५ करोड रुपये के केन्द्रीय ऋण देने की व्यवस्था की गई थी।

वर्तमान बन्दरगाहों के विकास तथा काँदला पोर्ट की स्थापना के लिए ८ करोड रुपये और बन्दरगाहों के आधुनिकीकरण के लिये १२ करोड रुपये नियत किये गये थे। सडकों के विकास के लिये २७ करोड रुपयों का आयोजन था तथा कुछ विशेष सडकों के विकास के लिए ४ करोड रुपयों का प्रबन्ध किया गया था। इसके अतिरिक्त २१ १५ लाख रुपयों की लागत से एक केन्द्रीय सडक अनुसंधान इन्स्टीटियूट भी स्थापित होना था। आयोग के अनुसार योजना काल में ४५० मील नई सडकें और २२०० मील पुरानी सडकों की मरम्मत होगी। हवाई यातायात के विकास के लिए ९.५ करोड रुपयों की व्यवस्था की गई थी। डाक, तार व टेलीफून की सुविधायें प्रदान करने के लिये ५० करोड रुपयों की व्यवस्था की गई थी।

विविध—इसके अतिरिक्त सामाजिक सेवाओं के लिए ३४० करोड रुपये नियत किये गये थे, १५२ करोड रुपये शिक्षा, १०० करोड चिकित्सा एवं स्वास्थ्य, ४९ करोड रुपये गृह निर्माण, २९ करोड रुपये पिछडी हुई जातियों पर और ७ करोड रुपये श्रम कल्याण पर किए जाने थे। प्रारम्भिक शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या में २५%, जूनियर बेसिक में ८१%, माध्यमिक में ३२% और यंत्रात्मक तथा व्यवसायिक शिक्षा पाने वालों की संख्या में ६३% की वृद्धि होने की आशा थी। शरणार्थियों के पुनर्वासन के लिए ८५ करोड रुपयों का प्रबन्ध किया गया था।

योजना और राष्ट्रीय आय—नियोजन आयोग ने यह स्पष्ट कर दिया था कि नियोजन काल में जितना भी विनियोग कार्यक्रम अपनाया गया है उसके पूरे लाभ उसी काल में प्राप्त नहीं हो पायेंगे बल्कि बाद के वर्षों में होंगे। इसके बावजूद भी यह अनुमान लगाया गया था कि देश की राष्ट्रीय आय ९००० करोड रुपये से बढकर १० हजार करोड रुपये हो जायगी अर्थात् योजना अवधि में राष्ट्रीय आय में ११% की वृद्धि होगी। राष्ट्रीय आय में जो २% की वार्षिक वृद्धि होगी उसका ½ भाग प्रत्येक वर्ष विनियोगों पर लगा दिया जायेगा, ताकि विकास कार्यक्रम उसी गति से पूरा किया जा सके जिस पर योजना में करने का निश्चय किया गया था। इस प्रकार औसत उपभोग व्यय राष्ट्रीय आय की अपेक्षा निजी दर पर बढेगा।

योजना आयोग का विचार था कि भारत में बेकारी की समस्या इतनी तीव्र नहीं थी जितनी कि कम रोजगारी की थी। इसलिए कम-रोजगारी की समस्या को दूर

करने तथा रोजगारी के अवसरों को वास्तविक आय के बढते हुए स्तरों पर उत्पन्न करने का कार्य विकास की समस्या का एक दूसरा रूप था। योजना मे इस समस्या को दूर करने के लिए दो प्रकार के उपाय अपनाने का निश्चय किया गया था। प्रथम, विनियोगों की बढती हुई दर मे उन्नति करने की क्रिया में उन लोगो के लिए अधिक रोजगार प्रदान करेगे जो निर्माण कार्यों में लगे हुए है और दूसरे, प्रणाली में महत्वपूर्ण बिन्दुओ पर पूँजी का निर्माण करके यह सम्भव हो सकेगा कि बढती हुई मात्रा में उत्पादक प्रणाली म व्यक्तियो को नौकरियाँ दी जा सके।

बाद म देश की रोजगार की स्थिति बिगडने के साथ-साथ नियोजन आयोग और सरकार को सन् १९५३–५४ म योजना पर किए जाने वाले व्यय की राशि को बढाकर २३५६ करोड रुपये करना पडा।

योजना की आलोचना—प्रथम पच वर्षीय योजना की बहुत आलोचना की गई थी। कुछ लोगों का विचार है कि योजना को पूरा करने के लिये वित्तीय साधनो को जुटाने मे अत्यन्त आशावादी दृष्टिकोण अपनाया गया है और जनता से उसकी शक्ति से भी अधिक आशा की गई है। आलोचको का कहना है कि आयोग के अनुमानानुसार ५ वर्षों मे केन्द्रीय सरकार के बजट, राज्य सरकारो के बजट और रेलो से क्रमश १६०, ४०८ और १७० करोड रुपया अतिरिक्त प्राप्त होगा। परन्तु इस मात्रा में अतिरिक्त वृद्धि होना सम्भव नही है। भारत की जनता पहले ही निर्धन है और उसमे और अधिक कर देने की शक्ति नही है इसलिए रेलो तथा सरकारो की आय भी इतनी अधिक होना सम्भव नही है जितनी कि योजना मे आशा की गई है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि योजना पूर्ण रूप से कार्यान्वित नही हो पायेगी और उसम काट-छाँट करनी पडेगी। इसके अतिरिक्त आयोग का अनुमान था कि योजना अवधि मे प्रतिवर्ष अतिरिक्त आय का २०% पूँजी निर्माण में लगाया जायेगा और अगले १२ वर्षों मे अतिरिक्त आय का १२% पूँजी निर्माण में लगाया जायगा परन्तु भारत की जैसी आर्थिक स्थिति है उसको देखते हुए अतिरिक्त आय का इतना अधिक भाग पूँजी निर्माण मे लगा सकने की आशा करना वास्तविक स्थिति के अनुकूल नही है। हमारे देश की जनता के पास अपने जीवन निर्वाह के लिए ही पर्याप्त आय नही है। इसलिए जनता अतिरिक्त आय को विनियोगो में लगाने के स्थान पर उपभोग पर व्यय करना अधिक पसन्द करेगी। यदि ऐसा होता है तो आयोग का सन् १९७७ तक प्रति व्यक्ति आय दुगनी करने का अनुमान पूरा नही हो सकेगा।

यद्यपि इस आलोचना मे कुछ अश तक सच्चाई अवश्य है किन्तु यह योजना का दोष नही है। नियोजन कार्य की सफलता के लिये जनता से त्याग की आशा की जा सकती है। इस विषय म विभिन्न प्रश्न उठ सकते हैं कि जनता से त्याग करने की आशा किस सीमा तक की जाये और जनता कितना त्याग कर सकने म समर्थ है, जबकि योजना मे ५ वर्षों की अवधि मे यह निश्चय किया गया है कि प्रति वर्ष अतिरिक्त आय का २०% विनियोगो में लगाया जायेगा। पहले ही वर्ष में

केवल ५% के विनियोग की व्यवस्था की गई थी और इसका अभिप्राय यह हुआ कि अन्य योजनाओं में प्रति वर्ष अतिरिक्त आय का ५०% भाग विनियोगों में लगाये जाने की आशा की जायेगी। जहाँ तक इस पहलू का सम्बन्ध है योजना केवल प्रयोग मात्र था। यदि जनता योजना में निर्धारित किये गये लक्ष्यों के अनुसार रुपया नहीं लगा सकी तो आवश्यक धन न व्यय होने पर प्रगति की गति भी धीमी रहेगी। योजना की प्रगति के साथ-साथ नये अनुभव प्राप्त होते जायेंगे और साथ-साथ योजना में आवश्यक परिवर्तन भी किये जायेंगे।

कुछ आलोचकों का विचार है कि योजना में कृषि को उद्योगों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया है। कृषि को प्राथमिकता देने का मुख्य कारण यह बताया गया था कि जो योजनायें सन् १९५१ से पहले कार्यान्वित की जा रही थीं, उन्हें पूरा किया जायेगा और भावी औद्योगिक विकास के लिये सुदृढ़ आधार स्थापित किया जायेगा। इस तर्क का मुख्य विचार यह है कि भारत का तत्कालीन औद्योगिक विकास कृषि विकास के अनुरूप हो रहा था, परन्तु वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति जिसका भारतीय स्थिति का तनिक भी ज्ञान हो यह बता सकता था कि भारत में कच्चे माल और बिजली इत्यादि का उस समय जितना उत्पादन हो रहा था, उससे देश का बहुत अधिक औद्योगिक विकास किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त आयोग ने इस ओर भी कोई ध्यान न दिया कि जब तक हम भावी औद्योगिक विकास के लिये सुदृढ़ आधार स्थापित करेंगे, हो सकता है उस समय तक संसार की परिस्थिति में ऐसे परिवर्तन हो जायें जिससे भारत का औद्योगिक विकास आशा के अनुकूल न हो और ऐसी स्थिति में फिर कृषि के विकास में क्या लाभ प्राप्त होगा। यह भी आलोचना करते हुए बताया गया था कि भारत में नियोजन का प्राथमिक उद्देश्य, देश की अर्थ-व्यवस्था की त्रुटियों को दूर करके उसका अधिक संतुलित विकास करना था और इस सम्बन्ध में सबसे बड़ी कमी यह थी कि न तो भारत में मशीनों का निर्माण करने वाले उद्योग ही थे, और न बिजली इन्जीनियरिंग, रसायन आदि उद्योगों का ही अच्छी तरह विकास हो सका था। इसलिये देश के संतुलित विकास की दृष्टि से आयोग को इस ओर अधिक ध्यान देना था।

आयोग ने योजना में स्पष्ट किया था कि देश का औद्योगिक विकास निजी उद्योगपतियों के हाथों में सौंपा गया था और इसमें कोई हानि भी न थी। क्योंकि भूतकाल में निजी उपक्रम ने देश के औद्योगिक विकास में जो भाग लिया था वह सराहनीय था। किन्तु योजना के आलोचक इससे सन्तुष्ट न थे और उनका विचार था कि औद्योगिक विकास को अधिकतर निजी उद्योगपतियों के हाथों में सौंपना तथा उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित करने के साथ-साथ निजी उद्योग के पूर्ण उपयोग के लिये पर्याप्त साधनों की व्यवस्था नहीं की गई थी। निजी उद्योगपतियों का विचार था कि योजना में २३३ करोड़ रुपयों की पूँजी का विनियोग करने की और १५० करोड़ रुपयों की पूँजी टूट-फूट और घिसाई आदि की पूर्ति के लिये रखने का प्रबन्ध किया गया था जो राशि पूर्णतया अपर्याप्त थी। इसके अतिरिक्त यह भी विचार-

योग यात है कि उद्योगों का विकास तथा प्रगति केवल वित्त पर ही निर्भर नहीं होती बल्कि और भी अनेक साधनों की आवश्यकता होती है, जैसे टूट-फूट इत्यादि के लिये अधिक पूँजी या कुछ विशेष परिस्थितियों में नकद आर्थिक सहायता। किन्तु योजना म इसके लिये कोई भी प्रबन्ध नहीं किया गया है जिसके अभाव म निजी उपक्रम अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर पायेंगा।

योजना का एक और बड़ा दोष यह बताया गया था कि इसमें केवल दीर्घ-कालीन योजनाओं पर ही ध्यान दिया गया था। निस्सदेह ही सुनियोजित आर्थिक व्यवस्था के लिये दीर्घकालीन योजनाओं को महत्त्व देना चाहिये जैसा कि रूस में भी किया गया था। परन्तु भारत की स्थिति रूस जैसी नहीं है। भारत मे अल्पकालीन योजनाओं को भी बल प्रदान किया जाना चाहिये क्योकि ऐसी योजनाओं से देश मे बेकारी की समस्या को तुरन्त ही कम किया जा सकता था। आयोग का अनुमान था कि सन् १९५६ तक १ करोड़ अतिरिक्त व्यक्तियो को नौकरी दी जा सकेगी। परन्तु इसका कोई महत्त्व नही था क्योकि योजना काल के अन्त तक ५ से ६ करोड़ तक की बेकारी और उत्पन्न हो जायेगी। दीर्घकालीन उद्देश्य आवश्यक तो होते हैं किन्तु निकट भविष्य की समस्याओं का समाधान करना अधिक आवश्यक होता है जिसकी ओर पचवर्षीय योजना में कोई भी ध्यान नहीं दिया गया था। दीर्घकालीन योजनाओं को अधिक महत्त्व प्रदान करने का एक दोष यह भी है कि जब व्यक्तियो की क्रय शक्ति तुरन्त ही बढ़ती है उत्पादन दीर्घ काल म बढ़ेगा। फलस्वरूप मुद्रा प्रसार बढ़ जावेगा। नियोजन का उद्देश्य मुद्रा प्रसार की प्रकृति को कम करना होना चाहिये। परन्तु पचवर्षीय योजना मे इस समस्या पर भी दृष्टिपात नही की गई थी। योजना मे केवल यह निश्चित किया गया कि मुद्रा प्रसार को रोकने के लिये सरकार मूल्य नियन्त्रण की नीति अपनायेगी। किन्तु ऐसा सोचने मे आयोग ने एक बड़ी भूल की थी। क्योंकि जब तक आर्थिक व्यवस्था का आधार ही ठीक नहीं होगा उस समय तक मूल्य नियन्त्रण नीति सफल नहीं हो सकती। सरकारी नियन्त्रण से वस्तुओं के अल्पकालिक अभाव को दूर किया जा सकता है और सीमित पूर्ति वाली वस्तुओं का राशन किया जा सकता है। परन्तु वस्तुओं की लागतों मे होने वाली वृद्धि के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली मूल्य वृद्धि को नहीं रोका जा सकता।

अन्त म कुछ लोगों का यह भी विचार था कि आर्थिक विकास की कोई भी योजना उस समय ही सफल हो सकती है जबकि उसके प्रबन्ध एव सचालन के लिये विश्वसनीय शासन प्रणाली हो और कुशल सगठन हो। हमारी योजना की सबसे बड़ी कमी यह ही है कि योजना को लागू करने के लिये कोई विशेष सगठन की व्यवस्था नहीं की गई है। कुछ औद्योगिक तथा नदी घाटी योजनाओं को पूरा करने के लिये स्वतन्त्र कारपोरेशनों की स्थापना अवश्य की गई है किन्तु इन पर सरकार अपना पूरा नियन्त्रण रखने मे सफल नहीं हो पाई है। परिणामस्वरूप बहुत सा रुपया बर्बाद हुआ, कार्य-क्रमो मे समय-समय पर सशोधन किये गये और आशातीत सफलता भी प्राप्त नहीं हुई। यही नहीं बल्कि वर्तमान शासन प्रणाली न तो आय का उपयोग

करने में ही और न विवेकपूर्ण व्यय करने में ही सफल हुई, जिसका परिणाम यह हुआ कि योजना पूर्ण रूप से लागू नहीं की जा सकी और देश को पूरा लाभ प्राप्त नहीं हो सका। अतः आवश्यकता इस बात की है कि राजकीय सेवा आयोग (Public Service Commission) की भाँति एक आर्थिक सेवा आयोग (Economic Service Commission) स्थापित किया जाये जो आई० ए० एस० की भाँति भारतीय आर्थिक सेवा (Indian Economic Service) के अन्तर्गत कुशल कर्मचारियों को नियुक्त करे और हमारी आर्थिक योजनाओं को सफल बनाये।

योजना की प्रगति—*योजना* की अवधि पूरी होने के बाद आर्थिक ढाँचा पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ और स्थिर तो हो ही गया है, किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि जितनी प्रगति का अनुमान था और आशा थी उतनी प्रगति हो नहीं पाई है। हम निम्न पृष्ठों में प्रथम योजना की अवधि में जो सफलता विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त हुई है इसका विवरण देंगे। सबसे पहले यह बताना आवश्यक है कि योजना में विभिन्न बड़ी बड़ी मद्दों पर निर्धारित किये गये व्यय और वास्तविकता में किये गये व्यय में कितना अन्तर रहा है। यह निम्न तालिका में दिखाया गया है —

(करोड़ रुपयों में)

	योजना में निर्धारित	वास्तविक व्यय
कृषि और सामुदायिक विकास	३५७	२९९
सिंचाई और शक्ति	६६१	५८५
उद्योग और खानें	१७९	१००
परिवहन और संचार	५५७	५३२
समाज सेवायें	५३३	४२३
विविध	६९	७४
योग	२,३५६	२,०१३

योजना अवधि में विदेशों से ऋणों तथा अनुदानों के रूप में जो सहायता प्राप्त हुई उसकी राशि २९६ करोड़ रुपया थी, जिसमें से लगभग १८८ करोड़ रुपये ५ वर्षों में खर्च किये गये थे और १०८ करोड़ रुपये दूसरी योजना के लिये बचे थे। योजना पर खर्च किये हुए १९६० करोड़ रुपये निम्न स्रोतों से प्राप्त हुए थे —

	रु० करोड़ों में	कुल प्रतिशत
कर और रेलों की बचत	७५२	३८
ऋण	२०५	१४
अल्प बचत और अन्य कोषों में जमा हुआ धन	३०४	१६
अन्य पूंजीगत साधनों से प्राप्ति	९१	५

विदेशी सहायता		१८८	१०
घाटे की व्यवस्था से		४२०	२१
	योग	१,९६०	१००

यह व्यय ५ वें वर्ष में होने वाले वास्तविक व्यय के अनुमानों पर आधारित है। वास्तव में योजना की पूरी अवधि में २०१२ करोड़ रुपयों का व्यय किया गया था जो योजना के प्रारम्भिक अनुमानों के अनुसार था किन्तु बाद में दुहराये गए अनुमानों की तुलना में वास्तविक व्यय की राशि ३४४ करोड़ रुपया से कम थी।

योजना अवधि में अल्प बचता से प्राप्त होने वाले धन में भी वृद्धि हुई थी। जब कि २२५ करोड़ रुपय इस मद से प्राप्त होने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था तब २३७ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे जो योजना पर व्यय की गई राशि का लगभग १०% था।

योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय में लगभग १७.५ प्रतिशत की वृद्धि हुई था और प्रति व्यक्ति आय में १०.५% की वृद्धि हुई थी। राष्ट्रीय आय की वृद्धि सभी वर्षों में समान नहीं थी। अन्तिम २ वर्षों में यह वृद्धि प्रारम्भिक वर्षों की अपेक्षा केवल नाम मात्र ही थी। योजना में यह आशा की गई थी कि विनियोगों में वृद्धि होगी। पहले जहां राष्ट्रीय आय का ५% विनियोगों पर लगाया जाता था योजना अवधि में ७% होगा। ५ वर्षों की अवधि में विनियोगों की राशि ३५०० से ३६०० करोड़ रुपय निश्चित की गई थी। परन्तु योजना अवधि में वास्तविक राशि ३१०० करोड़ रुपया के लगभग रही जिसमें से १५०० करोड़ रुपय सरकारी क्षेत्र में थे और १६०० करोड़ रुपय निजी क्षेत्र में। यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है —

(करोड़ रुपयों में)

	१९५०–५१	१९५५–५६
१ राष्ट्रीय आय	८८७०	१०४२०
२ राष्ट्रीय आय सूचक अंक	१००	११७.५
३ प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय	२४६.३	२७२.१
४ राष्ट्रीय आय में विनियोगों का प्रतिशत	४.९	७.३

योजना अवधि में प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय में भी वृद्धि हुई थी। इसका सूचक अंक सन् १९५०–५१ में १०० मान कर १९५५–५६ में १०८ हो गया था।

योजना अवधि में कृषि उत्पादन में तो आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। सन् १९५५-५६ में ६४८ लाख टन अनाज उत्पन्न हुआ जो आधारभूत वर्ष की अपेक्षा ११० लाख टन अधिक था। कृषि उत्पादन का सूचक अंक सन् १९४९.५० को आधार वर्ष मान कर सन् १९५३.५४ में ११४.३ और सन् १९५४.५५ में ११६.४ हो गया था। अन्तिम वर्ष में कृषि उत्पादन कुछ कम हो गया था फिर भी योजना आरम्भ होने से पहले के वर्ष में जो कृषि उत्पादन का सूचक अंक था वह अन्तिम वर्ष में १९% ऊँचा हो गया था। खाद्यान्न के उत्पादन में २९.८% की वृद्धि हुई

थी, कपास के उत्पादन में ३७.५% और तिलहन में १३.२%। ६० लाख एकड़ से भी अधिक भूमि पर सिंचाई होने लगी थी। बिजली का निर्माण जो सन् १९५०-५१ में ६५७५ मिलियन किलोवाट था वह सन् १९५५-५६ में ११ हजार मिलियन किलोवाट हो गया। सीमेंट के उत्पादन में १.६ मिलियन टन की वृद्धि हुई थी।

मूल्यस्तर में १३% की कमी हुई थी और रहन-सहन का सूचक अंक जो सन् १९४९ में १०० था वह सन् १९५५ में ९६ हो गया।

योजना अवधि में सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में स्थायी विनियोग की राशि २९३ करोड़ रुपये थी जिसमें से निजी क्षेत्र में २३३ करोड़ रुपयों का विनियोग हुआ था। पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में ७०% की वृद्धि हुई थी। आधे बने हुए माल के उत्पादन में जिसमें औद्योगिक कच्चे माल का विशेष स्थान था, उसमें लगभग ३४% की वृद्धि हुई थी। उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन भी ३४% बढ़ गया था। तीनों प्रकार के उत्पादन में ३८% की औसत वृद्धि हुई थी।

मिल के बने हुए कपड़े का उत्पादन सन् १९५०-५१ में ३ अरब ७१ करोड़ ८० लाख गज से बढ़ कर सन् १९५५-५६ में ५ अरब १० करोड़ २० लाख गज हो गया। इस प्रकार योजना में निर्धारित लक्ष्य से लगभग ४० करोड़ गज़ अधिक कपड़े का उत्पादन हुआ था। मशीनों तथा इन्जीनियरिंग तथा रसायन उद्योग में भी काफी वृद्धि हुई थी। टाइप राईटर, आलटरनेटर, पैंनसिलीन इत्यादि अनेक प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन पहले ही बार देश में हुआ था। पेट्रोल साफ करने हवाई जहाज़, रेल के डिब्बे बनाने, रसायनिक खाद तथा डी० डी० टी० बनाने के कारखाने भी पहले ही बार देश में चालू किये गये थे। सरकारी क्षेत्र में सिंदरी फैक्टरी, चितरंजन का इंजन कारखाना, इन्डियन टेलीफून उद्योग और इन्टीगरल कोच फैक्टरी आदि कारखानों की सन्तोषजनक प्रगति हुई। परन्तु लोहा और इस्पात तथा भारी विद्युत उपक्रमों के कारखाने इस योजना अवधि में चालू नहीं हो सके। मशीनों औज़ारों के कारखाने, न्यूज़ प्रिन्ट फैक्टरी और विहार सुपर सल्फेट फैक्टरी भी कार्यक्रम से पीछे रही। निजी क्षेत्र में औद्योगिक विकास के लिये कुल पूँजी का अनुमान २३३ करोड़ रुपये लगाया गया था जो अधिकतर पूँजीगत तथा उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों के लिये था। निजी क्षेत्र में योजना अवधि के विनियोग लक्ष्य पूरे हो गये थे, और उत्पादन में आशातीत वृद्धि हुई थी किन्तु उत्पादक वस्तुओं के कुछ उद्योगों में अतिरिक्त उत्पादन की आशा पूरी नहीं हो पाई जैसे लोहा और इस्पात, एल्यूमीनियम, मशीनों के आधुनिकीकरण तथा बदलने के विषय में प्रगति आशा से कुछ कम रही। इस क्षेत्र में कुल १५० करोड़ रुपया खर्च होने का अनुमान था जिसके स्थान पर कुल ११० करोड़ रुपये खर्च हुए थे।

योजना में ग्रामीण तथा छोटे उद्योगों के विकास के लिये जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे वे यद्यपि पूरे तो नहीं हो सके थे परन्तु उनके विकास के लिये एक विस्तृत कार्य क्रम को कार्यान्वित करने का मार्ग अवश्य ही प्रदर्शित हो गया। योजना अवधि में ऐसे अनेकों संगठन स्थापित किये गये जिनकी सहायता से छोटे

उद्योगो की उन्नति की जायेगी। वास्तव मे हमारे देश की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार ही यह उद्योग प्रदान करेगे। इसलिये ही इन पर अधिक जोर दिया जा रहा है। ग्रामीण तथा छोटे उद्योगो पर लगभग ४६ करोड रुपये खर्च हुए थे जिसमे से ३४ करोड केन्द्रीय सरकार ने और १२ करोड राज्य सरकार ने खर्च किये थे।

योजना अवधि मे रेलो के सम्बन्ध में १०३८ इजन, ५,६७४ सवारी गाडी के डिब्बे और १४,१४३ माल गाडी के डिब्बे प्राप्त करने के लक्ष्य निर्धारित किये गये थे। किन्तु इस अवधि में १५८६ इजन, ४७५८ सवारी गाडी के डिब्बे और ६१ २५४ माल गाडी के डिब्बे प्राप्त किये गये। इसके अतिरिक्त इन मदो में उत्पादन की वृद्धि निम्न प्रकार थी —

	१६५१-५२	१६५५-५६
इजन	२७	१७६
सवारी के डिब्बे	६७३	१२२१
माल के डिब्बे	३७०७	१४३१४

युद्धकाल में जो रेलमार्ग टूट गये थे उनमें से लगभग ४३० मील लम्बे मार्ग फिर बना दिये गये, ३८० मील लम्बी नई लाईन डाली गई और ४६ मील लम्बी नैरो गेज वाली लाईनो को बदल कर मीटर गेज कर दिया गया।

योजना अवधि मे बेकारी की समस्या पूर्ववत ही रही क्योकि इन वर्षों मे एक तो नई नौकरियाँ आशा के अनुसार उत्पन्न नही की जा सकी और इसके अतिरिक्त जनसख्या प्रति वर्ष १½% की दर से बढते जाने के कारण और रोजगारो मे समानुपातिक वृद्धि न होने के कारण बेकारी की स्थिति पहले से और भी अधिक खराब हो गई है।

उपर्युक्त विवरण से योजना के दोषो तथा गुणो दोनों ही का स्पष्टीकरण हो जाता है। हमने योजना की कार्य प्रगति तथा आलोचनाओ का भी स्पष्टीकरण किया है। आलोचनायें तो वैसे बहुत हुई और वे कुछ अश तक सही भी थी, किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रथम पचवर्षीय योजना को यदि अनुभव प्राप्त करने की दृष्टि से एक प्रयोग के रूप मे ही देखा जाये तो यह देश के सन्तुलित आर्थिक विकास का एक सीधा प्रयास है। इसमे वास्तविकता का लक्षण है और विकास कार्यक्रमो को देश के उपलब्ध साधनो से सम्बन्धित करने का प्रयास किया गया है। यह सरकार का आर्थिक नियोजन की ओर पहला निश्चित पग था और इसलिये देश में आर्थिक नियोजन की सफलता तथा विफलता का अनुमान इसके आधार पर लगाना अन्यायपूर्ण होगा। जितनी भी सफलता योजना अवधि मे प्राप्त हुई थी और जितने भी आर्थिक विकास के लक्ष्य पूरे हुए वे देश की आर्थिक स्थितियो को देखते हुए कम नही थे। इसका स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नही होनी चाहिये कि जैसा कि आयोग ने कहा था कि दूसरी योजना के आरम्भ की स्थिति पहली योजना की आरम्भ की स्थिति से बहुत अच्छी थी।

अध्याय ६

भारत की दूसरी पंच-वर्षीय योजना
(Second Five-year Plan of India)

प्राक्कथन—

दूसरी पंचवर्षीय योजना 'समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था' स्थापित करने के प्रमुख उद्देश्य से प्रस्तुत की गई है। दूसरे शब्दों में हमारे सम्मुख प्रगति का आधारभूत लक्ष्य सामाजिक हित होगा न कि व्यक्तिगत लाभ। यह प्रयत्न होगा कि ना केवल राष्ट्रीय आय और रोज़गार मे ही वृद्धि हो बल्कि आर्थिक विकास के लाभ समाज के उन वर्गों को अधिक से अधिक प्राप्त हों जो अपेक्षाकृत अधिकारहीन हैं और साथ ही आय, सम्पत्ति तथा आर्थिक अधिकार के एक स्थान पर एकत्रित होने में निरन्तर कमी होती जाये। दूसरी योजना बनाने से पहले विभिन्न सरकारो, आर्थिक एव सामाजिक सस्थाओं आदि ने मिल कर देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति एव समस्याओं पर खूब सोच विचार तथा विचार विनिमय किया था। वास्तव मे प्रथम योजना के अन्त म ही कृषि वस्तुओं के मूल्य तेजी से बढने लगे थे। बेकारी की समस्या विशेष रूप से भीषण रूप धारण करती जा रही थी। जनसख्या ४० ५ लाख की दर से प्रति वर्ष बढ रही थी। १० ८ लाख मजदूरों की सख्या मे प्रति वर्ष वृद्धि हो रही थी जिनको नौकरी प्रदान करने की समस्या गम्भीर स्थिति धारण करती जा रही थी जिसके कारण नियोजन आयोग तथा सरकार ने बहुत ही सोच समझ कर द्वितीय योजना का निर्माण किया था। आरम्भ मे प्रो० पी० सी० महलीनोबिस जो भारतीय साख्यकीय इन्स्टीट्यिट तथा राष्ट्रीय आय यूनिट के डायरेक्टर हैं उन्होंने योजना के ढाचे को प्रस्तुत किया था जिसका कांग्रेस हाई कमाड की योजना समिति, नियोजन आयोग, भारतीय अर्थशास्त्रियों के पेनल, आदि सभी ने समर्थन किया था। उसी के आधार पर नियोजन आयोग ने दूसरी योजना बनाई थी जो १५ मई सन् १९५६ को भारतीय ससद के सम्मुख प्रस्तुत की गई थी। इस योजना के मुख्य लक्ष्य राष्ट्रीय आय म २५% वृद्धि करना, लगभग १ करोड लोगों को रोज़गार देना, भारी उद्योगों का विकास करना, सम्पत्ति व आय के वितरण की असमानताओं को दूर करके समाजवादी ढग का समाज स्थापित करना आदि हैं। योजना काल में सरकारी व निजी क्षेत्रों में ७,२०० करोड रुपये खर्च करने का निश्चय

किया गया है जिसम से सरकारी क्षेत्र म होने वाले विकास कार्यों पर ४८०० करोड़ रुपए तथा निजी क्षेत्र में २४०० करोड रुपये खर्च होंगे। दूसरी योजना के उद्देश्यों की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

(१) राष्ट्रीय आय मे इतनी वृद्धि करना जिससे देश के रहन सहन का स्तर ऊँचा हो। यह वृद्धि लगभग २५% पर निश्चित की गई है।

(२) देश के मूल एव भारी उद्योगो का तेजी से विकास करना जिससे अगली योजनाओ म तीव्र गति म प्रगति करने के लिए आवश्यक आधार तैयार हो जाय।

(३) योजना अवधि में जनसख्या बढ़ने के कारण रोजगार ढूँढने वालो की जिस अनुपात म वृद्धि हो उसी अनुपात म नये काम दिलाने की व्यवस्था करना।

(४) देश के सरकारी क्षेत्रो म व्यय बढा कर समाजवादी ढग के समाज की स्थापना करना है अर्थात् समाज के विभिन्न वर्गो की आय और विभिन्न सम्पत्ति की असमानताओ को दूर करना और आर्थिक समानता स्थापित करना।

इनके अतिरिक्त दूसरी योजना के कुछ और भी उद्देश्य हैं जिनकी गणना योजना की रूप रेखा म नहीं की गई है, परन्तु जिनका उल्लेख बीच-बीच म किया गया है। ये उद्देश्य निम्न प्रकार हैं—

(१) योजना का प्रयत्न कार्य जनतन्त्रीय ढग से होगा। अत इसको सफल बनाने म जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त करना और जनता म प्रत्येक दशा म स्वय कार्य करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना है।

(२) बडे-बडे उद्योगो के साथ छोटे छोटे धन्धो का विकास भी करना ताकि व्यक्तियो को दिन-प्रति दिन की उपभोग की वस्तुयें अधिक मात्रा म प्राप्त हो सकें तथा बेकार लोगो के लिए रोजगार की अधिक सुविधायें प्राप्त हो सकें।

(३) ग्रामो म कृषि उत्पादन म वृद्धि करना और साथ ही भूमि सुधारो को तीव्र गति से लागू करके भूमि का सामान्य वितरण करना जिससे किसानो को अधिक उत्पत्ति करने की प्रेरणा मिल सके और उनकी क्रय शक्ति बढ सके।

(४) देश के निर्धन व्यक्तियो के लिए अच्छे और साफ मकानो और अधिक स्वास्थ्य सेवाओ तथा उचित शिक्षाओ की अधिकाधिक सुविधाए प्रदान करना।

योजना पर लागत—पहली योजना के लिये कुल २०६९ करोड रुपए (जो बाद म २३५६ करोड रुपए कर दिए गए थे) की व्यवस्था की गई थी। दूसरी योजना मे कुल खर्च ४८०० करोड रुपया होगा। विकास की मुख्य मदो पर इस राशि के वितरण की व्यवस्था तथा पहली और दूसरी योजना के व्यय की तुलना इस प्रकार की गई है —

मुख्य विकास मद्दो में योजना व्यय का वितरण

मद	पहलीपचवर्षीययोजना		दूसरीपचवर्षीययोजना	
	कुल व्यय (करोड रु० म)	प्रतिशत	कुल व्यय (करोड रु० म)	प्रतिशत
१	२	३	४	५
१. कृषि और सामुदायिक विकास	३५७	१५ १	५६८	११ ८
(क) कृषि	२४१	१० २	३४१	७ १
कृषि कार्यक्रम	१९७	८ ३	१७०	२ ५
पशुपालन	२२	१ ०	५६	१ १
जगलात	१०	० ४	४७	१ ०
मछली उद्योग	४	० २	१२	० ३
सहकारिता	७	०·३	४७	१ ०
विविध	१	—	९	० १
(ख) राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास योजनायें	९०	३ ८	२००	४ १
(ग) अन्य कायक्रम	२६	१ १	२७	० ६
गाँव पचायतें	११	० ५	१२	०·२
स्थानीय विकास कार्य	१५	० ६	१५	० ३
२ सिंचाई और बिजली	६६१	२८ १	९१३	१९ ०
सिंचाई	३८४	१६ ३	३८१	७ ९
बिजली	२६०	११ १	४२७	८ ९
बाढ नियन्त्रण तथा अन्य योजनायें, शोध आदि	१७	० ७	१०५	२ २
३ उद्योग और खनिज	१७९	७ ६	८९०	१८ ५
बडे और मध्यम उद्योग	१४८	६ ३	६१७	१२ ९
खनिज विकास	१	—	७३	१ ५
ग्राम और छोटे उद्योग	३०	१ ३	२००	४ १
४. परिवहन और सचार	५५७	२३ ६	१,३८५	२८ ९
रेलें	२६८	११ ४	९००	१८ ८
सडकें	१३०	५ ५	२४६	५ १
सडक परिवहन	१२	० ५	१७	० ४
बन्दरगाह और नदियाँ	३४	१·४	४५	० ९
जहाजरानी	२६	१·१	४८	१ ०
आन्तरिक जलमार्ग परिवहन	—	—	३	० १
नागरिक विमान परिवहन	२४	१ ०	४३	० ९
अन्य परिवहन साधन	३	० १	७	० १
डाक और तार	५०	२ २	६३	१ ३

१	२	३	४	५
अन्य सचार साधन	५	० २	४	० १
प्रसारण	५	० २	६	० २
४ समाज सेवायें	५३३	२२ ६	६४५	१६ ७
शिक्षा	१६४	७ ०	३००	६ ४
स्वास्थ्य	१४०	५ ६	२७४	५ ७
आवास	४६	२ १	१२०	२ ५
पिछड़े वर्गों का कल्याण	३२	१ ३	६१	१ ६
समाज कल्याण	५	० २	२६	० ६
श्रम और श्रम कल्याण	७	० ३	२६	० ६
पुनर्स्थापन	१३६	५ ८	६०	१ ६
शिक्षित बेकारों के लिए विशेष योजनायें	—	—	५	० १
६ विविध	६६	३ ०	६६	२ १
योग	२ ३५६	१०० ०	४,८००	१०० ०

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि योजना में उद्योगों खानों यातायात एवं सवाद वाहन के साधनों को विकसित करने पर अधिक जोर दिया गया है। योजना अवधि में किए जाने वाले व्यय की कुल राशि का लगभग आधा भाग इनके विकास पर खर्च किया जायेगा जबकि पहली योजना में कुल व्यय का केवल एक तिहाई भाग ही इन पर खर्च किया गया था। यदि बिजली को भी औद्योगिक विकास का एक अङ्ग माना जाए तो इस व्यय का कुल व्यय मे प्रतिशत लगभग ५६ हो जाता है। निरपेक्ष रूप से उद्योग तथा खानों पर किए जाने वाले व्यय म बहुत अधिक, लगभग ४००% की वृद्धि हुई है। कृषि एवं सामुदायिक विकास पर लगभग १२% व्यय होगा जबकि पहली योजना में १५% खर्च किया गया था।

दूसरी योजना में सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत ४८०० करोड़ रुपयों का व्यय निर्धारित किया गया है जिसमें से २५५६ करोड़ रुपया केन्द्रीय सरकार और २२४१ करोड़ रुपया राज्य सरकारों द्वारा खर्च किया जायगा। य व्यय निम्न तालिका से स्पष्ट होता है —

(करोड़ रुपयों में)

मद	केन्द्र	राज्य क भाग	राज्य ख भाग	राज्य ग भाग	कुल
१ कृषि और सामुदायिक विकास	६५	३५६	११२	३१	५६८
२ सिचाई व बिजली	१०२	५६७	२१७	२४	६१३
३ उद्योग और खानें	७४७	६६	३७	७	८६०

४ परिवहन और संचार	१,२०३	१२०	४१	२१	१,३८५
५. सामाजिक सेवाएँ	३१६	३६६	११७	३९	९४५
६. विविध	४३	४२	११	३	९९
योग	२,५५९	१,५८०	५३५	१२५	४,८००

योजना में पूँजी का विनियोग—दूसरी योजना के सरकारी क्षेत्र म होने वाले कुल ४,८०० करोड रुपयो के खर्चो म से लगभग १००० करोड रुपया चालू खर्च के लिए है और ३८०० करोड रुपया शुद्ध विनियोग के लिये जो केवल उत्पादक सम्पत्ति के निर्माण के लिए ही खर्च किया जायेगा। दोनो प्रकार के खर्चो का विवरण निम्न तालिका से स्पष्ट होता है — (करोड रुपये)

	विनियोग व्यय	चालू व्यय	कुल व्यय
१ कृषि तथा सामुदायिक विकास	३३८	२३०	५६८
(१) कृषि	१८१	१६०	३४१
(२) राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास †	१५७	७०	२२७
२ सिंचाई और बिजली	८६३	५०	९१३
(१) सिंचाई और बाढ-नियन्त्रण	४५६	३०	४८६
(२) बिजली	४०७	२०	४२७
३ उद्योग और खानें	७९०	१००	८९०
(१) बडे तथा मध्यम उद्योग और खानें	६७०	२०	६९०
(२) ग्राम तथा छोटे उद्योग	१२०	८०	२००
४ परिवाहन और संचार	१,३३५	५०	१,३८५
५ सामाजिक सेवाएँ	४५५	४९०	९४५
६ विविध	१९	८०	९९
योग	३ ८००	१,०००	४,८००

† ग्राम पंचायतों और स्थानीय विकास कार्यों सहित।

निजी क्षेत्र—निजी क्षेत्र म विनियोग-कार्यक्रम को ध्यान मे रखकर ही *सरकारी क्षेत्र के विनियोग कार्यक्रम को निर्धारित किया गया है।* हम पहले ही कह चुके हैं कि निजी क्षेत्र मे २४०० करोड रुपयों का व्यय होगा। इस व्यय को निम्न प्रकार विभाजित किया गया है — (करोड रुपयो मे)

१ संगठित उद्योग और खानें	...	...	५७५
२ बागान, बिजली उद्योग और रेलों को छोडकर अन्य परिवहन			१२५
३ निर्माण	...	...	१०००
४. कृषि तथा ग्राम और छोटे पैमाने के उद्योग	...	...	३००
५ स्टाक	...	...	४००
कुल योग	...	...	२,४००

सरकारी तथा निजी क्षेत्रों को एक साथ मिलाकर यदि विचार किया जाये तो द्वितीय योजना काल में अर्थ-व्यवस्था में लगभग ७,२०० करोड़ रु० का विनियोग होने का अनुमान है। पहली योजना में सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में विनियोग का अनुपात ५० : ५० था, जबकि दूसरी योजना में यह अनुपात ६१ : ३९ होगा।

वित्तीय साधन—दूसरी योजना में सरकारी क्षेत्र के व्यय को पूरा करने के लिए निम्न प्रकार से व्यवस्था की गई है।

(करोड़ रुपयों में)

१ घरेलू साधन		
(१) चालू आय में से बचत		८००
(क) कर की वर्तमान दरों के आधार पर	३५०	
(ख) अतिरिक्त करों से	४५०	
(२) जनता से ऋण के रूप में		१२००
(क) बाजार से ऋण	७००	
(ख) छोटी बचतें	५००	
(३) बजट के अन्य साधनों से		४००
(क) विकास कार्यक्रम में रेलों का भाग	१५०	
(ख) भविष्यनिधि तथा अन्य जमा खाते	२५०	
२ विदेशों से		८००
३. घाटे का बजट बनाकर		१२००
४ कमी—जो स्वदेश में ही नये साधनों द्वारा पूरी करनी होगी		४००
योग		४,८००

अतिरिक्त कर लगाने से जो वार्षिक आय प्राप्त होगी उसकी राशि १६० करोड़ रुपये निश्चित की गई है। वर्तमान करों की दर से सरकार को राष्ट्रीय आय का केवल ७% से कुछ ही अधिक आय के रूप में प्राप्त होता है। परन्तु योजना आयोग ने यह अनुपात बढ़ाकर ११% कर देने का सुझाव दिया है। क्योंकि योजना काल में ४५० करोड़ रुपये ही अतिरिक्त करों से प्राप्त किये जायेंगे इसलिए वर्तमान अनुपात में केवल थोड़ी सी ही वृद्धि हो पायेगी। यही लक्ष्य कर जाँच समिति ने भी निर्धारित किया था। यह अतिरिक्त कर आर्थिक असमानता में कमी करने में भी सहायक होंगे। जनता से ऋण के रूप में जो राशि प्राप्त होगी उसमें से ७०० करोड़ रुपये बाजार में ऋण प्राप्त करके तथा ५०० करोड़ रुपया जनता से बचतों के रूप में प्राप्त होंगे। पिछले दो वर्षों में बाजार से प्राप्त होने वाले ऋणों की मात्रा १०० करोड़ रुपये वार्षिक थी और पिछले वर्ष ६५ करोड़ रुपया बचतों से प्राप्त हुए थे। इसीलिये शायद यह राशि निश्चित की गई थी। परन्तु आयोग का विचार था कि इस लक्ष्य की पूर्ति सरल नहीं है। विशेष रूप से जब कि निजी क्षेत्र में भी धन की आवश्यकता होगी। ऐसा मालूम होता है कि इस सम्बन्ध में बीमे के

राष्ट्रीयकरण से प्राप्त होने वाली बीमा निधि और प्रावदान कोष योजनाओं से प्राप्त होने वाली राशि का विनियोग सरकारी ऋणों म किया जायेगा। योजना अवधि में ५०० करोड रुपया प्राप्त करने अर्थात् प्रति वर्ष १०० करोड रुपये की अल्प बचतों के द्वारा व्यवस्था करने का लक्ष्य भी सरलता से प्राप्त नहीं होगा। प्रथम योजना के प्रथम वर्ष में जब इस स्रोत से प्राप्त होने वाली राशि केवल ३३ करोड रुपये थी वह अनेकों प्रयत्नों तथा अत्यन्त कठिनाई के बाद योजना काल के अन्तिम वर्ष में ६५ करोड हो पाई थी। इसलिये आयोग ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि अल्प बचतों को प्रोत्साहन देने के लिये नीची से नीची आय वाले व्यक्तियों तक पहुँच करना भी आवश्यक होगा।

योजना के अर्थ सम्बन्ध में रेलों का भाग १५० करोड रुपया है। पहली योजना काल म यह राशि ११५ करोड रुपया थी अर्थात् पहले २३ करोड रुपया प्रति वर्ष रेलों को देना पड़ा था परन्तु अब उन्हे प्रति वर्ष ३० करोड रुपया देना होगा जिसके लिये उन्हे अपने वार्षिक लाभ प्रथम योजना की अपेक्षा ७ करोड रुपया प्रति वर्ष अधिक करने होंगे। रेलों के विकास कार्यक्रम म ९०० करोड रुपये खर्च किये जायेंगे जिसके केवल एक भाग की ही व्यवस्था रेलें अपनी आय में से कर सकेंगी और शेष राशि को प्राप्त करने के लिए उन्हे किराये तथा भाडे की दरों में वृद्धि करनी होगी। आयोग ने सिफारिश की है कि रेलों को इस राशि से भी अधिक प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने चाहियें। बजट के अन्य स्रोतों से जो २५० करोड रुपये प्राप्त करने हैं उनमें राजकीय तथा केन्द्रीय सरकारों के कर्मचारियों की प्रावदान कोष राशि है जो सन् १९५५-५६ में २३·६ करोड रुपया थी। इस राशि म योजना अवधि में वार्षिक वृद्धि होगी। जिससे ५ वर्षों म १५० करोड रुपया मिल सकेंगे। शेष १०० करोड रुपये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा दिये गये ऋणों के भुगतान से तथा अन्य पूंजीगत आय से प्राप्त होगा। अत उक्त तीनों स्रोतों से २४०० करोड रुपये प्राप्त होंगे और शेष २४०० करोड रुपये अन्य स्रोतो से प्राप्त किये जायेंगे जो अनिश्चित हैं।

अन्य स्रोतों में पहला स्थान विदेशी सहायता तथा विदेशी स्रोतों का है। ८०० करोड रुपया इन स्रोतों से प्राप्त होने का अनुमान है। पहली योजना मे लगभग ३०७ करोड रुपये मिले थे जिनमें से केवल २०० करोड रुपयों का ही उपयोग हो सका और यह निश्चित हुआ था कि शेष राशि इस योजना में काम आवेगी। इसमें रूस तथा इङ्गलैंड के स्पात कारखानों की राशि सम्मिलित रही होगी, क्योंकि इसकी व्यवस्था पहले से ही हो चुकी थी। अतः यह राशि, ऐसा अनुमान है कि हमारी योजना की आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरी योजना के प्रथम वर्ष में अमेरिका ने लगभग ६०० लाख डालर सहायता के रूप मे दिये थे। अगले वर्षों में अमेरिका से प्राप्त होने वाली सहायता का कोई निश्चित अनुमान लगाना कठिन है। साथ ही अन्य देशों से जो सहायता प्राप्त होगी उसकी व्यवस्था दो बातों पर निर्भर करेगी। प्रथम, भारत एव अन्य देशों की राजकीय एव आर्थिक स्थिति और दूसरे

वाणिज्य में लगा दिया जाता है। इसलिए इस क्षेत्र में प्राप्त होने वाले साधनों का सही अनुमान लगाना कठिन है। आयोग ने इस क्षेत्र में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होने वाली राशियों का अनुमान निम्न प्रकार लगाया है[2]:—

करोड़ रुपयों में

(१) औद्योगिक वित्त कारपोरेशन, राज्य वित्त कारपोरेशनों तथा औद्योगिक साख एवं विनिमय कारपोरेशन से प्राप्त होने वाली राशि	४०
(२) प्रत्यक्ष ऋण, अप्रत्यक्ष ऋण तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा राजकीय साझेदारी और निजी उद्योगों की हिस्सा पूँजी में राज्य सरकारों का हिस्सा तथा ऋण	२०
(३) विदेशी पूँजी	१००
(४) नये हिस्सों (New Issues) द्वारा	८०
(५) विनियोग के लिये प्राप्त होने वाले आन्तरिक साधन ...	३००
(६) अन्य स्रोत	८०
योग	६२०

निजी क्षेत्र के साधनों का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता क्योंकि यह कई तथ्यों पर निर्भर करता है। सरकार इनकी कई प्रकार से सहायता कर सकती है जैसे अवाँछनीय विनियोगों को रोककर, करों में ही हेर फेर करके और विभिन्न कारपोरेशनों द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायताओं को कुछ चुने हुए उद्योगों को ही प्रदान करके।

यह बताना कठिन है कि ५ वर्षों में विदेशी मुद्रा की कितनी आवश्यकता होगी और कितनी प्राप्त हो सकेगी। यदि हमारा व्यापार तथा व्यापार सम्बन्धी शर्तें दूसरी योजना अवधि में भी वैसी ही रहती हैं जैसे सन १९५५–५६ में थी और यदि मुद्रा प्रसार पर कड़ा नियन्त्रण रहना है तो यह अनुमान है कि दूसरी योजना काल में लगभग ११०० करोड़ रुपयों का भुगतान सन्तुलन में घाटा रहेगा। जिसमें से २०० करोड़ रुपये पौंड पावनों से ८०० करोड़ रुपये विदेशी बाजारों में ऋण प्राप्त करके, विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण लेकर, विदेशी विनियोग द्वारा और अन्त में मित्र देशों की सरकारों से ऋण तथा अनुदानों द्वारा प्राप्त किये जायेंगे। यह अनुमान था कि निजी क्षेत्र में लगभग १०० करोड़ रुपयों की विदेशी पूँजी का भी विनियोग होगा। फिर भी विदेशी मुद्रा की बहुत आवश्यकता होगी।

योजना में उत्पादन तथा विकास के लक्ष्य

कृषि—इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रथम योजना काल में अनाज तथा कच्चे माल के उत्पादन में आशा के विपरीत वृद्धि हुई थी किन्तु हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या

2. *Ibid*—Page 405

तथा मौसम की अनिश्चितता के कारण अनाज जमा करके रखने के लिए उत्पादन को और भी अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। किन्तु यह आवश्यकता अनाज के सम्बन्ध में इतनी अधिक नहीं है जितनी अन्य कृषि वस्तुओं के सम्बन्ध में है। दूसरी योजना में कृषि विकास पर ३ अरब ४१ करोड रुपया खर्च किए जायेंगे और राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक योजना क्षेत्रों में इन मदों पर होने वाला व्यय पूर्णतया अलग होगा। अतिरिक्त उत्पादन के मुख्य लक्ष्यों का सूचक अंक निम्न प्रकार है। (आधार वर्ष १९४९–५०)

	१९५०–५१	१९५५–५६	१९६०–६१
खाद्यान्न	९१	१११	१२६
तिलहन	९६	१०८	१३७
गन्ना (गुड	११४	११८	१४४
कपास	१०६	१६२	२१३
पटसन	१०९	१३६	१६४
अन्य फसलें जिसम चाय, कहवा, रबड आदि भी शामिल हैं	१०५	१२५	१३६
कुल खाद्येतर फसलें	१०६	१२१	१४८
सभी पण्य	९६	११५	१३५

सब राज्यों में इन लक्ष्यों को और भी अधिक बढ़ाने का विचार है ताकि मुद्रा प्रसार का भय दूर किया जा सके। उत्पादन में जिस दर से वृद्धि हो रही है उसको देख कर यह सरलता से कहा जा सकता है कि दूसरी योजना के अन्त तक प्रति व्यक्ति खपत १७.२ औंस से बढ़कर १८.३ औंस हो जायेगी। किन मदों से कितनी वृद्धि होगी यह निम्न तालिका में दिखाया गया है—

	(लाख टन)
सिंचाई के बडे साधनों से ··· ··· ···	२४
सिंचाई के छोटे साधनों से ··· ··· ···	१८
उर्वरक और अन्य खादों से ··· ··· ···	२५
सुधरे हुए बीजों से ··· ··· ···	१०
भूमि के विकास और उसे खेती योग्य बनाने से ···	८
कृषि प्रणाली में आम सुधार से ··· ···	१५
योग	१००

सन् १९५५ में ६ लाख १० हजार टन रसायनिक खाद की खपत हुई थी जिसको बढा कर सन् १९६० में १८ लाख टन करने का लक्ष्य है। शहरों के कूडे-कचरे, हरी खाद, खली और दूसरी देशी खादों के प्रयोग को भी बढावा दिया जायेगा। प्रत्येक राष्ट्रीय विस्तार सेवा खंड में एक बीज फार्म और एक बीज गोदाम

खोलने का विचार है इसलिए दूसरी योजना मे बीज विकास के लगभग ३००० फार्म खोलने की व्यवस्था की गई है। अनेक राज्यों में सहकारी बीज गोदाम खोलने की योजनाएँ भी बनाई गई हैं। भूमि को फिर से खेती योग्य बनाने के कार्यक्रम म १५ लाख एकड नई भूमि म खेती करने और २० लाख एकड भूमि को सुधारने का विचार है। जल और भूमि सरक्षण के लिए बाँध बनाने को प्रोत्साहित किया जायगा। पौधों को कीडो आदि से बचाने का काम और भी तेज़ी से करने के लिए वत्तमान केन्द्रो को सुदृढ किया जायेगा और ५ और केन्द्र खोले जायेंगे। राज्यो की योजनाओं म ५०० ००० एकड के वत्तमान बागो को सुधारने और २,००,००० एकड भूमि म नए बगीचे लगाने की व्यवस्था की गई है। खेती के आर्थिक पहलुओ का अध्ययन करने के लिए २ और केन्द्र खोलने का विचार है। कृषि अनुसधान के लिए दूसरी योजना म १४ करोड रुपयों की व्यवस्था की गई। कृषि शिक्षा के लिए इस समय देश म कुल २८ कृषि कालिज, ५४ बुनियादी कृषि स्कूल और ४४ विस्तार केन्द्र हैं। अनुमान है कि दूसरी योजना म २५ नए बुनियादी कृषि स्कूल, २१ विस्तार केन्द्र तथा १६ बुनियादी कृषि विभाग और खोले जायेंगे ताकि ग्राम सेवकों के लिए प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार किया जा सके।

कृषि विकास म भूमि व्यवस्था के सुधार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पहली योजना म कई राज्यो में मध्यस्थो को पूरी तरह समाप्त कर दिया गया। साथ ही काश्तकारो के अधिकारो की भी रक्षा की गई और लगान भी कम किया गया। जहाँ तक खेती की जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का प्रश्न है, पहली योजना म मुख्य रूप से भविष्य म और भूमि लेने पर प्रतिबन्ध लगाने का काम हुआ और वत्तमान भूमि की अधिकतम सीमा केवल कुछ ही राज्यो मे निर्धारित की गई। दूसरी योजना मे जोत की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का प्रयत्न किया जायेगा। यह भी विचार प्रकट किया गया है कि एक परिवार के लिए उपयुक्त जोत की तीन गुनी भूमि को अधिकतम सीमा माना जाए। निर्धारित जोत से जितनी अधिक भूमि होगी, सरकार मुआवज़ा दे कर उस पर अधिकार कर लेगी और उन्हे भूमिहीन कृपको मे तथा ऐसे बेदखल काश्तकारो में जिनके पास अलाभकर जोत हैं बाँट देगी।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के पुनर्गठन के लिए सहकारिता का सहारा लिया जायगा और लगभग प्रत्यक दिशा म सहकारी सेवा समितियाँ खोली जायेंगी। दूसरी योजना के लक्ष्यो के अनुसार १०,४०० बडी बडी ऋण देने वाली सहकारी सस्थाएँ, १,८०० प्रारम्भिक बिक्री सस्थाएँ और ३५० गोदाम खोले जायेंगे, जो कारपोरेशन खोलेगी। इसके अतिरिक्त बिक्री समितियां और अन्य बडी बडी सहकारी समितियां भी ५५०० गोदाम खोलेंगी।

सामुदायिक विकास के क्षेत्र म जो कार्यक्रम पहली योजना म आरम्भ हुआ था उससे आशाप्रद परिणाम निकले हैं। दूसरी योजना के अन्त तक सारे देश म राष्ट्रीय प्रसार सेवा खण्डो का जाल बिछा देने का विचार है। अगले ५ वर्षों म ३८०० और राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड खोले जायेंगे जिनम ११२० खण्डो को

सामुदायिक विकास खण्डों में बदल दिया जायेगा। इस काम के लिये योजना में २ अरब रुपयों की व्यवस्था की गई है।

दूसरी योजना में पशु पालन और दुग्ध उद्योग पर विशेष बल दिया गया है। पशुओं का स्वास्थ्य और नसल सुधारने के लिये १२५८ केन्द्र-ग्राम, २४५ कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र, २५४ विस्तार केन्द्र और १६०० चिकित्सालायें खोलने का विचार है। नागरिकों को अच्छा दूध मिल सके, इस उद्देश्य से शहरों में दूध वितरण की ३६ योजनायें शुरू की जायेंगी। इनके अतिरिक्त मक्खन निकालने के १२ सहकारी कारखाने और दूध का पाउडर तैयार करने के ७ कारखाने खोले जायेंगे। ज्यादा दूध देने वाले पशुओं की नस्ल सुधारने के लिये भी कई केन्द्र स्थापित किये जायेंगे। भेड़ों की नस्ल सुधारने, मुर्गी तथा मछली पालन की भी योजनाएँ बनाई गई हैं और पशु पालन के सम्बन्ध में अनुसंधान का एक कार्यक्रम भी बनाया गया है।

दूसरी योजना में वनों के विकास के लिये २७ करोड़ रुपये और भूमि संरक्षण के लिये २० करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई है। जब कि पहली योजना में इन दोनों के लिये १३ करोड़ रुपये रखे गये थे। इस कार्यक्रम की कुछ मोटी मोटी बातें इस प्रकार हैं—(१) ३८०,००० एकड़ क्षेत्र के ऐसे जंगल को ठीक-ठाक करना, जिनकी हालत खराब हो गई है और जो पिछले कुछ वर्षों में ही सरकारी नियन्त्रण में आए हैं (२) नहरों और सड़कों के किनारे तथा गाँवों की पड़ी बेकार भूमि में वृक्ष लगाना, (३) जंगलों के ५०,००० एकड़ इलाके में टीक जैसी व्यापारिक महत्व की इमारती लकड़ी के बाग लगाना, ८३,००० एकड़ इलाके में अनुकर्पुर (ब्ल्यूगम) और वाटल के पेड़ लगाना तथा २,००० एकड़ भूमि में औषधियों की जड़ी बूटियां लगाना, (४) ५०,००० एकड़ भूमि में दियासलाई की लकड़ी के बाग लगाना, (५) वनों में ७,४०० मील लम्बी सड़कें बनाना या उनका सुधार करना, (६) इमारती लकड़ी सिझाने आदि के लिए संयत्र लगाना; देश की वन सम्पदा का सर्वेक्षण करना, आदि।

दूसरी योजना में ३० लाख एकड़ से भी अधिक ऐसे क्षेत्र में भूमि संरक्षण कार्य पर विशेष जोर दिया जायेगा जहाँ भूमि बहुत कट गई है। बिना भूमि के खेतीहर मजदूरों की समस्या पर भी इस योजना में उचित ध्यान दिया गया है।

सिंचाई और बिजली—सन् १९५०-५१ में भारत में ५ करोड़ १५ लाख एकड़ भूमि में सिंचाई होती थी। दूसरे शब्दों में देश में कुल जितनी भूमि में खेती होती थी, इसके केवल १६% भाग में सिंचाई की व्यवस्था थी। पर पहली योजना समाप्त होने तक लगभग १ करोड़ ६३ लाख एकड़ और भूमि में सिंचाई होने लगी।

पहली योजना में सिंचाई की जो छोटी और बड़ी योजनायें शुरू की गई थी, इनके अतिरिक्त दूसरी योजना में १९५ नई योजनायें शुरू करने का विचार है। इनमें से अधिकतर योजनाएँ छोटी और मध्यम आकार की होंगी। इसलिये इनसे सिंचाई भी जल्दी होने लगेगी। इन सिंचाई योजनाओं और पहली योजना में शुरू की गई अपूर्ण योजनाओं से लगभग २ करोड़ १० लाख एकड़ और अधिक भूमि में

सिंचाई होने की आशा है। इनमे से ६० लाख एकड की सिंचाई छोटे साधनों से होगी। १९५५-५६ में भारत मे खेती की भूमि के २०% भाग मे सिंचाई होती थी पर सन् १९६०-६१ तक यह क्षेत्र बढकर २७% हो जायगा।

सिंचाई के लिए दूसरी योजना में ४ अरब १६ करोड रुपये रखे गये हैं। इस रकम के अतिरिक्त ३,५८१ नलकूप बनाने के लिए २० करोड रपये की और व्यवस्था की गई है। आशा है इन नलकूपों से ९,१६,००० एकड भूमि मे सिंचाई होने लगेगी।

मार्च सन् १९५१ मे भारत के बिजलीघरो की उत्पादन क्षमता २३ लाख किलोवाट थी। पहली योजना की अवधि में ११ लाख किलोवाट बिजली और तैयार होने लगी। इसका मतलब यह हुआ कि ३,७०० और नगरो तथा गावो मे बिजली पहुँच गई। इस तरह सन् १९५५-५६ में भारत के ७४०० नगरो और गावो म बिजली लगी हुई थी। इस अवधि म बिजली की खपत भी १४ यूनिट प्रति व्यक्ति से बढकर २५ यूनिट प्रति व्यक्ति हो गई।

दूसरी योजना म बिजली घरो की क्षमता ३४ लाख किलोवाट से बढकर ६९ लाख किलोवाट करने का विचार है। यह उत्पादन वृद्धि सार्वजनिक और निजी कारखानों तथा जल और उष्ण विद्युत सयत्रो का उत्पादन बढाकर की जाएगी। सार्वजनिक क्षेत्र में इस पर ४ अरब २७ करोड रपये और निजी क्षेत्र में ४२ करोड रुपये खर्च किये जाएँगे।

आशा है कि दूसरी योजना के अन्त तक १८,००० नगरो और गाँवों म बिजली लग जाएगी। सन् १९६० ६१ तक प्रति व्यक्ति खपत भी बढ कर ५० यूनिट होने की सम्भावना है।

बाढ नियन्त्रण—देश के कुछ भागो म बाढ स बहुत हानि पहुँचती है। इसलिये दूसरी योजना म सिंचाई और बिजली की व्यवस्था के साथ बाढ-नियन्त्रण का भी कार्यक्रम बनाया गया है। इस कार्यक्रम में सामजस्य स्थापित करने के लिए और राज्यो द्वारा प्रस्तावित बाढ-नियन्त्रण योजनाओ पर विचार करने के लिए, सन् १९५४ म केन्द्रीय बाढ नियन्त्रण बोर्ड बनाया गया था। बाढ नियन्त्रण का विशद कार्यक्रम बनाने के लिए फिलहाल आवश्यक जानकारी एकत्र की जा रही है। इस बीच सुरक्षात्मक कदम उठाए जाएँगे जिनके लिए ६० करोड रुपये की व्यवस्था की गई है।

उद्योग और खनिज—दूसरी योजना की विशेषता यह है कि इसम औद्योगिक एव खनिज क्षेत्र मे सरकारी क्षेत्र को प्रधानता दी गई है। और वास्तव में योजना म जो ६९० करोड रुपया के विनियोग करने की व्यवस्था की गई है उनका विनियोग आधारभूत उद्योगों के विकास के लिए होगा, जैसे लोहा और इस्पात, इन्जीनियरिंग उद्योग, बिजली का सामान इत्यादि। रूरकेला, भिलाई और दुर्गापुर के इस्पात के कारखाना के लिये ३ अरब ५० करोड रपया, मैसूर आइरन एड स्टील वर्क्स के विस्तार के लिये ६ करोड रपये रखे गये हैं। इनमें से ७५ करोड रुपयो की सहायता

विदेशों से पूँजी, मशीनो आदि के रूप में मिलेगी। बिजली का भारी सामान बनाने के लिये एक ब्रिटिश फर्म से समझौता हुआ है। इस योजना में २५ करोड रुपये लगने का अनुमान है। हिन्दुस्तान मशीन टूल फैक्ट्री की उत्पादन क्षमता बढाने का भी विचार है। इजन, जहाज और रेल के डिब्बो के उत्पादन को बढाने के प्रयत्न भी किये जायेंगे। चितरंजन लोकोमोटिव फैक्ट्री का इतना विस्तार किया जायेगा कि वहाँ प्रत्येक वर्ष ३०० इजन तैयार हो सकें। विशाखापटनम के हिन्दुस्तान शिप यार्ड का, पुराने ढग के ६ जहाज और नये ढग के ४ जहाज बनाने योग्य विस्तार किया जायेगा। इसी प्रकार रेल की छोटी तथा बडी लाइनो के डिब्बो के बनाने की क्षमता का भी विस्तार होगा। नैवेली मे एक लिगनाईट कारखाना, दक्षिणी अर्काट और रूरकेला मे खाद बनाने के तीन नये कारखाने खोलने तथा दवाइयो आदि के वर्त्तमान कारखानो के विस्तार की भी व्यवस्था की जायेगी। नोटो आदि का कागज बनाने का भी एक कारखाना स्थापित किया जायेगा।

उपर्युक्त कार्यक्रम सरकारी क्षेत्र म पूरा किया जायेगा। इसके अतिरिक्त औद्योगिक विकास म निजी क्षेत्र भी महत्त्वपूर्ण भाग लेगा। टाटा आयरन एड स्टील कम्पनी और इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का भी विस्तार किया जायगा ताकि उनका उत्पादन १२ लाख ५० हजार टन से बढकर २३ लाख टन हो जाय। इसके अतिरिक्त एल्यूमीनियम मगनीज, सीमेट, मोटर गाडी, बाईसिकल, सिलाई की मशीन, रसायनिक पदार्थ, कागज और गत्ता, चीनी और वनस्पति तेल, मिल का बना हुआ वस्त्र तथा दवा और मशीन निर्माण आदि उद्योगो का समुचित विकास किया जायेगा।

दूसरी योजना मे देश के औद्योगीकरण पर बहुत जोर दिया गया है और उसी प्रकार से खनिज पदार्थों के विकास का भी महत्त्व बढ गया है। खनिज विकास क कार्यक्रम में कोयले को प्रथम स्थान दिया गया है। आजकल भारत म कोयले का उत्पादन ३ करोड ८० लाख टन प्रति वर्ष होता है जो सन् १९६०-६१ मे बढाकर ६ करोड टन कर दिया जायगा। इसम से १ करोड २० लाख टन सरकारी क्षेत्र मे और शेष १ करोड टन निजी क्षेत्र में निकाला जायेगा। लोहे की भट्टियो मे काम आने वाले कोयले के भडार को सुरक्षित रखने का प्रयास किया जायेगा। सन् १९६०-६१ तक कुछ अन्य खनिज पदार्थों के लक्ष्य निम्न प्रकार हैं :—

खनिज लोहा	१२५ लाख टन
खनिज मैगनीज	२० ,, ,,
चूने का पत्थर	२३३ ,, ,,
खडिया मिट्टी (जिप्सम)	१६७ ,, ,,
बाक्साइट	१७५ ,, ,,

गत वर्षों मे तेल का महत्त्व भी बहुत बढ गया है और इसलिये दूसरी योजना मे तेल का पता लगाने के काम पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। तेल की

खोज करने तथा प्रशिक्षण देने के लिए ११ करोड ५० लाख रुपये की प्रारम्भिक व्यवस्था की गई है।

ग्राम और छोटे उद्योग—दूसरी योजना का मुख्य उद्देश्य बेकार व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करना है। छोटे पैमाने के उद्योगों में अधिक व्यक्तियों को काम मिलता है, इसलिए दूसरी योजना में ग्राम और छोटे उद्योगों के विकास के लिए जो कार्यक्रम बनाया जाना था उस पर विचार करने के लिए आयोग ने कार्वे समिति नियुक्त की थी जिसने एक योजना तैयार की और उद्योगों को अपना काम सुचारू रूप से कर सकने के लिए सिफारिशें कीं, जिनको दूसरी योजना के कार्यक्रम में पूर्ण रूप से अपनाया गया है। वैसे तो नई औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में इन उद्योगों के सम्बन्ध में भारत सरकार ने पहले ही अपना मत प्रगट कर दिया था। इन सब बातों को देखते हुए योजना में ऐसे उद्योगों के विकास के लिये २ अरब रुपयों की व्यवस्था की गई है। यह राशि उस पूँजी के अतिरिक्त होगी जो इन उद्योगों को बैंकों आदि से मिलेगी। इस राशि को विभिन्न छोटे उद्योगों में इस प्रकार वितरित किया जायेगा —

उद्योग	करोड रुपयों मे
१. हाथकरघा उद्योग	
सूत (रूई) की बुनाई	५६ ०
रेशम की बुनाई	१ ५
ऊन की बुनाई	२ ०
	५६·५
२. खादी	
ऊन की कताई और बुनाई	१ ६
सूत की विकेन्द्रीय कताई और खादी	१४ ८
	१६ ७
३ ग्राम उद्योग	
चावल की हाथ-कुटाई	५ ०
घानी का वनस्पति तेल	६ ७
गाँव में बने चमडे के जूते और चमडा कमाई	५ ०
गुड और खडसारी	७ ०
हाथ की बनी दियासलाई	१ १
अन्य ग्रामोद्योग	१४ ०
	३८·८

४. दस्तकारियाँ	६०
५ छोटे पैमाने के उद्योग	५५·०
६. अन्य उद्योग	
रेशम के कीडे पालना	५·०
नारियल की जटा की कताई और बुनाई	१०
७. सामान्य योजनायें	
प्रशासन, शोध आदि	१५०
योग	२०००

परिवहन और संचार—भारत की सुनियोजित प्रगति एव विकास पूर्ण रूप से सुगठित परिवहन व्यवस्था पर निर्भर करते हैं इसलिये दूसरी योजना म परिवहन के सभी साधनो म समन्वय स्थापित करने और उनका विस्तार करने की व्यवस्था की गई है। इस काम के लिये कुल १३ अरब ८५ करोड रुपये रखे गये हैं—९ अरब रुपये रेलो के लिये, २ अरब ६६ करोड सडको पर, १ अरब रुपये जहाजरानी बन्दरगाहो, प्रकाश स्तम्भो और अन्तर्देशीय जल परिवहन पर, ४३ करोड रुपये नागरिक वायु परिवहन पर और ७६ करोड रुपये सचार और प्रसारण पर व्यय किये जायेंगे।

रेलें—दूसरी योजना की अवधि म रेलो को बहुत अधिक माल ढोना पडेगा और बहुत अधिक यात्रियो को ले जाना और लाना पडेगा। इसलिये रेलो की चल अचल सम्पत्ति, दोनो के पुनर्निर्माण और आधुनिकीकरण का काम प्रथम योजना की भाँति इस योजना म भी चलता रहेगा। अनुमान है कि सन् १९६०-६१ मे रेलों को १८ करोड १० लाख टन माल ढोने की आवश्यकता होगी। सन् १९५५-५६ म केवल १२ करोड टन माल ढोने के लिये कहा गया था। परन्तु इसम सदेह है कि रेलें इतनी व्यवस्था करने मे समर्थ होगी। उन्ह डिब्बो और पटरियो की कमी अनुभव होगी। दूसरी योजना मे ७४२ मील लम्बी नई पटरियाँ बिछाई जायेंगी, ८०० मील लम्बी पटरियाँ बदली जायेंगी, १६०७ मील लम्बी पटरियाँ दुहरी की जायेंगी। २६५ मील छोटी लाईन को बडी लाईन में बदला जायेगा। ८२६ मील लम्बे रेल मार्ग पर बिजली की गाडियाँ चलाने का प्रबन्ध किया जायेगा, १२६३ मील लम्बे रेल मार्ग पर डीजल इजन चलाये जायेंगे और २२५८ इजन, ४ पहियों वाले, १०७ २४७ माल के डिब्बो तथा ११३६४ सवारी डिब्बों को प्राप्त किया जायेगा, इनमे से १३५२ इजन, २३,८५२ माल के डिब्बे और ६४४७ सवारी डिब्बें, पुराने इजनो, माल के डिब्बो और सवारी डिब्बों का स्थान लेंगे। चितरजन और टैलको कारखानो का इतना विस्तार किया जायेगा कि वहाँ प्रति वर्ष ४०० इजन बन सकें जबकि वतमान वार्षिक उत्पादन केवल १७५ इजन है। सवारी डिब्बो का उत्पादन भी १२६० से बढाकर लगभग १८०० वार्षिक कर दिया जायेगा। साथ ही रेल उपभोक्ताओ को विशेषकर तीसरे दर्जे के यात्रियों को और अधिक सुविधाएँ दी जायेंगी।

सड़कें—दूसरी योजना में केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने सड़कों के लिये २ अरब ४६ करोड़ रुपये रखे हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सड़क कोष से २५ करोड़ रुपये और मिलेंगे। पहली योजना में सड़क निर्माण का जो कार्य आरम्भ हुआ था उसे जारी रखने के अतिरिक्त, सड़कों को आपस में मिलाने वाली ६०० मील लम्बी सड़कें और ६० बड़े पुल बनाये जायेंगे, १७०० मील लम्बी सड़कें सुधारी जायेंगी, और मोटर गाड़ियां वाली ३००० मील लम्बी वर्तमान सड़कें चौड़ी की जायेंगी। राज्यों के सड़क विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत दूसरी योजना की अवधि में १८००० मील सड़कें बनने की आशा है। सड़क परिवहन के राष्ट्रीयकरण कार्यक्रम के लिये योजना में १३ करोड़ ५० लाख रुपयों की व्यवस्था की गई है।

जहाजरानी—दूसरी योजना की अवधि में ३ लाख टन के और जहाज बनाने का विचार है। ६० हजार टन के वर्तमान जहाजों के बेकार होने की गुंजाइश भी रखी गई है। जहाजरानी के लिये योजना में जितनी राशि निश्चित की गई है उसमें से २० करोड़ रुपये ईस्टर्न शीपिंग कॉरपोरेशन और एक नये स्थापित होने वाले सरकारी कारपोरेशन में लगाये जायेंगे। योजना का अन्तिम लक्ष्य यह है कि सारा का सारा तटवर्तीय व्यापार और भारत के समुद्र पार व्यापार का समुचित भाग भारतीय जहाजों द्वारा हो।

बन्दरगाह—बन्दरगाहों के विकास के लिये ४० करोड़ की व्यवस्था की गई है। समुद्र तट पर स्थित राज्यों के छोटे बन्दरगाहों के विकास के लिये तथा प्रदीप, मंगलौर, और मालपी में सब ऋतु के लिये उपयुक्त बन्दरगाह बनाने के लिये भी ५ करोड़ रुपये रखे गये हैं।

अन्तर्देशीय नौकानयन—अन्तर्देशीय जल परिवहन विकास के लिये ३ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई है। इनमें से १ करोड़ १८ लाख रुपये बकिंघम नहर के और ४३ लाख रुपये पश्चिमी तट की नहरों के विकास पर खर्च किये जायेंगे। बाकी राशि गंगा-ब्रह्मपुत्र बोर्ड की योजनाओं के लिये दी जायेगी।

नागरिक वायु परिवहन—दूसरी योजना में नागरिक उड्डयन कार्यक्रम के लिये १२ करोड़ ५० लाख रुपये और ऐअर कॉरपोरेशन के लिये ३० करोड़ ५० लाख रुपये की व्यवस्था है। ८ हवाई अड्डे और ग्लाईडर उतरने के अड्डे बनाने जायेंगे। इसके अतिरिक्त पुराने हवाई अड्डों का आधुनिकीकरण किया जायेगा।

सचार एवं प्रसारण—सचार विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत अन्य योजनाओं के अतिरिक्त २० हजार डाकघर, १४०० तारघर, १२०० सार्वजनिक फोन घर खोले जायेंगे और १ लाख ८० हजार टैलीफोन लगाये जायेंगे। दूसरे स्थानों को फोन करने की व्यवस्था का जाल बिछाया जायेगा।

दूसरी योजना में रेडियो स्टेशन और अधिक नहीं खोले जायेंगे बल्कि सब केन्द्रों के प्रसार क्षेत्रों को और अधिक बढ़ाने का प्रयत्न किया जायेगा। देश में टेलीविजन लगाने की दिशा में काम शुरू किया जायेगा। देहातों में रेडियो के प्रति

कृषि पैदा करने के लिये १००० से अधिक आबादी वाले सभी गाँवों में पंचायती रेडियो सेट लगाये जायेंगे जिनकी संख्या लगभग ७२ हजार होगी।

सामाजिक सेवाएँ—सामाजिक सेवाओं पर लगभग ९४५ करोड़ रुपया व्यय किया जायगा। सन् १९६१ तक ६ से ११ वर्ष की आयु तक के बच्चों में से लगभग ६३% और ११ से १४ वर्ष तक की आयु के बच्चों में से २३% बच्चों को शिक्षा प्रदान की जायेगी। इस काम के लिए ५३००० नये प्राइमरी जूनियर और ३५०० मिडिल सीनियर स्कूल खोले जायेंगे। इनमें से २८४०० बुनियादी स्कूल होंगे। १२०० हाई स्कूलों को हायर सेकेण्डरी स्कूलों में बदल दिया जायगा। कृषि शिक्षा विकास किया जायगा और नये-नये इंजीनियरिंग स्कूल खोले जायेंगे। विश्व विद्यालय शिक्षा के लिये ५७ करोड़ रुपया की व्यवस्था की गई है। दूसरी योजना में स्वास्थ्य योजनाओं के लिए २ अरब ७४ करोड़ रुपया की व्यवस्था की गई है जिसमें से ४३ करोड़ रुपया नये अस्पताल खोलने और उनके सुधार पर खर्च किये जायेंगे। आशा है कि अस्पताल शय्याओं की संख्या में २४% की वृद्धि होगी और चिकित्सालयों में २६% की वृद्धि होगी डाक्टरों में १८% की नर्सों में ४१% की और स्वास्थ्य सहायकों में ७५% की वृद्धि होगी।

१३ लाख मकानों को बनवाने के लिए १२० करोड़ रुपया की व्यवस्था की गई है और शरणार्थियों के पुनर्वासन के लिए ९० करोड़ रुपये खर्च किए जायेंगे।

दूसरी योजना और बेकारी——

भारत में बेकारी की समस्या ३ प्रकार की है — शहरों और देहातों में जो लोग बेकार हैं उन्हें रोजगार दिलाने नये श्रमिकों को रोजगार देना जो प्रति वर्ष २० लाख की संख्या में बढ़ते जा रहे हैं और शहरी तथा ग्रामीण क्षेत्रों में जिन्हें पूरे समय काम नहीं मिलता उन्हें पूरे समय के लिए रोजगार दिलाना। इसीलिए बेकारी की समस्या को सुलझाने के लिए जितने रोजगारों की आवश्यकता है वे नीचे की तालिका में दिखाए गए हैं —

(लाख रुपयों में)

	शहरी क्षेत्रों में	देहातों में	कुल योग
नया रोजगार चाहने वालों के लिए	३८	६२	१००
पुराने बेरोजगारों के लिए	२५	२८	५३
योग	६३	९०	१५३

इस प्रकार दूसरी योजना में एक करोड़ ५० लाख व्यक्तियों को पूरे समय के लिए काम दिलाने के लिए जिसमें शिक्षित व्यक्तियों के लिए लगभग २० लाख रोजगार सम्मिलित हैं जिनमें से ५ लाख ५० हजार उन लोगों के लिए है जो इस समय बेकार हैं और १४ लाख ५० हजार उन लोगों के लिए हैं जिनकी संख्या आगामी ५ वर्षों में बढ़ने की संभावना है। समस्या की विषमता तथा आकार को देखते हुए

नियोजन आयोग ने स्पष्ट कर दिया है कि, "यह आशा करना अनुचित होगा कि दूसरी योजना के अन्त तक पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित हो सकेगी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नियोजित प्रयत्नो को समक माला द्वारा ही पूरा किया जा सकता है जिसकी अवधि दूसरी योजना से भी अधिक लम्बी होगी।" फिर भी हमको रोजगारो की सख्या को अधिकतम करने के लिए प्रयत्न करने ही होंगे। दूसरी योजना मे पूरे समय के लिए रोजगार के जिन नये अवसरो को प्रदान करने की सम्भावना है वे इस प्रकार हैं —

दूसरी योजना में रोजगार के अवसर

	(सख्या लाखो में)
(१) निर्माण	२१·००
(२) सिंचाई	०·५१
(३) रेलें	२·५३
(४) अन्य परिवहन और सचार	१·८०
(५) उद्योग और खनिज	७·५०
(६) घरेलू और छोटे उद्योग	४·५०
(७) जगलात, मछली, व्यवसाय, राष्ट्रीय विस्तार सेवा तथा सलग्न योजनायें	४·१३
(८) शिक्षा	३·१०
(९) स्वास्थ्य	१·१६
(१०) अन्य सामाजिक सेवायें	१·४२
(११) सरकारी नौकरियाँ	४·३४
(योग १ से ११ तक का)	५१·९९
(१२) अन्य, व्यापार एव वाणिज्य सहित (१ से ११ तक के योग का ५२%)	२७·०४
सर्व योग ...	७९·०३
या मोटे तौर पर ...	८० लाख

उपर्युक्त तालिका मे जो अन्तिम मद मे जो प्रतिशत दिया गया है वह वही है जो सन् १९५१ की जनसख्या की गणना के समय था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सन् १९६१ मे भी यही अनुपात रहेगा यद्यपि आशा यह की जाती है कि विकास कार्यक्रमों की प्रगति के साथ-साथ यह अनुपात भी बढता जायेगा। ऐसा अनुमान है कि कृषि विकास की नई नई योजनाओं मे लगभग १६ लाख नय व्यक्तियों को रोजगार मिल सकेगा। सिंचाई योजनाओ और ग्रामीण तथा छोटे उद्योगो के विकास से भी ग्रामों में बेकारी की समस्या कुछ कम होगी।

नियोजन आयोग ने सन् १९५५ में बेकारी की समस्या को सुलझाने के लिए तथा अध्ययन करने के लिए एक विशेष ग्रुप को नियुक्त किया था। इस अध्ययन

का मुख्य उद्देश्य ऐसी योजना प्रस्तुत करना था जिससे शिक्षित व्यक्तियों म बेकारी की समस्या को सुलझाया जा सके। इस ग्रुप का अनुमान था कि लगभग ५½ लाख शिक्षित व्यक्ति उस समय बेकार थे और दूसरी योजना के अन्त तक इनकी संख्या २० लाख हो जाने की सम्भावना थी। दूसरी योजना म लगभग १४½ लाख शिक्षित व्यक्तियों को रोजगार मिल जायेंगे और इसलिए केवल ५½ लाख शिक्षित व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करने की समस्या रह जाती है। ग्रुप ने कई योजनायें प्रस्तुत की थी जिनको नियोजन आयोग की सिफारिश के अनुसार पहले कुछ चुने हुए क्षेत्रों म ही लागू किया जायगा और यदि उनके परिणाम अच्छे होते हैं तो उनको सामान्य रूप से अपनाया जायगा।

कुछ भी हो योजना के अन्त तक कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में कुल ८० लाख रोजगार अवसर मिल सकेंगे तथा ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि तथा भूमि सुधार कार्यक्रमों के कारण १६ लाख अन्य व्यक्तियों को और रोजगार मिल जायगा। इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी रोजगार अवसर प्रदान किये जायेंगे और इस प्रकार योजना में बेकारी को कम करने के लिए काफी प्रयत्न किए गये हैं किन्तु बेकारी की समस्या उतनी ही रहेगी जितनी प्रथम योजना के अन्त म थी। सच तो यह है कि भारत म बेकारी की समस्या एक दीर्घकालीन समस्या है जिसको अल्प कालीन उपायों से दूर नहीं किया जा सकता। इसके लिए कई पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण करना होगा।

राष्ट्रीय आय—ऐसा अनुमान है कि सन् १९५५-५६ में जो आय १०८०० करोड़ रुपए थी वह सन १९६०-६१ म बढ कर १३४८० करोड़ रुपए हो जायगी। अर्थात उसमे लगभग २५% की वृद्धि होगी। प्रथम योजना काल म प्रति व्यक्ति आय २५४ रुपया से बढ कर २८१ रुपय हो गई थी। अर्थात ११ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी और दूसरी योजना के अन्त तक प्रति व्यक्ति आय ३३० रुपय हो जायगी अर्थात लगभग १८% की वृद्धि होगी। सन १९५५-५६ में राष्ट्रीय आय मे कृषि तथा सहायक धन्धो का भाग ४८% था जो सन १९६०-६१ म घट कर ४६% रह जायगा पर तु खानों तथा कारखानों का हिस्सा ९% स बढ कर ११% हो जाने की सम्भावना है। परन्तु यह वृद्धि उसी समय होगी जबकि नियोजन म सामजस्य रहे, विदेशी सहायता मिलती रहे अपव्यय कम से कम हो व्यक्तियो का सहयोग प्राप्त होता रहे ताकि उत्पत्ति के उन्नत ढगो को अपनाने एव विकास के लिय उपयुक्त वातावरण उत्पन्न हो सके।

दूसरी योजना के गुण—

दूसरी योजना प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक बड़ी तथा उत्साहपूर्ण है और योजना अवधि के अन्त तक भारत के प्रति व्यक्ति वास्तविक आय काफी बढ जायगी और आर्थिक दशा भी सुधर जायगी। इस योजना मे निम्न गुण हैं—

१ योजना मे वास्तविक लक्ष्यों पर तथा उत्पादन की मात्रा पर जोर दिया गया है न कि वित्त पर। दूसरे शब्दों म उन्होंने पहले यह निश्चित कर लिया है

कि उनको दूसरी योजना अवधि में इतना उत्पादन करना है और तत्पश्चात उनके लिए वित्त का प्रबन्ध करने के प्रयत्न किये हैं। प्रथम योजना में उन्होंने पहले यह निश्चित किया था कि उनको योजना अवधि में कुल कितना खर्च करना है जिसके अनुसार उन्होंने अपने लक्ष्य निर्धारित किये थे। इस प्रकार प्रथम योजना में न तो प्रगति की जाँच ही हो सकती थी और न वास्तविक प्रगति का अनुमान ही लगाया जा सकता था। अतः दूसरी योजना पहली की अपेक्षा अपने दृष्टिकोण में अधिक वास्तविक है। किन्तु वित्तीय तथा उत्पादन सम्बन्धी लक्ष्यों में समन्वय स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि हमारे पास (अ) विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति के लिये आवश्यक कच्ची सामग्री, शक्ति, श्रम इत्यादि के सही और पूरे अनुमान हों और (ब) हमें वह मूल्य भी मालूम हों जिन पर भविष्य में यह साधन उपलब्ध होंगे। दुर्भाग्यवश इन वस्तुओं के सम्बन्ध में विश्वसनीय सूचनायें प्राप्त करना असम्भव है और इसलिये वस्तुगत नियोजन में अनेकों प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। प्रजातान्त्रीय नियोजन के अन्तर्गत भारत जैसे आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए देश जहाँ आर्थिक नियोजन की आवश्यकताओं के लिये प्रशासन सम्बन्धी व्यवस्था पर्याप्त नहीं है और जहाँ पर हर विभाग और हर मन्त्रालय इस बात के लिये आतुर है कि वह अपने कार्यक्रमों पर अधिक से अधिक धन व्यय करे, वित्तीय नियोजन की अपेक्षा वस्तुगत नियोजन पर अधिक बल देने के आवश्यक परिणाम यह होंगे कि एक ओर तो अपव्ययी खर्चे होंगे और दूसरी ओर अत्यधिक राजकीय व्यय से मुद्रा प्रसार उत्पन्न होगा। प्रथम पंचवर्षीय योजना में वित्त मन्त्रालय ने राजकीय व्यय पर कठोर नियन्त्रण करने की नीति इस सिद्धान्त पर अपनाई थी कि विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त किसी को भी उस धन से अधिक खर्च करने की आज्ञा नहीं दी जानी चाहिये जो उसके लिये पहले से निश्चित कर दिया गया हो। किन्तु वस्तुगत नियोजन में यह आधार गलत हो जायगा। विभिन्न विभाग और मन्त्रालय किसी न किसी बहाने दूसरी पंचवर्षीय योजना में निश्चित किये गये वस्तुगत लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये अपने वित्तीय लक्ष्यों का उल्लंघन करने के लिये सोचेंगे। योजना अवधि में जितने धन के विनियोग करने की आशा की गई थी उतने धन का विनियोग न करके राजकीय व्यय को कम करना अच्छी बात नहीं होगी। परन्तु इससे भी अधिक बुरी बात यह होगी कि अपव्ययी खर्चे किये जायें जिससे जनता का धन की हानि हो और उसको अनियन्त्रित मुद्रा प्रसार के बुरे परिणाम सहन करना पड़े।[3] अतः यह स्पष्ट है कि वस्तुगत नियोजन में अधिक सतर्कता बरतनी होगी।

२ दूसरी योजना से हमारे देश की अर्थव्यवस्था अधिक सन्तुलित हो जायेगी। पहली योजना में कृषि सिंचाई और शक्ति के विकास को अधिक बल प्रदान किया गया था इसीलिये दूसरी योजना में औद्योगिक विकास पर अधिक जोर दिया

3 Cf P C Jain *Some Basic Consideratio s about the Second Five Year Plan* in the Commerce dated July 2 1955 Page 15

की दर दुगुनी हो सके। भारत म बचत की चालू दर ७% है और पिछले ५ वर्षों म लगभग १% की ही वृद्धि हो पाई है। ऐसा सोचना अत्यन्त आशावादी होगा कि अगले ५ वर्षों म वृद्धि की दर एक दम बढ जायेगी। जैसी सरकार की नीति है, आय के वितरण की असमानताओ को कम करने से कुल बचतो की मात्रा और भी कम हो जायेगी। हमारे देश म अधिकाश व्यक्तियो का खाद्यान्न उपभोग न्यूनतम स्तरों से भी नीचा है और यह अनुमान लगाया गया है कि उपभोक्ता व्यय मे जो वृद्धि होगी उसका लगभग ५०% केवल खाद्यान्न म ही व्यय किया जायेगा। हमारे यहाँ कुछ ऐसी प्रथा चली आ रही है कि कुछ वर्षों मे अच्छी फसले रहने के बाद थोडे से वर्षों तक अवश्य ही खराब फसले आती हैं। वर्तमान परिस्थितियो म इसलिये अगले ५ वर्षों म बचतों म ८% की वृद्धि की आशा करना एक सुरक्षित अनुमान नही है, और इसलिये वास्तविक साधनो के अनुसार योजना के आकार का पुनर्निर्धारण होना चाहिये।'[4]

कुछ लोग यह तक दे सकते हैं कि योजना के अन्तर्गत जो भी लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं, यदि उनके लिये पर्याप्त साधन उपलब्ध न हों तो उनमें आवश्यक काँट छाँट की जा सकती है। किन्तु क्या यह खराब नियोजन नही होगा क्योकि इसका जनता पर बहुत बुरा प्रभाव पडेगा और यदि सरकार अपने वास्तविक लक्ष्यो को पूरा करने का प्रयत्न करती है तो देश म अत्यधिक मुद्रा प्रसार उत्पन्न हो जायेगा। इसलिये पूर्व निश्चित लक्ष्यों में हेर फेर करने की नीति दोषपूर्ण होगी और अच्छा यही होगा कि देश के वर्त्तमान साधनो को दृष्टि म रख कर योजना को वास्तविक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये।[5] प्रो० शिनोय ने भी अनियन्त्रित मुद्रा प्रसार के भय की ओर सकेत किया है जो मुख्य रूप से अत्यधिक उत्साहपूर्ण योजना के परिणामवश उत्पन्न होगा।[6]

३ योजना म तीसरा दोष यह भी बताया जाता है कि इसमें उपभोक्ताओ की क्रय शक्ति की ओर उचित ध्यान नही दिया गया है। आर्थिक विकास के क्रम में जो कुछ भी व्यय विकास कार्यक्रमो पर किया जाता है वह श्रमिको और कच्चे माल के उत्पादको के पास पहुँच जाता है जिसको वे अन्त म उपभोग की वस्तुओ पर खर्च करते हैं। उपभोक्ताओ की सक्रिय क्रयशक्ति म निरन्तर वृद्धि होते रहना इसलिये आवश्यक है कि उत्पादन का क्रम जारी रहे और अन्त मे देश के सारे साधनो का पूर्ण उपयोग हो सके। यदि उत्पादित की गई सभी वस्तुओ का उपयोग करने के लिये असमर्थ है तो विकास कार्यक्रम बीच म ही ठप्प हो जायेगा। ठीक यही बात हमारी योजना में भी देखने म आती है। क्योकि राष्ट्रीय आय पर करारोपण का प्रतिशत ७% से बढकर सन् १९६०–६१ में ९ या १० प्रतिशत हो

4 Cf Prof B R Shenoy, A Note of Dissent on the Memorandum of the *Economists' panel*, Page 4
5 Cf. P. C. Jain's Article *loc cit*, Page 15
6. *Loc cit* Page 3

जायेगा। हो सकता है कि साधनों की कमी को पूरा करने के लिये यह प्रतिशत १२ हो जाये। वैसे ही हमारे देश में कर भार बहुत अधिक है और यदि करारोपण में और भी वृद्धि कर दी जावेगी तो जनता, व्यापार और उद्योग के लिये कर भार असह्य हो जायगा। इसके अतिरिक्त जिस करारोपण से व्यक्तियों की क्रय शक्ति कम होने की सम्भावना होगी उससे अवश्य ही योजना की कार्य प्रगति में बाधा पहुँचेगी। राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ-साथ सरकार की कर आय म वृद्धि होना तो स्वाभाविक ही है। किन्तु यदि यह वृद्धि व्यक्तियों की क्रय शक्ति को कम करके प्राप्त की गई तो योजना की सफलता कठिन हो जायेगी। ठीक यही परिणाम उस समय होगा जबकि व्यक्तियों को अपना उपभोग कम करने और अपनी बचत अधिक करने के लिये बाध्य किया जायगा। कीन्स के सामान्य सिद्धान्त ने इस बात के महत्व को भली-भाँति सिद्ध कर दिया है। इसलिये योजना में उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति की ओर जो ध्यान नहीं दिया गया है वह बहुत बड़ी कमी है।

४ योजना म हीनार्थ प्रबन्धन की जो १२०० करोड़ रुपये की राशि निश्चित की गई है उससे अनुचित मुद्रा प्रसार उत्पन्न होगा। वैसे तो नियोजित आर्थिक विकास के कार्यक्रम का मुद्रा प्रसार एक प्रत्यक्ष परिणाम है किन्तु इस पर कठोर नियन्त्रण होने चाहियें। प्रो० मिनोप ने ठीक ही कहा है कि "यदि हम यह मान भी लें, कि राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर दुगुनी हो जायेगी, तो भी अतिरिक्त नकदी की माँग उतनी नहीं होगी कि वर्तमान मुद्रा पूर्ति का लगभग ५०-६० प्रतिशत का हीनार्थ प्रबन्धन करना उचित हो ...... यह स्पष्टतया मुद्रा स्फीति-कारक होगी।"[7]

५ यद्यपि दूसरी योजना में पहली योजना की त्रुटियों को दूर करते हुए औद्योगिक विकास को उचित महत्व प्रदान किया गया है किन्तु यह सम्भव है कि बड़े कारखानों द्वारा उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन न होकर हमारे देश का औद्योगिक ढाँचा असन्तुलित हो जाये। यदि नियोजन आयोग की, छोटे उद्योगों को बड़े उद्योगों की अपेक्षा विकसित करने की योजना सफल हो जाती है तो बड़े उद्योग पीछे रह जायेंगे और मशीन तथा इस्पात की माँग बढ़ने के स्थान पर कम होने लगेगी। इसी समस्या का दूसरा पहलू यह है कि भावी औद्योगीकरण सरकारी तथा निजी क्षेत्रों के संयुक्त प्रयत्नों पर निर्भर करेगा। यद्यपि दूसरी योजना म निजी क्षेत्र म व्यय की राशि को २४०० करोड़ रुपयों पर निर्धारित किया गया है, किन्तु इस ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया कि इतनी बड़ी राशि का प्रबन्ध कहाँ म होगा, और यह बात योजना म स्पष्ट भी कर दी गई है। इसका अभिप्राय यह हुआ है कि यदि निजी क्षेत्र को आवश्यक साधन नहीं मिलते (जिनके प्राप्त न होने की आशा भी है) तो निजी क्षेत्र म औद्योगिक विकास बहुत पीछे रह जायेगा और दूसरी योजना म उतनी औद्योगिक उन्नति नहीं हो पायेगी जितनी आशा की जाती है। इसी समस्या का तीसरा पहलू यह है कि दूसरी योजना म बेकारी की समस्या

7. Loc-cit Page 8

को दूर करने पर अधिक ज़ोर दिया गया है और वास्तव में कुटीर तथा छोटे उद्योगों के विकास को अधिक महत्त्व देने के पक्ष में यही मुख्य तर्क भी दिया जाता है किन्तु नियोजन आयोग ने उत्पादित वस्तुओं की लागतों पर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है जो अनिवार्य रूप से ही अधिक होगी। क्योंकि इनका उत्पादन मशीनों द्वारा नहीं होगा। हमारी आवश्यकताओं को देखते हुए नियोजन आयोग को एक ऐसी नये प्रकार की मशीनें बनाने की व्यवस्था करनी चाहिये थी जिससे वस्तुओं की लागतें तो कम हो परन्तु जिनके लिये पूंजी के विनियोग की प्रति इकाई पर अधिक श्रमिकों की आवश्यकता हो। जब तक ऐसा नहीं किया जायेगा हमारी बेकारी की समस्या स्थायी रूप से दूर नहीं की जा सकेगी। ऐसी व्यवस्था का अभाव भी दूसरी योजना का एक बड़ा दोष है।[8]

योजना की प्रगति—मई सन् १९५८ में नियोजन आयोग ने दूसरी योजना की प्रगति एवं भविष्य के सम्बन्ध में अपना एक मैमोरेन्डम निकाला था जिसमें उन्होंने योजना की पिछले २ वर्षों की प्रगति के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट की थी। अभी तक (६ मई सन् १९५९) योजना की तीसरे वर्ष की प्रगति के सम्बन्ध में कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई है इसलिये हम यहाँ पर केवल योजना के पहले दो वर्षों की प्रगति की ही चर्चा करेंगे। मैमोरेन्डम में जो तथ्य दिये गये हैं उनके आधार पर बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि योजना की प्रगति निर्धारित लक्ष्यों की तुलना में काफी कम हुई है। कृषि उत्पादन के क्षेत्र को ही लीजिये, पहले दो वर्षों में निर्धारित लक्ष्य से २५% कम ही उन्नति हो पाई है। यह निम्न तालिका से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है :— (लाख टनों में)

कार्यक्रम	योजना का लक्ष्य	१९५६-५७ की प्रगति	१९५७-५८ की अनुमानित प्रगति	दो वर्षों का योग
बड़ी सिंचाई योजनायें···	३० २	१ ७	२ ७	४ ४
छोटी सिंचाई योजनायें···	१८ ६	३ ०	४ ०	७·०
रसायनिक खाद एवं देशी खाद···	३७·७	३ ६	७ ७	११·३
अच्छे बीज	३४ ०	१ ७	२ ०	३ ७
भूमि विकास···	९·४	० ९	१ ७	२·६
उन्नत कृषि विधियाँ···	२४ ७	२ २	५ ०	७ ७
योग	१५४ ९	१३ १	२३ १	३६ २

योजना अवधि में १ २ करोड़ एकड़ भूमि पर छोटी और बड़ी सिंचाई योजनाओं

8. Cf P. C. Jain, Public Finance and Planning in India, Pages 151-152.

द्वारा सिंचाई होने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, परन्तु सन् १९५६–५७ में ६.८ लाख एकड़ और सन् १९५७–५८ में ११.१ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर ही सिंचाई हो सकी है और सन् १९५८–५९ में अनुमान है कि २०.३ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर और सिंचाई हो सकेगी। इस प्रकार पहले तीन वर्षों में कुल ३७.३ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर ही सिंचाई हो सकी है। केवल यही नहीं बल्कि जो कुछ भी सिंचाई सुविधायें प्रदान की गई हैं उनका पूरा उपयोग भी नहीं किया जा सका है।

शक्ति विकास के कार्यक्रम के अनुसार योजना अवधि में ३५ लाख K. W. अतिरिक्त शक्ति का उत्पादन करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। किन्तु पहले तीन वर्षों में केवल ७ लाख किलोवाट अतिरिक्त शक्ति के उत्पादन होने की आशा है और वर्तमान अनुमान यह है कि अब योजना काल में केवल ३० लाख किलोवाट अतिरिक्त शक्ति ही उत्पन्न हो सकेगी जब कि योजना का लक्ष्य ३५ लाख किलोवाट निर्धारित किया गया है।

बड़े तथा मध्यम पैमाने के उद्योगों, जिनके लिये ७९० करोड़ रुपये की राशि नियत करी गई थी अब यह आशा करी जाती है कि इन पर केवल ५८२ करोड़ रुपये की योजनाएँ ही कार्यान्वित की जा सकेंगी और शेष योजना के बाद कार्यान्वित होंगी। इस धीमी प्रगति का मुख्य कारण यह है कि हमें पर्याप्त विदेशी विनिमय उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। निजी क्षेत्र में इन उद्योगों पर ८४० करोड़ रुपयों के खर्च करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। किन्तु पहले दो वर्षों में कुल विनियोग लगभग १३५ करोड़ से १४० करोड़ के बीच में ही हो पाया है और अब यह आशा की जाती है कि योजना के अन्त तक निजी क्षेत्र में ५७५ करोड़ रुपयों का ही विनियोग किया जा सकेगा और निर्धारित लक्ष्यों में से केवल ७० से ७५% तक ही लक्ष्यों की पूर्ति हो सकेगी। अनुमान है कि भारी रसायनिक पदार्थ, शक्कर बनाने की मशीनें, इंजन, रेल के डिब्बे, साईकिलें, बिजली इंजीनियरिंग उद्योगों और अधिकांश उपभोक्ता वस्तुओं के लक्ष्य दूसरी योजना के अन्त तक पूरे हो सकेंगे। किन्तु एल्यूमीनियम, सीमेंट, रंग का सामान मशीन, स्वयं चलने वाली मशीनें जैसे मोटरें और फेरोमैंगनीज सम्बन्धी उत्पादन के लक्ष्य पूरे न हो सकेंगे। योजना अवधि में कोयले के उत्पादन का लक्ष्य ३२० लाख टन पर निश्चित किया गया है। परन्तु अभी तक जो उन्नति हुई है उस से यह आशा की जाती है कि योजना अवधि में केवल ४० लाख टन कोयला ही उत्पन्न हो सकेगा।

शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं के सम्बन्ध में यह आशा की जाती है कि योजना के अन्त तक निर्धारित लक्ष्य से भी अधिक प्रगति हो जायगी। जहाँ तक नये रोजगार प्रदान करने का सम्बन्ध है बढ़ती हुई श्रम शक्ति को काम दिलाने वाले अवसरों में पर्याप्त विस्तार होने की सम्भावनायें प्रतीत नहीं होती और इसका मुख्य कारण यह है कि विनियोग की प्रगति की दर आवश्यकताओं की अपेक्षा बहुत कम है। ऐसा अनुमान है कि पहले दो वर्षों में लगभग २० लाख नये काम के अवसर कृषि क्षेत्र के बाहर प्रदान किये गये हैं और लगभग १० लाख तीसरे वर्ष में प्रदान किये

जाने की आशा है। योजना अवधि के लिये यह अनुमान है कि कृषि क्षेत्र के बाहर लगभग ६५ लाख काम के नये अवसर प्रदान हो सकेंगे और इस प्रकार योजना के पूरे लक्ष्य प्राप्त होने की आशा नहीं है।

मैमोरेन्डम के अनुसार पहले २ वर्षों में योजना पर कुल व्यय १४६६ करोड़ रुपयों का ही हुआ है और सन् १९५८-५९ में ६६० करोड़ रुपयों के खर्च होने की आशा है। इस प्रकार प्रथम ३ वर्षों में योजना पर कुल व्यय लगभग २४५६ करोड़ रुपयों का होगा। यदि योजना अवधि में ४८०० करोड़ रुपयों का ही व्यय होना है तो अन्तिम २ वर्षों में लगभग २३४४ करोड़ रुपयों का व्यय और होना है जबकि इन दो वर्षों में केवल १८०४ करोड़ रुपयों के प्राप्त होने की आशा है। इस प्रकार योजना में कुल व्यय लगभग ४२६० करोड़ रुपये तक ही सीमित रहेगा और योजना के प्रारम्भिक लक्ष्य से ५४० करोड़ रुपयों का व्यय कम हो जायेगा। इसलिये योजना को उपलब्ध साधनों के अनुकूल बनाने के लिये उसके प्रारम्भिक लक्ष्यों में कुछ काट-छाँट अवश्य ही करनी होगी। इस सम्बन्ध में नियोजन आयोग का विचार है कि इस प्रकार की काँट-छाँट कई कारणों से न्यायसगत नहीं होगी। यदि कोई काट-छाँट की जाती है तो सबसे पहले सामाजिक सेवाओं के ही लक्ष्यों में की जायेगी जो अनुचित होगी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की काट-छाँट से योजना का समुचित ढाँचा असतुलित हो जायेगा। इसके अतिरिक्त इस काट-छाँट का अभिप्राय यह होगा कि बहुत सी योजनाएँ जो आरम्भ हो चुकी हैं वह अधूरी ही रह जायेंगी और उन पर जो खर्चा हो चुका है वह बेकार हो जायगा। इसलिये नियोजन आयोग का विचार है कि किसी भी प्रकार योजना अवधि में कुल व्यय ४५०० करोड़ रुपयों से कम नहीं होना चाहिये।

योजना का पुनर्निर्धारण—मेमोरेन्डम में नियोजन आयोग ने योजना अवधि में प्राप्त होने वाले साधनों का जो अनुमान लगाया है वह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है —

(करोड़ रुपयों में)

स्रोत	योजना के प्रारम्भिक लक्ष्य	उपलब्ध होने वाले साधनों का अनुमान
१. घरेलू आय के स्रोत	२८००	२,२६२
(अ) चालू आय से	१,२००	८६६
(ब) रेलों से	१५०	२५०
(स) ऋण तथा अल्प बचतें ...	१,२००	१४४
(द) विविध आय	२५०	६६
२. विदेशी सहायता	८००	१,०३८
३. हीनार्थ प्रबन्धन	१,२००	१,२००
कुल साधन	४,८००	४,२६०

मैमोरेन्डम में योजना को दो भागों में विभाजित किया गया है 'अ' भाग में ४५०० करोड रुपये खर्च किये जायेंगे और इन कार्यक्रमों को पूरा किया जायेगा जो कृषि उत्पादन में वृद्धि करने से सम्बन्धित है, जो दूसरी योजना की सफलता के लिये अत्यन्त आवश्यक है जो काफी ऊँची अवस्था तक पहुँच चुकी हैं और वे योजनाएँ जिनको स्थगित नहीं किया जा सकता और 'ब' भाग में शेष कार्य-क्रमों के लिये ३०० करोड रुपए नियत किए गये हैं जिनको केवल उसी समय पूरा किया जायगा जब पर्याप्त साधन उपलब्ध होंगे।

मैमोरेन्डम के अनुसार प्रथम तीन वर्षों में जो २८५६ करोड रुपयों का व्यय किया गया है वह निम्न स्रोतों से प्राप्त हुई है —

(करोड रुपयों में)

चालू आय से	४३९
रेलों से	१२६
ऋण, अल्प बचतों और अन्य प्रकार की आय	५३३
विदेशी सहायता	४३८
हीनार्थ प्रबन्धन	९१७
योग	२४५६

अब तक योजना के लिये जो साधन उपलब्ध हुए हैं वे आशा से बहुत कम रहे हैं। योजना आरम्भ होने से अब तक करों में काफी वृद्धि कर दी गई है। केन्द्रीय सरकार का ५ वर्षों में करों से प्राप्त होने वाली आय का अनुमान लगभग ७२५ करोड रुपये है जब कि योजना का लक्ष्य केवल २२५ करोड रुपयों का है। इसी प्रकार राज्यों में जो कर सम्बन्धी उपाय अपनाए गये हैं उनसे ५ वर्षों में १७३ करोड रुपये प्राप्त होने की आशा है जब कि योजना का लक्ष्य २२५ करोड रुपयों का है। इन राशियों में से अधिकांश भाग सुरक्षा तथा गैर विकास कार्य-क्रमों को दे दिया गया है और योजना के लिये निर्धारित लक्ष्य से केवल ४५ करोड रुपये अधिक प्राप्त हो पायेंगे। योजना के साधनों में जो ४०० करोड रुपये की कमी थी उसमें से केवल एक छोटा सा भाग ही इस प्रकार दूर हो पायगा। आय के स्रोतों की कमी के कारण ही योजना के प्रारम्भिक वर्षों में ही एक बड़ी मात्रा में हीनार्थ प्रबन्धन करना पड़ा। एक समय ऐसा था जबकि कुल ९०० करोड रुपयों तक ही हीनार्थ प्रबन्धन करने का इरादा था। किन्तु अब यह निश्चित सा प्रतीत होता है कि १२०० करोड रुपया का ही हीनार्थ प्रबन्धन करना पड जायगा और यदि उचित उपाय नहीं किये गये तो शायद इससे भी अधिक राशि का हीनार्थ प्रबन्धन करना पड़े।

योजना के 'अ' भाग को कार्यान्वित करने के लिये भी २४० करोड रुपयों की और अधिक आवश्यकता होगी जिनको प्राप्त करने के लिये अधिक कर लगाने पड़ेंगे,

योजना के अतिरिक्त अन्य प्रकार के व्यय में मितव्ययिता लानी होगी और ऋण तथा अल्प बचतें प्राप्त करनी होगी। नियोजन आयोग का प्रस्ताव है कि अतिरिक्त करारोपण से १०० करोड, ऋण तथा अल्प बचतो से ६० करोड और खर्चे मे मितव्ययिता तथा करो और ऋणो के पिछले भुगतान प्राप्त करके ८० करोड रुपयो की व्यवस्था करने की ओर प्रयत्न किये जाने चाहियें। इस प्रकार नियोजन आयोग के अनुसार दो वर्षो म निम्न प्रकार आय के स्रोत एकत्रित करने होंगे :—

(करोड रुपयो मे)

स्रोत		अगले दो वर्षो मे प्राप्त होने वाली राशि का अनुमान
१	घरेलू आय के स्रोत	
(अ)	चालू आय से	४६०
(ब)	रेलों से	१२१
(स)	ऋण तथा अन्य बचतें	५००
(द)	विविध आय	८०
२	विदेशी सहायता	६००
३	हीनार्थ प्रबन्धन	२८३
	योग ...	२०४४

गत वर्षो में मूल्यो में वृद्धि होती ही गई है इसलिये आय की राशि को ध्यान मे रखकर योजना के वास्तविक लक्ष्यो में भी कमी कर दी गई है जो वित्तीय कांट-छांट की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। यह निम्न तालिका में दिखाई गई है —

(करोड रुपयो में)

मदें	प्रारम्भिक लक्ष्य	कुल का प्रतिशत	दुहराये हुए लक्ष्य	कुल का प्रतिशत	अ भाग में व्यय की राशि,	कुल का प्रतिशत
१ कृषि एव सामुदायिक विकास	५६८	११ ८	५६८	११ ८	५१०	११·३
२ सिंचाई एव शक्ति	६१३	१६ ०	८६०	१७ ६	८२०	१८ २
३ ग्रामीण तथा लघु उद्योग	२००	४ २	२००	४ २	१६०	३ ६
४ उद्योग तथा खनिज	६६०	१४ ४	८८०	१८ ४	७६०	१७ ५
५ यातायात एव सचार	१३८५	२८ ६	१३४५	२८ ०	१३४०	२६ ८
६. सामाजिक सेवाए	६४५	१६ ७	८६३	१८ ०	८१०	१८ ०
७ विविध	६६	२ ०	८४	३ ७	७६	१ ६
योग	४८००	१०० ०	४८००	१००·०	४५००	१०० ०

मैमोरेण्डम के अनुसार यह पता लगाना कठिन है कि पुनर्निर्धारित लक्ष्यों से उत्पादन तथा रोजगार पर क्या प्रभाव पड़ेगा क्योंकि यह कई बातों पर निर्भर करते हैं, जैसे अधिक अन्न उपजाने की ओर किये गये प्रयत्नों की सफलता, निजी क्षेत्र में विनियोग सम्बन्धी क्रियाएँ की प्रगति इत्यादि। संक्षेप में योजना मे औद्योगिक उत्पादन, यातायात एवं संचार सम्बन्धी लक्ष्य अच्छी प्रकार से पूरे हो सकेंगे। किन्तु सामाजिक सेवाएँ और सिंचाई तथा विद्युत के लक्ष्य पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किये जा सकेंगे।

वास्तव में दूसरी पंचवर्षीय योजना को अनेकों कठिनाइयों में से होकर निकलना पड़ रहा है। यदि देखा जाये तो यह कठिनाइयाँ प्रथम योजना में ही आरम्भ हो गई थीं किन्तु इनका वास्तविक रूप दूसरी योजना में ही दृष्टिगोचर हुआ। प्रथम योजना के अन्तिम दो वर्षों में निर्धारित लक्ष्य से ५० लाख टन कम अनाज का उत्पादन हुआ। यद्यपि सन् १९५६-५७ में अनाज का उत्पादन सन् १९५३-५४ जैसा ही हो गया किन्तु सन् १९५७-५८ और १९५८-५९ में स्थिति फिर बिगड़ गई; खाद्यान्न जाँच समिति का अनुमान था कि दूसरी योजना के अन्त में भी भारत को २० लाख टन अनाज की कमी अनुभव होगी। इन सब कमियों का कारण यह हुआ कि खाद्य पदार्थों के मूल्य बढ़ते गये और मूल्य सूचक अंक जो सन् १९५५—५६ में ९४६ था वह बढ़कर सन् १९५८ में ११६७ हो गया था। भारत में केवल खाद्य पदार्थों के मूल्यों में ही वृद्धि नहीं हुई है वरन् सामान्य मूल्य स्तर भी ऊपर की ओर चढ़ रहा है। सामान्य मूल्य सूचक अंक जो सन् १९५५–५६ में ९९२ था वह जुलाई सन् १९५८ में ११५९ हो गया। सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि होने का प्रमुख कारण एक ओर *तो उत्पादन की कमी और दूसरी ओर हीनार्थ प्रबन्धन की कमी* रही है। खाद्य पदार्थों की भाँति लगभग सभी क्षेत्रों में उत्पादन को बढ़ाने की आशातीत सफलता प्राप्त नहीं हो पाई है। इसके अतिरिक्त पिछले ५ वर्षों में इतना हीनार्थ प्रबन्धन हुआ कि शायद पहले कभी नहीं हुआ था। पहली योजना के अन्तिम दो वर्षों में ४०० करोड़ रुपये, दूसरी योजना के पहले २ वर्षों में ७०० करोड़ रुपयों का हीनार्थ प्रबन्धन किया गया था और सन् १९५८–५९ में २०० करोड़ रुपयों का हीनार्थ प्रबन्धन होने की आशा थी। मूल्यों की वृद्धि के कारण योजना के आकार और लक्ष्यों में भी कमी करनी पड़ी है। इसके साथ साथ बजट से जितनी आय प्राप्त करने की आशा थी वह भी प्राप्त नहीं हुई। जहाँ तक करारोपण का सम्बन्ध है केन्द्रीय सरकार ने काफी सफलता प्राप्त की है। किन्तु राज्यों को उचित सफलता प्राप्त नहीं हो पाई और उसका मुख्य कारण यही है कि राज्यों के आय के स्रोत इतने लोचपूर्ण नहीं हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि करारोपण से जितनी अधिक आय प्राप्त हुई थी वह अधिकतर रक्षा तथा गैर विकास सम्बन्धी कार्यों पर खर्च की गई है। ऋण तथा अल्प बचतें भी उतनी प्राप्त नहीं हो पाई थीं जितनी का अनुमान था। साथ ही पिछले दो वर्षों में विदेशी विनिमय कठिनाइयों ने विकराल रूप धारण कर लिया है जिसके कारण हमारी वित्तीय कठिनाइयाँ और भी अधिक

बढ गई है। इन सब बातो को ध्यान में रख कर यही कहना उचित होगा कि जो कुछ लक्ष्य प्राप्त हुए है वे प्रशसात्मक है।

यहाँ पर यह बताना अनुचित न होगा कि नियोजन आयोग ने पिछले वर्ष जो मैमोरेन्डम निकाला उसमे हालाकि उन्होंने तथ्यो को काफी खोल कर रखा है फिर भी उन्होने जनता के सम्मुख वास्तविक परिस्थिति नही रखी है। हम पहले कह चुके है कि पहली योजना की अपेक्षा दूसरी योजना अधिक वास्तविक है क्योकि इसमे नियोजन का वित्तीय दृष्टिकोण न अपनाकर वस्तुगत अपनाया गया है। किन्तु मैमोरेन्डम म आयोग ने अपने दृष्टिकोण म फिर परिवर्तन कर दिया और योजना मे जो काट-छाँट की है वह फिर से वित्तीय दृष्टिकोण के अनुसार हुई है। वास्तव न यह आश्चर्यजनक है और इस दृष्टिकोण से जनता को केवल इतना ही अनुमान होता है कि योजना के मुख्य मुख्य लक्ष्य तो पूरे हो ही जायेंगे, इसलिये काट-छाँट का कोई विशेष महत्त्व नही है। किन्तु बात ऐसी नही है। यदि हम मूल्यों की वृद्धि की तुलना मे योजना में निर्धारित व्यय के लक्ष्या को देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि जो ४८०० करोड रुपया म सन् १९५६-५७ म जिन लक्ष्यो का प्राप्त करने का निश्चय किया गया था आज उन्ही ४८०० करोड रुपया म वे लक्ष्य पूरे नही हो सकते किन्तु नियोजन आयोग ने इस रहस्य को व्यक्त नही किया। उन्होंने वित्तीय काट-छाँट के 'बुर्क' मे उत्पादन के लक्ष्यो की काट-छाँट को जनता से छुपाने का प्रयत्न किया है। सच तो यह है कि इसमे आयोग का कोई भी दोष नही है, क्योंकि उन्होंने केवल भारतीय नियोजन को भारत की अशिक्षित जनता के मस्तिष्क मे उत्पन्न होने वाले गलत विचारो से बचाने का प्रयत्न किया है। बिना पक्षपात किये नियोजन आयोग के पक्ष में हम कह सकते हैं कि आयोग हर सम्भव विधि से यह प्रयत्न कर रहा है कि कृषि की उन्नति जारी रहे और इस्पात, सीमेंट तथा शक्ति (जिसको आयोग ने 'हार्ड कोर' (Hardcore) कहा है) के लक्ष्यो को पूरा करने का प्रयत्न कर रहा है। सच तो यह है कि इन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये यदि कम महत्त्व वाली योजनाओं को स्थापित करना पडे और सामाजिक सेवाओ के लक्ष्यों में भी काट-छाँट करनी पडे तो भी कुछ बुरा नही होगा क्याकि योजना के 'हार्ड कोर' को सुरक्षित रखने पर ही भारत का भावी आर्थिक विकास निर्भर करता है।

नये परिवर्तन—सितम्बर सन् १९५८ मे यह घोषित किया गया था कि योजना के 'अ' भाग मे सम्मिलित योजनाओ पर व्यय को कम करके ४५०० करोड रुपयो पर निर्धारित करना सम्भव न हो सका है और १५० करोड रुपयो की धन राशि इसमे और जोड दी गई है और अब कुल व्यय 'अ' भाग पर ४६५० करोड रुपयो का होगा। नियोजन आयोग का विचार है कि इस अतिरिक्त राशि म से राज्य १४० करोड रुपयो की व्यवस्था करेंगे और १० करोड रुपयो की व्यवस्था केन्द्र करेगा। राज्य १४० करोड रुपयो मे से ६० करोड करारोपण द्वारा, ५० करोड ऋणो और अल्प बचतो द्वारा और ३० करोड गैर विकास व्यय में कमी करके प्राप्त करेंगे।

किन्तु जैसी स्थिति चल रही है यह आशा सफल नहीं हो सकती । हाँ इतना अवश्य है कि गैर विकास सम्बन्धी व्यय में कमी करने से कुछ आय अवश्य प्राप्त की जा सकती है, किन्तु वह नियोजन आयोग की आशा से बहुत ही कम होगी । अच्छा तो यही होता कि आयोग इस राशि को बढ़ाता ही नहीं और देश के साधनों तक ही सीमित रखता ।

परिशिष्ट १

शब्दानुक्रमणिका

पुस्तक पहली

मनुष्य के आर्थिक जीवन में राज्य का स्थान

त

द

न

प

फ

ब

पुस्तक दूसरी
'राजस्व'

अ

आ

अं

क

पुस्तक तीसरी

बेकारी पूर्ण रोजगार तथा राजस्व नीति

पुस्तक चौथी
आर्थिक नियोजन

ध

न

प

ब

भ

म

य

र

ल

परिशिष्ट ?

सहायक ग्रन्थ सूची

Adam Smith —*Wealth of Nations*
Adams —*Finance*
C Pigou —*A study in Public Finance*
" —*Socialism vs Capitalism*
एम " —*The Economics of Welfare*
" —*The Political Economy of War*
·k Ghosh —*New Horizans in Planning*
" —*Indian Economy—Its Nature and Problems*
कर ed Marsball —*Principles of Economics*
कल्या r Buchler —*Public Finance*
Toynbee —*Survey of International Affairs*
केरा nmode vitti de Marco—*First Principles of Public Finance*
केन्द्र Lerner —*The Economics of Control*
के itage Smith —*Principles and Methods of Taxation*
कोष

Barbara Wootton — Freedom Under Planning
" — Plan or No Plan
Bastable, C F — Public Finance
B K Madan — Economic Problems of Underdeveloped Countries in Asia
Bhargava, R N — Public Finance Its Theory and Working in India
B R Misra — Indian Federal Finance
B T Ranadive — The Indian Plan
Buchanan and Ellis — Approaches to Economic Development
Carver — Essays in Social Justice
D K Malhotra — War Finance and India's War Efforts
D L Hobman — The Welfare State
D T Lakdawala — Justice in Taxation
E A G Robinson — Monopoly
E F M Durbin — Problems of Economic Planning
F A Hayek — The Road to Serfdom
F W Taussig — Principles of Economics
Findlay Shirras — The Science of Public Finance
Fisher, Irving — The Nature of Income and Capital
Crowther — Paying War
G D H Cole — Principles of Economic Planning
G R Taylor — Economics for the Exasperated
Gyan Chand — Local Finance in India
H D Dickenson — The Economics of Socialism
H Dalton — Public Finance
H Lumer — War Economy and Crisis
Haig and Shoup — The sales Tax in the American States
India, Government of — First Five Year Plan
do — Second Five Year Plan
J A Schumpeter — Capitalism, Socialism and Democracy
John Strachey — The Theory and Practice of Socialism
J S Mill — Principles of Political Economy
J K Galbraith — A Theory of Price Control
J R Hicks — Value and Capital
K D Jalan — Unemployment in India
K T Shah — Wealth and Taxable Capacity of India
Keynes, J M — Theory of Employment, Interest and Money
Laidler — Social Economic Movements
L C Jain — Indian Economy During the War
Lenin — The State and Revolution

Lewis Lorwen —*Report of the Amsterdam Conference on World Social Plannin*
Lutz —*Public Finance*
Mac Gregor —*Public Aspects of Finance*
Maurice Dobb —*Political Economy and Capitalism*
" —*Some Aspects of Economic Development*
Mehta and Agrawal —*Public Finance in Theory and Pratice*
Meyers, Albert —*Modern Economic Problems*
M S Nata Rajan —*Death Duties*
Nurske Ragner —*Problems of Capital Formation in Under-developed Countrie*
N S Subha Rao —*Some Aspects of Planning*
P A Samuelson —*Economics*
P E Taylor —*The Economics of Public Finance*
P. J. Thomas —*Federal Finance of India*
P Ruopp —*Approaches to Community Development*
Plehn —*Introduction to Public Finance*
R. A. Seligman —*Essays in Taxation*
R. H Soltan —*The Economic Functions of the State*
Richard Strachey —*Finances of Public Works of India*
Rignano —*The Social Significance of Death Duties*
Robbins, Lionel —*An Essay on the Nature and Significance of Economic Science*
" —*Economic Planning and International Order*
Saxena and Mathur —*Public Economics*
S E. Harris —*Economic Planning*
Stampe —*Fundamental Principles of Taxation*
Tandon and Others —लोक अर्थ शास्त्र
T. Balogh and Others —*The Economics of Full Employment*
United Nations —*Methods of Finacning Economic Development in Underdeveloped Areas*
" —*Measuers for the Economic Development of Underdeveloped Countries*
Ursila Hicks —*Public Finance*
Vakil C N —*Finance Under Provincial Autonomy*
Webb, Sydney and Beatrice—*The Decay of Capitalist Civilization*
W. Arthur Lewis —*The Principles of Economic Planning*
William Beveridge —*Full Employment in A Free Society*

जिनका अभी तक विदेशी प्रतियोगिता के कारण विकास नहीं हो सका था, परन्तु जिनका भविष्य संरक्षण प्राप्त होने से अब उज्ज्वल है।

यह ध्यान रहे कि साधनों का पुनर्वितरण हर स्थिति में देश या समाज के लिए लाभप्रद नहीं होता। कुछ ऐसे भी हस्तान्तरण हैं जो हानिकारक होते हैं। कभी कभी संरक्षण कर भी हानिकारक सिद्ध होता है। यदि संरक्षण कर से प्राप्त आय ऐसे उद्योगों को आर्थिक सहायता देने में उपयोग की जाती है जो अकुशल हैं या जो देश के लिए आवश्यक नहीं हैं या जिनके लिए देश की प्राकृतिक परिस्थितियाँ उचित नहीं हैं तो ऐसे उद्योगों में लाभ के स्थान पर हानि होती है। कर द्वारा जो साधनों का पुनर्वितरण होता है अर्थात् अन्य लाभप्रद उद्योगों से साधन निकलकर संरक्षित उद्योगों में जा लगते हैं उससे देश का हित अग्रसर नहीं होता। ऐसे उद्योग कदापि भी अपने पैरों पर नहीं खड़े हो पायेंगे और जैसे ही उन पर से संरक्षण हटाया जायगा वह ठप्प हो जायेंगे। अतः जो साधन अधिक उपयोगी उद्योगों से निकलकर अकुशल संरक्षित उद्योगों में स्थानान्तरित हुए थे उनका अपव्ययी उपयोग ही हुआ जो संरक्षण के अभाव में कभी भी नहीं होता। इसी प्रकार अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं पर कर लगाने में यह सम्भव है कि ऐसे उद्योगों से पूंजी और श्रम निकलकर अनावश्यक उद्योगों में उपयोग में आने लगे। यदि ऐसा होता है तो भी साधनों का पुनर्वितरण हानिकारक होगा।

कुछ कर ऐसे होते हैं जो साधनों का स्थानान्तरण वर्तमान उपयोगों से भावी उपयोगों के लिये कर देते हैं। व्यक्ति अपने उपभोग को कम कर देते हैं और बचाने के लिए विवश हो जाते हैं। बचत द्वारा व्यक्ति को भविष्य में अपनी आय का उपयोग करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अतः व्यक्ति वर्तमान आवश्यकताओं पर खर्च न करके अपनी आय को भविष्य में खर्च करने के उद्देश्य से बचाकर रखता है। बिक्री कर, आयात निर्यात कर ऐसे करों का उदाहरण हैं। साधनों का स्थानान्तरण देश के हित में या अहित में यह बहुत कुछ सरकारी व्यय पर निर्भर करता है। यदि कर द्वारा प्राप्त राशि अनुत्पादक कार्यों में खर्च किया जाता है और देश की पूंजीगत वस्तुओं के बढ़ाने के काम में नहीं लाया जाता तो साधनों का स्थानान्तरण जो वर्तमान से भावी उपयोगों के लिए हुआ उससे देश को तनिक भी लाभ नहीं हुआ।

करों से साधनों का पुनर्वितरण ऐसा भी होता है कि साधन एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित होने लगते हैं। यदि किसी देश में आय या मुनाफा कर बहुत ही प्रगतिशील है तो व्यक्ति उस देश से अपनी पूंजी निकाल कर किसी ऐसे देश में विनियोग करने लगेंगे, जहां कर भार कम है। यदि देश के भिन्न भिन्न भागों में विशेष कर संघीय वित्त व्यवस्था (Federal Financial Administration) में करों की दरें भिन्न भिन्न हैं तब तो पूंजी का स्थानान्तरण बड़ी ही सुगमता से होगा, चाहे विदेशों में यह स्थानान्तरण इतना सरल न हो। संघीय वित्त व्यवस्था में इसकी सम्भावना इसलिए अधिक होती है कि उसमें अनेकों राज्य (States) होते हैं

और हर राज्य में अलग-अलग सूद की दर हो सकती है। भारत में विभिन्न राज्यों में बिक्री कर की दरों के भिन्न भिन्न होने से देश को काफी हानि हो रही है। यदि सब ही स्थानों पर कर की दरें समान हों तो सब ही क्षेत्रों का समान विकास होता है और देश को लाभ होता है।

करारोपण के वितरण पर प्रभाव—

इस अध्याय में हमने अभी तक करारोपण के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना की थी। अब हम यह अध्ययन करेंगे कि करारोपण के वितरण के क्षेत्र में क्या प्रभाव होते हैं। हम सभी, बढ़ती हुई धन की असमानताओं के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिणामों से भली भाँति परिचित हैं। वास्तव में धन के वितरण की असमानताओं के कारण ही आज राज्य (State) की रूपरेखा इतनी बदल गई है। मानव जीवन में राज्य का महत्व जितना आज है उतना पहले कभी न था। हम देख चुके हैं कि राज्य अपने व्यय को इस प्रकार सम्पन्न करता है कि धन की असमानतायें न्यूनतम हो जाये। यदि राजकीय व्यय का उद्देश्य धन की असमानताओं को कम करना है तो करारोपण का भी यही उद्देश्य होता है। प्राचीन लेखक इस विचार से बिलकुल भी सहमत न थे कि करारोपण द्वारा धन की असमानतायें दूर हो सकती हैं। हम पहले भी कह चुके हैं कि पुराने लेखक केवल यही मानते थे कि करारोपण आय प्राप्त करने का एक साधन है, और इसके अतिरिक्त न तो उसका कोई कर्तव्य है और न कोई लाभ ही। यदि देखा जाय तो एडम स्मिथ ने करारोपण सम्बन्धी जो अपने नियम दिये थे उनका भी यह उद्देश्य था कि राज्य को पर्याप्त आय बिना नागरिकों को तंग किये ही प्राप्त हो जाये। यही विचार रिकार्डो मिल बैस्टेबिल और एडम्स का भी था। ये लेखक करों को नागरिकों की जेबों से धन निकालने का एक साधनमात्र मानते थे। बैस्टेबिल ने कहा है कि *करारोपण को 'धन की असमानताओं को ठीक करने* का एक साधन मानने की एक बड़ी दृढ़ धारणा है। यह तो वित्तीय कला की शक्ति के अन्दर ही सम्भव है कि करों की दरों और रूपों को इस प्रकार चुना जाये कि बिना किसी वर्ग पर अनुचित दबाव के, आवश्यक धन प्राप्त हो जाये, परन्तु यदि धन के वितरण के प्रभावों की ओर ध्यान देना है और इस दिशा में कुछ विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कोई तरतीब करनी है तो इस कार्य की कठिनाइयाँ अत्यधिक हो जाती हैं। यदि उद्देश्य समाजवादी प्रणाली स्थापित करना है तो करारोपण में चालाकी से व्यवस्था करने की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष और प्रभावशाली विधियाँ उपस्थित हैं।'[7] परन्तु समय की प्रगति के साथ-साथ अब अधिकांश लेखकों का यही मत है कि *राजकीय व्यय और करारोपण—दोनों ही धन की असमानताओं को दूर करने के शक्तिशाली अस्त्र हैं।* यह समाजीकरण के अन्य प्रत्यक्ष उपायों की भाँति क्रान्तिकारी भी नहीं है और उद्देश्य की पूर्ति भी कर देता है। हम पिछले अध्याय में यह कह चुके हैं कि धन की असमानताओं को दूर करने के उद्देश्य से करारोपण की दरों में उलट फेर की जाती है। दरों की दृष्टि से हमने पहले, करों को

7 Quoted by Saxena and Mathur *Public Economics*, 1958, Page 103, Vol. II